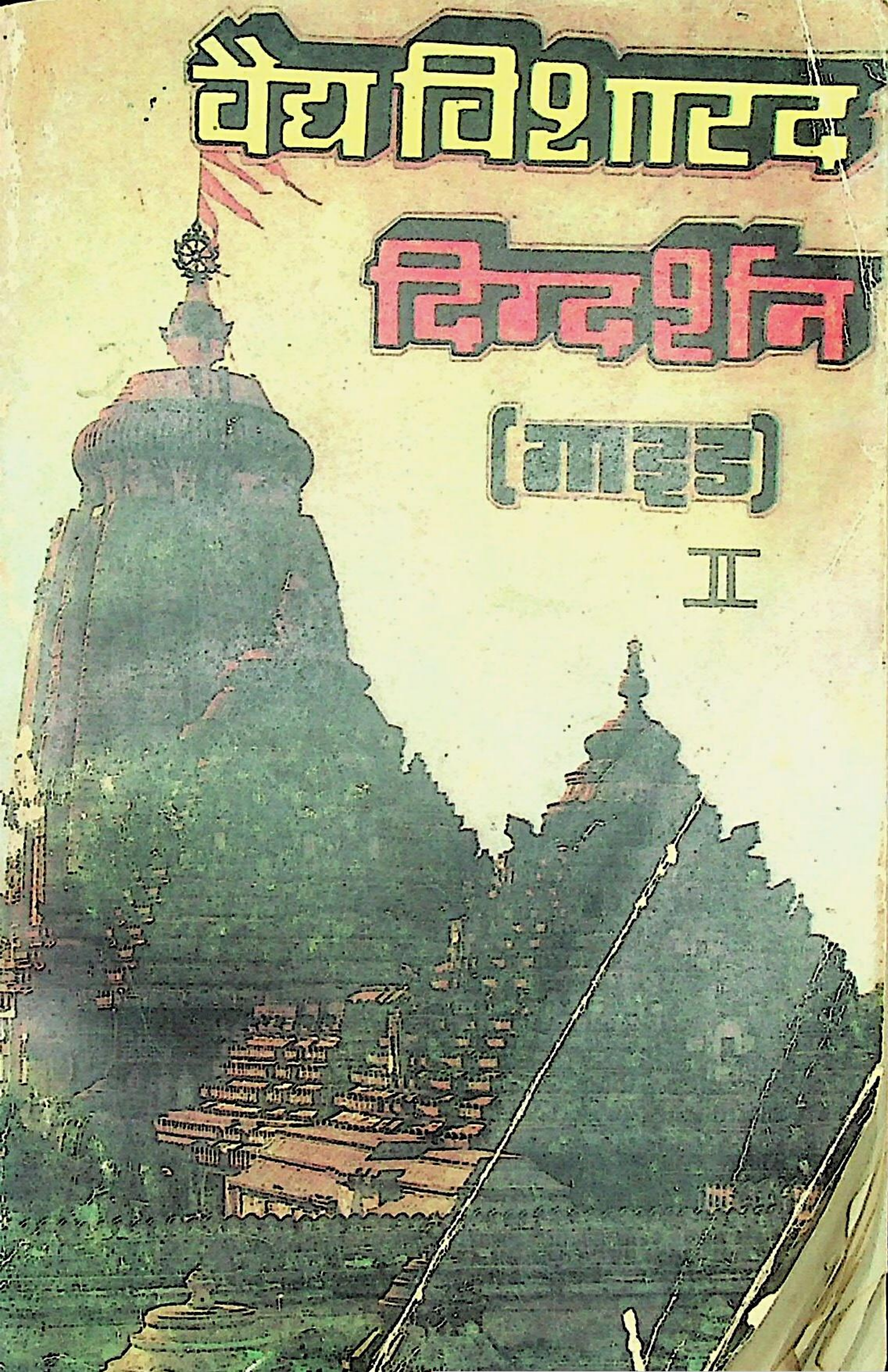

वैद्य विशारद
दिग्दर्शन
(गाइड)
II

[हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद की वैद्य विशारद तथा तत्समस्तरीय अन्य परीक्षाओं में सफलता के लिए सर्वोत्तम ग्रन्थ]

वैद्य विशारद दिग्दर्शन

(वैद्य-विशारदिका)

नवीन पाठ्यक्रमानुसार

द्वितीय खण्ड

लेखक

शिवकुमार 'व्यास', आयुर्वेदाचार्य-धन्वन्तरि

बी० आई० एम० एस० (आनर्स) स्वर्णपदक प्राप्त

उपाचार्य,

आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बिया कॉलेज,

नई दिल्ली–५

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर
कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा-२
बिक्री-केन्द्र : हॉस्पिटल रोड, आगरा-३

नवीनतम् संस्करण
मूल्य : ८०.००

मुद्रक : रवि मुद्रणालय, आगरा-2

नवीन संस्करण के सम्बन्ध में

वैद्य विशारद दिग्दर्शन के द्वितीय खण्ड के इस नवीन संस्करण को प्रस्तुत करते हुए मुझे विशेष प्रसन्नता हो रही है, क्योंकि इस पुस्तक से बहुत से विद्यार्थियों ने लाभ उठाया—वैद्यों और विद्वानों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और फिर एक अल्प अवधि में इसके तेरह संस्करण समाप्त हो गए और माँग बराबर बनी रही। यह सब मेरे लिए बहुत संतोषप्रद है। मैंने विषय संग्रह करने में जो परिश्रम किया; उसका उद्देश्य सफल हुआ।

दिग्दर्शन में यों तो पहले ही सभी आवश्यक ज्ञातव्य दिए हुए थे। इस संस्करण में कुछ बड़े-बड़े श्लोकों को हटा दिया गया है जिनको मध्यम वर्ग का विद्यार्थी सीख पाने में कठिनाई अनुभव करता था। फिर भी विषय की कहीं भी कोई कमी नहीं होने दी है। पंचमकर्म विषय का आमूलचूल परिवर्तन किया गया है।

इस तरह यह संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण पहले संस्करणों से भी श्रेष्ठ बन गया है। इससे सभी वर्ग लाभान्वित होंगे, ऐसी मुझे आशा है।

—शिवकुमार व्यास

अपनी बात

"एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम् ।
तस्माद्‌बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः ॥

भगवान् धन्वन्तरि द्वारा उपदेशित उक्त सूत्र का आशय यह है कि चिकित्सक बनने के लिए बहुविधि शास्त्रों का ज्ञाता होना आवश्यक है और बहुविधिशास्त्र के ज्ञाता को ही चिकित्सक बनना चाहिए; क्योंकि चिकित्सक का कर्म एक ऐसा कर्म है जो सदैव सफल होता है—कभी निष्फल नहीं जाता—जैसाकि आचार्य वाग्भट्ट ने भी लिखा है—

"क्वचिदर्थः क्वचिन्मैत्री क्वचिद्धर्मः क्वचिद्यशः ।
कर्माभ्यासः क्वचिच्चन्चैवचिकित्सा नास्ति निष्फला ॥"

अतः चिकित्सक बनने का ध्येय बनाना भी वास्तव में जीवन सफल करना हैं और इस ध्येय की पूर्ति कराने के लिए ही सम्भवतः वैद्य विशारद परीक्षा का आयोजन किया जाता है जिसके पाठ्यक्रम को दृष्टि में रखते हुए ही इस प्रश्नोत्तरी का लेखन-कार्य हुआ है और भगवान धन्वन्तरि के आदेशानुसार चिकित्सक बनाने के दृष्टिकोण से ही इसे तैयार करते हुए कितने ही शास्त्रों का सार इसमें समाविष्ट किया गया है ।

विषय-प्रतिपादन

वैद्य विशारदिका (वैद्य विशारद गाइड) का लेखन करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि विवरण पत्रिका (पाठ्यक्रम) के सभी विषयों का समावेश हो जाए तथा सम्बन्धित सभी इतर विषय भी वर्णित कर दिए जाएँ। प्रस्तुत दिग्दर्शन में इनकी पूर्ति सफलतापूर्वक की गई है । पिछले वर्षों में जो परीक्षाएँ हुई हैं, उनमें पूछे गए प्रश्नों को विशेष रूप से स्थान दिया गया है । किसी भी विषय का प्रतिपादन करते समय तत्-विषयक सभी ज्ञातव्य जहाँ कहीं से भी उपलब्ध हुए, संगृहीत किए गए हैं । प्राचीन शास्त्रों के वचनों को स्पष्ट करते हुए अर्वाचीन शास्त्रों से भी विषय ग्रहण किया गया है । इस प्रकार इसके लेखन में कितने ही शास्त्रों, ग्रन्थों एवं पुस्तकों से विषय-चयन करना पड़ा है—जिनके संदर्भ स्थान-स्थान पर दिए गए हैं ।

इस विधि से विषय-चयन कर उसे सरल भाषा एवं शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसकी एक और भी विशेषता है कि विषय सूची के अतिरिक्त पुस्तक के अन्त में विषय-अनुक्रमणिका दी गई है, जिससे कि किसी समय भी अभिप्रेत विषय को सरलता से प्राप्त किया जा सके। इन सभी बातों के होने से यह पुस्तक आयुर्वेद के छात्रों के लिए एक पठनीय ग्रन्थ बन गई है।

आत्मनिवेदन

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रदर्शित करना चाहता हूँ, जिनके द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में मुझे कुछ भी ज्ञान प्राप्त हुआ हो। आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बिया कालेज, दिल्ली के प्राध्यापक मित्रवर श्री वनीसिंह प्रेमी को धन्यवाद दिए विना नहीं रह सकता; जिन्होंने कुछ विषयों में अपने विशेष अनुभव पुस्तक में प्रकाशनार्थ दिए। अनुज श्रीनिवास व्यास बी० आई० एम० एस० ने लेखन में सहयोग प्रदान किया है।

इस प्रकार अनेक शास्त्र-वचनों से युक्त वैद्यों को विद्वान् बनाने वाली इस वैद्य विशारदिका (वैद्य विशारद गाइड) को गुरु प्रवर प्रातःस्मरणीय स्वर्गीय स्वामी अभयानन्दजी महाराज की कृपा से पाठकों तक पहुँचाते हुए गुरु पूर्णिमा की इस सौम्य सुमंगल शान्त वेला में मैं अपनी बात की इतिश्री करता हूँ।

व्यास-निवास
५, देवनगर,
करौलबाग, नई दिल्ली—५
गुरु पूर्णिमा सं० २०२३

विनीत
शिवकुमार व्यास

विषय-सूची

प्रथम पत्र

रोग-विज्ञान और चिकित्सा

परीक्षा-विषयक निर्देश

इस प्रश्न-पत्र में रोग-विज्ञान एवं चिकित्सा जैसे दो विस्तृत विषयों पर प्रश्न पूछे जाते हैं। विवरण पत्रिका में सभी विषयों को चार भागों में विभक्त किया हुआ है। हमने इन सभी विषयों को केवल तीन भागों में विभक्त कर क, ख, ग प्रकरणों में लिखा है—

(क) इस प्रकरण में रोग-विज्ञान एवं चिकित्सा-विषयक सभी आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। साथ ही, अरिष्ट-विज्ञान विषयक आवश्यक नियम भी इसी प्रकरण में दिए हैं।

(ख) इस प्रकरण में स्नेहन-स्वेदन आदि चिकित्सा-उपयोगी विधियों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। विवरणपत्रिका के 'ग' भाग में दिए गए सभी विषयों पर लिखा गया है। विस्तृत जानकारी के लिए लेखक की पुस्तक 'पञ्चकर्म-विज्ञान' का अध्ययन करना चाहिए।

(ग) इस प्रकरण में ४० प्रमुख रोगों का निदान एवं चिकित्सा सहित वर्णन किया गया है। रोग असंख्य हैं और उन सबका वर्णन हजारों पृष्ठों में भी नहीं समा सकता। यहाँ केवल पाठ्यक्रमानुसार विषय को पूर्ण करने का ध्यान रखा गया है।

इन तीनों प्रकरणों में सभी आवश्यक विषय दिए हैं, जिससे पृष्ठसंख्या भी बहुत बढ़ गई है। फिर भी यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि विशेष योग्यता प्राप्त करने के इच्छुक छात्र इसके अध्ययन के पश्चात् चरक-संहिता, सुश्रुत-संहिता, माधव निदान, चक्रदत्त आदि ग्रन्थों का भी अध्ययन करें।

क

प्रश्न—सम्प्राप्ति किसे कहते हैं ? उसके प्रकारों का निर्देशन करते हुए रोग निदान में उसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए। (१९७०)

उत्तर—सम्प्राप्ति और उसका महत्त्व—माधव निदान में सम्प्राप्ति की परिभाषा बताते हुए लिखा है—'निदान सेवन के अनन्तर दोष कुपित होकर जिस प्रकार ऊर्ध्व और अधःगतियों के द्वारा शरीर में घूमते हुए तथा धातुओं एवं अवयवों को दूषित करते हुए किसी आशय में स्थान संश्रय करके व्याधि को उत्पन्न करते हैं. इस सारी शृंखला या व्यापार को सम्प्राप्ति कहा जाता है। जाति और आगति इसके पर्यायवाची शब्द हैं।"[1]

सम्प्राप्ति के पाँच भेद हैं, जिनका विस्तार से वर्णन आगे पंचनिदान शीर्षक प्रश्न में किया गया है।

यहाँ इसके महत्त्व को बताना अभिप्रेत है। सम्प्राप्ति कथन के निम्न प्रयोजन होते हैं :

(१) निदान-पूर्व रूप-रूप के द्वारा रोग का ज्ञान हो जाने पर भी सम्प्राप्ति का ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि दोष दूष्य सम्मूर्च्छना का वास्तविक आयतन कौन-सा है तथा रोग प्रकृति समसमवाय से हुआ है या विकृति विषम समवाय से हुआ है, यह जानना आवश्यक है। इसका ज्ञान सम्प्राप्ति से ही होता है।

(२) चिकित्सा करने के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि रोग में दोषों के बल की अंशांश-कल्पना क्या है।

(३) रोगों के भेदों का ज्ञान भी सम्प्राप्ति से ही हो सकता है।

(४) रोग में दोष किस अवस्था में है, यथा संचय-प्रकोप आदि का ज्ञान सम्प्राप्ति से ही होता है।

इन्हीं कारणों से सम्प्राप्ति का रोग-निदान में महत्त्व है।

---

१. "यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः॥"

प्रश्न—चिकित्सा के लिए रोग-विज्ञान की आवश्यकता पर विस्तृत निबन्ध लिखिए। **(हिन्दी विश्वविद्यालय १९६१)**

उत्तर—शरीर के दोष-धातु आदि का साम्यावस्था में रहना आरोग्य है और उनका विकृत होना रोग कहलाता है। उस रोग को दूर करने का नाम ही साधारण रूप में चिकित्सा है। इससे स्पष्ट है कि यह जानना आवश्यक होगा कि रोग की अवस्था क्या है या यों कहिए कि दोष-धातु आदि की अवस्था क्या है ताकि उन्हें साम्यावस्था में लाने के लिए उपाय किया जा सके। विना रोगावस्था का ज्ञान किए यह सम्भव नहीं कि उसकी चिकित्सा हो सके। इसी आवश्यकता को स्पष्ट करने के लिए चरक संहिता में कहा गया है कि "ज्ञान बुद्धि के दीपक की सहायता से जो चिकित्सक रोगी के अन्दर नहीं घुस जाता, वह रोगों की चिकित्सा नहीं कर सकता। ज्ञान बुद्धि दीप से रोगी के अन्दर घुसकर, तन्मय अनुभव करने पर ही चिकित्सक को सफलता मिलती है।"[1] इस आधार पर रोगी के अन्दर प्रवेश हुआ ज्ञान-दीप रोगी की सारी अवस्थाओं को प्रकाशित करने वाला होता है। और यदि हम ज्ञान-दीप की सहायता से रोग को भली प्रकार न देख सकें तो हम भ्रम में पड़ सकते हैं और उस अवस्था में चिकित्सा सम्भव नहीं। सुश्रुत संहिता में स्पष्ट किया गया है कि "जो रोग भली प्रकार नहीं देखे गए, जिन शिकायतों को भली प्रकार नहीं कहा गया तथा जिनकी ठीक प्रकार से परीक्षा नहीं की गई, ऐसे रोग चिकित्सक को भ्रम में डाल देते हैं।"[2] और यह स्पष्ट ही है कि चिकित्सक के भ्रम में पड़ जाने पर चिकित्सा कदापि सम्भव नहीं। और इसी प्रमाद से बचने और मोह में न पड़ सकने के लिए चरक संहिता में स्पष्ट किया गया है कि 'विचक्षण पुरुष आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा रोगों को अच्छी प्रकार जानें। अर्थात् पुरुष सब की सब प्रकार से यथासम्भव आलोचना करके तत्त्व में तथा तदनन्तर कार्य में निश्चय ज्ञान करे। कार्य तथा तत्त्व (रोग का ज्ञान) को जानने वाला पुरुष ज्ञान में मोह को प्राप्त नहीं होता और वह मोहरहित पुरुष अप्रमाद से उत्पन्न होने वाले फल-सिद्धि—

---

१. "ज्ञानबुद्धि प्रदीपेन यो नाविशति रोगवित् !
आतुरस्यान्तरमात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति !" (चरक विमान अ० ४)

२. 'मिथ्याद्रष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च !
तथा दुष्परीक्षस्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम् !" (सु० सू० अ० १०)

सफलता को प्राप्त होता है।"[1] इन सबने स्पष्ट कर दिया है कि रोग के ज्ञान में इतनी सावधानी बरतें कि भ्रम या प्रमाद उत्पन्न न हो, क्योंकि रोग के सही ज्ञान के बिना चिकित्सा में सफलता सम्भव नहीं।

अब यदि कोई चिकित्सक चिकित्सा के सभी सिद्धान्तों का ज्ञाता हो और वह रोग का सही ज्ञान किए बिना चिकित्सा आरम्भ कर दे, तो चाहे उसे सफलता मिल ही जाए परन्तु वह सफलता अनायास प्राप्त ही समझनी चाहिए। चरक संहिता में एतदर्थ लिखा है कि "जो चिकित्सक रोग को न पहचान कर कर्म प्रारम्भ करता है, चाहे वह औषध के विचार को जानने वाला भी हो उसे यदृच्छा (अचानक) से ही सफलता होती है।"[2] ऐसी अवस्था में यदि अचानक कोई ठीक दवा दे दी गई तो रोग दूर हो सकता है; अन्यथा बिना निदान के औषध लग ही नहीं सकती और चिकित्सक को असफलता मिलती है। इसीलिए यहाँ पर स्पष्ट कर दिया गया है कि "जो रोगों के भेदों को जानता है, सब औषधों में प्रवीण है, देश, काल एवं मात्रा को जानने वाला है, उसे निस्सन्देह सफलता मिलती है!"[3] और इनमें भी पारगत होते हुए चिकित्सक को प्रथम रोग विज्ञान की आवश्यकता है, फिर औषध आदि के ज्ञान की। कहा गया है कि "सबसे पूर्व रोग की परीक्षा करें, तदनन्तर औषध की और इसके बाद वैद्य को चाहिए कि वह ज्ञानपूर्वक कर्म करे।"[4] यदि पहले रोग की परीक्षा नहीं करेगा तो उसे दोष दूष्य आदि की सही स्थिति का ज्ञान नहीं हो सकता और उस अवस्था में यह सम्भव नहीं कि औषध की व्यवस्था की जा सके और यदि बिना रोग जाने औषध की व्यवस्था

---

१. "सर्वथा सर्वमालोच्य यथा सम्भवमर्थवित्।
अथाध्यवस्येत्तत्त्वं च कार्यं च तदनन्तरम्॥
कार्यं तत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ न मुह्यति।
अमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम्!!" (चरक० वि० अ० ४)

२. "यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक्!
अप्यौषध विधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्यदृच्छया!!"

३. 'यस्तु रोग विशेषज्ञः सर्वभैषज्य कोविदः!
देशकाल प्रमाणज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम्!!

४. "रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्।
ततः कर्म भिषक्पश्चाज्ज्ञान पूर्वं समाचरेत्!!" (चरक सूत्रस्थान अ० २०)

की गई तो वह लाभ नहीं कर सकता। अतः चिकित्सा के लिए रोग की परीक्षा या रोग विज्ञान प्रथमावश्यक है।

यदि हम रोग विज्ञान को जाने बिना चिकित्सा में प्रवृत्त होते हैं तो जहाँ हमें असफलता की हानि उठानी पड़ती है, वहाँ और भी हानियाँ होती हैं। रोग का ज्ञान करते समय रोग की अवस्था—दोष-दूष्य आदि का ज्ञान करते हैं—कौन रोग साध्य है, कौन अवस्था असाध्य है—यह भी रोग विज्ञान में आता है। बिना ज्ञान किए यदि असाध्य अवस्था में चिकित्सक उसे ठीक कर देने का विश्वास दे दे और औषध आदि की व्यवस्था कर दे तो वह बहुत ही हानिकर है। चरक संहिता में इस विषय में स्पष्ट किया है कि "जो वैद्य असाध्य रोग की चिकित्सा करता है, उसके धन, विद्या और यश की हानि होती है, लोग निन्दा करने लगते हैं और उससे कोई चिकित्सा कराना नहीं चाहता, क्योंकि उस असाध्य रोग से पीड़ित को तो अवश्य ही रोगग्रस्त रहना है अथवा उसी से मर जाना है परन्तु हानि उसी चिकित्सक की होगी जो उसकी चिकित्सा कर रहा होता है।"[१] इसीलिए कहा गया है कि "साध्य और असाध्य को जानने वाला चिकित्सक ज्ञानपूर्वक यथासमय जो कर्म करता है, वह अवश्य सफल होता है।"[२] बिना रोग का ज्ञान किए चिकित्सक को हानि उठानी पड़ती है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि असाध्यावस्था के अनुसार रोगी के परिजनों को सारी स्थिति से अवगत करा देना तथा उनके फिर भी आग्रह करने पर चिकित्सा में प्रवृत्त होना कोई दोषकर नहीं; क्योंकि रोग ज्ञान के पश्चात् उसके फल या परिणाम को चिकित्सक पहले ही बता दे तो निन्दा की कोई बात ही नहीं रह जाती, परन्तु रोग का ज्ञान किए बिना असाध्य को साध्य करने का प्रयत्न करने वाला चिकित्सक ऊपर वर्णित हानि उठाता है।

इस प्रकार कहा गया है कि चिकित्सक रोगी की परीक्षा कर रोग का ज्ञान पहले करे, फिर चिकित्सा आरम्भ करे। लिखा है कि "वैद्य को चाहिए कि रोगों की लक्षणों सहित पहले परीक्षा करे और फिर यदि ज्ञान करने पर साध्य

---

१. "अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम्।
प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्।"

२. "साध्यासाध्य विभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः।
काले चारम्भतेकर्म यत्तद् साध्यति ध्रुवम्।" (चरक सू० अ० १०)

रोग हो तो उसकी चिकित्सा आरम्भ कर दे।"[1] साध्य रोगों की ही चिकित्सा में सफलता मिल सकती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चिकित्सा के लिए रोग विज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। चिकित्सक रोग की अवस्था को जाने विना कभी भी चिकित्सा में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रश्न—रोग किस प्रकार निदानार्थकर होता है? उदाहरण देकर समझाइये। यह भी लिखिए कि सामान्य निदान एवं निदानार्थकर रोग से उत्पन्न व्याधि में कोई अन्तर होता या नहीं। व्याधि संकरता क्या है?

(हि० वि० १९६४)

उत्तर : निदानार्थकर रोग—दोष की विषमता को रोग कहा जाता है—वह विषमता कुछ कारणों से होती है और उन कारणों को निदान कहा जाता है। जैसे किसी व्यक्ति द्वारा रूक्ष-शीत का अतियोग करने पर वायु का प्रकोप होकर वातव्याधि की उत्पत्ति होना। अतः रूक्ष-शील अतियोग की वातव्याधि का कारण या निदान कहा जाएगा। यह साधारण बात है। कभी ऐसा भी होता है कि ऐसे कारण से कोई रोग उत्पन्न हुआ और फिर वह रोग दूसरे रोग का उत्पादक कारण बन गया—ऐसे रोग को निदानार्थकर रोग कहा जाता है।

चरक संहिता में इस बात को उदाहरण देते हुये इस प्रकार स्पष्ट किया है[2]—"एक रोग दूसरे रोग के निदान के प्रयोजन अर्थात् उत्पत्ति को करने वाला पाया जाता है। अर्थात् एक रोग से दूसरे रोग की उत्पत्ति हो जाया करती है। जैसे ज्वर के संताप से रक्तपित्त उत्पन्न हो जाता है, रक्तपित्त से ज्वर उत्पन्न हो जाता है। ज्वर तथा रक्तपित्त दोनों से शोष रोग की उत्पत्ति

---

१. "भिषजा प्राक् परीक्ष्यैवं विकाराणां स्वलक्षणम्।
पश्चात्कार्यसमारम्भः कार्यः साध्येषु धीमता!" (चरक सू० अ० १०)

२. "निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपलभ्यते।
तद्यथा ज्वर संतापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते।!!
रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते।
प्लीहाभिवृद्धया जठरं जठराच्छोफ एव च।
अर्शोभ्यो जठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते!!
प्रतिश्यायादथो कासः कासात्संजायते क्षयः।
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते!!" (चरक नि० अ० ८)

हो जाती है। इसी प्रकार प्लीहा वृद्धि से उदर रोग और उदर रोग शोफ उत्पन्न हो जाता है। अर्श रोग से उदर रोग और गुल्म उत्पन्न हो जाता है। प्रतिश्याय (जुकाम) से कास, कास से क्षय और क्षय से शोष रोग की उत्पत्ति हो जाती है !"

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैसे असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं परिणाम नामक कारणों से कोई रोग उत्पन्न होता है, उसी प्रकार किसी रोग से भी दूसरा रोग उत्पन्न हो सकता है। और ऐसा रोग निदानार्थकर रोग कहलाता है। इस विषय में और भी स्पष्ट करते हुए चरक संहिता में आगे लिखा है—"वे रोग पहले केवल रोग होते हैं और पीछे से निदान के प्रयोजन अर्थात् रोगान्तर की उत्पत्ति के कारण होते हैं। ये रोग दोनों प्रयोजनों के करने वाले देखे गए हैं। अभिप्राय यह है कि रोग कभी-कभी रोगान्तर को उत्पन्न करते हैं और स्वयं भी रहते हैं और रोगान्तर को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार रोग और रोगहेतु इन दोनों प्रयोजनों को करने वाले और कभी-कभी केवल रोगहेतु रूप में देखे गए हैं।"[१] जैसे प्रतिश्याय आदि कास को उत्पन्न कर दे और स्वयं भी बना रहे तो उभयार्थकारी कहा जाएगा और यदि खांसी को उत्पन्न कर प्रतिश्याय स्वय नष्ट हो जाय तो एकार्थकारी कहा जायगा।

इस प्रकार सामान्य निदानोत्पन्न रोग एवं निदानार्थकर रोगोत्पादन रोग में दो प्रकार की व्याधियाँ हो जाती हैं। इसमें अन्तर इतना है कि जो व्याधि सामान्य कारण से उत्पन्न है, वह अपेक्षया सरल है और जो निदानार्थकर रोगोत्पन्न व्याधि है, वह कठिनता से ठीक हो सकती है। कारण यह है कि प्रथम अवस्था के रोगों में केवल उसके कारणों के अनुरूप चिकित्सा करनी होती है और दूसरी प्रकार की व्याधि में उस व्याधि की, उस व्याधि के उत्पादक रोग की तथा उस रोग के उत्पादक कारण की—इन तीन की ओर पूरा ध्यान रखना होता है। दूसरी बात यह है कि प्रथमावस्था की व्याधि रोगी को कम लक्षण उत्पन्न कर सकती है, जबकि दूसरी प्रकार की व्याधि

---

१. "ते पूर्वं केवला रोगा पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः।
उभयार्थंकरा दृष्टास्तथैवैकार्थकारिणः !!
कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति।
प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वम् कुरुतेऽपिच !!" (चरक नि० अ० ८)

अधिक कष्टदायक होती है। इस प्रकार चिकित्सा तथा लक्षणों की दृष्टि से भी प्रथम प्रकार की व्याधि सरल है और द्वितीय प्रकार की कठिन।

व्याधि संकरता—इस प्रकार से एक रोग के द्वारा अन्य रोग उत्पन्न हो जाना और उसका भी बना रहना—रोगों का मिश्रण है। यह मिश्रण ही 'व्याधि संकरता' कहलाता है। केवल किसी रोग से उत्पन्न दूसरे रोग को देखकर ही व्याधि संकरता मानी जाए, सो बात नहीं। यह भी कहा गया है कि औषध प्रयोगों के परिशुद्ध न होने से भी व्याधि संकरता हो सकती है। चरक संहिता में एतदर्थ लिखा है—"औषध प्रयोगों के परिशुद्ध न होने से और रोगों के परस्पर उत्पादक होने से मनुष्यों को रोग-संकर (व्याधि संकरता) हुए दिखाई देते हैं, बहुत ही कष्टसाध्य होते हैं।"[1]

प्रश्न—वात-पित्त-कफ का भेदों सहित विस्तृत विवरण दीजिए।

उत्तर—वात-पित्त-कफ—इन तीन आयुर्वेद में त्रिदोष के नाम से वर्णित किया गया है।[2] 'दोष' शब्द से बोध होता है कि यह शरीर को दूषित करने वाले हैं। वात-पित-कफ सदैव ही शरीर को दूषित करते हों—सो बात नहीं। जब ये किन्हीं कारणों से प्रकुपित हो जाते हैं, तभी ये शरीर के लिए हानिकारक होते हैं, अन्यथा ये शरीर को धारण भी करते हैं। इसीलिए इनको धातु कहकर भी सम्बोधित किया जाता है, क्योंकि प्राकृतावस्था में ये शरीरोपकारक होते हैं। इसीलिए कहा गया है कि हमारे शरीर के बनाने वाले वात-पित्त-कफ हैं।[3] और यह भी बताया गया है कि प्राकृत अवस्था में ये शरीर के उपकारक होते हैं।[4] इस प्रकार इनके दो रूप हुए—प्रथम दोष रूप और दूसरे धातु रूप। इन रूपों के अतिरिक्त एक तीसरा रूप भी इनका होता है और वह है मलरूप, और जब ये शरीर को मलिन करने लगते हैं तो मल कहलाते

---

१. "एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः।
प्रयोगापरिशुद्धत्वात्तथा चान्योन्यसम्भवात्॥"
(चरक संहिता नि० अ० ८)

२. "वायु पित्तं कफश्चोक्ताः शरीरो दोष संग्रहः।"
(चरक सूत्रस्थान अ० १)

३. "वात-पित श्लेष्माण एवं देह सम्भव हेतवः।" (सुश्रुत सू० अ० २१)

४. "तं प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति!" (चरक विमानस्थान अ० १)

हैं। इन तीनों रूपों का स्पष्ट उत्तर देते हुए त्रिदोष विज्ञान में कहा गया है कि बात-पित्त-कफ जब शरीर को दूषित करते हैं तब दोष कहलाते हैं—जब शरीर का धारण करते हैं तो इन्हें धातु कहा जाता है और जब शरीर में मलिनता उत्पन्न करते हैं, तब इनकी सञ्ज्ञा मल हो जाती ।"[१]

इस तरह स्पष्ट हो गया है कि वात-पित-कफ के प्राकृत एवं विकृत रूप को जानना आवश्यक है, ताकि प्राकृत अवस्था के लक्षणों एवं विकृतावस्था से उत्पन्न रोगों को भली प्रकार समझा जा सके। हम पहले प्राकृतावस्था का वर्णन करेंगे।

वात अथवा वायु की उत्पत्ति 'ब' गत्यर्थक धातु से होती है—इससे 'गति' 'प्राप्ति' और 'ज्ञान' ग्रहण किया जाता है। चरक-संहिता में वायु का स्वरूप बताते हुए कहा गया है—"रूक्षता, शीतता, लघुता, विरषता, गति और अमूर्तता वायु का स्वरूप है।"[२]

'तप' सन्तापः धातु से पित्त शब्द की उत्पत्ति होती है। इसी से पित्त उसे कहा जाता है जो ताप को या कहिए उष्णता को उत्पन्न करने वाला हो। पित्त का स्वरूप बताते हुए लिखा है, 'उष्णता, तीक्ष्णता, नातिस्निग्धता, अशुक्ल वर्णता, विस्र गन्धता, कटु-अम्ल रसता और सर (वहनशील)—यह पित्त का स्वरूप है।"[3]

'श्लिष' आलिंगन धातु से कफ शब्द बना है। इससे 'संयोजक' अर्थ सिद्ध होता है। कफ का स्वरूप बताते हुए कहा गया है—'श्वेतता, शैत्य, गौरव, स्नेह माधुर्य, स्थिरता, पिच्छिलता, मृतस्नता-कफ का स्वरूप है।"[४]

इस प्रकार शास्त्रों में बात, पित्त, कफ का आत्मस्वरूप स्पष्ट कर रखा है। यदि उन सबको संक्षेप में कहना चाहें तो यह कहा जा सकता है कि शरीर

---

१. "शरीरा दूषणाद्दोषा धातवो देह धारणात् !
वात-पित्त-कफ ज्ञेया मलिनीकरणान्मला !!" (त्रिदोष विज्ञान)

२. "रोक्ष्यं शैत्यं लाधवं वैशद्यं गतिरमूर्त्तत्वं चेति वारोरात्मरूपाणि।"

३. "औष्ण्यं तैक्ष्न्यमनातिस्नेहो वर्णश्चाशुक्लो गन्धश्च !"
विस्रो रसो कटुकाम्लो सरश्च पित्तस्यात्मरूपाणीति !"

४. श्वैत्य शैत्य गौरवस्नेह माधुर्यं स्थैर्यं पेच्छिल्य मात्स्नानि !
श्लेष्मणा आत्मारूपाणीत्यभिहितम् !" (चरक संहिता)

की चेष्टाएँ जिससे होती हैं, वह वायु है, शरीर में उष्णता का जो जनक है वह पित्त है और शरीर का संयोजक कफ कहलाता है।

प्राकृतस्थ वात-पित्त-कफ के अपने-अपने गुण बताए गए हैं—यहाँ पर कहा गया है कि वायु में निम्नलिखित गुण हैं—रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद और खर।[1] रूक्ष गुण वायु का प्रसिद्ध गुण है—इसका कारण यह है कि वायु में स्निग्धताकारक जल की अल्पता होती है। शीत गुण कहने का अर्थ यह है कि वायु की वृद्धि शीतता से होती है—साधारणतः स्पर्श में वायु अनुष्णशीत है। वायु भूत में हल्कापन स्वाभाविक ही है। वायु में यह शक्ति है कि वह शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों में प्रवेश कर जाती है, अतः उसे सूक्ष्म गुण युक्त कहा गया है। यह गति उत्पादक है और गति उत्पन्न करना 'चल' गुण का ही कर्म है, अतः वायु में चल गुण कहा गया है। विशद गुण होने से ही वायु पिच्छिलता का नाश करती है। खर गुण के द्वारा वायु शरीर में खुरदरापन उत्पन्न करती है। इस तरह वायु के गुणों का वर्णन किया गया है।

इस स्थान पर यह बात स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि वातादि के जो गुण हम यहाँ बता रहे हैं, उन गुणों के विषय में विस्तृत जानकारी इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में द्रव्यगुण विज्ञान विषय के अन्तर्गत वीस प्रकार के शरीर गुणों के अन्तर्गत की गई है। पाठक उन्हें उसी स्थल पर पढ़ें, ताकि विषय को सरलता से समझा जा सके।

पित्त के गुण बताते हुए कहा गया है कि "पित्त ईषत् स्नेहयुक्त, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर एवं कटु है। पित्त में प्रधानता अग्निभूत की है, अल्प मात्रा में जलभूत होता है और उस जल के कारण ही पित्त में कुछ स्निग्धता कही गई है। उष्णता तो पित्त का स्वाभाविक गुण है और उष्ण होने से ही उसमें तीक्ष्णता कही गई है। द्रव गुण पित्त में जलभूत की उपस्थिति के कारण होता है। अम्ल एव कटु रसों के द्वारा पित्त की वृद्धि होती है, अतः इसमें ये दोनों गुण विद्यमान होते हैं। पित्त एक द्रव पदार्थ है, अतः सरत्व गुण रहेगा; कारण द्रव चीजें सदैव अधोगतिशील हुआ करती हैं।

---

१. "रूक्ष, शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः !"

२. "सस्नेहं उष्णं तीक्ष्णं च द्रव अम्लं सरं कटु !" (चरक सूत्रस्थान अ० १)

कफ के गुण बताते हुए कहा गया है कि "कफ में गुरू, स्निग्ध, शीत, मृदु, मधुर, स्थिर और पिच्छिल गुण होते हैं।"[१] कफ में गुरू गुण होने के विषय में यह जान लेना चाहिए कि कफ की उत्पत्ति में पृथ्वी और जलभूत की प्रधानता रहती है—ये दोनों ही गुरु होते हैं अतः गुरू कहा गया। दूसरी बात यह है कि गुरू पदार्थों के प्रयोग से कफ की वृद्धि होती है। शीतगुण भी इन दो कारणों से ही है, क्योंकि जल पृथ्वीभूत प्रधान होने से उष्णता नहीं हो सकती और शीतता से कफ की वृद्धि भी होती है। कफ की अधिकता वाले शरीर में मृदुता देखी जा सकती है। स्निग्ध गुण भी कफ का स्वाभाविक गुण है, कोई भी स्निग्ध पदार्थ खाने से कफ की वृद्धि होती है। जिन भूतों से कफ की उत्पत्ति होती है मधुर रस की उत्पत्ति भी उन्हीं भूतों से होती है। अतः कफ में मधुर रस होगा ही। कफ में पृथ्वीभूत की अधिकता है और पृथ्वीभूत में ही स्थिरता होती है, अतः स्थिर गुण होगा। पिच्छिलता होना भी कफ में जल की अधिकता को बताने वाला है। इस तरह वात, पित्त, कफ के प्राकृतावस्था में जो-जो गुण होते हैं, वे सब कह दिए हैं। अब प्राकृतावस्था में होने वाले कर्मों का वर्णन किया जाएगा।

वायु के कर्म बताते हुए चरक संहिता में सूत्रस्थान के बारहवें वातकलाकलीय नामक अध्याय में विस्तार से वर्णन किया गया है। उसी आधार पर हम यहाँ वायु के कर्मों की व्याख्या कर रहे हैं। यहाँ पर वायु के निम्न कर्म बताए गए हैं—

(१) **वायु तन्त्रयन्त्रधर है**—तन्त्र हाथ-पाँव की क्रियाओं के लिए कहा गया है और यन्त्र हृदय आदि शरीरावयवों के लिए कहे गए हैं। इस प्रकार वायु को तन्त्र एवं यन्त्र सभी को धारण करने वाला या कहिए इन सब की क्रियाएँ कराने वाला कहा गया है। आधुनिक वैज्ञानिक जो वातवाहिनियों द्वारा कार्य होने का निर्देश करते हैं, उनके अनुसार भी उन वाहिनियों में रहने वाली वायु ही कार्य करती है जैसे बिजली के तार में विद्युत के रहने पर ही पंखा चल सकता है, अन्यथा नहीं।

(२) **उच्चावच चेष्टाओं का प्रवर्त्तक**—शरीर की छोटी अथवा बड़ी सभी चेष्टाओं का प्रवर्तक वायु ही है।

१. "गुरु शीतमृदु स्निग्ध मधुरस्थिर पिच्छिला।" (चरक सूत्रस्थान अ० १)

(३) **मन का नियन्ता और प्रणेता तथा सब इन्द्रियों का उद्योतक**—ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ एव उभयात्मक मन को वायु ही सचालित करती है।

(४) **सब इन्द्रियों को वहन करने वाला**—ज्ञान के लिए प्रथम आवश्यक यह है कि इन्द्रियार्थ का सम्बन्ध इन्द्रिय से हो और सम्बन्ध कराने का कार्य वायु द्वारा ही होता है।

(५) **सर्व शरीर धातु व्यूहकर**—शरीर की रस-रक्तादि धातुओं को यथा-स्थान स्थित करना भी वायु का ही काम है। यथास्थान स्थिति से ही वे अपना-अपना कर्म समुचित रूप से कर सकती हैं।

(६) **शरीर का सन्धानकर**—साधारणतः दो चीजों को जोड़ना या सन्धान करना कफ का काम है—कफ निकट पड़ी दो चीजों को एक कर देता है, किन्तु दूर पड़ी चीजों को जब श्लेष्मा नहीं जोड़ सकता, वहाँ पर वायु ही यह कार्य करती है। वह अलग-अलग पड़े पदार्थों को वहन कर एक स्थान पर ला देती है और इस प्रकार सन्धान कार्य करती है।

(७) **वाक्यों का प्रवर्त्तक**—गले में स्थित स्वर-यन्त्र ही वाक्यों के प्रवर्त्तक हैं। वहाँ पर वातवाहिनियों द्वारा कर्म होता है, और उन वातवाहिनियों में वायु सचरण करती है।

(८) **शब्द और स्पर्श की प्रकृति**—वायु का विशेष गुण स्पर्श कहा गया है। शब्द का सम्बन्ध इसलिए की वायु की उत्पत्ति आकाश के पश्चात् हुई है। इस तरह आकाश का अपना गुण अनुप्रवेश के समय वायु भूत में समाविष्ट हो जाता है इस तरह वह स्पर्श एव शब्द दोनों से युक्त हो जाता है।

(९) **श्रोत एव स्पर्शेन्द्रियों का मूल**—श्रोत का गुण शब्द है और स्पर्शेन्द्रिय का स्पर्श ये दोनों वायु में रहते हैं, अतः इन दोनों इन्द्रियों का मूल भी वायु को ही कहा जाता है।

(१०) **हर्ष एवं उत्साह का कारण**—शरीर में वात सूत्रों की उत्तेजना से ही उत्साह एवं हर्ष उत्पन्न होता है, और उन सूत्रों में कार्य करने वाला वायु ही होता है।

(११) **अग्नि का समीकरण**—बाह्य जगत् में देखा जाता है कि वायु के द्वारा अग्नि बढ़ जाती है और शरीर में भी ठीक वही बात है। शास्त्रों में अग्नि शब्द से पाचक रसों को ग्रहण किया जाता है—यह पाचक रस आमाशय और, अग्नाशय के स्राव इनके मिलने से बनता है। इन स्रावों की

उत्पत्ति का कारण वातनाड़ी सूत्र हैं, और उनके अन्दर वायु ही काम करती है। अतः वायु को अग्निवर्धक मानना होगा।

(१२) **संशोषक दोष**—जिस प्रकार बाह्य जगत् में गीलापन हटाने का कारण वायु है, उसी प्रकार शरीर में क्लेद आदि तथा दोषों का संशोषण करना भी वायु का काम है।

(१३) **मलों का प्रवर्त्तक**—मल एवं मूत्र आदि मलों को बाहर निकालना वायु का काम है। मलों के निकलने में संकोचायान होता है जो वात-सूत्रों में स्थित वायु द्वारा होता है और इस प्रक्रिया द्वारा मल शरीर से बाहर फेंक दिए जाते हैं।

(१४) **स्थूल और सूक्ष्म स्रोतों का भेदक**—शरीर के जितने स्रोत हैं, उनकी बनावट के विषय में लिखा है कि वायु पित्त के साथ मिलकर स्रोतों को बनाती है।

(१५) **गर्भ की आकृतियों का कर्त्ता**—जिस समय गर्भ स्थापना होती है और नौ मास के पश्चात् जिस आकार-प्रकार का शिशु जन्म लेता है, उन सब परिवर्तनों का कर्त्ता वायु ही है। शरीर में रस आदि धातुओं में स्वयं स्वरूप बनाने की शक्ति नहीं है, उन सब में विभिन्न प्रकार के स्वरूप बनाने का कार्य वायु द्वारा ही सम्पादित होता है।

(१६) **आयु की अनुवृत्ति का कारण**—चरक संहिता में आयु का लक्षण बताया गया है कि शरीर-इन्द्रिय-सत्त्व और आत्मा इन चारों के संयोगरूप को आयु कहा जाता है। वायु इस आयु को निरन्तर चलाने वाली है। आज शरीर वेत्ताओं के दृष्टिकोण से भी विचार करें तो हम पाते हैं कि हृदय एवं वातनाड़ी संस्थान यदि व्यवस्थित रूप से कार्य करें तो हमारा जीवन सम्भव है और जीवन ही आयु है। इस तरह इन दोनों को आयु को चलाने वाला कहा जाएगा और इन दोनों का चालक वायु है अतः वायु को आयु की अनुवृत्ति का कारण मानना होगा।

इस प्रकार प्राकृत वायु के जिन कर्मों का चरक संहिता में वर्णन किया है, हमने उनकी व्याख्या ऊपर कर दी है।

प्राकृत पित्त क्या-क्या कर्म करता है—यह बताते हुए चरक संहिता में एक सूत्र दिया है, जिसमें कहा गया है कि अविकृत पित्त के कार्य इस प्रकार होते हैं—

'दर्शन, पंक्ति, उष्मा, क्षुधा, तृष्णा, देह की मृदुता, प्रभा, प्रसाद और मेघा—ये सब अधिकृत पित्त के कार्य हैं।"[1] हम यहाँ प्रत्येक पर विचार करेंगे।

(१) **दर्शन**—दर्शन अग्नि का गुण बताया गया है. और यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि बाह्य जगत में जो अग्नि है, वही हमारे शरीर में पित्त है। अतः पित्त एवं अग्नि में कोई अन्तर नहीं रहा, इससे सिद्ध है कि पित्त का कर्म दर्शन है। पित्त के पाँच भेदों में से एक आलोचक पित्त है जो नेत्रों में स्थित रहकर देखने का काम करता है।

(२) **पक्ति**—पक्ति का अर्थ पकाना है। पाचकतन्त्र का वर्णन करते हुए प्रथम खण्ड में स्पष्ट किया जा चुका है कि जो भी आहार हम खाते हैं, वह जठराग्नि द्वारा पाक को प्राप्त होता है और प्रसादांश एवं किट्टांश में विभाजित हो जाता है। प्रसादांश से रस धातु की उत्पत्ति होती है; रस धातु की उत्पत्ति होने के पश्चात् उस पर धात्वग्नियों की क्रिया होती है और आगामी धातु की उत्पत्ति होती है। यह सारा पाक अग्नि द्वारा होना कहा गया है। स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि शरीर में पित्त के अतिरिक्त कोई अन्य अग्नि नहीं है, अतः पक्ति कर्म पित्त द्वारा सम्पादित कहा जाएगा।

(३) **उष्मा**—उष्मा का भाव है दाह करना। यह कार्य अग्नि का है—पित्त ही शरीरस्थ अग्नि है, अतः यह भी पित्त द्वारा ही सम्पन्न होगा। इसका ज्ञान स्पर्श द्वारा किया जायेगा।

(४) **क्षुधा**—आहार को प्राप्त करने की इच्छा को व्यक्त करने वाला लक्षण क्षुधा है। जो आहार शरीर में था, वह पच गया तथा और की आवश्यकता हुई तो क्षुधा की उत्पत्ति हुई। शरीर में पाचक तत्त्वों द्वारा क्षुधा की उत्पत्ति होती है और ये पाचक तत्त्व सभी अग्निरूप होते हैं जो पित्त के समान समझे जाते हैं। इस तरह कहा जा सकता है कि क्षुधा का उत्पादक पित्त ही है।

(५) **पिपासा**—शरीर के जलीयांश का नाश पित्त की उष्णता से होता है और उसके नाश को स्पष्ट करने वाला लक्षण पिपासा है—अतः वह भी पित्त द्वारा उत्पन्न समझा जाएगा।

(६) **देह मार्दव**—उष्णता में यह गुण है कि स्नेह आदि को मृदु रखती

---

१. "दर्शन पक्तिरूष्मा च क्षुतृष्णा देहमार्दवम्।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्॥" (चरक सूत्रस्थान अ० १८)

है। जब उष्णता नहीं होती तो देखा जाता है कि गोले का तेल जमकर सख्त हो जाता है – हमारे शरीर में पित्त की उष्णता से मृदुता बनी रहती है— मृत्यु के पश्चात् उष्णता का नाश हो जाता है और उस अवस्था में मृत शरीर लकड़ी की तरह सख्त हो जाता है।

(७) प्रभा—शरीर पर विशेष प्रकार की आभा को प्रभा नाम दिया गया है। यह भी तैजस पित्त के द्वारा होता है। त्वचा में स्थित भ्राजक पित्त त्वचा के वर्णों का पोषक है और वही प्रभा को उत्पन्न करता है।

(८) प्रसाद—इसका अर्थ है निर्मलता। जब बाह्य जगत में सूरज निकलता होता है, तब सब गन्दगी सूख जाती है उसी तरह जब हमारे शरीर में पित्त रूपी सूर्य कार्य करता है तो गंदगी का नाश कर प्रसाद की उत्पत्ति करता है। अतः 'प्रसाद' भी पित्त होने वाला कहा जायेगा।

मेधा—पित्त में तेज भूत की अधिकता होती है और तेज में सत्त्व एवं रजो गुण कहे गए हैं। सत्त्व गुण द्वारा ज्ञान-विज्ञान-धैर्य, स्मृति एवं समाधि आदि होते हैं। स्मृति एवं मेधा के लिए हितकर है।

इस प्रकार अविकृत पित्त के शास्त्रोक्त कर्मों का निरूपण हमने ऊपर कर दिया है।

कफ जब अविकृतावस्था में रहता है, तब वह निम्न कर्म करता है—

स्नेहन, बन्धन, स्थिरत्व, गौरत्व, वृषता, बल, क्षमा, धृति, अलोभ। हम यहाँ इनकी व्याख्या करके इन्हें स्पष्ट करेंगे।

(१) स्नेहन—कफ जहाँ भी है वहाँ स्निग्धता है और जो भी स्निग्ध पदार्थ ग्रहण किया जाता है, उससे कफ की वृद्धि होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार कफ की स्नेहता का बोध हो जाता है।

(२) स्थिरत्व—कफ शरीर के अवयवों में संयोग का काम करता है। यह बात स्पष्ट रूप से माननी चाहिए कि जुड़ी हुई वस्तु स्थिर होती है। जैसे मकान बनाने में ईंट, पत्थर आदि को बिना मसाले के जोड़ने से वह स्थिर नहीं होता, उसी प्रकार कफ भी मसाले की तरह काम कर स्थिरता उत्पन्न करता है।

(३) बन्धन—हर स्थान पर, जहाँ पर बन्धन होता है, वह सब संयोग द्वारा होता है—सयोग करना कफ का कर्म है, अतः बन्धन करना भी इसका कर्म होगा।

(४) गौरव—कफ के गुणों में गुरु गुण कहा जा चुका है। वह शरीर में गुरुता उत्पन्न करता है। इसीलिए गौरव कर्म करता है।

(५) वृषता—मैथुन शक्ति को आयुर्वेद में वृषता के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह शक्ति शुक्र द्वारा होती है। कफ और शुक्र में बहुत समानताएँ हैं, अतः वह वृषता कारक भी होता है।

(६) बल - यह बात पीछे स्पष्ट हो चुकी है कि कफ शरीर में स्थिरता, सुबन्धन एवं स्नेहता उत्पन्न करता है और जिसके शरीर में ये तीन गुण होंगे, वह बलवान होगा। इसलिए कफ को बलकारक कहा गया है।

(७) क्षमा—क्रोध से विपरीत कर्म क्षमा कहलाता है। क्रोध की उत्पत्ति पित्त एवं वायु से होती है। क्षमा सत्त्व गुण से प्राप्त होता है। कफ में सत्त्व गुण है और पित्त तथा वायु शामक है।

(८) धृति—धैर्य को धृति कहा जाता है। कफ में स्थिरता है। यह चंचलता का नाश करता है। अतः वह धैर्य देने वाला कहा गया है।

(९) अलोभ—लोभ की उत्पत्ति वायु द्वारा कही गई है। कफ वायु का विरोधी है, अतः वह लोभ का भी विरोधी होगा और इस प्रकार उसके द्वारा अलोभ होगा।

इस तरह शास्त्रों में कफ की अविकृतावस्था में होने वाले जो कर्म बताए हैं, हमने उनका वर्णन कर दिया।

वात-पित्त-कफ की अविकृतावस्था के विषय में इतना लिखने के पश्चात् जो शेष है, वह है इनके भेदों का वर्णन। अतः यहाँ इनके पाँच-पाँच भेदों का वर्णन करना है और बाद में वात-पित्त-कफ की विकृतावस्था का वर्णन किया जाएगा।

वायु के पाँच भेद बताए गए हैं, वे निम्न प्रकार से हैं—

(१) प्राण वायु—शास्त्रों में इसका वर्णन करते हुए कहा है कि प्राण-वायु का स्थान मुख है। यह अन्न को अन्दर प्रवेश कराता है और प्राणों का अवलम्बन करता है। इस वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि हृदय, फुफ्फुस एवं अन्न प्रणाली का संचालन जिस वायु से होता है, वह प्राणवायु कहलाती है। यह वायु वायुमण्डल से आक्सीजन को ग्रहण कर शरीर को प्रदान करती है और इस प्रकार प्राणों की रक्षा करती है। इसीलिए आक्सीजन को प्राणवायु कहा जाता है।

(२) उदान वायु--जो वायु ऊपर चढ़ती है—बोलने एवं गाने आदि में सहायक है, वह वायु उदान वायु कहलाती है। इस शास्त्रोक्त वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वर-यन्त्र एवं उत्तमांग की पेशियों के संचालक वात सूत्रों में जो वायु होती है, वही उदान वायु है।

(३) समान वायु—आमाशय से पक्वाशय तक भ्रमण करने वाली जो वायु पाचक अग्नि के साथ मिल कर अन्न का परिपाक कराती है तथा भुक्त अन्न से बनने वाले विभिन्न पदार्थों को भिन्न-भिन्न करती है, वह समान वायु कहलाती है। यह वर्णन है शास्त्रों का समान वायु के विषय में। इसके अनुसार हमें यह मानना होगा कि आमाशय, ग्रहणी, यकृत, अग्नाशय, क्षुद्रान्त्र आदि पाचक अवयवों का संचालन करने वाले मांस सूत्रों को क्रिया कराने वाले वात सूत्रों का संचालन जिस वायु से होता है, वह वायु ही समान वायु है।

(४) व्यान वायु—सर्व शरीर में भ्रमण करने वाली जो वायु रससंवहन कार्य करती है, वह वायु व्यान वायु कहलाती है। इस वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सर्व शरीर व्यापी सांवेदनिक वात सूत्रों का उद्योग-जक वायु जो शिरा, धमनी, केशिका आदि का संचालन करती है, वही व्यान वायु है।

(५) अपान वायु—पक्वाशय में रहने वाली जो वायु यथासमय मल, मूत्र, शुक्र, आर्तव और गर्भ आदि को नीचे की तरफ खींच लेती है—वह वायु अपान वायु कहलाती है। बृहदन्त्र, मलाशय, वस्ति, शुक्राशय, गर्भाशय आदि की क्रियाओं को करने वाले वातसूत्रों में रहने वाली वायु अपान वायु कहलाती है।

जिस प्रकार वायु के पाँच भेद हैं, उसी प्रकार पित्त के भी पाँच भेद बताए गए हैं। वे निम्न प्रकार से हैं—

(१) पाचक पित्त—शास्त्रों में यह वर्णन उपलब्ध है कि—'पक्वाशय-आमाशय मध्यस्था ग्रहणी में यह पित्त रहता है। इसी के अंश धातुओं में धात्वाग्नि के नाम से और भूतों में भूताग्नि के नाम से कहे जाते हैं। रस धातु के बाद उत्तरोत्तर धातुओं की पुष्टि इसी से होती है। पाचक पित्त अन्न का पाक कर उसके अवयवों को सूक्ष्म कर देता है। यह अपने स्थान पर ही रह कर शरीर के अन्य भागों में स्थित अन्य पित्तों का पोषण करता

है।" इन शब्दों के द्वारा यह कह सकते हैं कि मुख से लेकर आँत तक जो पाचक-रस निकलते हैं सारे उनके साथ अग्नाशय के बहिःस्राव और अन्तः-स्राव, यकृत स्राव आदि सभी पाचक पित्त हैं।

(२) रंजक पित्त—रंजक पित्त कहाँ रहता है, इस विषय में आयुर्वेद के ग्रंथकारों में मत-भिन्नता है। चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता में लिखा है कि रंजक पित्त यकृत एवं प्लीहा में रहता है। वाग्भट्ट इसका स्थान आमाशय मानता है और शार्ङ्गधर हृदय। रंजक पित्त का कार्य सभी ने एक मत से स्वीकार किया है कि यह रस को रंगने का कार्य करता है। नव्य मतानुसार विचार करने पर तीनों बातों का समन्वय किया जा सकता है। होता यह है कि अस्थियों की रक्त मज्जा में रक्त कण बनते हैं, जो रंजन करते हैं। आमाशय एवं ग्रहणी मे पित्त प्रसूत होता है, यकृत में सञ्चित होता है और वहाँ से हृदय में पहुँच कर हृदय द्वारा वह रक्त मज्जा तक पहुँचाया जाता है। इस तरह वे सब अवयव एतदर्श काम में आते हैं।

(३) साधक पित्त—यह पित्त हृदय में रहता है। हृदय से तम आदि का निवारण कर मन को निर्मल एवं उत्कृष्ट करता है। मन की उत्कृष्टता से बुद्धि, मेधा, अभिमान आदि बढ़ते हैं। नव्य मतानुसार साधक पित्त की व्याख्या किस प्रकार करें, यह कठिन है। आयुर्वेदीय क्रिया शरीर के लेखक ने एड्रीन-लीन को साधक पित्त कहा है। उनका कहना है कि चक्रपाणिदत्त ने भय, धैर्य-हर्ष और क्रोध का कारण साधक पित्त कहा है और यह सब कर्म एड्रीनलीन से सम्बन्ध रखते हैं।

(४) आलोचक पित्त—यह नेत्रों में रहता है। वस्तुओं का दर्शन कराना इसका कर्म है।

(५) भ्राजक पित्त—त्वचा स्थित पित्त को भ्राजक पित्त कहा जाता है। इसका कर्म अभ्यंग, स्वेदन, अवगाहन, लेपन आदि क्रियाओं में प्रयुक्त द्रव्यों को पकाना, त्वचा को शान्ति प्रदान करना तथा शरीर की ऊष्मा को नियमित कराना है। नव्य मतानुसार स्वेद एवं मेद की ग्रन्थियाँ प्राकृतिक स्थिति में जिस पदार्थ से प्रभावित होकर अपना कर्म करती हैं, उसे भ्राजक पित्त कहना चाहिए।

वायु एवं पित्त के समान ही कफ भी पाँच प्रकार का बताया गया है। वे भेद निम्न प्रकार हैं—

(१) क्लेदक कफ—आमाशय क्लेदक कफ का स्थान है। यह कफ अन्न

का क्लेदन करता है। शरीर तथा कफ के अन्य भेदों का पोषण करना एवं शरीर का स्नेहन करना इसका कर्म है।

(२) अवलम्बक कफ—इसका स्थान उरस है। यह कफ त्रिक हृदय तथा अन्य स्थानों पर स्थित कफ का अवलम्बन करता है। निम्न द्रव्यों को हम अवलम्बक कफ कह सकते हैं—

(क) फुफ्फुसों और हृदय की आवरणी कलाओं द्वारा स्रुत द्रव पदार्थ।

(ख) श्वास मार्ग एवं प्राणवह स्रोतों की कलाओं द्वारा स्रुत द्रव।

(ग) चुल्लिका (थायरायड), परचुल्लिका (पैराथायरायड) और थायमस ग्रंथियों का अन्तःस्राव।

(घ) एसिटिलकोलीन।

(३) बोधक कफ—यह जिह्वामूल में स्थित होता है। इसके द्वारा जिह्वा द्रव्यगत रसों का ज्ञान प्राप्त करती है। रस का बोध होने के कारण ही इसको बोधक कफ कहा जाता है। इस वर्णन के आधार पर हम कह सकते हैं कि लाल रस ही बोधक कफ है। कारण, यह आहार को अपने में विलीन कर लेता है और उसी अवस्था में आहार के रसों का बोध हो पाता है।

(४) तर्पक कफ—यह सिर में रहता है। इसका कार्य मस्तिष्क का सन्तर्पण करना है। यह श्रोत, जिह्वा, घ्राण, चक्षु आदि इन्द्रियों को कार्य करने के लिए सामर्थ्य प्रदान करता है। कहा जा सकता है कि सेरिब्रोसिपाइनल फ्लुइड ही तर्पक कफ है।

(५) श्लेषक कफ—यह शरीर के सन्धि बन्धनों में स्थित रहता है। इसका काम संश्लेषण करना है। यदि विचार करें तो हम पाते हैं कि आज जिसे साइनाविया (Synavia) कहा जाता है, वही श्लेषक कफ है। होता यह है अस्थियों के परस्पर जुड़े हुए सिरे एक कला से आवृत्त रहते हैं—इस कला को श्लेष्मधरा-कला कहा जाता है। कला से एक चिकना-सा स्राव निकला करता है। इससे वे अस्थियाँ आपस मे रगड़ नहीं खातीं। यह स्राव ही वास्तव में श्लेषक कफ है।

इस प्रकार वात, पित्त एवं कफ के प्राकृत अवस्था में गुण-कर्म एवं भेद आदि का वर्णन हमने कर दिया। अब इनकी विकृति की ओर दृष्टिपात करते हैं।

यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि हमारे शरीर की प्राकृता-

वस्था और विकृतावस्था—दोनों में ही वात-पित्त-कफ का प्रमुख योगदान है। अतः इन दोनो अवस्थाओं को भली प्रकार जान लेना चाहिए।

वात-पित्त-कफ की विकृति के क्या कारण हैं, लक्षण क्या हैं और चिकित्सा क्या है--यही बात हम यहाँ बताने जा रहे हैं और वास्तव में विकृतावस्था में जानने योग्य है भी यही। पहले हम वायु के विषय में लिखने जा रहे हैं।

वायु विकार—शास्त्रों में वातप्रकोपक कारण इस प्रकार कहे हैं—"शक्ति से अधिक लड़ाई, अति व्यायाम, अति मैथुन, अति अध्ययन, अति दौड़ना, चोट, कूदना, तैरना, रात्रि जागरण, बोझ उठाना, हाथी, घोड़ा, रथ आदि पर या पैदल अति यात्रा करना; अति श्रम, मर्मस्थानों पर आघात बिस्तर, शैय्या आदि का ठीक न होना, हाथ-पाँव आदि का उलटा-सीधा पड़ना, कटु-कषाय-तिक्त रस वाले लघु-रूक्ष, शीत-खर, विशद गुणों से युक्त द्रव्यों का प्रयोग करने से, सूखे शाक, मूँग, मसूर, अरहर, मटर, सूखा मांस, लोबिया आदि का अधिक मात्रा में प्रयोग करने से, अनशन करने से, परिमित भोजन, विषम भोजन और अध्ययन से, वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन और रक्तमोक्षण आदि क्रियाओं के पुनः-पुनः प्रयोग तथा अधिक प्रयोग करने से, धातुक्ष्य से, अधारणी धातु को धारण करने से, भय-चिन्ता-शोक-उद्वेग और क्रोध आदि कारणों से वायु प्रकुपित हो जाती है।"

प्रकुपित वायु के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं—"शरीर के अंगों का संकुचित होना, सिर, नासिका, अक्षि, ग्रीवा आदि का अन्दर धँस जाना, अस्थिमय सन्धियों की चेष्टाओं का नाश हो जाना, अस्थियों और सन्धियों में टूटने की सी व्यथा होती है। रोमांच-प्रलाप और हाथ-पाँव और सिर का ग्रह होता है। खञ्जता, पंगुता, अंगों का शोष, अनिद्रा, ज्ञानेन्द्रियों की मन्दता कर्मेन्द्रियों की दुर्बलता, शुक्रनाश, आर्तवनाश, बन्ध्यत्व, मृतगर्भता, मूढ़गर्भता, गर्भ के अवयवों में विकृति, कम्प, स्पर्शनाश, अंगों में भेद-तोद-शूल-आक्षेप, श्रम, मोह, मनोभ्रम, भय, शोक, दैन्य, अतिप्रलाप आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त आवरण आदि कारण विशेषों से तथा कोष्ठ आदि स्थान भेदों से कुपित वायु से कुछ और भी लक्षण उत्पन्न होते हैं।

जैसा कि स्पष्ट ही है कि वायु की समावस्था ही प्राकृत कहलाती है, उसकी क्षीणता और वृद्धि दोनों ही विकृति सूचक हैं। शास्त्रों में इन दोनों अवस्थाओं के अलग-अलग लक्षण बताए हैं—हम उनका वर्णन निम्न प्रकार कर रहे हैं—

वायु की क्षीणता के शास्त्रोक्त लक्षण बताते हुए कहा है कि—"वायु के

क्षय से शारीरिक व्यापारों की मन्दता, कर्म की असमर्थता, वायु के प्राकृत कर्मों की कमी, वाणी की अल्पता, हर्ष का अभाव, ज्ञानेन्द्रियों एवं मन का विषय ग्रहण में अभाव अथवा अल्पता, श्लैष्मिक रोगों का यथा अग्निमान्द्य-आदि की उत्पत्ति होना लक्षण होते हैं।"

वायु की वृद्धि के लक्षण बताते हुए कहा है कि "वाणी की कर्कशता, त्वचा की रूक्षता, कृशता, शरीर के रंग की कृष्णता, अंगों का स्फुरण तथा कम्प, उष्ण आहार-विहार में प्रीति, मन के अनवस्थित होने के कारण अनिद्रा, बल की न्यूनता, कर्मों में अनुत्साह, मल का गाढ़ा होना, आनाह, प्रलाप, भ्रम आदि की उत्पत्ति आदि लक्षण हुआ करते हैं।"

शास्त्रों में वायु के भेदों के विकृत होने पर जो लक्षण-रोग उत्पन्न होते हैं, उनका वर्णन किया है—हम यहाँ उसे अविकल रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—"प्राण वायु के प्रकोप से हिक्का-श्वास आदि रोग उत्पन्न होते हैं। उदान वायु प्रकुपित होकर ऊर्ध्वजगत (मुखरोग, शिरोरोग. कर्णरोग, नेत्ररोग, नासिका रोग) रोगों को उत्पन्न करता है। समान वायु कुपित होकर गुल्म-मन्दाग्नि अतिसार आदि रोगों को उत्पन्न करता है। अपान वायु कुपित होकर बस्तिगुदा के विकार उत्पन्न करता है और व्यान वायु के प्रकोप से सर्वांगगत रोग उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार वातप्रकोप कारण एवं प्रकुपित वात के लक्षण आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है, अब हम इसकी चिकित्सा के विषय में लिखेंगे।

कारणों को दूर करना चिकित्सा का प्रथम सिद्धान्त है। वात शामक मधुर अम्ल-लवण-स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। वस्ति कर्म वात शान्ति के लिए बहुत आवश्यक है। अनुवासन एवं आस्थापन का क्रमशः प्रयोग करना चाहिए। सुश्रुतसूत्रस्थान अध्याय ३९ में वातशामक औषधों का वर्णन करते हुए निम्नवत् लिखा है—

देवदारु, कूठ, हल्दी, वरुण, मेढाशृंग-बला. अतिबला, कोच, पाटला सहचरा, बड़ी अरणी, गिलोय, एरण्ड, पाषाण, भेद, श्वेत आक, शतावर पुनर्नवा, श्वेतपुनर्नवा, सूर्यमुखी, धतूरा, भृंगराज, बनकपास, कुचनन्दन, कुथली विदारीगन्धादिगण, लघुपञ्चमूल, वृतहपञ्चमूल—यह सब द्रव्य वात नाशक होते हैं।'

पित्त विकार—पित्त प्रकोप के कारण बताते हुए कहा गया है कि "क्रोध शोक, भय, परिश्रम, उपवास, दाह, मैथुन, भ्रमण, कटु-अम्ल, लवण, तीक्ष्ण-

उष्ण-लघु-दाह-कारक पदार्थों के अधिक सेवन से, तिल, तेल, खल्ली, कुथली, सरसों, अलसी, हरितक, शाक, गोह-मछली, भेड़-बकरी का मांस, दही-छाछ, कुर्चिका, मस्तु सौवीरक, मदिराएँ, खट्टेफल, कटहल इत्यादि से पित्त प्रकुपित होता है।"

पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति को थोड़े ही कारणों से पित्त प्रकोप होकर लक्षण उत्पन्न करता है। वे लक्षण निम्न प्रकार कहे गए हैं—

"एकांग अथवा सर्वाङ्ग में दाह एवं जलन की अनुभूति, शरीर की ऊष्मा की अधिकता व्रण आदि का पाक होना, अन्न का अधिक पाक होना; क्लेद, शोथ, कण्डु, स्राव का होना; पीत, नील आदि वर्णों का होना, मुख में तिक्त एवं अम्ल रस का स्वाद आना और आमगन्धता का होना, शरीर में शिथिलता, मूर्च्छा और मद का होना आदि कहा गया है।"

शास्त्रों में पित्त की क्षीणता और वृद्धि के लक्षण अलग-अलग बताए गए हैं। वे निम्न प्रकार से हैं—

"पित्त क्षीणता में शरीर की उष्णता कम हो जाती है। अग्निमान्द्य हो जाता है। ठंड का अनुभव होता है। प्रभा लुप्त हो जाती है और पित्त के प्राकृत कर्मों का ह्रास हो जाता है।"

"पित्त वृद्धि में त्वचा का पीलापन, सन्ताप, शीत पदार्थों में रुचि, अल्प निद्रा आना, मूर्च्छा, इन्द्रियों की शक्ति का ह्रास, मल-मूत्र-नेत्र आदि का पीला होना आदि होते हैं।"

पञ्चविध पित्त के प्राकृत स्वरूप को हम पीछे लिख आए हैं, यदि वे विकृत हो जायेंगे तो निम्न प्रकार रोगों को उत्पन्न करने वाले कहे गए हैं—

"पाचक पित्त के विकृत होने पर अतिसार, ग्रहणी आदि रोग उत्पन्न होते हैं। रञ्जक पित्त की विकृति से रक्ताल्पता, रक्ताधिक्य आदि रोग उत्पन्न होते हैं। साधक पित्त की विकृति से दुःख आदि उत्पन्न होते हैं। आलोचक पित्त की विकृति से दृष्टिगत विकार उत्पन्न होते हैं। भ्राजक पित्त की विकृति से दाह आदि उत्पन्न होते हैं।"

पित्त विकृति की चिकित्सा के विषय में विचार करें तो हम पाते हैं कि शास्त्रों में विरेचन कर्म को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। यह पित्त संशोधन कर शरीर को विकृति से मुक्त कर देता है। दूसरी प्रकार की चिकित्सा शामक चिकित्सा होती है, इनमें जिन औषधगण का वर्णन सुश्रुत संहिता में किया है,

वे हैं—चन्दन, कुचन्दन, हाऊवेर, उशीर, मञ्जिष्ठा, पयस्या, बिवारी, शतावरी, उतपल, कदली, दूर्वा, मूर्वा इत्यादि द्रव्य; काकोल्यादि गण, सारिवादि गण, अञ्जनादि गण, उत्पलादि गण, न्यग्रोधादि गण और तृणपञ्चमूल। ये सब पित्त शामक हैं।

इन गणों का वर्णन सुश्रुतसूत्रस्थान में किया है। पाठक इस विषय में वहीं अवलोकन करें।

कफ विकार—कफ प्रकोप के कारण बताते हुए कहा गया है—"दिन में सोना, व्यायाम न करना, आलस्य, मधुर-अम्ल-लवण-शीत-स्निग्ध गुरु-पिच्छिल और अभिष्यन्दी भोजन का प्रयोग करने से, उड़द, लोबिया, गेहूँ, तिल, और पिट्ठी से बने पदार्थ दही-दूध खीर, कृशरा, गन्ने का रस, जल-जन्तुओं का मांस चर्बी, कमलनाल, कसेरे, सिंघाड़ा, ताड़, नारियल, आदि के मधुर फल, घीया, कद्दू आदि लताओं में लगे फल के सेवन से समशन और अध्ययन के अतियोग से कफ प्रकुपित हो जाता है।"

कफ के प्रकोप से निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—

"श्वेतता, शैत्य, कण्डु, स्तैमित्य, गौरव, स्नेह, निद्रा, क्लेद, शोथ, स्रोतों का अवरोध मधुरता, चिरकारिता, स्थैर्य, मंदाग्नि, मुख का रस मधुर या लवण होना आदि लक्षण पाए जाते हैं।"

"कफ के क्षय होने पर शरीर में रूक्षता होती है, अन्तर्दाह, आमाशय के अतिरिक्त फुफ्फुस, हृदय, सन्धि आदि कफ स्थानों में विशेषतः सिर में शून्यता, सन्धियों में शिथिलता, तृष्णा, दुर्बलता निद्रानाश तथा कफ के पूर्वोक्त कर्मों का अभाव पाया जाता है।"

"कफ की वृद्धि में त्वचा, मल-मूत्र आदि की श्वेतता, शैत्य, स्थैर्य, गौरव अवसाद, तन्द्रा, निद्रा, सन्धियों का ढीलापन तथा अस्थियों की मृदुता आदि उत्पन्न हो जाते हैं।"

पांच प्रकार के कफ के प्रकोप से प्रत्येक अलग-अलग रोगों के उत्पादक होते हैं। उनका वर्णन निम्न प्रकार मिलता है—

"क्लेदक कफ के प्रकोप से छर्दि आदि विकार उत्पन्न होते हैं। अवलम्बक कफ के कोप से हृदय का आलेप, फुफ्फुसों का प्रदाह, मेरुमज्जा का प्रदाह आदि उत्पन्न होते हैं। बोधक कफ की विकृति से अधिक थूक आना, मुख का मधुर होना, मुखशोष आदि लक्षण होते हैं। तर्पक कफ की विकृति से प्रति-

श्याम आदि रोग उत्पन्न होते हैं। श्लेषक कफ की विकृति के कारण सन्धि शिथिलता आदि विकार उत्पन्न होते हैं।"

कफ की विकृति की चिकित्सा बताते हुए शास्त्र में 'वामन' कर्म को सर्वश्रेष्ठ कहा है। कटु-तिक्त-कषाय रस वाले और रूक्ष द्रव्यों को कफ शामक बताया गया है। सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान अध्याय ३९ में कफ शामक औषधें इस प्रकार बताई गई हैं—"कालेयक, अगर, तिलपर्णी, कुष्ठ, हरिद्रा, शतपुष्पा, सरला, इंगदी, सुमन, काकादनी, लांगली, मुञ्जातक आदि द्रव्य; वल्ली पञ्चमूल, कंठक पञ्चमूल, पिप्पलाद्यगण, वृहत्यादि गण, मुष्ककादि गण वचादि गण, सुरसरादि गण, आरग्वधादि गण की औषधियाँ कफशामक होती हैं।"

इस प्रकार हमने शरीर के त्रिस्तम्भ वात, पित्त, कफ के प्राकृत एवं विकृत स्वरूप के विषय में सभी आवश्यक ज्ञातव्य विस्तारपूर्वक संगृहीत कर दिए हैं जो रोग-विज्ञान एवं चिकित्सा के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे।

प्रश्न—दूष्य किसे कहते हैं? उनके विषय में आप क्या जानते हैं?

उत्तर—यह बात हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि हमारा शरीर दोष, धातु एवं मल इन तीन के समुदाय स्वरूप है। इनमें से दोष दूषित करते हैं और धातु तथा मल दूषित होते हैं। शास्त्रों में जो पदार्थ दूषित होते हैं, उन पदार्थों को 'दूष्य' कह कर सम्बोधित किया गया है।

इस विषय में अष्टांग संग्रहाकार ने लिखा है कि निम्न सात धातुएँ दूष्य हैं।

(१) रस, (२) रक्त, (३) मांस, (४) मेद, (५) अस्थि, (६) मज्जा और (७) शुक्र।

न केवल सात ही दूष्य हैं, अपितु मल (वर्च) मूत्र तथा शरीर के दूसरे पदार्थ; यथा—क्लेद, जल, स्वेद आदि भी दूष्य हैं, क्योंकि विभिन्न अवस्थाओं में वे सब दूषित होते हैं। यह भी समझ रखनी चाहिए कि वातादि भी यदि कभी दूषित होते हैं तो वे भी दूष्य कहलाते हैं। रोग की उत्पत्ति में दोष एवं दूष्य दोनों ही आवश्यक हैं—दोष दूषित करते हैं और 'दूष्य' दूषित होते हैं—इनके दूषित होने से शरीर मे विभिन्न प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न हो जाते

---

१. "रसासृङ् मांस मेदोऽस्थि मज्जाशुक्राणि धातवः। सप्त दूष्यां।"
"वातादिभि दूष्यन्तः इति दूष्या।" (अरुणदत्त)

हैं—जो रोग कहलाते हैं। इन सप्त धातुओं का एवं मल आदि का वर्णन हमने प्रथम खण्ड में विस्तार से किया है।

प्रश्न—रोग किसे कहते हैं और चिकित्सा क्या है? विस्तार से लिखिए।

उत्तर—रोग किसे कहते हैं, इस विषय में जब भी विचार करें तो हम पाते हैं कि आरोग्य के विपरीत जो है वही रोग है। यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि दोष धातु-मल आदि की समावस्था आरोग्य कहलाती है—अतः कहा जायगा कि इनकी विस्मावस्था रोग है। आयुर्वेद में रोग शब्द के पर्याय-वाचक शब्दों में विकार-व्याधि-दुख आदि शब्दों का वर्णन किया गया है। संहिता ग्रंथों में इनकी परिभाषा बताते हुए रोग का लक्षण स्पष्ट किया है। चरक संहिता में एतदर्थ एक सूत्र दिया है जिसमें बताया गया है कि "धातुओं की विषमता विकार है और समता प्रकृति (आरोग्य) कहलाती है। सुख को आरोग्य और दुख को विकार कहा जाता है।" इसी तरह की बात सुश्रुत संहिता में भी कही गई है जिसमें बताया है कि "दुख के संयोग को व्याधि कहा जाता है।" अष्टांग हृदय में भी इस तरह का सूत्र है जिसका भाव है कि दोषों की विषमता रोग और समता आरोग्य है।

इस प्रकार देखने पर मालूम होता है कि रोग शरीर के घटकों की विकृति है। जब तक वे समावस्था में रहते हैं तब तक वे शरीर के लिए हितकारक होते हैं और जब वे विषम हो जाते हैं तो शरीर को हानि पहुँचाते हैं और तब रोग कहा जाता है।

रोग क्या है, इसका उत्तर देने के साथ ही साथ यह बात भी यहाँ स्पष्ट करना उचित है कि उसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है। इस विषय में यह जान लेना चाहिए कि तीन ऐसे कारण कहे गए हैं जो सभी प्रकार के रोगों के उत्पादक हैं। चरक संहिता सूत्रस्थान अध्याय प्रथम में इनका वर्णन करते हुए कहा गया है कि "काल, बुद्धि और इन्द्रियों का अयोग, अतियोग

---

१ "विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुख संज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।।" (च० सू० अ० ९)

२. "तद्दुःख संयोगा व्याधय इति।" (सु० सू० अ० २४)

३. "रोगस्तु दोष वैषम्यं दोष साम्यमारोग्यता।" (अ० हृ० २०)

और मिथ्यायोग रोगों के उत्पादक होते हैं।"[1] इन तीन कारणों को आगे चल कर निम्न सम्बोधनों द्वारा स्पष्ट किया गया है—

(१) असात्म्य इन्द्रियार्थ, संयोग, (२) प्रज्ञापराध, (३) परिणाम।

इन तीनों की विशद व्याख्याएँ शास्त्रों में दी गई हैं। हम केवल विषय को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में ही इनका वर्णन करेंगे। असात्मेन्द्रियार्थ संयोग का अर्थ है कि हमारी पञ्चज्ञानेन्द्रियों द्वारा जिन-जिन पाँच अर्थों का बोध होता है, उनका हानिकारक रूप में ग्रहण करना। इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—यह पांच गुण पञ्चभूतों के हैं और प्रत्येक गुण को ग्रहण करने के लिए हमारे शरीर में एक-एक इन्द्रिय है जिसके द्वारा एक-एक गुण को ग्रहण किया जाता है और यह गुण इन्द्रियों के विषय या अर्थ कहलाते हैं—इसका सम्बन्ध निम्न कोष्ठक द्वारा हो जाता है—

इन्द्रिय	विषय
श्रोत्रेन्द्रिय (कान)	शब्द
स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा)	स्पर्श
चक्षुरिन्द्रिय (आँख)	रूप
रसनेन्द्रिय (जिह्वा)	रस
घ्राणेन्द्रिय (नाक)	गन्ध

इन पाँच विषयों का अधिक रूप में ग्रहण करना (अतियोग) है; जैसे—प्रत्येक समय देखने का ही काम करते रहना चक्षुरिन्द्रिक का अतियोग कहलाएगा। बिलकुल ही ग्रहण न करना अयोग होगा जैसे कुछ भी न सूँघना नाक का अयोग कहलाएगा। अनुचित रूप में ग्रहण करना मिथ्या योग होगा; जैसे—बहुत तेज शब्दों का सुनना कान का मिथ्या योग होगा। इसी तरह अन्य इन्द्रियों का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग समझना चाहिए। इन सब से रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

दूसरा कारण प्रज्ञापराध है। जैसा कि प्रथम पत्र में स्पष्ट कर चुके हैं कि बुद्धि का अतियोग, अयोग और मिथ्या योग रोग उत्पादक है, उसे ही

---

१. "काल बुद्धि इन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रह।"
(चरक सूत्रस्थान अ० १)

दूसरे शब्दों में प्रज्ञापराध कहा जाता है। इस विषय में चरक संहिता पें और भी स्पष्टीकरण किया है कि धी, घृति—स्मृति विभ्रष्ट होने पर जो व्यक्ति विभिन्न प्रकार के अशुभ कर्म करता है, वे सब प्रज्ञापराध कहलाते हैं और त्रिदोषकारक होते हैं।

तीसरा कारण है परिणाम। इसका अर्थ है कि काल का अयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग होना। इसमें ऋतुओं के दूषित होने से रोगों की उत्पत्ति होती है। काल के अयोग का अर्थ होगा किसी ऋतु में उसके लक्षण स्पष्ट न हो सकें; यथा—शीतकाल में ठंड का न पड़ना काल का अयोग होगा, अत्यधिक ठंड पड़ना काल का अतियोग होगा और वर्षा होते जाना मिथ्यायोग कहलाएगा। इसी तरह अन्य ऋतुओं के विषय में भी जानना चाहिए। ये सब रोगों के उत्पन्न करने वाली अवस्थाएँ हैं।

इस तरह रोग-उत्पादक तीन कारणों की व्याख्या कर दी गई है। यह भी बताना चाहते हैं कि रोग कितने प्रकार के होते हैं। इस विषय में यह जान लेना चाहिए कि शास्त्रों में कई प्रकार का वर्णन एतदर्थ किया गया है। चरक संहिता में अधिष्ठान भेद से रोग दो प्रकार के बताए हैं—

(१) शारीरिक रोग, (२) मानस रोग।

शरीर रोगों के उत्पादक वात-पित्त-कफ तीन हैं और मानक रोगों के उत्पादक रज एवं तम दो दोष हैं। तिस्रैषणीय अध्याय में चरक संहिता में रोगों के तीन भेद बताए हैं—

(१) निज, (२) आगन्तुज, (३) मानस।

साध्यासाध्यता के दृष्टिकोण से रोगों को निम्न दो भागों में बाँटा गया है; यथा—

(१) साध्य रोग, (२) असाध्य रोग।

इनके पुनः दो-दो भेद कहे गये हैं। साध्य दो प्रकार के हैं—

(१) सुखसाध्य—जो सरलता से कम उपायों द्वारा ठीक हो सकें।

(२) कष्टसाध्य—जो बहुत से उपायों की सहायता से ठीक हों।

इसी प्रकार असाध्य रोग भी दो प्रकार के होते है—

(१) याप्य—जो उपचार चलतें रहते तक कष्ट न दें, किन्तु उपचार छोड़ देने पर दुख देने वाले हों।

(२) प्रत्याख्य—जो ठीक न हो सकें, अत. चिकित्सक रोगी के अभिभावकों को पहले ही कह दें कि इसके स्वस्थ होने की कोई आशा नहीं है।

सुश्रुत संहिता में रोगों का वर्गीकरण करते हुए एक विशेष प्रकार से रोगों के भेद कहे हैं। वहाँ पर रोग दुख से उत्पन्न माने गए हैं और कहा गया है कि दु:ख तीन प्रकार के होते हैं—

(१) आध्यात्मिक—त्रिदोष एवं रज-तम के प्रकोप से उत्पन्न।

(२) आधिभौतिक—मनुष्य-पशु-पक्षी आदि द्वारा उत्पन्न।

(३) आधिदैविक—देवता, गन्धर्व, राक्षस द्वारा उत्पन्न।

इन तीन प्रकार के दुखों द्वारा सात प्रकार के रोग बताए हैं—इनमें से आध्यात्मिक दु:ख के कारण निम्न तीन प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं—

(क) आदि बल प्रवृत—इन रोगों की उत्पत्ति का कारण माता तथा पिता के अण्ड तथा शुक्र में विकृति का होना कहा गया है। यह भी सम्भव है कि वंश के पूर्वजों के विकार भी आ जायें। आधुनिक वैज्ञानिक भी यह बात स्वीकार करते हैं और वे 'हैरीडीटरी' के नाम से रोगों का वर्णन करते हैं।

(ख) जन्म बल प्रवृत—यह वह रोगावस्था होगी जिसकी उत्पत्ति गर्भावस्था में माता के द्वारा होने वाली वदपरहेजों से होती है। इन रोगों को आधुनिक वैज्ञानिक कण्जैण्टिल कहकर सम्बोधित करते हैं।

(ग) दोष बल प्रवृत—वात-पित्त-कफ तथा रज एवं तम के प्रकोप कारणों के द्वारा प्रकुपित ये दोष जिन रोगों को उत्पन्न करते हैं, वे सब दोष बल प्रवृत कहलाते हैं।

दूसरे प्रकार का दु:ख आधिभौतिक कहा गया है। इसके द्वारा निम्न रोग की उत्पत्ति बताई गई है—

(क) सघात बल प्रवृत—इसका अर्थ है कि चोट लगने, आघात पहुँचने, दाँत-नख लगने से उत्पन्न होने वाले रोग। यह सब आगन्तुक रोग कहलाते हैं।

तीसरा दु:ख आधिदैविक कहा है और उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले निम्न तीन रोग बताए गए हैं—

(क) दैव बल प्रवृत—जो रोग देव-गुरु आदि के अभिशाप आदि द्वारा उत्पन्न हों।

(ख) स्वभाव बल प्रवृत—निद्रा, क्षुधा, तृष्णा-मृत्यु आदि रोग।

(ग) काल बल प्रवृत—ऋतुओं के कारण उत्पन्न रोग।

इस तरह विभिन्न दृष्टिकोणों से 'रोग' के भेद का वर्णन कर दिया गया है। अब 'चिकित्सा' के विषय में लिखना है।

चिकित्सा क्या है, यह बात कुछ हद तक रोग की परिभाषा जानने से ही स्पष्ट की गई होगी। रोग दोषों की विषमता है, अतः उसे दूर करने वाली चिकित्सा है जो दोषों की विषमता को दूर करने वाली है। यही बात चरक संहिता में स्पष्ट रूप से कही गई है। जहाँ कहा है कि "जिन क्रियाओं के करने से विषम हुए दोष धातु समावस्था में आ जायें, वह विकारों की चिकित्सा है और चिकित्सक का काम भी यही है।" और भी कहा है—"शरीर में धातुओं की विषमता किस प्रकार न हो और सम धातुओं का अनुबन्ध रहे—इसीलिए क्रिया की जाती है—चिकित्सा करनी होती है।" यह है चिकित्सा करने का प्रयोजन—कि समावस्था में धातुओं को रखा जा सके और एतदर्थ सिद्धान्त बताया है कि "विषम हेतुओं के त्याग से और सम हेतुओं के निरन्तर सेवन से विषमता का नाश हो कर समता की उत्पत्ति हो जाती है।" इस प्रकार चरक संहिता में एक ही स्थान पर चिकित्सा के विषय में सभी कुछ विस्तार से कह दिया है। एक स्थान पर और भी कहा गया है कि "चिकित्सक आदि चारों पादों के द्वारा विकृत धातुओं को समावस्था में लाने वाली क्रिया को चिकित्सा कहा जाता है।" बात वही है कि धातुओं को समावस्था में लाना है। चिकित्सक आदि जो चार पाद कहे हैं वे निम्न प्रकार हैं—

१ चिकित्सक, २. द्रव्य, ३. उपस्थाता, ४. रोगी।

इन चारों का गुणवान होना आवश्यक है, तभी विकारों से शान्ति मिल सकती है। शास्त्रों में इन चारों के गुण बताते हुए कहा गया है—कि शास्त्र का अच्छी प्रकार ज्ञान होना, बहुत बार कर्म को देखा हुआ होना; चतुरता और शुद्धता ये चार गुण चिकित्सक में होने चाहिए। इसी तरह द्रव्य में भी

---

१. "याभिः क्रियाभिजायन्तः शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्॥"

२ 'कथं शरीरे धातूनां वैषम्य न भवेदित।
समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया॥"

३. "त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।
विषमा नानुबाध्यन्ति जायन्ते धातवः समाः॥"

(चरक सूत्रस्थान अ० १६)

चार गुण होने चाहिए—पर्याप्त मात्रा में होना व्याधि के अनुसार उपयुक्त होना, नाना प्रकार की कल्पनाएँ हो सकना और रस आदि से युक्त होना। परिचारक के गुण बताते हुए कहा है कि उपचार करना जानता हो, चतुरता, अनुराग और स्वच्छता ये चार गुण होने चाहिए और रोगी को गुण बताते हुए कहा गया है कि वह स्मृतिवान हो, निर्देश का पालन करे, निडर हो और रोग को स्पष्ट कर सके। इस तरह यदि चारों गुणवान हों और रोग साध्य हो तो अवश्य लाभ हो जाता है।

चिकित्सा के भी कई भेद हैं, किन्तु क्रियाओं के अनुसार दो हैं—संशोधन चिकित्सा और संशमन चिकित्सा। संशोधन में वमन—विरेचन—आस्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन की क्रियाएं आती हैं और संशमन में लंघन बृंहण आदि क्रियाएँ। हम इनका विस्तार से वर्णन आगे करेंगे।

प्रश्न—अष्टस्थान परीक्षा का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उत्तर—आयुर्वेद संग्रह ग्रंथ योगरत्नाकर में कहा गया है कि—"रोगाक्रान्त शरीर के आठ स्थानों की परीक्षा करनी चाहिए।" वे आठ स्थान हैं—

(१) नाड़ी, (२) मूत्र, (३) मल, (४) जिह्वा, (५) शब्द, (६) स्पर्श, (७) दृक, (८) आकृति।

यहाँ हम इन सबका संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं।

नाड़ी—शास्त्रों मे कहा गया है कि जैसे वीणा में तन्त्री सब कुछ राग विषयक तत्त्वों को बताती है, उसी प्रकार शरीर में नाड़ी रोग विषयक तथ्यों को स्पष्ट करता है। शरीर में वात-पित्त-कफ की क्या स्थिति है—यह बात भी नाड़ी द्वारा जानी जाती है।

कहा गया है कि हाथ में अंगुष्ठ मूल में नाड़ी का ज्ञान करना चाहिए। पुरुष के दक्षिण हाथ में और स्त्री के वाम हाथ में नाड़ी को देखना चाहिए। तीन अंगुलियों द्वारा नाड़ी का स्पर्श करने का विधान कहा है और बताया है कि अंगुष्ट की तरफ की प्रथम अंगुली के नीचे वायु का, मध्यमा के नीचे पित्त का और तीसरी के नीचे कफ का स्पर्श होता है। यह भी कहा गया है कि वायु के कारण नाड़ी की तीक्ष्ण गति, पित्त के कारण मध्यम गति और कफ के कारण मन्द गति होती है।

नाड़ी के विषय में वर्णन करते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि वायु की नाड़ी साँप और जोंक की गति से चलती है; पित्त की नाड़ी काक, मण्डूक एवं

लव की गति के अनुसार चपल होती है और कफ की नाड़ी मोर, कबूतर और राजहंस की चाल चलती है। मिली-जुली नाड़ी द्वन्द्वज की समझनी चाहिए। सन्निपात की नाड़ी भौंरे की गति से चलती है।

नाड़ी ज्ञान करने के विषय में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि जिसने अभी-अभी तैल का अभ्यंग किया हो, स्नान किया हो, भूखा-प्यासा हो अथवा सो कर उठा हो, उसकी नाड़ी की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। इससे ठीक स्थिति का बोध नहीं हो पाएगा।

(२) मूत्र—मूत्र की परीक्षा से भी रोग का निदान किया जाता है। रोगी रात को सोने के पश्चात् प्रातःकाल उठते ही प्रथम मूत्र को कांच के पात्र में सुरक्षित रखे।

मूत्र के रंग के विषय में हमारे शास्त्रों में वर्णन उपलब्ध होते हैं। वायु के कारण पाण्डु वर्ण का, पित्त के कारण रक्त वर्ण और कफ के कारण झागदार श्वेत वर्ण का तथा सन्निपात के कारण कृष्ण वर्ण का मूत्र आता है।

प्राचीनों ने तेल के द्वारा मूत्र की परीक्षा का वर्णन किया है—वहाँ कहा गया है कि एक तृण के द्वारा एक बूँद तेल को अहिस्ता से मूत्र पर डालनी चाहिए। यदि वह मूत्र पर फैल जाय तो रोग को साध्य समझना चाहिए, यदि न फैले तो कष्टसाध्य कहा जायगा और मूत्र से अलग ही तेल दिखाई दे तो रोग को असाध्य समझना चाहिए।

अर्वाचीन विज्ञान में अनेक प्रकार से मूत्र परीक्षा का वर्णन मिलता है।

(३) मल—मल की परीक्षा भी रोग विनिश्चय में सहायक हो सकती है। दोषानुसार वर्णन करते हुए कहा गया है कि "वायु के कारण मल में दृढ़ता और शुष्कता होती है। उसका रंग धूमिल, रूक्ष तथा कपिश होता है और मल त्रुटित होता है। पित्त के कारण मल पीलापन लिये हुए होता है। कफ के कारण श्वेतता होती है। वात कफज विकार में कपिश वर्ण का मल होता है। वात, पित्त के विकार में कठोर, टुकड़े हुए पीत-श्याम वर्ण का मल आता है। वात, पित्त के कारण पीलापन लिए हुए, ईषत श्वेत और पिच्छिल मल होता है। सन्निपातज मल विविध वर्ण का तथा टूटा-फूटा होता है। चंद्रिकाओं मे युक्त एवं दुर्गन्धित मल असाध्यता का ज्ञापक होता है।

(४) जिह्वा—वायु के कारण जिह्वा खुरदरी और फटी हुई होती है। पित्त के कारण रक्त और श्याम वर्ण की होती है। कफ के कारण श्वेत और

पच्छिल होती है। सन्निपात में काँटों से युक्त, शुष्क तथा कृष्ण वर्ण की होती है।

(५) शब्द—भारी स्वर कफ के कारण, टूटा हुआ शब्द पित्त के कारण और इनके अतिरिक्त शब्द वातज विकार का जानना चाहिए।

(६) स्पर्श—वात में रूक्ष-शीत, पित्त में उष्ण एवं कफ में आर्द्र स्निग्ध स्पर्श होता है।

(७) दृक्—वातरोग में नेत्र रूक्ष, धूम्र, रौद्र, चल एवं अन्तर्जलन युक्त होते हैं। पित्त रोग से पीत वर्ण के एवं सन्तप्त होते हैं। कफ रोग में जल से भरे हुए, ज्योतिहीन, स्निग्ध और मन्द होते हैं। सन्निपात के कारण निर्मुक्त-तन्द्रामोहयुक्त और रक्तवर्ण के नेत्र होते हैं।

(८) आकृति—वायु के कारण विचलित आकृति वाला; धृति, स्मृति और बुद्धि-लोप के समान, पित्त के कारण अग्नि के समान जलता हुआ और तृष्णा-युक्त होगा तथा कफ के कारण सौम्य प्रकृति का सात्त्विक और सत्यवक्ता होगा।

प्रश्न—व्याधि-विज्ञान के लिए आवश्यक पञ्चनिदान का वर्णन कीजिए।

उत्तर—

व्याधि-विज्ञान अथवा रोग-विज्ञान के उपाय

निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति—ये पाँच व्याधि-विज्ञान विषय हैं।

निदान—जो मिथ्या आहार-विहार आदि अन्तःनिमित्त कारण धातुओं में वैषम्य उत्पन्न करके शरीर रोग तथा मानस रोग को उत्पन्न करते हैं, उनको तथा जो विषशस्त्र अग्नि अभिघात आदि बाह्य निमित्त कारण आरम्भ में धातु वैषम्य किये बिना रोग उत्पन्न करते हैं, उनको निदान कहते हैं।

इन कारणों को निमित्त, समवायी तथा असमवायी भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। जैसे वस्त्र बनाने वाला मनुष्य और उसके साधन आदि निमित्त कारण, सूत समवायी कारण तथा अनेक सूत्रों का सहयोग असमवायी कारण होता है। उसी प्रकार रोग की उत्पत्ति में अहित आहार, विहार तथा अभिघात आदि निमित्त कारण, वात-पित्त-कफ का वैषम्य समवायी कारण तथा दोष-दूष्य-संमूर्च्छन असमवायी कारण होता है। निमित्त कारणों को आयुर्वेद की परिभाषा में निदान कहा जाता है। इसके सामान्य और विशिष्ट दो भेद हैं।

मिथ्या आहार-विहार आदि जो अन्तःनिमित्त कारण वातादि धातुओं का वैषम्य उत्पन्न करके जिन रोगों को उत्पन्न करते हैं, उनको सामान्य निदान कहते हैं। विष, शस्त्र, अग्नि, दृश्यस्थूल कृमि तथा अदृश्य सूक्ष्म जीवाणु आदि जो बाह्य निमित्त कारण आगन्तु रोगों को उत्पन्न करते हैं, उनको विशिष्ट निदान कहते हैं। असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम भेद से निदान के तीन भेद बताये गए हैं। शरीर और मन को आश्रय करके उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के रोगों के निमित्त कारणों अर्थात् निदानों का अयोग या हीनयोग, अतियोग अथवा मिथ्यायोग यानी असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग अर्थात् इन्द्रियों के अहितकर विषयों के साथ संयोग; प्रज्ञापराध अर्थात् बुद्धि के दोष से होने वाले अहितकर कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म एवं परिणाम अर्थात् अहितकर शीत, उष्ण और वर्षा आदि काल—इन तीनों भेदों से रोगों के निदान तीन भागों में विभाजित हैं।

पूर्व रूप—संचित और प्रकुपित वातादि दोष में प्रसरण करते हुए जब किसी विशेष स्थान में आश्रय करते हैं, तब भविष्य में उत्पन्न होने वाले रोग के सूचक जिन लक्षणों को उत्पन्न करते हैं, उनको पूर्व रूप कहते हैं। पूर्व रूप दो प्रकार के होते हैं--सामान्य पूर्व रूप और विशिष्ट पूर्व रूप। जिन लक्षणों से ज्वर, अतिसार आदि अमुक व्याधि उत्पन्न होने वाली है, इतने मात्र का सामान्य ज्ञान हो परन्तु वह व्याधि किस दोष से उत्पन्न होगी, इसका विशिष्ट ज्ञान न हो, उनको सामान्य पूर्व रूप कहते हैं। जिन लक्षणों से वह रोग वायु, पित्त या कफ इनमें से अमुक दोष से उत्पन्न होगा, इसका भी ज्ञान हो उसको विशिष्ट पूर्व रूप कहते हैं।

रूप—प्रादुर्भूत व्याधि के बोधक लक्षणों को लिङ्ग या रूप कहते हैं। रूप के द्वारा उत्पन्न व्याधि का स्वरूप, वातादि दोष, आमपक्वादि अवस्था आदि का बोध होता है।

सम्प्राप्ति—संचित वातादि दोष प्रकुपित होकर पृथक् रूप से दो या सब मिलकर शरीर में प्रसरण करते हुए सारे शरीर में किसी एक आशय विशेष में आश्रित होकर तथा रस, रक्त आदि धातु, स्तन्य, आर्त्तव आदि उपधातु तथा मूत्र, स्वेद, पुरीष आदि मल में से एक, दो या अनेकों को दूषित कर जैसे व्याधि का जन्म होता है, उस क्रम को सम्प्राप्ति कहते हैं। अर्थात् दोषों के संचय से लेकर प्रकोप प्रसार स्थान संश्रय (दोष दूष्य संमूर्च्छन) और अभिव्यक्ति

(व्याधिजन्य) पर्यन्त रोगोत्पत्ति क्रम-विषयक ज्ञान को आयुर्वेद में सम्प्राप्ति कहा जाता है।

सम्प्राप्ति के भेद—(१) संख्या, (२) प्राधान्य और अप्राधान्य, (३) विकल्प (४) बल तथा (५) काल ये पांच सम्प्राप्ति के भेद हैं।

(१) **संख्या**—जैसे ज्वर वातज, पित्तज, कफज, वात, कफज, पित्त, कफज, और वातपित्तज, सन्निपातज और आगन्तुज इन भेदों से आठ प्रकार का होता है, अर्थात् इन भेदों से सम्प्राप्ति आठ प्रकार की होती है। इस तरह गुल्म में पाँच प्रकार की सम्प्राप्ति होती है। उपर्युक्त भेद दोष भेद से संख्या भेद का उदाहरण है। जाति से भी संख्या भेद हो सकता है, जैसे कि शराविका कच्छपिका, जालिनी, सर्षपी, अलजी, विनता और विद्रधि भेद से प्रमेह पिड़िका सात प्रकार की होती है।

(२) **प्राधान्य और अप्राधान्य**—जहाँ दो या तीन दोष व्याधि को उत्पन्न करने वाले होते हैं, वहाँ जिस दोष की प्रधानता हो उसके लिए 'तर' या 'तम' प्रत्यय से जो निर्धारण किया जाता है, उससे प्राधान्य-अप्राधान्य का निरूपण होता है अथवा एक व्याधि की उत्पत्ति होने मे कौन व्याधि अप्राधान्य है, इसका विचार होता है कि इसको प्राधान्य निरूपण कहते हैं।

अनुबन्ध्य तथा अनुबन्ध भेद से भी दो प्रकार की व्याधि बताई जाती है। जो व्याधि या दोष स्वतन्त्र स्पष्ट लक्षण वाला, अपने निदान से उत्पन्न होने वाला हो तथा अपनी चिकित्सा से जिसकी शान्ति होती हो, उसको अनुबन्ध्य या अनुबन्धी कहते हैं। जो इससे विपरीत लक्षण वाला अर्थात् पर-तन्त्र अस्पष्ट लक्षण वाला, अन्य के निदान से उत्पन्न और अन्य की चिकित्सा से शान्त होने वाला हो उसको अनुबन्ध कहते हैं। दूसरे शब्दों में, अनुबन्ध्य प्रधान और अनुबन्ध अप्रधान होता है।

(३) **विकल्प**—एक दोषज, द्विदोषज या सन्निपातिक व्याधि में वायु अपने रूक्ष, शीत, लघु, विशद् आदि, पित्त अपने उष्ण, तीक्ष्ण, सर आदि तथा कफ अपने शीत, स्निग्ध, गुरू, पिच्छल आदि गुण अंशों में से एक, दो-तीन कितने अंशों में प्रकुपित हुआ है, इस अंशांश के बल की जो विकल्पना व्याधि विज्ञान के लिए की जाती है, उसे विकल्प कहते हैं। जो दोष अधिक गुणों से प्रकुपित हुआ हो उसे बलवान और जो थोड़े गुणों से प्रकुपित हुआ हो, उसे दुर्बल माना जाता है। इस प्रकार गुणों का ज्ञान होने से विपरीत गुणों से उसकी चिकित्सा करने में सरलता से सफलता मिलती है।

(४) बल—बल के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि जो व्याधि बलवान् दोषों से उत्पन्न होकर सब अथवा अधिकतर रूप में पूर्व रूप तथा लक्षण के साथ प्रकट होती है, उसे बलवान् रोग कहा जाता है। इसके विपरीत यदि व्याधि अन्य हेतुओं से उत्पन्न होकर अल्प पूर्व रूप तथा लक्षणों के साथ प्रकट होती हो, उसे अल्पबल तथा दुर्बल रोग जानना चाहिए। अल्पबल व्याधि सुख साध्य तथा बलवान् व्याधि कष्ट साध्य या असाध्य होती है।

(५) काल—काल से व्याधि की उत्पत्ति या उत्पन्न व्याधि की वृद्धि का काल समझा जाता है। व्याधि की उत्पत्ति और वृद्धि का काल देखकर व्याधि किस दोष से उत्पन्न हुई है, इसका ज्ञान होता है। शास्त्र में छह ऋतुओं, दिवारात्रि के पूर्व, मध्य तथा अन्तिम काल, आहार की आमवस्था, पच्यमानावस्था और जीर्णावस्था, इनमें किस दोष का प्रकोप होता है, इसका निर्देश किया गया है, जैसे कि वर्षा ऋतु, दिन का अन्तिम भाग, रात्रि का अन्तिम भाग एवं आहार की जीर्णावस्था में वायु की वृद्धि होती है। यदि इन कालों में व्याधि की उत्पत्ति या उत्पन्न व्याधि की वृद्धि हो तब वह व्याधि वातज समझनी चाहिए। शरदृतु, मध्याह्न तथा मध्यरात्रि तथा आहार की पच्यमानावस्था में पित्त की वृद्धि होती है, अतः इन कालों में व्याधि उत्पन्न हो—उत्पन्न व्याधि की वृद्धि हो तो उस व्याधि को पित्तज समझना चाहिए। वसन्त ऋतु, पूर्वान्ह रात्रि का प्रथम पहर एवं आहार की आमवस्था में कफ की वृद्धि होती है, अतः इन कालों में यदि रोग की उत्पत्ति या वृद्धि हो तो उस व्याधि को कफज समझना चाहिए। आयु में भी स्वभावत बाल्यावस्था में कफ की, यौवनावस्था में पित्त की वृद्धावस्था में वायु की वृद्धि होती है। अतः इन अवस्थाओं में जिन रोगों की उत्पत्ति होती है, वे रोग तत्तत् दोषों से युक्त अथवा बलवान् होते हैं।

चिकित्सा के छह क्रिया काल—सुश्रुत में सम्प्राप्ति की अवस्थाओं को चय, प्रकोप, प्रसर, स्थान व्यक्ति और भेद के रूप मे वर्णन किया गया है।

चय का विवरण—समान गुण-कर्म वाले आहार-विहार के सेवन से वातादि दोषों की अपने-अपने स्थानों में जो वृद्धि होती है, उसे चय या संचय कहते हैं। बाहर से संक्रमित विष अथवा रोग जीवाणु की शरीर में अनुकूलावस्था मिटने पर जो वृद्धि होती है, उसे भी सचय या चय कहना चाहिये। ग्रीष्म ऋतु में वायु का, वर्षा ऋतु में पित्त का तथा शिशिर ऋतु में कफ का संचय स्वाभाविक रूप से होता है। अन्य ऋतुओं मे आहार-विहार के कारण

दोषों का संचय होता है। संचय-काल चिकित्सा करने का प्रथम अवसर है। संचय-काल में ही दोषों का निर्हरण करने पर प्रकोप आदि उत्तरावस्थाएँ उत्पन्न नहीं हो पातीं।

प्रकोप का विवरण—संचयावस्था में यदि दोषों की चिकित्सा से निर्हरण न हो तो उनका उन्मार्ग गमन होता है। उन्मार्ग गमन का अर्थ उफनना या उमड़ना है। इस अवस्था को प्रकोप कहते हैं। यह चिकित्सा का दूसरा अवसर है।

प्रसर का विवरण—पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओं में यदि प्रकुपित दोषों की चिकित्सा न की जाय तो उस समय के बाद उत्सेचन उत्पन्न होता है और वह उफान अपना स्थान छोड़कर सारे शरीर में फैलने लगता है। इस अवस्था को प्रसर कहते हैं, परन्तु जो दोष अत्यन्त कुपित नहीं हुआ है, उसकी यदि चिकित्सा भी न की जाय तो वह शरीर के स्रोतों में लीन होकर पड़ा रहता है और जब कालान्तर में अपने प्रकोपक कारणों को प्राप्त होता है, तो फिर कुपित होकर सारे शरीर में फैल जाता है। यह चिकित्सा का तीसरा अवसर है।

स्थान संश्रय का विवरण—प्रसरावस्था में यदि दोष की चिकित्सा न की जाय तो कुपित दोष रासायनिकों के द्वारा शरीर में फैलते हुए सारे शरीर में तथा स्थान या स्रोत-वैगुण्य के कारण शरीर के किसी अवयव जहाँ रुक जाते हैं, वहाँ एक या एकाधिक धातुओं और मलों को दूषित कर एवं उनके साथ मिलकर स्थानानुरूप विकार अर्थात् रोग उत्पन्न करते हैं। इस अवस्था को स्थान संश्रय कहते हैं। दोष-दूष्य के पूर्वोक्त प्रकार सम्मिश्रण को दोष दूष्य समूर्च्छनावस्था कहते थे। इस अवस्था में भविष्य में होने वाले रोग बोधक पूर्व रूप उत्पन्न होते हैं। यह चिकित्सा का चौथा काल है।

व्यक्ति का विवरण—स्थान संश्रयावस्था में अर्थात् जिस समय पूर्व रूपों की उत्पत्ति होती है, उस समय यदि चिकित्सा न की जाय तो रोग के लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट होते हैं। इस अवस्था को व्यक्ति या व्याधि दर्शन कहते हैं चिकित्सा करने का यह पाँचवा अवसर है।

भेदावस्था विवरण—यदि व्याधि प्रकट होते ही उसकी चिकित्सा न की जाए तो शोथ विद्रधि आदि रोग विदीर्ण होकर व्रणभाव को प्राप्त होता है और ज्वर, अतिसार आदि रोग दीर्घ दिन तक चालू रहता है। इस अवस्था

को भेदावस्था कहते हैं। यह चिकित्सा का षष्ठ काल है। इस काल में भी यदि चिकित्सा न की जाए तो रोग असाध्य हो जाता है।

सुश्रुत संहिता में भेद को सम्प्राप्ति की पांच अवस्थाओं से पृथक् रूप में गिना गया है। चय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति तथा भेद इनको सामान्य रूप से चिकित्सा क्रिया काल कहा जाता है। इन क्रिया कालों की सम्यक् विवेचना कर यथाकाल चिकित्सा करने से दोष प्रकोप आदि उत्तरोत्तर अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता है और इससे चिकित्सा भी सरल होती है।

उपशय—पांचवां साधन उपशय है, जिसके विषय में विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। हम यहां उसका वर्णन करेंगे।

जिस किसी क्रिया द्वारा रोग में शान्ति मिलती है, उसको उपशय कहा जाता है और जिससे रोग की वृद्धि होती है, उसे अनुपशय। उपशय का पर्यायवाची सात्म्य है और अनुपशय को असात्म्य। माधव निदान में एतदर्थ लिखा है कि "हेतु विपरीत; व्याधिविपरीत; हेतुव्याधिविपरीत; हेतुविपरीतार्थकारी; व्याधि विपरीतार्थकारी एवं हेतुव्याधि विपरीतार्थकारी औषध-अन्न एवं विहार के उपयोग को, जो रोग में शान्ति करता है, उपशय कहा जाता है।

उपशय वास्तव में चिकित्सा का एक अंग है. तो भी रोग-निदान में भी सहायक होता है। किसी रोग का निदान औषध देकर भी किया जाता है। अमुक द्रव्य देने से यह रोग दूर हो गया है, अतः यह रोग अमुक है—इस तरह भी रोग-निदान किया जाता है। इस विषय में पाश्चात्य चिकित्सा ग्रन्थ का यह सन्दर्भ प्रस्तुत करता हूं जो उपयोगी सिद्ध होगा, "किसी विशेष चिकित्सा से लाभ होने का ज्ञान, रोग-विनिश्चयकारक हो सकता है। क्विनांन से शान्त होने वाला ज्वर मलेरिया; इमैटिन से शान्त होने वाला रोग प्रवाहिका और उपदंश की चिकित्सा से शान्त होने वाली स्थानिक बुद्धि उपदंशज बुद्धि रोग है—ऐसा मानना तर्कसंगत है। इसलिए यदि रोगी को किसी विशेष चिकित्सा से लाभ हुआ हो तो उसके सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

उपशय का वर्णन जो माधव निदानकार ने किया है, वह विस्तार से यहाँ दे रहे है। इस विषय में यह बात जान लेनी चाहिए कि छह प्रकार का उपशय औषध-अन्न और विहार के भेद से १८ प्रकार का हो जाता है।

उपशय	औषध	अन्न (आहार)	विहार
१. हेतु विपरीत	शीत लगने से उत्पन्न ज्वर में शुण्ठी का सेवन ।	थकावट से उत्पन्न वात-ज्वर में थकावट दूर करने वाले मांस रस एवं भात का भोजन ।	दिन में सोने से उत्पन्न रोग में रात में जागना ।
२. व्याधि विपरीत	अतिसार में दस्त रोकने के लिए पान या कुटज आदि स्तम्भक द्रव्य ।	अतिसार में दस्त रोकने के लिए स्तम्भक अन्न तथा मसूर ।	उदावंत रोग में रुके मल को प्रवाहण द्वारा निकालना ।
३. हेतु व्याधि विपरीत	वातज शोथ में वात-नाशक एवं शोथ नाशक दशमूल ।	वातकफज-ग्रहणी में वातकफशामक एवं संग्राही तक्र सेवन ।	स्निग्ध पदार्थों के सेवन एवं दिवास्वप्न से उत्पन्न रोग में रूक्ष गुण-युक्त रात्रि जागरण ।
४. हेतु विपरीतार्थकारी	पित्तज फोड़े पर गरम पुल्टिस के प्रयोग से पाक शीघ्र होकर लाभ होता है ।	पित्तज फोड़े में रोगी को विदाही अन्न देने से पाक शीघ्र ठीक होकर आराम हो जाता है ।	वातजन्य उन्माद में वातकारक भय लाभ [illegible]

उपशय	औषध	अन्न (आहार)	विहार
५. व्याधि विपरीतार्थकारी ।	वमन में वमनकारक मदनफल देकर दोषों को बाहर निकाल कर लाभ करना ।	अतिसार में विरेचक दुग्ध से लाभ ।	वमन में प्रवाहण करा के दोष निकालने से लाभ ।
६. हेतु व्याधि विपरीतार्थ-कारी ।	अग्नि से जले हुए भाग पर अग्नि प्रयोग हेतु और व्याधि दोनों का समान होता हुआ भी रक्त को स्थानान्तरित करके लाभ करता है ।	मदात्यय रोग में जिस प्रकार के मद्य से रोग उत्पन्न होता है, उससे विपरीत प्रकार का मद्यपान लाभ करता है ।	व्यायाम के अति योग से उत्पन्न रोग उरू-स्तम्भ में तैरना हेतु एव व्याधि दोनों के समान गुण होते हुए भी लाभ करता है ।

प्रश्न—रोगी की परीक्षा का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उत्तर—

रोगी-परीक्षा

यहाँ हम रोगी की परीक्षा-विधि का वर्णन कर रहे हैं जो कि रोग का आश्रय है। वे साधन जो कि रोग विनिश्चयार्थ कार्य में आएँ और रोगी पर प्रयुक्त किए जाएँ, उन्हें रोगी परीक्षा में ही माना जाता है। यद्यपि रोगी परीक्षा एवं रोग परीक्षा में कोई अन्तर नहीं, प्रयोजन केवल निदान करना (Diagnosis) मात्र ही है, तो भी सैद्धान्तिक दृष्टि से दोनों में अन्तर है। वह इस प्रकार की रोगी परीक्षा निम्नोक्त त्रिविध-षड्विध आदि विधियों से विशिष्ट अवयवों की परीक्षा की जाती है, जबकि रोग परीक्षा पंचुनिदान के आधार पर होती है, जिसका वर्णन हम पीछे कर आए हैं।

त्रिविध परीक्षोपाय—चरक विमानस्थान में रोग विशेष विज्ञान-सम्बन्धी तीन साधन बताए हैं जिनके द्वारा हमें रोगी की परीक्षा करनी है—

(१) आप्तोपदेश, (२) प्रत्यक्ष एवं (३) अनुमान।

कहा भी है,

"त्रिविध खलु रोग विशेष विज्ञानं भवति।
तद्यथा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षं अनुमान चेति।" (च० वि० अ० ४)

आप्त पुरुषों के वचनों को आप्तोपदेश कहते हैं जो संशयरहित स्मरण द्वारा सम्पूर्ण त्रैलोकिक भावों के सत्, असत् आदि विभाग को जानते हैं; अनुराग, विराग वा राग-द्वेष से रहित हैं, वे आप्त हैं। इन गुणों से युक्त होने के कारण इनके जो उपदेश हैं, वह प्रमाण होते हैं। मत्त-उन्मत्त-मूर्ख वक्ता के देखे हुए (ऐहिक) अथवा न देखे हुए (पारलौकिक) विषयों के वचन प्रमाण नहीं होते। तिस्रषणीय नामक अध्याय में कहा भी है—

"रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रैकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥" (च० सू० अ० ११)

अर्थात्—तप एवं ज्ञान के बल से जो रज एवं तम (मानस दोषों) से निर्मुक्त हैं; जिन्हें त्रिकाल का (भूत-भविष्य-वर्तमान) निर्मल एवं अव्याहत (अप्रतिहत) ज्ञान है, वही आप्त है और वही शिष्ट एवं विबुद्ध कहलाते हैं।

उनके वाक्य संशयरहित होते हैं, सत्य होते हैं। वे रज एवं तम से मुक्त असत्य वचन क्यों कहेंगे ?

यहाँ पर ही यह स्पष्ट करना उचित है कि परीक्षा चाहे प्रत्यक्ष द्वारा की जाए अथवा अनुमान द्वारा, आप्तोपदेश तो दोनों अवस्थाओं के लिए आवश्यक ही है। बिना आप्तोपदेश के कुछ प्रत्यक्ष कर पाना या अनुमान कर पाना सम्भव नहीं। लिखा भी है—

"त्रिविधे त्वस्मिन ज्ञान समुदाये पूर्वमाप्तोपदेशशाज्ज्ञानं,...............कि ह्यनुपदिष्ट एवं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणे विद्यात्" (च० वि० अ० ४)

अर्थात्—इन तीनों प्रकार के ज्ञान के समूह में सबसे पूर्व आप्तोपदेश से ज्ञान होता है।... ...., यदि पहले उपदेश हीन हो तो प्रत्यक्ष एवं अनुमान से क्या जाना जा सकता है ? अर्थात् कुछ भी जान सकना सम्भव नहीं।

प्रत्यक्ष—"प्रत्यक्षं तु खलु तत्-यत्स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोनलभ्यते।"

(च० वि० अ० ४)

अर्थात्—प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जो स्वयं इन्द्रियों एवं मन द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाए।

यहाँ "स्वयं" का अर्थ आत्मा किया गया है। क्योंकि 'प्रत्यक्ष' के विषय में लिखा है—

"आत्मेन्द्रिय मनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवंतते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धि प्रत्यक्षं सा निरूच्यते ॥"

(च० सू० अ० ११)

अर्थात्—आत्मा, इन्द्रिय, मन, एवं अर्थों के संयोग से बुद्धि के द्वारा जो तत्क्षण ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। अस्तु,

चरक ने रोगी परीक्षणोपायों में चार को प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हुए रसना ग्राह्य विषय को छोड़कर, घ्राण द्वारा, नेत्र द्वारा, स्पर्शेन्द्रिय द्वारा एवं श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा रोगी की प्रत्यक्ष परीक्षा करने को कहा है; जिनकी व्याख्या आगे होगी।

अनुमान— "अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्ष." (च० व० अ० ४)

अर्थात्—युक्ति की अपेक्षा रखने वाले तर्क को ही अनुमान कहते हैं। युक्ति बुद्धि द्वारा अनेक कारणों के होते हुए जो भी देखा जाए वह युक्ति कहलाती है। लिखा भी है—

"बुद्धि पश्यति हा भावान् बहुकारणयोगजान ।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवंगः साध्यते यथाः ॥"
(च० सू० अ० ११)

चरक निदान करते समय की गई रस परीक्षा को अनुमान द्वारा ज्ञेय कहना है और प्रश्नेन परीक्षा भी अनुमान द्वारा ज्ञेय है, जैसा कि वहाँ लिखा भी है—

"………आतुरपरिप्रश्नेननैव विद्यादिति । (च० वि० अ० ४)

अर्थात्—रोगी से प्रश्न पूछ कर अनुमान लगाना चाहिए ।

आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष एवं अनुमान नामक तीन साधनों का वर्णन करने के पश्चात् हम रोगी की परीक्षा के लिए षड्विध परीक्षणोपायों का वर्णन करते हैं ।

षड्विध परीक्षणोपाय—रोगी परीक्षा के साधनों में जो सर्व प्रचलित है—वह है षडविध परीक्षणोपाय । लिखा है—

"आतुरमभिपश्येत् स्पर्शेत् पृच्छेच्च त्रिभिरेतोविज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो विदितव्या इत्येके । तनत्तुसम्यक् । षड्विधोहि रोगाणां विज्ञानोपायः । तद्यथा-पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन् चेति ।" (सु० सू० अ० १०)

अर्थात् आतुर को देखकर, स्पर्श करके एवं पूछकर इन तीन उपायों से रोग का निदान करें—कोई-कोई ऐसा कहते हैं । किन्तु यह सम्यक् नहीं, क्योंकि रोग जानने के छह उपाय हैं; यथा—पञ्च श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से तथा प्रश्न के द्वारा ।

ऊपर दर्शन-स्पर्शन एवं प्रश्न नाम से जो तीन साधन बताए हैं, वे तीनों वाग्भट्ट ने माने हैं ! तत्र उक्तं च,

"दर्शनस्पर्शनप्रश्नेः परीक्षेतऽथरोगिनाम् ।" (अ० हृ० सू० अ० १)

सुश्रुत ने जो छह परीक्षोपाय कहे हैं—यह तीन भी उनमें ही आ जाते हैं; अतः हम कहेंगे कि—

(१) शब्दतः, (२) स्पर्शतः, (३) रूपतः, (४) रसतः, (५) गन्धतः और (६) प्रश्नेन । रोगी की परीक्षा करें ।

जैसा कि पीछे स्पष्ट कर आए हैं—इन सब परीक्षाओं का आधार चरकोक्त आप्तोपदेश ही होगा और आप्तोपदेश के पश्चात् शब्दतः, स्पर्शः, रूपतः एवं गन्धतः परीक्षा चरकोक्त प्रत्यक्ष परीक्षा में आयेंगे और रसतः तथा प्रश्नेन परीक्षा चरक के अनुमान में गिने जायेंगे, जैसा कि हम कह भी चुके हैं, अस्तु, अब हम इनका क्रमशः वर्णन करते हैं ।

शब्दतः परीक्षा—शब्दत: परीक्षा करने के लिए श्रोत्रेन्द्रिय से ज्ञान प्राप्त किया जाता है। शब्द आकाश का गुण है और शरीर में श्रोत्रेन्द्रिय ही आकाश का प्रतिनिधि है, अत: हम श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्दत: परीक्षा करते हैं। सुश्रुत में—

"सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छतीत्येवमादयः।"

(सु० सू० अ० १०)

यह कहकर शब्दत: परीक्षा का कुछ आभास मात्र दिया है और इसी विषय पर चरक में—

"तद्यथा आन्त्रकूजनं सन्धिस्फोटमङ्गुली पर्वणां च स्वर विशेषा ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाःस्युस्ताञ्श्रोत्रेण परीक्षेत्।" (च० वि० अ० ४०)

अर्थात्—जिस प्रकार आन्त्रकूजन, सन्धियों एवं अंगुलियों की पोरों का स्फोटन, विशेष-विशेष स्वर तथा अन्य भी शरीर में जो कई प्रकार के शब्द हैं, इनकी श्रोत द्वारा परीक्षण करनी चाहिए।

श्रवण (Auscultation)—आधुनिक समय में श्रवण परीक्षा का बहुत अधिक चलन है। हृदय-फुफ्फुस के विकारों में विशेषकर तथा आन्त्रकूजन आदि में भी श्रवण परीक्षा की जाती है। इसको शब्दत: या श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ही परीक्षा मानना होगा। एतदर्थ विशिष्ट यन्त्र का प्रयोग किया जाता है जो ध्वनि को बढ़ाने वाला है—इसको शब्द श्रवण यन्त्र (Stethoscope) कहते हैं। इसी प्रकार के दो यन्त्र और हैं, इनमें प्रथम है शब्द दर्शक यन्त्र (Phonendoscope) और दूसरा है तुलनात्मक शब्द श्रवण यन्त्र (Differential Stethoscope)। शब्द दर्शक यन्त्र से धीमा शब्द ऊँचा सुनाई देता है—अत: मन्द-मृदु और धीमे स्वर को स्पष्ट एवं उच्च करके सुनने के लिए इसे प्रयुक्त करते हैं। तुलनात्मक शब्द श्रवण यन्त्र में वक्षवर्ती भाग में छिद्र को छोटा-बड़ा करने की व्यवस्था होती है और कर्णवर्ती भाग में पंच होते हैं—जिनको प्रयोग कर ध्वनि को मन्द-मध्यम अथवा तीव्र किया जा सकता है। इस प्रकार करने से भिन्न स्थान के शब्दों की तीव्रता अथवा मृदुता का सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

शब्द श्रवण यन्त्र—नव चिकित्सक एवं विद्यार्थी इस यन्त्र के विषय में अनभिज्ञ न रहें एतत् इसके स्वरूप के विषय में दो शब्द लिखना उचित है। यदि देखा जाए तो मुख्य रूप से इस यन्त्र के दो स्वरूप होते हैं—

(१) एक-कार्णिक, (२) द्वि-कार्णिक।

एक-कार्णिक यन्त्र का प्रयोग प्रायः नहीं के बराबर है और न ही इसका प्रयोग कराने में उतना उपयोगी है, जितना कि द्वि-कार्णिक यन्त्र। इस त्रुटि का मुख्य कारण यह है कि इसमें केवल एक कर्ण से ही सुनना पड़ता है, दूसरा कान खुला रहता है जिसमें प्रत्येक प्रकार का बाह्य शब्द जाता रहता है जो भ्रम उत्पादक होता है।

द्वि-कार्णिक शब्द श्रवण यन्त्र का प्रयोग ही प्रायः किया जाता है, और यह उचित परिणाम भी दिखलाता है। रचना की दृष्टि से देखें तो हम इसके मुख्यतः तीन भाग कर सकते हैं—

१. वक्षवर्ती भाग (Chest Piece)।

२. शब्दवाहक नलिकाएँ।

३. कर्णवर्ती भाग।

वक्षवर्ती भाग उस स्थान पर रखा जाता है, जहाँ पर कि शब्द सुनना हो। रचना की दृष्टि से यह मुख्यतः दो प्रकार का होता है—

१. चक्राकार द्वि-कार्णिक (Round shaped)।

२. कीपाकार द्वि-कार्णिक (Funnel shaped)।

दोनों ही अपने-अपने प्रयोग में समान रूप से लाभप्रद हैं। यह प्रायः 'एबोनाइट' का बना प्रयोग करना चाहिए। कारण यह है कि धातु निर्मित वक्षवर्ती भाग के प्रयोग से शीतता एवं उष्णता का प्रभाव पड़ता है।

शब्दवाहक नलिकाएँ वक्षवर्ती भाग को कर्णवर्ती भाग तक ले जाती हैं। यह भी धातु निर्मित नहीं लेनी चाहिए, क्योंकि धातु निर्मित नलिकाओं द्वारा शब्द इतना नहीं सुनाई देता, सदैव रबड़ की नलिकाएँ ही उपयोग में लेनी चाहिए।

कर्णवर्ती भाग भी प्राय धातु निर्मित होता है, यह भी यदि मसाले का बना हुआ हो तो अच्छा रहता है।

नव चिकित्सकों एवं विद्यार्थियों के लिए इसका प्रयोग करने का विधान लिखना आवश्यक है। इसके प्रयोग में मुख्य रूप से तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

(क) वक्षवर्ती भाग को अभिप्रेत स्थान पर इस प्रकार रखा जाए कि वह बहुत अधिक सख्त भी न दबा हो, जिसका उस स्थान पर निशान बन जाए और न ही इतना ढीला हो कि इधर-उधर से बाह्य शब्द उस भाग में

जा सके, उचित रूप में रक्खा हुआ यह भाग ही शब्द ग्रहण करने में सहायक होता है।

(ख) अभिप्रेत स्थान के कानों की दूरी बहुत अधिक न रहे और न ही इतनी कम हो जो कि रोगी से सटकर ही बैठना पड़े। प्रायः एक फुट की लम्बाई ठीक रहती है।

(ग) कर्णवर्ती भाग कर्णों में ठीक प्रकार से लग सकने योग्य होना चाहिए। देखने में आया है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनुरूप कर्णवर्ती भाग होना आवश्यक है। उसका ढीला रहना अथवा कानों को सख्ती के दबाने वाला होना उचित नहीं।

यहाँ पर स्पष्ट कर दूँ कि यह शब्द श्रवण यन्त्र आदि शब्द को नहीं सुन सकते, यह सब तो केवल सहायक मात्र हैं जो ध्वनि को बढ़ा कर श्रोत्रेन्द्रिय के ग्रहण योग्य बना देते हैं और दूसरा लाभ यह होता है कि व्यावहारिक दृष्टि से भी किसी स्थान पर चिकित्सक अपना कान लगाकर सुने, यह उचित नहीं लगता, अतः यन्त्र का प्रयोग करना लाभप्रद होता है। वैसे शब्द को सुनने का समवायि कारण चरक-सुश्रुतोक्त श्रोत्रेन्द्रिय ही है।

ठेपन (Percussion)—शब्दतः परीक्षा का दूसरा आधुनिक स्वरूप ठेपन है। इस विधान द्वारा स्व-उत्पन्न ध्वनि को चिकित्सक श्रवण करता है। होता यह है कि अभिप्रेत स्थान पर चिकित्सक अपनी तीन अथवा दो उंगलियाँ रख लेती है और फिर दूसरे हाथ की तर्जनी अथवा मध्यमा अँगुली से उन उंगलियों को ठेपता है, जिससे कि शब्द उत्पन्न होता है और वह शब्द भिन्न-भिन्न प्रकार से रोगों के निदानार्थ सहायक सिद्ध होता है। जो अँगुली स्थान पर सपाट रखी जाती है, वह प्रायः चिकित्सक के वाम हस्त की होती है और उसे 'ठेप्य' कहते हैं तथा दाएँ हाथ की वह अँगुली जिसके अग्रभाग से प्रहार किया जाता है, 'ठेपक' कहलाता है। प्रहार के बलानुसार मृदु-मध्यम एवं कठोर ठेपन होता है। यह ध्यान रहे कि ठेपन चाहे किसी प्रकार का भी किया ज़ाए चिकित्सक को कोहनी नहीं उठनी चाहिए।

ठेपन में केवल शब्दतः ही परीक्षा होती हो सो बात नहीं, बिना उस शब्द के सुने ही जो कि ठेपन द्वारा उत्पन्न हुआ है, कुशल चिकित्सक स्पर्श-शक्ति से इतना ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं कि ठेपन करते समय उनकी अंगुलियाँ स्वयं अनुभव कर लेती हैं कि वह स्थान किस अवस्था में है, तो भी नवीन अभ्यस्त चिकित्सक के लिए तो श्रवण करके ज्ञान कर सकना भी कठिन ही है—

अतः हम इसें स्पर्शतः परीक्षा करते हुए भी शब्दतः के अन्तर्गत ही लिख रहे हैं।

ठेपन करने पर किसी स्थान की मुख्य रूप से निम्न अवस्थाओं का बोध हो सकता है—

(१) रिक्तता—यदि ठेपन वायुपूर्ण स्थान पर किया जाए तो वहाँ ढोलवत शब्द सुनाई देता है—स्वस्थावस्था में आमाशय एवं आन्त्र स्थान पर किया गया ठेपन रिक्त ठेपन (Tympanic note) होता है—

(२) कठोर स्थान ठेपन से ऐसा शब्द सुनाई देता है, जैसे किसी लकड़ी या पत्थर पर प्रहार करने से कोई ध्वनि उत्पन्न हुई हो। इसे ठोस ठेपन (Dull note percussion) कहते हैं; यथा— यकृत, प्लीहा आदि पर।

(३) सुषिर—जहाँ कुछ स्थान ठोस हो एवं कुछ स्थान रिक्त हो, वहाँ पर सुषिर शब्द (Resonant) सुनाई देता है। यथा फुफ्फुसों में।

शब्दतः परीक्षा करने में सबसे प्रमुख बात है, अभ्यास। आप्तोपदेशानुसार जब तक कई बार अभ्यास न किया जाए, तब तक नवीन चिकित्सक से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह शब्द सुनकर पहचान पाएगा कि अमुक अवस्था में इस प्रकार का शब्द उत्पन्न होता है, अतः विद्यार्थियों को यही परामर्श है कि अनेक बार विज्ञ निदानज्ञों द्वारा सुन कर बताई हुई अवस्थाओं को सुनें और अपनी श्रोतेन्द्रियों को अभ्यास के द्वारा इस योग्य बना लें कि विभिन्न प्रकार का शब्द ध्वनियों को जो कभी भी सुना जाए तो यह समझ सकें कि इस प्रकार का शब्द अमुक-अमुक अवस्थाओं में होता है, तभी यह सम्भव है कि शब्द श्रवण द्वारा रोग का निदान किया जा सके।

स्पर्शतः परीक्षा—"स्पर्शनेन्द्रियों विज्ञेयाः शीतोष्णश्लक्ष्णकर्कशमृदु कठिनत्वादयो ज्वर शोफादिषु" (सु० सू० अ० १०)

अर्थात्—ज्वर एवं शोफ आदि से शरीर की शीतता: श्लक्षणता, कर्कशता, मृदुता एवं कठिनता आदि स्पर्शेन्द्रिय विज्ञेय हैं।

और चरक में—

"स्पर्शचपाणिना प्रकृति विकृति युक्तम्" (च० वि० अ० ४)

अर्थात्—प्राकृत एवं वैकृत स्पर्श को हाथ से छूटकर परीक्षा करे (हाथ से कहने का तात्पर्य केवल सहायक का बोध कराना है, अन्यथा स्पर्श ज्ञान तो त्वगेन्द्रियों द्वारा ही होता है।)

स्पर्शन (Pulpation)—रोगी की परीक्षा के लिए आधुनिक विज्ञान में

भी स्पर्शन का वर्णन है—आज भी आधुनिकतम चिकित्सक अंग की मृदुता, कठोरता, समता, विषमता, शोथ, कृशता, ताप एवं पीड़ादि का ज्ञान स्पर्शन द्वारा करता है। एक यन्त्र जिसे ताप-मापक-यन्त्र (थर्मामीटर) कहते हैं, हमें स्पर्श का ही ज्ञान कराता है। स्पर्शेन्द्रिय द्वारा जब ज्ञान होना सम्भव न रहे कि शरीर का ताप कितना है—तब हम उसकी सहायता से स्पर्श ज्ञान करते हैं।

तापमापक यन्त्र (Thermometer)—यद्यपि यह बताना हमारे विषय के बाहर की बात है कि इस यन्त्र का निर्माण किस प्रकार होता है। जिन पाठकों ने भौतिक विज्ञान (Physics) का अध्ययन किया है, वह ताप (Heat के अध्ययन में इस विषय को पढ़ आए होंगे। हमें उस विषय का ज्ञान करने की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती, क्योंकि चिकित्सक के लिए इसका कोई विशेष महत्त्व भी नहीं है। तो भी इसके प्रयोग के विषय में कुछ लिखना नवीन विद्यार्थियों के लिए उपादेय होगा।

तापमापक यन्त्र के मुख्यतः दो भाग होते हैं—एक अग्र पारद निर्मित भाग एवं द्वितीय पीछे का मापक भाग। मापक भाग पर निशान लगे होते हैं जो प्रायः ९५ से आरम्भ होते हैं और एक अंक छोड़ते हुए १०८ तक निशान होते हैं। यह ताप के फारेनहाइट (F) मापक चिह्न हैं। इनके मध्य में रेखाएँ होती हैं—जो एक अंक के लिए प्रायः १० होती हैं—परन्तु कुछ एक ५ रेखाओ वाले यन्त्र भी होते हैं। इसमें एक रेखा का अर्थ दो से लगाया जाता है। देखते समय एक अंक को डिग्री कहकर सम्बोधित किया जाता है और उसके आगे की रेखाओं को चिह्न (Point) कहा जाता है। मान लीजिए किसी यन्त्र में पारद की रेखा ९९ अंक से ८ रेखा आगे हैं, तो कहा जायगा कि ९९ ८°F (९९ पाइण्ट ८ डिग्री फारेनाइट) ज्वर है। इसी प्रकार से अन्य अंकों के समझना चाहिए।

नवीन विद्यार्थियों को ध्यान रखना चाहिए कि अग्र पारदीय भाग शरीर से स्पर्श कराने को उस भाग में पारद होता है और वह उसे मापक भाग (Scale) पर एक नली (Tube) द्वारा जो कि यन्त्र में लगी रहती है, शरीर की ऊष्मा के अनुसार ऊपर की जाता है और वही उक्त अङ्क तक पहुँचता है, जिसे देखकर ताप बताया जाता है। अस्तु, उस पारदीय भाग को शरीर में मुख्य रूप से निम्न स्थानों पर प्रयोग किया जाता है—

१. जिंह्वाध: प्रदेश, २. वंक्षण प्रदेश,
३. कक्षा प्रदेश एवं ४. गुद प्रदेश ।

प्राय: वयस्क मनुष्य की जीभ के नीचे पारदीय भाग को रखा जाता है—इस स्थान का रक्त परिभ्रमण सतह पर (Superficial होता है अतः उस स्थान से रक्त की ऊष्मा ठीक प्रकार से ज्ञात हो जाती है। बालकों को तथा जब रोगी होश में न हो उस अवस्था में मुख में नहीं लगाया जा सकता—अत: ऐसी अवस्था में वंक्षण प्रदेश अथवा कक्षा प्रदेश मे लगाया जाता है, किसी-किसी अवस्था में जब रोगी का आन्तरिक ताप देखना आवश्यक जान पडे तो गुदा में पारदीय भाव को रखकर ताप देखा जाता है।

जिह्वाध: प्रदेश ताप निश्चित ताप कहलाता है और कक्षा एवं वक्षण में आया ताप उस निश्चित ताप से लगभग 5°F (आधा डिग्री) कम होता है। गुद प्रदेश का ताप निश्चित ताप से लगभग 1°F अधिक होता है। प्राय: ताप समझने के लिए यन्त्र किसी स्थान पर स्पर्श किया जाए, ताप निश्चित ताप में ही निकाल लेना चाहिए—कारण है कि प्रत्येक स्थान पर ताप कहने का तात्पर्य जिह्वाध: प्रदेश के ताप से ही होता है।

साधारण ताप प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग है प्राय: 97°F से 99°F तक साधारण ताप वाले व्यक्ति समाज में मिलते हैं, तो भी सरलता की दृष्टि से 98 4°F को साधारण ताप (Normal Temperature) माना जाता है और उसी बात को अङ्कित करने के लिए यन्त्र मापक प्रदेश पर एक लाल निशान (Red Arrow) दिया होता है। 102°F से 105°F तक का ज्वर उच्च ताप (High Temperature) की श्रेणी मे आता है और इससे ऊँचा गया ताप प्राय: मारक सिद्ध हो जाता है।

रूपत: परीक्षा—"चक्षुरिन्द्रिय विज्ञेया: शरीरोपचयापचयमायुंलक्षण बल वर्णविकारादय:"

अर्थात्—शरीर का उपचय एवं अपचय, वायु लक्षण एव बल-वर्ण आदि के विकार चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य हैं।

और चरक विमान स्थान अध्याय चार में भी कहा है—

"वर्णसंस्थान प्रमाणच्छाया: शरीर प्रकृति विकारा चक्षुर्वैषयिकाणि यानि चान्याणि तानि चक्षुषा परीक्षेत्।" (च० वि० अ० ४)

अर्थात्—वर्ण की आकृति, प्रमाण, छाया, शरीर की प्रकृति, विकार तथा अन्य जो भी कुछ चक्षु:इन्द्रिय के विषय से सम्बन्ध रखता है—उन सब की नेत्र द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

दर्शन (Inspection)—आधुनिक समय में जो परीक्षा-विधि प्रचलित है—उसमें सर्वप्रथम स्थान दर्शन का ही आता है। इसके पश्चात् ही स्पर्शन आदि का विधान है। दर्शन द्वारा भी आज तक वही परीक्षा की जाती है जो चरक ने रूपतः परीक्षा में बतायी है। यह प्रायः बाह्य दर्शन एवं स्थूल दर्शन ही होता है—शरीर के आभ्यान्तरिक परिभागों की परीक्षा और सूक्ष्म द्रव्यों की परीक्षा भी रूपतः परीक्षा ही है, परन्तु बिना यन्त्रों की सहायता से हम उनको देख सकने में समर्थ नहीं; अतः यन्त्रों के द्वारा भी चक्षुर्ज्ञेय है, वह हम रूपतः परीक्षा में मानते हुए—इसी प्रकरण में बतायेंगे। यहाँ पर मुख्य रूप से—क्ष-किरण द्वारा एवं अन्य कंठ, श्रोत आदि की परीक्षा करने के यन्त्र द्वारा रूपतः परीक्षा की जाती है जिसको हम क्रमश. नीचे लिखते हैं—

क्ष-किरण (X-Rays)—१८६६ ई० में जर्मन वैज्ञानिक रोञ्जन (Rontgen) ने इस चमत्कारी किरण का आविष्कार किया जिसके द्वारा रोग परीक्षा का एक प्रशस्त साधन मिल गया। हृदय, फुफ्फुस, आन्त्र, यकृत एवं कंकाल आदि की प्राकृत एवं वैकृत अवस्थाओं का, जिनकी खुले नेत्रों (Naked eyes) से देख सकना सम्भव नहीं होता, 'क्ष' किरण की सहायता से दृष्टिलभ्य किया जा सकता है—यद्यपि क्ष-किरण का आविष्कार विभिन्न रोगावस्थाओं में भी स्थायी चिकित्सा का रूप बनाए हुए है तो भी उस रूप का वर्णन करना हमारे विषय से बाहर की वस्तु है—अतः हम उसका वर्णन नहीं करेंगे।

प्रकाश रश्मि जो एक ही दिखाई देती है। वह भी सात प्रधान वर्णों से युक्त होती है; वे वर्ण हैं--बैंगनी, आसमानी, नीला, हरा, पीला, नारंगी तथा लाल। इस वर्णावलि के एक छोर पर परारक्तरश्मि (Infra Red Rays) और दूसरे किनारे पर पराकाशिनी रश्मि (Ultra Voilt Rays) होती हैं। इनका एक विशिष्ट आयाम होता है, जिसको तरंगायाम (Wave length) कहते हैं। यह तरंगायाम प्रत्येक रश्मि का भिन्न-भिन्न होता है। इनमें लाल रश्मि का तरगायाम सर्वाधिक होता है तथा बैंगनी का सबसे कम। अभी तक वैज्ञानिकों ने अनेक रश्मियों का, जिनमें बेतार-तरग (Wireless), पराकाशिनी (Ultra Voilet Rays) एवं रेडियम रेज, गामा रेज

तथा कास्मिक रेंज आदि हैं, की खोज कर ली है परन्तु उन सबका वर्णन हमारी सीमा के बाहर है, हम तो केवल क्ष-किरण के विषय में ही बता रहे हैं। क्ष-किरणों का तरंगायाम दो बातों को ध्यान में रखकर निकाला गया है—एक तो नैदानिक दृष्टि म और दूसरे चिकित्सार्थ। निदान के दृष्टिकोण से क्ष-किरण का तरंगायाम ०१२ से १५ आमंस्ट्रोङ्ग-यूनिट (Armstrong unit) होता है।

यहाँ पर तरंगायाम का विषय उपस्थित देख पाठक कुछ उपेक्षणीय वृत्ति को धारण कर सकता है तो भी क्ष-किरण के विषय में कुछ ज्ञान रखना आवश्यक है और उतना ही हम यहाँ बता रहे हैं। अस्तु, जितनी ही लघु तरंगायाम की क्ष-किरण होगी, वह उतनी ही अधिक प्रवेश शक्ति-सम्पन्न होगी और उसे कठोर रश्मि (Hard Rays) कहा जाएगा। इसका प्रयोग शरीर की अस्थियों का चित्रण करने के लिए किया जाता है, क्योंकि इन्हीं में अस्थि-प्रवेश्य-क्षमता होती है। दीर्घरगायाम वाली क्ष-किरण उतनी प्रवेश्य-क्षमता नहीं रखती और इसी से मृदु रश्मि (Soft Rays) कहलाती है। यह फुफ्फुस आदि को चित्रित कर सकने में समर्थ हो सकती है। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि आपका ध्यान रहे कि प्रत्येक स्थान के लिए एक ही समान क्ष-किरणों का प्रयोग नहीं किया जाता, अपितु ठोस स्थान अस्थि आदि के लिए कठोर रश्मि तथा कोमलांगों के लिए मृदु रश्मि का प्रयोग किया जाता है।

इसी प्रसग में यह बताते चलना भी उचित ही है कि क्ष-किरण की उत्पत्ति किसी धात्वीय तल (Metalic Surface) के विद्युदणु प्रवाह द्वारा (Stream of Surface) ताड़ित होने से होती है। जितनी अधिक वेगवान गति से ताड़न होगा, उतना ही आकस्मिक आघात पहुँचेगा और उसे तीव्रतम टक्कर के कारण उतनी अधिक लघु तरंगायाम की कठोर रश्मियाँ उत्पन्न होंगी। इसी प्रकार कम टक्कर से दीर्घ तरंगायाम की मृदु किरण उत्पन्न होगी। एतदर्थ जो यन्त्र प्रयोग होता है, वह प्रायः ६०-१५६ किलो वोल्ट शक्ति वाला होता है।

यह तो आप जानते होंगे कि क्ष-किरण शरीर में या शरीर के किसी अवयव अथवा भाग विशेष में उसी प्रकार पार हो जाती है, जिस प्रकार शीशे में साधारण प्रकाश। हमारे नेत्र इसको देख सकने में समर्थ नहीं होते, अतः

उनको प्लेटों पर उतार लिया जाता है और उन प्लेटों पर हमें वहाँ का चि
दिखाई देना सम्भव होता है। साधारण तौर पर हम इन रश्मियों को
प्रकार के पटों पर अंकित कर दृष्टिलभ्य करते हैं—

१. क्ष-किरण पट (X-Ray Plates) द्वारा।

२. स्फुरित यवनिका (भ्रासमान पट : Screening) द्वारा।

क्ष-किरण पट (Plates) अन्य रश्मिवत ही क्ष-किरण से प्रभावित होत
है। इसमें साधारण चित्रांकन के कार्य में आने वाली फिल्म ही आती
जिनको विशेष प्रकार के चौखटों में रखा जाता है। यह चौखटे अयस् (Iron
निर्मित होते हैं परन्तु इनके सामने का भाग अल्यूमीनियम या ऐसी किर
वस्तु का बना होता है कि जिसमें सूर्य या विद्युत का प्रकाश अन्दर नहीं
सकता। इस प्रकार उसमें रखी प्लेट बाह्य रश्मियों से प्रभावित नहीं
पाती और क्ष-किरण (X-Rays) उस अल्यूमीनियम निर्मित भाग को भेद
कर सकती हैं—अतः वह उसको पार कर प्लेट पर चित्रांकन कर देती है
ये चौखटे १५"-१२" १२"-१०", ८"-१०" आकार के होते हैं और उन
प्रयोग शरीरांग के आकार के अनुसार किया जाता है। उस प्लेट पर अंकि
चित्र को देखकर ही रोग का निदान किया जाता है।

भ्रासमान पट द्वारा क्ष-किरण द्वारा जो परीक्षा की जाती है, उसक
विधान यह है कि जिस अंतरांग अथवा अवयव को देखना होता है, उस
क्ष-किरणें गुजारी जाती हैं, जिसे साधारण रूप से देख सकना सम्भव न
होता अतः पीछे एक गत्ता (Card Bord) का पट लगा रहता है। ज
रासायनिक घोल से प्रभावित होता है। अतः यह रश्मियाँ पड़ने में हरित
नीलवर्ण से देदीप्यमान हो उठता है। इस गत्ते पर क्ष-किरण को दृष्टिल
करने के लिए, पहले बैरियम प्लेटिनो-साइनाइड (Barium Piatitno Cy-
nide) का प्रयोग होता था, किन्तु आजकल कैलशियम टंगस्टेट (Calciu
Tungstate) का लेप किया जाता है। इस प्रकार से चित्रांकन करते सम
अँधेरा कमरा (Dark Room) होना चाहिए। इस विधि का विशेष ला
यह है कि इसके द्वारा हृदय आदि अन्तरांगों को देखते समय उनको का
करते भी देखा जा सकता है।

ध्यान रहे साधारण चिकित्सक के लिए यह असम्भव नहीं कि वह क्ष-कि
द्वारा अंकित चित्र को देखकर सभी प्राकृत एवं वैकृत अङ्गों को समझ सके

उस चित्र का अध्ययन (Reading of the X-Pay) विशेषज्ञ द्वारा होता है और वह एक यन्त्र की सहायता से उन रेखाओं को समझ कर अपना विवरण (Report) लिखकर देता है जो साधारण चिकित्सक के लिए निदान में सहायक होता है। शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों की प्राकृतिक रचना को जानने वाला ही वैकृत अवस्थाओं को समझ सकता है; शरीर रचना का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है।

क्ष-किरण का प्रयोग विभिन्न अस्थि-विकार, हृदय, फुफ्फुस की विभिन्न अवस्थाओं, आन्त्र, यकृत की अवस्थाओं एवं उदरीय विकारों, मूत्र-संस्थान के विकार की रूपतः परीक्षा के लिए होता है। आन्त्र आदि का चित्र लेते समय बैरियम खिलाया जाता है। जिसे किरणें पार नहीं कर सकतीं और आन्त्रों के काला रंग जाने से उनका चित्र बन जाता है।

अनुवीक्षण यंत्र द्वारा परीक्षा (Microscopic Examination)—रोग का निदान करने में रूपतः परीक्षा में जो दूसरा साधन प्रयुक्त होता है, वह है अनुवीक्षण यन्त्र। मल की परीक्षा करते समय, रक्त-परीक्षा करते समय में द्रव्य जो साधारण रूप से चक्षुग्राह्य नहीं होते, उनको इस यन्त्र की सहायता से देख सकना सम्भव हो सकता है। इस यन्त्र को यदि रचना की दृष्टि से देखा जाए तो हम पाते हैं कि इसमें दो ताल होते हैं, दो नली होती हैं, दो पेच होते हैं, एक मंच होता है तथा एक शीशा होता है।

दो ताल में से प्रथम ताल ऊपर लगा रहता है जिसे चक्षु-ताल कहते हैं और परीक्षक यहाँ अपना नेत्र रखता है, यह ताल भीतरी वाली नली से सम्बन्धित होता है जिसके ऊपर दूसरी बाह्य नली लगी रहती है। दूसरा ताल वस्तु-ताल कहलाता है और यह नलियों द्वारा चक्षु-ताल की सीध में होता है। वस्तु-ताल में तीन दर्शक होते हैं जिनमें एक मन्द शक्ति (Law Power), दूसरा महाशक्ति (High Power) तथा तीसरा तैलीय होता है। यह भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में अलग-अलग प्रयुक्त होते हैं। इन दो तालों एवं नलियों से बनी रचना को ऊपर-नीचे करने के लिए यहाँ दो पेंच लगे होते हैं जिनमें एक तो धीरे-धीरे सरकाने के लिये होता है तथा दूसरा शीघ्रता से सरका देता है। मंच पर अभिप्रेत पट्टी रखने का स्थान होता है जिसमें पारदर्शक शीशा लगा रहता है, और उस काँच-पट्ट को दबाने के लिए दो कमानी रहती हैं। इस मंच के निचले स्तर पर मंच-स्थित पारदर्शक शीशे की सीध में, एक शीशा (Reflactive Mirror) लगा रहता है, जो कि प्रकाशपुंज को ऊपर की तरफ फेंकता है।

इस प्रकार की रचना के बने इस यन्त्र के द्वारा सूक्ष्म वस्तुओं को कई गुना बड़ा करके दृष्टि लभ्य किया जाता है जिसका कार्यविधान इस प्रकार है, कि अभिप्रेत वस्तु का कांच-पट्ट तैयार कर मच पर पारदर्शक शीशे के ऊपर रखा जाता है और कमानी से दबा दिया जाता है। परीक्षक अपने नेत्र को चक्षुताल पर रखता है और वस्तु-ताल को उस पट्ट पर टिकाता हुआ, पेंच द्वारा इस अवस्था मे व्यवस्थित करता है कि नीचे के शीशे से आई हुई प्रकाश-रश्मियाँ उस कांच-पटट से गुजरती हुई वस्तु-ताल में उस कांच-पटट पर लगे द्रव्य का चित्र वृहत् करती हुई नलिका के द्वारा चक्षु-ताल तक पहुँच जाती हैं और वह सूक्ष्म वस्तुएँ परीक्षक वृहत् रूप में हो जाने से देख लेता है।

"रक्तवाहि सिरोत्थारक्तजा जांतवोऽगत्र:" वाग्भट्ट ने रक्त के अणु जन्तुओं का जो वर्णन किया है, वह इस अनुवीक्षण यन्त्र की सहायता से दृष्टिलभ्य किया जा सकता है। मूत्र के अवयवों को भी इस यन्त्र के द्वारा ही देखा जा सकता है। श्लेष्मा एवं मल में उपस्थित सूक्ष्म अवयव की परीक्षा भी इस यन्त्र की सहायता से ही की जा सकती है।

गुदनलिका एवं कुण्डलिका दर्शक यन्त्रों द्वारा परीक्षा (Proctoscopic Examination and Sigmoidoscopic Examination)—जब कभी मल मार्ग या गुदनलिका के निम्नांश ३-४ इंच स्थान में परीक्षा करनी होती है तो हम गुदनलिका दर्शक यन्त्र का प्रयोग करते हैं। इनमें दो वस्तुएँ होती हैं—एक यन्त्र और दूसरा अवरोधक। जिस रोगी की परीक्षा करनी होती है, उसको रेचन देकर मल-शुद्धि करा ली जाती है और उसे औंधा करके जानु और वक्ष-स्थल के सहारे शय्या पर लिटा दिया जाता है अब विशोधित यन्त्र को अव-रोधक की सहायता से वैसलीन लगाकर गुदा में शनैः-शनैः प्रवेश किया जाता है। इस अवस्था में रोगी से कहना चाहिए कि वह मुख खोलकर साँस ले। सम्पूर्ण यन्त्र के प्रवेश हो जाने पर उस अवरोधक को निकाल लिया जाता है और बैटरी के प्रकाश से अथवा कपाल बत्ती (Head Lamp) की सहायता से पूरा प्रकाश डालते हुए स्थान को दृष्टिलभ्य करना चाहिए। इस प्रकार की परीक्षा प्रायः अर्श, व्रण, व्रणशोथ, रक्तविकार एव अर्बुदादि की रूपतः परीक्षा के लिए की जाती है।

जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं कि गुदनलिका के निम्न ४ इंच तक ही यन्त्र द्वारा देख सकना सम्भव है, इससे ऊपर की आन्त्र की रूपतः परीक्षा

करते समय इस यन्त्र से कुछ सहायता नहीं मिल सकती। तदर्थ एक दूसरा यन्त्र है जिसे प्रयोग किया जाता है और वह कुण्डलिका दर्शन यन्त्र कहलाता है—यह यन्त्र भी अवरोधक सहित होता है और १४ इंच लम्बी नलिका का बना होता है। इसका व्यास (गोलाई) लगभग १॥ इंच की होती है। इसकी लम्बाई में माप बोधक चिह्न लगे होते हैं. जिनसे यह पता लग सकता है कि यन्त्र कितने इंच प्रवेश कर चुका है। इस यन्त्र में वायु एवं प्रकाश की व्यवस्था भी रहती है। इस यन्त्र का भी प्रयोग रोगी को उसी अवस्था में लिटा कर किया जाता है, जिस अवस्था का वर्णन हम ऊपर गुदनालिकादर्शक यन्त्र के प्रयोग विधान में बता आये हैं। इसके प्रयोग से पूर्व रेचन आदि देना तथा वैसलीन आदि का प्रयोग ठीक उसी प्रकार से समझना चाहिए, जैसा कि ऊपर गुद-परीक्षा में लिखा है।

गुदनलिका दर्शक यन्त्र के द्वारा परीक्षा करना अभ्यास के द्वारा सरलता से आ जाता है। ध्यान रहे कि जितनी अच्छी प्रकार हाथ को साध लिया जायगा, उतनी ही सरलता से उस यन्त्र का प्रयोग किया जा सकेगा। धीरे-धीरे निपुणता से यन्त्र का प्रवेश करना हो इसमें मुख्य कार्य है। परन्तु १४ इंच लम्बे कुण्डलिका दर्शक यन्त्र के द्वारा परीक्षा करना सरल कार्य नहीं। इसका प्रयोग प्रायः आन्त्रों में क्षत आदि कर देता है और इसके प्रयोग से विशेष निपुणता की आवश्यकता होती है। चिकित्सक उसी अवस्था में इन गुह्यांगों की इन यन्त्रों की सहायता से रूपतः परीक्षा कर सकता है, जबकि उसने कई बार निपुण चिकित्सक की देख-रेख में अभ्यास कर लिया हो।

नैदानिक यन्त्र समूह द्वारा परीक्षा (Examination with Diagnostic set)—नासिका, कर्ण, कंठ आदि ऐसे अंग हैं जिनको सीधे ही नेत्रों से देख कर उनकी आन्तरिक रचनाओं की अवस्था का दर्शन कर पाना सम्भव नहीं। इसमें न तो प्रकाश के अच्छे साधन हैं और न ही किसी यन्त्र की सहायता बिना इनके आन्तरिक अवयवों को देख पाना ही संभव है। एतदर्थ नैदानिक यन्त्र कार्य में आते हैं। इनके द्वारा मार्ग विस्तार भी होता है और इनमें प्रकाश की व्यवस्था होने से वहाँ पर रोशनी भी पहुँच जाती है—चाहे वह कपाल-काँच (Head-mirror) द्वारा प्रत्यावर्तित होकर ही प्रवेश करे, ऐसी अवस्था में गुह्यांगों को दृष्टिलभ्य कर पाना सम्भव हो जाता है। अतः इन अंगों की रूपतः परीक्षा करते समय इन यन्त्रों की सहायता ले लेनी चाहिए।

रसतः परीक्षा—"रसनेन्द्रिय विज्ञेयाः प्रमेहादिषु रस विशेषाः"

(सु० सू० अ० १०)

अर्थात्—प्रमेहादि में रस विशेष का ज्ञान रसनेन्द्रिय द्वारा ज्ञेय होता है। और चरक संहिता विमानस्थान अध्याय ४ में लिखा है—

"रोगी के शरीर का रस यद्यपि इन्द्रिय ग्राह्य है तो भी उसे अनुमान द्वारा ही जैसे—इसका प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान कराना उचित नहीं। अतः रोगी स प्रश्न करके उसके मुख के रस (स्वाद) के विषय में जाने। यूका के हट जाने पर रोगी के शरीर को रस सहित जानना चाहिए। मक्खियों के आने से मधुरता का अनुमान करना चाहिए। रक्तपित्त में सन्देह होने पर रक्तपित्त अथवा जीव-रक्त समाधानार्थ उसको कुत्ते या कौवे के सम्मुख डालना चाहिए। यदि वह उसे खा जाए तो जीवरक्त समझना, अन्यथा रक्त-पित्त का अनुमान करना चाहिए। इसी प्रकार शरीर के अन्य रसों का भी अनुमान करना चाहिए।"

रासायनिक परीक्षा—आधुनिक समय में रोग विनिश्चयार्थ विभिन्न प्रकार से रासायनिक परीक्षा की जाती है और उस परीक्षा में रसतः परीक्षा के समान ही मधुरता आदि रूप एवं अन्य अनेक निदान सहायक तत्त्वों का अनुमान किया जाता है। मान लीजिए, मूत्र की परीक्षा करते समय आज जाँच की जाती है कि शर्करा है या नहीं, इसको मक्खियों के आने से चरकोक्त अनुमान द्वारा न मानकर फिह्लिंग की विधि (Felling test) आदि आधुनिक रासायनिक परीक्षा के द्वारा अनुमान किया जाता है। यह मधुर रस है, एतदर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान करना तो आचार्योक्त निम्न वाक्य के आधार पर ही सम्भव है—

'रसना ग्राह्यो गुणः रसः"

अर्थात्—रस तो वही है जो रसना का ग्राह्य गुण है। अतः आज किसी विधि विशेष द्वारा मधुरता को बताना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, अनुमान ही होता है। अनुमान की परिभाषा भी आप देख चुके हैं।

"अनुमानं खलु—तर्कोयुक्त्यपेक्षया" (च० वि० अ० ४)

और युक्ति की परिभाषा जैसा कि पीछे लिख आये हैं–

"बुद्धि पश्यति या भावान बहुकारण योगजान्।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गाः साध्यते यया: ॥"

(च० सू० अ० ११)

अतः आज भी हम पाते हैं कि रासायनिक परीक्षा में तर्क एवं युक्ति के आधार पर ही शर्करा की परीक्षा की जाती है। इस प्रकार चरकोक्त रक्त-पित्त अथवा शुद्ध रक्त की भ्रान्ति का जो निवारण लिखा है और स्थान भक्ष्य को शुद्ध रक्त का अनुमान करने को कहा है, वह भी आज अनुमान द्वारा ज्ञेय है—उस पदार्थ की रासायनिक परीक्षा की जाती है और उस परीक्षा से जिस-जिस तत्त्व की जो-जो अवस्था हो उस-उस के अनुसार अनुमान किया जाता है।

आज आहार की रासायनिक परीक्षा, मल की रासायनिक परीक्षा, रक्त की रासायनिक परीक्षा, मूत्र की रासायनिक परीक्षा, सुषुम्ना द्रव एवं उरस्तोय निष्कासित द्रव की रासायनिक परीक्षा की जाती है और इनके द्वारा अनुमान लगाकर व्याधि का निदान किया जाता है।

गन्धतः परीक्षा—"घ्राणेन्द्रिय विज्ञेया अरिष्ट लिंगादिषु व्रणानामव्रणानां च विशेषः" (सु० सू० अ० १०)

अर्थात्—विशेष व्रण एवं अव्रण में अरिष्ट-लक्षण आदि को घ्राणेन्द्रिय द्वारा जानना चाहिए। और—

"गन्धास्तु खलु सर्व शरीरगतानातुरस्य प्रकृति वैकारिकान. घ्राणेन परीक्षेत्।"

अर्थात्—सम्पूर्ण शरीरगत प्राकृतिक एवं वैकृतिक गन्धों को घ्राण द्वारा जानें।

"गन्धक:' परीक्षा आयुर्वेद की एक विशिष्ट परीक्षा है, जिसके विषय में आधुनिक विज्ञान अल्पतमज्ञान भी उपलब्ध नहीं कर पाया है। सुगन्ध एवं दुर्गन्ध (Good Smell and Bad Smell) को जानने वाला वह चिकित्सक उन रहस्यों को समझने में अभी तक सफल नहीं हुआ है जो चरक आदि वैज्ञानिकों ने इन्द्रियस्थान में विस्तार से वर्णन कर रखा है। मैं समझता हूँ कि रोगी परीक्षा में साध्यासाध्य का (Prognosis) निर्णय करने में गन्धतः परीक्षा द्वारा जितना सत्य आता है, उतना अन्य किसी उपाय द्वारा हो पाना सम्भव नहीं। परन्तु एतदर्थ पाश्चात्य चिकित्सकों के पास कोई विशेष ज्ञान नहीं जिससे वे लाभान्वित हो सकें। मेरा विमर्श है कि इस उपाय पर अनुसन्धान किया जाए और फिर उन परीक्षणों को आचार्योक्त आप्तोपदेश से मिला कर देखा जाए। यदि आधुनिक चिकित्सक ऐसा कर सकें तो जितना सुन्दर साध्या-

साध्य (Prognosis) का ज्ञान इससे हो सकेगा, उतना किसी अन्य उपाय द्वारा नहीं हो सकता।

प्रश्न—

सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान अध्याय १० मे लिखा है—

"देश काल-जाति सात्म्य—रोगोत्पत्ति कारण, वेदना, बल, अग्नि की दीप्तता, वात-मूत्र, पुरीष एवं रजु की प्रकृति-काल तथा प्रकर्ष आदि का ज्ञान रोगी से अथवा रोगी के सम्बन्धी से पता कर जिस स्थान की भी विकृति जान पड़े उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रश्न द्वारा परीक्षा करें।

चरक निमानस्थान अध्याय ४ में लिखा है—

गृहणी मृदुता, दारुणता, स्वप्न का दिखाई देना, अच्छा, द्विष्ट विषय, अभिप्रेत विषय, सुख, दुःख आदि रोगी से प्रश्न करके जानें।"

आधुनिक प्रश्न—आधुनिक चिकित्सक के पास जो निदान की विधि है, उसमें आतुर परीक्षा के साथ ही साथ प्रश्न का बहुत महत्त्व है। सैद्धान्तिक दृष्टि से आधुनिक परीक्षा-पद्धति इतिवृत्त में प्रश्न मुख्यतः दो प्रकार हैं—

१. सामान्य प्रश्न २ विशेष।

सामान्य प्रश्न में आतुर का नाम, आयु, व्यवसाय, निवास-स्थान आदि प्रथम लिखे जाते हैं। इसके बाद उपस्थित व्याधि क्या है और कब से है—यह लिखना होता है। यदि इसकी कोई चिकित्सा करायी हो तो उसका क्या परिणाम रहा, यह पूछना होता है। रोगी के स्वास्थ्य का पूर्व वृत्तान्त पूछा जाता है। भूत-काल में कोई रोग रहा हो तो उसका इतिहास पूछा जाता है। कुल वृत्तान्त पूछा जाता है—कुछ ऐसे रोग हैं जिनको सहज (Hereditary) कहा जाता है, यह कुल-वृत्तान्त की सहायता से निदान किए जाते हैं। ये सभी सामान्य प्रश्न हैं, जो प्रत्येक रोगी से पूछे जाते हैं।

सामान्य प्रश्न से इतना आभास होता है कि रोग कौन से संस्थान का है। इतना ज्ञात हो जाने पर उस रोगी से उसी विषय में प्रश्न पूछे जाते हैं। यह प्रश्न प्रत्येक संस्थान रोग के लिए अलग-अलग होते हैं, उनको विशेष प्रश्न कहा जाता है।

प्रश्न चाहे सामान्य हों या विशेष—उसे आतुर से पूछने का एक विशिष्ट विधान होना आवश्यक है। चिकित्सक का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह आतुर से ऐसी आत्मीयता प्रकट करे कि वह रोगी उसे अपना ही समझने लग

जाए। जो भी शब्द रोगी मुख से निकाले उसे बहुत ही ध्यान एवं धैर्य से सुनना चाहिए। यदि रोगी को ऐसा जान पड़े कि चिकित्सक उसकी ओर पूर्ण ध्यान नहीं दे रहा है तो वह उचित वृत्तान्त नहीं दे सकता और उस अवस्था में आप प्रश्न द्वारा कुछ प्राप्त नहीं कर सकते। प्रश्न पूछने के विषय में एक विशेष ज्ञातव्य सिद्धान्त और भी है कि कभी भी उत्तरात्मक प्रश्न न पूछे जाएँ। यदि उत्तरात्मक प्रश्न पूछे गये तो बालक एव अल्प बुद्धि का रोगी उचित उत्तर नहीं दे सकेगा। यथा, आपने पूछा, टट्टी आयी है तो चाहे उसे मलबद्धता रही हा तो भी वह स्वीकारात्मक उत्तर देता हुआ कहेगा, "हाँ"। अतः ऐसे प्रश्न के उत्तर से निदान में कोई सहायता नहीं मिल सकती। प्रश्न सदैव ऐसे हों जो न स्वीकारात्मक हों, न नकारात्मक ही। आप पूछिए, "भूख का क्या हाल है", "टट्टी कैसी आ रही है", इस विधि से किए गए प्रश्नों के उत्तर में रोगी ठीक ही उत्तर देगा।

इन सबके साथ ही साथ एक बात का विशेष ध्यान रखिए कि किसी प्रश्न की पुनरावृत्ति न हो। किसी स्त्री से यदि कोई प्रश्न पूछना हा तो सभ्यतापूर्वक साधारण रूप से ही पूछ लेना चाहिए। प्रायः स्त्रियाँ लज्जाशील होती हैं और किसी विषय को सही रूप में विस्तार से बता पाना उनकी सामर्थ्य के बाहर का विषय होता है। अतः स्त्रियों से प्रश्न करते समय ऐसे स्थल न उपस्थित होने दें—जिनका उत्तर देने में उनको सकोच का अनुभव हो। गुप्त रोगों के विषय में प्रश्न करते समय कोई ऐसी बात मुख से न निकालें, जिससे रोगी में हीनता की भावना (Inferiority Complex) उत्पन्न हो।

प्रश्न करने का जितना अभ्यास करेंगे उतनी ही कुशलता आएगी और जितनी चातुरी से प्रश्न पूछेंगे, उतना ही सही उत्तर प्राप्त कर सकेंगे।

उपसंहार—इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचे कि चरक-सुश्रुत एवं एक-दो आधुनिकतम उपायों के अतिरिक्त जिनका वर्णन हम अभी करेंगे, जितने आधुनिक उपाय हम पीछे बता आए हैं, उनमें यदि समन्वय करें तो चरकोक्त प्रत्यक्ष में सुश्रुतोक्त रसतः एवं प्रश्नेन परीक्षा को छोड़कर अन्य चार परीक्षाएँ तथा आधुनिक में दर्शन-स्पर्शन-ठेपन एवं श्रवण का समावेश कर सकते हैं—यद्यपि गन्धतः परीक्षा-विषयक ज्ञान आधुनिक चिकित्सक के पास नहीं है। अनुमान में सुश्रुतोक्त रसतः परीक्षा एवं प्रश्नेन परीक्षा तथा आधुनिक समय मे भी रासायनिक परीक्षा एवं प्रश्न आ जाते हैं। इन सबको हम निम्न समन्वयात्मक तालिका द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं—

समन्वयात्मक तालिका

सुश्रुतोक्त	चरकोक्त			वाग्भट्टोक्त	आधुनिक मतानुसार
	आप्तोपदेश	प्रत्यक्ष	अनुमान		
शब्दतः परीक्षा	√	√	×	०	श्रवण (Ausculta-tion)
स्पर्शतः परीक्षाः	√	√	×	स्पर्शन	स्पर्शन (Palpa-tion)
रूपतः परीक्षा	√	√	×	दर्शन	दर्शन (Inspec-tion)
रसतः परीक्षा	√	×	√	०	रासायनिक परीक्षा (Labora-tory Exa-mination)
गन्ध परीक्षा	√	√	×	०	०
प्रश्न परीक्षा	√	×	√.	प्रश्नेः	प्रश्न

टि० √ चिह्न स्वीकारात्मक (Yes) है।

× चिह्न नकारात्मक (No) है।

० चिह्न इस बात का बोधक है कि इस विषय में वहाँ कोई विचार नहीं है।

रक्तभारमापक यन्त्र—जिन साधनों का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं उनके अतिरिक्त अन्य साधनों द्वारा भी आधुनिक चिकित्सक रोगी की परीक्षा करते हैं। उनमें से यह यन्त्र प्रमुख है। संचरित रक्त का रक्तवाहिनियों की दीवारों पर दबाव पड़ता है। उन रक्तवाहिनियों पर जितनी अँगुलियों के दबाव से रक्तसंचार बन्द हो जाए, उतना ही अधिक रक्तभार होता है। अतः रक्तभार धमनी को अंगुली के द्वारा दबाकर ही अनुभव किया जा सकता है तो भी वह

ठीक उत्तर नहीं दे पाता। तदर्थ ही इस यन्त्र की सहायता से निदान किया जाता है।

रक्तभार दो बातों पर निर्भर करता है—

१. हृदय कितने वेग से रक्त को ढकलता है ?

२. धमनियों में कितनी कठिनता है ?

ये दोनों बातें जितनी अधिक होती हैं—रक्तभार भी उतना ही अधिक होता है। रक्तभार का अधिक होना आयु पर भी निर्भर करता है—जैसे-जैसे आयु बढ़ती जाती है—वैसे-वैसे रक्तभार भी बढ़ता जाता है। निम्न रोगावस्थाओं में भी रक्तभार बढ़ जाता है; यथा—जीर्ण रक्तरोग, धमनी काठिन्य, सतत व्यायाम का न करना, मधुमेह, वातरक्त, क्रोध, रोष, हर्ष एवं मानसिक उद्वेगों में। प्रायः यह देखा गया है कि बुद्धिजीवी व्यक्तियों में जो अत्यधिक चिन्तन का कार्य करते हैं—रक्तभार बढ़ा रहता है। आधुनिक समय में इस रोग से मृत्यु-संख्या अत्यधिक बढ़ गई है। रक्तभार की अधिकता से मस्तिष्कीय धमनी फट जाती है जिससे अर्धाङ्गवात हो जाता है या मृत्यु तक हो जाती है।

कुछ ऐसी अवस्थाएँ हैं, जिनमें रक्तभार न्यून होता है। वे हैं—हृदयरोग, एडिसन रोग, क्षयज व्याधियाँ, शोष राग, अतिसार, आन्त्रिक ज्वर एवं सन्ततज्वर आदि अवस्थाएँ तथा अत्यधिक श्रम एव उपवास की अवस्थाएँ।

रक्तभार की न्यूनता एवं अधिकता बताने के पश्चात् मैं आवश्यक समझता हूँ कि इसी स्थल पर नीरोग अवस्था के रक्तभार से अवगत करा दूँ। ज्ञात रहे कि रक्तभार दा प्रकार का होता है—

१. आकुञ्चन रक्तभार (Systolic Blood Pressure)

२. प्रसारीय रक्तभार (Diastolic Blood Pressure)

इनको किस प्रकार जाना जाए—यह ता हम आगे बताएंगे, यहाँ तो स्वस्थावस्था में यह कितना रहता है, बताना आवश्यक है। सामान्यतः वयस्क व्यक्तियों में आकुञ्चन रक्तभार १०० से १४० मिमी० के मध्य में रहता है और प्रसार रक्तभार ६० से ९० मिमी० तक रहता है। आकुञ्चन एवं प्रसार रक्तभार का अन्तर ३० से ६० मिमी० के बीच में होना नीरोगता का सूचक है। आयु के अनुसार इसमें जो परिवर्तन आता है, वह आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

वय के अनुसार रक्तभार ज्ञापक तालिका

आयु सीमा			आकुञ्चन रक्तभार	प्रसार रक्तभार	अन्तर
१०	से	१४ वर्ष तक	११०	७२	३८
१५	से	१९ ,, ,,	११८	७८	४०
२०	से	२४ ,, ,,	१२०	८०	४०
२५	से	२९ ,, ,,	१२२	८१	४१
३०	से	३४ ,, ,,	१२३	८२	४१
३५	से	३९ ,, ,,	१२४	८३	४१
४०	से	४४ ,, ,,	१२६	८४	४२
४५	से	४९ ,, ,,	१२८	८५	४३
५०	से	५४ ,, ,,	१३०	८६	४४
५५	से	५९ ,, ,,	१३२	८७	४५
६०	से	ऊपर ,, ,,	१३६	९०	४६

यदि आकुञ्चन रक्तभार १६० से अधिक हो तथा प्रसार रक्तभार से ऊपर जाए तो लक्षण घातक समझने चाहिए।

वैज्ञानिकों की आधुनिकतम विज्ञप्ति के अनुसार रक्तभार प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग होता है। स्वस्थावस्था एवं बाल्यावस्था में प्रत्येक का रक्तभार माप कर रखना चाहिए और उनके अनुसार ही वय के अनुसार उसके रक्तभार की परीक्षा करनी चाहिए। किसी-किसी व्यक्ति को रक्तभार ४० वर्ष की आयु में १०५ होता है और (प्रसार) १०० होता है, परन्तु यह किसी प्रकार की विकृति का बोधक नहीं होता है। अस्तु, अभी इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में और अनुसन्धान चल रहा है—देखिए क्या निश्चित होता है।

हमने यहाँ तक रक्तभार के विषय में उन सब ज्ञातव्यों का दिग्दर्शन करा दिया है जिनके जाने बिना रोगी की परीक्षा का रोग निदान कर पाना सम्भव नहीं। इनके जान लेने के बाद यन्त्र प्रयोग विधि का ज्ञान करना—जिससे कि रक्तभार मापा जाता है।

यदि रक्तभार मापक यन्त्र की रचना देखें तो हमें मुख्यतः तीन उपादान पाते हैं—

१. भुजवर्ती पट्ट, २. भारदर्शक भार, ३. वायु प्रवेशक भाग।

ये तीनों उपादान नलिकाओं द्वारा आपस में सम्बन्धित होते हैं । भुजवर्ती पट्ट को रोगी के हाथ पर बांधा जाता है । यह कोहनी से ऊपर के भाग पर लपेटना चाहिए । वायु-प्रवेशक को दबाया जाता है जिससे नलिका द्वारा वायु प्रवेश कर पट्ट को फुलाती है और हाथ का वह भाग दबता चला जाता है और रक्तवाहिनी पर दबाव डालता है, जिनका ज्ञान भारदर्शक भाग पर लगे अंकों को देखकर किया जा सकता है ।

रक्तभार मापक यन्त्र को प्रयोग करते समय दो विधियों से रक्तभार की परीक्षा की जाती है—

१. नाड़ी स्पर्श करते हुए, २. धमनी शब्द श्रवण करते हुए ।

हम क्रमशः दोनों का विधान बताते हैं—

यदि नाड़ी स्पर्श करते हुए रक्तभार का ज्ञान करना हो तो रोगी को बिठा दें अथवा लिटा दें । अब उसके हाथ पर भुजवर्ती भाग को लपेट दें और भार-दर्शक भाग को रोगी की भुजा के समतल मेज पर रख दें । अब चिकित्सक अपना हाथ रोगी की उसी हाथ की नाड़ी पर रखे और नाड़ी का अनुभव करे—दूसरे हाथ से वायुप्रवेश भाग को दबाये । एक अवस्था ऐसी आएगी कि वह भुजवर्ती पट्ट हाथ को इतना दवा देगा कि रक्तसंचारविरोध हो जाएगा और उस अवस्था में नाड़ी का स्पर्श भी जाता रहेगा, जिस समय नाड़ी की गति बंद हो जाए ठीक उस समय और वायुप्रवेश न करे और वायुप्रवेशक भाग में लगे पेंच को ढीला कर वायु निकालें और नाड़ी देखते रहें, जिस समय थोड़ी-थोड़ी वायु निकलती जायगी—तो एक समय ऐसा आयेगा कि नाड़ी चल पड़ेगी, ठीक उसी समय भारदर्शक पढ़ लें, जिस अंक पर भी पारद हो वही आकुंचन रक्त-भार होगा । इस विधि के द्वारा प्रसार रक्तभार की परीक्षा नहीं की जा सकती ।

शब्द श्रवण विधि द्वारा जो परीक्षा की जाती है उसका आरम्भिक विधान भी उसी प्रकार है । इसमें चिकित्सक को नाड़ी स्पर्श नहीं करना पड़ता, अपितु कोहनी पर शब्द श्रवण यन्त्र (Stethescope) रखकर प्रगण्डीय धमनी को सुना जाता है । आरम्भ मे रोगी की धमनी का शब्द सुनाई देता है, अब इसी प्रकार वायु भरी जाती है जिसके दबाव से एक समय ऐसा आ जाता है कि शब्द सुनना बन्द हो जाता है, अब ठीक पूर्ववत् पेच ढीला कर थोड़ा-थोड़ा वायु निकालते हैं, जब तक कि पुनः शब्द श्रुति न हो । जिस समय पुनः शब्द श्रुति हो ठीक उसी समय भारदर्शक पर अंक देख लेना चाहिए—यही आकुंचन रक्तभार होगा ।

इसके बाद अल्पाल्प वायु निकालते जाएँ, इससे शब्द में अन्तर पड़ जाएग और शब्द तीव्र सुनाई देगा और भी कई प्रकार का अन्तर सुना जा सकेगा इन सब पर ध्यान न देते हुए जब शब्द मृदु या धीमा सुनाई दे तो पुनः भार दर्शक यन्त्र से अंक देख लें—यह प्रसार रक्तभार होगा ।

दोनों बातों का विशेष ध्यान रखते हुए, कि—भारदर्शक को तीक्ष्ण दृष्टि उसी समय देख लेना और वायु को कम-कम निकालना, क्योंकि बहुत अल वायु निकालने से ही भारदर्शक पर कई अंकों का अन्तर पड़ जाता है; य अभ्यास किया जाए तो उससे सही उत्तर प्राप्त किए जा सकते हैं । नवो अभ्यासियों के लिए अनेक बार इसका प्रयोग कर अपने को निपुण बना ले आवश्यक है । वास्तव में बिना अभ्यास के इसका प्रयोग करना सरल नहीं ।

वैद्युतिक हृदलेख यन्त्र (Electrocardiograph)—इस यन्त्र का प्रयो कर हृद् का चित्रांकन करना वैद्युतिक हृद् लेखन (Electrocardiograph कहलाता है । इसका प्रयोग किस प्रकार किया जाता है और चित्रण होने पश्चात् उसका अध्ययन किस प्रकार करके रोग का निदान किस प्रकार कि जाता है—यह सब विशेषज्ञों के काम की बात है—साधारण चिकित्सक इस विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं; तो भी इतना ज्ञ एक साधारण चिकित्सक के लिए आवश्यक है कि किन-किन रोगावस्थाओं इसके द्वारा निदान हो सकता है तथा उन-उन अवस्थाओं में दिए गए चित्र जो-जो शब्द अंकित हों उनका क्या-क्या अर्थ होता है—यह समझ सके । तो उन चित्रों को देखकर विशेषज्ञ ही यह बता सकते हैं कि क्या रोग है- अतः निदान तो पूर्ण रूप से विशेषज्ञ के विवरण पत्र (रिपोर्ट) पर निर्भर करे

हम नीचे उन अवस्थाओं का वर्णन करते हैं, जिन में वैद्युतिक हृद् ले के द्वारा रोग निदान हो सकना सम्भव होता है ।

१. हार्दिक अतिवृद्धि (Hypertrophy of the Heart)
२. हृद् कपाटिकाओं के जीर्ण रोग (Chronic Valvular Diseases)
३. जन्मजात हृद्रोग (Congenital Heart Diseases)
४ हृद्शूल (Angina Pectoris)
५. हृद्धमनी अवरोध (Coronary Occlusion)
६. हार्दिक अन्तःस्थान (Infraction of the Heart)
७ वात बलासक ज्वर (बेरी-बेरी : Beri-Beri)

८. हृदअनियमितता (Senus Arrythmia)
९. अकालिक हृद् संकोच (Premature Systolis)
(क) अलिन्दीय (Auricular)
(ख) निलयिक (Ventricular)
(ग) पर्वभीय (Nodal)
१०. हृदरोध (Heart Block)
११. पर्वभीय ताल (Nodal Rythm)
१२. अलिन्दीय स्फुरण (Auriculal Fibrillation)
१३ प्रलिन्द तन्तुकम्प (Aurticular Flutter)
१४. निलयिक स्फुरण (Ventricular Fibrillation)
१५. प्रावेगिक त्वरित हृद्वेग (Paroxymal Techycardia)
१६. पर्यापक नाड़ी (Pulsus Alternans)
१७ हृद्धमनी में घनास्रता (Coronary Thrombosis)

स्मरण रहे, जब कभी भी हृदय के अलिन्द तथा निलय की गतियों से सम्वन्धित ज्ञान प्राप्त करना हो अथवा उपर्युक्त हृद्विकारों की सम्भावना हो तो रोगी को वैद्युतिक हृदलेखन कराने का परामर्श दीजिए तथा विशेषज्ञ द्वारा बताए गए परिणाम पर निर्भर करते हुए रोग का निदान कीजिए।

इन विषयों को बताने के पश्चात् मैं समझता हूं कि साधारण चिकित्सकों के लिए उन वर्णों का बोध और करा दूं जो कि वैद्युतिक हृदलेख में ऊर्ध्वगामी एवं अधोगामी वक्रनाएँ परिलक्षित हैं वे पी, क्यू, आर, एस तथा टी से सम्बोधित की जाती हैं। इनमें पी, आर और टी ऊर्ध्वगामी और क्यू एवं एस अधोगामी होती हैं। उन वर्णों को लिखकर ही हार्दिक लेख का अध्ययन किया जाता है—जिसका विस्तार से वर्णन करना हमें अपेक्षित नहीं।

नाड़ी चित्रक यन्त्र (Sphygmograph-Polygraph)—यद्यपि नाड़ी का ज्ञान स्पर्शत: परीक्षा द्वारा ही किया जाता है तो भी आधुनिक समय में जिस प्रकार निदान की परम्परा चली है, उसके लिए नाड़ो का चित्र अंकित कर उसके द्वारा रोग का निदान करना है। एक साधारण चिकित्सक प्रायः इस प्रकार के यन्त्रों का प्रयोग नहीं करता तो भी उसे इस विषय का बोध रहे, तदर्थ ही उक्त विषय मे संक्षिप्त परिचयात्मक वर्णन आवश्यक है।

इन दो यन्त्रों में प्रथम गति चित्रक यन्त्र (Sphygmograph) कहलाता है और दूसरा धमनी-शिरा गति चित्रक यन्त्र (Polygraph) कहलाता है।

अतः द्वितीय का प्रयोग कर धमनी एवं शिरा दोनों की गतियों को देखकर उनमें तुलना कर सकना सम्भव होता है । इन यन्त्रों के प्रयोग से कागज पर चित्र बन जाता है, जिसके द्वारा निदान किया जाता है ।

इन यन्त्रों का प्रयोग विधान एवं चित्र का अध्ययन विशेषज्ञों के लिए ही है अतः हम यहाँ उसका विस्तार नहीं करेंगे ।

प्रश्न—अरिष्ट किसे कहते हैं ? मरणासन्न रोगी के प्रधान अरिष्ट लक्षण लिखें । स्वप्नवत अरिष्ट से भी रोगी की साध्यासाध्यता का ज्ञान होता है—कैसे होता है ? (हि० विश्वविद्यालय १९६७)

उत्तर : अरिष्ट—आयुर्वेद में मृत्युज्ञापक पूर्वरूपों को अरिष्ट कहा गया है । चरक संहिता इन्द्रियस्थान अध्याय २ में स्पष्ट किया गया है कि जैसे भविष्यत फल का ज्ञापक लक्षण फूल होता है वैसे ही मरने वाले पुरुष का ज्ञापक पूर्वरूप अरिष्ट कहलाता है । सुश्रुत संहिता में भी इसी प्रकार से इस विषय का निरूपण किया गया है । वहाँ कहा गया है कि पुष्प जैसे फल को, धूम्र अग्नि को तथा बूँदें वर्षा को बताने वाली हैं, वैसे ही अरिष्ट लक्षण मृत्यु के होने की सूचना देते हैं ।

चरक संहिता इन्द्रियस्थान में तथा सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान में इस विषय में कुछ अध्यायों का वर्णन किया गया है ।

मरणासन्न रोगी के प्रधान लक्षण बताते हुए चरक संहिता इन्द्रियस्थान अध्याय १० में निम्न प्रकार वर्णन वर्णन किया है—

"हे अग्निवेश ! अब मैं सद्यः मुमूर्षु पुरुषो के लक्षण पृथक्-पृथक् कहूँगा, जिनमें युक्त हुआ वह जीवित नहीं रहता ।

सद्यः से कई तीन दिन का और कई सात दिन तक का अर्थ ग्रहण करते हैं ।

हृदय में हुई २ दारुण अत्यन्त बड़ी वाष्ठीला तृष्णा से पीड़ित पुरुष के जीवन को सद्यः चुरा लेती है, जिस पुरुष को हृदय में अत्यन्त प्रवृद्ध वातज अष्ठीला हो और रोगी को प्यास बहुत लगती हो तो वह तीन दिन के अन्दर-अन्दर मर जाता है ।

वायु शरीर में विचरती हुई पिण्डलियों को शिथिल करके और नाक को वक्र करके जीवन को सद्यः चुरा लेती है । अर्थात् जब वायु के कारण पिण्डलियाँ शिथिल हो गई हों और नाक टेढ़ी हो गई हो तो तीन दिन या सात दिन के अन्दर रोगी मर जायेगा ।

जिसकी भौंहें अपने स्थान से च्युत हो गई हों और दारूण अन्तर्दाह (शरीर के अन्दर जलन) हो तो हिक्का को उत्पन्न करने वाला रोग उसके जीवन को सद्यः चुरा लेता है। तात्पर्य यह है कि जिस रोग में भौंहें स्थान-च्युत हों, दारूण अन्तर्दाह हो, हिक्का उत्पन्न हो गई हो तो सद्यः मृत्यु हो जाती है।

जिसका रक्त और मांस क्षीण हो गया हो, उससे शरीर में ऊर्ध्वगति (ऊपर की ओर ले जाने वाला) वायु संचार करती हुई दोनों मन्याओं को एक साथ ही खींच कर सद्यः मृत्यु का कारण होती है।

गुदा और नाभि के बीच में वायु सहसा जाती हुई दोनों वङ्क्षण देशों को पकड़कर अर्थात् वहां तोदादि वेदना उत्पन्न कर कृश पुरुष के जीवन को सद्यः चुरा लेता है।

गीले वस्त्र से आच्छादित होने की तरह अपने को अनुभव करने वाले व स्तब्ध तथा आयताक्ष (स्फारित नेत्र) जो नेत्र फाड़-फाड़ कर देखता है। पुरुष के पर्शुकास्थियों को विस्तृत करके और छाती व फुफ्फुसों में व्यथा उत्पन्न कर वायु सद्यः जीवन को चुरा लेती है—मार डालती है। भावार्थ यह है कि जब वायु के कारण ऐसा प्रतीत होता हो कि कोई पर्शुकास्थियों के सिरों को खींच कर पृथक्-पृथक् कर रहा है और छाती जकड़ी गई हो, रोगी स्तब्ध हो, आखें फाड़-फाड़ कर देखता हो तो उसकी सद्यः मृत्यु होने वाली है—यह जानना चाहिए।

बलवान वायु हृदय और गुदा दोनों को पकड़कर अर्थात् दोनों में व्यथा उत्पन्न करके विशेषतः दुर्बल मनुष्य की सद्यः-मृत्यु का कारण होती है।

बली वायु वङ्क्षण और गुदा दोनों में व्यथा उत्पन्न कर श्वास को पैदा करती हुई सद्यः घातक होती है।

नाभिमूत्र वस्ति शीर्ष (वस्ति का ऊर्ध्वभाग) तथा पुरीष का निबन्ध करती हुई वायु शूल को उत्पन्न कर सद्यःमारक होता है, नाभि से अभिप्राय अन्तःस्थ आँतों से है।

जिस पुरुष में वातशूलों से सब ओर स वङ्क्षणों में विदारणवत् पीड़ा होती है और पुरीष पतला होकर आता है; वह सद्यः प्राणों का त्याग करती है।

जिस पुरुष की सम्पूर्ण देह वायु से व्याप्त होती है; साथ ही, पुरीषभेद

(मल का पतला आना) ...र तृष्णा होती है, वह सद्यः प्राणों को त्याग देता है।

जिस मनुष्य का शरीर वांत शोथ के कारण सूजा व फूला होता है और पुरीष भेद एवं तृष्णा होगी है, वह सद्यः प्राण त्याग करता है।

जिस आमाशय में परिकर्त्तिका (कर्त्तनवत् पीड़ा) हो, साथ ही तृष्णा और उदग्रह (गुदा में वातज व्यथा) हो तो वह सद्यः मर जाता है। शार्ङ्गधर आमाशय की जगह शक्वाशय पढ़ता हैं। योगीन्द्रनाथ ने तो श्लोक ही दो कर दिये हैं, वह एक आमाशय और दूसरे में पक्वाशय पढ़ता है।

वायु पक्वाशय का आश्रय करके संज्ञानाश कर कण्ठ में घुर्घुरक उत्पन्न कर सद्यः जीवन ही हर लेती है। कण्ठ में होने वाले घुर-घुर शब्द को घुघुर्रक कहा है। यहाँ पर भी अष्टांग-संग्रह को प्रामाणिक रूप से स्वीकार करते हुए योगीन्द्रनाथ ने दो श्लोक पढ़े हैं। एक तो यही जैसा मूल में पढ़ा गया है, और दूसरे में पक्वाशय की जगह आमाशय पढ़ा है, शेष भाग वैसे का वैसे ही रक्खा गया है।

सद्यः मरने वाले पुरुष के दांत ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे कीचड़ लिपा हुआ हो, मुख पर चूने की तरह श्वेत चूर्ण-सा लगा होता है, तथा झड़ता है और अङ्गों से अत्यन्त शीतल पसीना टपकता है, यह सब लक्षण भावी सद्यः मृत्यु के चिह्न हैं।

तृष्णा-श्वास, शिरो, रोग मोह (मूर्च्छा), दुर्बलता-कूजन (गले से अव्यक्त शब्द करना) तथा शकृद्भेद (पुरीषभेद-मल का पतला होकर आना) इनसे युक्त हुआ रोगी शीघ्र प्राणों को त्याग देता है।

जो इन लक्षणों को सम्यक् प्रकार से समझता है, वह मनुष्यों के जीवन और मरण को जान जाता है।

स्वप्न के विषय में चरक संहिता में इस प्रकार वर्णन किया है। वहाँ पर कहा गया है कि यदि रोगी ऐसा स्वप्न देखे तो उसकी मृत्यु निश्चित है। यदि नीरोग ऐसा स्वप्न देखे तो उसे महाकष्ट होगा। ऐसे स्वप्न निम्न प्रकार वर्णित किए हैं—

स्वप्न में जिसके सिर पर बाँस-गुल्म तथा लता आदि उत्पन्न हो जाते हैं और पक्षी उसमें अपने घोंसले बना कर रहने लगते हैं, जिसका स्वप्न में सिर मुण्डित हो जाता है। जो स्वप्न में गिद्ध, उल्लू, कुत्ता, कौ... ...दि से घिर जाता

है एवं जो राक्षस प्रेत, पिशाच, स्त्री, चाण्डाल, द्रवित व अंधे पुरुषों से घेरा जाता है जो बाँस-बेत, लता-जाल अथवा तृण और कण्टकों के समूह में चलता हुआ मोह को प्राप्त करता है—फँस जाता है—निकलने की युक्ति नहीं सूझती और गिर भी जाता है अथवा जो स्वप्न में बार-बार चलता-चलता गिर जाता है अथवा श्मशान, चैत्यस्थान अथवा गड्ढों में प्रविष्ट होता है। स्वप्न में जो मलित जल में, कीचड़ में अथवा अंधेरे कुएँ में डूब जाता है और जो वेग से बहने वाले स्रोत से बहाया जाकर दूसरी जगह ले जाया जाता है। स्वप्न में स्नेहपान—स्नेह की मालिश, बन्दी होना, युद्ध में पराजित होना, सुवर्ण व धन की प्राप्ति, विवाद होना, कै होना, विरेचन होना, स्वप्न में जूती के जोड़े का नष्ट होना, गुम होना या चुराया होना, धूल और चमड़े का गिरना। स्वप्न से हर्ष होना, क्रुद्ध पितरों से धमकाया जाना अथवा स्वप्न में दाँत, चाँद, सूर्य, नक्षत्र, देवता, दीपक व आँखों का गिरना व नष्ट होना, वृक्ष का तथा पर्वत का फट जाना। स्वप्न में लाल फल वाले वन में, भूमि में, पापकर्म के स्थान वेश्यागृह आदि में, चिता में, गुहा के अन्धकार के सदृश बाधाजनक, दुर्गम स्थानों में प्रविष्ट होना, स्वप्न में लाल माला को धारण करना, अट्टहास करना, नग्न ही दक्षिण दिशा को अथवा वानर को साथ लेकर जाना तथा दारुण घने वन की ओर जाना, अशुभ स्वप्न हैं। इन स्वप्नों के देखने से मृत्यु या महाकष्ट भोगना पड़ता है।

स्वप्न में कषाय वस्त्र धारण किए पुरुषों का, जो सौम्यमूर्ति न हों उनका, नग्न, दण्डधारी, कृष्णवर्ण के लाल आँखों वाले पुरुषों का दर्शन अभीष्ट नहीं। इनका दर्शन अशुभ का कारण है।

स्वप्न में काली, पापिन, दुराचारिणी, लम्बे केश, नख और स्तनों वाली, लाल रंग की माला और लाल रंग के ही वस्त्र को धारण की हुई स्त्री को काल-रात्रि समझना चाहिए।

इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट स्वप्न विशिष्ट रोगों की असाध्यता का बताने वाले होते हैं।

जो स्वप्न में कुत्ते, ऊँटों व गधों पर सवारी करके दक्षिण दिशा की ओर जाता है, वह यक्ष्मा रोग से आक्रान्त होकर मर जाता है।

जो स्वप्न में प्रेतों के साथ शराब पीता है यथा कुत्तों से खींचा व घसीटा जाता है वह, अतिघोरज्वर से आक्रान्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

जो व्यक्ति स्वप्न में लाल माला को धारण किए हुए, लाल ही सब अङ्गों वाला, लाल वस्त्र किए हुए, बार-बार हँसता हुआ स्त्री से ले जाया जाता है, वह रक्त पित्त से आक्रान्त होकर कष्ट पाता है।

स्वप्न में जिस पुरुष के हृदय प्रदेश में काँटों वाली लता उत्पन्न होती है, उसे घोर गुल्म होकर मृत्यु घेरती है।

स्वप्न में जो पुरुष नग्न होकर और अंगों पर घी को चुपड़े हुए ज्वाला-रहित व अप्रज्ज्वलित अग्नि में आहुतियाँ देता और स्वप्न में ही छाती पर पद्म उत्पन्न हो जाते हैं, वह कुष्ठ से मृत्यु को प्राप्त होता है।

जो स्वप्न मे राक्षसों के साथ युद्ध करता हुआ जल में डूब जाता है, वह हठात उन्माद को प्राप्त होकर मर जाता है।

सपने में मत्त होकर नाचते हुए जिस मनुष्य का सिर नीचे की ओर करके प्रेत ले जाता है, उस मनुष्य की अपस्मार मृत्यु होती है।

जो पुरुष स्वप्न में शष्कुली वा अपूपों को खाता है वह जागने पर यदि वैसी ही वमन करता है तो वह व्यक्ति जीवित नहीं रहता।

चरक सहिता में स्पष्ट किया है कि ऐसे अशुभ स्वप्न अति बलवान त्रिदोष मे मनोवह स्रोतों के पूर्ण होने के कारण मनुष्य दारुण स्वप्न को देखता है।

यह भी स्पष्ट किया है कि जो स्वप्न रात्रि के प्रथम भाग में देखा जाता है—उसका फल अल्प ही होता है। एक बार स्वप्न देखने पर यदि नींद न आये तो उसका शीघ्र ही महान् फल होता है।

बुरे स्वप्न को भी देखकर जो पुन: उसी रात सोम्य और शुभ को देखता है, उसका फल शुभ ही होता है।

प्रश्न—छाया व प्रभा किसे कहते हैं? अरुन्धती न देखने वाला कितने दिन जीवित रहता है? अरुन्धती क्या है? कैसे दूत को देखकर आप रोगी की असाध्यावस्था समझते हैं? मार्ग के कौन लक्षण अशुभ सूचक हैं?

(हि० वि० १९६५)

उत्तर : छाया प्रभा—चरक संहिता इन्द्रियस्थान अध्याय सात में छाया व प्रभा का वर्णन किया है। वहाँ पर इनका विकृत होना मृत्यु सूचक लक्षण कहा है। वहाँ पर इनका लक्षण बताते हुए लिखा है—"देह के प्रमाण और आकृति

के अनुसार जलदर्पण, धूप आदि में छाया पड़ती है—वह प्रतिच्छाया या प्रतिबिम्ब कहलाता है। छाया वर्ण और प्रभा पर आश्रित है।"

इस प्रकरण में छाया की पांच जातियां बताई गई हैं—

(१) नाभसी छाया, (२) वायसो छाया, (३) आग्नेयी छाया, (४) जलीय छाया, (५) पार्थिवी छाया।

इन सबके लक्षण अलग-अलग बताए हैं—

(१) **नाभसी छाया**—यह छाया निर्मल, नील वर्ण की, स्निग्ध एवं प्रभायुक्त होती है। इसका अर्थ है आकाशीय छाया।

(२) **वायवी छाया**—रूक्ष, श्याम, अरुण वर्ण की एवं प्रभा रहित होती है।

(३) **आग्नेयी छाया**—विशुद्ध रक्त वर्ण की चमकदार आभा वाली और देखने में प्रिय होती है।

(४) **जलीय छाया**—शुद्ध वैडूर्य मणि के समान विमल तथा अत्यन्त स्निग्ध होती है।

(५) **पार्थिवी छाया**—स्निग्ध, स्थिर, घनी, श्लक्ष्ण, श्याम वर्ण की और श्वेत होती है।

इन पांच प्रकार की छाया का वर्णन करने पर बताया है कि इनमें से वायवीय छाया निन्दित है—शेष चार छायाएँ शुभ फल देने वाली हैं। वायवी छाया मृत्यु अथवा महाक्लेश का कारण होती है।

प्रभा का वर्णन करते हुए चरक संहिता में छाया के प्रकरण में ही लिखा है कि—सभी प्रभा तैजसी होती हैं, अर्थात् तेज द्वारा उत्पन्न होती हैं यह प्रभा सात प्रकार की होती है—

(१) रक्ता (लाल), (२) पीता (पीली), (३) सिता (श्वेत), (४) श्यावा (श्याम), (५) हरिता (हरी), (६) पाण्डुरा (ईषत पीत), (७) असिता (काली)।

प्रभा के शुभ-अशुभ के लक्षण बताते हुए लिखा है कि उन सात प्रकार की प्रभाओं में से जो खिली हुई स्निग्ध और निर्मल हों वह शुभ होती है; जो रूक्ष हों, मलिन हों और सक्षिप्त हों वे अशुभ फल देने वाली होती हैं।

छाया और प्रभा मे अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "छाया वर्ण पर छा जाती है और प्रभा वर्ण को प्रकाशित करती है छाया पास से दिखाई

देती है या जानी जाती है और प्रभा दूर से भी प्रकाशित होती है। यही दोनों में भेद है। दूसरे छाया पांचभौतिक है, जबकि प्रभा केवल तैजसी है—यह भी एक भेद है।

ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी पुरुष छाया और प्रभा से रहित नहीं है किन्तु समय पर छाया और प्रभा के आश्रित भेद ही शुभ एवं अशुभ की उत्पत्ति के ज्ञापक होते हैं।

यद्यपि परीक्षा मे छाया एवं प्रभा के सम्बन्ध में पूछी गई बात पूरी हो गई तो भी प्रसंगवश हम छाया के अरिष्ट सूचक लक्षण लिख रहे हैं—परीक्षार्थी स्मरण रखे कि कभी परीक्षा में ये लक्षण पूछे जा सकते हैं।

चरक सहिता के इसी अध्याय में स्पष्ट किया गया है कि किसी रोगी की कुमारिका (आँख की पुतली) यदि नष्ट हो गई हो या कहिए आँख की पुतली न दिखाई दे तो उस रोगी को मुमूर्षु (शीघ्र मर जाने वाला) जान कर छोड़ देना चाहिए।

जिस पुरुष की छाया चाँदनी धूप, दीपक के प्रकाश, जल अथवा दर्पण में विकृत अंग वाली दिखाई दे तो उसे मरे हुए के सदृश ही जानना चाहिए।

ऊपर कहे गये चांदना आदि में यदि शरीर की छाया या प्रतिबिम्ब छिन्न (दो टुकड़ों में विभक्त), भिन्न (विदीर्ण), आकुल (जिससे अन्य प्रतिबिम्ब मिले दिखाई दें), हीन (किसी अंग से हीन), अधिक (किसी अंग का अधिक होना) दिखाई दे अथवा छाया या प्रतिबिम्ब ही न दिखाई दे अथवा अत्यन्त सूक्ष्म हो, दो स्थानों से विभक्त हो, सिर ही न हो और यदि हो तो विकृत हो—आकृति व रूप के अनुसार न हो—ये और इसी प्रकार के व अन्य जो कोई भी प्रतिबिम्ब हों वे सब निन्दित और अशुभ हैं। इन सबको मुमूर्षु पुरुषों के प्रतिबिम्ब जानना चाहिए, यदि यह लक्ष्य के निमित्त से उत्पन्न न हों। अर्थात् अकारण उत्पन्न होने वाले विकृत प्रतिबिम्ब पुरुष की मुमूर्षता के ज्ञापक हैं। यदि दर्पण आदि में कोई दोष हो और उससे प्रतिबिम्ब विकृत दिखाई दे तो वह मृत्यु को जाने वाले का लक्षण नहीं है।

यदि आकृति शरीर का परिमाण, वर्ण, प्रभा आदि में जिस पुरुष की छाया में परिवर्तन व विपरीतता हो, उस स्वस्थ्य पुरुष को भी मरा हुआ ही जानना चाहिए, क्योंकि वह शीघ्र ही मर जाएगा।

इस प्रकार छाया एवं प्रभा का लक्षण तथा छाया के अरिष्ट लक्षण हमने ऊपर लिख दिए हैं।

अरूंधती—अरूंधती के न देखने वाले को गतायु कहकर सम्बोधित किया है। अरूंधती एक नक्षत्र है जो सप्तर्षियों के तारों के साथ रहता है। इस विषय में सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान अध्याय ३० में कहा गया है कि—"जो सप्तर्षियों के तारों से युक्त अरूंधती नक्षत्र न देखता हो तथा ध्रुव एवं आकाश गंगा को भी नहीं देखता हो उसको निश्चित ही गतायु समझें।"[१] इसी प्रकार का वर्णन चरक में भी आया है। वहाँ कहा गया है कि "जो मनुष्य सप्तर्षियों के समीप स्थित अरूंधती नक्षत्र को नहीं देख पाता, वह कठिनाई से एक वर्ष जीवित रहता है।"[२] इस तरह अरूंधती नामक नक्षत्र के देखने और न देखने के विषय में अरिष्टलक्षण वर्णित किए हैं।

दूत—दूत विचार से रोग की असाध्यता का ज्ञान कराने के लिए आयुर्वेद के ग्रन्थों में बहुत सी महत्त्व की बातें लिखी हुई हैं। चरक संहिता इन्द्रियस्थान अध्याय १२ में तथा सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय २९ में इनका विस्तार से वर्णन किया है। पाठकों के हितार्थ हम उनका संकलन कर रहे हैं—

चरक संहिता में लिखा है कि जब वैद्य ने अपने केश खोले हुए हों, नग्न हो व रोता हो अथवा वह वैद्य मल आदि के स्पर्श से अपवित्र हो, ऐसे समय में जब वैद्य को बुलाने के लिए दूत आवे तो वैद्य उस दूत को देखकर रोगी के लिए अहितकर समझे कि वह दूत रोगी के मृत्यु हो जाने की ओर संकेत कर रहा है।

जो दूत वैद्य के सोये हुए अथवा किसी वस्तु को काटते-तोड़ते-फाड़ते तथा चीरते समय आता है तो वैद्य को चाहिए वह उस रोगी को देखने न जाए, क्योंकि वह रोगी साध्य नहीं होगा।

जो दूत वैद्य के होम करते समय अथवा पितरों को पिण्ड देते समय आते हैं, वे दूत रोगी के लिए घातक होते हैं और रोगी मर जाता है।

जब वैद्य किसी अशुभ बात को कह रहा हो अथवा सोच रहा हो, उस समय में कोई दूत आए तो उसे देखकर रोगी की मृत्यु को सोच लेना चाहिए।

जब वैद्य मृत, दग्ध व विनष्ट हुए पुरुष अथवा अन्य वस्तु के विषय में

---

१. "न पश्यति स नक्षत्रां यश्च देवीमरूंधतीम्।
ध्रुवआकाशगङ्गा वा त वदन्ति गतायुषम्॥" (सुश्रुत)

२. 'सप्तर्षीणां समीपस्थां यो न पश्यत्यरून्धतीम्।
सवत्सरान्ते जन्तुः स पश्यतीति महत्तमः॥" (चरक)

कोई कार्य कर रहा हो अथवा अन्य कुछ अशुभ कह रहा हो तब दूत का आना उस रोगी के लिए अशुभ समझना चाहिए।

वैद्य त्रिकार के समान गुण वाले देश अथवा काल में दूत आया देखकर उस रोगी की चिकित्सा न करे।

दीन, भयभीत, दौड़कर आते हुए त्रस्त व मलिन वेश में दूतों को देखकर रोगी को मुमूर्ष जानें। यदि कोई असती (असाध्वी) स्त्री वैद्य को बुलाने आए तो रोगी को मरने वाला जानें। यदि तीन दूत मिलकर आवें अथवा दूत विकृत आकृति वाले हों अथवा नपुंसक हों तो रोगी को मुमूर्ष जानना चाहिए। अंग कटे हुए दूत को देखकर अथवा उग्र कर्म करने वाले दूत को देखकर रोगी को असाध्यावस्था में समझ।

वैद्य के प्रथम दर्शन में ही पलाश, तुष, मांस, अस्थि, केश, लोम, नख, दाँत मार्जनी, मूसल, सूर्य, गिरा हुआ जूते का चमड़ा, तृण, काष्ठ, तुक्ष, अंगार, पत्थर, कंकर को छूते हुए दूत को अशुभ जानना चाहिए।

दूत के रोगी के सदेश को कहते हुए वैद्य यदि अशुभ (अपशकुन) को देखे तो उसे चाहिए कि वह दूत के साथ रोगी को देखने न जाय।

दूत के रोगी की अवस्था कहने से ठीक पूर्व कहने में अथवा कहते समय व्यसनयुक्त, प्रेत, मृत का अलंकार, भिन्न दग्ध व विनष्ट वस्तु को देखे अथवा इनके बताने वाले वचनों का सुने अथवा तीव्र कटु रस का स्वाद ले अथवा शव की गंध के सदृश अत्यधिक दुर्गन्ध को सूंघे अथवा यदि अत्यधिक क्रूर स्पर्श करे अथवा अन्य भी जो कुछ अशुभ होता है, उसका अनुभव करे तो धीर वैद्य उस दूत के वचन सुनकर रोगी की मृत्यु का निश्चय करे।

सुश्रुत संहिता में दूत के विषय में वर्णन करते हुए असाध्यता ज्ञापक लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—यदि नपुंसक, स्त्रीदूत, बहुत से दूत तथा अनेक दूत भिन्न-भिन्न कार्य से आए हों, परस्पर या रोगी में ईर्ष्या रखने वाले या निन्दा करने वाले, गधे या ऊँट के रथ में बैठकर आए हों अथवा एक के बाद एक करके आए हों या एक के पीछे एक करके दूत पंक्ति बनाकर आए हों, वे सब दूत निन्दित होते हैं।

पशुओं को बाँधने की रज्जू, दण्ड, किसी प्रकार का अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए एवं पाण्डु तथा काले, पीले, लाल वस्त्र पहने हुए तथा गीले-फटे पुराने, अपसेव्य, केवल एक वस्त्र, मलिन एवं फटा-पुराना वस्त्र पहने हुए, जिनके अंग या उपांग न्यून अथवा अधिक हों, घबराए हुए, ओष्ठ नासादि

कटे हुए, लँगड़े-लूले, विकृतांग वाले एवं भयानक स्वरूप वाले दूत तथा रूक्ष और निष्ठुर वाक्य बोलने वाले अथवा अमांगलिक शब्दों का उच्चारण करने वाले दूत निन्दित होते है।

तृण अथवा काष्ठ को तोड़ने वाले, अपनी नासिका व स्तनों को छूने वाले एवं वस्त्र का सिरा, अनामिका अंगुली, सिर के बाल, नख, शरीर के बाल तथा दाँतों को छूने वाले, कर्ण आदि छिद्र रूपी स्रोतों का अवरोध करने वाले, स्कंध प्रदेश, हृदय, गण्डस्थल, कपोल, सिर, छाती तथा कुचों के ऊपर हाथ फेरने वाले तथा कपाल-पत्थर-भस्म-अस्थि-भूषा-अंगार इनमें से किसी एक वस्तु को हाथ में लिए हुए तथा नख-लकड़ी आदि से भूमि को खरोंचते हुए, अपने केशों को नोचते हुए या हस्तस्थित वस्तु को गिराते हुए मिट्टी के ढेले को हाथों से फोड़ते हुए, तेल अथवा कीचड़ से अंगों को लिप्त किए हुए, लाल माला पहने हुए तथा लाल चन्दन का तिलक किये तथा पका हुआ फल, साररहित फल अथवा अन्य कोई क्षुद्र वस्तु हाथ में लिए हुए अथवा नाखूनों से नाखून अथवा हस्त से पाद को रगड़ते हुए, हाथ में जूता या चमड़ा लिये हुए गलित कुष्ठ आदि रोगों से पीड़ित, विपरीत आचार वाले, रोते हुए, जोर से साँस लेते हुए, फूले आदि से विकृत नेत्र वाले, दक्षिण दिशा में हाथ जोड़े टेढ़े या एक पैर से खड़े हुए दूत निन्दित होते हैं।

वैद्य के दक्षिण दिशा मे मुख किए होने पर, अपवित्र स्थान में अग्नि को जलाते हुए तथा पकाते हुए पशु-वध आदि क्रूर कर्म में लगे हुए, नग्न या भूमि पर लेट हुए, मल-मूत्र आदि का त्याग करने से अपवित्र हुए, सिर के बालों को फैलाए हुए, शरीर पर तैलादि से अभ्यंग करने पर स्वेदित हुए तथा विह्वल हुए वैद्य के पास आने वाला दूत निन्दित हैं।

वैद्य के देवता के हवन या पितृकार्य में प्रवृत होने पर, उल्कापात, भूकम्पादि उत्पात के समय, मध्याह्न, अर्धरात्रि, प्रभात और सायंकाल की सन्धिबेला में तथा कृत्तिका, आर्द्रा, अश्लेषा, मघा, मूल, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़, पूर्वाभाद्रपद, भरणी इन नक्षत्रों तथा चतुर्थी, नवमी, षष्ठी एवं पूर्णिमा, अमावस्या, प्रतिपदा आदि सन्धि दिनों में जो दूत वैद्य के पास आते हैं, वे भी निन्दित हैं।

इस प्रकार इन बातों को देखकर वैद्य रोगी की असाध्यावस्था का ज्ञान कर सकता है।

रोगी को जब वैद्य देखने के लिए जा रहा है तो मार्ग के कुछ लक्षण अशुभ होते हैं, उनका वर्णन भी शास्त्रों मे विस्तार से किया गया है। हम उसे यहाँ लिख रहे हैं।

चरक संहिता में लिखा है कि रोगी को देखने के लिए चलते समय मार्ग में छींक, उत्क्रुष्ट, फिसलना, गिरना, आक्रोश, सम्प्रहार, प्रतिषेध, विगहर्ण, वस्त्र, पगड़ी, दुपट्टे का अकड़ना, छत्र का फटना या गिरना, जूते के जोड़े का फटना या पैरों से निकल जाना, मृत अथवा छिन्ननासा, छिन्न कर्ण पुरुषों का दर्शन होना, जलपूर्ण घड़े का गिरना. झंडा व पताका का गिरना हत्प्रवाद या अन्य अनिष्ट समाचारों का सुनना, राख, या धूल पड़ने से वस्त्र आदि का मैला हो जाना, बिल्ली-कुत्ता अथवा साँप का मार्ग काट कर जाना, क्रूर-पशु-पक्षियों के शब्द का सुनना, किसी ओर आग आदि लगी हो अथवा दक्षिण दिशा की ओर जाना अथवा दीप्त दिशा की ओर पशु-पक्षियों का शोर मचाना, शयन-आसन या यान का उल्टा हुआ दिखाई देना। बुद्धिमान वैद्य को चाहिए कि इन अशुभ चीजों को मार्ग में मिलने पर रोगी को देखने न जाए।

चिकित्सक यदि रोगी के घर में घुसते ही प्रवेश के समय जल आदि पूर्ण घड़ा, अग्नि, मिट्टी, बीज, फल, घी, वैल, सांड, ब्राह्मण, रत्न, अन्न तथा देवता का निकलना देखता है एवं अग्नि से पूर्ण पात्र को टूटा हुआ देखता है और ज्वाला रहित देखता है तो रोगी को शीघ्र मरने वाला जाने।

सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि शुष्क व बिजली से जले होने से पत्तों से रहित लता चढ़े हुए एवं कांटेदार वृक्ष पर अथवा पत्थर, भस्म, अस्थि, विष्ठा, तुष, कोयला, धूल, चैत्य, वल्मीक और ऊँचे-नीचे स्थान पर बैठे हुए तथा उस उग्र कर्कश शब्द करते हुए तथा तेज धूप से दिशाएँ दीप्त हों, उस समय मार्ग में बोलने वाले पक्षियों का वैद्य को मिलना अशुभ है।

मार्ग में खरगोश और सर्प का किसी भी ओर निकलना श्रेष्ठ नहीं होता। भास पक्षी तथा उल्लू का किसी भी ओर निकलना अशुभ है। गोधा और गिरगिट का रोगी के घर जाते समय दिखाई देना अशुभ है।

इसी प्रकार निन्दित दूतों के समान अन्य अनिष्ट मनुष्यों के दर्शन बुरे हैं। कुथली, तिल, कपास, तुष, पाषाण, राख से भरे पात्र, जलते हुए कोयले, तेल और कीचड़ से भरे पात्र का दीखना अशुभ है।

रोगी के घर जाते समय मार्ग में मुर्दा, लकड़ियाँ, सूखे हुए ढाक का मिलना श्रेष्ठ नहीं है तथा दुराचारी, चाण्डाल, दीन, अंधे और शत्रुओं का रास्ते में मिलना अशुभ है।

रोगी को देखने जाते समय किसी के द्वारा वैद्य को प्रविद्ध करना, शरीर में या किसी भी आस-पास की चीज का भग्न होना, छींक होना, हाथ-पैर की किसी चीज या आभूषण का गिर जाना, आघात होना या मन में कलुषता होना अशुभ है।

केश, भस्म, अस्थि, काष्ठ, पत्थर, तुष, कपास, कांटे, ऊपर को पाँव की हुई खाटें, मद्यपी, चरबी, तेल तिल, घास, नपुंसक, नासा-कर्ण छिन्न होने से विकृतांग व्यक्ति, अस्थि आदि भग्न व्यक्ति, नगा, मूँड़मुड़ाया और काले कपड़े पहना हुआ व्यक्ति—इनमें कोई वैद्य के रोगी को देखने के लिए प्रस्थान करते समय तथा रोगी के घर में प्रवेश करते समय दिखाई दें तो अशुभ समझना चाहिए।

प्रश्न—दूत सम्बन्धी अरिष्ट लक्षणों का उल्लेख कर नेत्रेन्द्रिय से प्रतीत होने वाले मुमूर्ष के लक्षण लिखिए। (हि० वि० १९६८)

उत्तर—दूत सम्बन्धी अरिष्ट लक्षणों का वर्णन हम पिछले प्रश्न में कर चुके हैं, वहीं देखना चाहिए।

नेत्रेन्द्रिय से प्रतीत होने वाले मुमूर्षु के लक्षण यहाँ लिखे जा रहे हैं।

चरक संहिता इन्द्रियस्थान अध्याय ४ में(इन्द्रियों की परीक्षा से अरिष्ट जानने का वर्णन किया है। वहां सबसे पहले नेत्रेन्द्रिय परीक्षा से अरिष्ट लक्षणों का वर्णन किया है। वहां कहा गया है कि जो पुरुष शून्यमय आकाश को घनीभूत एवं घनीभूत पृथ्वी को आकाश की तरह देखे वह मृत्यु को प्राप्त होता है, क्योंकि ये दोनों ज्ञान विकृत ज्ञान होते हैं।

जिसे आकाश में संचार करने वाला स्पर्शेन्द्रिय से ज्ञेय अमूर्त वायु दृष्टि-गोचर होती है, दीप्त अग्नि दिखाई नहीं देती उसकी आयु क्षीण हो गई है—ऐसा समझना चाहिए।

जिसमें जाल नहीं फैलाया गया हो ऐसे स्थिर अथवा बहते हुए अत्यन्त निर्मल जल में जो जाल को देखता है वह मर जाता है।

जो जागते हुए प्रेतों व त्रिविध प्रकार के राक्षसों को अथवा अन्य अद्भुत पदार्थों को देखता है वह मर जाता है।

जो स्वाभाविक वर्ण वाली अग्नि को नीला प्रभा रहित, काला व श्वेत देखता है, वह सातवीं रात को चल बसता है।

जो बादलों के बिना भी बादलों की द्युति को देखता है अथवा बादलों के न होते हुए आकाश में बादलों को देखता है अथवा बादलों के न होते हुए भी बादलों की रगड़ से उत्पन्न बिजली की छटा को देखता है वह नष्ट हो जाता है।

जो पुरुष शुद्ध चन्द्रमा और सूर्य को काले वस्त्र से आच्छादित मिट्टी की थाली की तरह देखता है, वह जीवित नहीं रहता।

अमावस्या या पूर्णिमा के अतिरिक्त काल में जो भी नीरोग या रोगी सूर्य या चन्द्रमा का ग्रहण देखता है, उस पुरुष का ग्रहण के छूटने के काल तक जीवन शेष है। ज्यों ही वह चन्द्रमा या सूर्य को ग्रहण से मुक्त देखता है तो उसकी मृत्यु हो जाती है।

रात्रि को सूर्य और दिन में प्रभायुक्त चन्द्र को देख कर पुरुष मृत्यु को प्राप्त होता है। इसी प्रकार अग्नि के बिना धुआँ और स्त्री में अग्नि को प्रभा-रहित देखता हुआ पुरुष काल का ग्रास होता है।

प्राणों के त्यागने की इच्छा वाले मरणासन्न पुरुष प्रभायुक्त भावों को प्रभा से रहित और प्रभा से रहित पदार्थों को प्रभायुक्त देखा करते हैं। मुमूर्षु इसी प्रकार अन्य भावों को भी विपरीत लिंग वाला देखा करता है।

आयु के क्षीण होने पर पुरुष विपरीत आकृति वाले, विपरीत वर्ण वाले, और विपरीत संख्या वाले रूपों को अकारण ही देखता है।

जो अदृश्य वस्तुओं को देखता है और दृश्य को नहीं देखता, वह दोनों ही शीघ्र यमपुरी को जाते हैं।

यह ध्यान रहे कि इन लक्षणों का अनायास और अकारण ही उत्पन्न होना मृत्युकारक है, अन्यथा नहीं।

प्रश्न—धात्वग्नियाँ कितनी होती हैं? मधुमेह में किस धात्वग्नि की विकृति होती है? मधुमेह के उपद्रवों का वर्णन करते हुए चिकित्सा भी लिखिए।

उत्तर—आयुर्वेद में त्रयोदश विधि अग्नि का वर्णन किया है। उनमें पाँच भूताग्नियाँ, सात धात्वग्नियाँ एवं एक जठराग्नि है। चरक संहिता चिकित्सा स्थान अध्याय १५ में सप्तधात्वग्नियों का वर्णन किया है। वहाँ अग्र प्रकार लिखा है—

देह धारक रसादि धातुएँ सात प्रकार की अग्नियों से अपने-अपने किट्ट और प्रसाद रूप दो प्रकार के पाक को प्राप्त होती है।

रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि और अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र, शुक्र से प्रसादज गर्भ की उत्पत्ति होतो है।

स्त्रियो में रस से स्तन्य तथा आतर्व रक्त से कण्डारा तथा सिरा, मांस से वसा, छह प्रकार की त्वचाएँ और स्नायु मेद से उत्पन्न होती हैं।

अन्न को किट्ट मल और मूत्र, रस का किट्ट कफ, रक्त का किट्ट पित्त मांस का किट्ट शरीरच्छिद्रस्थ मल, मेद का किट्ट स्वेद, अस्थियों का किट्ट बाल तथा रोम, मज्जा का किट्ट त्वचाक्त स्नेह और कीचड़ है।

आयुर्वेद में धातु निर्माण के विषय में तीन प्रकार के सिद्धान्तों का वर्णन किया है---

(१) क्षीरदधिन्याय, (२) केदारी कुल्यान्याय, (३) खले कपोत न्याय।

ये विषय प्रश्न से सम्बन्धित नहीं हैं, अतः यहाँ नहीं लिख रहे।

मधुमेह के सम्बन्ध में इस पुस्तक के इसो प्रश्न-पत्र के (ग) भाग के अन्तर्गत रोग संख्या ४० पर वर्णन किया है।

ख

प्रश्न—पञ्चकर्म से आप क्या समझते हैं ? आयुर्वेद में उसके महत्त्व का क्या कारण है ? स्वेदन से क्या लाभ है ? समझाकर लिखिए ।

(हि० वि० १९६४)

प्रश्न—पञ्चकर्म से आप क्या समझते हैं ? पञ्चकर्म में स्नेन, स्वेदन क्यों आवश्यक है ? वमन विधि का विस्तार के साथ वर्णन कीजिए ।

उत्तर—

पञ्चकर्म

आयुर्वेद में पञ्चकर्म चिकित्सा के आवश्यक कर्म हैं जिनका प्रयोग रोगों के निवारण एवं शरीर के शोधन के लिए किया जाता है । पञ्चकर्म के अन्तर्गत निम्नलिखित कर्मों का समावेश किया जाता है—

(१) वमन

(२) विरेचन

(३) अस्थापन

(४) अनुवासन

(५) शिरोविरेचन (नस्य)

इस विषय में एक मत और भी प्रचलित है, जिसके अनुसार प्रथम चार को तो ज्यों-का त्यों ही स्वीकार किया जाता है शिरोविरेचन के स्थान पर सिरामोक्षण को पांचवां कर्म माना जाता है ।

महत्त्व—पञ्चकर्म चिकित्सा का अपना महत्त्व है । इस विधान द्वारा हम रोगों का निर्मूल करते हैं तथा रसायन और वाजीकरण का प्रयोग करने के लिए शरीर को शुद्ध करते हैं । रोगों की चिकित्सा जो पञ्चकर्म विधि से की जाती है, उसकी विशेषता यह है कि जब पञ्चकर्म के प्रयोग द्वारा रोगोत्पादक दोष शरीर से बाहर निकाल दिए जाते हैं तो फिर रोग के रहने का प्रश्न ही नहीं रह जाता; साथ ही, शमन-चिकित्सा द्वारा दोषों को शान्त कर दिया

जाता है और अवसर पाकर वे वृद्धि को प्राप्त कर जाते हैं और उस अवस्था में रोग का पुनरुद्भव हो जाता है, जबकि पञ्चकर्म द्वारा रोगों का उपचार करने से दोषों के शोधन के बाद रोग पुनरुद्भव की सम्भावना नहीं रहती। यह पञ्चकर्म के महत्त्व को स्पष्ट करता है।

दूसरा दीर्घायु एवं शरीर को स्वास्थ एवं नीरोग रखने के लिए रसायन एवं वाजीकरण कल्प आदि का प्रयोग कराया जाता है शरीर में दोषों के विकृत होने पर यदि इनका प्रयोग कराया जाय तो इन कल्पों से विशेष लाभ नहीं होता और उस अवस्था में फल वैसा ही होता है, जैसा कि मैले वस्त्र में रंग देने से रंग की चमक नहीं आ पाती, इस प्रकार रसायन—वाजीकरण के सम्यक् फल को प्राप्त करने के लिए पञ्चकर्म की विधियों द्वारा शरीर का शोधन करना आवश्यक है।

पञ्चकर्म का स्नेहन-स्वेदन सम्बन्ध—पञ्चकर्म की विधियों का स्नेहन एवं स्वेदन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम कह सकते हैं कि पञ्चाकर्म की क्रियाओं के प्रयोग के पूर्व स्नेहन एवं स्वेदन कराने आवश्यक हैं। इस तरह ये दोनों पूर्व कर्म कहला सकते हैं। यह स्पष्ट किया गया है कि स्नेहन एवं स्वेदन कराए बिना यदि वमन-विरेचन आदि क्रियाओं का प्रयोग करा दिया जाय तो फल वही होता है जो शुष्क लकड़ी को मोड़ने की कोशिश करने पर उसके टूट जाने से होता है, अर्थात् शरीर का नाश हो सकता है। शरीर में दोष चिपके एवं जमे रहते हैं उनको वहाँ से उखाड़ना सरल नहीं होता और इसी के लिए स्नेहन, स्वेदन का प्रयोग कराया जाता है कि उन दाषों को सरलता से शरीर से बाहर निकलने योग्य बनाया जा सके और शरीर को किसी प्रकार हानि भी न हो। इसीलिए वमन आदि किसी भी क्रिया को करने के पूर्व स्नेहन एवं स्वेदन कराना आवश्यक होता है।

वाग्भट्ट ने लिखा है कि कोष्ठ-धातु-स्रोत शाखा अस्थि में लीन होकर बैठे दाषों को स्नेहन के द्वारा क्लन्न कर देने के पश्चात् स्वेदन के द्वारा तपाकर पतला या द्रवीभूत कर लिया जाता है। इस प्रकार ये दोष पुष्ट स्थानों से अलग होकर स्वस्थान में आ जाने पर वमन-विरेचन आदि पञ्चकर्म द्वारा सुखपूर्वक शरीर से बाहर निकल जाते हैं।

इस तरह स्नेहन, स्वेदन का पञ्चकर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

हम पहले यहाँ स्नेहन एवं स्वेदन के विषय में तथा बाद में पञ्चकर्म की क्रियाओं के विषय में आवश्यक सामग्री दे रहे हैं—

स्नेहन—स्नेहन शब्द का सीधा अर्थ है शरीर में स्निग्धता करना। किन्हीं द्रव्यों के प्रयोग द्वारा शरीर में चिकनाई पहुँचाना स्नेहन की क्रिया कहलाती है। जिन द्रव्यों में स्नेहन करने की विशेषता है उनमें गुरु, शीत, सर, स्निग्ध मन्द एवं सूक्ष्म गुण होते हैं।

आयुर्वेद में चार स्नेह द्रव्य वर्णित किए गए हैं।

(१) घृत,

(२) तेल,

(३) वसा,

(४) मज्जा,

वास्तव में देखा जाय तो जितनी भी द्रव्य स्निग्धता करने वाले हो सकते हैं, उन सबका समावेश इन चार वर्गों में किया जा सकता है। इन चारों में भी घृत को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इसकी श्रेष्ठता के कारण बताए गए हैं। उनमें आरम्भ से ही प्रयोग करने से—जिह्वोषहन होने से तथा 'संस्कारानुवर्तन' गुण होने से घृत को श्रेष्ठ माना जाता है।

संस्कारानुवर्तन वह विशेषता है जिसके अनुसार घृत अन्य द्रव्यों के साथ मिलकर उनके गुणों को ग्रहण कर लेता है और अपने गुणों को नहीं छोड़ता। अन्य द्रव्यों में यह विशेषता नहीं होती। इस विशेषता के कारण घृत को सभी स्नेहों में सर्वश्रेष्ठ कहा है।

स्नेहों के सामान्य गुण—घृत बुद्धि-स्मरण शक्ति और ग्रहण शक्ति को बढ़ाता है—अग्नि और बल को बढ़ाता है—आयु और वीर्य को बढ़ाता है। रस-शुक्र तथा ओज के लिए हितकारक है। वात-पित्त शामक एवं दाहशमक है। विषनाषक है। यह लघुपाकी है।

तैल वातनाशक है। बलवर्धक है और गर्भाशय शोधक है। मांस को स्थिर और दृढ़ करता है।

वसा का प्रयोग चोट, भग्न, कर्ण रोग, शिरोरोग, भ्रष्ट योनि रोग में किया जाता है।

मज्जा का प्रयोग बल-वीर्य-रस-कफ मेद में किया जाता है।

स्नेह वर्ग—स्नेह द्रव्य दो प्रकार के बताए गए हैं—

अच्छपेय और विचारण—जो स्नेह अकेले लिए जाते हैं, वे अच्छपेय कहलाते हैं और जो भोज्य-पदार्थ आदि के साथ दिये जाते हैं वे विचारण कहलाते हैं ।

उत्पत्ति के दृष्टिकोण से ये स्नेह दो प्रकार के हैं—स्थावर वर्ग के; जैसे—तिल के तेल आदि और जांगम वर्ग के; जैसे—गोघृत आदि ।

स्नेहों को मिलाकर इनके वर्ग बनाए जाते हैं; यथा—घृत तथा तैल को मिलाकर योगिक: घृत-तेल-वसा का मिश्रण त्रिवृत और चारों स्नेहों को मिलाकर महास्नेह कहलाता है ।

स्नेहन योग्य एवं अयोग्य—जिनको स्वेदन देना है—वमन-विरेचन आदि का प्रयोग करना है. जो रूक्ष हैं—वातविकारों से पीड़ित हैं; नित्य व्यायाम करने वाले—नित्य, मलसेवी-नित्य, स्त्रीगामी-बुद्धि का अधिक उपयोग करने वालों को स्नेहन दिया जाना चाहिए ये सब स्नेहन योग्य हैं ।

जिनके मुख या गुदा से स्राव बहता है, अतिसार रोग हो. मन्दाग्नि, तृष्णा मूर्च्छा, गर्भिणी, तालु शोसी, उदर रोग, गरविष से पीड़ित, क्लमयुक्त मदात्मयग्रस्त और जिनको ग्लानि रहती है—उनको स्नेहन के अयोग्य जानना चाहिए ।

स्नेह मात्रा—स्नेह के लिए कितनी मात्रा में स्नेह का प्रयोग कराया जाय या यों कहिए कि कितना घृत-तेल आदि दिया जा सकता है—इसके लिए ध्यान रखना चाहिए कि रोग, रोगी और द्रव्य की अंशांश कल्पना करके ही मात्रा का निर्धारण करना चाहिए । चरक संहिता में कोष्ठानुसार मात्रा का विचार किया है । उसके अनुसार अहर्निश (२४ घण्टे) में पाक को प्राप्त होने वाली प्रधान मात्रा, दिन भर (१२ घण्टे) में पाक की प्राप्त होने वाली मध्यम मात्रा, अर्धदिन (६ घण्टे) में पचने वाली ह्रस्व मात्रा होती है ।

कोष्ठ के अनुसार मृदु कोष्ठ वालों में २½ से ५ तोला तक की मात्रा में ३ दिन तक, मध्यम वालों के लिए ५ से १० तोला की मात्रा ५ दिन तक और क्रूर कोष्ठ के लिए १० से १५ तोला की मात्रा सात दिन तक देनी चाहिए ।

स्नेह का अनुमान—घृत तेल आदि का प्रयोग कराने के पश्चात् अनुमान रूप में कौन द्रव्य ग्रहण किया जाय—इसका विधान बताया गया है । घृत के उष्ठा जल, तेल के साथ यूष तथा वसा और मज्जा के साथ मण्ड का अनुपान लेना चाहिए ।

स्नेहन से लाभ—गहन मार्गों में चिपके हुए दोषों को निकालने के लिए उनको क्लिन्न करना आवश्यक होता है और यह कार्य स्नेहन द्वारा होता है। स्नेहन धातु पोषक है—दृढ़ता करता एवं इन्द्रियों की शक्ति बढ़ाता है। इससे शरीर बलवान रहता है और रोग निकट तक नहीं पहुँचते। तेज एवं कान्ति उत्पन्न करने के लिए और शरीर में शक्ति का संचार करने के लिए स्नेहन सर्वश्रेष्ठ है।

स्वेदन—स्वेदन का साधारण अर्थ है पसीना निकालने की विधि। वात और कफ अथवा वात-कफ मिलित हों तो स्वेदन का प्रयोग कराया जाता है। स्वेदन के विविध स्वरूप हो सकते हैं। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता में स्वेदन के भेदों का वर्णन किया है।

स्वेदन के भेद—सुश्रुत संहिता में स्वेदन के चार भेद बताए गए हैं; यथा—

(१) ताप स्वेद, (२) ऊष्म स्वेद, (३) उपनाह स्वेद (४) द्रव स्वेद,

(१) **ताप स्वेद**—कांसे का कटोरा, हाथ, तवा, खीपड़ा, बालू, वस्त्र, रुई आदि के माध्यम से अथवा आग के सामने बैठकर जो स्वेदन होता है, वह ताप स्वेद कहलाता है। यह पूर्णतः सक्त स्वेदन है और कफ की शान्ति के लिए किया जाता है।

(२) **ऊष्म स्वेद**—ईंट, पत्थर, लोहे का गोला आदि तपा कर उन पर पानी, दूध, मांसरस अथवा क्वाथ आदि डालकर जो भाप होती है, इस भाप द्वारा सेकने से जो स्वेदन होता है, वह स्वेदन ऊष्म स्वेद कहलाता है। इस स्वेद में आर्द्रता रहती है। इसका प्रयोग भी आचार्य ने कफ शान्ति के लिए बताया है।

(३) **उपनाह स्वेद**—वातनाशक द्रव्यों की जड़ के साथ खट्टे द्रव्यों को नमक डालकर पीस लें और ऊपर से घी डालकर गरम करलें और सुहाते-सुहाते सेकें। इस विधि का प्रयोग वातशमनार्थ बताया है।

(४) **द्रव स्वेद**—अरण्डादि द्रव्यों के क्वाथ को टब में भर कर गरम-गरम क्वाथ में ही रोगी को बिठाकर स्वेदन करावें, यह द्रव स्वेद है। इसका प्रयोग उस अवस्था में कराया जाता है, जब वात-कफ के साथ पित्त का भी सम्बन्ध हो।

चरकोक्त साग्नि स्वेद—चरक संहिता में तेरह प्रकार के साग्नि स्वेद बताए हैं, वे हैं—

(१) संकर-स्वेद—तिल-उड़द-कुलथी आदि द्रव्यों के पिण्डों को गरम कर स्वेद देना संकर स्वेद है। इसमें पिण्डों को रोगी के शरीर से स्पर्श कराया जाता है।

(२) प्रस्तर स्वेद—गेहूँ-उड़द, चावल, वेशवार, मवागु को गरम कर फैला दें, ऊपर एरण्ड पत्र या मदार के पत्ते बिछा दें, ऊपर से रोगी को लिटा दें। इस प्रकार जो स्वेदन होगा वह उपनाह विधि जैसा होगा। रोगी ऊपर से गरम कपडा ओढ़ ले।

(३) नाड़ी स्वेद—किसी मटके में पानी और औषधियाँ डालकर उबालें और उसमें एक नली लगाकर उससे निकलती भाप से रोगी को सेक दें—यह नाडी स्वेदन होगा।

(४) परिषेक स्वेद—किसी फुहारे जैसे विधान से गरम-गरम क्वाथ रोगी के शरीर पर डालते रहना परिषेक स्वेद कहलाता है।

(५) अवगाह स्वेद—किसी वाष्प टब जैसे पात्र में क्वाथ भर कर उसमें रोगी को बैठा कर स्वेदन देना अवगाह कहलाता है।

(६) जेन्ताक स्वेद—किसी विशेष प्रकार का कमरा बनाकर उसके मध्य में अँगीठी जैसा यन्त्र बना, उस कमरे को आग से खूब गरम कर—उसमें रोगी को स्वेदन देने के विधान को जेन्ताक स्वेद कहते हैं।

(७) अश्मघन स्वेद—एक पत्थर की शिला को आग से तपा उसे साफ कर उष्ण जल से सिंचन करे। उस पर गरम कपड़ा बिछाकर रोगी को लिटा दें और स्वेदन दें। यह अश्मघन स्वेद होगा।

(८) कर्षु स्वेद—एक विशेष प्रकार का गड्ढा बनाकर उसमें धधकते अंगारे भर दें—उस पर चारपाई बिछा कर जो स्वेदन दिया जाता है, वह कर्षु स्वेद कहलाता है।

(९) कुटी स्वेद—एक गोल कुटिया बनाकर उसके मध्य में एक चारपाई बिछा कर रोगी को लिटा दिया जाता है और उसके चारों ओर अंगार कोष्ठक रख कर स्वेदन दें।

(१०) भूस्वेद—जमीन को कोयले-लकड़ी आदि की आग से गरम कर तपा लें—फिर साफ कर कांजी या दूध से सेंचन करें। ऐसा करने से रोगी का स्वेदन हो जाता है।

(११) कुम्भी स्वेद—किसी मटके में क्वाथ भर कर उस में गरम गोले आदि डालकर जो वाष्प निकले उसके ऊपर बिछी चारपाई पर रोगी को लिटाकर स्वेदन करावें।

(१२) कूप स्वेद—एक कुआँ जैसा बनाकर उपलों से भर कर आग जला लें। इसके ऊपर चारपाई बिछाकर स्वेदन लें।

(१३) होलाक स्वेद—चारपाई के अन्दर के प्रमाण की एक चबूतरी गोबर लीद आदि की बना लें। आग से जला दें—जब निर्धूम हो जावे तो रोगी को चारपाई पर लिटाकर ऊपर से कम्बल आदि उड़ा दें। इससे स्वेदन हो जावेगा।

चरक संहिता में अग्नि के सम्पर्क से होने वाले तेरह स्वेदन के विधान इस प्रकार वर्णित किए हैं। इस प्रकार के विधान बिना अग्नि के सम्पर्क के स्वेदन के हैं; यथा – व्यायाम, उष्णघर, भारी वस्त्र, भूखा रहना, मद्यपान, भय, क्रोध, उपनाह, आतप। अब अल्प स्वेदन की आवश्यकता हो तो इनमें से किसी विधान के द्वारा स्वेदन कराना चाहिए।

किसी अवस्था में साग्नि स्वेद में किस स्वेद का प्रयोग करना है और किसी में निरग्नि स्वेद के किस उपाय का प्रयोग करना है—यह निर्णय चिकित्सक को स्वय करना है और उस अवस्था मे रोग, रोगी एवं अन्य सभी बातों का विचार करना होता है।

वमन

वमन का अर्थ है—मुख्य मार्ग द्वारा दोषों का शोधन कराना। आयुर्वेद में वमन कराने की एक विशेष पद्धति है और उसके अनुसार कफ के विकारों में शोधन के लिए वमन का प्रयोग कराया जाता है।

वमन प्रक्रिया का शास्त्रीय वर्णन इस प्रकार किया गया है—"उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी और विकासी औषधि अपनी शक्ति (प्रभाव) से हृदय में पहुँचकर धमनियों के द्वारा सूक्ष्म तथा सूक्ष्म स्रोतों में से देह में स्थित सम्पूर्ण दोष समूह को आग्नेह या उष्ण होने से पिघलाती है, तीक्ष्ण होने से छिन्न-भिन्न कर देती है। यह छिन्न-भिन्न हुए दोष इधर-उधर गमन करते हुए स्नेहभावित देह में, स्नेह से चुपड़े पात्र में पड़े मधु की तरह कहीं भी संग न करता हुआ, सूक्ष्म भागों में संचार करने वाला तथा कोष्ठ को ओर झुकाव होने से आमाशय में आ जाता है। यहाँ उदान वायु से प्रेरित किया जाने पर औषध के अग्नि वातात्मक होने से तथा ऊपर की ओर दोष हरने की शक्ति होने से ऊपर को उछलता है।"

आयुर्वेद में इस प्रकार कर्म करने वाले वामक द्रव्यों का प्रयोग वमनार्थ किया जाता है। ऐसे वामक द्रव्य हैं—मेनफल, देवदाली, कड़वी तुम्बी, पीतघोषा, कुट्ज, कृतवेधन। चरक संहिता में कल्प के स्थान के प्रथम छह अध्यायों में इन द्रव्यों मे तैयार होने वाली ३५५ कल्पनाओं का वर्णन किया है। साधारण नियम यह बताया है कि दोषानुसार निम्न प्रकार भावनाएँ दकर कल्प का प्रयोग करना चाहिए—

वात की प्रधानता में सुरा सौवीर, तुषोदक, धान्याक्ता और फलाम्ल से भावित करना चाहिए। पित्त में मृद्विका, आँवला, मधु, मुलहठी, फालसा, तथा दूध मे और कफ में मधु, गोमूत्र और क्वाथ की भावना से भावित कल्प देना चाहिए।

वमन कराने का अपना एक विधान है और उसका पालन करना चाहिए यह अनुभव के द्वारा प्राप्त होता है।

वमन के योग्य और अयोग्य—किन को वमन कराया जा सकता है और किनको नहीं कराया जा सकता—इनका विचार करना भी आवश्यक है। चरक संहिता सूत्रस्थान अध्याय बीस में बताया गया है कि कफ प्रधान रोगों में वमन श्रेष्ठ है। चरक सिद्धि स्थान अध्याय तीन में लिखा है कि 'प्रतिश्याय, कुष्ठ, प्रमेह, नव ज्वर, राजयक्ष्मा, कास, श्वास गलग्रह, गलगण्ड, श्लीपद, मन्दाग्नि, विरुद्ध भोजन, अजीर्ण से भोजन, विसूचिका, अलासक, विषपीत, गरपीत, सर्पदष्ट, ऊर्ध्व, विद्ध, अधोगरक्त पित्त, प्रसेक, जी मिचलाना, अरुचि, अपचन, अपची, अपस्मार, उन्माद, अतिसार, शोष, पाण्डु, मुखपाक और दुष्ट स्तन्य जन्य अवस्थाओं में वमन का प्रयोग करना चाहिए—

निम्न अवस्थाओं में वमन नहीं कराना चाहिए—

(१) क्षत क्षीण, अतिस्थूल, अतिकृश, बालक, वृद्ध, दुर्बल, श्रान्त, प्यासा, और भूखा औषध के बल को नहीं सह सकता। यदि उसे औषधि पिला दी गई तो शरीर के जल का नाश और मृत्यु तक हो सकती है।

(२) भार उठाने और चलने से थका हुआ, उपवास से मैथुन, अध्ययन, व्यायाम तथा चिन्ता में निरत एव शुष्क देह को वमन से वात प्रकोप और रक्तप्रवृति और क्षत हो सकते हैं।

(३) गर्भिणी को गर्भपात, सुकुमार को वमन में हृदयघात, उर्ध्व अथवा अध: रक्तप्रवृत्ति, दुश्छदन से दोष उत्क्लेशित होकर शरीर से बाहर न निकल सकने से विसर्प, स्तम्भ, जड़ता, वैचित्य तथा मृत्यु हो सकती है।

(४) उर्ध्व वात, आस्थापित, अनुवासित को वमन से वायु की ऊपर को अधिक प्रवृत्ति हो जाती है ।

(५) हृदय रोग में हृदय गति अवरोध, उदावर्त में रोगवृद्धि, मूत्राघात, प्लीहावृद्धि, गुल्म उदर अष्ठीला, स्वर भेद में वमन से अधिक तीव्र शूल तिमिर में रोग वृद्धि, शिरशूल, पार्श्वशूल, कर्णशूल और नेत्रशूल में वमन से और अधिक शूल हो जाता है ।

इस प्रकार ऊपर वर्णित अवस्थाओं में वमन नहीं करना चाहिए ।

वमन के वेग और दोष मात्रा—वमन द्वारा जो शोधन होता है, उसमें तीन प्रकार का शोधन होता है । हीन शोधन हो तो चार वेग होते है, और उस अवस्था में आधा प्रस्थ दोष निकलते हैं । मध्य में छह वेग होते हैं और उनमें एक प्रस्थ दोष निकलते हैं तथा प्रधान शोधन में आठ वेग होते हैं और उस अवस्था में दो प्रस्थ दोष निकलते हैं । यह ध्यान रखना चाहिए कि आयुर्वेद में वमन-विरेचन का प्रमाण बताते हुए एक प्रस्थ को १३½ पल का माना है ।

वमन से जो दोष निकलते हैं वे अपक्व ही होते हैं, इसका अर्थ यह है कि वमन कल्प देने के बाद शीघ्र ही वमन हो जाना चाहिए ।

वमन कल्प देने का सम्यक योग यह है कि वेगों का आना, दोष निर्हरण में अधिक कष्ट न होना, शोधन होने के पश्चात् स्वयं ही वेगों का रुक जाना और दोषों का क्रम से अर्थात् प्रथम कफ, फिर पित्त और अन्त में वायु का निकलना होना चाहिए । इसको पित्तान्त वमन कहा जाता है ।

जब कभी वमन का आयोग हुआ हो अर्थात् कल्प पिलाने पर भी वमन न हुआ हो अथवा केवल पिलाई गई औषधि मात्र ही बाहर निकल गई हो तो रोगी को स्फोट, कोठ, कण्डू की उत्पत्ति और इन्द्रियों का तथा शरीर का भारीपन मिलता है ।

जब कभी वमन का अतियोग हो जावे और रक्त रहित वमन हो—चन्द्रिकाओं एवं मयूरपुच्छ से रंग का वमन हो तो उसे अतियोग समझना चाहिए । इसमें रोगी को तृष्णा, मोह मूर्च्छा, निद्रानाश और निर्बलता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

रोगी को आयोग में पिलाई गई औषध के पच जाने पर पुनः औषध पिलानी चाहिए । यदि चिकित्सक यह अनुमान लगावे कि अल्प दोष ही बचा है तो लंघन करना चाहिए । अतिरोग में कोई मृदु विरेचक औषध दे कर जो

वानक कल्प अन्दर बचा है, उसे निकालने का प्रयत्न करना चाहिए। कषाय मधुर-शीतल द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

वमन के पश्चात्—वमन के पश्चात् रोगी की पाचकाग्नि मन्द हो जाती है और उस अवस्था में एक दम भारी चीजें पचा पाना सम्भव नहीं होता, इसलिए रोगी को अग्नि स्थिर करने के लिए पेया-विलेपी-कृताकृत यूष-कृताकृत मांस रस क्रमशः तीन अन्न काल तक—दो अन्न काल तक और एक अन्नकाल तक के क्रम से प्रधान, माध्यम और हीन शोधन में देना चाहिए।

व्याप्तियां—वमन और विरेचन के आयोग और अतियोग से दस व्याप्तियां होती हैं—(१) आहयान, (२) परिकातिका, (३) स्राव, (४) हृद-ग्रह, (५) अंगग्रह, (६) जीवादान, (७) विभ्रंश (८) स्तम्भ, (९) उपद्रव, (१०) क्लम।

इसके विषय में विस्तृत जानकारी के लिए लेखक की पुस्तक 'पञ्चकर्म विज्ञान' का अवलोकन करें।

वमन के पश्चात् ऊँचा बोलना, क्षोभक सवारी, बहुत चलना, बहुत बैठना, अजीर्ण में भोजन, अहित भोजन, दिवास्वप्न और मैथुन का त्याग करना चाहिए।

विरेचन—शरीर के अधोमार्ग से दोष निकालने की क्रिया को विरेचन कहा जाता है। विरेचन कराने से पूर्व रोगी को स्नेहन, स्वेदन कराना चाहिए।

आयुर्वेद में विरेचन कराने योग्य और अयोग्य का वर्णन किया गया है। बताया गया है कि पित्त विकारों के लिए विरेचन सर्वश्रेष्ठ कर्म है। कुष्ठ ज्वर-उर्द्धवरक्तपित्त, उदर रोग, अर्श, प्लीहा, कुल्म-अर्बुद, गलगण्ड, ग्रन्थि,-विसूचिका, अलसक, मूत्राघात, कृमिकोष्ठ, विसर्प, पाण्डु, शिर-शूल, पार्श्वशूल, उदावर्त, नेत्रदाह, मुखदाह, हृदय रोग, नेत्ररोग, नासिका रोग, कर्णरोग, मुख-रोग, गुदपाक, लिंगपाक, हलीमक, श्वास-कास-कामला-अपची-अपस्मार-उन्माद वातरक्त, अरोचक, अयचन शोथ, गरदोष और विस्फोट में विरेचन कराना चाहिए—

निम्न अवस्थाओं में विरेचन के दुष्परिणाम होते हैं, अतः विरेचन नहीं कराने चाहिए—

सुभग को हृदयघात और रक्तप्रवृत्ति के भय से; क्षतगुद को तीव्र पीड़ा के

भय से, अधोगरक्त पित्त को रक्त की अति प्रवृत्ति के भय से, दुर्बल को अशक्ति के कारण, नव-ज्वर, मदात्यय, आह्मान, काम-क्रोध शोक से पीड़ित को नहीं करना चाहिए। क्रूर कोष्ठ, क्षीण, अतिस्थूल अतिकृश, वृद्ध-दुर्बल, बालक, क्षुधित और श्रान्त को विरेचन नहीं करना चाहिए।

विरेचक द्रव्य—चरक संहिता में विरेचनार्थ प्रयोग होने वाले जिन द्रव्यों की गिनती की है, वे द्रव्य है—निशोथ. श्याममुला निशोथ, अमलतास, तिल्वक-सेहुण्ड, सातला-शंखनी-दन्ती और द्रवन्ती। चरक संहिता कल्पस्थान अध्याय सात से बारह तक इन द्रव्यों के २४५ विरेचन कल्प वर्णित किये हैं। कल्प बनाते समय दोषानुसार भावनाएँ देनी चाहिए, वायु की प्रधानता में—सुरा-सौवीर, तुषोदक, आसव, धान्यम्ल फलाम्ल का प्रयोग किया जाता है और पित्त के विकारों में अंगूर-आंवला-शहद-गुलदेठी-फालसा और दूध की भावना देने का और कफ के विकारों के लिए मधु-गोमूत्र और क्वाथ की भावना देने का विधान बताया गया है।

विरेचक औषधियाँ भी वामक औषधियों की तरह ही होती हैं। अन्तर केवल इतना है कि इन औषधियों में पृथ्वी महाभूत की प्रधानता होती है, और उसी से ये दोषों को अधोमार्ग की ओर ले जाती हैं।

विरेचन का सम्यक रोग—स्रोतों की शुद्धि, इन्द्रियों की निर्मलना, लघुता उत्साह, अग्निदीप्ति तथा पुरीष-पित्त और कफ के पश्चात् वायु का निकलना सम्यक् योग होता है।

विरेचक के अयोग में कफ-पित्त और वायु का कोष, मन्दाग्नि, भारीपन, तन्द्रा, वमन, अरुचि होती है। ऐसी अवस्था में विरेचक कल्प पुनः देना चाहिए।

विरेचक के अतियोग में कफक्षय, रक्तक्षय और पित्तक्षय होता है। इससे प्रकुपित वायु सुप्ती-अंग-मर्द, क्लम कम्प, निद्रानाश, दुर्बलता करती है। इसमें मृदु वमन देना चाहिए।

सम्यक् योग में प्रधान शोधन में तीस वेग, मध्यम में बीस वेग और हीन में दस वेग होते हैं, दोष प्रधान में चार प्रस्थ, मध्यम में तीन प्रस्त और हीन में दो प्रस्थ होता है।

विरेचन के पश्चात् पेयादि का क्रम वमन के समान ही है। इस प्रकार व्याप्तियाँ भी वमन के समान ही समझनी चाहिए।

वस्ति

आयुर्वेद में वस्ति चिकित्सा का बहुत महत्त्व है। त्रिदोष में वायु को प्रधान माना गया है और बताया गया है कि कफ और पित्त पंगु होते हैं—वायु उसको जहाँ ले जाता है—वे वहीं चले जाते हैं—उसी तरह जिस तरह हवा के साथ बादल चलते रहते हैं। इस प्रकार वायु की प्रधानता सिद्ध की गई है। उस वायु की चिकित्सा का सर्वश्रेष्ठ साधन वस्ति है। इसीलिए सभी में इसको प्रधान माना जाता है। वस्ति की श्रेष्ठता इसमें भी है कि इसका प्रयोग न केवल शोधन के लिए, अपितु संशयन और संग्रहण के लिए भी किया जाता है। वस्ति सुख-पूर्वक शोधन करने वाली होने से और अपतर्पण तथा संतर्पण करने वाली मे श्रेष्ठ कही गई है।

प्राचीन काल मे वस्ति प्रयोग के लिए वस्ति यन्त्र का निर्माण किया जाता था। उसके दो भाग होत हैं, एक वस्ति पुटक और दूसरा वस्ति नेत्र। वस्ति पुटक के लिए बूढ़ बैल, भैंस, हिरण और बकरे के मूत्राशय को ग्रहण किया जाता था और वस्तिनेत्र का निर्माण सोना, चाँदी, ताँबा, बंग, पीतल, कांसा, लोहा, लकड़ी, सींग आदि द्वारा किया जाता था।

ये सभी प्राचीन समय म होता था। सम्प्रति इस प्रकार के निर्माण करने की प्रथा नहीं रही है अपितु आज एनीमा और डूस देने के लिए विविध प्रकार के यन्त्र उपलब्ध होते हैं, उनका ही प्रयोग किया जाता है।

वस्ति के भेद—आयुर्वेद में कल्प के अनुसार दो प्रकार की वस्तियाँ बताई हैं, प्रथम अनुवासन और दूसरे आस्थापन। अनुवासन वस्ति में केवल स्नेह मात्र का ही पयोग किया जाता है इसके लिए अपक्व स्नेह का प्रयोग नहीं करना चाहिए, अपितु पक्व स्नेह का प्रयोग किया जाना चाहिए। आस्थापन वस्ति में औषधियों का क्वाथ-स्नेह-मधु-कल्क और प्रक्षेप मिलाकर प्रयोग करना चाहिए। वात पित्त-कफ के विकारों के लिए इन सबकी मात्रा को अलग-अलग निर्धारण करना होता है—फिर सबको भली-भाँति मिलाकर प्रयोग किया जाता है।

आस्थापन कल्प बनाने का विधान बताते हुए लिखा है—"माक्षिकं लवणं स्नेह कल्क क्वाथमिति क्रमात्।" इसी क्रम से मिलाना होता है। इस कल्प की सर्वाधिक मात्रा २४ पल की बताई गई है। वय के अनुसार एक वर्ष के बालक के लिए एक पल की मात्रा और प्रत्येक वर्ष के लिए एक-एक पल बढ़ाते

हुए बारह वर्ष के व्यक्ति के लिए बारह पल की मात्रा का प्रयोग किया जाता है। तेरहवें वर्ष से अठारहवें वर्ष तक प्रत्येक वर्ष दो-दो पल बढ़ते हुए अठारह वर्ष या उससे बड़ों के लिए चौबीस पल की मात्रा का प्रयोग किया जाता है।

आस्थापन के योग्य और अयोग्य—सर्वांग रोग, एकांग रोग, कुक्षि रोग, वातरोध, पुरीषावरोध, मूत्रावरोध, वीर्यावरोध, बलक्षय, मांसक्षय, बल दोष, वर्ण दोष, मांस दोष, वीर्य दोष, आध्मान अंगसुप्ती, क्लम, उदावर्त, देह-स्तम्भ, अतिसार, प्लीहा, गुल्म, हृदय रोग, भगन्दर, उन्माद, ज्वर, शिर-शूल, पार्श्वग्रह, पृष्टग्रह, कटिग्रह, कम्पन, आक्षेप, गौरव, अतिलाघव, अदार्तव, अग्नि विषमता, जंघा, उरु, गुल्फ, बाहु आदि में शूल-शोथ और स्तम्भ, आंत्र कजन और परिकर्तन में आस्थापन का प्रयोग करना चाहिए।

अजीर्ण रोगी, स्नेहपान किया हुआ, दोष उत्क्लेश, मन्दाग्नि, सवारी से थका हुआ, पेट भरा हुआ, पानी पीए हुए, क्रुद्ध, भयभीत, नशे में मूच्छित, वमन कर रहा तथा थूक रहा, अलसक-विसूचिका से पीड़ित और शीघ्र प्रसवा को आस्थापन नहीं करना चाहिए। ये सभी आस्थापन के अयोग्य हैं।

आस्थापन का सम्यक् योग हुआ हो तो रोगी को पुरीष-मूत्र और वायु का अच्छी प्रकार से आना, रुचि, जठराग्नि वृद्धि, आशय तथा कोष्ठ को लघुता, बल की वृद्धि मिलती है।

आस्थापन के आयोग से हृदय, शिर-गुदा वस्ति प्रदेश मे पीड़ा-शोथ-प्रतिश्याय, परिकर्तिका, उल्लास, मूत्रावरोध-वातावरोध मिलता है। अष्टांग संग्रहकार ने विबन्ध, गौरव, आध्मान, शिरोवेदना, वाहन और उर्ध्वगमन ये छह व्याप्तियाँ अयोग से उत्पन्न हुई बताई हैं।

अतियोग होने पर कफक्षय, रक्तक्षय, पित्तक्षय होता है और वायु का प्रकोप होकर सुप्ती, अंगमर्द, निद्रानाश, दुर्बलता, उन्माद, तम प्रवेश होता है। अष्टांग संग्रहकार ने कुक्षीशूल, अंगरूक, हिक्का, हृत्पीड़ा, गुदकर्तन और परिस्राव नामक व्याप्तियाँ अतियोग से उत्पन्न बताई हैं।

अनुवासन

जैसा पीछे लिख चुके हैं अनुवासन का अर्थ है स्नेह वस्ति। इसमें केवल स्नेह का ही प्रयोग किया जाता है। अनुवासन किन को कराया जाय और कौन अनुवासन के योग्य हैं—ये शास्त्रों में वर्णित मे किया गया है। बताया

गया है कि जिनको वात के रोग हों और जिनको आस्थापन योग्य बताया जा चुका है वे अनुवातन के भी योग्य हैं। विशेष कर रूक्ष तथा तीक्ष्ण अग्नि पुरुषों को अनुवासन का प्रयोग करना चाहिए। इन अवस्थाओं में अनुवासन का प्रयोग नहीं कराना चाहिए—ज्वर, पाण्डु-प्रमेह, अर्श, अरोचक, दुर्बल, निराम्न मन्दाग्नि, प्लीहा, उदर, उरूस्तम्भ, श्लीपद; गलगण्ड, अपची, स्थूल रोग में अनुवासन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अनुवासन में स्नेह की मात्रा कितनी हो—इसके लिए तीन मात्राएँ बनाई गई हैं—प्रथम छह पल की जो उत्तम मात्रा कहलाती है—दूसरी तीन पल की—मध्यम मात्रा और तीसरी हीन मात्रा जो डेढ़पल की होती है।

सम्यक् योग में बिना किसी बाधा के तेल पुरीष के साथ समय पर लौट आता है। धातुओं की वृद्धि होती है और इन्द्रियों में निर्मलता आती है।

अनुवासन के आयोग में देह के नीचे के भाग, उदर, बाहु पृष्ठ और पार्श्वों में वेदना होती है, देह रूक्ष हो जाता है और खर हो जाता है। पुरीष मूत्र और वायु का अवरोध होता है।

अतियोग में छल्लास, मोह, शिथिलता, मूर्छा और परिकार्तिका होती है।

अनुवासन की छह व्याप्तियाँ होती हैं। वात, पित्त, कफ अतिभोजन और पुरीष से आवृत्त हुई स्नेह वस्ति और निरान्न में दी गई स्नेह वस्ति व्याप्ति कारक होती है।

उत्तरवस्ति—जैसा पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, वस्ति में दो प्रकार के कल्प प्रयोग में आते हैं—स्नेह मात्र का प्रयोग अनुवासन वस्ति कहलाता है। और क्वाथ आदि का कल्प बनाकर प्रयोग करना आस्थापन कहलाता है। इसका प्रयोग जहाँ गुदा मार्ग द्वारा किया जाता है वहाँ मूत्र मार्ग और स्त्रियों को अपत्य मार्ग से भी किया जाता है—इस विधान को उत्तरवस्ति कहते हैं। इसमें जो यन्त्र प्रयोग किए जाते हैं, वे आकार में भिन्न-भिन्न होते हैं। पुरुषों के लिए प्रायः सात अंगुल परम प्रमाण का वस्ति नेत्र प्रवेश कराया जाता है, स्त्रियों के मूत्रमार्ग के लिए वस्ति नेत्र का प्रवेश दो अंगुल होता है। योनिमार्ग के लिए (अपत्य पक्ष) चार अंगुल वस्ति नेत्र प्रवेश किया जाता है।

उत्तरवस्ति में प्रायः स्नेह ही प्रयोग में लाए जाते हैं। स्नेह का परम प्रमाण चार पल बताया जाता है। यह मात्रा मूत्र मार्ग के लिए है। गर्भाशय के लिए द्विगुण स्नेह को प्रयोग कराया जाता है।

मूत्रमार्ग द्वारा दी गई वस्ति इन रोगों में लाभ करती है—मूत्रसाद, मूत्र जहर, मूत्रकृच्छ, मूत्रोत्सर्ग, मूत्रक्षय, मूत्रातीत, वातष्ठीला, वातवस्ति, उष्णवात वात कुण्डलिका, मूत्रग्रन्थि विड़विघात, वस्तिकुण्डल।

स्त्रियों में योनिमार्ग में दी गई वस्ति निम्न रोगों में लाभ करती है—

ग्रन्थि, व्रण, विसर्ग, उपदंश, योनिशोथ, योनिशुष्कता, श्वेत प्रदर योनि शैथिल्य, योनि सकोच, योनिभ्रंश ओर गर्भाशय के विकारों से लाभ होता है।

इस तरह उत्तरवस्ति का भी चिकित्सा में बहुत महत्त्व है।

प्रश्न—लंघन बृंहण के विषय में आप क्या जानते है ?

उत्तर—लंघन बृंहण

चरक संहिता में सूत्रस्थान अध्याय २२ में इनका वर्णन किया गया है, हम उसी के आधार पर यहाँ लिख रहे हैं।

लंघन—जो कुछ शरीर में लघुता को करने वाला है, वह लंघन कहलाता है। अत: केवल उपवास करने को ही लंघन नहीं मानना चाहिए। लघु उष्ण तीक्ष्ण, विशद्, रूक्ष, सूक्ष्म, खर सर तथा कठिन द्रव्य प्राय: लंघन कर्म करते हैं।

चार प्रकार का संशोधन (वमन, विरेचन आस्थापन और शिरोविरेचन) प्यास, धूप, वायु, पाचक द्रव्य, उपवास एवं व्यायाम को धारण करना लंघन कहलाता है।

संशोधन द्वारा उन्हें लंघन कराना चाहिए जिनमें कफ, पित्त, रक्त तथा मल अधिक मात्रा में हो, वायु अत्यल्प हो महाशरीर तथा बलवान पुरुष हो। उनको संशोधन से लाभ ही होता है—हानि का भय नहीं रहता।

जिन पुरुषों को कफ-पित्त से होने वाले रोग हों, किन्तु मध्य बल वमन-अतिसार हृद्रोग-विसूचक, अलसक, विबन्ध, गुरुता उद्गार हृल्लास, अरुचि आदि रोग हों, उनका पाचक द्रव्यों द्वारा लंघन कराना चाहिए।

जिन पुरुषों को ऊपर लहे रोग मध्यबल न होकर अल्पबल हों, उन पुरुषों के लिए प्यास का वेग धारण करना और उपवास करना हितकारक है।

बलवान् पुरुषों के मध्य बल वाले दोषों को निकालने के लिए व्यायाम आतप का सेवन करना चाहिए।

कुष्ठी-प्रमेही, अतिस्निग्ध, अभिष्यन्दी, बृंहण से युक्त सब ऋतुओं में

लंघन कराना चाहिए। वात विकार वालों को यदि लंघन कराया जाए तो वह शिशिर ऋतु में कराया जाए।

मलवात—मूत्र, पुरीष का त्याग, शरीर की लघुता, हृदय स्थल की शुद्धि उद्गार शुद्धि, कण्ठ शुद्धि, मुख शुद्धि, तन्द्रा एवं क्लम का नाश, पसीना आना, मन की प्रसन्नता इन समुचित लक्षणों को देखकर आप कहेंगे कि लघन का सम्यक् योग (उचित मात्रा में) हुआ है।

मात्रा से अधिक लघन के करने से जोड़ों में टुटने की सी वेदना, अंगों में पीढ़ा, कास, मुख की शुष्कता, भूख न लगना, अरुचि, तृष्णा, कान तथा नेत्रों की दुर्बलता, अच्छी तरह न सुनाई देना, दिखाई देना मन की अस्थिरता, चंचलता, ऊर्ध्ववात का रहना, मोह तथा अन्धकार मे प्रवेश के समान लक्षण होना देहनाश, क्षीणता, निर्बलता, अग्निमन्दता आदि लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

बृंहण—जो शरीर में वृद्धि, पुष्टि व मुटापे को करता है, वह बृंहण कहलाता है। गुरु-शीत-मृदु-स्निग्ध-बहल-स्थूल-पिच्छल-मन्द-स्थिर श्लक्षण गुणों से युक्त द्रव्य बृंहण कर्म करते हैं। श्रेष्ठ प्रकार से मारे गए मृग, मछली एवं पक्षियों के मांस बृंहण कर्म करते हैं। स्नान, उत्सादन, निन्द्रा, मधुर द्रव्या से साधित स्निग्ध वस्तियां, शर्करा, दूध, घी सभी बृंहण करते हैं।

क्षतक्षीण, कृश, वृद्ध, दुर्बल, नित्य अधिक चलने-फिरने वाला, अधिक मैथुन करने वाला, मद्य-सेवी पुरुष बृंहण करने योग्य कहे गए हैं।

सम्यक् प्रकार बृंहण होने से बल एवं पुष्टि की उत्पत्ति, कृशता का नाश, दोषों का समावस्था में आना पाया जाता है।

अत्यधिक बृंहण होने से शरीर में स्थूलता आ जाती है।

इस प्रकार लघन तथा बृंहण का वर्णन कर दिया गया है।

ग

(१) ज्वर (Pyrexia)—शरीर में उष्णता प्रायः ९७ से ९८½ डिग्री फारेनहाइट तक रहती हैं जो व्यक्ति विशेष में भिन्न-भिन्न हुआ करती है। इस उष्णता का बढ़ जाना ज्वर कहलाता है। यदि यह २ डिग्री तक बढ़े तो उसे सामान्य ज्वर (Simple Fever) कहा जाता है, इससे अधिक बढ़ने पर तीव्र ज्वर (High Fever) कहलाता है और यदि यह ताप १०४ डिग्री तक पहुँच जाए तो उसे तीव्र ज्वर (Hyperpyrexia) कहा जाता है। केवल उष्णता की वृद्धि ही ज्वर हो, ऐसी बात भी नहीं, शरीर के अन्य कार्यों में भी परिवर्तन आ जाता है, तथा हृदय एवं श्वासोच्छ्वास क्रिया में अन्तर आना, इन्द्रियों में निर्बलता आना, पाचन एवं उत्सर्जन कार्यों में अन्तर हो जाना आदि।

आयुर्वेद में ज्वर का लक्षण बताते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि "पसीने का अवरोध, सन्ताप, सारे अंगों में सग्रहता—यह तीन लक्षण जिस रोग में एक साथ हों यह रोग ज्वर कहलाता है।" चरक संहिता में, "ज्वर का बढ़ना, प्यास लगना, चित्त में कष्ट का होना, ज्वर का प्रभाव कहलाता है।"

ज्वर आने से पूर्व कुछ लक्षण प्रकट होते हैं जिनको पूर्वरूप कहा जाता है। चरक संहिता निदानस्थान अध्याय १ में निम्न प्रकार वर्णन किया गया है—

मुख की विरासता, शरीर का भारीपन, अन्न में अरुचि, आँखों की व्याकुलता, आँसू आना, निद्रा की अधिकता, अरति, जम्भाई, शरीर का झुकना, काँपना, थकावट, चक्कर आना, प्रलाप, जागरण, लोमहर्ष, दन्तहर्ष होना; शब्द, शीत, वायु, धूप इनको न सह सकना; दीर्घसूत्रता, आलस्य, अभ्यस्त कर्म का त्याग, अपने कार्यों में प्रतिकूलता, उपदेशों को भी दोष जानना, बच्चों

में द्वेष होना; संध्या वन्दन आदि करना, माला धारण, चन्दन लेपन आदि में द्वेष, मीठे पदार्थों से द्वेष, खट्टे, चटपटे रस वाले पदार्थों को खाने की इच्छा होना आदि; ये सब ज्वर के पूर्व रूप हैं। ये सब एक साथ नहीं मिलते। यदि किसी रोगी को यह सब एक साथ रहें तो मरण जानना चाहिए। किसी में कोई पूर्वरूप किसी में कोई पाए जाते हैं।"

ज्वर के भेदों का वर्णन यदि चरक संहिता में देखें तो हमें मानना होगा कि उन्होंने इस विषय को कितने गहन अध्ययन एवं मनन के बाद लिखा होगा। कई दृष्टिकोण से ज्वर का वर्गीकरण किया गया है। अधिष्ठान भेद से ज्वर दो प्रकार का कहा गया—मानसिक ज्वर एवं शारीरिक ज्वर। दूसरा दृष्टिकोण ज्वर की सौम्यता एवं आग्नेयता से सम्बन्ध रखता है। अन्तर्वेग और बहिर्वेग के अनुसार ज्वर दो प्रकार का है। विषम ज्वर के पाँच भेद कहे गए हैं। धातुओं के आश्रय से सात प्रकार का ज्वर कहा है। कारण भेद से आठ प्रकार का ज्वर माना है।

इन सब भेदों में विषम ज्वर के पाँच भेद और कारणों के अनुसार आठ प्रकार का ज्वर—यह दो ही भेद प्रधान हैं। विषम ज्वर का वर्णन हम बाद में अलग से करेंगे। यहाँ पर कारणों के अनुसार वर्णित आठ प्रकार के ज्वरों का विस्तार से वर्णन किया जायेगा जैसा कि आयुर्वेद के शास्त्रों में वर्णित किया गया है।

आठ प्रकार के ज्वरों के नाम निम्न प्रकार वर्णित मिलते हैं—

१. वातज ज्वर　　२. पित्तज ज्वर　　३. कफज ज्वर
४. वात-पित्तज ज्वर　　५. वात कफज ज्वर　　६. कफ-पित्तज ज्वर
७. सन्निपातज ज्वर　　८. आगन्तुज ज्वर।

(१) वातज ज्वर—रूक्ष, लघु, शीत, व्यायाम, वमन, विरेचन, अस्थापन, शिरोविरेचन के अतियोग से, वेगों को रोकने से, अनशन, अभिघात, मैथुन उद्वेग, शोक, रक्त निर्हरण, रात्रि जागरण, शरीर का विषम रूप में रखना आदि कारणों से वायु प्रकुपित हो जाती है। प्रकुपित हुई वह वायु ऊष्मा के स्थान आमाशय में प्रविष्ट होकर ऊष्मा से मिश्रित हो आहार के पचने से उत्पन्न हुई रसात्मक धातु के पीछे-पीछे जाकर रसवह और स्वेदवह स्रोतों को बन्द कर अग्नि को मन्द करके पाकस्थली से गर्मी को बाहर निकाल कर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है, तब वह वायु ज्वर को उत्पन्न करती है। ७

वातिक ज्वर का आरम्भ व त्याग काल अनिश्चित होता है—किसी दिन ज्वर स्वल्प रूप में होता है—किसी दिन अधिक होता है। किसी दिन सर्वथा ज्वर छूट जाता है। किसी दिन थोड़ा हटता है और मन्द-मन्द रहता है। यह ज्वर कभी सिर से प्रारम्भ होता है, कभी टाँगों से, कभी पीठ से। ऊष्मा की विषमता होती है। कभी तापांश अधिक होता है, कभी कम अथवा शरीर के किसी अवयव में तापांश अधिक होता है किसी में कम। अथवा शरीर के किसी अंग में ताप अधिक होता है किसी में कम होता है। आहार के पच जाने पर, सांयकाल या रात्रि के अन्तिम काल तथा वर्षा ऋतु में ज्वर आता है व बढ़ता है। नख, आँख, मुख, मूत्र पुरीष तथा त्वचा खुरदरी और अरुण वर्ण की होती है। मूत्र व पुरीष नहीं आते अथवा अल्प आते हैं। शरीर के अवयवों में अनेक प्रकार की उपमाओं वाली चल और अचल वेदनाएँ होती हैं। जैसे पैरों का सोना, जँघा की पिण्डलियों में उद्वेष्टन होना, दोनों, गोड़ों और सम्पूर्ण सन्धियों में उनके खुलने की सी वेदना होना, उरुओं में शिथिलता होना और उसके कर्म में असमर्थता होना, कमर में टूटने की सी वेदना होना, पार्श्वों का रुग्ण सा अनुभव होना, पीठ में गर्दन में वेदना होना, कंधों को जैसे कोई मथता हो, बाहुओं को जैसे कोई जोर से दबाता हो, छाती में जैसे कोई धकेलता हो—इस तरह की वेदना की अनुभूति होती है। रोगी हनु को भली प्रकार नहीं हिला सकता। कानों में आवाज होती है। शंखप्रदेश में तोद होता है। मुख का स्वाद कषैला व फीका होता है। मुख-तालु-कण्ठ सूख जाते हैं—प्यास लगती है। हृदय को जैसे किसी ने पकड़ लिया हो, ऐसा प्रतीत होता है। सूखी कै होती है, खाँसी आती है, छींक और डकार नहीं आते, अन्नरस में इच्छा नहीं होती। मुख से लाला निकलती है अरुचि तथा अपचन होता है। विषाद, विजृम्भा, बिनाम, वेपुथ, श्रम, प्रलाप, जागरण, रोमांच तथा दन्तहर्ष होता है। रोगी उष्ण द्रव्यों को चाहता है। कारणों का प्रयोग दुःख को बढ़ाता है और उन से विपरीत कर्म सुखदायक होते हैं। ये सब वातज्वर के लक्षण हैं जो चरक संहिता में निदान स्थान में कहे हैं।

(२) पित्त ज्वर—उष्ण, अम्ल, नमकीन, क्षार, कटु-द्रव्यों के अत्यन्त सेवन से, अजीर्ण पर भोजन के अत्यन्त खाने पर, अत्यन्त तेज धूप व आग के ताप से, श्रम, क्रोध तथा विषमाहार से पित्त प्रकुपित हो जाता है।

वह प्रकुपित हुआ पित्त आमाशय से ऊष्मा को मिश्रित कर के आहार

के पचने पर उत्पन्न हुई रस नामक प्रथम धातु के पीछे जाकर रसवह व स्वेदवह स्रोतों को बन्द करके स्वयं द्रव होने से जठराग्नि को बुझाकर व मन्द करके पाकस्थली से ऊष्मा को बाहर निकालकर पीड़ित करता हुआ जब सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है, उस समय जो ज्वर उत्पन्न होता है, वह पित्त ज्वर कहलाता है।

पित्त ज्वर में सम्पूर्ण शरीर में युगपत् ज्वर होता है। ज्वर युगपत् बढ़ता है, विशेषकर भोजन के विदाह के समय, मध्यान्ह में, मध्यरात्रि में अथवा शरद् ऋतु में वह ज्वर उत्पन्न होता है। अथवा बढ़ता है। मुख का स्वाद कटु होता है। नाक मुख—कण्ठ होंठ-तालु पक जाते हैं, प्यास लगती है, भ्रम—मद-मूर्च्छा होती है। पित्त की कैं होती है—अतिसार होता है, अन्न खाने की इच्छा नहीं होती है—शरीर शिथिल हो जाता है। पसीना आता है। रोगी प्रलाप करता है—शरीर में लाल रंग के चकत्ते निकल आते हैं। नख, नेत्र—मुँह—मूत्र, पुरीष तथा त्वचा हरे व हल्दी के रंग के हो जाते हैं। ऊष्मा अत्यन्त तीव्र होती है—रोगी को अत्यन्त दाह होता है और शीतल पदार्थों को चाहता है।

(३) कफज ज्वर—स्निग्ध, गुरु, मधुर, पिच्छिल, शीत, अम्ल, लवणद्रव्यों के अत्यन्त सेवन से, तथा दिन में सोने से, अत्यन्त प्रसन्नता से और बिलकुल व्यायाम न करने से—कफ प्रकुपित हो जाता है।

प्रकुपित हुआ वह कफ पाचन के पश्चात् उत्पन्न प्रथम धातु रस के पीछे जाकर रसवह, स्वेदवह स्रोतों को बन्द करके जठराग्नि को मन्द कर पाकस्थली की ऊष्मा को बाहर निकाल पीड़ित करता हुआ सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है, तब ज्वर को प्रकट करती है।

कफज ज्वर में ज्वर युगपत् आता है और बढता भी युगपत है। खाने के तत्काल बाद, प्रातःकाल मे तथा रात्रि के प्रथम भाग में और वसन्त ऋतु में प्राय उत्पन्न होता है और बढ़ता है। गुरुता, भोजन मे अनिच्छा, कफ का थूकना, मुख का मधुर होना, जी मिचलाना, हृदय देश में कफ का आवरण होना, शरीर का नीले वस्त्र से ढका सा लगना, वमन होना, जठराग्नि का मन्द होना, अत्यधिक नींद आना, स्तब्धता, तन्द्रा होना, श्वास, कास प्रतिश्याय शीतलता का होना आदि लक्षण होते है। नख, नेत्र, मुँह, मूत्र, पुरीष तथा त्वचा का अत्यन्त श्वेत होना, अंगों पर श्वेत पीड़िकाएं होना, उष्ण पदार्थों की इच्छा होना आदि कफ ज्वर के लक्षण है।

(४) वात पित्तज ज्वर—वात प्रकोपक एवं पित्त प्रकोपक कारणों से जो वात पित्त प्रकुपित होते हैं—उनसे वात पित्त ज्वर उत्पन्न होता है—निम्न लक्षण बताये गए हैं—"सिर में दर्द, पर्वों का भेदवत् शूल, दाह, रोमहर्ष कण्ठ का तथा मुख का शोष, वमन, तृष्णा, मूर्च्छा, भ्रम, अरुचि, निन्द्रानाश अधिक वाचालता की जम्भाई उत्पन्न होती है।"

(५) वातश्लेष्मिक ज्वर—ठण्ड लगना, गुरुता, तन्द्रा, शरीर का गीलापन, पर्वों मे भेद, सिर की जकड़न, जुकाम, खांसी, पसीने का न आना तथा मध्य वेग का ज्वर आना वातकफज ज्वर में होता है।

(६) कफ पित्तज ज्वर—बार-बार दाह, बार-बार शीत, बार-बार स्वेद, बार-बार स्वेद प्रवृत्ति, मोह, कास, अरुचि तृष्णा, कफ और पित्त का निकलना मुख का लिपा हुआ सा लगना, मुख का स्वाद तिक्त होना और तन्द्रा होना यह सब का लक्षण पित्त ज्वर में होते हैं।

(७) सन्निपातज ज्वर—वात-पित्त-कफ के प्रकोप के कारण जो ज्वर होता है, उसको सन्निपातज ज्वर कहा जाता है। इसमें सामान्यतः निम्न लक्षण होते हैं—

क्षण में दाह, क्षण में शीत, अस्थि-सन्धि और शिर-शूल, मैले—विस्फारितरक्तवर्ण— अश्रुपूर्ण नेत्र, दोनों काना में शब्दापत्ति और शूल गला कांटों से भरा हुआ सा लगना, तन्द्रा—मोह—प्रलाप—कास—श्वास, अरुचि, भ्रम का होना, जिह्वा जली हुई सी और खुरदरी होती है। शरीररध पेशियों के लोच की बहुत कमी, कफ और रक्त मिश्रित पित्त का थूकना, सन का लुढ़कना, प्यास, निन्द्रानाश, हृदय में व्यथा, स्वेद मल-मूत्र का थोड़ा और देर में दिखाई देना होगा। अंगों में अधिक कृशता का होना, कण्ठ से निरन्तर को घड़-घड़ की गूंज का होना, शरीर पर रक्त या श्याम वर्ण के कोठों व मण्डलों का दिखाई देना, जीभ का टूटना, मुख, नासा आदि स्रोतों में पाक होना, पेट का भारी होना यथा दोषों का देर में पाक होना—यह सन्निपात में हुआ करते हैं।

यदि सभी पूर्ण रूप से लक्षण हों और जठराग्नि नष्ट हो गयी हो तो सन्निपात ज्वर को साध्य जानना चाहिए। यदि अल्प लक्षण हों तो कष्ट साध्य माना जाता है।

(८) आगन्तुज ज्वर—आठवीं भेद जो आगन्तुज ज्वर कहलाता है, वह अभिघात, अभिषंग, अभिचार अभिशाप भेद से चार प्रकार का होता है।

शस्त्र—मिट्टी का ढेला, चाबुक, लकड़ी, मुट्ठी, थप्पड़, दांत और इन्हीं के समान अन्य साधनों से शरीर पर चोट लगने से अभिघात ज्वर होता है। इसमें वायु रक्त को दूषित करके दर्द के साथ सूजन, अंगों में विवर्णता विशेषतः लाल रंग का होना और बेचैनी के साथ ज्वर उत्पन्न होना होता है।

शोक, भय, क्रोध इनसे पीड़ितों का ज्वर तथा भूतबाधाजन्य ज्वर अभिषङ्ग जानना चाहिए।

सिद्ध ऋषि एवं मुनियों के अभिचार और अभिशाप से जो घोर सन्निपातज ज्वर उत्पन्न होता है—वह दुस्सह समझना चाहिए। इसमें सन्निपात ज्वर के लक्षणों के समान लक्षण होते हैं। मन-इन्द्रियों एवं शरीर की अन्य अनेकों पीड़ाएँ अभिचार एवं अभिशाप में मिला करती हैं।

चिकित्सा—इस प्रकार साधारण ज्वर के आठ भेदों का वर्णन हमने ऊपर कर दिया। शास्त्रों में इनकी चिकित्सा का भी विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। चरक संहिता चिकित्सा स्थान में इसकी चिकित्सा के आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है; हम उसके आधार कुछ सिद्धान्त यहाँ देंगे।

चिकित्सा करते समय सबसे पहले ज्वर की नवीनता का विचार करना पड़ेगा। नवीन ज्वर की चिकित्सा में कुछ सिद्धान्त हैं जिनको बताते हुए कहा गया है कि "नये ज्वर में दिन में सोना, स्नान करना, अभ्यंग करना, अन्न सेवन, मैथुन, क्रोध करना, हवा का झोंका, व्यायामों तथा कषायों का निषेध होता है।"

ज्वर के आरम्भ में लंघन कराने का विधान बताया गया है। लंघन से तात्पर्य यह है कि जो कुछ करने से भी शरीर में लघुता उत्पन्न हो उसको हम लंघन कहेंगे। इसमें चार प्रकार का संशोधन (वमन, विरेचन, आस्थापन और शिरोविरेचन) प्यासा रहना, हवा और आतप (धूप) का सेवन, पाचन, औषधों का सेवन, उपवास करना और हल्का व्यायाम करना आते हैं। लंघन के द्वारा दोषों के क्षय हो जाने पर जठराग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर, रोगी को विज्वरता लघुता और क्षुधा उत्पन्न हो जाती है। लंघन के विषय में एक बात और ध्यान रखनी चाहिए कि क्षय जनित, वातिक, भयज, क्रोधज, कामज, शोकज तथा श्रमज ज्वरों में कभी लंघन नहीं कराना चाहिए।

तरुण ज्वर लंघन, स्वेदन, कालप्रतीक्षा, यवागु तथा तिक्त रस का प्रयोग करना चाहिए। ज्वर में षडंग पानीय का प्रयोग करना चाहिए। इस पानी में नागरमोथा, तित्तपापड़ा, खस, चंदन लाल, सुगन्ध वाला और

सोंठ—सब मिलाकर १ कर्ष से जल १ प्रस्थ द्रव्य द्वैगुण्य २ प्रस्थ बल कर आधा रहने पर उतार कर छान लेना चाहिए। यह ज्वर में लाभ करता है।

दोषानुसार चिकित्सा के सिद्धान्त बताते हुए कहा गया है कि वातज ज्वर का उपचार वस्तियों के द्वारा, पितज ज्वर का उपचार विवेचन के द्वारा और कफज ज्वर का उपचार वमनों के द्वारा करना चाहिए। द्वन्द्वज में इन्हीं के अनुसार उपचार करना चाहिए। त्रिदोषज ज्वर में लंघन, बालुका स्वेद; नस्य, निष्ठीवन, अञ्जन एवं अवलेह का प्रयोग करना चाहिए। आगन्तुज ज्वर में कारण के अनुरूप चिकित्सा करें। अभिचार, अभिशाप एवं अभिषंग के कारण उत्पन्न आगन्तुज ज्वर में दान, धैर्य, पूजन आदि का प्रयोग करना चाहिए।

वात ज्वर में आरम्भ में आम पाचन के लिए क्रिया करें। लंघन के पश्चात् पाचन औषध दें और फिर मृदुरेचन से लाभ पहुँचावें। एतदर्थ निम्न औषधि योग दिए जाते हैं—

(१) बृहत्पंचमूल क्वाथ (रसतन्त्रसार व सिद्धियोगसंग्रह)
(२) कटफार्थादि क्वाथ ,, ,,
(३) सुदर्शन चूर्ण ,, ,,
(४) प्रवाल पिष्टी ,, ,,

यदि मलावरोध हो तो पाचन के पश्चात् अश्वकंचुकी रस दें। मृत्युञ्जय रस का भी प्रयोग करा सकते हैं।

पित्तज ज्वर की शान्ति के लिए निम्न औषधियाँ दी जाती हैं—

(१) पर्पटादि क्वाथ (२) गोदन्ती भस्म
(३) प्रवाल भस्म (४) अमृता सत्व

कफज ज्वर में निम्न शास्त्रीय योग दिए जाते हैं—

(१) त्रिभुवन कीर्ति रस (२) आनन्द भैरव रस
(३) करञ्जादि वटी (४) पिप्पलाद्य क्वाथ
(५) महाज्वरंकुश

त्रिदोषज ज्वर में निम्न योग लाभ करते हैं—

(१) ज्वरांकुश रस (२) सूत राज रस
(३) समीर पन्नग रस (४) सचेतनी वटी
(५) लक्ष्मी नारायण रस

आगंतुज ज्वर में, यदि अभिघात से हो तो आराम देना चाहिए—हलका पौष्टिक आहार दें। यदि भूताभिषङ्ग से हो तो यज्ञ, जप, पूजा, मानस संकल्प आदि करना चाहिए। अभिशाप एवं अभिचार में प्रायश्चित करना चाहिए। विद्वानों की सेवा करना और पूजा करना हितकारक होता है। काम ज्वर में पित्तशामक एवं वातशामक उपचार करें और साथ ही साथ सुरूपा स्त्री का आलिंगन आदि करावें।

इस तरह विचार कर ज्वर के रोगी का उपचार करना चाहिए।

(२) विषम ज्वर (Malaria)—अहित आहार-विहार से उत्पन्न अथवा ज्वर मुक्ति के पश्चात् बचा हुआ थोड़ा सा दोषरसादि सप्त धातुओं में से किसी एक में प्रविष्ट होकर विषम ज्वर उत्पन्न करता है।

उक्तदोष रस में स्थित होकर सन्तत ज्वर को, रक्त में स्थित होकर सतत ज्वर को, मांस में आश्रित होकर अन्येद्युष्क ज्वर को, मेद में स्थित होकर तीसरे दिन आने वाले (तृतीयक) ज्वर को और अस्थिमज्जा में स्थित होकर यम के समान भयंकर और अनेक कष्टों के समूह चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है।

सात, दस अथवा बारह दिनों तक बिना उतरे बना रहने वाला 'संतत ज्वर' कहलाता है। संतत ज्वर दिन-रात में दो बार आता है। 'अन्येद्युष्क ज्वर' दिन-रात में एक बार आता है। 'तृतीय' तीसरे दिन और 'चतुर्थक' चौथे दिन।

तृतीय ज्वर तीन प्रकार का होता है, कफजपित्त कमर पकड़ता है, वात कफज पीठ और वात पित्तज सिर पकड़ता है। चतुर्थक ज्वर दो प्रकार का प्रभाव दिखलाता है—श्लैष्मिक, पिण्डलियों से और वातज सिर से प्रारम्भ होता है।

चतुर्थक विपर्यय नामक एक और विषम ज्वर का ही भेद है। वह आदि और अन्त के दिनों को छोड़कर मध्य के दिनों में चढ़ता है। विषम ज्वर और मलेरिया में बहुत अधिक साहश्य है। कुछ इने-गिने विद्वानों को छोड़कर शेष सभी विषम ज्वर को मलेरिया ही मानने के पक्षपाती हैं। पाश्चात्य ग्रन्थों में मलेरिया के सम्बन्ध में जितना साहित्य उपलब्ध है, उसका सारांश यहाँ दिया जाता है।

मलेरिया—यह रोग गर्म और तर जलवायु में अधिक प्रसार पाता है। भारतवर्ष में वर्षा ऋतु के अन्तिम भाग में और शरद ऋतु में यह विशेष रूप

से फैलता है। इसके कायाणुओं (Parasitis) का मानव शरीर में प्रवेश मच्छरों के द्वारा होता है। एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को रोग नहीं लग सकता है। मच्छर कई प्रकार के होते हैं—उनमें से एक विशेष जाति एनोफिलीस (Anopheles) मादा के द्वारा इसका प्रसार होता है। उक्त मच्छर जब किसी रोगी व्यक्ति का रस चूसता है तब रक्त के साथ मलेरिया कायाणु भी उसके पेट में पहुंच जाते हैं और पलते रहते हैं। इसके पश्चात् वह जिन-जिन व्यक्तियों को काटती है उसके रक्त में कायाणु प्रविष्ट हो जाते हैं। वर्षा ऋतु और तर स्थानों में मच्छर बहुत अधिक उत्पन्न होते हैं। इस लिए उन्हीं दिनों यह रोग सबसे अधिक फैलता है। मच्छरों का नाश करके इस रोग पर बहुत हद तक विजय पाई जा सकती है।

मलेरिया कायाणु की ४ उपजातियां होती हैं—

(१) सौम्य तृतीय—प्लाज्मोडियम वाइवेक्स (Benign Sertian, plasmodium Vivax) यह सबसे अच्छा पाया जाने वाला प्रकार है। यह प्रति २४ घण्टों के बाद ज्वर उत्पन्न करता है।

(२) गम्भीर तृतीयक (Sub-tertian or Malignant Tertian; plasmodium Falcirparum)—यह अत्यन्त तीव्र प्रकार का सन्तत, सतत या तृतीय ज्वर उत्पन्न करता है। वाईवैक्स के बाद सबसे अधिक पाया जाने वाला प्रकार यह है। यह २४ से ४८ घण्टों के बाद ज्वर उत्पन्न करता है।

(३) चतुर्थक—प्लाज्मोडियम मलेरिया (Quartan Plasmodium Malaria)—यह कम पाया जाता है। यह ७२ घण्टों के बाद ज्वर उत्पन्न करता है।

(४) अतिसौम्य तृतीयक—प्लाज्मोडियम औवेल (Oavale Tertian; Plasmodium Ovale)—यह बहुत कम पाया जाने वाला प्रकार है। इसके द्वारा प्रति ४८ घण्टों के बाद अत्यन्त सौम्य प्रकार का ज्वर उत्पन्न होता है।

इसके अतिरिक्त २ उपजातियां और हैं जिन्हें कोई महत्त्व नहीं दिया जाता।

(५) प्लाज्मोडियम टेन्युई (Plasmodium Tenue)—यह शायद फैल्सीपैरम का ही एक प्रकार है।

(६) प्लाज्मोडियम नोलेसी (Plasmodium Knowlesi)—यह कायाणु बन्दरों में विषम ज्वर उत्पन्न करता है। इसका सूचीवेध करके मनुष्यों में भी अत्यन्त सौम्य प्रकार का ज्वर उत्पन्न किया जा सकता है। पक्षाघात के

कई सौम्य प्रकारों में जहाँ ज्वर उत्पन्न होने से लाभ होने की सम्भावना रहती है, वहाँ इन कायाणुओं का सूची-वेध कर ज्वर उत्पन्न किया जाता है।

उपर्युक्त कायाणुओं के जीवन की कई अवस्थाएँ होती हैं। विस्तार भय से उनका न वर्णन करते हुए हमें केवल यही बतलाना है कि ये कायाणु मच्छर के दंश के द्वारा शरीर में पहुँचकर रक्ताणुओं में प्रविष्ट हो जाते हैं। फिर ऊपर बतलाये अनुसार निश्चित समय के बाद ये उन रक्ताणुओं में से निकलते हैं। इससे रक्ताणुओं (R. B. C.) का नाश होता है और कायाणु रक्त-रस (Plasma) में पहुँचकर एक प्रकार का विष छोड़ते हैं, जिससे ज्वारोत्पत्ति होती है रक्ताणुओं का नाश होने से रक्त क्षय (Anaemia) होता है और प्लीहा को अधिक कार्य करना पड़ता है जिससे उसकी शोथमय वृद्धि होती है।

यदि एक ही जाति के कायाणु एक ही समय पर शरीर में प्रविष्ट हुए हों तो ऊपर जो अवधि बतलाई गई है उसी के अनुसार ज्वरोत्पत्ति होती है। किन्तु अनेक जातियों के कायाणु भिन्न-भिन्न समयों पर प्रविष्ट होने पर ज्वर के समय में विभिन्नता हो जाती है जिससे सन्तत सतत आदि भेद होते हैं। उदाहरणार्थ मान लीजिए—तृतीयक ज्वर के कुछ कायाणु एक दिन प्रविष्ट हुए और कुछ उसके दूसरे दिन। अब वह प्रविष्ट होने के क्रम से ४८-४८ घण्टों के बाद ज्वर उत्पन्न करेंगे तो प्रतिदिन एक बार ज्वर का आक्रमण होगा। इसी प्रकार यदि दिन में कई बार कायाणुओं का प्रवेश हुआ हो तो दिन में कई बार ज्वर का आक्रमण होगा जिससे सन्तत या सतत प्रकार का ज्वर हो सकता है।

शरीर में प्रविष्ट कायाणु कुछ काल तक गुप्त रूप से निवास करते हैं। इसके बाद वे रक्त में आकर अत्यन्त शीघ्रता से अपनी वंश-वृद्धि करते हैं। किन्तु उनमें से कुछ रोग प्रतिकारक शक्तियों (Phagocytic cells) के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। यदि कायाणु उतनी संख्या में न बढ़ सके जितनी कि ज्वर उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है तो शरीर में कायाणुओं की उपस्थिति के बावजूद भी ज्वर की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार की रोग प्रतिकारक शक्ति उन स्थानों के निवासियों में पाई जाती है जहाँ मलेरिया का प्राबल्य रहता है किन्तु कई प्रकार के कमजोरी पैदा करने वाले कारणों जैसे थकावट, शीत लग जाना, अधिक भोजन करना, आदि के कमजोरी आने पर जायाणुओं को अपनी वृद्धि करके ज्वर उत्पन्न करने का मौका मिल जाता है।

सामान्यत: सौम्य तृतीयक का संचयकाल (Incubation Period) २ सप्ताह, चतुर्थक का ३ सप्ताह और गम्भीर तृतीयक का ७ से १० दिन तक का है। रोग प्रतिकारक शक्तियों की उपस्थिति में यह काल बहुत लम्बा हो सकता है।

मलेरिया क्षेत्र में नये आये हुए व्यक्ति पर जब मलेरिया का आक्रमण होता है, तब अधिकतर सन्तत ज्वर का रूप दृष्टिगोचर होता है। ज्वर डिग्री (Remittent type of temperature) से अधिक नहीं बढ़ता और जाड़ा अधिक नहीं लगा करता। यदि चिकित्सा न की जाए तो लगभग १ सप्ताह या अधिक दिनों में ज्वर रोज उतरने और चढने (Intermittent type of temperature) लगता है। थोड़ी-सी रोग प्रतिकारक क्षमता की उत्पत्ति का लक्षण है। इसके कुछ दिनों बाद ज्वर सौम्य तृतीयक या चतुर्थक के रूप में परिवर्तित हो जाता है और इसी प्रकार धीरे-धीरे अदृश्य हो जाता है। यहाँ से गुप्तावस्था प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में रोगी स्वस्थ प्रतीत होता है और रक्त में भी कायाणु नहीं मिलते; किन्तु यदि उसका रक्त-सूची वेध द्वारा किसी स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट कर दिया जाए तो उस व्यक्ति पर रोगाक्रमण हो जाता है। यह गुप्तावस्था हफ्तों और कभी-कभी महीनों तक चलती रहती है, जब तक कि रोगी को कमजोर करने या थका-वट आने पर ज्वर पुनराक्रमण का क्रम चलता रहता है और कुछ काल में अत्यधिक धातुक्षय (Wasting) होकर रोगी जीर्ण ज्वरावस्था मे पहुँच जाता है।

मलेरिया क्षेत्र के निवासियों को जिन्हें इसके पूर्व मलेरिया हो चुका हो उन्हें सिर दर्द, सर्वांग में पीड़ा, अरुचि आदि पूर्वरूप प्रतीत होने के पश्चात् अथवा अचानक ही दोपहर के समय जोरों से ठण्ड और कँपकपी लगाकर ज्वर का आक्रमण होता है। चेहरा पीला और कान्तिहीन हो जाता है और ज्वर शीघ्र ही बढ़कर १०३° या १०४° तक इससे भी अधिक हो जाता है। यह दशा शीतावस्था (Cold Stage) कहलाती है और सामान्यत: इसका काल कुछ मिनटों से एक घण्टे तक होता है। इससे पश्चात् रोगी गर्मी का अनुभव करता है, सर्वाङ्ग में दाह होती है, चेहरा लाल हो जाता है और शीतावस्था में उसने जितने वस्त्र पहन या ओढ़ रखे थे उन्हें उतार फेंकता है। इस दशा में ज्वर थोड़ा-बहुत बढ़ता है। यह दशा दाहावस्था (Hot Stage) कहलाती है और इसका काल लगभग ३ घण्टों का होता है। इसके बाद सर्व-

प्रथम ललाट पर और फिर सारे शरीर से पसीना निकलता है और तेजी के साथ ज्वर उतर जाता है। इस अवस्था को प्रस्वेदावस्था (Sweating Stage) कहते हैं। इस अवस्था के बाद ऊपरी तौर से रोग का उपशम हो जाता है, रोगी को आराम मिलता है, ज्वर बढ़ने साथ जो कष्ट उत्पन्न हुए थे वे सभी लगभग दूर हो जाते हैं और अधिकतर रोगी सो जाता है। ज्वरावस्था का कुल समय सामान्यतः ६ से १० घण्टों का रहता है। ये लक्षण सौम्य तृतीय और चतुर्थक ज्वरों मे पाये जाते हैं।

ज्वरावस्था में तीव्र शिरःशूल हाथ-पैरों में खिचने के समान पीड़ा, रीढ़ में पीड़ा, किसी-किसी को उत्क्लेश और पित्त वमन भी होता है। नाड़ी की गति तीव्र रहती है। जीभ पर मैल की तह जम जाती है और मलावरोध रहता है। ओठों पर पिड़िकाओं (Herpeslabialis) की उत्पत्ति अक्सर हो जाती है। शीतावस्था में मूत्र की मात्रा पर्याप्त होती है—यूरिया, क्लोराइड और सल्फेट अधिक मात्रा में और सल्फेट न्यून मात्रा में पाये जाते है। दाहावस्था और प्रस्वेदावस्था में मूत्र की मात्रा न्यून होती है—पित्त और कभी-कभी शुल्कि (Albumin) भी पाई जाती है। मल में पित्तरंजक पदार्थ की मात्रा बढ़ जाती है।

ज्वर की उत्पत्ति उसी समय पर होती है, जिस समय पर कायाणु रक्त कणों में से निकलकर बाहर रक्त रस में प्रवेश करते हैं, ज्वरकारी विष (Pyrogenetic Substance) का उत्सर्ग करते हैं। ज्वर की तीव्रता कायाणुओं की संख्या और रोगी की क्षमता के अनुसार होती है। तृतीयक कायाणु प्रति ४८ घण्टों के बाद और चतुर्थक कायाणु प्रति ६२ घण्टों के पश्चात् रक्त कणों में से निकलते हैं इसलिए तीसरे ज्वर और चौथे दिन आता है। किन्तु बहुधा एक ही प्रकार के कायाणुओं का संक्रमण अनेक भिन्न-भिन्न समयों पर होता है अथवा कई प्रकार के कायाणु का संक्रमण एक या अनेक बार होता है। ऐसी दशा में ज्वर अपेक्षाकृत कम समय के अन्तर से होता है। प्रतिदिन एक बार (अन्येद्युष्क) दिन में दो बार (सतत) दो दिन ज्वर रहना और उसके बाद एक दिन न रहना। (चतुर्थ विपर्यय) इत्यादि। गम्भीर तृतीयक कायाणुओं का रक्तकणों में से निकलना अनियमित रहता है—कुछ कायाणु समय के पूर्व ही निकल आते हैं। जिससे ज्वर की जल्दी चढ़ने (Anticipation) और देर से उतरने (Retardation) की प्रवृत्ति रहती है और कभी-कभी कई दिनों तक ज्वर नहीं उतरता। कभी-कभी इस प्रकार का ज्वर

घातक रूप (Pernicious Malaria) धारण करता है। यदि बड़ी संख्या में गम्भीर तृतीय कायाणुओं का प्रवेश कई बार हुआ हो तो सन्तत ज्वर रहता है जिसमें दिन एक या कई बार ज्वर चढ़ता और उतरता है। किन्तु पूरी तरह से नहीं उतरता, कुछ न कुछ ज्वर बना रहता है परन्तु ऐसा बहुत कम पाया जाता है। अति सौम्य तृतीयक कायाणुओं से शाम को साधारण कोटि का ज्वर आता है।

चिकित्सा—सन्तत ज्वर में दोष पाचन के लिए निम्बादि चूर्ण और महा-सुदर्शन चूर्ण देना चाहिए। यदि कोष्ठबद्धता हो तो अश्वकंचुकी अथवा ज्वर केसरी देवें। रोग शामक औषधियों में लक्ष्मीनारायण रस, महाज्वरांकुश रस, शीतभञ्जी रस देना चाहिए।

सतत ज्वर में दोषापाचन एवं शोधक के लिए दो तोला त्रिफला का क्वाथ कर छह माशा गुड़ मिलाकर प्रातःकाल पिलाना चाहिए। अमृतासत्व लाभ करता है। महाज्वरांकुश, लक्ष्मीनारायण रस तथा सुदर्शन चूर्ण लाभ करता है।

अन्य ज्वरों में भी यही औषधियाँ दी जाती हैं। रोगी की अवस्था के अनुसार, लक्षणों के अनुसार औषधि देनी पड़ती है। सुश्रुत संहिता में इसकी चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि रोगी का शरीर वमन विरेचन अथवा वस्ति द्वारा शुद्ध कर लेना चाहिए।

ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति में विषम ज्वर की चिकित्सा में कुनीन एक उत्तम द्रव्य माना जाता है। कुनीन के दो नुस्से हम नीचे देते हैं जिनका प्रयोग साधारणतः किया जाता है—

क्विनाइनसल्फाश	५ ग्रेन
एसिड सल्फ्यूरिक डिल्यूट	५ बूँद
लाइकर आर्सेनिक एलिस	२ बूँद
जल	१ औंस

इसको एक खुराक के रूप में दें और ऐसी तीन मात्राएँ एक दिन में पिलाई जायें। इससे मलेरिया की रोक होती है।

इसी प्रकार शामक औषधियों में निम्न योग भी दिया जाता है—

क्विनाइड बाइ सल्फाश	१२८ ग्रे॰
स्ट्रिकनीन सल्फा	२ ग्रे॰

एसिड आर्सेनिक एलिस	२ ग्रेन
फेरी साइट्रस	१२८ ग्रेन
एक्सट्रेक्ट जेन्शन	आवश्यकतानुसार

इन सबको मिलाकर चौंसठ गोलियाँ बना लेनी होंगी, इनमें से दिन में तीन समय १-१ गोली दूध पिलाकर देने से विषम ज्वर चाहे जीर्ण भी ठीक हो जाता है।

मलेरिया के शमन के लिए पेटेण्ट दवाइयों का नाम निर्देश नीचे कर रहे हैं।

(१) केमोक्वीन (Camoquin) की गोलियाँ—एक बार में अधिक से अधिक तीन गोलियाँ देना चाहिए।

(२) निवाक्वीन (Nivaquin)—एक मात्रा में अधिक से अधिक चार गोलियाँ, पूर्णता रोग मुक्ति के लिए दस गोलियों का प्रयोग होता है।

(३) क्विनाइन बाद हाइड्रो क्लोराइड—३ ग्रेन, ५ ग्रेन तथा १० ग्रेन की मात्रा में पेशी में इंजेक्शन के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसका इंजेक्शन गहरे मांस में लगाना चाहिए।

(४) यू-क्विनाइन (Eue-quinine)—इसका प्रयोग बच्चों के लिए किया जाता है—क्योंकि बच्चो को कड़वी दवा पचना कठिन होता है—यह मीठी होती है।

इस प्रकार शामक औषधि के रूप में उपर्युक्त द्रव्य प्रयोग किए जाते हैं। इस रोग से बचने के लिए भी कुछ उपाय करने चाहिए जो प्रतिबन्धक चिकित्सा कहलाती है। इसमें मच्छरों को न पनपने देना आवश्यक है। ये मच्छर गर्मी, अँधेरा और आर्द्रता में पलते हैं। अतः ऐसा वातावरण न रहने देना चाहिए। गंदा जल, मल-मूत्र-कूड़ा आदि को एकत्रित मत होने दीजिये। गूगल और लोबान आदि को जलाकर धुआँ देना चाहिए, जिससे कि मच्छरों का नाश हो जाए। कुछ ऐसे लोशनों का प्रयोग छिड़कने के लिए करना चाहिए। यह ऐसे स्थानों पर छिड़के जायँ जहाँ पर मच्छर होते हों।

शरीर में रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। इसके लिए समय पर भोजन करना, उचित मात्रा में भोजन करना आदि अच्छा होता है। इसके लिए पैलुड्रीन नामक औषधि भी खाई जाती है, जो लाभ करती है।

रात को सोते समय मच्छरों से बचने के लिए मच्छरदानी लगाकर सोना चाहिए। यह वहीं पर करना चाहिए जहाँ अधिक मच्छर आदि होते हों।

इन सबके द्वारा इस रोग के आक्रमण से बचा जा सकता है।

(३) मोतीझरा या आन्त्रिक ज्वर (Typhoid)—यह एक प्रसिद्ध रोग है जो विभिन्न नामों से जाना जाता है—कोई इसे मुद्दती बुखार कहते हैं, कोई मोतीझरा कहते हैं। इसका साक्षात कारण एक विशेष कीटाणु है जिसे बेसिलस टायफस (Bacillus Typhosus) कहा जाता है। यह रोग संसार के समस्त देशों में समान रूप से होता है।—सब ऋतुओं में होता है और स्त्री-पुरुष सब को समान रूप से होता है। यह रोग अस्वस्थ और रोग मुक्त रोगी द्वारा फैलता है। इसके कीटाणुओं दूध, दही, मक्खन, जल आदि आहार पदार्थों के साथ किसी व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करते हैं। मक्खी आदि दूषित मल-मूत्र आदि से इन कीटाणुओं को आहार तक पहुँचा देती है। शरीर में प्रवेश करने पर ७ से २१ दिन तक इन कीटाणुओं की वंश-वृद्धि होती है और शक्ति संचय होती है। फिर यह लक्षण प्रकट करते हैं।

इसके आक्रमण का मुख्य स्थान आँत हैं। आँतों में से इनका संक्रमण रक्त पर होता है। आँतों म पेयर की ग्रन्थियों (Peyer's Patches) एवं लसिका ग्रंथियों में शोथ और क्षत उत्पन्न करते हैं। आन्त्र का अन्तिम १८ इञ्च लम्बा भाग ही विशेष रूप से प्रभावित होता है। वहाँ पूयोत्पत्ति भी हो जाती है। इसके कीटाणु मल के साथ अथवा मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकलते हैं।

इस रोग का आरम्भ प्राय: क्षीणता, सिर दद, पीठ में पीड़ा, मलावरोध; अरुचि तथा निद्रावस्था, बेचैनी, रक्तस्राव आदि से आरम्भ होता है। किसी-किसी को अचानक ज्वराक्रमण और वमन, बेचैनी और प्रलाप से आरम्भ होता है। इस रोग का आक्रमण चार अवस्थाओं में से गुजरता है प्रत्येक अवस्था एक सप्ताह तक रहती है। चार अवस्थाएँ निम्न प्रकार होती हैं—

(१) आक्रमणावस्था (Stage of Invasion)—मुख मण्डल और नेत्र मुरझाए हुए, कनीनका (Pupil) प्रसारित, जिव्हा मलावृत किन्तु किनारे लाल, उदर पीड़ा तथा ज्वर का तापांश ज्वर आरम्भ के दिन से प्रतिदिन एक या आधा डिग्री बढ़ जाना। इस अवस्था में ज्वर १०३°F तक हो जाता है, नाड़ी की गति ९० से १०० तक हो जाती है। उदर का आध्मान युक्त होना और प्लीहा की वृद्धि होना एवं गुलाबी पिड़िकाओं का गले पर और उदर पर दिखाई देना होता है। रक्त में श्वेताणुह्रास (Lucopenia) होना, मूत्र में एल्ब्युमिन आना, मूत्र तथा मल में रोग के कीटाणु आने लगते हैं।

(२) पूर्णावस्था (Stage of Fastigium)—दुर्बलता की वृद्धि, सिर दर्द में कमी, नेत्र तेजहीन, कानों में बहरापन, जिह्वा मलावृत, बिलेष शुल्क, निद्रानाश, प्रलाप होता है। ज्वर १०१° से १०३° F रहता है। नाड़ी की गति १०० से कुछ कम होती है। अतिसार की प्रवृत्ति मिलती है जिसमें इस रोग के कीटाणु होते हैं। यह अवस्था दूसरे सप्ताह में रहती है।

(३) अवनतावस्था (Stage of Defervescence)—रोगी अब भी अधिक क्लान्त रहता है। प्रलाप सहित बेहोशी होती है। निद्रानाश, तन्द्रा, जिह्वा की शुष्कता एव मलिनता और मांसपेशियों का संकोच होता है। यह अवस्था भयप्रद होती है। इसमें रक्तस्राव होने अथवा आँतों का क्षय हो जाने का भय रहता है। सप्ताहान्त में सुधार की सम्भावना रहती है—ताप कम होता है।

(४) मुक्तावस्था (Convalscence)—ताप कम होते हुए प्रात.काल में कम हो जाना और शाम के समय बढ़ जाना, उदरगुहा की प्रतिक्रियाओं का आरम्भ होना, प्लीहा का स्पष्ट बढ़ा हुआ न लगना, शरीर पर पीड़िकाएँ न दिखाई देना और जिह्वा आदि का स्वच्छ हो जाना यह सब लक्षण दिखाई देते हैं।

यह साधारण स्वरूप है मोतीझरे का, इसका उग्र स्वरूप भी हो सकता है कितने ही उपद्रव आदि भी हो सकते हैं जो घातक सिद्ध हो सकते हैं। हम उन सबका वर्णन यहाँ नहीं कर रहे, कारण वह सब इस पुस्तक की सीमा से बाहर के विषय हैं—चिकित्सा विषयक वृहद् पुस्तकों से उनका अध्ययन करना चाहिए।

चिकित्सा—जैसा कि आरम्भ मे लिख आए हैं कि इस रोग का आक्रमण दूध, पानी आदि के विकृत होने से होता है। अत: आवश्यक है कि पानी को उबाल कर प्रयोग करें, दूध को उबालकर ठंडा कर लें। वस्त्र बरतन एवं मकान आदि को स्वच्छ रखना चाहिए। जहाँ पर रोगी को रखें वहाँ पर मक्खी आदि का प्रवेश न हो सके, रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिए, उसको बहुत ही लघु आहार देना चाहिए क्योंकि आँतों में पाचन की शक्ति नहीं होती। इस रोग म मुख एवं दाँतों को साफ रखना चाहिए। जो भी लक्षण उत्पन्न होते जाएँ उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। ध्यान यह रखना चाहिए कि इस रोग में ज्वर को कम करने की कोई चेष्टा न की जावे।

रोगी का उपचार आरम्भ करते हुए २-४ दिन तक केवल उष्ण जल

देना चाहिए। यह जल उबालकर प्रयोग होना चाहिए मोसम्मी का रस, दूध का सेवन भी किया जा सकता है।

दोषों का पाचन करने के लिए मुस्तादि क्वाथ का प्रयोग करते हैं। निम्न ओषधियाँ इस रोग का दमन करने वाली कही गई है—

(१) लक्ष्मीनारायण रस-विषनाशक एवं प्रतिषेधनात्मक शक्ति को बढ़ाता है।

(२) मधुरान्तक वटी—विष को बाहर निकालती है।

(३) प्रवाल पिष्टी—ज्वर के विष का पाचन भी करती है।

(४) कस्तूरी भैंवर रस

(५) सूत शेखर रस।

(६) संजीवनी वटी।

(७) अमृताष्टक क्वाथ।

इन सबका वर्णन रसतन्त्रसार व सिद्ध योग संग्रह में किया है। इनमें से जो अवस्थानुसार उपयुक्त जान पड़े उसी का प्रयोग करना चाहिए।

एलोपैथिक में इस रोग का नाश करने के लिए कुछ वर्ष पूर्व कोई अच्छी दवा न थी। अनुसंधान द्वारा एक प्रसिद्ध औषधि जो क्लोरोमाइसिटीन (Chloromycetin) कहलाती है, कुछ वर्ष पूर्व निकली जो इस रोग के कीटाणु का नाश करने वाली होती है। इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए—कारण इसके द्वारा अनेक उपद्रवों के होने का भय भी रहता है। आजकल इस औषधि का प्रयोग इस रोग के नाश के लिए बहुत किया जा रहा है।

(४) वातश्लैष्मिक ज्वर (Influenza)—यह एक प्रसिद्ध रोग है जो संक्रामक होता है और महामारी के रूप में फैलता है। १६१८ में सारे संसार में इस रोग का प्रसार हुआ था। उस समय करोड़ों प्राणी इस रोग से आक्रान्त होकर मर गये थे। इतिहास देखने पर पता चलता है कि अब से पहले भी तीन बार इस रोग का महामारी के रूप में प्रसार हो चुका है। इस रोग में कफ विकृत होता है और वायु भी साथ में विकृत हो जाती है—इसलिए इसे वातश्लेष्मिक कहा जाता है। इससे श्वास संस्थान, पाचन संस्थान वातवाहक संस्थान, मस्तिष्क आदि दूषित होते हैं और विशेष रूप से कमजोरी उत्पन्न होती है।

इस रोग का आक्रमण एक कीटाणु द्वारा होता है ऐसा आधुनिक चिकित्सा शास्त्रों में वर्णित किया गया है। कीटाणु के विषय में निश्चित मत नहीं हैं—कारण यह है कि कुछ लोग दण्डाकार कीटाणु 'बेसिलस' 'इन्फ्लूएंजा' को इसका

साक्षात कारण कहते हैं। इस रोग में प्रतिश्याय अवश्य रहता है अतः 'स्टैफिलोकोकस ऑरियस' को भी इस रोग की उत्पत्ति में सहायक माना जाता है। कुछ का कहना है कि यह वायरस (Virus) सूक्ष्म नामक कीटाणु से उत्पन्न रोग है। इस वायरस की तीन जातियाँ होती हैं A. B. C. आक्रमण होने पर एक से तीन दिन संचयकाल रहता है, फिर रोग प्रकट हो जाता है।

इस रोग का आक्रमण कफ बिन्दुओं (Droplet) के द्वारा होता है। रोगी के खाँसने अथवा थूकने पर इसका संक्रमण हो जाता है। श्वास मार्ग विशेष रूप से विकृत होता है। श्वासनली और फुफ्फुसों का रंग सलेटी के समान हो जाता है। रक्तस्राव होता है। यदि उस आक्रमण पीड़ित भाग को काटकर पानी में डालेंगे तो वह डूब जाता है। कीटाणुओं के अन्नमार्ग में पहुँचने से वमन या अतिसार होने लगता है। मस्तिष्क में पहुँचकर ये कीटाणु शोथ आदि उत्पन्न करते हैं। वृक्क कुछ बड़े हो जाते हैं और रक्तयुक्त होते हैं। रक्त में श्वेत जीवाणुओं की संख्या कम हो जाती है।

इस रोग का प्रारम्भ अचानक होता है। रोगी के शरीर में विविध प्रकार की वेदनाओं की अनुभूति होती है—नाक से स्राव, आँखों से पानी, गले से दर्द, जकड़ाहट, अत्यधिक दुर्बलता, सिरदर्द, खाँसी, बेचैनी तथा तेज ताप से यह रोग आरम्भ होता है। बहुत बार इस तरह के लक्षण प्रकट होते हैं कि यह नहीं जाना जा सकता कि यह रोग क्या है। 'सिनोपसिस आफ मैडीसन' ग्रन्थ में इसके विभिन्न रूपों का वर्णन किया है—वहाँ पाँच प्रकार का वातश्लैष्मिक ज्वर कहा गया है—

(१) तीव्र ज्वर प्रधान (General Febrile Type)—इसमें एकदम तेज ज्वर आता है—तेज सिर दर्द, चक्कर एवं तीव्र वेदनाएँ होती हैं। नाड़ी मन्द, कफ-प्रकोप, मलावरोध, श्वास मार्ग का शुष्क होना, स्वरयन्त्र का अवरोध सा होना आदि लक्षण होते हैं। यह ज्वर प्रायः एक सप्ताह तक रहता है।

(२) घातक लक्षण प्रधान (Malignant Type)—इसमें अन्य लक्षणों के साथ विषाक्तता (Toxemia) के लक्षण प्रकट होते हैं—इसमें शरीर में नीलिमा आ जाती है। यह खतरनाक होता है और हृदयावरोध हो जाने से मृत्यु हो जाती है।

(३) श्वासयन्त्र विकृत लक्षण प्रधान (Respiratory Type)—इसमें श्वास नलिका से लेकर फुफ्फुस तक आक्रान्त रहते हैं। इसमें श्वास प्रणालिका प्रदाह (Broncho pneumonia) के समान लक्षण प्रकट होते हैं। इसमें फुफ्फुमावरण पूयमय हो जाता है। यह खतरनाक है।

(४) पचनेन्द्रिय संस्थान विकृति लक्षण प्रधान (Gastro Intestinal Type)—कभी-कभी इस तरह का भी होता है—अरुचि, उदरपीड़ा, मलावरोध एवं प्रतिश्याय तथा भोजनोपरान्त वारित आदि होती है। कभी-कभी कामला हो जाता है।

(५) वातसंस्थान विकृति लक्षण प्रधान (Nervous Type)—इसमें विविध प्रकार की वेदनाएँ उत्पन्न होती हैं। गम्भीर सिरदर्द, निद्रानाश, प्रलाप और शक्ति ह्रास होता है।

किसी न किसी रूप में वातश्लैष्मिक ज्वर इन पाँचों में से एक होता है। इस रोग का यदि समय पर उपचार कर दिया जाए तो ठीक है अथवा उपद्रव आदि उत्पन्न हो जाते हैं। शक्ति का ह्रास, बात-बात में क्रोध का आना, वातनाड़ी प्रदाह, उन्माद, पक्षाघात आदि हो सकते हैं। हृदय गति में वृद्धि हो जाती है। जिस रोग में उपद्रव न उत्पन्न हुए हों वह साध्य होता है—उपद्रव उत्पन्न हो चुकने पर असाध्य समझना चाहिए।

चिकित्सा—(१) रोगी को साफ एकान्त स्थान में रखें और आराम करने दें।

(२) आरम्भ में लंघन कराना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो सरल एवं अल्प आहार दिया जा सकता है।

(३) यदि कोष्ठबद्धता हो तो एरण्ड तेल देकर कोष्ठ शुद्धी करायें।

(४) त्रिभुवन कीर्ति रस ½ रत्ती,
श्रृङ्ग भस्म १ रत्ती,
अभ्रक भस्म १ रत्ती,

ऐसी एक मात्रा को गुडूच्यादि क्वाथ से दें और ऐसी तीन मात्राएँ एक दिन में दें।

(५) यदि शुष्क कास हो तो—

प्रवाल पिष्टी-१ रत्ती अभ्रक भस्म-½ रत्ती।
सुहागा का फूला-१ रत्ती शहद में दिन में तीन बार।

(६) प्रलाप के शमन करने को कस्तूर्यादि वटी, ब्राह्मी वटी और वात-कुलान्तक रस का प्रयोग किया जाता है।

(७) हृदयावरोध में पूर्ण चन्द्रोदय रस, रस सिन्दूर या त्रैलोक्य चिन्तामणि रस देना चाहिए।

(८) पक्षाघात हो गया हो तो महावातविध्वंसन का प्रयोग करना चाहिए।

एलोपैथिक में इस रोग का उपचार निम्न प्रकार करने को कहा गया है—

(i) नाक में कोई औषधि बिन्दु (Nasal Drops) का प्रयोग करना चाहिए।

(ii) गले में गरारे करें और भाप को गले में जाने दें, साथ ही गले में औषधि लगाएँ।

(iii) दर्द आदि दूर करने एवं पसीना लाने के लिये निम्न औषधियों में से कोई औषधि दें।

(a) Aspirin. (b) Salicylates. (c) Amibopyrin.

इनकी मात्रा १० ग्रेन होती है—आवश्यकतानुसार देनी चाहिए।

(iv) सल्फर की औषधियाँ, पैन्सलीन और ब्राडस्पैक्टोरम एण्टीबायटिकों का प्रयोग कर सकते हैं।

(v) रोग का प्रसार न हो एतदर्थ विसंक्रमण की व्यवस्था रखते हैं और रोगी के थूक आदि को फेंकते हैं।

(५) दण्डक ज्वर अथवा हड्डीतोड़ बुखार (Dengue or Breakbone Fever)—यह ज्वर कलकत्ता के आस-पास एवं अन्य उष्ण प्रदेश में वर्षा ऋतु के बाद कभी-कभी महामारी के रूप में फैलता है। इसका प्रसार एक विशेष जाति के मच्छर ऐडीज इजिब्टी (Aedes Aegybti) और संभवतः अन्य मच्छरों के द्वारा भी होता है। उत्पत्ति का कारण एक प्रकार का विषाणु है। आक्रमण किसी भी आयु के स्त्री, पुरुष या बालक पर हो सकता है, किन्तु मृत्यु प्रायः नहीं होती।

रोग के प्रथम दो दिनों में रोगी को काटने वाले मच्छर संक्रमित हो जाते हैं और लगभग ९ दिनों में उनमें दूसरे मनुष्यों में रोग फैलाने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। मच्छर द्वारा विषाणु प्रवेश होने क बाद ५ से ९ दिनों के भीतर ज्वर का आक्रमण होता है।

रोग का आरम्भ वेगसहित तीव्र ज्वर से होता है जो शीघ्र ही बढ़कर

१०२° तक जाता है। चेहरा और नेत्र एवं कभी-कभी सारा शरीर लाल हो जाते हैं। मुख और गले की श्लैष्मिक कला में भी रक्ताधिक्य के कारण लाली उत्पन्न हो जाती है। आँखों, सिर और कमर में एवं सारे शरीर में भयंकर पीड़ा होती है। गम्भीर प्रकार में मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव्य का दबाव बढ़ जाता है तथा रीढ़ और शाखाओं में कठोरता आ जाती है जिससे रोगी पूर्ण तया अचल हो जाता है। जिह्वा शुष्क और मलयुक्त रहती है, भूख नहीं लगती और उत्क्लेश मलावरोध आदि लक्षण भी उपस्थित रहते हैं। सारे शरीर की त्वचा उष्ण, शुष्क (स्वेद रहित) और पीड़ा युक्त रहती है। कुछ रोगियों में मुख, नाक, आमाशय, आंत, गर्भाशय आदि मार्गों से रक्तपित्त की प्रवृत्ति हुआ करती है।

ज्वर ३-४ दिन रहकर कम हो जाता है अथवा पूर्णतया उतर जाता है। इसके साथ ही पीड़ा और बेचैनी में भी कमी हो जाती है। किन्तु ७ वें या ८वें दिन पुनः ज्वर का आक्रमण होता है जो लगभग उतना ही जोरदार होता है, पूर्वोक्त सभी लक्षण पुनः स्पष्ट हो जाते हैं तथा इस बार त्वचा में उद्भेद निकलते हैं। उद्भेद छोटे-छोटे गुलाबी धब्बों के रूप में होते हैं जो बाद में मिलकर बड़े धब्बों में बदल जाते हैं। सर्वप्रथम इनका दर्शन हाथों और हथे लियों के पीछे और फिर क्रमशः अन्य भागों में होता है। कुछ रोगियों में रक्तस्रावी चकत्तों की भी उत्पत्ति होती है। उद्भेद पूर्णतया निकल आने पर ज्वर उतर जाता है एवं उद्भेद २-३ दिन रहकर शान्त हो जाते हैं तथा चमड़ी का एक हल्का-सा पर्त्त निकलकर त्वचा स्वस्थ हो जाती है।

प्रारम्भ में नाड़ी तीव्र रहती है किन्तु कुछ ही काल बाद सौम्य हो जाती है (ज्वर के अनुरूप तीव्रता नहीं रहती) रक्त में श्वेतकायाणुक्षय, लसकायाणु वृद्धि एवं बहाकारी कायाणुओं क्षय लक्षित होता है। कुछ रोगियों में रोगो पशम के पश्चात् उषमीप्रियता लक्षित होती है।

उपद्रव—सन्धिप्रदाह, लसिकाग्रन्थिप्रदाह, मस्तिष्क अथवा मस्तिष्कावरण प्रदाह, फुफ्फुसावरण प्रदाह, फुफ्फुसनलिका प्रदाह, फुफ्फुसखण्ड प्रदाह, हृत्पेशी प्रदाह आदि।

चिकित्सा—मकान की सफाई एतदर्थं बहुत आवश्यक है। मच्छर न रह सके तथा सूर्य का प्रकाश मकान में जाए—इस बात का ध्यान रखना चाहिए

रोगी को पूर्ण विश्राम दें जब तक धब्बे न मिट जायें। वायु स्वच्छ हो किन्तु सीधी तेज वायु नहीं लगनी चाहिए।

इस अवस्था में वेदना-शामक उपचार आवश्यक है। नमक के पानी मे भिगोकर उसमें सेक करना चाहिए। गरम कपड़ा बांध देना चाहिए। अफीम वाली औषधि देने से लाभ होता है। ध्यान रहे कि मलावरोध की अवस्था में अफीम न दी जाय। इस रोग में रोगी क्षीण होता है, अतः उसके बल का रक्षण करना आवश्यक है।

ज्वर का शमन करने के लिए आयुर्वेदोक्त निम्न औषधियां दी जाती हैं:—

(i) लक्ष्मीनारायण रस—२ रत्ती।

दशमूल क्वाथ के साथ दिन में दो बार।

अथवा

(ii) मृत्युञ्जय रस—२ रत्ती।

बेलपत्र स्वरस और मधु के साथ दिन में दो बार।

सुदर्शन चूर्ण; रत्नगिरी रस; संजीवनी वटी आदि योग इस अवस्था के लिए लाभदायक हैं।

एलोपैथिक चिकित्सा में इसका कोई निश्चित निदान नहीं किया गया है। केवल लक्षणों का शमन करने के लिए उपचार किया जाता है। वेदना को दूर करने के लिए निम्न औषधि देते हैं—

(i) एस्पिरिन ५ ग्रेन।

गर्म पानी से तीन बार नित्य।

अथवा

(ii) सोडा सेलिसलास १५ ग्रेन।

सोडा बाइकार्ब ३० ग्रेन।

पानी से प्रत्येक छह घण्टे में

ऐसा भी कहा जाता है कि वत्सनाभ प्रधान औषधि लाभ करती है।

पथ्य—रोगी को तीव्र ज्वर में दूध पर रखना चाहिए। मौसम्मी का रस सेब, सन्तरा, अंगूर, अनार आदि का प्रयोग कराया जा सकता है।

(६) बेरी-बेरी (Beri-Beri)—यह रोग जीवतिक्त बी 1 की कमी से उत्पन्न होता है। इसके दो प्रकार हैं—(१) शोथयुक्त और (२) शुष्क। शोथ-युक्त प्रकार को ही कुछ लोग वातबलासक ज्वर मानते हैं।

शोथयुक्त बेरी-बेरी (Wet Type of Beri-Beri)—पूर्व-रूप पेट में मीठा-मीठा दर्द पेट में भारीपन (Discomfort), भूख न लगना, शरीर के कुछ भागों में संज्ञापरिवर्तन[१] (Paraesthesia) और कुछ भागों में परमस्पर्शज्ञता[२] (Hyperaesthesia), पिंडली में पीड़ा, कमजोरी, धड़कन (Palpitation) और क्षुद्रश्वास (Shortness of breath)।

रूप—पैरों में शोथ प्रारम्भ होता है जो बढ़ते-बढ़ते सारे शरीर में फैल जाता है, त्वचा में कुछ कड़ापन रहता है—मूत्र कम होता है किन्तु उसमें शुक्लि (Albumin) अथवा निर्मोक (Cast) नहीं रहते हैं। क्षुद्रश्वास के लक्षण अधिक स्पष्ट हो जाते हैं और मुख पर श्यावता (canosis) प्रकट हो जाती है। नाड़ी की गति तीव्र रहती है जो परिश्रम पर और भी तीव्र हो जाती है। रक्त-भार कम रहता है। फुफ्फुस तल फुफ्फुसावरण और हृदयावरण में जल भर जाता है। पैरों में घात (Paralysis Paraplegia) के लक्षण प्रकट होते हैं।

शुष्क बेरी-बेरी (Dry Type of Beri-Beri)—इसमें शाखाओं की वात-नाड़ियों का प्रदाह (Peripheral Neuritis) होता है, जिससे उसमें गृध्रसी के समान पीड़ा होती है। शाखाओं में मांसक्षय होता है। जिससे वह सूख जाती है। पाचन क्रिया ठीक रहती है, किसी-किसी को मामूली अग्निमांद्य हो सकता है।

आयुर्वेद में बेरी-बेरी को वातबलासक ज्वर कहा गया है। इसमें पहले

१. संज्ञापरिवर्तन (Paraesthesia) के लक्षण—किसी अंग विशेष में शून्यता या भारीपन का अनुभव होना, वह अंग कहाँ है इसका सम्यक् ज्ञान न होना। जब पैरों में यह विकार होता है तब चलते समय रोगी को ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह रुई के गद्दे पर चल रहा है।

२ परमस्पर्शज्ञता (Hyperaesthesia) के लक्षण—इस विचार में कई प्रकार का पीड़ा का अनुभव होता है, पीड़ा एक ही स्थान पर रहती है अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान को दौड़ती है (Shooting Pain)। त्वचा के पास हो सकती है अथवा गहरे मांस में। चींटी के समान, चींटियों के चलने के समान अनुभव, सुई गोधने के समान पीड़ा इत्यादि कई प्रकार की पीड़ाओं का अनुभव होता है।

वात द्वारा श्लेष्मा विकृत होता है, फिर अन्य दोष एवं दूष्य विकृत हुआ करते हैं। माधवकार ने इसके लक्षण निम्न प्रकार लिखे हैं—

"हर समय शरीर में मन्द-मन्द ज्वर बना रहे, रूक्षता हो, शोथ हो और ज्वर के कारण अवसन्नता, अंगों में जकड़न और कफ की अधिक वृद्धि हो, उस रोग को वात-बलासक कहा जाता है।"

चिकित्सा—आयुर्वेद में इसकी चिकित्सा के विषय में कहा गया है कि त्रिदोष का विचार कर इसकी चिकित्सा करना चाहिए। प्रधान रूप से श्लेष्मा नाशक उपचार करना चाहिए। जो-जो उपद्रव हों उनकी भी चिकित्सा करनी चाहिए। मूत्रल अग्नि दीपक औषधियों का प्रयोग लाभदायक होता है।

औषधि योगों को निम्न प्रकार दे सकते हैं—

(i) मकरध्वज-१ रत्ती, प्रवालभस्म-१ रत्ती,
गोदन्ती-२½ रत्ती, शृङ्गभस्म-१½ रत्ती
मधु से दिन में तीन बार।

(ii) लोहभस्म-१ रत्ती, प्रवाल भस्म-१ रत्ती,
गोदन्ती-२ रत्ती, मधु से दिन में तीन बार।

(iii) पुनर्नवादि मण्डूर-४ रत्ती, प्रवाल भस्म-१ रत्ती, यवक्षार-½ रत्ती।
सांठी की जड़ के रस से दिन में दो बार।

भोजनोपरान्त—
पुनर्नवाद्यरिष्ट—२ तोला। समान जल मिलाकर दो बार।

एलोपैथिक चिकित्सक इस रोग का कारण विटामिन बी की कमी मानते हैं—अतः इसकी चिकित्सा विटामिन बी का प्रयोग करना बताया गया है। विटामिन बी के विविध योग प्रयोग किये जाते हैं।

पथ्य—हलका खाना हितकारक होता है। हाथ से कुटे हुए चावलों का प्रयोग करना चाहिए। गेहूँ फल, हरे शाक, दूध, टमाटर आदि का प्रयोग करना चाहिए। सूर्योदय के समय ताड़ी पीना लाभ करता है।

इस रोग से बचने का एकमात्र उपाय उत्तम भोजन करना, स्थान की स्वच्छता और शुष्कता हितकारक होती है। बल की रक्षा करना हितकारक होता है।

निमोनिया—यह दो प्रकार का होता है—

(१) फुफ्फुस खण्ड प्रदाह (Lobar-pneumonia)
(२) फुफ्फुस नलिका प्रदाह (Broncho-pneumonia)

फुफ्फुस खण्ड प्रदाह—इस रोग की उत्पत्ति फुफ्फुस गोलाणु का आक्रमण फुफ्फुसों पर होने से होती है। संक्रमण बिन्दुत्क्षेप द्वारा होता है। यद्यपि इसका आक्रमण किसी भी आयु के स्त्री-पुरुषों पर होना असम्भव नहीं है, तथापि नवयुवक अधिक आक्रान्त होते हैं और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषो पर अधिकतर आक्रमण होता है। अधिकांश रोगी ठण्ड को पकड़ जाते हैं, यद्यपि ऋतु का कोई बन्धन नहीं है। संकीर्ण स्थान में बहुत से मनुष्यों का निवास, शराब का व्यसन, गन्दगी, शीत लग जाना, कमजोरी और प्रतिश्याय की उपस्थिति इस रोग की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। चयकाल १-२ दिनों का है।

इस रोग में फुफ्फुसों की ४ अवस्थाएँ क्रमशः होती हैं—

(i) रक्तसंचय (Encorgement),
(ii) लोहित घनी भवन (Red Hepatisation),
(iii) भूरा घनी भवन (Grey Hepatisation),
(iv) मोक्ष (Resolution)।

फुफ्फुसों के भाग जिस क्रम से आक्रान्त होते हैं, उसी क्रम से ये अवस्थाएँ भी आती हैं, इसलिए परीक्षा करने पर भिन्न-भिन्न भागो में भिन्न-भिन्न अवस्थाएं एक साथ मिलती है।

रक्त संचय की अवस्था—रोग का आक्रमण होते ही फुफ्फुस के आक्रान्त भाग की केशिकाओं में रक्त भर है फुफ्फुस लाल रंग का और फुफ्फुसावरण भी लाल रंग का एवं कान्तिहीन दीखता है।

लोहित घनीभवन की अवस्था—इसके बाद ही फुफ्फुस का ठोस (घन) होना प्रारम्भ होता है। आक्रान्त भाग लाली लिए हुए बादामी (Brown) रंग का, आसानी से टूटने वाला (सामान्य फुफ्फुस काफी लचीला होता है), और वायुहीन होता है एवं जल में डालने से डूब जाता है, सूक्ष्म दर्शक यन्त्र से परीक्षा करने पर वायु कोषों में (Airecell) में जमा हुआ लाल कणों से युक्त तांत्विन, बह्मवारी, श्वेतकायाणु और वायुकोषों के आवरण भरे हुए मिलते हैं, क्षुद्र श्वास नलिकाएँ चिपक जाती हैं।

भूरे घनीभवन की अवस्था—इसके बाद ही आक्रान्त भाग का रग भूरा-सा हो जाता है, वह कुछ नरम हो जाता है, किन्तु अभी तो आसानी से टूटता

है, लाल कण और तान्त्विन अदृश्य हो जाते हैं तथा श्वेत रक्त कण काफी संख्या में मिलते हैं और वायु कोषों का भराव कम हो जाता है।

मोक्ष की अवस्था इसके बाद की अवस्था में भराव और भी कम होते हैं, फुफ्फुस सामान्य दशा में आने लगते हैं, वायुकोषों से भरे हुए पदार्थ द्रवीभूत होकर कुछ तो सोख लिए जाते हैं और कुछ थूक के साथ बाहर फेंक दिये जाते हैं। बड़ी संख्या में भक्षक कोषाओं की उत्पत्ति होती है जो फुफ्फुस गोलाणुओं को ग्रहण कर लेती है।

लक्षण—एक दो दिन बचैनी प्रतिश्याय आदि पूर्व रूप रहने के बाद क्रमश: अथवा अचानक ही जाड़ा और कंपकपी लगकर तीव्र ज्वर (लगभग १०४°) आता है, जो लगातार कई दिनों तक एकसा (सन्तत) बना रहता है। कुछ रोगियों को उदरशूल और दमन होकर तथा बालकों को आक्षेप ज्वर की उपलब्धि होती है। रोगी का चेहरा लाल एवं उतरा हुआ तथा त्वचा स्वेदहीन और उष्ण होती है, शुष्क कास थोड़ी-थोड़ी आती है और फुफ्फुस के आक्रान्त भागों से शूल चलता है। श्वासोच्छवास कष्ट के साथ, किन्तु जल्दी-जल्दी होता है और पूरी गहराई तक श्वास नहीं लिया जाता। श्वास के साथ नाक की पेशियाँ (Alae Nasi) कार्य करती हैं। श्वास गति ४० से ५० तक प्रति मिनट रहती है। नाड़ी भरी हुई एवं उछलती हुई रहती है किन्तु गति ज्वर की अपेक्षा कम होती है। जिह्वा मैली और शुष्क भासती है कुछ रोगियों के ओठों पर पीड़कायें (ओष्टपरिसर्प Herpeslabialis) निकलती है। कुछ नें प्रलाप, मास्तष्कावरण प्रक्षोभ, आक्षेप आदि वातज उपद्रव भी होते हैं।

दूसरे या तीसरे दिन थोड़ा-थोड़ा लाल रंग का (Rusty) कफ कठिनाई के साथ निकलने लगता है। परीक्षा करने पर उसमें लाल रक्त कणं, उपत्वचा कोष और बहुत से मामलों में फुफ्फुस गोलाणु कफ के साथ काफी खून मिला हुआ निकल सकता हैं। बाद की अवस्था में कफ अधिक निकलने लगता है एवं उसका रंग साफ हो जाता है। कहीं-कहीं मामलों में कफ लाल से बादामी रग का (Prunejuice character) अथवा हरे से रंग का (पित्त के कारण) अथवा पूययुक्त (Muco-Puruiant होता है और आसानी से निकलता है। मोक्ष तेजी के साथ बुखार उतरकर (दारुण मोक्ष) होता है। कुछ रोगियों का ज्वर उतरकर पुन: चढ़ जाता है और फिर दूसरे दिन पूर्णतया उतरता है (मिथ्या दारुण मोक्ष—Pseudocrysis)। ज्वर उतरते

ही रोगी को आराम मिलता है, खांसने में कष्ट नहीं होता है और कफ आसानी से निकलता है तथा खुलकर पेशाब होता है एवं नींद आ जाती है । सामान्यत स्वास्थ्य प्राप्ति तीव्रता के साथ होती है ।

रोग की तीव्रावस्था में अनिन्द्रा से घोर कष्ट होता है, कुछ मामलों में अत्यधिक प्रलाप होता है । यकृत और प्लीहा की किंचित वृद्धि होती है ।

मूत्र थोड़ा और गहरे रंग का होता है, नमक घट जाता है और श्वेति तथा थोड़े बहुत दानेदार निर्मोक उपस्थित रहते हैं । ज्वर उतरने पर मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है तथा लवण अधिक परिमाण में निकलते हैं ।

रक्त में श्वेतकायाणुत्कर्ष १५००० से ३०००० प्रतिघन मिलीमीटर तक मिलता है एवं उषसिप्रिय-कणों की कमी होती है । लाल रक्त कणों का क्षय होता है । लगभग एक तिहाई रोगियों में रक्त संघर्ष फुफ्फुस गोलाणु पाये जाते हैं । प्रारम्भिक अवस्था में रक्त में थोड़े से फुफ्फुस गोलाणु मिलना कोई महत्त्व नहीं रखता, किन्तु बाद की अवस्थाओं में इनकी बड़ी संख्या में मिलना एक गंभीर लक्षण है ।

शब्दश्रवण यन्त्र से परीक्षा करने पर रोगारम्भ में आक्रान्त पार्श्व पर रूक्ताधिक्त के चिह्न मिलते हैं, श्वास ध्वनि क्षीण हो जाती है, प्रतिश्वसन (Resonance) में भी कमी हो जाती है और सूक्ष्म आर्द्र करकराहट (Fine-crepitation) की ध्वनि मिलती है । घनी भवन की अवस्था में आक्रान्त पार्श्व की गति मन्द हो जाती है, ठेपण ध्वनि भी मन्द हो जाती है और वाचिक लहरियों (Vocal fremitus) तथा वाचिका प्रतिस्वनन (Vocal Resonance) की वृद्धि होती है । नलिका जन्य (Tubula) श्वसन होता है । ज्वर शमन हो जाने के बाद भी कुछ दिनों तक स्थूल आर्द्रकरकराहट (Coarse crepitations) की ध्वनि मिलती है ।

हृदय के दक्षिण प्रकोष्ठों में रक्त का भराव सामान्य से कुछ अधिक रहता है । संकोचिक मर्मर (Systolic murmur) के साथ हृदय की ध्वनियाँ कुछ मन्द रहती हैं और गम्भीर मामलों में टिक-टिक ध्वनि अथवा वाल्गिक ताल (Gallop Rhythm) प्रकट होती है । फुफ्फुसीय द्वितीय ध्वनि तीव्रतम हो जाती है । रक्तनिपीड़ (Blood pressure) प्राय. निम्न (कम) रहता है ।

आनुषंगिक फुफ्फुस खण्ड प्रदाह (Secondary Lobar Pneumonia) चिरकारी हृदय और वृक्कों के रोगों में, मधुमेह में और वैनाशिक रक्तक्षय

(Pernicious anaemia) में उपद्रव स्वरूप फुफ्फुसखण्ड प्रदाह की उत्पत्ति हो सकती है। शल्य कर्मोत्तर दशा में भी द्रव्यों के दुष्प्रभाव से अथवा दूषित पदार्थों के निकलने के फलस्वरूप फुफ्फुसखण्ड प्रदाह हो सकता है।

आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु, उपान्त्रिक दण्डाणु, राजयक्ष्मा दण्डाणु, अग्निरोहिणी (प्लेग) दण्डाणु, कुकारा दण्डाणु (Bacillus Pertussis), फुफ्फुस दण्डाणु (Pneumo-Bacillus), मालागोलाणु, स्तवक गोलाणु, गुह्यगोलाणु और विषाणु (Virus) भी स्वतन्त्र या परतन्त्र (उपद्रव स्वरूप) फुफ्फुसखण्ड प्रदाह उत्पन्न कर सकते हैं। विभेद कफ संवर्धन से होता है।

(२) फुफ्फुस नलिका प्रदाह (Broncho-pneumoina)—यह दो प्रकार की होती हैं—

(i) प्राथमिक फुफ्फुस नलिका प्रदाह (Primary Broncho-pneumonia)

(ii) द्वितीयक फुफ्फुस नलिका प्रदाह (Secondary Broncho-pneumonia)

(i) प्राथमिक फुफ्फुस नलिका प्रदाह—इस रोग की उत्पत्ति फुफ्फुस गोलाणुओं की उन विशेष उपजातियों से होती है जो खास संस्थान के ऊपरी भागों में ही रहना पसन्द करती है (Higher Types)। मालगोलाणु, स्वतक गोलाणु, प्रतिश्यायाणु (M Catarrhalis) अथवा फुफ्फुस दण्डाणु भी इनका साथ देते हैं।

कभी-कभी राजयक्ष्मा अथवा अग्निरोहिणी (प्लेग) के दण्डाणु स्वतन्त्र रूप से १-२ वर्ष के बालकों को करते हैं। अधिकांश मामलों में प्रतिश्याय, वातश्लेष्म ज्वर अथवा रोमान्तिका के बाद इसकी उत्पत्ति होती है। आक्रमण एकाएक ज्वर बढ़कर (लगभग १०३° तक) होता है। ज्वर बढ़ने के समय पर शीतकम्प, वमन और आक्षेप हो सकते हैं। चेहरे पर रक्ताधिक्य अथवा श्यावता रहती है, श्वास तेजी के साथ चलती है एवं अधिकांश मामलों में प्रत्येक श्वास के साथ नासापाली प्रसारित और संकुचित होती है तथा पसलियों के बीच की जगह और उदर का ऊपरी भाग उठता है और दबता है (पसली चलना)। ज्वर ५-७ दिनों तक अर्ध विसर्गी (Remittent) रूप में रहता है और फिर धीरे-धीरे कम होकर उतर जाता है (सौम्य मोक्ष)।

दोनों फुफ्फुसों में घनीभवन के चिन्ह कुछ भागों में और श्वासनलिका प्रदाह के चिन्ह अन्य स्थानों में फैले हुए मिलते हैं।

इस रोग को साधारण भाषा में डब्बा रोग या पसली चलना कहते हैं

(ii) **द्वितीय आनुषंगिक फुफ्फुस नलिका प्रदाह**—यह रोग प्रायः वातश्लेष्म ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, रोमान्तिका, कुकास, मसूरिका, लोहित ज्वर, रोहिणी, अग्निरोहिणी, आदि रोगों एवं शरीर में किसी पूयकारी (Septic) रोग जैसे कर्णपाक, अन्त्र-पुच्छ प्रदाह आदि की उपस्थिति के फलस्वरूप एवं उपद्रवस्वरूप उत्पन्न होता है। कभी-कभी तीव्र आमाशयान्त्र प्रदाह (Gastro-enteritis) के बाद भी यह होता पाया गया है। आस-पास के किसी स्थान से पूयकारी पदार्थ निकलकर क्षुद्रश्वास-नलिकाओं में प्रविष्ट होने से भी यह रोग उत्पन्न होता है। कई प्रकार की जीर्ण अवस्थाओं में (जैसे बच्चों में चिरकारी अतिसार, बालशोष रोग आदि और बड़ों में हृदय अथवा वृक्क के चिरकारी रोग) यह रोग उत्पन्न होकर मृत्यु का कारण बनता है।

रोगी अधिकतर बालक या वृद्ध होते हैं, किन्तु किसी भी आयु के व्यक्ति पर आक्रमण हो सकता है। उत्पादक जीवाणु अधिकतर मालागोलाणु स्तवक अथवा वातश्लेष्म दण्डाणु हुआ करते हैं। ये सीधे श्वासनलिका में प्रवेश करते हैं। कभी-कभी लसिका अथवा रक्त के द्वारा भी प्रवेश करते हैं। सर्वप्रथम श्वास नलिका प्रदाह होता है जो आगे चलकर श्वास केशिकाओं और वायु कोषों में फैल जाता है। श्वास केशिकाओं में निर्वात भर जाता है और उनसे सम्बन्धित वायुकोषों का निपात (Collapse) हो जाता है। इन निपातित भागों में भी प्रदाह फैलता है और छोटे-छोटे घनीभवन क्षेत्र तैयार होते हैं। अधिकतर फुफ्फुसों का तल भाग और पृष्ठ भाग अधिक प्रभावित होता है। कभी-कभी फुफ्फुसावरण में भी प्रदाह हो जाता है, जिससे उसमें लसीकीय अथवा पूयमय द्रव भर जाता है। रोगोपशम के समय पर प्रदाह जन्य पदार्थों का चूषण और ष्ठीवन होकर फुफ्फुस स्वाभाविक दशा में लौटते हैं परन्तु कभी-कभी यह कार्य अधूरा ही हो पाता है और फुफ्फुसों में तन्तूत्कर्ष होता है। वातश्लेष्मदण्डाणु जन्य प्रकार में रक्तस्राव होता है।

रोगारम्भ अधिकर श्वासनलिका प्रदाह होकर होता है जिसके साथ १००°-१०१° ज्वर रहता है। शीघ्र ही रोग बढ़कर फुफ्फुस नलिका प्रदाह के रूप में आ जाता है। ज्वर बढ़कर १०२°-१०४° हो जाता है और खाँसी, बेचैनी एवं नाड़ी की गति और श्वास की गति में वृद्धि हो जाती है। कुछ मामलों में श्वासोच्छ्वास के साथ नासापाली दबती और उभरती है एवं श्यावता, श्वेतमेह आदि उपद्रव भी हो सकते हैं। गम्भीर दशाओं में

मस्तिष्कावरण शोथ के लक्षण प्रलाप. तन्द्रा, संन्यास, बाह्यायाम आदि भी हो सकते हैं।

फुफ्फुसों की परीक्षा करने पर कुछ स्थानों में प्रदाह और कुछ में घनीभवन के चिह्न मिलते हैं। हृदय की ध्वनियां मन्द रहती हैं किन्तु फुफ्फुसीय ध्वनियाँ तीव्र रहती हैं। ष्ठीवन में पूयमिश्रित और कभी-कभी रक्तमिश्रित कफ निकलता है।

रोगोपशम २-३ सप्ताह या इससे भी अधिक समय में होता है। ज्वर क्रमशः धीरे-धीरे उतरता है। ज्वर उतर जाने के बाद फुफ्फुसों को स्वाभाविक दशा में आने में काफी समय लगता है।

चिकित्सा—निमोनिया की चिकित्सा में रोगी की अवस्था का पूर्व विचार करना नितान्त आवश्यक है। साधारणत निमोनिया के लिए आयुर्वेद निम्नवत के औषधियोग दिये जाएँ तो अच्छा लाभ करेंगे—

त्रिभुवन कीर्ति रस	१ रत्ती	चन्द्रामृत रस	२ रत्ती
पुष्करमूल त्वक्	४ रत्ती	शृंग भस्म	२ रत्ती।

ऐसी चार मात्राएँ चार-चार घण्टे पश्चात मधु के अनुपान से दें। इससे भी लाभ न हो निम्न औषधि का प्रयोग कर सकते हैं—

सुवर्ण चन्द्रदय	१ रत्ती,	शृंग भस्म	२ रत्ती,
बृहत् कस्तूरी भैरव	१ रत्ती		

मधु से चार-चार घण्टे पश्चात् एक दिन में ऐसी चार मात्राएं।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में पैन्सलीन निमोनिया की रामबाण औषधि मानी जा रही है। यह मांसगत सूचिवेध द्वारा दी जाती हैं। इसकी गोलियाँ भी प्राप्त होती हैं जो मुख द्वारा सेवनीय हैं। पेन्सलीन के साथ-साथ निम्न औषधियों का प्रयोग एतदर्थ किया जाता है।

(१) सल्फाथॉयेजोल। (२) सल्फा पैरिडीन। (३) सल्फा डायजीन।

यदि रोगी को निन्द्रा आदि न आती हो तो उसे क्लोरल हाइड्रस १० ग्रेन की मात्रा में एक औंस पानी में घोल कर देते हैं। प्रलाप की अवस्था में आयुर्वेद की हिंगु कर्पूर वटी का प्रयोग किया जाता है।

जब रोगी का हृदय कमजोर लगे तो निम्न औषधियों का प्रयोग करना चाहिए—

(१) कोरामीन, (२) स्ट्रिकनीन, (३) डिजिटेलिस।

निमोनिया से रोगनिवृत्ति के पश्चात् रोगी का बल क्षीण हो जाता है। उस अवस्था में बल लाने के लिए निम्न औषधियों का प्रयोग करना चाहिए--

(१) लोहभस्म, (२) मण्डूर भस्म, (३) सुवर्णमाक्षिक भस्म, (४) बसन्त मालती (सुवर्णयुक्त), (५) बसन्त सुकुमार रस।

इस रोग की चिकित्सा में ध्यान रखना चाहिए कि रोगी को हवादार खुले कमरे में रखा जाय। कमरे का ताप बढ़ा हुआ हो ताकि वह गरम रह सके। रोगी की छाती पर गरम ऊनी कपड़ा रखना चाहिए। पीने के लिए उष्ण जल का प्रयोग करना चाहिए।

रोगी की छाती पर लगाने के लिए प्रयोग भी बताए गए हैं—आवश्यकतानुसार निम्न योगों में से जो उपयुक्त समझें प्रयोग कर सकते हैं—

(१) लिनेमेण्ट टरपैनटाइन (सफेद तेल),

(२) लिनेमेण्ट कैम्फर,

(३) एण्टीफ्लोजिस्टन का प्लास्टर,

(४) मृगशृंग घिस कर छाती पर लेप,

(५) नारायण तेल में कपूर मिलाकर मालिश।

इन सबके साथ सुपाच्य हलका आहार दें। गर्म दूध, फल, बर्ले और साबूदाना का प्रयोग कराया जा सकता है।

(८) रोमान्तिका—रोमान्तिका, खसरा, मीजल्स (Measles)—यह एक तीव्र संक्रामक रोग है, जिसमें नासा और कण्ठ को श्लेष्मिक कला का प्रदाह होता है और चौथे दिन शरीर पर एक प्रकार की पिड़िकाएँ निकल आती हैं।

कारण—यह सब पिड़िकायुक्त ज्वरों से अधिक तीव्र संक्रामक है। आरम्भ से लेकर रोग मुक्त के १५ दिन बाद तक, जब तक पिड़िकाओं का सारा उपचर्म नहीं उतर जाता, रोगी रोग फैलाने का कारण बना रहता है। इसके कीटाणु रोगी के कण्ठ, गले और नासा की श्लेष्मा, पिड़िकाओं तथा उसके उतरने वाले उपचर्म में उपस्थित रहते हैं और यहाँ से संसर्ग द्वारा अथवा श्लेष्मा व उपचर्म से दूषित वस्तुओं द्वारा, बहुत कम परिचारिकों द्वारा अन्य व्यक्तियों तक पहुँचकर उनकी नाशा और कण्ठ में जाकर रोग उत्पन्न कर देते हैं। रोग के एक बार हो जाने के कुछ न कुछ काल के लिए क्षमता बढ़ जाती है, और कई वर्ष तक पुनः यह रोग नहीं होने पाता। भारत में यह रोग

बहुतायत से देखा जाता है। हेमन्त; शिशिर और वसन्त ऋतु में अधिकतर फैलता है और प्रायः २ से ५ वर्ष के बच्चों में अधिक होता है।

परिपाक काल—१० से १५ और सीमा ५ से २० दिन है।

लक्षण—प्रायः अकस्मात १०१° फा० ज्वर चढ़ जाता है। चढ़ते समय थोड़ा प्रतिश्याय, शिरोगौरव और अंगमर्दादि लक्षण होते हैं, नाक बहने लग जाती है, छींक आने लगती है, आँखें लाल होती हैं, उनसे पानी आने लगता है और प्रकाश नहीं सह सकतीं। कुछ काल पीछे खासी आरम्भ हो जाती है। प्रायः हरे दस्त आने लगते हैं, ज्वर दूसरे तीसरे दिन कुछ कम हो जाता है। चौथे दिन पिड़िकाएँ निकल आती हैं और ज्वर पुनः तीव्र हो जाता है, सात दिन पीछे उतर जाता है। रोगारम्भ के दूसरे या तीसरे दिन, पिड़िकाओं के निकलने से पूर्व मुख के अन्दर श्लेष्मिक कला पर मसूढ़ों के सम्मुख लाल-लाल से निशान दिखाई देते हैं। इनके केन्द्र कुछ नीलाभ होते हैं। ये चिन्ह तीन-चार दिन रह कर पिड़िकाओं के निकलते ही मिट जाते हैं। इनसे रोग मीमांसा में विशेष सहायता मिलती है। ये लक्षण केवल इसी रोग में ही होते हैं।

रोगारम्भ से चौथे-पाँचवें दिन सबसे प्रथम मस्तक पर, कानों के पीछे और नीचे बालों के पास तथा मुँह के इतस्ततः पिड़िकाएँ निकल आती हैं। पहले वह स्थान लाल होता है पीछे वहाँ पिड़िकाएँ उभर आती हैं। एक-दो-दिन में ग्रीवा वक्ष, उदर तथा शाखादि सारे शरीर पर फैल जाती हैं। ललाट, मुख, ग्रीवा, उदर पर विशेषतया अधिक होता है। पिड़िकाओं को देखने से यह मालूम होता है कि वे किंचित उभरी हुई, घनी तथा लाल रंग की हैं। घनी होने के कारण ये परस्पर मिल जाती हैं और गोल और अर्धचन्द्राकार घेरे सी दिखाई देती हैं। त्वचा में किंचित शोथ सा दिखाई देती है, जिससे रोगी शोथयुक्त प्रतीत होता है। पिडिकाओं में कभी-कभी रक्तस्राव हो जाता है, कभी-कभी उनमें जलन या कण्डू भी प्रतीत होती है, जिससे रोगी बेचैन हो जाता है, वायु और जल के सम्पर्क से यह लक्षण और बढ़ जाते हैं, प्रतिश्याय, शिरशूल, अङ्ग पीड़ा आदि लक्षण भी बढ़ जाते हैं। कभी-कभी प्रलाप, निद्रानाश आदि सन्निपात (विष) के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

दो-चार दिन रहकर पिड़िकाएँ मुरझा जाती हैं और ज्वर भी कम हो जाता है। परन्तु गला कई दिन तक खराब रहता है और खांसी रहती है। पिड़िकाओं के मुरझा जाने पर उस स्थान पर धूसर धब्बे पड़ जाते हैं और वहाँ १०-१५

दिन तक उपचर्म उतरता रहता है। जब कभी पिड़िकाएँ रुक जाती हैं, पूरी नहीं निकलने पातीं, वह बड़ी भयानक अवस्था है।

नाड़ी और श्वास की गति ताप के अनुपात से अधिक होती है। जब ज्वर तीव्र होता है तो प्रतिश्याय और कासादि लक्षण भी अधिक हो जाते हैं, और कभी-कभी प्रलाप निद्रानाशादि उपद्रव भी हो जाते हैं। जिह्वा पर मैल जमी होती है जो दो-चार दिन बाद उतर जाती है और जिह्वा नीचे से सुर्ख निकल आती है।

भेद—इसके चार भेद होते हैं।

(१) पिड़िका रहित।

(२) रक्तस्रावी पिड़िकाओं में रक्तस्राव हो जाता है। यह बहुत भयानक है। रोगी प्राय मर जाता है, कोई बच भी जाता है। नाक से रक्तस्राव होने लगता है।

(३) वातिक—इसमें प्रलापादि वातिक लक्षण उग्र होते हैं। यह भी भयानक है इसमें सन्निपात के लक्षण होते हैं।

(४) ब्राङ्कोन्यूमोनिक (Broncho Pneumonic)—दोनों फुफ्फुसों में सर्वत्र कूजन सुनाई देती है, ज्वर, प्रलाप आदि लक्षण अति तीव्र होते हैं। श्वास के कारण रोगी का वर्ण कृष्णाभ सा हो जाता है। यह चारों भेद भयानक हैं।

उपद्रव--सबसे भयानक श्वास मार्ग के उपद्रव हैं, यथा—तीव्रकास, प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह (Broncho Pneumonia), काली खांसी आदि। जब से कास आदि लक्षण चिरकाल तक रहें तो फुफ्फुस-कोष्ठविस्तृत एव राजयक्ष्मा हो जाने का भय रहता है।

वृक्क शोथ भी एक ऐसा उपद्रव है जो प्रायः इस रोग में हो जाता है। परन्तु बहुधा इसका ज्ञान कई वर्ष बाद होता है। उस समय तक यह जीर्ण हो चुका होता है। चिकित्सक को इसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

कभी-कभी इस रोग में ज्वर पिड़िकाएँ शान्त होने के बाद भी चिरकाल तक बना रहता है।

रोग मीमांसा—वास्तविक पिड़िकाओं के निकलने से पूर्व निम्नोक्त लक्षण इस रस को स्पष्ट कर देते हैं।

(१) प्रतिश्याय, छींकों का आना; आंखों का लाल तथा अश्रुमय होना।

पीड़िकाओं से पूर्व मुख में चर्वणक दांतों के सम्मुख श्लैष्मिक कला पर लाल निशान दिखाई देते हैं।

(२) पिड़िकाओं से पूर्व आंखों के कोये अर्ध चन्द्राकार पिण्ड सूज जाते हैं।

(३) शरीर के किसी भाग पर शृंगी लगने से स्थान लाल हो जाता है और जब तक पिड़िकाएं नहीं निकल आतीं लाल ही रहता है।

(४) मूत्र में डयाजो प्रतिक्रिया भी इसमें विशेषतया सिद्ध होती है।

चिकित्सा—रुग्ण बच्चे के लक्षण पैदा होने से खुरण्ट के उतर जाने तक अन्य बच्चा से पृथक् रखें तथा परिचारकों को भी अन्य बच्चों में न जाने दें।

भोजन—दूध, फलरस, लाजपेयादि, तरल पदार्थ दें। इसके लिए कोई विशेष औषधि नहीं परन्तु द्राक्षा तथा कुंकुम पिड़िकाओं के निकलते समय देने से वे शीघ्र एवं सारी निकल आती हैं। यदि पिड़िकाएँ न निकलें तो रोगी को मकरध्वज, रस-सिन्दूर १-१ रत्ती, शृंग भस्म ४ रत्ती मिलाकर दें। बालकों में इसकी मात्रा १ या ½ भाग यथावत दें, अन्य उष्ण औषधियां खाने को दें और अलसी की पुलटिस बांधें या सेक दें। कास, फुफ्फुस प्रदाह, अतिसार आदि उपद्रवों की चिकित्सा में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, मुखपाक व कण्ठ प्रदाह के लिए कण्ठ में मधुसौभाग्य अथवा बोरो ग्लिसरीन आदि चीजें लगानी चाहिए।

(६) मसूरिका—कटु, अम्ल, लवण, क्षार एवं विरुद्ध पदार्थों के सेवन से भोजन के बाद तुरन्त करने से, दूषित सेम, शाक आदि सेवन से, दूषित जलवायु से तथा देश पर क्रूर ग्रहों की दृष्टि से भी कुपित हुए दोष दूषित रक्त के साथ मिलकर शरीर पर मसूर के समान पीड़िकाएँ उत्पन्न करते हैं। ये मसूरिका हैं।

इसके निकलने के पूर्व ज्वर, खुजलाहट, अंगों में टूटने के समान पीड़ा, बेचैनी, भ्रम, त्वचा में विवर्णता सहित शोथ और नेत्रों में लाली की उत्पत्ति होती है।

वातज (मसूरिका के) स्फोट श्याम एवं अरुण वर्ण के, रूक्ष, तीव्र वेदना-युक्त, कठोर एवं देर से पकने वाले होते हैं तथा सन्धियों, अस्थियों एवं पर्वों में फटन, खांसी, कम्प, बेचैनी, तालु, ओंठ एवं जीभ का सूखना, तृष्णा और अरुचि से युक्त रहते हैं।

पित्त प्रकोप जन्य (मसूरिका के) स्फोट लाल, पीले, सफेद, दाह एवं तीव्र पीड़ा से युक्त तथा जल्द पकने वाले होते हैं और इसके साथ अतिसार, अंगों

में पीड़ा, दाह, तृष्णा, अरुचि, मुखशाक नेत्रों में लाली और अत्यन्त कष्टदायक तीव्र ज्वर हाता है।

रक्तज मसूरिका में यही पित्तज लक्षण होते हैं।

कफ थूकना, शरीर गीले वस्त्र से आच्छादित के समान प्रतीत होना, सिर दर्द, अंगों में भारीपन, हृल्लास, अरुचि, निद्रा एवं आलस्य से युक्त श्वेत, स्निग्ध, अत्यन्त स्थूल, खुजलाने वाली, पीड़ा करने वाली मन्द तथा देर से पकने वाली मसूरिका कफजन्य कही गई है।

त्रिदोषज मसूरिका नीलवर्ण, चपटी, विस्तृत, मध्य में दबी हुई, अत्यन्त पीड़ा करने वाली, देर से पकने वाली, दुर्गन्धित स्राव करने वाली तथा सख्या में बहुत अधिक होते हैं और ये कण्ठ में रुकावट (निगलने, बोलने एव श्वास लेने में अवरोध की प्रतीति) अरुचि, स्तम्भ, प्रलाप एवं बेचैनी से युक्त रहती है। ये चर्म (चर्ममसूरिका का अथवा मधु कोषकार के मत से चर्म दल) नामक पीड़िकाएँ कृच्छ साध्य कहीं गई हैं।

पाश्चात्य मत

(१) मसूरिका-चेचक (Small Pox, Variola)—यह एक विषाणु (Virus) से उत्पन्न तीव्र संक्रामक रोग है जो रोगी की त्वचा के खुरण्टों, वस्त्रों एव प्रत्यक्ष सम्पर्क से फैलता है। सामान्यतः बालक ही आक्रान्त होते हैं किन्तु वैसे आयु का कोई बन्धन नहीं है। शीत और वसंत ऋतुओं में यह अधिक फैलता है।

प्रारम्भ में अचानक कँपकपी लगकर या आक्षेप आकर तीव्र ज्वर (१०३°-१०४°) उत्पन्न होता है। इसके साथ तीव्र सिर दर्द, कमर में पीड़ा, हृल्लास, वमन, प्रलाप, मलावरोध, मलावृत जिह्वा, श्वास, दुर्गन्ध आदि लक्षण रहते हैं। दूसरे दिन त्वचा में लाल धब्बे, लालिमा युक्त शोथ अथवा सूक्ष्म कोठ कुछ मामलों में पाये जा सकते हैं। वास्तविक दाने तीसरे दिन प्रकट होते हैं। ये सर्वप्रथम खुले रहने वाले भागों तथा रगड़ एवं दबाव पड़ने वाले भागों में लक्षित होते हैं और फिर सारे शरीर में फैल जाते हैं। प्रारम्भ में ये छोटे किंचित् उभरे हुए लाल धब्बों के रूप में रहते हैं किन्तु तीसरे दिन तक बढ़कर दाल के बराबर हो जाते हैं और बीच में एक छोटा गड्ढा लक्षित होता है। पांचवें दिन से आठवें दिन तक इनमें पाक होता है; इस समय से पीताभवर्ण की उभरी हुई फुन्सियों का आकार धारण करते हैं, नवें दसवें दिन से इनका सुकड़ना और सूखना आरम्भ हो जाता है तथा काले रंग की पपड़ी (खुरण्ट) निकलने लगती

है जो प्रायः सोलहवें दिन तक निकल चुकती है। पपड़ी निकल चुकने पर गहरे दाग शेष रह जाते हैं। बाल और कभी-कभी नाखून भी झड़ जाते हैं। प्रारम्भ में चढ़ा हुआ ज्वर पूर्णतया दाने निकल चुकने पर (चौथे या पाँचवें दिन) प्रायः पूर्णतया उतर जाता है और सौम्य मामलों में दुबारा नहीं चढ़ता। किन्तु गम्भीर मामलों में पाक होने के समय पर (सातवें दिन) पुनः चढ़ता है और नवें या दसवें दिन अत्यधिक बढ़कर फिर क्रमशः कई दिनों में उतरता है।

प्रकार—(अ) सौम्य मसूरिका (Mild Variola or Varioloid)—ज्वर हल्का रहता है और केवल प्रारम्भ में हो जाता है, दुबारा नहीं आता। दाने थोड़े और त्वचा के ऊपरी स्तर में रहते हैं।

(ब) क्षुद्र मसूरिका (Alastrim-Paravariola-Variola Minor)—दाने चौथे या पाँचवें दिन निकलते हैं और जल्दी सूखते हैं, दुबारा ज्वर नहीं आता है।

(स) गम्भीर या वृहत् मसूरिका (Severe or Gonfluent Variola)—दाने बहुत अधिक संख्या मे निकलते हैं और अत्यन्त पास-पास होने के कारण परस्पर मिल जाते हैं। आँख, कान, नाक, मुख, कण्ठ, योनि, गुदा आदि में भी दाने निकलते है जिससे उन स्थानों से सम्बन्धित उपद्रव होते हैं। अंगों में शोथ होता है। ज्वर प्रारम्भ से ही तीव्र रहता है। ५ दिन थोड़ा कम होता है किन्तु पाक के समय पर पुनः तेज हो जाता है और प्रलाप आदि उपद्रव भी होते हैं। रोगी अत्यन्त वीभत्स हो जाता है और शरीर से दुर्गन्ध आती है। बहुत से मामलों में ज्वर एवं विषमता बढ़कर अथवा फुफ्फुस नलिका प्रदाह या रक्तस्राव होकर मृत्यु हो जाती है। अन्य मामलों में १२वें दिन से दशा सुधरने लगती है और फिर शीघ्रता से आरोग्य लाभ होता है। बहुत से रोगी अन्धे, बहरे हो जाते हैं।

(द) रक्तस्रावी मसूरिका (Haemorrhagic Variola)—इसमें तीव्र ज्वर के साथ रक्तपित्त (निलोहा, Purpura) के सम्पूर्ण लक्षण होते हैं। त्वचा में रक्तस्रावी धब्बे उत्पन्न होते हैं और समस्त श्लैष्मिक कलाओं से रक्तस्राव होता है। ३ से ६ दिनों में मृत्यु हो जाती है। कोई-कोई रोगी भाग्य प्रबल होने पर ही बच सकता है।

(इ) गर्भिणी की मसूरिका (Smallpox in pregnancy)—यह प्रायः गम्भीर या रक्तस्रावी प्रकार की हुआ करती है और गर्भपात होने की अत्यधिक सम्भावना रहती है, इसलिए प्रायः मारक होती है।

उपद्रव—अनेक प्रकार की पूयोत्पादक क्रियाएँ—व्रण, विद्रधि, विसर्प, कर्णपाक, अस्थिमज्जा प्रदाह, कर्णमूलकग्रन्थि पाक, फुफ्फुस प्रदाह, ग्रसनिका प्रदाह, स्वर यन्त्र प्रदाह, हृत्पेशी प्रदाह, नेत्रकला प्रदाह नेत्र व्रण, व्रषण प्रदाह, जननेन्द्रिय में कर्दम (Gangrene), मस्तिष्क प्रदाह, सुषुम्ना प्रदाह, वातनाड़ी प्रदाह आदि तथा अतिसार, वमन, रक्तातिसार, रक्तमेह, इन्द्रलुप्त, अन्धत्व आदि।

आजकल मसूरिका प्रयोग (टीका) का प्रचार होने से यह रोग बहुत कम पाया जाता है; गम्भीर एवं रक्तस्रावी प्रकार और भी कम पाये जाते हैं।

(२) गो-मसूरिका (Vaccinia; cow-pox)—इस रोग से पीड़ित गाय का दूध दुहने से संक्रमण होकर केवल अंगुलियों में मसूरिका-सदृश लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस रोग के हो चुकने पर मसूरिका के आक्रमण की संभावना अत्यन्त कम रह जाती है। इस सिद्धान्त के आधार पर मसूरी का आविष्कार हुआ है। इसमें स्थानिक पीड़ा और १-२ दिन ज्वर रहता है।

मसूरी प्रयोग (टीका Vacination) से भी वही लक्षण होते हैं, किन्तु दाने नहीं निकलते हैं जहाँ टीका लगाया जाता है।

लघु मसूरिका (Chicken-pox Variola)—यह रोग मसूरिका के ही समान विषाणुजन्य और संक्रामक है किन्तु उससे भिन्न है। इसका आक्रमण साधारण ज्वर के साथ होता है जो ३-४ दिन से अधिक नहीं ठहरना है। पहले ही दिन अथवा दूसरे धड़ में विस्फोट निकलते हैं। इनका आकार मोती के समान होता है तथा यह शीघ्र ही पककर सूख जाते हैं और खुरण्ट निकल आता है। ये थोड़े-थोड़े बार-बार निकलते हैं और धड़ से आरम्भ होकर हाथो और सिर की ओर फैलते हैं। रोग की शान्ति २-३ दिन अधिक से अधिक ७ दिन में हो जाती है। कुछ दाने मुख एव गले में भी हो सकते हैं, इनमें व्रण बनते हैं।

कुछ मामले गम्भीर प्रकार के हो सकते हैं। इनमें से कुछ में विस्फोट बड़े हो सकते हैं और फूटने पर व्रण बनते हैं—विस्फोटों के प्रकार (Bollous Type)। कुछ में विस्फोट अधिक घने होकर कर्दम के समान दशा उत्पन्न करके तीव्र ज्वर आदि उपद्रव करके मृत्यु तक कर सकते हैं—कर्दमी प्रकार (Gangrenous Type) अन्य मामलों में विस्फोट के भीतर तथा कई श्लेष्मिक स्थानों से रक्तस्राव हो सकता है। रक्तस्रावी प्रकार (Haemorrhagic Type)। ये तीनों गम्भीर प्रकार के उत्तरोत्तर अत्यन्त विरल हैं।

चिकित्सा—यह एक छूतदार रोग है—अतः इससे बचाव रखना नितान्त आवश्यक है। इसमें दानों के शुष्क होने पर जो छिलके उतरते हैं, उनके द्वारा यह प्रत्यक्ष संसर्ग द्वारा अथवा वायु के माध्यम से दूर-दूर तक फैल जाता है। स्वास्थ्य विभाग इस रोग की रोकथाम के लिए समुचित प्रबन्ध करता है। रोगी को सभी व्यक्तियों से अलग रखा जाता है। रोगी का कमरा-कपड़े आदि सदैव कृमविहीन करने आवश्यक होते हैं। नगरों में जहाँ पर अस्पताल हों वहाँ इस व्याधि से पीड़ित व्यक्ति को अस्पताल में ले जाना अच्छा रहता है।

घर पर रोगी रखा जाय तो उसका कमरा अलग हो—उसके वस्त्र तथा अन्य मल-मूत्र छिलके आदि पूर्ण रूप से साफ कर देने चाहिए। नीम के पत्तों की धूनी के द्वारा कमरों को स्वच्छ करना चाहिए, सुगन्धित धूप जलाना हितकारक रहता है। हल्का सुपाच्य आहार रोगी को दिया जा सकता है।

रोगी के चारों तरफ का वातावरण बिल्कुल सौम्य होना चाहिए। जो भी परिचारक हों वह शान्त स्वभाव से सेवा करें—क्रोध, क्रूरता, घृणा आदि की भावना बिल्कुल न हो। शुद्धता का जितना ही अच्छा प्रबन्ध होगा—उतना ही रोग शान्ति के लिए अच्छा होगा।

इस रोग से बचाव के लिए टीका लगवाना हितकारक है। पहले ऐसा विचार था कि जीवन में एक बार किसी को इस रोग का आक्रमण हो अथवा एक बार इससे बचाव का टीका लगवा दिया जाय तो फिर जीवन भर इसका आक्रमण नहीं होता किन्तु अब यह बात गलत सिद्ध हो चुकी है और इसलिए अब हर वर्ष इससे बचाव के टीके लगाने की प्रथा चालू हो गई है।

(१०) ग्रन्थिक ज्वर या प्लेग—यह वात प्रधान त्रिदोषज है। यह रोग, रोगी में, रोग ३-४ दिन पश्चात् पूर्णतः प्रकट होता है। इसके चार प्रकार देखे जाते हैं।

(१) ग्रन्थिक—शरीर में दर्द, मानसिक थकावट व जंघा में गिल्टियाँ पायी जाती है। गिल्टियाँ कभी-कभी कक्षा में भी देखी जाती हैं। इन्हें स्पर्श करने से वेदना होती है।

शारीरिक तापक्रम बढ़ जाता है। २ से ५ दिन पश्चात् ज्वर उतर जाता है। आँखें चढ़ जाती हैं। शब्द स्पष्ट नहीं होते व नाड़ी दुर्बल हो जाती है। तीसरे या ५वें दिन मृत्यु हो सकती है।

(२) रक्तगत—यह असाध्य है। हल्का ज्वर, मद्यता, रक्तस्राव व अन्त में मृत्यु हो जाती है। गिल्टियाँ मुख्यतः बड़ी नहीं होतीं।

(३) फुफ्फुस—सर्दी लगती है, शरीर गिरा-गिरा रहता है, सर्दी व ज्वर पाया जाता है। श्वास व रक्तमिश्रित कफ आता है। यह असाध्य है।

(४) क्षुद्र—इसमें कुछ लसिका ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। मद ज्वर होता है।

विशिष्ट लक्षण—तन्द्रा, चूहों के मरने का इतिहास, जंघा में गिल्टियाँ, तीव्र ज्वर, नाड़ी की गति में तीव्रता, स्वरभंग, चलने में लड़खड़ाहट व दुर्बलता मिलती है।

चिकित्सा—आयुर्वेदिक मतानुसार—

तन्द्रा की अवस्था में—नस्य, अंजन दें।

(१)	चण्डेश्वर रस	२ रत्ती।
	तीन मात्रा अद्रक के रस के साथ।	
(२)	वेताल रस	२ रत्ती।
	विश्वेश्वर रस	२ रत्ती।
	वृहत कस्तूरी भैरव	१ रत्ती।
	सौभाग्यवटी	४ रत्ती।

१+२ मात्रा दोपहर, अद्रक के रस से।

पाश्चात्य मत से

(१) सल्फाथाईजोल या सल्फाडाईजन ६ ग्राम ६ दिन तक।

यदि रोग घातक हों तो—स्ट्रेप्टोमाईसीन का इंजेक्शन ४ ग्राम की मात्रा में एकदम दे दिया जाता है। इसके चार घण्टे पश्चात् २ ग्राम का इंजेक्शन व फिर हर ४ घन्टे पश्चात् ज्वर के साधारण हो जाने तक, १ ग्राम का इंजेक्शन दिया जाता है।

(२) इसके अतिरिक्त—क्लोरोमाईस्टीन तथा टैरामाईसीन भी अच्छा असर दिखाती है।

(३) गिल्टियों पर टिंचर आयोडीन या ग्लिसरीन का लेप करना चाहिए।

(४) ग्लूकोज देना चाहिए।

(११) शीत पित्त—शीतल वायु के स्पर्श से प्रकुपित हुए कफ और वायुपित्त के साथ मिलकर बाहर-भीतर फैलकर शीतपित्त की उत्पत्ति करते हैं।

प्यास, अरुचि हृल्लास, शरीर में शिथिलता, अंगों में भारीपन और नेत्र लाल होना ये इसके पूर्व रूप हैं।

बरैंया (ततैया या भिड़) के काटने के समान बाहर (त्वचा) जो शोथ, खुजलाहट, अत्यधिक चुभन, वमन एवं दाह के साथ उत्पन्न होता है, उसे उर्दं समझना चाहिए, दूसरे इसे शीतपित्त कहते हैं। शीतपित्त में वायु की और उदर्द में कफ की अधिकता रहती है।

मध्य में गर्तयुक्त (अथवा परस्पर मिले हुए), लालिमा युक्त और खुजलाने वाले मण्डलों से युक्त शीत ऋतु में होने वाली कफज व्याधि उदर्द कहलाती है।

भली-भाँति वमन न होने से ऊपर उठे हुए (अथवा कुपित हुए) पित्त, कफ, एवं अन्न के रुकने से उत्पन्न खुजलाहट एवं लालिमा युक्त बहुत से मण्डल, कोठ कहलाते हैं, बार-बार होने पर उत्कोठ कहलाते हैं।

पाश्चात्य मत

अनुर्जना (Allergy)—यह शरीर के भीतर कुछ विशेष पदार्थ के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया है। इसकी उत्पत्ति कुछ विशेष पदार्थों के खाने, सूंघने, स्पर्श आदि से कीड़ों के काटने, कांटे लगने, उदर मे कृमियों की उपस्थिति, शरीर में किसी भी स्थान में पूय उत्पन्न होकर रक्तादि में मिलते रहना आदि कारणों से होती है। कुछ व्यक्तियों में वंशगत रूप से इस प्रकार का विकार अकारण भी पाया जाता है इसके फलस्वरूप पामा (Eczema अपरस), शीत-पित्त (Urticaria), वाहिनी माड़ी जन्य शोथ (वृहत्‌शीतपित्त—Angioneuroticoedema) औषधि गन्धक ज्वर (Hay Fever) तमकश्वास, प्रतिश्याय, वमन, अतिसार, आंत्रस्तम्भ, संधि-प्रदाह, फुफ्फुस-प्रदाह, वृक्क-प्रदाह, अन्तर्हृत्प्रदाह आदि की उत्पत्ति होती है।

चिकित्सा—शीतपित्त की साधारण चिकित्सा बताते हुए चक्रदत्त में लिखा है कि जवाखार और सेंधा नमक का चूर्ण कड़वे तेल में मिलाकर शरीर में मर्दन करना चाहिए। गम्भारी के पक्के और सूखे हुए फल को उबालकर दूध के साथ सेवन करने से और पथ्य पूर्वक रहने से शीतपित्त नष्ट होता है।

सुश्रुत संहिता में दिए गए एलद्यगण के द्रव्यों में कड़वा तेल मिलाकर उबटन या मालिश करने से लाभ होता है।

शीतपित्त रोग में शुष्क मूली का यूष, कुल्फी का यूष, लवा तथा तीतर के मांस रस के साथ भोजन करना चाहिए।

इस रोग के शंखभस्म एवं स्वर्ण गैरिक को मधु के साथ सेवन करना चाहिए। इसमें घृत का सेवन करना अच्छा रहता है।

आधुनिक चिकित्सक इस व्यवस्था में एण्टी हिस्टेमीन पदार्थों का प्रयोग करते हैं। इसमें एविल एवं एन्थीसाज नामक प्रसिद्ध योगों का प्रयोग किया जाता है।

(१२) कुष्ट अथवा कोढ़ (Leprosy)—यह एक संसर्गिक जीर्ण रोग है जिसमें त्वचा और श्लैष्मिककला मे गंड या शरीर पर स्पर्श शून्य मण्डल अथवा मण्डल तथा गड दोनों उत्पन्न हो जाते हैं और अन्त में फटकर व्रण का रूप धारण कर लेते हैं।

कारण—यह रोग उष्ण प्रदेशों का रोग है, भारतवर्ष में बहुतायत से पाया जाता है। यह घनिष्ठ संपर्क द्वारा रोगी से दूसरे व्यक्ति में जाता है, पति से पत्नी को, माता से बच्चों को, भाई से भाई यदि वे इकट्ठे उठते-बैठते हो। यह विचार मिथ्या है कि रोग माता-पिता से बच्चों को सहज रूप से आता है अथवा पति-पत्नी में मैथुन द्वारा फैलता है। वस्तुतः सहवास, घनिष्ठ सम्पर्क ही इसके प्रसार के वास्तविक कारण हैं। इसका उत्पादक कीटाणुक्षय कीट के समान दण्ड-कार कीटाणु है जिसे वेसिलस लेप्रई (Bacillus laprae) कहते हैं, यह नासा व कण्ठ की श्लैष्मिक कला तथा व्रणों के स्राव में उपस्थित रहता है और यहाँ से स्पर्श द्वारा प्रसार पाता है। इस रोग के प्रसार के लिए यह आवश्यक है कि रोगी से चिरकाल तक घनिष्ठ सम्पर्क रहे। दरिद्रता, क्षुधात्तंता तथा धन व निविड़ निवास इसके प्रसार में परम सहायक कारण हैं।

क्षयकीट की भाँति इसका कीटाणु शरीर में जाकर गण्ड उत्पन्न कर देता है परन्तु गण्ड श्लैष्मिक कला, और वात तन्तुओं में ही बनते हैं। ये गण्ड सेल समूह और सौत्रिक तन्तु से बनते हैं। इनके केन्द्र के सेलों के भीतर और सेलों के बाहर कीटाणु समूह रूप में होते हैं, इनके इतस्तः सेलों के कई स्तर होते हैं और इनके बाहर सौत्रिक तन्तु के स्तर होते हैं। शनैः-शनैः यह गण्ड बीच में गल जाते हैं और फटकर व्रण बन जाते हैं इनसे पूयस्राव होने लगता है। यह व्रण प्रायः मुख, नासा तथा शाखाओं के बाह्य पार्श्व पर होते हैं। चिरकाल बाद प्लीहा, यकृत और वृषण में भी गण्ड एवं व्रण हो सकते हैं। कुष्ठ के कीटाणु वात तन्तुओं में जाकर वहाँ सौत्रिक तन्तु उत्पन्न कर देते हैं और वास्तविक वात तन्तुओं को नष्ट कर देते हैं। उन नष्ट वात तन्तुओं के आधीन स्थान की त्वचा पर स्पर्श शून्य मण्डल, छाले तथा व्रण बन जाते हैं और अन्त में वे भाग गलकर झड़ जाते हैं।

इसका परिपाक काल समस्त रोगों की अपेक्षा लम्बा लगभग दो वर्ष है। इसके तीन भेद हैं—

(१) ग्रन्थिक। (२) वातिक। (३) मिश्रित।

(१) ग्रन्थिक कुष्ठ—वास्तविक ग्रन्थियाँ उत्पन्न होने से पूर्व थोड़े समय बाद अनियमित ज्वर चढ़ता-उतरता है, गौरवता, तन्द्रा, अतिसार और अत्यधिक स्वेद आदि उपस्थित होते हैं। कुछ काल पश्चात् ज्वर के समय शरीर पर ताम्रवर्ण के मण्डल उत्पन्न हो जाते हैं। ये थोड़े उभरे हुए तथा चमकदार होते हैं। ज्वर के उतरने पर ये भी लुप्त हो जाते हैं। इस प्रकार ज्वर के दो-चार वेगों के बाद वहाँ पर धूसर वर्ण रह जाता है। हर बार ज्वर के नये वेग से नये मण्डल निकल आते हैं। अन्ततः उन स्थानों पर गण्ड प्रकट हो जाते हैं। शनैः-शनैः ये गण्ड भी अधिक होते जाते हैं। कभी-कभी ये प्रकट होकर कुछ काल के लिए मिट भी जाते हैं। परन्तु ज्वर के नये वेग के साथ पुनः निकल आते हैं। आगे चलकर ये स्थायी हो जाते हैं। रोग के जाने पर रोगी को आकृति बड़ी बेडौल सी हो जाती है। भौंहें झड़ जाती हैं। ओष्ट मोटे हो जाते हैं, मुख की त्वचा फूली हुई और चेहरा चौड़ा-सा प्रतीत होता है। ये गण्ड अधिकतर मुख, कण्ठ स्वरयन्त्र, नासा तथा अक्षि आदि स्थानों में होते हैं, और जब फट जाते हैं तो वाणी, गन्ध और दृष्टि आदि का नाश कर देते हैं। ज्वर के वेग जो पहले बार-बार होते थे, गण्डकों की उत्पत्ति के बाद शनैः-शनैः बन्द हो जाते हैं, क्षीणता बहुत बढ़ जाती है। यह रोग चिरकाल अपेक्षी है। रोगी प्रायः किसी अन्य राजयक्ष्मादि रोग से ग्रस्त होकर चल बसता है।

(२) वातिक कुष्ठ—इसमें वात तन्तुओं के भीतर परिवर्तन होता है, ज्वर आदि लक्षण नहीं होते परन्तु वातिक लक्षण होते हैं तथा हाथ, पाँव कभी चेहरे पर तथा प्रभावित नाड़ी के आधीन प्रदेश में स्पर्श असहिष्णुता हो जाती है अथवा वहाँ पर सरसराहट, चिमचिमाहट आदि वेदना प्रतीत होती है, कभी-कभी वहाँ पर सूक्ष्म सी पिड़िकायें या चकत्ते निकल आते हैं। कभी-कभी तो उनसे दद्रु का ही संशय हो जाता है। अतः प्रकोष्ठीं नाड़ी विशेषकर अधिक प्रभावित होती है, स्पर्श से यह नाड़ी रज्जुवत दृढ़ प्रतीत होती है, आरम्भ में यही इन रोग के पहचानने का विशेष साधन है। ये लक्षण कुछ काल रहकर मिट जाते हैं। चन्द सप्ताह बाद पुनः प्रादुर्भूत हो जाते हैं, इस प्रकार के २, ३, ४, वेगों के पश्चात् इस नाड़ी प्रदेश में स्थायी मण्डल से उत्पन्न होते जाते हैं। यह मण्डल अधिकतर शाखाओं के पीछे और बाहर की ओर तथा

मुख पर ही होते हैं। यह मण्डल पहले तो स्पर्श असहिष्णु होते हैं, परन्तु बाद में वहाँ पर स्पर्श शक्ति कम होती जाती है अन्तत: बिल्कुल नष्ट हो जाती है। शनै-शनै: प्रभावित नाड़ी प्रदेश का सारा स्थान स्पर्श शून्य हो जाता है। मांस पेशियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं. उन स्थानों पर जाले बनकर व्रण बन जाते हैं। हाथ पैरों की अंगुलियाँ इसी प्रकार गलकर झड़ जाती हैं। कभी-कभी कानों पर भी व्रण हो जाते हैं और कानों का कुछ भाग झड़ जाता है अत: कान विकृत हो जाते हैं। वातिक कुष्ठ पीड़ित रोगी, ग्रन्थिक कुष्ठ की अपेक्षा चिरकाल तक जीवित रहता है, अत: यह भी किसी अन्य रोग से आक्रान्त होकर कूच कर जाता है।

(३) मिश्रित—इसमें उपर्युक्त दोनों प्रकार के लक्षण उपस्थित होते हैं। कभी वातिक लक्षण पहले और कभी ग्रन्थिक लक्षण पहले आरम्भ होते हैं।

आयुर्वेद में अठारह प्रकार के कुष्ठों का वर्णन किया है. इनमें से सात महा-कुष्ठ और ग्यारह क्षुद्र-कुष्ठ हैं। उनका वर्णन निम्न प्रकार किया है—

विरोधी, द्रव, स्निग्ध एवं भारी अन्न पान का सेवन करने वालों के, आये हुए वमन के वेग को तथा अन्य वेगों को रोकने वालों के, अति भोजन करके व्यायाम या तीव्र ताप का सेवन करने वालों के, धूप, परिश्रम एवं भय से व्याकुल होने पर शीघ्र ही शीतल जल का सेवन करने वालों के, कच्चा भोजन एवं भोजन के बाद तुरन्त भोजन करने वालों के, पंचकर्मों में कुपथ्य करने वालो के, नशा, अन्न, दही, मछली, नमक एवं खटाई का अधिक सेवन करने वालों के, उड़द, मूली, पिट्ठी के बने हुए पदार्थ, तिली, दूध एवं गुड़ खाने वालों के, भोजन पचने के पूर्व ही मैथुन करने एवं दिन में सोने वालों के, विप्रों एवं बड़ों का अपमान तथा पाप कर्म करने वालों के वातादि तीनों दोष कुपित होकर त्वचा, रक्त, मांस और जलीय धातु को दूषित कर देते हैं। यह सप्तक (वात, पित्त, कफ, त्वचा, रक्त, मांस और जलीय धातु—इन सात पदार्थों का समुदाय) कुष्ठों का द्रव्य संग्रह है अत: इस सप्तक के दूषित हो जाने से सात प्रकार के कुष्ठ उत्पन्न होते हैं और इसी तरह ग्यारह प्रकार के भी उत्पन्न होते हैं।

दोषानुसार कुष्ठ के सात प्रकार हैं—पृथक् दोषों से (वातज, पित्तज, कफज) द्वन्द्व के (वात-पित्तज, वात-कफज, पित्त-कफज) तथा सभी दोषों से सन्नि-पातज)। सभी त्रिदोषज होने पर भी यह विभेद अधिकता के आधार पर किया गया है।

त्वचा स्पर्श में अत्यन्त चिकनी या अत्यन्त खुरदरी मालूम होना, स्वेद अधिक आना या बिल्कुल न आना विवर्णता, दाह, खुजलाहट, सुप्तता (सज्ञानाश), चुभन. कोष्ठों की उत्पत्ति, भ्रम, व्रणों में अधिक पीड़ा होना, उनका शीघ्र उत्पन्न होना, अधिक काल तक रहना, रोपण हो चुकने पर भी रूक्षता रहना और मामूली कारण उपस्थित होने पर भी व्रणों का अधिक जोर करना, रोमहर्ष और रक्त में कालापन ये कुष्ठ के पूर्वरूप हैं।

जो काला, अरुण वर्ण वाला, खपड़े के समान, रूक्ष, खुरदरा, पतला, अत्यधिक चुभन से युक्त और विषम हो वह 'कपालकुष्ठ' माना गया है।

पीड़ा, दाह, लाली और खुजलाहट से युक्त कपिल वर्ण के रोमों में युक्त और गूलर के फल के समान दीखने वाले कुष्ठ को 'औदुम्बर' कुष्ठ कहना चाहिए।

सफेद, लाल, स्थिर, आर्द्र, चिकना, उभरे हुए मण्डलों वाला, कष्टदायक (अथवा कष्ट साध्य) और एक-दूसरे से संलग्न मण्डलों वाला, कुष्ठ "मण्डल कुष्ठ" कहलाता है।

कर्कश (खुरदरा अथवा कठोर) किनारों पर लाल, बीच में श्यामवर्ण वेदना युक्त और ऋष्य (रोमू—एक प्रकार का हरिण) की जिह्वा के समान कुष्ठ को 'ऋष्यजिह्व कुष्ठ' कहते हैं।

सफेद और लाल किनारों वाला, लाल कमल की पखुड़ी के समान उभरा हुआ और लालिमा युक्त कुष्ठ 'पुण्डरीक कुष्ठ' कहलाता है।

सफेद, ताम्रवर्ण पतला तथा रगड़ने पर धूल सी निकलती हो और जो लौकी के फूल के समान होता है वह कुष्ठ "सिध्म कुष्ठ" है। यह अधिकतर छाती पर होता है।

जो घुंघची के समान वर्ण वाला, पाक युक्त तीव्र वेदना वाला तथा त्रिदोष के लक्षणों से युक्त हो वह कुष्ठ 'काकण कुष्ठ' है। यह असाध्य है।

जिसमें स्वेद न आता हो, जिसका विस्तार बहुत से भाग में हो और जो मछली की त्वचा के समान हो, वह "एक कुष्ठ" है। 'चर्म' नामक कुष्ठ हाथी के चमड़े के समान मोटा होता है। श्यामवर्ण एवं कठोर धब्बा 'किटिभ' कहलाता है। तीव्र पीड़ा सहित हाथ पैरों का फटना 'वैपादिक' है। 'अलसक' खुजलाने वाले, लालिमायुक्त गण्डों (स्फोटों अथवा पिण्डों) से व्याप्त रहता है।

'दद्रु मण्डल' खुजलाहट, लालिमा और पिण्डकायों से युक्त तथा उभरा हुआ रहता है।

लाल, शूल युक्त, खुजलाने वाली, स्फोटों से युक्त जो गलता भी है और जिसमें स्पर्श सहन नहीं होता 'चर्मदल' कहलाता है। जो छोटी-छोटी बहुत सी पीड़िकाएँ स्राव करती हैं खुजलाती एवं दाह करती हैं वे "पामा" कहलाती हैं।

हाथों और नितम्बों की वही पामा तीव्र दाह करने वाले स्फोट 'विस्फोट' हैं।

लाल एवं श्यामवर्ण बहुत से व्रणों वाला, दाह एवं पीडा से युक्त 'शतारु' होता है।

श्याम वर्ण बहुत स्राव करने वाली खुजलाहट युक्त पीड़िकाएँ 'विचर्चिका' हैं।

चिकित्सा—वात प्रधान कुष्ठों में घृत पान, कफ प्रधान कुष्ठों में वमन और पित्त प्रधान कुष्ठो में आरम्भ में रक्त का मोक्षण तथा विरेचन कराना, हितकर होता है। रक्त मोक्षण के लिए अल्प कुष्ठ में प्रच्छन्न तथा बड़े कुष्ठ में सिरावेध कराना हितकारक होते हैं। बहुत दोषों से युक्त रोगी को बार-बार थोड़ा-थोड़ा संशोधन करना चाहिए। अधिक मात्रा में संशोधन कराने से वायु प्रकोप का भय रहता है। हृदय में दोषों का उत्क्लेश होने पर ऊर्ध्व भाग में स्थित कुष्ठी को वमन कराना चाहिए।

रोग की अवस्था के अनुसार आस्थापन और अनुवासन का प्रयोग कराना चाहिए। नस्य एवं धूम्रपान का भी प्रयोग कराना चाहिए। कुष्ठ रोग में लेखन एवं लेप का भी विधान बनाया गया है।

औषधियों में खदिर का भी प्रयोग विशेष लाभकर कहा गया है। खदिरारिष्ट का प्रयोग एतदर्थ करते हैं। निम्नलिखित योगों का प्रयोग करते हैं—

१. पञ्चातिक्त गुग्गुल।
२. भल्लातक गुड़।
३. अमृतांकुर लौह।
४. तालकेश्वर रस।
५. महातिक्त घृत।
६. महाखदिर घृत।
७. सोमराजी घृत।
८. मरिच्यादि तैल (अभ्यंगार्थ)।
९. सोमराजी तैल (अभ्यंगार्थ)।
१०. बावची का लेप।

आधुनिक चिकित्सक सोडियम एण्टीमनी टारटरेट का प्रयोग करते हैं। २० प्रतिशत का घोल शिरामार्ग से दिया जाता है।

चालमोगरा तैल का प्रयोग खाने और लगाने के लिए किया जाता है।

पुराने चावल, मूँग-मसूर-अरहर की दाल, नीम के पत्ते और चक्रमर्द (पंवाड) के पत्ते का आहार रूप में प्रयोग करना हितकर होता है।

(१३) **गलगण्ड, गण्डमाल और अपची**—जो मर्यादिक शोथ गले में अण्डकोष के समान लटकता है, वह बड़ा हो अथवा छोटा उसे गलगण्ड कहना चाहिए।

अत्यन्त दूषित वात, कफ और मेद गले में आश्रित होकर क्रमशः अपने लक्षणों से युक्त गण्ड उत्पन्न करते हैं। इसे गलगण्ड कहते हैं।

वातज गलगण्ड तोदयुक्त काली शिराओं से व्याप्त, श्याम अथवा अरुण वर्ण का, कर्कश एवं देर से बढ़ने और न पकने वाला होता है, कभी अचानक पाक हो भी सकता है। रोगी का मुख विरस रहता है और तालु एवं कण्ठ सूखते हैं।

कफज गलगण्ड स्थिर, त्वचा के समान वर्ण वाला शीतल और बड़ा रहता है, लम्बे समय में बढता और लम्बे समय में पकता है, कभी-कभी मन्द पीड़ा हो सकती है, और रोगी के मुख में मधुरता रहती है तथा तालू और कण्ठ कफ-लिप्त रहते हैं।

मेदोज गलगण्ड स्निग्ध, भारी पीताभ, दुर्गन्धित, खुजलाहटयुक्त एव थोड़ी पीड़ा करने वाला होता है, जड़ (संलग्न भाग) पतला होने के कारण तुम्बी के समान लटकता है, शरीर स्थूल होने के साथ बढ़ता और कृश होने के साथ घटता है, रोगी के मुख में स्निग्धता रहती है और हमेशा गले में शब्द होता है।

जो कष्ट के साथ श्वास लेता है, जिससे सारे अंग मृदु (Tender) हों, जिसे एक वर्ष बीत चुका हो, जो आरोचक से पीड़ित क्षीण और फटे हुए स्वर वाला हो उस गलगण्ड रोगी को वैद्य त्याग दें।

मेद और कफ के प्रकोप से कक्षा (बगल, काँख), अंश (कंधा), मन्या (गले का पिछला भाग), गले और वंक्षण (रान) प्रदेशों में जंगली बेर, ग्राम्य बेर अथवा आंवले के बराबर आकार वाली बहुत काल में मन्द वेग से पकने वाली बहुत-सी गाठें गण्डमाला हैं।

कोई-कोई यही ग्रन्थियां (गण्डमाला) पककर स्राव करती और नष्ट होती हैं तथा दूसरी ग्रन्थियां उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार ये चिरकाल तक बनी रहती हैं। इसी को वैद्य अपची कहते हैं। साध्य मानी गई हैं, किन्तु पीनस पार्श्व-शूल, खाँसी, ज्वर और वमन से युक्त होने पर असाध्य मानी गई हैं।

चिकित्सा—इन अवस्थाओं में चिकित्सा करने के लिए चक्रदत्त ने लिखा है कि सरसों, सहजने के बीज, सन के बीज, अलसी, जौ और मूली के बीज

इनको तक्र के साथ पीसकर लेप करने से भयंकर गलगण्ड, गलगण्डमाला और अपची में लाभ होता है।

नस्य कर्म से भी रोग नाश करने के लिए कहा है। एतदर्थ कहा गया है कि पकी हुई कड़वी तुम्बी के रस में बिड़नमक और सैन्धव नमक मिलाकर नस्य करना चाहिए।

हुलहुल और लहसुन की पुल्टिस बांधने से गलगण्ड में लाभ होता है।

गलगण्ड रोग में मण्डूर भस्म को मधु के साथ खिलाना चाहिए।

वरुण की मूल की छाल क्वाथ कर उसमें मधु मिलाकर सेवन कराना चाहिए। कचनार घोलकर सोंठ के चूर्ण का प्रक्षेप डालकर पीने से लाभ होता है।

गलगण्ड में शस्त्र क्रिया द्वारा रक्त का निर्हरण का भी विधान बनाया गया है।

अपची में भी शस्त्र कर्म एवं दहन कर्म करने का विधान बताया गया है।

यव-मूंग-परवल, कटु तथा रूक्ष अन्न का प्रयोग अच्छा रहता है। वमन तथा रक्तमोक्षण का विधान हितकारक होता है।

(१४) श्लीपद—जो अत्यन्त पीड़ा करने वाला शोथ मनुष्यों के वंक्षण में ज्वर के साथ उत्पन्न होकर क्रमशः पैर में पहुँचता है वह श्लीपद है। कुछ विद्वान हाथ, कान, आंख, जननेन्द्रिय, ओठ और नाक में भी (इसकी उत्पत्ति), बतलाते हैं।

वातज श्लीपद रूखा, कृष्णवर्ण, फटा हुआ एवं तीव्र पीड़ा करने वाला होता है। इसमें अकारण पीड़ा होती है और अधिकतर ज्वर से युक्त रहता है।

पित्तज श्लीपद पीताभ, मृदु एवं दाह और ज्वर से युक्त रहता है।

कफज श्लीपद स्निग्ध, श्वेत, भारी, स्थिर तथा वर्ण में श्वेत और पाण्डु रहता है।

जो वमीठे के समान (अनेक छिद्रयुक्त उभारों से युक्त) हो गया हो, जो कण्टकों (कण्टक-सदृश उभारों) से व्याप्त हो, जो एक वर्ष से हो और जो बड़ा हो वह विशेषतः वर्जनीय (असाध्य, प्रत्याख्येय) है।

इन तीनों ही श्लीपदों को कफ वृद्धि से उत्पन्न समझना चाहिए क्योंकि भारीपन और आकार वृद्धि कफ के बिना नहीं होती।

जिन देशों में पुराने जल की बहुलता रहती है और जो सभी ऋतुओं में शीतल रहते हैं उन देशों में श्लीपद विशेषतः उत्पन्न होता है।

जो श्लीपद कफ-प्रकृति वाले को कफ-वर्धक आहार-विहार से उत्पन्न हुआ

हो, स्रावयुक्त हो, अत्यन्त उभरा हुआ हो, सभी दोषों के लक्षणों से युक्त हो, खुजलाहट युक्त हो एवं कफ युक्त हो (श्लीपद शोथ में से कफ-स्राव होता हो) वह वर्जित (असाध्य) है। अथवा जो श्लीपद कफ प्रकृति वाले को कफ वर्धक आहार-विहार से उत्पन्न हुआ हो, जो स्रावयुक्त, अत्यन्त उभरा हुआ और सभी दोषों के लक्षणों से युक्त हो, और कफज श्लीपद खुजलाहट-युक्त हो, वह वर्जित है।

पाश्चात्य मत

श्लीपद-सदृशशोथ फिरंग, राजयक्ष्मा, अर्बुद आदि अन्य कारणों से भी लसवाहिनियों का अवरोध होने से उत्पन्न हो सकता है, किन्तु वास्तविक श्लीपद वही है, जिसमें लसवाहिनियों में श्लीपद-कृमि पाये जाएँ।

श्लीपद अथवा फीलपांव (Filaria or Elephantiasis)—यह रोग भारतवर्ष के बंगाल, उड़ीसा, तमिलनाडु एवं त्रावणकोर में अधिक पाया जाता है। बाहर चीन, जापान, पूर्वी और पश्चिमी द्वीप समूह (East Indies and West Indies), अरब, मध्य अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका में पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति श्लीपद कृमि (Filaria) से होती है। श्लीपद कृमि की अनेक जातियाँ जिनमें भारतवर्ष में वुचरेरिया बैंक्रोफ्टी (Wuchereria Bancrofti) जाति ही पाई जाती है। यहाँ उसी से उत्पन्न लक्षणों का वर्णन किया जाता है।

श्लीपद कृमि १२½ इंच लम्बा और सूत के समान पतला होता है, इसकी मादा लगभग दूनी लम्बी होती है। ये लसवाहिनियाँ या लसग्रन्थियों में परस्पर लिपटे हुए निवास करते हैं तथा असंख्य बच्चे उत्पन्न करते हैं। बच्चों को सूक्ष्म श्लीपदी (Microfilariae) कहते हैं; इनकी लम्बाई २२५—३२० माइक्रोन और मोटाई ३ स १० माइक्रोन हुआ करती है। सूक्ष्म श्लीपदी फुफ्फुस, हृदय, प्लीहा, यकृत एवं वृक्क से रक्त में बड़ी संख्या में उपस्थित रहते हैं। सोते समय ये शाखाओं की रक्तवाहिनियों में आ जाते हैं। रोग का प्रसार क्यूलक्स फेटीगैंस (Culex Fatigans), एडीज वैरीगेट्स (Ades Varigeatus) और एनोफिलीस (Anopheles) की कई जातियों के मच्छरों की मादाओं के द्वारा होता है। रोगी व्यक्ति को काटने के १० से २० दिन बाद वह मादा मच्छर संक्रामक हो जाता है और फिर जिन-जिन व्यक्तियों को वह काटता है उन सबके शरीर में कृमियों का प्रवेश हो जाता है। प्रवेश के बाद वे कृमि बड़े होकर संतानोत्पत्ति करते हैं और लसवाहिनियों का अवरोध करके रोग की

उत्पत्ति करते हैं। मर जाने पर इसके शरीर वहीं पड़े-पड़े चूर्णीभूत (Calcified) होकर अश्मरीतुल्य हो जाते हैं। बहुत से व्यक्तियों के शरीर में ये कृमि पड़े-पड़े संतानोत्पत्ति करते हैं किन्तु श्लीपद की उत्पत्ति नहीं होती, वह तभी होती है जब किसी लसवाहिनी का अवरोध हो।

इस रोग का आक्रमण युवकों पर अधिक होता है, वैसे कोई भी अवस्था मुक्त नहीं है। प्रारम्भ में अर्धरात्रि के समय जाड़ा देकर ज्वर आता है जो ३ से ५ दिनों में अत्यधिक पसीना देकर उतर जाता है और पुनः कुछ समय बाद आता है। भारतवर्ष के रोगियों में इस ज्वर का आक्रमण अधिकतर पूर्णिमा या अमावस्या को या उसके आस-पास होता है—ऐसा क्यों होता है, इसका निश्चित कारण अभी तक नहीं जाना जा सकता है। ज्वर के साथ सिर एवं सर्वाङ्ग, बेचैनी, हृल्लास, वमन और प्रलाप भी होते हैं तथा लसवाहिनी लसग्रन्थि प्रदाह, शुक्रग्रन्थावरण प्रदाह, वृषण प्रदाह, अथवा किसी शाखा में शोथ होता है। कुछ मामलों में स्थानिक लक्षणों का अभाव हो सकता है, किंतु कुछ समय के बाद प्रकट हो जाते हैं। ज्वर के प्रत्येक आक्रमण के समय पर शोथ में थोडी वृद्धि होती है और इस प्रकार कुछ काल में उस भाग में तंतूत्कर्ष होकर स्थाई मोटापन एवं कड़ापन उत्पन्न हो जाता है। यह दशा अधिकतर पैरों में होती है, किन्तु कभी कभी हाथ, अण्डकोष, भगोष्ठ, लिंग तथा अन्य भागों में भी हो जाती और उसमें अनेक स्थानों पर उभार और सिकुड़न लक्षित हो सकती है। द्वितीयक उपसर्ग से व्रण हो जाते हैं, जिनमें से लस और पूय निकलता है।

पायसमेह (पिष्ट-मेह Chyluria) पायसातिसार (Chylous Diarrhoea), पायसोदर (Chylous Ascites), पायसोरस (Chylo-thorasic) अण्डकोषों की वृद्धि, लसमेह (Lymphuria) अधस्त्वक प्रदाह (Cellulitis) कर्दम (Gangrene) विद्रधि, सन्धि प्रदाह, सन्धि कला प्रदाह, दोषमयता (Septicaemia), लस ग्रन्थियों की चिरकारी वृद्धि, आदि अन्य उपद्रव हैं।

प्रारम्भिक अवस्था में चिकित्सा से लाभ हो जाता है, किन्तु अत्यन्त बढ़ने पर शल्य चिकित्सा से ही कुछ आस की जा सकती है। रोगकाल अनिश्चित है। मृत्यु घातक उपद्रवों से शीघ्र हो सकती है, किन्तु सौम्य प्रकार का रोग आयु पर अल्प प्रभाव डालता है। रोगी काफी अर्से तक जीवित रह सकता है।

चिकित्सा—श्लीपद चिकित्सा में पूर्ण विश्राम अत्यन्त आवश्यक है।

आरम्भ में टाँगों को कसकर बाँधना चाहिए। लंघन, आलेपन, स्वेदन, विवेचन तथा रक्तावसेवन कराना हितकारक होता है।

निम्नलिखित रसों का प्रयोग करा सकते हैं—

१. नित्यानंद रस। २. श्लीपद गज केशरी रस।

३. बड़वानल रस। ४. सूतेन्द्र रस। ५. प्राण बल्लभ रस।

६. पिपलाद्य चूर्ण—महारसनादि क्वाथ से जगाने के लिए निम्न लेप बताए गए हैं—

(१) गुडूच्यादि लेप। (२) दनादि लेप। (३) धतूरादि लेप।

आधुनिक चिकित्सक कैमोथेरीपी एवं एण्टीबायटिक्स का प्रयोग करते हैं। मैगसल्फ से या रैड लैम्प से सेक देते हैं। व्रण हो जाने पर सल्फा या पैंसलीन का प्रयोग करते हैं। शल्य क्रिया द्वारा लिम्फ की रुकावट को दूर कर देते हैं।

(१५) उपदंश—हाथ के अभिघात (मसलने आदि) से, नख एवं दाँत लगने से, न धोने से, अधिक मैथुन करने से अथवा दूषित योनि में मैथुन करने से, तथा अनेक प्रकार के विपरीत आचरण से जननेन्द्रिय में पाँच प्रकार के उपदंश होते हैं।

चुभन, फटन, फड़कन और कालिमा से युक्त स्फोटों से वातज उपदंश समझना चाहिए। पीले, अधिक क्लेदयुक्त और दाहयुक्त स्फोटों से पित्तज उपदंश समझना चाहिए।

मांस के समान प्रतीत होने वाले कालिमायुक्त स्रावी और पित्तज उपदंश के समान लक्षणों वाले स्फोटों से रक्तज उपदंश समझना चाहिए।

खुजलाहट युक्त, शोथयुक्त, बड़े, सफेद, कठोर (ठोस) एवं स्रावयुक्त स्फोटों से कफ़ज उपदंश समझना चाहिए।

अनेक प्रकार के स्राव और अनेक प्रकार की पीड़ा से युक्त उपदंश को असाध्य एवं त्रिदोषज उपदंश कहा गया है।

जिसका मांस गल गया हो, कृमियों के द्वारा खा डाला गया हो और अण्ड-कोष मात्र ही शेष रहे हों, उसे त्याग दें (चिकित्सा न करें)।

जो मूर्ख व्यक्ति उपदंश होते ही चिकित्सा नहीं करता तथा विषय में लिप्त रहता है, कालान्तर में उसकी जननेन्द्रिय शोथ, कृमि, दाह और पाक होने से गल जाती है और इससे उसकी मृत्यु हो जाती है।

एक के ऊपर एक स्थित अंकुरों के संचय से मुर्गे की चोटी के समान वर्ति (बत्ती) कोष (शिश्न का आवरण) के भीतर संधि (आवरण और शिश्न मुण्ड के मिलने का स्थान) में, अथवा पूरी संधि (शिश्न के निचले भाग में सीवन कहलाने वाला भाग) क्रमशः उत्पन्न होती हैं। (यह वेदनायुक्त, पिच्छिल कष्टमाध्य एवं त्रिदोषज होती है) वह लिंगर्ति कहलाती है, दूसरे इसे लिंगार्श कहते हैं।

पाश्चात्य मत

(१) उपदंश (Soft sore, Sort chancre Chancroid)—इसकी उत्पत्ति पूयोत्पादक जीवाणुओं, विशेषतः डुक्रे के दण्डाणुओं (Ducreys Baccili) के द्वारा होती है। चयकाल २-५ दिनों का है। प्रारम्भ मे छोटी-छोटी पीड़िकाओं की उत्पत्ति होती है जो शीघ्र ही व्रणों में परिवर्तित हो जाती हैं। व्रणों के किनारे अनियमित एवं स्पष्ट कटे हुए रहते हैं। पीला पूय निकलता है, रक्तस्राव की प्रवृत्ति रहती है और पीड़ा अत्यधिक होती है। फिरंग के समान उभरे हुए किनारे नहीं रहते। इनका स्थान पुरुषों के शिश्नावरण, सीवन या मूत्र द्वार पर तथा स्त्रियों की भगशिश्निका (Clitoris) या लघुभगोष्ठ पर होता है। ये व्रण स्राव लगने से फैलते हैं और परस्पर मिलकर एक बड़ा व्रण भी बना सकते हैं। अधिकतर इनकी संख्या एक से अधिक रहती है। इसके कारण निरुद्ध प्रकाश हो सकता है। अधिकतर वंक्षण की लसग्रन्थियां आक्रांत हो जाती हैं और उनमें पाक होकर विद्रधि बनते हैं। यदि योग्य उपचार न हो तो यह रोग समूह शिश्न में फैलकर दुर्दशा कर सकता है। सार्वदैहिक प्रसार नहीं होता। पीड़ा के कारण ज्वर आ सकता है;

(२) फिरंग गर्मी या आतशक (Syphilis)—इसकी उत्पत्ति फिरग चक्राणु (Spirochaeta pallida) के उपसर्ग से होती है। सक्रमण वयस्कों में मैथुन के द्वारा भ्रूणों में रक्त से होता है, पूयलिप्त वस्त्रादि के द्वारा भी कभी-कभी होता है। कई आचार्यों के मत से संक्रमण के लिए क्षति की उपस्थिति आवश्यक है चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो। चयकाल १०-९० दिनों का है। आप्त और सहज भेद से यह रोग दो प्रकार का है।

(अ) आप्त फिरंग (Acquired Syphilis)—इसकी चार अवस्थाएँ होती हैं।

(१) प्रथम अवस्था या प्राथमिक फिरंग (Primary Stage or Primary Syphilis)—इस अवस्था में शिश्नावरण या शिश्नमुण्ड पर तथा स्त्रियों के भगोष्ठ पर एक चपटी पिड़िका निकलती है, जो या तो बिना ध्यान आकर्षित किए ही लुप्त हो जाती है अथवा शीघ्र ही व्रण का रूप धारण कर लेती है। व्रण में पीड़ा नहीं होती या अत्यल्प होती है, तक भाग कठोर एवं उभरा हुआ रहता है और रोपण होने पर एक कठोर एवं छोटा धब्बा रह जाता है। व्रण प्राय: एक ही हुआ करता है। आस-पास की वंक्षणीय लस-ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं, किन्तु पाक नहीं होता द्वितीय उपसर्ग होने पर पाक हो भी सकता है।

(२) द्वितीय अवस्था या द्वितीयक फिरंग (Secondary Stage or Secondary Syphilis)—यह अवस्था प्राथमिक व्रण की उत्पत्ति के लगभग ६ सप्ताह बाद उत्पन्न होती है। सारे शरीर की त्वचा तथा मुख गले एवं जननेन्द्रिय की श्लैष्मिक कलाओं में गुलाबी वर्ण के चकत्ते (Roseda) निकलते हैं। हाथ-पैरों एवं सिर में दर्द के साथ ज्वर रहता है, कभी-कभी मस्तिष्कावरण प्रक्षोभ के लक्षण उत्पन्न होते हैं। सारे शरीर की लसग्रन्थियों की वृद्धि होती है। उपवर्णिका रक्तक्षय और श्वेतकायाणुत्कर्ष होता है। गुदा, भगोष्ट आदि में फिरंगार्बुद (Condyloma) की उत्पत्ति होती है।

(३) तृतीय अवस्था अथवा तृतीयक फिरंग (Third Stage or Tertiary Syphilis)—यह अवस्था लगभग ३-४ वर्ष बाद उत्पन्न होती है। इसमें रक्तवाहिनियों की भीतरी दीवारों का प्रदाह होकर मोटापन एवं अवरोध होता है। लगभग यही दशा अन्य शाखाओं में भी होती है, किन्तु अवस्था में अधिक होती है। जिससे शरीर के विभिन्न आभ्यन्तर एव बाह्य म अंगों में कोष होकर गोंदार्बुदों (Gumma) की उत्पत्ति या तन्तूत्कष होता है जिससे उन अगों के विकारों के लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी इस अवस्था में यकृत वृद्धि-सह ज्वर पाया जाता है।

(४) चतुर्थ अवस्था अथवा वातनाड़ी फिरंग (Quarternary Stage or Neuro Syphilis)—इस अवस्था में वात नाड़ियों से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं जिनमें फिरंगज मस्तिष्कावरण प्रदाह, फिरंगज सुषुम्ना प्रदाह, फिरंगज सर्वांगघात, फिरंगी खंजता आदि मुख्य हैं।

(ब) सहज फिरंग (Congenital or Inherited Syphilis)—फिरंग के चक्राणु माता के रक्त में से भ्रूण के रक्त में पहुँचते हैं। यदि माता को यह

रोग नया-नया ही हुआ हो तो मृत प्रसव की सम्भावना अधिक रहती है, किन्तु ज्यों-ज्यों रोग पुराना होता है, त्यों-त्यों क्रमशः कम दिनों तक जीने वाले और फिर अधिक काल तक जीने वाले बालक उत्पन्न होते हैं। जीने वाले बालकों में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

जन्म के समय—कमजोर एवं दुबला या सामान्य। हाथों और पैरों के भागों में जल या लसिका से पूर्ण स्फोटों की उपस्थिति। बाल अत्यल्प या अत्यधिक।

प्रथम मास में—जननेन्द्रिय के आस-पास द्वितीयक फिरंग के समान धब्बे, कभी-कभी सर्वांग में। प्रतिश्याय, स्वरभेद, कर्ण पाक, नेत्रकलाप्रदाह, तालु प्रदाह, नाखूनों में भद्दापन और कुछ मामलों में प्रावेगिक शोणावर्तुलिमेह।

तृतीय एवं चतुर्थ मास में—कोहनी, घुटने, कलाई आदि की संधियों अथवा तरुणास्थियों का प्रदाह, गतियों मे कमी (अंगघात सदृश लक्षण), मुख के कानों में व्रण, गुदा के पास सद्रव पीड़िकाएँ और फिरगार्बुद यकृत और प्लीहा की वृद्धि।

फिर दूसरे वर्ष तक तालुप्रदाह नेत्र प्रदाह, कपाल के सामने और बाजू की अस्थियों में उभार, पैरों के पंजों का संधि प्रदाह, वृषण प्रदाह और कभी-कभी गोदार्बुदों की उत्पत्ति होकर चिरकारी व्रण बनना।

आगे बाल्यावस्था में—चिरकारी प्रतिश्याय, स्वरभेद, तालु में छिद्र हो जाना, नाक बैठ जाना, वधिरता, आगे के दांतों में ऊपर की ओर मोटापन तथा नीचे के क्रियाशील भाग में अर्द्धचन्द्राकार कटाव, नेत्र-कनीनिका मे भद्दापन व्रण या अंधत्व, सन्धियों एवं अस्थियों का प्रदाह वृषणप्रदाह, यकृद्दाल्युत्कर्ष, 'त्वचा में अथवा भीतर गोदार्बुदों की उत्पत्ति एवं फटना।

उदक शीर्ष (मस्तिष्कावरण में अत्यधिक जल भर जाने से खोपड़ी का आकार बढ़ जाना तथा तालु उभर आना) स्तम्भिक अंगघात, फिरगी खंजता, मस्तिष्क प्रदाह आदि किसी समय पर पाये जा सकते हैं।

काहन (Kahn) और वासरमैन की प्रतिक्रियाएँ आप्त फिरंग में दो सप्ताह बाद अस्त्यात्मक हो जाती हैं तथा तृतीय अवस्था तक रहती हैं। किन्तु चतुर्थ अवस्था और सहज फिरंग मे इन पर विश्वास नहीं किया जा सकता, इन अवस्थाओं में मस्तिष्क, सुषुम्ना द्रव की स्वर्ण चूर्ण प्रतिक्रिया (Colloidal gold test), वर्तुलिका प्रतिशत और कोषों की संख्या मे वृद्धि से निदान किया जाता है।

संक्रामकता प्राथमिक अवस्था में अत्यधिक रहती है, तीसरे वर्ष से घटने लगती है और ३ वर्ष पूरे होते-होते न के बराबर रह जाती है किन्तु इस समय भी माता के द्वारा भ्रूण उपसृष्ट हो सकता है।

चिकित्सा—उपदंश बहुत परेशान करने वाला रोग है। कई बार उपचार के पश्चात् ऐसा दिखाई देता है कि रोगी ठीक हो गया है किन्तु अन्दर यह बढ़ता जाता है। पारद के विविध योगों का प्रयोग करने का विधान बताया गया है। इसमें निम्न योग अत्यन्त लाभ करते हैं—

१. रसकपूर वटी—१ रत्ती की मात्रा तक।
२. चन्दनादि वटिका—१ रत्ती की मात्रा में।

इसमें से जो भी चाहे प्रयोग करा सकते हैं—अनुपान मक्खन अथवा दूध हो। एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि इन औषधियों के सेवन काल में तेल, मिर्च, खटाई तथा नमक का प्रयोग बिल्कुल बन्द कर दिया जाय। दुग्ध एवं घृत का पान कराना अच्छा रहता है।

लक्षण मिट जाने पर सारिवाद्यासव २ तोला समान जल मिलाकर भोजनोपरान्त दिन में दो बार १ से २ मास तक सेवन कराना हितकारक होता है।

बाह्य प्रयोग के लिए रसदुष्पाद्य मरहम जिसमें कपूर और इलायची के बीज आदि का चूर्ण मिलाया जाता है, का प्रयोग करना चाहिए।

आधुनिक चिकित्सक एतदर्थ निम्न द्रव्यों को उत्तम मानते हैं—

(१) आर्सेनिक, (२) बिस्मथ, (३) पोटाश आयोडाइड, (४) पैंसलीन।

पहले पारद का प्रयोग भी करते थे किन्तु अब उसका प्रयोग करना बन्द कर दिया है—उनका कहना है कि उक्त द्रव्य अधिक गुण करते हैं।

आर्सेनिक से तैयार निओ साल्वारसन (Neo salvarsan) का प्रयोग और बिस्मथ से तैयार किये बिस्मथ सेलीसिलेट का प्रयोग किया जाता है।

इनका कहना है कि प्रथमावस्था में पैंसलीन बहुत अच्छा लाभ करती है। उसका प्रयोग कराने के बाद आर्सेनिक और बिस्मथ का प्रयोग करना चाहिए। जीर्ण रोग में पोटाश आयोडाइड का प्रयोग हितकारक कहा गया है।

(१६) सूजाक या पूयमेह (Gonorrhoea)—यह रोग मैथुन से फैलता है तथा अधिकतर दुराचारी व्यक्ति ही आक्रांत होते हैं। वस्त्रों की अदल-बदल से सदाचारी व्यक्तियों को भी हो सकता है। इससे पीड़ित माता की सन्तान के नेत्रों में उपसर्ग होकर नेत्रकला प्रदाह हो जाता है। रक्त-

गत उपसर्ग सन्धि-प्रदाह, हृदयावरण प्रदाह, मस्तिष्कावरण प्रदाह, नेत्रनाड़ी प्रदाह आदि होते हैं। चयकाल ३-१० दिनों का है।

(रोगी कई काल्पत कथायें बतला सकता है यथा, गर्म पत्थर पर पेशाब करना, स्वप्नदोष या मैथुन में वीर्यपात न हो पाना आदि। इन सब कारणों से रोग के लक्षण उत्पन्न नहीं हो सकते। रोगी अपना पाप छिपाने के लिए झूठ बोलता है और चिकित्सक को उनके मुँह से सच बात कहलाने से कोई लाभ नहीं है।

पुरुष—मैथुन के बाद १० दिनों के भीतर मूत्रकृच्छ और अक्सर मूत्र-प्रवाहिका भी उत्पन्न हो जाते हैं। मूत्र के साथ रक्त और पूय भी मिले रहते हैं। मूत्र द्वार में से प्रारम्भ में पतला और फिर कुछ दिनों बाद पीला पूय गिरता रहता है। प्रायः ज्वर नहीं रहता किन्तु कुछ मामलों में हल्का ज्वर हो सकता है। रोग की उपेक्षा करने पर कुछ काल में पीड़ा शान्त हो जाती है, किन्तु थोड़ा बहुत पूयस्राव मूत्रत्याग के बाद होता ही रहता है। उत्तेजना अधिक होती है और गर्म वातावरण, तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन, अधिक परिश्रम आदि कारण उपस्थित हो जाने पर पुनराक्रमण हुआ करता है। रोग अधिक पुराना होने पर मूत्र नलिका के किसी भाग में सांकय उत्पन्न हो जाता है, शुक्र-वाहिनियों और उपवृषणों का प्रदाह होता है तथा शुक्र-कीट नष्ट हो जाते हैं।

स्त्री—सामान्यतः गर्भाशय-ग्रीवा का प्रदाह होता है जिससे सफेद या पीला स्राव होता है और ऋतु काल में अत्यन्त पीड़ा होती है। फिर डिम्ब नलिका, डिम्ब-ग्रन्थि, आदि में प्रसार होकर उनका भी प्रदाह होता है। जिससे अनियमित आर्तव, अनार्तव तथा वन्ध्यत्व तक की उत्पत्ति हो सकती है। क्वचित् विद्रधि की उत्पत्ति हो सकती है और उसके भीतर फूट जाने से उदरावरण प्रदाह हो सकता है। कुछ मामलों में योनि के भीतर तथा बाहरी भाग, मूत्रनलिका आदि का भी प्रदाह होता है।

उपद्रव स्वरूप स्त्री और पुरुष दोनों में ही मूत्रालय, गवीनी और वृक्कों का प्रदाह हो सकता है। गुद-मैथुन से या अन्य रीतियों से गुदा में उपसर्ग होकर गुदपाक हो सकता है।

चिकित्सा—यह एक संसर्ग द्वारा प्रसारित होने वाला रोग है—अतः इससे पीड़ित पुरुष अथवा स्त्री को बिलकुल अलग रखने की अवस्था आव-

श्यक है। ऐसे पुरुष एवं स्त्री दुराचारी होते हैं। इस रोग का प्रयास करने वाले होतं हैं। ऐसे व्यक्तियों से सदैव बचाव रखना चाहिए।

औषधि चिकित्सा में निम्नलिखित आयुर्वेदीय औषधियों में से उपयोगी औषधि द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है—

(१) गोक्षुरादि गुग्गुल, (२) गोक्षुरादि अवलेह, (३) सारिवाद्यासव, (४) खदिरारिष्ट, (५) रस माणिक्य।

पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति में निम्न योगों का प्रयोग करना हितकारक कहा जाता है—

(१) सल्फा ड्रग्स (२) पैन्सलीन के विविध योग।

चिकित्सा में मूत्रल द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। हलका एव पवित्र आहार ग्रहण करना चाहिए।

(१७) हृद्रोग—अत्यधिक उष्ण, भारी, कषाय एवं तिक्त भोजन, श्रम अभिघात, अध्ययन, मैथुन, चिन्ता और वेग-धारण से पाँच प्रकार का हृदय-रोग (हृद्रोग) उत्पन्न होता है।

कुपित दोष रस को दूषित करके हृदय में जाकर हृदय में जो विकार उत्पन्न करते हैं उसे हृद्रोग कहते हैं।

वातज हृद्रोग में हृदय में तनाव, चुभन तथा मथने, फोड़ने, फाड़ने और चीरने के समान पीड़ा होती है।

पित्तज हृद्रोग में प्यास, गर्मी. दाह, चूसने के समान पीड़ा, हृदय मे थकावट, गले में धुआँ-सा निकलने की प्रतीति, मूर्छा, स्वेद, मुख सूखना ये लक्षण होते हैं।

हृदय कफ से आक्रान्त होने पर कफज हृद्रोग में भारीपन, कफस्राव, अरुचि, जकड़ाहट, अग्नि की मन्दता और प्रमुख में मधुरता के लक्षण होते हैं।

त्रिदोषज हृद्रोग को सभी दोषों के लक्षणों से युक्त तथा क्रिमिज हृद्रोग को खुजलाहट तथा तीव्र पीड़ा और चुभन से युक्त जानो।

उत्क्लेश बारम्बार थूकना, तोद. शूल, हृल्लास, आँखों के आगे अँधेरा छा जाना, अरुचि, नेत्रों में मैलापन और शोथ—ये लक्षण कृमिम हृद्रोग में होते हैं।

थकावट, अवसाद, भ्रम और शोथ (कृशता) ये उनके (हृद्रोग के) उपद्रव हैं। कृमिज हृद्रोगों में कफज-कृमिरोग के उपद्रव और भी होते हैं।

चिकित्सा—चरक संहिता में हृदय रोगों की चिकित्सा का विधान निम्न प्रकार बताया है—

वातिक हृदयरोग में सौदीरक के साथ दही का पानी, मट्ठा गुनगुना करके नमक डाल तैल पीना चाहिए। अथवा पाँचों लक्षणों तथा सोमूत्र और कल से सिद्ध किया तिलतैल पीना हितकारक होता है। चरक में एतदर्थ पुनः नवादि तैल, हरीतक्यादि, घृत, त्र्यूषणादि घृत, पुष्करमूलाद्य कल्प पथ्यादि कल्क का प्रयोग करना हितकारक बताया जाता है।

पित्तज हृद्रोग में शीतलेप, शीतलपरिषेक, अंगूर-मिश्री-फालसा के रस से विरेचन करना हितकारक होता है। इस अवस्था में सर्पिगुण, द्राक्षादि घृत, कशेरुकादि घृत तथा पित्तशामक अन्नपान हितकारक होते हैं।

कफज हृद्रोग में स्वेदन, वमन तथा लंघन क्रियाएँ करनी चाहिए। फिर कफनाशक औषधाहार का प्रयोग कराया जाय। इस अवस्था में अगस्त्य-हरीतकी, ब्राह्मरसायन, आमलकीरसायन, च्यवनप्राश का प्रयोग हितकारक होता है।

त्रिदोषज में निशोथ, कुटकी और इन्द्रायणमूल के द्वारा विरेचन करना चाहिए।

कृमिक हृद्रोग में विरेचन, दीपन एवं पाचन क्रियाओं का प्रयोग तथा कृमिनाशक औषधियों का प्रयोग हितकारक रहता है।

निम्नलिखित औषधियों का प्रयोग अवस्थानुसार किया जा सकता है—

(१) नागार्जुनाभ्र रस, (२) हृदयार्णव रस, (३) रस-सिंदूर, (४) कस्तूरी भैरव, (५) शृङ्ग भस्म, (६) अकीक भस्म, (७) अर्जुनारिष्ट (८) अर्जुनघृत, (९) कल्याण सुन्दर रस, (१०) पंचानन रस।

(१८) मूत्रकृच्छ—व्यायाम, तीक्ष्ण औषधि, रूक्ष भोजन मद्यपान, मैथुन नित्य तीव्रगामी घोड़े आदि की पीठ पर सवारी करना आनूपमांस, भोजन पर भोजन और अजीर्ण से मनुष्यों को आठ प्रकार के मूत्रकृच्छ होते हैं।

पृथक्-पृथक दोष अथवा सभी दोष एक साथ अपने प्रकोपक कारणों से कुपित होकर मूत्राशय में पहुँचकर मूत्र के मार्ग को जब पीड़ित करते हैं तब रोगी कष्ट के साथ मूत्र त्याग करता है।

वात के प्रकोप में वंक्षण (रान) मूत्राशय और लिंग में तीव्र कष्टदायक पीड़ा के साथ बार-बार थोड़ा-थोड़ा मूत्र उतरता है।

पित्त के प्रकोप से पीला एवं लालिमायुक्त अथवा रक्तयुक्त मूत्र पीड़ा और दाह के साथ बार-बार कठिनाई से उतरता है।

कफज मूत्रकृच्छ्र में मूत्राशय और लिंग में भारीपन तथा शोथ रहता है और मूत्रपिच्छिल रहता है।

सन्निपात के सभी लक्षण होते हैं। यह मूत्रकृच्छ्र कृच्छ्रसाध्य (अत्यन्त कष्टदायक अथवा अत्यन्त कष्ट साध्य) है।

मूत्रवाही स्रोतों में शल्य के द्वारा क्षत होने अथवा अभिघात लगने से उस चोट के कारण अत्यन्त कष्टदायी मूत्रकच्छ्र उत्पन्न होता है। इसके लक्षणों का निर्देश वातज मूत्रकृच्छ्र के समान करना चाहिए।

मल के निग्रह से वायु कुपित होकर आध्मान वातज शूल और मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न करती है।

अश्मरी के कारण होने वाले मूत्रकृच्छ्र को अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र कहते हैं।

जब दोषों के प्रकोप से च्युत हुआ वीर्य मूत्र मार्ग से पहुँचता है तब रोगी कष्ट के साथ शुक्रमिश्रित मूत्र त्याग करता है तथा उसे मूत्राशय और लिंग में शूल होता है।

अश्मरी और शर्करा की उत्पत्ति तथा लक्षण समान हैं—

पित्त के द्वारा पकाई जाती हुई और वायु के द्वारा सुखाई जाती हुई अश्मरी जब कफ के बन्धन से मुक्त होने के कारण बिखरकर निकलती है, तब वह शर्करा कहलाती है।

चिकित्सा—वातिक मूत्रकृच्छ्र में अभ्यंग, स्नेहपान, निरूह बस्ति, स्निग्ध उपनाह, उत्तर बस्ति, श्वेद तथा लघुपंचमूल से सिद्ध रसों का सेवन कराना चाहिए।

पित्तज मूत्रकृच्छ्र में शीतल परिषेक, अवगाह, प्रलेप, ग्रीष्मऋतुचर्या, शीतल पदार्थों से क्षीरपाक कर तथा घृतों की बस्ति और विरेचन हितकारक होते हैं।

कफज मूत्रकृच्छ्र में क्षार-उष्ण-तीक्ष्ण औषधि, अन्नपान, स्वेदन, वमन, निरूहण तथा तिक्त वर्ग भी औषधियों से सिद्ध तैल का अभ्यंग तथा पान हितकारक होता है।

रक्तज मूत्रकृच्छ्र में नीलोत्पल, इक्षु आदि द्वारा बनाए गए क्वाथ आदि का प्रयोग करना चाहिए।

मूत्रकृच्छ्र में गोक्षुरादि गुग्गुल अच्छा लाभ करता है।

व्यायाम, वेगविधारण, पिष्ट पदार्थ, वायु के झोंके, सूर्य की किरणें, मैथुन, खजूर आदि का सेवन नहीं करना चाहिए। यह हानि करते हैं।

(१९) मूत्राघात ... त्र-निग्रह आदि कारणों से कुपित हुए दोषों से वात कुण्डलिका आदि तेरह ...कार के मूत्राघात उत्पन्न होते हैं।

रूक्षता अथवा वेग-निग्रह से कुपित हुआ वायु कुण्डलाकार होकर मूत्र को आवृत करके बस्ति में पीड़ा उत्पन्न करता हुआ संचार करता है। इसस मूत्र थोडा अथवा पीड़ा के साथ उतरता हैं। वातं कुण्डलिका नामक इस व्यक्ति को अत्यन्त कष्टदायक समझना चाहिए।

वायु बस्ति और गुदा को अवरुद्ध करके एवं फुलाकर अष्ठील... ...मक रोग चलायमान एव उभरी हुई तीव्र पीड़ा उत्पन्न करता है इससे मल और मत्र का अवरोध होता है।

जो अज्ञानी मनुष्य मूत्र के वेग को रोके रखता है उसकी बस्ति में स्थित वायु बस्ति के मुख को बन्द कर देती है। इसमें बस्ति और कुक्षि में पीड़ा के साथ मूत्रावरोध होता है। इस वातबस्ति नामक व्याधि को कृच्छ्र साध्य समझना चाहिए।

देर तक रोके रहने वाले का मूत्र जल्दी नहीं उतरता अथवा उतरते समय धीरे-धीरे उतरता है। इसे मूत्रातीत कहते हैं।

मूत्र का वेग रोकने पर उसके उदावर्त के कारण कुपित अपानवायु उदर को अत्यधिक फुला देती है तथा नाभि के नीचे तीव्र वेदनायुक्त आध्मान उत्पन्न करती है। बस्ति के निचले भाग में अवरोध उत्पन्न करने वाली इस व्याधि को मूत्रजठर कहते हैं।

जिस व्यक्ति का मूत्र प्रवृत्ति होने के बाद ही बस्ति, नलिका अथवा लिंग-मणि के रुक जाने अथवा प्रवाहण करने पर रक्त संहिता थोड़ा-थोड़ा धीरे-धीरे पीड़ा के साथ अथवा पीड़ा के बिना निकले। कुपित वायु से उत्पन्न उसकी इस व्यधि को मूत्रोत्संग कहते है।

भीतर बस्ति के मुख मे अश्मरी के समान पीड़ा करने वाली, गोल, स्थिर एवं छोटी ग्रन्थि सहसा (अनजाने में ही) उत्पन्न हो जाती है—इसे मूत्रग्रन्थि कहते हैं।

स्त्री-प्रसंग के बाद मूत्रत्याग करने वाले का वायु के द्वारा ऊपर उठाया

हुआ एवं स्थान च्युत शुक्र मूत्र के पहले या पश्चात् भस्म-मिश्रित जल के समान निकलता है। इसे मूत्रशुक्र कहते हैं।

व्यायाम, मार्गगमन और सूर्यसन्ताप से वायु सहित पित्त बस्ति में पहुँच कर बस्ति, लिंग एवं गुदा में दाह उत्पन्न करता है तथा बार-बार कष्ट के साथ पीला अथवा रक्तमिश्रित मूत्र अथवा केवल रक्त ही (अथवा रक्त वर्ण) का स्राव करता है इस व्याधि को उष्णवात कहते हैं।

यदि पित्त या कफ अथवा दोनों ही वायु के द्वारा गाढ़े कर लिए जाते हैं तो मूत्र पीला, सफेद अथवा लाल, गाढ़ा तथा कष्टसहित उतरता है। वह दाहयुक्त तथा गोरोचन या शंख के चूर्ण समान वर्ण का भी हो सकता है अथवा सूखा और समस्त वर्णों का भी हो सकता है। इसे मूत्रसाद कहते हैं।

रूक्ष और दुर्बल मनुष्यों का मल जब वायु प्रकोप से ऊपर चढ़कर मूत्र-वाही स्रोत में पहुँचता है तब वह मनुष्य कठिनाई के साथ विष्ठा-मिश्रित अथवा विष्ठा की गंध से युक्त मूत्र का त्याग करता है। इसे विड्विघात कहते हैं।

तेजी से चलना, छलांग लगाना आदि कार्यों से अभिघात लगने से तथा जोर से दबाये जाने से बस्ति अपने स्थान से ऊपर की ओर हटकर गर्भ के समान स्थूल होकर स्थित हो जाती है। इससे रोगी शूल, स्पन्दन (बस्ति का) और दाह से पीडित रहता है तथा मूत्र बूँद-बूँद करके टपकता है। बस्ति को दबाने से रोगी स्तम्भ (शरीर अकड़ जाना), उद्वेष्टन (शरीर ऐंठन अथवा ऐंठन सदृश पीड़ा) और पीडा का अनुभव करता है और मूत्र की धार निक-लती है, यह भयंकर है, इसमें प्रायः वायु की प्रधानता रहती है और बुद्धिहीन लोगों के लिए यह कष्ट साध्य है।

इसमें पित्त का अनुबन्ध रहने पर दाह, शूल और मूत्र में विवर्णता रहती है। कफ अनुबन्ध रहने पर भारीपन शोथ रहता है तथा मूत्र स्निग्ध, गाढ़ा एवं सफेद होता है।

श्लेष्मा से नलिका अवरुद्ध होने पर और पित्त की प्रबलता होने पर वस्ति कुण्डल-असाध्य है। नलिका सीधी रहने पर साध्य है किन्तु जिसमें नलिका कुण्डलाकार हो गई हो वह साध्य नहीं है।

बस्ति के कुण्ठलाकार ऐंठ जाने पर तृष्णा, मूर्छा और श्वास भी होते हैं।

चिकित्सा—मूत्राघात में मूत्रकृच्छ् के समान चिकित्सा करनी चाहिए दोषानुसार बस्ति उत्तरबस्ति और स्निग्ध विरेचन कराना चाहिए।

ककड़ी के बीज का कल्क १ तोला, सेंधा नमक और कांजी के साथ सेवन करने से भी मूत्राघात का नाश हो जाता है।

पाढल, यव, नीम या तिल का क्षार जल तथा दालचीनी, इलायची कालीमिर्च, चूर्ण इनको शराब के साथ मिलाकर पिलाना लाभ करता है। चक्रदत्त में एतदर्थ सुरा प्रयोग और शिलाजुत का प्रयोग करना बताया है।

(२०) कास (Cough)—धुआँ लगने से, रस धातु के प्रकोप से (यहाँ 'रसत:' के स्थान पर 'रजस' पाठान्तर मिलता है जिसके अनुसार धूल उड़कर मुख नासिक में भरने से अर्थ होता है जो अधिक उपयुक्त भी है), व्यायाम और रूक्ष अन्न के सेवन से, भोजन गलत मार्ग (वायु मार्ग) में जाने से तथा छींक का वेग रोकने से उदानवायु सहित कुपित प्राण वायु एकाएक एक फूटे हुए काँसे के समान ध्वनि उत्पन्न करती हुई दोष को साथ लेकर मुख से निकलती है—इसे मनीषियों ने कास कहा है।

कास पाँच प्रकार की कही गई हैं—वातज, पित्तज, कफज, क्षतज और क्षयज। ये सभी उपेक्षा करने पर क्षयकारक हैं और उत्तरोत्तर बलवान होती हैं।

मुख और गले में शूक (सूक्ष्म काँटे) भरे हुए हों ऐसा प्रतीत होना उक्त सभी प्रकार की कास का पूर्वरूप हैं। गले में खुजलाहट और भोज्य पदार्थों का अवरोध (निगलने में कष्ट Dysphagia) भी होता है।

वातज कास का रोगी हृदयप्रदेश, शखप्रदेश (कर्ण-समीपस्थ भाग), सिर उदर और पार्श्व में शूलवत पीड़ा का अनुभव करता है, उसका चेहरा मुरझाया हुआ रहता है, बल, स्वर और ओज क्षीण हो जाते हैं और वह फटे हुए स्वर में देर तक सूखा ही (स्रावरहित) खाँसता है।

पित्तज कास का रोगी छाती में जलन, मुख सूखता और ज्वर से पीड़ित रहता है. मुख का स्वाद कड़वा रहता है और प्यास से व्याकुल रहता है, पीला कड़वा (अथवा चरपरा) वमन होता है, वर्ण पीताभ हो जाता है, सारे शरीर में दाह होती है और खाँसी आती है।

कफज कास का रोगी कफ लिप्त मुँह वाला, अवसादयुक्त सिर दर्द से पीड़ित, सर्वाङ्ग में कफ भरा हो ऐसा अनुभव करने वाला एवं अरुचि, पीड़ा, भारीपन और खुजली से युक्त रहता है, वह अत्यधिक खाँसता है और खाँसने पर गाढ़ा कफ निकलता है।

अधिक मैथुन करने से, शक्ति से अधिक भार उठाने से, अत्यधिक मार्ग गमन से, अपने से अधिक बलवान से युद्ध करने से, भागते हुए हाथी, घोड़ों को रोकने से उत्पन्न रूक्ष मनुष्य के उरःक्षत को ग्रहण करके वायु कास की उत्पत्ति करती है। उसे सूखी खाँसी आती है, फिर रक्तमिश्रित थूक निकलने लगता है। कण्ठ और वक्षःस्थल में अत्यन्त पीड़ा होती हैं, ऐसा मालूम होता है जैसे तीक्ष्ण सुइयाँ अथवा तीक्ष्ण भाले से छेदा जा रहा हो तथा कटने के के समय पीड़ा और बेचैनी होती है। वह रोगी अंग-प्रत्यंग में टूटने के समान पीड़ा, ज्वर, श्वास, तृषा और स्वरभेद से पीड़ित रहता है। क्षतज कास के वेग के समय कबूतर की गटरगू के समान आवाज होती है।

विषम तथा असात्म्य भोजन से, अति मैथुन से, वेगों को रोकने से, घृणा करने वाले तथा शोक करने वाले मनुष्यों की जठराग्नि क्षीण हो जाने पर तीनों दोष कुपित होकर देह का क्षय करने वाली क्षयज कास उत्पन्न करते हैं। वह कफ रोगी पूय-सहित रक्त थूकता है, उसके बल-मांस का क्षय होता है तथा वह सूखता जाता है, अंगों में शूल, ज्वर, दाह एवं मोह से पीड़ित होता है और मृत्यु भी हो सकती है। चिकित्सक तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त इस अत्यन्त दुश्चिकित्स्य (असाध्य) कास को क्षयज कास कहते हैं।

यह क्षयज कास क्षीण रोगियों की देह नष्ट करने वाली (मारक) है। बलवानों की साध्य अथवा याप्य हो सकती है क्षतज कास भी ऐसा ही है। ये दोनों नई होने पर और चतुष्पाद (भिषक, औषधि, परिचारक और रोगी) उचित गुणों से युक्त होने पर कदाचित् साध्य हों।

वृद्ध व्यक्तियों के सभी प्रकार की जरा कास याप्य कही गई है। पहली तीन प्रकार की कास (वातज, पित्तज, कफज) साध्य है, उनकी चिकित्सा करें और जो याप्य हैं उन्हें तथ्य-पालन पूर्वक याप्य ही रखें।

चिकित्सा—वातज कास में स्नेहपन अभ्यंग, परिषेक तथा स्वेदन हितकारक होता है। पैतिक कास में विरेचन द्वारा उपचार करना चाहिए कफज कास में कफनाशक कटु-रूक्ष और उष्ण औषधियों का सेवन करना चाहिए।

नवीन वातिक और पैत्तिक कास में तालीसादि चूर्ण को आधा से एक माशा की मात्रा में शर्बत बांसा के अनुपात से दिया जाए तो बहुत अच्छा लाभ करता है।

एक योग जो कास के रोगियों को अच्छा लाभ करता है, निम्न प्रकार है—

सिद्ध मकरध्वज	$\frac{1}{8}$ रत्ती
अभ्रक भस्म	$\frac{1}{4}$ रत्ती
प्रवाल भस्म	$\frac{1}{4}$ रत्ती
चन्द्रामृत लोह	१ रत्ती
कफकेतु रस	१ रत्ती
शृंग भस्म	$\frac{1}{2}$ रत्ती
कंटण	१ रत्ती

ऐसी एक मात्रा को दिन में तीन बार दें।

शर्बत बांसा, शर्बत लिहसोड़ा और शर्बत काकड़ा शृंगी की एक-एक माशा मात्रा के साथ दें।

इस योग से सभी प्रकार की कास में लाभ होता है।

यदि शुष्क कास हो तो निम्न योग द्वारा आर्द्र किया जा सकता है—

चन्द्रामृत रस	१ रत्ती
कफकेतु रस	१ रत्ती

मधु के अनुपान से दें।

इसके लिए एलोपैथिक का निम्न योग लाभ करता है—

एमोनियाँ कार्ब	१० ग्रेन
पोटाश आयोडाइड	३ ग्रेन
सीरप सिल्ला	६० बूंद
सीरस वसाका	६० बूंद
जल	१ औंस

ऐसी चार मात्राएँ एक दिन में दो जानी चाहिए। यदि इसमें वाईनम इपिकाक १० बूंद के हिसाब से मिला दिया जाय तो और भी अधिक लाभ होता है।

निम्न औषधि योग भी आवश्यकतानुसार प्रयोग किए जाते हैं—

(१) सितोपलादि चूर्ण, (२) लक्ष्मी विलास रस, (३) लवगादि बटी, (४) एलादि बटी, (५) श्वास कुठार रस।

आधुनिक चिकित्सा-पद्धति में इस रोग की चिकित्सा में निम्न योगों का प्रयोग किया जाता है—

(१) टिंचर बेन्जोइन को वाष्प से सूंघना

(२) पैन्सलिन का इंजेक्शन द्वारा प्रयोग ।

(३) पंन्सलीन चूसने को गोलियों का प्रयोग करना ।

(४) एफेड्रान मुख द्वारा संवन ।

(५) एमाइनोफानलिन का सूचिवेध द्वारा प्रयोग ।

कास रोग में उपचार करते समय पथ्य का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है। चरक चिकित्सा में कास रोग के लिए विविध औषधीय धूम्रपानों का वर्णन किया है। घृत योगों के द्वारा कास चिकित्सा लाभकारी कहा है। एतदर्थ चरक संहिता में निम्न घृत योगों का वर्णन किया है—

(१) द्विपञ्चमूलाद्य घृत, (२) गुडूच्यादि घृत, (३) कासमर्दादि घृत ।

धूम्रपान के लिए मनः शिलाधूम्रपान अत्यन्त हितकारक होता है।

द्राक्षावलेह, च्यवनप्राश, कण्टकारी अवलेह का प्रयोग कान्ति के लिए कर सकते हैं।

(२१) हिक्का—विदाही, गुरु, विस्टम्भि (विष्टम्भी), रूक्ष और अभिष्यन्दी पदार्थों के भोजन से, शीतल पेय, शीतल स्थान, धुआँ, धूप और वायु से, व्यायाम करने, भार उठाने, मार्ग चलने, वेगों को रोकने और अपतर्पण क्रियाओं से मनुष्य को हिक्का, श्वास और कास उत्पन्न होते हैं।

वायु यकृत प्लीहा, दांतों आदि को मुख में से फंकती हुई सी शब्द सहित ऊपर को जाती है। यह शब्द युक्त ('हिक्'-शब्दयुक्त) होने के कारण तथा शीघ्र हा प्राणो का नाश करने के कारण बुद्धिमानों द्वारा हिक्का कही जाती है।

कफ सहित वायु पांच प्रकार की हिक्काओं-अन्नजा, यमला, क्षुद्रा, गम्भीरता तथा महती को उत्पन्न करती है।

कण्ठ और वृक्ष में भारीपन, मुख में कसैलापन और कुक्षि में आध्मान ये हिक्काओं के पूव रूप हैं।

अन्न-पान के अतियोग से वायु एकाएक पीड़ित होकर उर्ध्वगामी होकर हिक्का की उत्पत्ति करता है। वैद्य इसे अन्नजा हिक्का समझें।

जो हिक्का, विलम्ब स सिर और ग्रीवा को कंपाती हुई दुहरे वेग से (दो बार हिच्-हिच् की आवाज के साथ) आती है, उसे यामला कहना चाहिए।

जो हिक्का विलम्ब से, मन्द वेग से आती है एवं जत्रुमूल (वक्ष और ग्रीवा की संधि) से उत्पन्न होती है वह क्षुद्रिका (क्षुद्रा) हिक्का है।

जो हिक्का नाभि से उत्पन्न हो, गम्भीर शब्द करती हो एवं अनेक उपद्रवों से युक्त हो, वह गम्भीरा हिक्का मानी गई है।

मर्मस्थलों में पीड़ा उत्पन्न करती हुई एवं सब अंगों को कँपाती हुई जो हिक्का लगातार आती रहती है, उसे महाहिक्का समझना चाहिए।

(१) हिचकी लेते समय जिसका शरीर फैल जाता हो, और नेत्र ऊपर चढ़े हुए संकुचित रहते हों तथा (२) जो क्षीण हो, अरुचि से पीड़ित हो, और जिसे अत्यधिक छींके आती हों, ऐसे दोनों प्रकार के हिक्का रोगों तथा अन्तिम दो हिक्काओं (गम्भीरा और महती) से पीड़ित रोगी त्याज्य है।

अर्थात् हिचकी लेते समय जिसके अंग फैल जाते हों दृष्टि ऊपर की ओर एवं अत्यन्त व्याकुल (या क्षीण) हो, जो क्षण और अरुचि से पीड़ित हो तथा खांसता हो ऐसे दो अन्तिम हिक्काओं (गम्भीरा और महती) से पीड़ित रोगी वर्जित है।

जिसके शरीर में दोषों का संचय अत्यधिक हो जो भोजन न करने या कम करने से कृश हो गया हो, जिसका शरीर व्याधियों के कारण क्षीण हो गया हो जो वृद्ध हो या अत्यन्त विषयाशक्त हो; ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न हिक्का शीघ्र ही प्राणों का नाश कर देती है। यमला हिक्का भी प्रलाप, पीड़ा, मूर्च्छा और प्यास से युक्त होने पर प्राणों का नाश करती है। यदि रोगी क्षीण और दीन न हो तथा धातुओं और इन्द्रियों में स्थिरता (बल) हो तो यमला हिक्का साध्य है, अन्यथा मारक है।

चिकित्सा—आयुर्वेद में हिक्का और श्वास की चिकित्सा एक प्रकार ही कही गई है। चरक संहिता में स्पष्ट रूप से कहा है कि दोनों के हेतु, उत्पत्ति स्थल और मूल के ऐक्य होने से दोनों की चिकित्सा भी एक ही है।

हम भी हिक्का की चिकित्सा श्वास के प्रकरण में ही लिखेंगे, वहीं पर पाठक देख सकते हैं।

(२२) **श्वास**—श्वास रोग एक महाव्याधि (बड़ा रोग) है। विशेषताओं के अनुसार इसके ५ भेद माने जाते हैं—महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्न श्वास, तमक श्वास और क्षुद्र श्वास।

(क्षुद्र श्वास वातोल्वण, तमक श्वास कल्फोल्वण और छिन्न श्वास कफ-वातोल्वण होता है। महाश्वास और ऊर्ध्वश्वास में वायु की ही उल्वणता मानी गई है।)

हृदय प्रदेश में पीड़ा, शूल, आध्मान, आनाह, मुख में विरसता और शंख प्रदेश (कान के आस-पास का भाग) में पीड़ा—ये श्वास रोग के पूर्व रूप हैं।

जब वायु कफ को आगे करके स्रोतों का अवरोध करके रुकती हुई सभी ओर गमन करती है, तब वह श्वास-रोगों को उत्पन्न करती है।

जो मनुष्य कष्ट एवं आवाज के साथ ऊपर की ओर फूँकता हुआ सा वायु को छोड़ता हो, अवरोध के कारण निरन्तर मस्त साँड़ के समान दीर्घ श्वास लेता-छोड़ता हो, जिसका ज्ञान-विज्ञान नष्ट हो चुका हो, नेत्र यहाँ-वहाँ अनैच्छिक रीति से गति करते हों, नेत्र और मुख फैले हुए हों, वाणी लड़-खड़ाती हुई एवं क्षीण हो अथवा बोलने में असमर्थ हो और चेहरा निस्तेज हो, ऐसा महाश्वास से पीड़ित रोगी शीघ्र ही मर जाता है। ऐसे रोगी के प्रश्वास की आवाज दूर से ही स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

जो रोगी दीर्घ ऊर्ध्वश्वास छोड़ता है और उतना ही अधःश्वास वापस नहीं खींचता, जिसके मुख और स्रोत कफ से आवृत रहते हैं, जो कुपित वायु से पीड़ित रहता है, जो ऊपर की ओर विकृत रीति से देखता है, जिसके नेत्र यहाँ-वहाँ अनैच्छिक रीति से गति करते हैं, जो बार-बार मूर्च्छित होता है, जो वेदना से दुःखी रहता है, बेचैनी अधिक होने से जिसका मुख-मण्डल श्वेताभ हो गया हो, वह रोगी बेचैन होकर बार-बार मूर्च्छित होता है तथा ऊर्ध्वश्वास उसके प्राणों को नष्ट कर देता है, ऊर्ध्वश्वास कुपित होने पर अधः-श्वास का अवरोध होता है।

जो रोगी सारी शक्ति लगाकर भी रुक-रुक कर श्वास लेता हो अथवा मर्मस्थान कटने की (या तत्सदृश) पीड़ा से दुखी होकर श्वास ही नहीं लेता हो, जो आनाह, स्वेद, मूर्च्छा एवं वस्ति में दाह से पीड़ित हो, जिसके नेत्र आँसू भरे हुए हों, श्वास क्षीण हो एवं एक नेत्र लाल हो, चित्त स्थिर न हो, मुख सूखता हो चेहरा विवर्ण हो और प्रलाप कर रहा हो; ऐसा रोगी छिन्न श्वास से विच्छिन्न होकर शीघ्र ही प्राण त्याग देता है।

जब वायु प्रतिलोम होकर स्रोतों में ठहर जाती है, तब वह गले और सिर को जकड़ कर तथा कफ को कुपित करके पीनस (प्रतिश्याय) उत्पन्न करती है और उससे अवरुद्ध हो कर घुर-घुर शब्द तथा प्राणों को कष्ट देने वाला अत्यन्त तीव्र वेगयुक्त श्वास उत्पन्न करती है, वह रोगी श्वास के वेग से अत्यन्त बेचैन होता है, प्यास लगती है और श्वासावरोध होता है। खाँसते-

खाँसते वह बार-बार मूर्च्छित हो जाता है। कफ न निकलने पर उसे अत्यन्त कष्ट होता है और उसके निकलने पर कुछ देर आराम मिलता है। इस तरह उसका कंठ फट-सा जाता है, जिससे वह कठिनाई से बोल पाता है। श्वास से पीड़ित होने पर लेटने से वायु पार्श्वों को जकड़ लेती है, इसीलिए लेटने पर नींद भी नहीं आती है। वह रोगी बैठने मे आराम का अनुभव करता है और उष्ण आहार-विहार पसन्द करता है। वह रोगी अत्यन्त दुखी रहता है; उसके नेत्र उभरे हुए, ललाट, स्वेदयुक्त और मुख शुष्क रहता है। बार-बार नीचे की ओर धोंकनी (भस्त्रिका, खंलात) सी चलती है। मेघ, जलवृष्टि, शीत ऋतु एवं पूर्वीय प्रातःकाल वायु (अथवा वर्षा एवं शीतल पूर्वी या प्रातः-कालीन वायु) और कफवर्धक आहार-विहार से रोग बढ़ता है। यह तमक श्वास याप्य है। किन्तु नवोत्पन्न होने पर साध्य हो सकता है।

यदि तमक-श्वास रोगी ज्वर और मूर्च्छा से युक्त हो तो उसके रोग को प्रतमक श्वास मानना चाहिए। यह उदावर्त, धूल, अजीर्ण शरीर-भीगा रहने तथा श्वास रोकने (प्राणायाम आदि) से होता है।

जो तमक-श्वास अन्धकार अथवा मानसिक दोषों (क्रोधादि) से अत्यधिक बढ़ता है और शीतल आहार-विहार से तुरन्त शान्त होता है तथा जिसमें रोगी अन्धकार से डूबते हुए के समान अनुभव करता है, उसे सन्तमक श्वास समझना चाहिए।

रूक्षता और परिश्रम से कोष्ठ में जो थोड़ा वायु ऊपर चढ़ता है, उसे क्षुद्र श्वास कहते हैं। यह अधिक कष्ट नहीं देता और अंगों के कार्यों में बाधा नहीं पहुँचाता। दूसरे श्वासों के समान न यह मृत्युकारक ही है और न दुःखदायक। न यह अन्न जल की उचित गति को ही रोकता है, न इन्द्रियों में व्यथा उत्पन्न करता है और न कोई अन्य रोग ही उत्पन्न करता है। बलवान् रोगी का यह क्षुद्रश्वास रोग साध्य कहा गया है और लक्षण अव्यक्त रहने पर भी सभी श्वास रोग साध्य कहे गये हैं।

श्वास रोगों में क्षुद्रश्वास साध्य माना है, तमक श्वास कृच्छ्र साध्य कहा गया है तथा महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास और छिन्नश्वास—ये तीन श्वास असाध्य हैं और दुर्बल रोगी और तमक श्वास भी असाध्य है।

चिकित्सा—हिक्का तथा श्वास के रोगी का उपचार पहले स्नेहन एवं स्वेदन द्वारा करना चाहिए। नमक के तेल द्वारा अभ्यंग करके नाड़ी स्वेद, प्रस्तर स्वेद और संकर स्वेद द्वारा उपचार करना चाहिए। इसे गाँठदार

कफ पतला होकर स्रोतों में विलीन हो जाता है और वायु के मार्ग में अवरोध न रहने से रोग ठीक हो जाता है। जो श्लेष्मा रहा हो उसको ऐसा कल्प पिला कर वमन द्वारा निकाल दें, जिस कल्प के पीने से वायु की वृद्धि न हो। इससे दुष्ट श्लेष्मा का निर्हरण हो जाता है। शरीर में रहे हुए श्लेष्मा को धूम्रपान योगों द्वारा जीतना चाहिए।

धूम्रपान के लिए चरक संहिता में हरिद्रादि धूम्रवर्ती का वर्णन किया है। मोम-राल-घृत का धूम्रपान हितकारक कहा गया है।

चरक संहिता में शट्यादि चूर्ण का प्रयोग करने का विधान बताया है, मुक्तादि चूर्ण का प्रयोग भी किया जाता है।

यदि रूक्षता एवं शोथ का आभास हो तो निम्न घृतों का प्रयोग करन चाहिए—

(१) दशमूलाद्य घृत (चरक) (२) तेजोवलादि घृत (चरक)
(३) मनःशिलादि घृत (चरक)

आयुर्वेद में निम्न योगों का वर्णन भी इस प्रसंग में किया है—

(१) शृंग्यादि चूर्ण, (२) भार्गी गुड़, (३) पिप्पलाद्य लौह,
(४) श्वास कुठार रस (५) कनकासव।

मयूरपुच्छावलेह बहुत अच्छा लाभ करता है। अष्टांगअवलेह और च्यवनप्राशवलेह लाभ करता है। श्रेष्ठ कीमती दवाइयों में श्वासकास चिन्तामणि दिया जाता है। पुराने रोगियों के लिए मल्ल का प्रयोग बताया गया है।

आधुनिक चिकित्सक निम्न औषधियों का प्रयोग करते हैं—

(१) इफेड्रीन टेबलेट मुखमार्ग से, (२) एड्रनेलीन इंजेक्शन द्वारा,
(३) अमोनोफाइलीन इंजेक्शन द्वारा, (४) एसिटिल-आर्सन-इंजेक्शन द्वारा
(५) एस्थमा वैक्सीन इंजेक्शन द्वारा।

(२३) राजयक्ष्मा (Pulmonary Tuberculosis)

कारण—राज यक्ष्मा रोग के कारणों पर सबसे पहले अग्नियों पर विचार किया जाता है। इस रोग में अग्नियाँ विषम हो जाती हैं, जिससे आहार का पाक नहीं हो पाता, विशेषकर आहार रस से कफ का निर्माण होता है। बढ़ा हुआ कफ स्रोतों के मार्गों को बन्द कर देता है तथा रक्तादि धातुओं का क्षय कर देता है तथा धातुओं में रहने वाली सात धात्वग्नियों का नाश हो जाता है। इसी से राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति होती है।

राजयक्ष्मा के उत्पन्न हो जाने के बाद खाया हुआ अन्न-पान जो कोष्ठ में रहता है, उसको अग्नि पचाती है, किन्तु पचा हुआ वह अन्नरस प्रायः मल बन जाता है और उसमें से कुछ ही थोड़ा भाग ओज बन सकता है।

पूर्वरूप—प्रतिश्याय, दौर्बल्य, दोष रहित वस्तुओं में भी दोष दिखाई देना; प्रत्येक वस्तु से घृणा करना, उचित भोजन करने पर भी बल और मांस का क्षय होना, स्त्री मैथुन, मद्य, मांस सेवन की अधिक रुचि रखना, प्रायः पेय पदार्थों में मक्षिका, घन, केश, तृण्या का गिरना दिखाई पड़ना। शरीर की धातुएँ सूख जाने से, शरीर का पतन होता है और मनुष्य पक्षियों द्वारा या भयोत्पादक जीवों द्वारा पराजित होता व भयभीत होता है।

राजयक्ष्मा के चार मुख्य कारण हैं—

१. अपनी शक्ति से अधिक कार्य करना :
२. मलमूत्रादि के आगद वेगों को रोकना।
३. धातुओं का क्षय होना।
४. विषम भोजन करना।

स्रोतों के रुक जाने से रस अपने स्थान में रहता-हुआ बढ़ता है तथा वह बढ़ा हुआ रस अनेक रूप में होकर कास के वेग से ऊपर आता रहता है। इसके पश्चात् ग्यारह प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं जिनके समदाय का नाम 'राजयक्ष्मा' कहा जाता है।

यक्ष्मा के एकादश रूप—(१) कास, (२) संताप, (३) स्वर भेद, (४) ज्वर, (५) पार्श्व शूल, (६) शिरःशूल, (७) रक्तवमन, (८) कफ का वमन, (९) श्वास, (१०) अतिसार, (११) अरुचि।

यक्ष्मा से पीड़ित रोगियों की कास के साथ कफ मिश्रित चिपचिपा, घना, आमगन्ध, हरे, श्वेत और पीले रंग का रस कफ के साथ आता है।

यक्ष्मा के सामान्य लक्षण—अंश और पार्श्व में अभिताप, हाथ और पैरों में दाह, सम्पूर्ण शरीर में ज्वर—ये तीन लक्षण सामान्य रूप से पाये जाते हैं।

पाश्चात्य मत

पाश्चात्य मतानुसार यह रोग कीटाणुजन्य है जिन्हें अणु-वीक्षण यन्त्र द्वारा देखा जा सकता है। मुख्यतः फुफ्फुसगत व्याधि का ही वर्णन आयुर्वेदीय मतानुसार पाया जाता है।

फुफ्फुसगत यक्ष्मा प्रायः १५ से ३० वर्ष की आयु के बीच पाई जाती है। रुग्ण अवस्था में इसके साथ कास व कभी कुछ ज्वर या ज्वर नहीं पाया जाता।

इसमें शारीरिक दुर्बलता, थकावट, भार में कमी, रात्रि में पसीना, श्वास व स्त्रियों में आर्त्तव क्षयता आदि लक्षण पाये जाते हैं। शाम के ६ बजे दो-तीन घण्टे के लिए ज्वर आता है। शारीरिक क्षमता से अधिक कार्य करने पर ज्वर बढ़ जाता है।

प्रातःकाल खाँसी के साथ कफ भी आता है। कभी-कभी इसके साथ रक्त भी आता है। श्वास चढ़ता है। छाती में दर्द भी पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त आन्त्रक्षय, क्षयज, उदरकलाशोथ, गण्डमाला अपची भी राजयक्ष्मा के अन्तर्गत आते हैं।

चिकित्सा—आयुर्वेदिक मतानुसार

उपक्रम—रोगी को सूखे, हवादार कमरे में रखे। उसके बर्तन, वस्त्र आदि का उपयोग दूसरे लोग न करें। इस रोग के रोगी का थूक पृथ्वी में गाड़ देना चाहिए अथवा जला देना चाहिए।

इसमें चिकित्सा के साथ-साथ विश्राम व शारीरिक पुष्टि के लिए बल-कारक पथ्य देना चाहिए।

(१) बलवान रोगी को—स्वेदन के पश्चात् स्निग्ध व तर्पक औषधियों से मृदु विरेचन व वमन कराएँ।

(२) विबन्ध व रूक्षता की अवस्था में—वस्ति दें। वस्ति स्नेह युक्त होनी चाहिए।

(३) शिराशूल व कंधों में शूल हो तो— धूम्रपान व नस्य कराएँ।

(४) तीव्र ज्वर में पूर्ण विश्राम, मृदु औषधियाँ (प्रवाल, मुक्ता, शृंग, मुक्तापंचामृत) देकर ज्वर शान्त करें।

(५) दुर्बल रोगी को शोधन कदापि न देना चाहिए—

प्रयोग—

(१) बसन्त मालती १ रत्ती	शृंग भस्म १ रत्ती
प्रवालपिष्टी १ रत्ती	सितोपलादि १ माशा

तीन मात्रा, सुबह, दोपहर, शाम। अनुपान—मधु से।

(२) द्राक्षारिष्ट २ तोला।

दो मात्रा भोजन के पश्चात् सम जल मिलाकर।

(३) च्यवनप्राश ६ माशा।

दो मात्रा प्रातः, सायं दूध से।

रक्तष्ठीवन की अवस्था में--

(१) शतमूल्यादि लोह रत्ती, रक्तपित कुलकुण्डन रस १ रत्ती,
बसन्त मालती १ रत्ती, सितोपलादि १ रत्ती।

तीन मात्रा सुबह, दोपहर, शाम। वासास्वरस व मधु से।

(२) शु० स्वर्ण गैरिक ४ रत्ती, दुग्धपाषाण ४ रत्ती।

दो मात्रा, पानी से।

(३) उशीरासव २ तोला।

२ मात्रा भोजन के पश्चात् कम जल से।

रोगी के लिए—

पथ्य—दूध, मांस-रस, अण्डा, फल, घी, मक्खन व रुचिकर भोजन।

अपथ्य—कटु, तीक्ष्ण पदार्थ, लाल मिर्च, तेल, मद्य, धूम्रपान से निषेध रखना चाहिए।

पाश्चात्य मतानुसार चिकित्सा

(१) विश्राम—जब तक कि—X-Ray में रोगस्थान स्वस्थवत् न हो जाय।

(२) भोजन—प्रोटीन अधिक मात्रा में जीवनीय युक्त होने चाहिए। एक गिलास दूध व दिन में तीन बार भोजन रोगी को कराना लाभदायक होता है। साथ ही मछली का तेल भी लेना चाहिए।

(३) रोगी को औषधियों में—

(अ) स्ट्रेप्टोमाईसीन का एक ग्राम का इंजेक्शन हर एक दिन छोड़कर देना चाहिए।

(ब) पास (P. A. S.)—१२ ग्राम और आइसोनैक्स—१०० मि० ग्रा० इंजेक्शन के साथ-साथ मुख द्वारा दिया जाता है।

(१४) अतिसार (Diarrhea)

शरीर के जल प्रधान पदार्थ यथा रस जल-पित्त-कफ-स्वेद-मेद आदि दूषित होकर मल के साथ मिल जाते हैं और फिर पतले-पतले दस्त आते हैं—तो उस रोग को अतिसार कहते हैं। इसमें अपक्व मल अधिक आता है। इन द्रव पदार्थों के द्वारा जठराग्नि मन्द हो जाती है और पतले दस्त आने लगते हैं।

अधिक भोजन करने से, भारी पदार्थ खाने से, मांस आदि का अधिक सेवन करने से पहले खाए गए भोजन के पचे बिना ही पुनः भोजन करने से दूषी

विष और स्थावर विष के प्रयोग से, शोक, भय, क्रोध से, मद्यपान से, उदर कृमि से प्राय: अतिसार रोग उत्पन्न होता है।

अतिसार आरम्भ होने से पूर्व हृदय-नाभि, उदर में पीड़ा होती है—अपचयन आध्मान होता है। अपचयन के लक्षण उत्पन्न होते हैं। शरीर में शिथिलता होती है और मलावरोध होता है।

यह अतिसार छह प्रकार का होता है—

(१) वातज अतिसार, (२) पित्तज अतिसार, (३) कफज अतिसार, (४) सन्निपातज अतिसार, (५) आमज अतिसार, (६) शोकज अतिसार।

वात के प्रकोप से अरुण वर्ण का, फेनयुक्त रूक्ष एवं कच्चा मल पीड़ा और आवाज के साथ थोड़ा-थोड़ा बार-बार निकलता है।

पित्त के प्रकोप से पीला, नीला अथवा लाल से वर्ण का मल निकलता है। तृष्णा, मूर्च्छा, दाह और पाक भी होता है।

कफ के प्रकोप से श्वेत वर्ण का गाढ़ा, कफमिश्रित, दुर्गन्धयुक्त और शीतल मल निकलता है और मनुष्य के रोम खड़े हो जाते हैं।

जंगली सुअर की चर्बी अथवा मांस रस के समान विदोष के लक्षणों से युक्त अतिसार को कुछ साध्य मानना चाहिए।

अन्न के पचने से कुपित हुए दोष कोष्ठ को धातुओं को, और मलों को क्षुब्ध करके भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न वर्णों का मल शूल के साथ निकालते हैं—उसको आमज अतिसार कहा जाता है।

कारणों को याद करते हुए शोक करते रहने से और उसी अल्प से भोजन करने वाले व्यक्ति की वाष्पोष्मा कोष्ठ में जाकर अग्नि को कुपित करने के बाद रक्त में क्षोभ उत्पन्न करती है और गुंजा के समान लाल रंग का रक्त मूल के साथ मिल कर अथवा अकेला ही दुर्गन्धित होकर अथवा निर्गन्धित ही नीचे के मार्ग से निकलता रहता है—इसको शोकज अतिसार कहते हैं—यह कष्ट-साध्य होता है।

अतिसार के मल का 'आम' होना अथवा 'पक्व' होना विशेष रूप से विचारणीय है। जो मल दोषों से युक्त हो पानी में डालने से डूब जाए और अत्यन्त बदबूदार हो तथा पिच्छिल हो वह मल आम जानना चाहिए। और जो इन लक्षणों के विपरीत लक्षण वाला हो तथा विशेष रूप से लघु हो उसको पक्व समझना चाहिए।

अतिसार की असाध्यता का विचार भी आवश्यक है। बताया गया है कि तृष्णा, दाह, आँखों के आगे अँधेरा आना, श्वास, हिक्का, पार्श्वशूल, अस्थि शूल, घोर मूर्च्छा, अरति, समोह और प्रलाप से युक्त रोगी, जिसकी गुदा की बलियाँ पक गई हों तथा जिसका मल पक्व जामुन के समान अथवा यकृत के टुकड़े के समान रंग का हो और पतला हो; घी, तेल, वसा, मज्जा, वेशवार दूध, दही अथवा मांस के धोवन के समान हो अथवा नीला और अरुण वर्ण का अथवा अंजन के समान हो, चिकना, भूरा अथवा चन्द्रिकाओं से युक्त हो, मुर्दों की सी गन्ध वाला अथवा सड़ा हुआ मल हो, उस रोगी को असाध्य समझना चाहिए।

जिसकी गुदा खुली ही रहती हो, क्षीण हो चुका हो जिसको बहुत अधिक अध्यमान व शोथ हो, जिसे उपद्रव स्वरूप बहुत रोग उत्पन्न हो गए हों उसको भी त्याग देना चाहिए।

पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र में अतिसार का वर्णन करते हुए इसके कई भेद बताए गए हैं। विभिन्न प्रकार से कीटाणुओं के द्वारा अथवा दूषित आहार, मांस-रस आदि के सेवन द्वारा अथवा ऋतु परिवर्तन आदि द्वारा उत्पन्न माना जाता है।

चिकित्सा—अतिसार की चिकित्सा में आमावस्था और पक्वावस्था का विचार करना नितान्त आवश्यक होता है। यदि आमावस्था हो तो अवश्य ही लंघन करना चाहिए। औषधि देना उपयुक्त नहीं। यदि कोई औषधि दें तो वह संग्राहक न हो केवल पाचक औषधि देनी चाहिए; यथा—पिप्पली का चूर्ण आदि। छाछ का प्रयोग अतिसार में लाभ करता है।

यदि अतिसार की निरामावस्था हो तो निम्न प्रकार औषधोपचार करना चाहिए।

(१) रामबाण रस—२ रत्ती शंखभस्म—२ रत्ती, भुना जीरा—२ रत्ती। दिन में ऐसी चार मात्राएँ मधु से।

(२) सूतराज अगस्ति—२ रत्ती, शंखभस्म—२ रत्ती, कर्पूर रस—रत्ती। दिन में ऐसी चार मात्राएँ मधु से।

(३) लोही चूर्ण—गंगाधर चूर्ण—कुटजारिष्ट का प्रयोग करना चाहिए।

आधुनिक चिकित्सक निम्न औषधियों का प्रयोग करते हैं—

(१) सल्फागोनेडिन (Sulphagunadine)—एक बार में पूरी खुराक दो

गोली—दिन में ऐसी चार मात्राएं दें। आरम्भ की मात्रा चार गोली की भी दी जा सकती है।

(२) सल्फा सक्सेडीन (Sulapha Succidine) का प्रयोग भी होता है।

(३) केवोलीन (Kaolin) और बिस्मथ कार्ब भी देते हैं।

(४) टेरामाइसीन (Terramycin) २० मिलीग्राम प्रति पौंड शरीर भार पर।

(५) न्योमाइसीन (Neomycin) ५० मिलीग्राम प्रति पौंड शरीर भार पर।

(६) प्रवाहिका (Dysentery)

प्रवाहिका (Dysentery) की प्राप्ति—अहितकारी भोजन करने वाले के संचित कफ को उसकी अत्यन्त बढ़ी हुई वायु मल के साथ मिलाकर, बहुत प्रवाहण (मरोड़) के साथ थोड़ा-थोड़ा बार-बार नीचे के मार्ग (गुदा) से निकलती है—इस (रोग) को वैद्य प्रवाहिका कहते हैं।

वास्तव में पेचिश (Dysentery) यही है। पाश्चात्य विद्वान् भी पेचिश में मल के साथ निकलने वाले पिच्छिल पदार्थ को कफ मानते हैं, आम नहीं।

उपर्युक्त सम्प्राप्ति से स्पष्ट है कि यह रोग वात-कफ प्रधान है, कफ का संचय और वात की वृद्धि होने पर ही यह रोग हो सकता है, अन्यथा नहीं। यद्यपि अन्य दोषों के संसर्ग से लक्षणों में अन्तर आ जाता है, तथापि प्रवाहण पूर्वक मल के साथ कफ का निकलना इस रोग का प्रधान लक्षण है और यह लक्षण इस रोग के सभी प्रकारों में अनिवार्यतः उपस्थित रहता है।

वातजा प्रवाहिका शूलयुक्त, पित्तजा दाहयुक्त, कफजा कफ (के लक्षणों से) युक्त और रक्तजा रक्त युक्त होती है, परन्तु ये सभी स्नेह (कफ कारक) और रूक्ष (वात कारक) पदार्थों से उत्पन्न मानी गई हैं। इनके सबके लक्षण, क्रम, आमता और पक्वता अतिसार समान ही जानना चाहिए।

पाश्चात्य मत

प्रवाहिका (Dysentery) के २ मुख्य प्रकार हैं—

(१) दण्डाणुवीय, (२) कीटाणुवीय।

विषम ज्वर, काला ज्वर, राजयक्ष्मा, कुर्कटार्बुद आदि के उपद्रव स्वरूप भी प्रवाहिका की उत्पत्ति होती है।

(१) **दण्डाणवीय प्रवाहिका (Bacillary Dysentery)**—यह रोग अधिकतर वर्षा ऋतु से प्रथम चरण में महामारी के रूप में फैलता है, वैसे इसके फुटकर रोगी सभी ऋतुओं में पाये जाते हैं। किसी भी आयु या जाति के व्यक्ति पर इसका आक्रमण हो सकता है। वैसे यह संसार के लगभग सभी देशों में पाया जाता है, किन्तु उष्ण देशों में अधिक पाया जाता है। उत्पादक कारण शिक्षा (Shiga), फ्लैक्सनर (Flexner), सोने (Sonne) स्मिट्ज (Schmitz) आदि दण्डाणु हैं। ये अधिकतर संक्रमित खाद्य पेयों के साथ उदर में पहुँच कर रोगोत्पत्ति करते हैं। खाद्यों में इनका संक्रमण मक्खियों के द्वारा और जल में रोगी व्यक्ति के द्वारा मलोत्सर्ग के बाद गुदा शुद्धि करने से होता हैं। चयकाल लगभग १ सप्ताह है। थकावट, कमजोरी, अजीर्ण, बाल्यावस्था, शीत लग जाना आदि परिस्थितियाँ रोगाक्रमण में सहायक होती हैं। रोगी अधिकतर तीव्र प्रकार का होता है, किन्तु चिरकारी प्रकार भी यदाकदा पाया जाता है।

सौम्य प्रकार के वृहदन्त्र के निचले भाग में और उग्र प्रकार में पूरे वृहदन्त्र तथा कभी-कभी क्षुद्रान्त्र में भी रक्ताधिक्य और शोथ होकर, श्लैष्मिक कला में कोष और व्रणोत्पत्ति होती है। यदि रोग घातक न हुआ तो व्रणों में दोनों ओर तन्तुओं की उत्पत्ति होकर उनका पूरण हो जाता है। कभी-कभी कुछ कोषार्बुद (Cyst) के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। जिनमें तृणाणु दीर्घ काल तक निवास करते हैं। कुछ व्रणों में अर्श के समान अंकुर (Polypoid Growths) उत्पन्न होते रहते हैं। रोग तीव्रावस्था में प्लीहा और वृक्कों में रक्ताधिक्य और शोथ होता है।

सामान्य प्रकार का आक्रमण अधिकतर ज्वर के साथ होता है। ज्वर १२०°—१३०° तक रह सकता है और कुछ मामलों में शीत कम्प के साथ बढ़ता है। प्रारम्भ में बार-बार मरोड़ के साथ पतला या गाढ़ा मल निकलता है किन्तु शीघ्र ही मल की मात्रा कम हो जाती है और केवल कफ अथवा रक्त युक्त कफ अत्यधिक मरोड़ के साथ निकलने लगता है। दस्तों की संख्या बहुत अधिक (५० या १०० तक) हो सकती है। कमजोरी अत्यधिक आती है। जीभ मलयुक्त तथा नाड़ी चंचल रहती है, मूत्र अधिकतर कष्ट के साथ उतरता है। कुछ को गुद भ्रंश हो जाता है। अत्यधिक कष्ट और कमजोरी के कारण कुछ रोगियों की मृत्यु हो जाती है, किन्तु अधिकांश रोगी एक सप्ताह या अधिक काल में या तो स्वस्थ हो जाते हैं अथवा रोग की

तीव्रता कम होकर चिरकारी अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। बच्चों पर इसका आक्रमण कभी आक्षेप आकर होता है और कुछ मामलों में लक्षण प्रकट होने के पूर्व ही मृत्यु हो सकती है।

सौम्य प्रकार में ज्वर या तो अनुपस्थित रहता है अथवा अत्यन्त हल्का रहता है। प्रारम्भ अधिकतर अतिसार होकर होता है जिसमें कफ की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है। मरोड़ साधारण होती है और दिन में ८-१० से अधिक दस्त नहीं होते। लगभग एक सप्ताह में रोग शान्त हो जाता है अथवा चिरकारी अवस्था को प्राप्त हो जाता है। कुछ मामलों में रोग थोड़े-थोड़े दिनों के बाद बार-बार प्रकट होता है। इसे पुनरावर्तक प्रकार कहते हैं।

घातक प्रकार (Fulminant type) में रोग प्रारम्भ में तीव्र ज्वर (१०३°-१०४° या अधिक) के साथ होता है। मांस के धोवन के समान रंग अत्यन्त पतले कफ मिश्रित या कफ रहित बदबूदार दस्त बार-बार होते हैं। विषमयता के लक्षण उपस्थित रहते हैं। शीघ्र ही अथवा १-२ दिनों में निपात होकर मृत्यु हो जाती है। कभी-कभी वमन भी अत्यधिक होते हैं और मरोड़ अधिकतर नहीं रहती, जिससे विसूचिका के समान लक्षण हो जाते हैं—विसूचिकीय प्रकार (Choleraic type) में और भी शीघ्र मृत्यु होती है। इन दोनों प्रकारों से जलाल्पता (Dehydration) होती है।

दस्तों की संख्या रोग के बल पर निर्भर करती है। मल सामान्य प्रकार में पहले पतला या गाढ़ा रहता फिर उसके साथ कफ भी आने लगता है। कफ की मात्रा बढ़ती जाती है और मल की मात्रा कम होती जाती है। फिर कफ के साथ रक्त भी आने लगता है। यदि रोग का बल अधिक हुआ तो अत्यधिक रक्त निकलता है, अधिक तीव्र प्रकार में केवल रक्त (मल और कफ विहीन) निकलता है, जबकि सौम्य प्रकार में अधिकतर रक्त नहीं निकलता अथवा अत्यन्त कम मात्रा में निकलता है। ३-४ दिनों के बाद रक्त में परिवर्तित होने लगता है, जिससे रंग कुछ फीका पीताभ हो जाता है। अन्त में पित्तरंजक पदार्थ निकलना आरम्भ होता है जिससे दस्त का रंग क्रमशः भूरा और फिर पीला हो जाता है, कफ और रक्त क्रमशः अदृश्य हो जाते हैं। घातक प्रकार में गहरे रंग का परिवर्तित रक्त पतला या गाढ़ा अत्यधिक मात्रा में निकलता है अथवा हरे रंग का (पित्तरंजित) कफ थोड़े-थोड़े रक्त के साथ निकलता है। विसूचिकीय प्रकार में आँतों की श्लैष्मिक कला का कोथ होता है जिससे मल

रक्त-लसिका (Surem) के समान होता है और उसके साथ श्लैष्मिक कला के आवरण रहते हैं।

मल-परीक्षा में कारणभूत दण्डाणु, बह्मकारीकायाणु, भक्षककोष, रक्षक-कोष, आँतों की उपत्वचा (Epithelium) और अन्तःत्वचा (Endothelium) के कोष और लाल रक्तकण मिलते हैं।

बार-बार प्रवाहण करने से बहुत से मामलों में गुदभ्रंश हो जाता है। कुछ में विशेषतः बच्चों में आन्त्रान्तर प्रवेश (Intussusception) हो सकता है। दण्डाणु या उनका विष रक्त प्रवाह में मिलकर हृत्पेशी प्रदाह, हृदयावरण प्रदाह, उदरावरण प्रदाह, जलोदर सन्धि प्रदाह, (अधिकतर घुटने का), नेत्र-प्रदाह, शाखाओं की वात-नाड़ियों का प्रदाह, पाषाणगर्दभ आदि रोग उत्पन्न कर सकता है। आन्त्र के व्रणों में से मालागोलाणु अथवा आन्त्रदण्डाणु रक्त में प्रविष्टि होकर दोषमयता (Septicaemia) उत्पन्न कर सकते हैं। हृदय अथवा वृक्कों का अतिपात (Failure) फुफ्फुसखण्डप्रदाह, मूत्र-नलिका प्रदाह, रक्त-स्रावी उद्भेद आदि भी पाये गये हैं।

चिरकारी अवस्था—यह अधिकतर तीव्र अवस्था के बाद ही प्राप्त होती है, किन्तु कुछ मामलों में रोग प्रतिरोधी क्षमता के कारण अथवा अत्यन्त अल्प-संख्यक या अल्प बलयुक्त दण्डाणुओं के प्रवेश के कारण प्रारम्भ से भी हो सकती है। इस अवस्था में पाचन क्रिया में गड़बड़ी रहा करती है। भोजन में अव्यवस्था होने से अतिसार या प्रवाहिका के आक्रमण समय-समय होते रहते हैं। उदर-शूल या आशयभ्रंश (उदर के अवयव अपने स्थान से हट जाना) (Viscroptosis) अक्सर हो जाया करता है। रोग पुराना होने के साथ-साथ पाचन क्रिया और भी बिगड़ती जाती है। २-४ या अधिक पतले या गाढ़े दस्त प्रतिदिन होने लगते हैं। रोगी की शारीरिक और मानसिक शक्ति का क्षय होता जाता है। रंग फीका, मटमैला सा हो जाता है, त्वचा शुष्क और खुरदरी हो जाती है और केश झड़ जाते हैं। यदि चिकित्सा न हुई तो अत्यन्त कमजोरी से अथवा किसी अन्य रोग से मृत्यु हो जाती है।

(२) **कीटाणवीय (कामरूपी) प्रवाहिका** (Amoebic Dysentery)—मनुष्यों की आँतों में ५ प्रकार के अमीबा कीटाणु (Amoeba) पाये जाते हैं। जिनमें से केवल धातु नाशी अन्तःकीटाणु (Entamoeba Histolytica) प्रवाहिका रोग की उत्पत्ति करता है। रोगी से मल के संक्रामित जल या भोजन (मक्खियों के द्वारा) के साथ यह स्वस्थ मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर

उण्डुक (Caecum) की उपश्लैष्मिक धातु (Submucous) में निवास करता है। वहाँ रहकर यह एक प्रकार का किण्ड (Ferment) निकालता है, जिसके प्रभाव से आन्त्र की कला का कोथ होकर झिल्लियाँ निकलती हैं और अन्तः कीटाणुओं को अपनी वंश वृद्धि के लिए स्थान मिलता है। आन्त्र की कला में पीले से रंग की छोटी-छोटी फुंसियों की उत्पत्ति होती है। इन फुंसियों का भीतरी आकार सुराही के समान होता है—मुख अत्यन्त छोटा, किन्तु गुहा बड़ी और गोल होती है। कुछ काल बाद में फुंसियाँ फूटकर व्रण बन जाती हैं। कुछ अन्तः कीटाणु आन्त्र-नलिका में घूमते फिरते हैं और मल के साथ निकलते हैं। यदि रोगी में थोड़ी बहुत रोग प्रतिकारक क्षमता हुई अथवा चिकित्सा का आश्रय लिया गया तो कुछ काल बाद व्रण भरने लगते हैं, अन्यथा उनकी वृद्धि होती जाती है; यहाँ तक कि आन्त्र में छिद्र तक हो जाता है। इस दशा में आन्त्र-तृणाणुओं का भी संक्रमण हो सकता है। ऐसी अवस्था में दशा घोरतर हो सकती है।

आक्रान्त भाग की रक्तवाहिनियाँ रक्त जम जाने से अवरुद्ध रहती हैं। इसलिए अधिकांश मामलों में अधिक रक्त स्राव नहीं होता। किन्तु कभी-कभी गहरा व्रण बनने से रक्तवाहिनी का मुख खुलकर गम्भीर रक्तस्राव हो सकता है। कुछ मामलों में धातुनाशी अन्तः कीटाणु रक्तवाहिनियों में प्रवेश होकर यात्रा करते हुए यकृत, फुफ्फुस, मस्तिष्क आदि में पहुँचकर विद्रधि उत्पन्न करते हैं।

यह रोग विशेषतः वयस्कों पर आक्रमण करता है। बच्चों पर शायद ही कभी आक्रमण होता है। चयकाल २० दिन से ३ माह तक का हो सकता है। यह रोग ५ प्रकार का होता है—तीव्र अति तीव्र चिरकारी, गुप्त और पुनरावर्तक।

तीव्र प्रकार का आक्रमण अचानक होता है। उदर में नाभि के पास-पास पीड़ा होती है और प्रतिदिन १०-१५ दस्त कफ और रक्त मिले हुए होते हैं। मरोड़ बहुत कम होती है, किन्तु यदि अवग्रहान्त्र (Sigmoid) भी आक्रान्त हो तो मरोड़ अधिक हो सकती है। ज्वर प्रायः नहीं रहा करता, किन्तु अन्य जीवाणुओं का संक्रमण होने पर रह सकता है। कुछ समय बाद ये लक्षण बिना चिकित्सा किए भी शान्त हो जाते हैं और रोग चिरकारी प्रकार से परिवर्तित हो जाता है। कुछ मामलों में थोड़े-थोड़े समय पर रोग का आक्रमण बार-बार होता है। वह पुनरावर्तक प्रकार है।

अतितीव्र (Ffilminating or Gangrenous) प्रकार में तीव्र ज्वर भयंकर उदरशूल, अवसाद और उदरावरण प्रदाह के लक्षण होते हैं, दस्त के साथ काले रंग के मकड़ी के जाले के समान आंत की श्लैष्मक कला के छिलके निकलते हैं। यह प्रकार कभी-कभी मारक होता है।

चिरकारी प्रकार में रोगी लगभग स्वस्थ व्यक्तियों के समान अपना काम धन्धा करता रहता है। पाचन-क्रिया में थोड़ी-सी गड़बड़ी रहा करती है खाने-पीने में अव्यवस्था होने से अतिसार या प्रवाहिका का आक्रमण हो जाया करता है। यह दशा वर्षों चलती रहती है और स्वास्थ्य धीरे-धीरे गिरता जाता है। कुछ मामलों में चिरकारी अतिसार उत्पन्न हो जाता है। कुछ रोगियों को मलावरोध रहता है, हृल्लास, आन्त्रशूल आदि लक्षण समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं अतिसार या प्रवाहिका नहीं होती है। जिह्वा मलयुक्त रहती है। पाचन क्रिया में गड़बड़ी (विशेषतः भूख न लगना और भोजन देर से पचना) और कमजोरी बढ़ती जाती है।

गुप्त प्रकार में कोई लक्षण नहीं मिलते और न रोगी को कोई विशेष कमजोरी ही आती है। मल में धातुनाशी अन्तः कीटाणु के कोष मिलते हैं जो दूसरों के शरीर में पहुँच कर रोग फैलाते हैं।

मल की आकृति और दस्तों की संख्या रोग की तीव्रता के अनुसार होती है। सामान्यतः तीव्र प्रकार में ८ से १२ तक दस्त प्रतिदिन होते हैं, जिनमें कफ और रक्त से सना हुआ मल काफी मात्रा में निकलता है तथा उसमें ½ इन्च से ½ फुट तक या अधिक से अधिक १ फुट लम्बे श्लैष्मिक कला के छिलके पाये जाते हैं, प्रतिक्रिया अमल रहती है। दूसरे मामलों में मल हरे या पीताभ वर्ण का हो सकता है और उसमें रक्त भले ही न हो, किन्तु कफ अवश्य रहता है। चिरकारी प्रकार में मल में थोड़ा-बहुत कफ सदैव उपस्थित रहता है। मल में दुर्गन्ध अवश्य रहती है, किन्तु अति तीव्र प्रकार में सड़े हुए मांस के समान असह्य दुर्गन्ध रहती है। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से परीक्षा करने पर सभी प्रकारों में धातुनाशी अन्तः कीटाणु या उनके दोष मिलते हैं।

रोगी की तीव्रावास्था में रक्त में श्वेतकायाणुत्कर्ष १०००० या इससे भी अधिक मिलता है। चिरकारी प्रकार में रोग के लक्षण अप्रकट रहने की दशा में श्वेतकायाणुओं की कुल संख्या सामान्यवत् रहती है, किन्तु ब्रह्मकारी कायाणुओं का क्षय तथा लसकायाणुओं और उषसिप्रिय कायाणुओं की वृद्धि

पाई जाती है। लाल रक्त कणों का क्षय होता है जो कि चिरकारी प्रकार में अधिक स्पष्ट देखा जा सकता है।

चिकित्सा—प्रवाहिका के दो भेद हैं, अतः उनकी चिकित्सा भी भिन्न-भिन्न है। प्रथम हम दण्डाणु जन्य प्रवाहिका (Bacillary Dysentery) की चिकित्सा लिख रहे हैं—

(i) रोगी को उपवास करना चाहिए—प्रथम चौबीस घंटे उपवास के बाद हलका सुपाच्य पदार्थ देना चाहिए तथा साबूदाना, जौ का मण्ड, चावल का मण्ड, मूँग की दाल का पानी, मट्ठा, धान का लावा आदि।

(ii) १ तोला ईसबगोल की भूसी को शाम को जल में भिगोकर सुबह १ तोला मिसरी मिलाकर खिलाना चाहिए। इस तरह सुबह भिगोकर रात को देना चाहिए।

(iii) दो तोला बेलगिरी को एक पाव दूध में और उसी में एक पाव जल डालकर पकाना चाहिए। सोते समय एक बार पिलाने से लाभ होता है।

(iv) आम, जामुन, अनार, बबूल और अपामार्ग की पत्ति का स्वरस सब मिलाकर दो तोला में काला नमक १½ माशा मिलाकर पिलाना चाहिए। इस तरह एक दिन में चार बार मिलाकर पिलाया जा सकता है।

यदि इन औषधि योगों से लाभ न हो तो निम्न योगों में से किसी का प्रयोग करना चाहिए—

(१) अगस्त्यसूतराज रस—४—रत्ती, महागन्धक—१ रत्ती, शंख भस्म २ रत्ती।

बेल के मुरब्बे के साथ चार-चार घण्टे में

(२) गंगाधर चूर्ण—४ माशा, शंख भस्म—२ रत्ती।

जीरा, अतीस का चूर्ण और शहद के साथ तीन-तीन घण्टे के अन्तर से दें

(३) हिंग्वाष्टक चूर्ण—३ माशा, शंख भस्म—२ रत्ती, रसोनादि वटी—२ रत्ती।

दिन में तीन बार पानी से भोजनोपरान्त।

कुटिजारिष्ट—२ तोला।

समान जल मिलाकर दो बार।

(४) बिस्मिथ कार्ब १० ग्रेन, सोडा बाइकार्ब १० ग्रेन,

टिञ्चर ओपीई १० बूँद म्युसिलेज ट्रेगोकैंथ १५ बूँद,
परिस्रुत जल १ औंस।

इसका एक-एक चम्मच प्रत्येक चार घण्टे के बाद देना चाहिए।

(५) क्लोरमफैनिकोल १२५ मि० ग्राम की मात्रा में छह-छह घंटे के अन्तर से देना चाहिये।

(६) स्ट्रेप्टोमाइसिन २ ग्राम की मात्रा में मुख द्वारा छह-छह घंटे के अन्तर से दें।

(७) डाइडोक्वीन २ ग्रेन की गोली १५ दिन तक दिन में तीन बार दें।

(८) कुर्चीनीन हाइड्रोक्लोराइड $\frac{1}{2}$ से १ ग्रेन की मात्रा में त्वचा के नीचे इन्जेक्शन द्वारा लगाएँ।

(९) यदि रोग पुराना हो गया तो सिल्वर नाइट्रेट का १% का घोल लेकर अथवा सिलवाल का ४% का घोल लेकर एनिमा देना चाहिए और आँतों को साफ कर लेना चाहिए।

(१०) आँतों को साफ कर देने के पश्चात्

रामबाण का रस—१ रत्ती, शंखभस्म—१ रत्ती, महागन्धक—१ रत्ती। ऐसी तीन मात्राएँ प्रतिदिन पन्द्रह दिन तक प्रयोग करनी चाहिए।

कीटाणुवीय प्रवाहिका (Amoebtic Dysentery) चिकित्सा—इस रोग में रोगी को पूर्ण आराम दिया जाय और सुपाच्य हलका आहार दिया जाना चाहिए। ईसबगोल की भूमी एक तोला पानी में भिगोकर सुबह, शाम मिसरी मिलाकर खाने को दें तो लाभ होता है।

सौंफ और जीरा को आधा भूना, आधा कच्चा लें और दोनों को एकत्र मिलाकर १ तोला की मात्रा में चीनी मिले जल के साथ दें तो लाभ होता है।

इस अवस्था में निम्न योग लाभ करता है—

अजीर्ण लण्टक रस २ रत्ती, योगराज गूगल ४ रत्ती,
शूल वज्रणीवटी ६ रत्ती, शंख भस्म २ रत्ती,।

को जीरा के चूर्ण के साथ मधु से दें।

और भोजनोपरान्त—

कुटजारिष्ट २ तोला

समान जल मिलाकर दें तो लाभ होता है।

डाक्टरी में 'इमेटीन' नामक औषधि एतदर्थ श्रेष्ठ कही गई है। इसको $\frac{1}{2}$

ग्रेन से १ ग्रेन की मात्रा में मांसगत या त्वचागत इन्जेक्शन द्वारा देते हैं। इसकी कुल मात्रा १५ ग्रेन से अधिक नहीं होनी चाहिए, कारण यह है कि यह एक विषाक्त औषध है। अतः इसका प्रयोग बहुत ध्यानपूर्वक करना चाहिए।

इसके साथ निम्न योग दिया जाता है—

पल्व इषिकाक्र २० ग्रेन, टैनिक एसिड १० ग्रेन

रात को सोते समय।

एण्ट्रोवायोफार्म का प्रयोग भी बहुत लाभ करता है।

इस रोग में तक्र का प्रयोग बहुत लाभ करता है। मक्खन निकला हुआ तक्र लेकर उसमें जीरा, नमक आदि मिला कर प्रयोग किया जाता है।

(२६) संग्रहणी (Sprue)

ग्रहणी नामक स्थान का दूषित होना संग्रहणी रोग कहलाता है। सुश्रुत संहिता में ग्रहणी के विषय में लिखते हुए बताया है कि 'षष्ठी पित्तधारा' नामक कला जो आमाशय और पक्वाशय के मध्य में स्थित रहती है वह ग्रहणी कला कहलाती है।

इस रोग का कारण बताते हुए कहा गया है कि अतिसार के निवृत होने पर अग्नि मन्दता रहती है और उसके कारण ग्रहणी दूषित हो जाती है। इस अवस्था में अपथ्य सेवन सबसे ज्यादा हानिकारक होता है। कटु-तिक्त, कषाय रस एवं रूक्ष सड़े हुए भोजन के अतियोग से, उपवास से, अधिक चलने से, मल-मूत्र के वेग को रोकने से; अधिक मैथुन करने से वायु बढ़ जाती है। इसी तरह कटु-अम्ल-क्षार युक्त भोजन से अजीर्ण और विदाह में पित्त बढ़ जाता है। अतिशील भोजन एवं भोजन के पश्चात् तत्काल ही सोने से कफ दूषित हो जाता है। इनके दूषित होने से ग्रहणी दूषित हो जाती हैं और विभिन्न लक्षण उत्पन्न होते हैं।

इस रोग में अन्न कभी पचकर, कभी बिना पचे, कभी पतला, कभी गाढ़ा, वेदना और दुर्गन्ध के साथ निकलता है। इसके द्वारा शरीर में क्षीणता आ जाती है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को वह अधिक होता है।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र में इस रोग का कारण विभिन्न आहार घटकों का शोषण न होना बताया है। आहार विटामिन बी एव सी की कमी के कारण तथा कैल्सियम की कमी के कारण यह रोग हुआ करता है। अधिक नाइट्रोजन युक्त आहार खाने से भी यह रोग उत्पन्न होता है। परिश्रम एवं जीवाणु संक्रमण भी इसका कारण बताया गया है।

इस रोग में प्रातःकाल प्रचुर झागयुक्त श्वेत मल निकलता है। फिर रोगी की मांस पेशियों का क्षय होता है और रक्तहीनता तथा मुखपाक होता है। उत्तरोत्तर दुर्बलता बढ़ती है और मानसिक थकावट भी अनुभव होती है। पेट में अफरा रहता है और मल बहुत चिकना आता है। रक्त परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि रक्त-कण कम हो गये हैं।

जब यह रोग पुराना हो जाता है तो कटिशूल के साथ कभी पतला कभी गाढ़ा, चिकना शब्द और मन्द वेदना के साथ सफेद मल निकलता हैं। आलस्य दुर्बलता एवं सारे शरीर में पीड़ा रहती है। रात्रि में मल की मात्रा कम और सुबह अधिक होती है। जब १०-१ दिन लक्षण स्पष्ट रहते हैं तो फिर वह लक्षण शान्त हो जाते हैं और उसके पश्चात् कुछ समय बाद पुनः आक्रमण हो जाता है। इसे पुराना संग्रहणी कहा जाता है।

यदि इस अवस्था में भी उचित चिकित्सा न की जाय तो 'घटी यन्त्र' नामक रोग उत्पन्न हो जाता है—इसमें पार्श्वशूल, शरीर में शून्यता, निद्राधिक्य और मलत्याग करते समय गड़गड़ाहट के साथ शब्द होता है। यह शब्द उसी तरह का होता हैं, जैसे घड़े से पानी गिराते समय शब्दोत्पत्ति हुआ करती है।

संग्रहणी के कारण मांसपेशियों में आपेक्ष आने लगते हैं और अस्थियाँ विकृत हो जाती हैं।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा में लंघन करना चाहिए। रोगी को विश्राम देना चाहिए। जिन-जिन कारणों से रोग की उत्पत्ति होती है, उनको दूर करना चाहिए और जठराग्नि को प्रदीप्त करने की व्यवस्था करनी चाहिए। मल की आमावस्था है अथवा पक्वावस्था, इस बात का ध्यान चाहिए। आमावस्था में ग्राही औषधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए—पाचन औषधि लाभ करती है। आम पाचनार्थ निम्न योग लाभकारी हैं—

(१) हिंग्वाष्टक चूर्ण ३ माशा, सोडा बाईकार्ब ३ माशा
रामबाण रस ४ रत्ती।

ऐसी दो मात्राएँ भोजन के बाद।

(१) नृपति वल्लभ रस २ रत्ती, शंखभस्म २ रत्ती,
पीयुषवल्ली रस १ रत्ती।

जीरा का चूर्ण एवं मधु मिलाकर देना चाहिए। इस तरह की तीन मात्राएँ एक दिन में देनी चाहिए।

यदि मल पक्व हो गया हो तो दूसरी औषधियों का प्रयोग किया जाता है। उस अवस्था में संग्राहक औषधि लाभ करती है।

वृहत गंगाधर चूर्ण	३ माशा,	ग्रहणी कपाट रस	१ रत्ती
शंख भस्म	२ रत्ती।		

ऐसी दो मात्राएँ प्रत्येक दिन मधु के साथ देनी चाहिए।

इस रोग में पर्पटी का प्रयोग बहुत लाभ करता है। ऐसा माना जाता है कि रस पर्पटी, पञ्चामृत पर्पटी, स्वर्ण पर्पटी, में से जो भी अवस्थानुसार ठीक जँचे, उसका प्रयोग इस रोग में किया जाय।

कल्प चिकित्सा भी इस रोग में बहुत लाभ करती है। दुग्धवटी का प्रयोग कराते हुए यदि व्यक्ति को केवल दुग्ध पर रखते हुए एक मास तक दुग्ध कल्प कराया जाय तो लाभ होता है।

तक्र (मट्ठा) संग्रहणी रोग में अमृत के समान काम करता है। आहार रूप में इसका प्रयोग किया जाता है। औषधि रूप में तक्रारिष्ट नामक योग को देते हैं जो मट्ठे से तैयार किया है।

आधुनिक चिकित्सक फोलिक एडसि की गोलियाँ तथा विटामिन बी कम्प-लेक्स की गोलियाँ मुख द्वारा सेवन कराते हैं। लीवर एक्सट्रैक्ट का इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग किया जाता है। हाइड्रोक्लोरिक एसिड हल्का उचित मात्रा में पानी में मिलाकर पीने को देते हैं।

आहार में यवागु, पेया, यूष आदि का प्रयोग किया जाता है। पुराने चावल देने चाहिए। अनार एवं पका हुआ केला और बेलगिरी का प्रयोग किया जाता है। सदैव हल्का भोजन कराना चाहिए।

(२७) अग्निमान्द्य (Anorexia)

आयुर्वेद में चार प्रकार की अग्नियों का वर्णन किया है—सम, विषम, तीक्ष्ण और मन्द। सम अग्नि स्वस्थ व्यक्ति की होती है। विषम वात के कारण और तीक्ष्ण पित्त के प्रकोप के कारण से होती है। मन्द अग्नि कफ के विकार के कारण कही गई है। इसी को अग्निमान्द्य कहा जाता है।

अति भोजन करना, असमय पर भोजन अपथ्य भोजन, चिरकारी आमा-शय शोथ, आमाशयस्थ अर्बुद, पाण्डु, रक्त-विकार और तीव्र संक्रामक ज्वर आदि कारणों से इस रोग की उत्पत्ति होती है। कभी-कभी आमाशय में कोई

विकार नहीं होता; केवल चिन्ता शोक, भय, क्रोध आदि के कारण भी इस रोग की उत्पत्ति होती है।

डाक्टरी में आमाशयिक रस कम बनने या न बनने से उत्पन्न विकार को अग्निमान्द्य कहते हैं। कभी-कभी रस तो बनता है, किन्तु उसमें लवणाम्ल कम होता है या नहीं होता, इससे भी क्षुधा नहीं लगती और अग्निमान्द्य रोग उत्पन्न हो जाता है।

आयुर्वेद में अग्निमान्द्य के लक्षण भी दोषों की प्रधानता के अनुसार बताए गए हैं—

वातप्रधान अग्निमान्द्य में भोजन का कभी पचना, कभी न पचना, अफारा, उदावर्त, शूल, पेट में भारीपन, आंतों में गुड़गुड़ाहट होती है।

पित्तप्रधान अग्निमान्द्य में अन्न जल जाता है। पतले दस्त, दाह, प्यास जलन उत्पन्न हो जाती है। मूत्र का रंग पीला हो जाता है।

कफ प्रधान अग्निमान्द्य में खाया हुआ आहार बहुत देर में पाचन को प्राप्त होता है। आलस्य होता है। आम दोष का संचय होता है। ग्लानि, वमन भारीपन उत्पन्न होता है।

इस तरह वातविकार का अग्निमान्द्य विषमाग्नि के कारण तथा पित्तप्रधान अग्निमान्द्य तीक्ष्ण अग्नि के कारण उत्पन्न होता। इनकी चिकित्सा भी दोषों के अनुसार ही करनी चाहिए।

चिकित्सा—मन्दाग्नि, तीक्ष्णाग्नि और विषमाग्नि—तीनों ही अग्निमान्द्य नामक रोग को उत्पन्न करती हैं। अतः चिकित्सा यही है कि अग्नि को समावस्था में लाने का प्रयास किया जाए।

विषमाग्नि वायु के कारण होती है, अतः वातानिग्रह करना चाहिए। एतदर्थ दूध, दही, घृत, खट्टे और नमकीन पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए।

तीक्ष्णाग्नि में पित्तशामक उपचार लाभ करता है। इसे शीतल, स्निग्ध और पौष्टिक पदार्थों से शान्त करना चाहिए।

मन्दाग्नि में कफ का विशोधन लाभ करता है। एतदर्थ क्षार आदि का प्रयोग कराया जाता है। चटपटे, कड़वे और कषैले पदार्थों का प्रयोग किया जाता है।

ध्यान रखना चाहिए कि अग्निमान्द्य में लंघन न कराया जाय। चरक में कहा गया है कि इसमें न खाना भी ठीक नहीं और अधिक खाना भी अच्छा नहीं। जैसे इंधन न मिलने से आग नष्ट हो जाती है उसी तरह आहार न

मिलने से जठराग्नि हो जाती है। उसी तरह अधिक ईंधन डालने से भी अग्नि समाप्त हो जाती है—अतः अधिक भोजन भी हानि करता है।

अग्निमान्द्य में १ माशा जवाखार और ६ माशा सोंठ का चूर्ण मिला गोघृत के साथ सेवन करना चाहिए।

भोजन के आरम्भ में सैंधा नमक मिला हुआ अद्रक का प्रयोग करना चाहिए।

हिंग्वाष्टक चूर्ण, शिवाक्षर पाचन चूर्ण, चित्राकादि बटी, अग्नितुण्डी बटी का प्रयोग किया जा सकता है। लवण भास्कर, गन्धक बटी का प्रयोग कराया जाता है।

इस रोग में व्यायाम, खुली हवा का सेवन, प्रसन्नता, अष्टगुण मण्ड, पुराने चावल, हल्का भोजन, मूँग, अरहर, मसूर की पतली दाल, अद्रक, नीबू, मट्ठा आदि का प्रयोग लाभ करता है। अनार, मौसम्मी, सन्तरा, फालसा, अंगूर का प्रयोग कराया जाना चाहिए। हींग, हरड़, अजवायन, नमक का प्रयोग किया जाना चाहिए।

रोगी को गुरु भोजन, उपवास, कटहल, उरद, मास, मलाई, खोवा, अति-जल सेवन, भोजन पर भोजन करना, विरुद्ध भोजन करना हानिकारक होता है। मसालों का अधिक सेवन भी हानि करता है।

(२८) अजीर्ण (Dyspepsia)—अधिक जल पीने से, नियम विरुद्ध भोजन करने से, वेगों को रोकने और दिन में सोने से तथा रात्रि में जागने से, समय पर खाया हुआ हल्का और हितकारी अन्न भी नहीं पचता।

ईर्ष्या, भय एवं क्रोध से परिपूर्ण, लोभी, रोगी एवं दीनता से पीड़ित तथा द्वेष-युक्त मनुष्य के द्वारा खाया हुआ अन्न भली-भाँति नहीं पचता। चिन्ता शोक, भय, क्रोध, दुःख एवं शैय्या पर पड़े जागते रहने से मात्रानुसार खाया हुआ हितकारक अन्न भी नहीं पचता।

भेद—कफ, पित्त और वात इन तीनों से क्रमशः आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण और विष्टब्धाजीर्ण होते हैं। कुछ आचार्य रसशेषाजीर्ण नामक चौथा अजीर्ण भी मानते हैं।

कुछ आचार्य दिन पाकी नामक निर्दोष अजीर्ण को पाँचवां अजीर्ण और प्रतिदिन होने वाले प्राकृत अजीर्ण को छटा अजीर्ण मानते हैं।

लक्षण—आमाजीर्ण में भारीपन, जी मचलाना, नेत्रों के गढ़ों और गालों

में शोथ और जैसा अन्न खाया है, वैसी कच्ची (अदिग्ध, विदग्धाजीर्ण के विपरीत) डकारों की प्रवृत्ति होती है।

विदग्धाजीर्ण में चक्कर आना, प्यास, मूर्च्छा, पित्त से होने वाले अनेक प्रकार के रोग, स्वेद प्रवृति, दाह तथा दुर्गंध युक्त खट्टी डकारें उत्पन्न होती हैं।

विष्टब्धाजीर्ण में शूल, आध्मान, अनेक प्रकार की वातज पीड़ाएँ, मल और वायु का अवरोध, स्तब्धता, मूर्च्छा तथा अंगों में पीड़ा होती है।

रसशेषाजीर्ण में हृदय में भारीपन तथा अशुद्धि का अनुभव एवं भोज प्रति विद्वेष (Repulsion) होता है।

उपद्रव—मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, लालस्राव, अवसाद और भ्रम अजीर्ण रोग के उपद्रव हैं और अजीर्ण से मृत्यु भी होती है।

पाश्चात्य मत

भोजन के पश्चात् तुरन्त ही अथवा २-४ घन्टों के भीतर उदर में भारीपन, तनाव, पीड़ा आदि तथा वमन, झूठी क्षुधा, उद्गार, मलोद्गार, आध्मान, अरुचि आदि लक्षण समूह को अजीर्ण कहते हैं। यह स्वतन्त्र रोग न होकर निम्नलिखित रोगों का लक्षण है।

(क) आमाशय रोग—प्रदाह, वातानाडयुत्कर्ष, व्रण, कर्कटार्बुद, भ्रंश आदि।

(ख) अन्नप्रणालीगत रोग—अप्रवाह, प्रदाह, व्रण, कर्कटार्बुद, उपाशय आदि।

(ग) आन्त्रगत रोग—ग्रहणी व्रण, चिरकारी उपातन्त्र प्रदाह, चिरकारी प्रवाहिका और वृहदन्त्र प्रदाह, प्रागोदीय संधान, कर्कटार्बुद, आशय भ्रंश, कृमि रोग आदि।

(घ) अग्नाशय (क्लोम) गतरोग—चिरकारी प्रदाह, अश्मरी आदि।

(ङ) यकृतरोग—यकृत प्रदाह, पित्त वाहिनी प्रदाह, चिरकारी पित्ताशय प्रदाह आदि।

(च) मुखरोग—पूयदन्त, चिरकारी गलतुण्डिका प्रदाह आदि।

(छ) वातिक रोग—हिस्टीरिया, नाड्यवसन्नता, फिरंगी खंजता, सूर्यावर्त आदि।

(ज) अन्य—राजयक्ष्मा, फिरंग, विषरोग, हृद्रोग, मूत्रसामता, सगर्भावस्था गर्भाशय रोग आदि।

चिकित्सा—अजीर्ण प्रायः दो-एक दिन में मिट जाता है, यदि दर्द बना रहे तो मृत्यु रेचन देना चाहिए अथवा नमक का पानी मिलाकर वमन करना लाभदायक रहता है।

यदि विकार नवीन ही हो तो हरड़, सोंठ, गुड़ और सेंधा नमक मिलाकर सेवन कराने में जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है।

अमाजीर्ण में अग्निकुमार रस, रामबाण रस चित्रकादि बटी, गन्धक बटी में से किसी औषधि अवस्थानुसार प्रयोग करना चाहिए।

यदि पेट में अफरा आ गया हो तो हिंग्वाष्टक चूर्ण और शिवाक्षार पाचक चूर्ण देना चाहिए।

आम पाचन और मृदुरेचन कर्म के लिए पञ्चसम चूर्ण या पञ्चसकार चूर्ण अच्छा लाभ करता है।

यदि अजीर्ण पुराना हो गया हो तो अग्नि तुण्डी बटी और द्राक्षासव लाभ करता है।

विदग्धाजीर्ण में शंख बटी बहुत अच्छा लाभ करती है। प्रवाल भस्म और शंख भस्म का भी प्रयोग कराया जा सकता है।

विष्टब्धाजीर्ण में अग्नितुण्डी बटी और अग्निकुमार रस का मट्ठे के साथ प्रयोग कराया जाता है।

अमाजीर्ण में लंघन कराना लाभ कराता है। वमन भी कराया जा सकता है।

विष्टब्धाजीर्ण में पाचक वस्तुओं का सेवन कराना चाहिए।

विदग्धाजीर्ण में वमन करना तथा फूलों का रस आदि देना हितकारक कहा गया है।

अजीर्ण के रोगों को सदैव हल्का भोजन देना चाहिए। भोजन के साथ अधिक जलपान हानिकारक होता है। चाय, काफी, शराब, मशाले, मिर्च सब हानि करते हैं।

(२६) छर्दि (Vomiting)

पृथक्-पृथक् दोषों के प्रकोप से (वातज, पित्तज एवं कफज) सभी दोषों के प्रकोप (सन्निपातज या त्रिदोषज) तथा वीभत्स (गन्दे, घृणोत्पादक) पदार्थों के देखने आदि से (आगन्तुज)—इस प्रकार छर्दि रोग के ५ भेद माने जाते हैं।

अत्यन्त तरल, अत्यन्त स्निग्ध, अहृद्य (रुचि के विपरीत), अत्यन्त खारे तथा असात्म्य (प्रकृति के विपरीत) भोजन से, कुसमय में तथा अधिक मात्रा

में भोजन करने से, श्रम, भय, उद्वेग, अजीर्ण तथा कृमि दोष, स्त्री को गर्भ रहने से तथा अत्यन्त जल्दी-जल्दी भोजन से, वीभत्स पदार्थों से और अन्य कारणों के द्वारा प्रकुपित हुए दोष। बलपूर्वक एवं शीघ्रतापूर्वक उत्पीड़ित होकर, अंगों में तोड़ने के समान पीड़ा के वेगों से व्याकुल करता हुआ तेजी से दौड़कर मुख को आवृत कर देने वाला (भर देने वाला) रोग छर्दि कहलाता है।

हृल्लास—जी मचलाना, डकार की रुकावट, नमकीन एवं पतला थूक निकालना और खाने-पीने के पदार्थों के प्रति घोर अरुचि होना—ये सभी प्रकार के वमन के पूर्व रूप हैं।

वातज छर्दि का रोगी हृदय और पार्श्वों में पीड़ा, मुँह सुखना, सिर एवं नाभि में पीड़ा, खाँसी, स्वर-भेद और सारे शरीर में सुइयाँ चुभाने के समान पीड़ा से व्याकुल रहता है। वह जोरदार डकार की आवाज के साथ फेन युक्त बीच-बीच में काले धब्बों से युक्त पकला, कषाय (गेरुए वर्ण का अथवा कसैले स्वाद पदार्थ का) थोड़ी मात्रा में कष्ट के साथ और बड़े वेग से अत्यन्त दुःख-पूर्वक वमन करता है।

पित्तज छर्दि का रोगी मूर्छा, प्यास, मुख सूखना, तालु एवं नेत्रों में दाह, तम (आँखों के आगे अँधेरा छा जाना) और भ्रम (चक्कर आना) से पीड़ित रहता है। वह पीला अत्यन्त गरम, हरा, कड़वाहट युक्त, धूम्र वर्ण पदार्थ का वमन करता है और वमन करते समय दाह होती है।

कफज छर्दि का रोगी तन्द्रा, मुख में मीठापन, कफ थूकना, सन्तोष (उदर भरा हुआ सा प्रतीत होना तथा भूख न लगना), निद्रा अरुचि और शरीर में भारीपन से पीड़ित रहता है। वह चिकना, गाढ़ा, मधूर, शुद्ध (स्वच्छ) पदार्थ का वमन करता है। वमन करते समय रोम खड़े हो जाते हैं और पीड़ा कम (अन्य प्रकारों की अपेक्षा) होती है।

प्रबल प्रकार के शूल, अजीर्ण, अरुचि, दाह, तृष्णा, श्वास एवं मूर्छा से युक्त रोगियों को निरन्तर होने वाली नमकीन, खट्टी नीली, गाढ़ी, लाल (अथवा रस युक्त) छर्दि त्रिदोषज होती है।

जब बढ़े हुए दोष वाले रोगी के मूल, मूत्र, स्वेद और जल का वहन करने वाले स्रोतों का अवरोध करके वायु ऊपर की ओर जाती है, तब वह उस संचित दोष को मनुष्य के कोष्ठ से उड़ा कर मल मूत्र की अथवा उनके समान

गन्ध-वर्ण युक्त दूषित वमन तृष्णा, श्वास एवं हिक्का के साथ निरन्तर एवं अत्यन्त वेग से करती । इससे पीड़ित रोगी शीघ्र मर जाता है ।

जो वीभत्स पदार्थों, सगर्भता, अजीर्ण, असात्म्ज पदार्थों और कृमि रोगों से उत्पन्न हो वह पाँचवीं (आगन्तुज) वमन है और पूर्ण वर्णित दोष प्रकोप के अनुसार ही इसका भी विचार करना चाहिए ।

कृमि छर्दि में विशेषतः शूल और हृल्लास की अधिकता रहती है और कृत्रिम हृद्रोग के समान लक्षणों से पहचानी जाती है ।

क्षीण रोगी की जो छर्दि निरन्तर होती हो, उपद्रव युक्त हो, रक्त, पूय एवं चन्द्रिकायुक्त हो उसे असाध्य कहना चाहिये ।

कफ, श्वास, ज्वरनाश, हिक्का, तृष्णा, पित्त विभ्रम, हृद्रोग और तमक श्वास—ये छर्दि के उपद्रव हैं ।

पाश्चात्य मत

भरे हुए पदार्थों को मुख मार्ग से बाहर निकालने के उद्देश्य से आमाशय तथा आन्त्र के ऊपरी भाग में होने वाली विपरीत पुर सरण क्रिया (Reverse Peristalsis) को 'हृल्लास या उत्क्लेश' (Nausea) कहते हैं । इसके साथ बेचैनी, हृडफूटन, लाल प्रसेक, प्रस्वेद, अवसाद एवं आन्त्र में स्थित पदार्थों के निकालने की क्रिया को वमन (Vomiting-Emesis) कहते हैं ।

वमन की उत्पत्ति सुषुम्ना शीर्ष में स्थित वमन केन्द्र से होती है । वहाँ प्राणदा नाड़ी (Vagus nerve) के द्वारा स्वर यन्त्र, आमाशय तथा उदर स्थित अन्य अवयवों की कण्ठ-रासनी नाड़ी (Closso-Pharyngeal neive) के द्वारा जिह्वा और ग्रसनिका की, त्रिधारा नाड़ी (Trigeminal nerve) के द्वारा मस्तिष्क में सम्वेदनाएँ पहुँचती हैं तथा महाप्राचीरीय नाड़ी (Phrenic nerve) के द्वारा महाप्राचीरीय पेशी (Diaphragm) को प्राणदा नाड़ी के द्वारा आमाशय को और सुषुम्ना नाड़ियों (Spinal nerve) के द्वारा उदर दीवारों को पेशियों को वमन कराने की आज्ञा दी जाती है । वमन होते समय आमाशय की पेशियों का संकोच होकर विपरीत पुरस्सरण क्रिया होती है और आमाशय का हार्दिक द्वार (Cardicend) प्रसारित हो जाता है, महाप्राचीरा पेशी दबाव डालकर और औदरिक पेशियाँ संकुचित होकर इस कार्य में सहायक होती हैं ।

वमन के कारण—

(i) **नासागत**—अप्रिय गन्ध ।

(ii) **मुखगत**—अप्रिय स्वाद ।

(iii) **ग्रसनिकागत**—प्रक्षोभ, ग्रसनिका प्रदाह, गलतुण्डिका प्रदाह, गलशुण्डिका (Uvulva) की वृद्धि तथा काली खाँसी के कारण खाँसी आकर वमन होता है। अन्य कारणों से उत्पन्न खाँसी का लम्बा दौर भी वमन करा सकता है।

(iv) **अन्ननलिका गत**—सांकर्य, स्तम्भ, उपाशय या बाहरी दबाव के कारण। वान्त पदार्थ क्षारीय, अपचित एवं कफ मिश्रित रहता है। अधिक उबकाई नहीं आती, खाया हुआ पदार्थ धीरे से चढ़कर मुख में लौट आता है।

(v) **आमाशय गत**—वामक औषधियाँ, क्षोभक विष, असात्म्य भोजन दुष्पाच्य भोजन, अधिक भोजन, अधिक जल या अन्य पेय, अनुर्जता (Allergy) आमाशय प्रदाह, आमाशय व्रण, कर्कटार्बुद, तीव्र आमाशय विस्फार, मुद्रिका द्वारा अवरोध (Pyloric obstruction), मुद्रिका द्वार का परम पौष्टिक संकोच आदि।

(vi) **आन्त्रगत**—मलावरोध, आन्त्रविरोध, तीव्र आन्त्र प्रदाह, विसूचिका यान्त्रपुच्छ-प्रदाह कृमिरोग।

(vii) **यकृतगत**—यकृद्दाल्युदर ।

(viii) **पित्ताशय गत**—पित्ताशय शूल ।

(ix) **उदरावरणगत**—उदरावरण प्रदाह (तीव्र) ।

(x) **अग्न्याशयगत**—तीव्री अग्न्याशय प्रदाह ।

(xi) **वृक्कगत**—वृक्क शूल, वृक्क-भ्रंश, गवीनी-परिवेष्टन ।

(xii) **स्त्री-जननेन्द्रिय**—सगर्भता, गर्भाशय, डिम्ब ग्रन्थियों एवं डिम्ब नलिकाओं का प्रवाह या भ्रंश ।

(xiii) **हृदयगत**—रक्ताधिक्यज हृदयातिपात ।

(xiv) **केन्द्रीय**—निम्नलिखित रोगों के आभ्यन्तर विष सीधे सुषुम्ना शीर्ष में स्थित वमन केन्द्र को प्रभावित करके वमन की उत्पत्ति करते हैं—

प्रायः सभी तीव्र संक्रामक ज्वर जिनमें गंभीर तृतीयक विषम ज्वर प्रधान है, मूत्रमयता, मधुमेह, चक्रीय वमन (Cyclic Vomiting) उरक्षा गलगण्ड, एडीसन का रोग, गंभीर रक्तक्षय, मस्तिष्कावरण प्रदाह, मस्तिष्क-विद्रधि, मस्तिष्कीय स्तब्धा (Concussion of the Brain), फिरंगी

खंजता का आमाशयिक दारुण्य (Gastric Crysis of tapes dorsalis), सूर्यावर्त्त, अपस्मार तथा शोकमय आदि की अवस्थायें। इनके अतिरिक्त समुद्री जहाज या हवाई जहाज में यात्रा करने से उत्पन्न अथवा मेनियर के रोग से उत्पन्न भ्रम (चक्कर) से भी वमन की उत्पत्ति होती है। सगर्भावस्था के प्रारम्भिक मासों में प्रतिक्रिया जन्य वमन होती है। मूर्छा (Syncope) में मस्तिष्क में रक्त की कमी के कारण वमन होती है और हिस्टीरिया में सम्वेदनशीलता की वृद्धि के कारण वमन होती है।

वमन-परीक्षा—वान्त पदाथ की मात्रा, वर्ण, गन्ध प्रतिक्रिया तथा उसमें पाये जाने वाले सामान्य (भोजन, आमाशयिक रस, पित्त आदि) और असामान्य (विष, कफ, रक्त, पूय, उपकला के खण्ड, कृमि आदि) पदार्थों पर विचार किया जाता है।

मात्रा—भोजन करने के बाद तुरन्त ही होने वाली वमन की मात्रा स्वभावतः अधिक होती है तथा उसमें खाये हुए पदार्थ ही अधिक मात्रा में मिलते हैं, किन्तु भोजन करने के काफी समय बाद होने वाली वमन की मात्रा स्वभावतः कम रहती है और उसमें खाये हुए पदार्थ थोड़ी मात्रा में पाये जाते हैं अथवा नहीं पाये जाते। प्रथम वमन में निकले हुए पदार्थ की मात्रा तथा उसमें स्थित खाये हुए पदार्थों की मात्रा अधिक होती है, बाद के वमनों में यह क्रमशः कम होती जाती है। वमन कारक कारण जितना बलवान् होगा वमन की मात्रा, वेग और पुनरावृत्ति उतनी ही अधिक होगी; अन्यथा कम होगी।

वर्ण—साधारणतः वमन का वर्ण खाये हुए पदार्थों के अनुरूप ही होता है किन्तु रक्त मिश्रित होने पर लाल, कत्थई या काला, पित्त-मिश्रित होने पर पीला, हरित्पीत या हरा और विष-मिश्रित होने पर उसके अनुरूप होता है।

गन्ध—लगभग सभी प्रकार के वमन में अप्रिय गन्ध होती है। किन्तु पूय, विष्ठा एवं विष के कारण तत्सदृश गन्ध की उत्पत्ति है।

प्रतिक्रिया—अन्न प्रणाली में अवरोध तथा आमाशय में अम्लहीनता की अवस्था में प्रतिक्रिया क्षारीय होती है, अन्यथा अम्ल रहती है। आमाशय में अम्लतावृद्धि होने पर तथा खट्टे पदार्थों के सेवन के बाद होने वाली वमन की प्रतिक्रिया अधिक अम्ल होती है। पित्त के कारण वमन का स्वाद कड़वा रहता है।

भोजन—वमन निकले हुए भोजन की परीक्षा करके मालूम किया जाता है कि वह किस हद तक पचा है। भोजन जितना अधिक पचा हुआ हो वमन का कारण भी उतने ही निचले भाग में अवस्थित है—ऐसा माना जाता है।

आमाशयिक रस—यह अधिकतर भोजन के साथ मिला हुआ रहता है किन्तु कभी-कभी जब आमाशय रिक्त हो तब वमन में केवल यही निकल सकता है। ऐसा अधिकतर अम्लता वृद्धि की दशा में होता है।

पित्त—वान्त पदार्थ में अल्प मात्रा में पित्त का होना कोई महत्त्व नहीं रखता किन्तु पित्त प्रधान वमन तीव्र संक्रामक ज्वरों (विशेषत: गम्भीर तृतीयक, विषम ज्वर), यकृत प्रदाह या ग्रहणी प्रदाह का निदर्शक है।

विष—विष-सेवक अधिकतर वमन की उत्पत्ति करता है। इसलिए वमन का निदान करते समय विष को नहीं भूलना चाहिये। प्रथम वमन से सबसे अधिक विष उपस्थित रहता है, फिर क्रमशः कम होता जाता है।

कफ—वमन में आने वाला कफ अधिकतर आमाशय से आया हुआ होता है और आमाशय प्रदाह का निदर्शक है। श्वास मार्ग से थोड़ा बहुत कफ वमन में आ जाता है, किन्तु वान्त पदार्थ के साथ भली भाँति मिला हुआ नहीं होता।

रक्त—वमन में अनेक कारणों से रक्त आ सकता है।

कृमि—अधिकतर गण्डूपदकृमि (केंचुआ Roundworm) वमन की उत्पत्ति करते हैं और कभी-कभी वमन के साथ भी निकलते हैं। इसकी संख्या १ से सैकड़ों तक हो सकती है।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा विशेष विधान द्वारा करनी आवश्यक है। छर्दि की अवस्था में जो सर्वप्रथम उपचार है वह यह कि आहार बिल्कुल बन्द कर दिया जाय। एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि यदि रोग जीर्ण हो गया हो और छर्दि की प्रवृत्ति कम हो गई हो तो आहार का सेवन कराया जा सकता है किन्तु वह आहार अत्यन्त हल्का होना चाहिए। शरीर में पोषण पहुँचाने के लिए सिर द्वारा इन्जेक्शन देते हैं। खाद्य पदार्थों में निम्न चीजों को उपयोगी बताया गया है—

मूँग, गोधूम, लाजामण्ड नारियल, जम्बीर, धात्री, धनियाँ, अंगूर, मुसम्मी, जंगली पक्षियों का मांस, रस इत्यादि। रोगी को सुख विरेचन दिया जा सकता है।

रोगी को औषधि चिकित्सा देते समय यह विचार करना पड़ेगा कि रोगी दुर्बल है अथवा बलवान। दोनों के चिकित्सा-सिद्धान्त भिन्न-भिन्न होंगे।

यदि रोगी दुर्वल है तो उसे पूर्ण विश्वास देना चाहिए। लंघन करायें, किन्तु शरीर में पोषण के लिए शिरा मार्ग से ग्लूकोज आदि का सूचिवेध विधि से क्षेपण करें। शरीर के जलीयांश की कमी हो जाय तो लवण जल भी शिरा-मार्ग से देना आवश्यक है। रोगी को हृद्य पदार्थों का सेवन कराना चाहिए। आयुर्वेद में एतदर्थ मुक्ता, प्रवाल, लौह आदि की भस्मों का प्रयोग कर सकते हैं अथवा सूतशेखर रस—२ रत्ती की मात्रा में दिया जा सकता है। आधुनिक चिकित्सा-पद्धति में विटामिन बी कम्प्लेक्स और लिवर एक्सट्रैक्स प्रत्येक एक-एक सी० सी० का सूचिवेध देते हैं। इन औषधि योगों का प्रयोग रोगी के हृदय को बल देता है। इसके पश्चात् मृदु विरेचन दिया जाता है।

यदि रोगी बलवान है तो उसकी वमन तत्काल नहीं रोकनी चाहिए। इसमे संशोधन कराना हितकारक होता है। वमन विरेचन कराने के दोषों को बाहर निकाल कर संसर्जन क्रम का पालन कराना चाहिए।

छर्दि रोग में शामक औषधियों का प्रयोग करने की आवश्यकता हो तो निम्न योगों में से आवश्यकतानुसार प्रयोग कर सकते हैं—

१. म्यूरपुच्छ भस्म	२ रत्ती की मात्रा में,
२. कुमेदेश्वर रस	१ रत्ती,
३. एलादि चूर्ण	४ रत्ती,
४ सूतशेखर रस	१ रत्ती,
५. यवानी खाण्डव	२ माशा,
६. कर्पूरासद	३ माशा,

७. कर्पूर, अजवायन का सत्व और पीपरमेण्ट मिलाकर प्रयोग कर सकते हैं। जामुन, आम के पत्ते, मातुलुङ्ग, धनिया, जीरा, वेर आदि द्रव्य छर्दिहर बताए हैं।

आधुनिक मैडीसन में वमन शामक द्रव्यों को दो भागों में बाँटा है—

(१) केन्द्रीय शामक (२) स्थानीय शामक

केन्द्रीय शामक द्रव्यों में यह गुण होता है कि वह सुषुम्ना शीर्षस्थ (Meculla oblongata) वमन केन्द्र को अवसादित कर देते हैं और इस तरह छर्दि रुक जाता है। यह द्रव्य निम्न हैं।

(१) गारबीट्युरेट्स (२) ब्रोमाइड (३) क्लोरल हाइड्रेट

स्थानिक शामक द्रव्य निम्न हैं—

(१) उपवृक्किय विलयन की लघु मात्रा। (२) क्लोरोडीन।
(३) एलक्लाइन मिक्चर। (४) कारमिनेटिव मिक्चर।
(५) टिंचर इपिकाक—१० से ३० बूंद की मात्रा में।
(६) हाइड्रोसायनिक एसिड। (७) कोकेन।
(८) केओलीन (९) हायोसीन।
(१०) कैलोमल।

अवस्था के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए और जो द्रव्य जहाँ उपयुक्त हो, वहाँ उसी मात्रा में प्रयोग करना हितकारक होता है।

विसूचिका (Cholera)

जिस रोग में अजीर्ण से कुपित वात अंगों में सुइयाँ चुभने के समान पीड़ा करता हुआ स्थित रहता है उसे विसूची कहते हैं। इस रोग की उपलब्धि भोजन के लालची एवं असंयमी मूर्खों को होती है; सीमित आहार करने वाले शास्त्रज्ञों को नहीं।

लक्षण—मूर्च्छा, अतिसार, वमन, तृषा, शूल, भ्रम, ऐंठन (Cramps) जँभाई, दाह, वैवर्ण्य, कम्प, हृदय में पीड़ा और सिर में भेदनवत् पीड़ा ये—लक्षण इस रोग में हैं।

जिस रोग में कुक्षि अत्यन्त फूल जाती है एवं रुका हुआ वायु कुक्षि में ऊपर की ओर तेजी से गति करता है, रोगी अत्यन्त बेचैन होता और खाँसता है, वायु और मल का अत्यधिक अवरोध होता हैं, प्यास लगती हैं और डकारें आती हैं—उस रोग को अलसक कहते हैं।

यह रोग विष्टधाजीर्ण के रोगियों को अक्सर होता है। मल और वायु बुरी तरह रुक जाते हैं जिससे पेट अत्यधिक फूल जाता है। श्वास कष्ट और उदर पीड़ा अत्यन्त त्रासदायक होते हैं। तृषा अधिकतर उपस्थित रहती है। उद्गार कुछ रोगियों में पाई जाती है। कभी-कभी इस रोग से मृत्यु तक हो जाती है। वमन विरेचन अथवा अपान वायु निकलने से आराम मिलता है।

जिस रोग में खाया हुआ पदार्थ कफ और वायु से दूषित होकर न ऊपर जाता है और न नीचे, उस रोग को विलम्बिका कहते हैं। प्राचीन वैद्यों ने इसे अत्यन्त कष्टसाध्य (प्रत्याख्येय) कहा है।

जिस विसूचिका में रोगी के दाँत, ओठ, नख काले पड़ चुके हों, जो व न से बुरी तरह पीड़ित हो, पूरी तरह से होश में न हो, जिसके नेत्र भीतर की

और धँस चुके हों, स्वर जीर्ण हो चुका हो और संधियाँ ढीली पढ़ चुकी हों, वह मर जाता है।

नींद न आना, बेचैनी, शरीर कांपना, मूत्राघात और बेहोशी—ये पाँच भयंकर कष्टदायक उपद्रव विसूचिक रोग में होते हैं।

विसूची (Vomiting and Diarrhaea)—वैसे विसूची या विसूचिका से पाश्चात्य 'कालरा' (Cholera) नामक रोग का ग्रहण किया जाता है। किन्तु आयुर्वेदिक मतानुसार 'विसूची' रोग के अन्तर्गत वमन और अतिसार जिनमें प्रधान हों ऐसे सभी रोग समाविष्ट हो जाते हैं। पाश्चात्य विद्वान केवल उसी वमन अतिसार प्रधान रोग को कालरा मानते हैं जिनमें रोगी के मल में विसूचिका वक्राणु (Comma Vidrios) उपस्थित हों, अन्य को नहीं। इसलिए समन्वय पद्धति के अनेक आचार्यों ने कालरा को 'कालातिसार' संज्ञा प्रदान की है और बहुत से आचार्य विसूचिका से ही सहमत हैं विद्वानों की राय यह है कि आयुर्वेदोक्त विसूची को विसूची तक ही सीमित रखकर विसूचिका (विसूची की एक प्रकार विशेष) संज्ञा पाश्चात्य कालरा को प्रदान की जावे, एक नाम नया 'कालातिसार' और बढ़ा देना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

विसूचिका या हैजा (Cholera) कुछ आचार्यों के मत से यह रोग प्राचीन नहीं, किन्तु कई कारणों से यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती। इस रोग को नवोत्पन्न मानने वाले निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं—

(१) विसूची की उत्पत्ति अजीर्ण से बतलायी हैं, किन्तु विसूचिका (Cholera) सक्रामक रोग है।

(२) सुई चुभाने के समान पीड़ा विसूचिका (Cholera) में होती है, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है।

(३) 'विसूची महामारी के रूप में फैलती है, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। इन तर्कों के उत्तर नीचे दिये जाते हैं—

(१) पाश्चात्य विद्वान मानते हैं कि आमाशय में लवणाम्ल की मात्रा कम होने की स्थिति में ही विसूचिका वक्राणु अधिक प्रभावकारी होते हैं। लवणाम्ल की कमी को अजीर्ण कहेंगे या कुछ और ?

(२) सुई चुभाने के समान पीड़ा (Tingling) मूत्रावरोध होने पर मूत्र-मयता होने से होती है। पाश्चात्य ग्रन्थों में इस प्रकार को केवल मूत्रमयता

(Uraemia) कहकर समाप्त कर दिया है इन्हीं ग्रन्थों में मूत्रमयता के लक्षण देखने से भ्रम दूर हो जायगा।

(३) महामारी के रूप में फैलने का प्रमाण स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। किन्तु केवल इसीलिए इसे नया रोग नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसे अनेक रोग हैं जो संक्रामक होते हुए भी प्राचीन ग्रन्थों में संक्रामक नहीं कहे गये हैं।

यह रोग भारत में प्राचीन काल से पाया जाता रहा है, किन्तु विगत शताब्दी में ही इसका प्रवेश यूरोप और अमेरिका में हुआ है। अमेरिका में सन् १८३२ १८३५-३६, १८४९, १८५४, १८६६, १८६७, और १८७३ में तथा यूरोप में १८८४, १८९२-९३ में भयंकर महामारी के आक्रमण हुए थे। सन् १८८४ में डा० कोक (Kock) ने उस रोग के उत्पादक दण्डाणु का पता लगाया था इसीलिए उसे कोक दंडाणु (Kock's Bacillus) कहते हैं। इसका आकार अल्पविराम चिह्न (Comma) के समान वक्र होता है तथा यह अत्यन्त चंचल होती है, इसलिए इसे चपल वक्राणु (कोमा विब्रयो, Comma Vibria) अथवा विसूचिका वक्राणु भी कहते हैं। विसूचिका रोगी के मल में यह वक्राणु बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। मुक्त होने पर भी लगभग एक पक्ष तक और कुछ मामलों में दो माह से भी अधिक काल तक ये मल में उपस्थित रहते हैं। वहाँ से या तो जल के साथ अथवा मक्खियों की सहायता से भोजन में पहुँचकर उसके साथ दूसरे व्यक्तियों के उदर में प्रविष्ट होते हैं। आमाशय का अम्ल रस इसके लिए घातक होता है, यदि यह कम या अनुपस्थित हो तो ये आगे बढ़ कर छोटी आंत के ऊपरी भाग में रहकर अपनी वंश वृद्धि करते हैं और साथ ही एक प्रकार के विष (Toxin) की उत्पत्ति करते हैं। छोटी आँत में वक्राणुओं की उपस्थिति से क्षोभ और रक्ताधिक्य होता है। इससे वमन अतिसार होते हैं तथा वक्राणुओं के विष का संचार रक्त में होने से सर्वाङ्गित लक्षण उत्पन्न होते हैं। विष अत्यन्त घातक होता है, मृत वक्राणुओं का घोल भी रोग उत्पन्न करने में समर्थ होता है। प्रायोगिक जन्तुओं पर मुखमार्ग से प्रविष्ट किए गए विसूचिका वक्राणुओं का प्रभाव नहीं होता, किन्तु यदि आमाशय की अम्लता को नष्ट करके तथा आँतों की पुरस्सरण क्रिया को अहिफेन के द्वारा मन्द करके प्रयोग किया जावे तो विसूचिका के समान लक्षण उत्पन्न होकर जन्तु की मृत्यु हो जाती है।

चयकाल १ से ५ दिनों का है। गर्म और तर जलवायु में इस रोग का शीघ्र होता है। भारतवर्ष में इसका अड्डा दक्षिणी बंगाल है। वहाँ से आने-जाने

वाले मनुष्यों के द्वारा यह अन्य भागों में भी फैलता है। भारत के बाहर चीन, श्याम, फिलिपाइन द्वीप, जापान और दक्षिणी अफ्रीका में इसके अड्डे हैं। मेलों इत्यादि में जहाँ पीने का जल दूषित होना स्वाभाविक ही रहता है वहाँ यह भयंकर रूप में फैलता है। नदियों के द्वारा भी दूर-दूर तक इस रोग का प्रसार होता है।

इस रोग की चार अवस्थाएँ होती हैं—

(१) पूर्वरूप—रोग का आक्रमण होने से पूर्व १२ दिन सिरदर्द, अवसाद बेचैनी, दस्त में साधारण पतलापन, उदर में हल्की शूलवत वेदना आदि लक्षण होते हैं, किसी-किसी एकाध को वमन भी होता है। भोजन में गड़बड़ी का इतिहास अधिकांश मामलों में पाया जाता है।

(२) प्रारम्भिक अवस्था—यह अधिक पूर्वरूप के बाद ही प्रकट हुआ करती है, किन्तु कुछ मामलों में अचानक प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में अतिसार होता है किन्तु दस्त में पतला मल जाता है, रोगी अजीर्ण-जन्य अतिसार के धोखे में रहता है। इसका काल १-३ घण्टों का है।

(३) शीतांग या निपात की अवस्था—यह अवस्था अधिकतर प्रारम्भिक अवस्था के बाद प्रारम्भ होती है, किंतु कुछ मामलों में विशेषतः महामारी के गंभीर प्रकोप में रोग का प्रारम्भ इसी अवस्था से होता है, इस अवस्था में चावल के धोवन के समान सफेद रंग के अत्यन्त पतले बड़े-बड़े दस्त बार-बार बहुत जल्दी-जल्दी आते हैं और इनके साथ ही अथवा कुछ समय बाद वमन भी प्रारम्भ हो जाता है। कुछ मामलों में शूल-और मरोड़ भी होते हैं जिससे दण्डाण्वीय प्रवाहिक आदि का भ्रम हो सकता है। जीभ सफेद हो जाती है, प्यास अत्यधिक लगती है और हाथ-पैर में उद्वेष्टन (Cramps) होते हैं जो अत्यन्त कष्टदायक होते हैं। रोगी बहुत जल्द शीतांग की दशा में आ जाता है। त्वचा का वर्ण धूसर हो जाता है, आँखें धँस जाती हैं, गाल पिचक जाते हैं। आवाज बैठ जाती है, श्यावता उत्पन्न हो जाती है, चिपकीला पसीना थोड़ा-थोड़ा आता है, मूत्र और थूक की उत्पत्ति बन्द हो जाती है; तथा मूत्रमयता के लक्षण उत्पन्न होते हैं, त्वचा में झुर्रियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, नाड़ी अत्यन्त क्षीण हो जाती है, शरीर का ताप सामान्य से ४°-५° अंश तक कम हो जाता है किन्तु गुदा का ताप सामान्य ४°-५° अंश अधिक रहता है और क्रमशः संन्यास

होकर मृत्यु हो जाती है। (किन्तु कुछ रोगी अन्त तक होश में रहते हैं) ये सब लक्षण वमन और अतिसार के द्वारा रक्त-लसिका का बहुत-सा भाग (सौम्य मामलों में लगभग ३५% और गम्भीर मामलों में लगभग ६४%) निकल जाने से रक्त में गाढ़ापन उत्पन्न हो जाता है जिसका कारण जलाल्पता (Dehydration) है। इस दशा में स्वेद के अतिरिक्त सभी प्रकार के स्राव विशेषतः मूत्र और लाल स्राव पूर्ण रूप से बन्द हो जाते हैं किन्तु दूध पिलाने वाली स्त्रियों में दुग्धस्राव चालू पाया जाता है। यह अवस्था कम से कम २ घण्टे अधिक से अधिक २४ घण्टे की होती है।

(४) **प्रतिक्रिया की अवस्था**—जो रोगी शीतांग की अवस्था में मरने से बच जाते हैं, उनमें प्रतिक्रिया की अवस्था प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में वमन और अतिसार क्रमशः कम होते-होते बन्द हो जाते हैं, मूत्र उतरने लगता है, नाड़ी पुनः बलवती हो जाती है। ताप भी क्रमशः सामान्य हो जाता है। कुछ मामलों में अन्य सब सुधार के लक्षण होते हुए भी मूत्र रुका ही रहता है। और मूत्रमयता के गम्भीर लक्षण उत्पन्न होकर मृत्यु हो जाती है। कुछ मामलों में अतितीव्र ज्वर (Hyper Pyrexia) होकर ताप ११०° या और भी अधिक हो जाता है तथा प्रलाप संन्यास आदि होकर मृत्यु हो जाती है।

दस्तों में प्रारम्भ में मल निकलता है फिर कुछ पित्तमिश्रित पीले रंग का तथा अत्यन्त सफेद रंग का अत्यन्त पतला (चावल के धोवन के समान) अथवा कुछ गाढ़ा (मांड़ के समान तरल, पदार्थ बड़ी मात्रा में निकलता है। इसमें श्विति (Albumin) और लवण (Sodium Chloride) की प्रधानता रहती है, कफ तथा उपकलीय कोष (Epithelial cells) भी रहते हैं और कुछ मामलों में रक्त भी पाया जाता है। विसूचिका वक्राणु बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित रहते हैं। प्रतिक्रिया क्षारीय रहती है।

वमन में भी आरम्भ में खाये गये पदार्थ निकलते हैं। इसके बाद चावल के समान तरल पदार्थ बड़ी मात्रा में निकलने लगता है। इस रोग में होने वाले वमन की प्रधान विशेषता यह है कि रोगी को प्रयत्न नहीं करना पड़ता, हृल्लास होते ही अत्यन्त वेग से तरल पदार्थ निकल पड़ता है। वमन में भी लगभग वही सब पदार्थ पाये जाते हैं जो दस्त में पाये जाते हैं किन्तु विसूचिका वक्राणु नहीं पाये जाते।

महामारी के समय पर कई प्रकार के रोगी देखने में आते हैं। उक्त चारों

अवस्थाएं बहुत कम रोगियों में पाई जाती हैं। कुछ मामलों में रोग अत्यन्त सौम्य प्रकार का एवं अघातक होता है—क्षुद्र विसूचिका (Cholerine), इसमें चारों अथवा अन्तिम तीन अवस्थाएं मिलती हैं और शीतांग की अवस्था के थोड़े से ही लक्षण प्रकट होते हैं। कुछ मामलों में थोड़े से ही वमन अतिसार होकर बिना अधिक जल निकले ही हृदयावसाद होकर मृत्यु हो जाती है और कुछ मामलों में विषमता इतनी अधिक होती है कि बिना वमन अतिसार ही एकाएक निपात होकर मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—विसूचिका की चिकित्सा में दो बातों का ध्यान रखना चाहिए—प्रथम तो यह कि शरीर का जलीयांश कम न हो जाय—दूसरे यह कि रोगी को उपद्रव आदि उत्पन्न न हो पाएं। शरीर का जलीयांश कम हो जाने पर रोगी की हालत अधिक खराब हो जाती है। उस अवस्था में औषधि द्वारा कोई लाभ नहीं होता है। इस रोग में रक्तजल की मात्रा पूरी रखने के लिए लवण जल को शिरा द्वारा शरीर में प्रवेश कराया जाता है।

रोगी को पूर्ण विश्राम दें, उसके आहार पर प्रतिबन्ध आवश्यक होता है। औषधि चिकित्सा में आयुर्वेद के निम्न औषधि योग प्रयोग किए जाते हैं—

(१) कर्पूरासव—५ से २५ बूंद अर्क पोदीना और अर्क सौंफ से दें।

(२) अहिफेनासव—५ से १५ बूंद जल में मिलाकर दें।

(३) संजीवनी बटी—२ रत्ती से ४ रत्ती की मात्रा में लवणयुक्त जल से या मधु से देना चाहिए।

(४) विसूचिकान्त रस—१ से ३ रत्ती की मात्रा में दें।

ये मात्राएं जो ऊपर कही हैं—ऐसी दो या तीन मात्राएं एक दिन में देनी चाहिए, आवश्यकतानुसार जल्दी-जल्दी भी दे सकते हैं।

शीतांग अथवा हृदय पर कमजोरी आना आदि लक्षण प्रकट हों तो निम्न योगों का प्रयोग अवस्थानुसार किया जा सकता है।

(१) कस्तूरी भैरव रस १ से २ रत्ती, (२) अभ्रक भस्म १ से २ रत्ती, (३) लक्ष्मी विलास रस १ से २ रत्ती।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के चिकित्सक इस रोग का उपचार करते समय शरीर में जल की मात्रा को सुनिश्चित रखने का ध्यान रखते हैं।

उनके शास्त्रों में निम्न चिकित्सा का वर्णन उपलब्ध होता है—

(१) लवण जल (Saline water) का शिरा द्वारा प्रयोग कराया जाता

है। एतदर्थ घोल बनाया जाता है। हाइपरटोनिक लवण घोल का प्रयोग करते हैं। हम आगे दो घोलों का वर्णन कर रहे है—

(क) सोडियम क्लोराइड १२ ग्रेन, कैलसियम क्लोराइड ४ ग्रेन, परिस्रुत जल २० औंस। यह हाइपरटोनिक घोल है।

(ख) क्षारीय लवण घोल का भी प्रयोग किया जाता है। वह निम्नवत् कहा गया है—

सोडियम क्लोराइड ९० ग्रेन, सोडा वाईकार्बन १६० ग्रेन, परिश्रुत जल २० औंस।

इस विषय में ध्यान रखना चाहिए कि शिरा द्वारा घोल का प्रवेश करते समय उसका ताप ८०° F होना चाहिए।

निम्न औषधि भी दी जाती हैं।

(१) प्लाजमा का अन्तः क्षेपण—५० M. L.।

(१) कोरटिकोट्रोफ़िन—५० से १०० मिली ग्राम २४ घण्टे में दें।

(३) सल्फागोनेडीन ०·५ ग्राम की चार गोलियाँ प्रत्येक दो-दो घण्टे में दें।

(४) फारमोसिवाजोल की एक गोली को सोडा वाईकार्बन पें मिलाकर दें।

(५) वैक्सीन का भी प्रयोग किया जाता है।

इस रोग की चिकित्सा विशेष ध्यान से करना चाहिए।

(३१) गुल्म—मिथ्या आहार-विहार के कारण अत्यन्त कुपित वातादि दोष कोष्ठ के अन्दर ग्रन्थि के समान स्वरूप वाले पाँच प्रकार के गुल्म उत्पन्न करते हैं। गुल्म के स्थान पाँच हैं—पार्श्व (दो वाम एवं दक्षिण), हृदय प्रदेश, नाभि प्रदेश और बस्ति-प्रदेश।

हृदय और नाभि के बीच चल अथवा अचल तथा घटने-बढ़ने वाली गोल ग्रन्थि गुल्म कहलाती है।

पुरुषों को वह एक-एक अलग-अलग तथा एक साथ सभी कुपित दोषों से (वातज, पित्तज, कफज तथा त्रिदोषज) उत्पन्न होता है और स्त्रियों को रक्त से (रक्तज) एक और भी होता है।

उद्गारों की अधिकता, मलबद्धता, तृप्ति (पेट भरा हुआ प्रतीत होना तथा भोजन न करने की इच्छा न होना) अशक्ति, आंतों में गुड़गुड़ाहट, गुड़गुड़ाहट सहित आध्यमान अथवा केवल आध्यमान और पाचन शक्ति का अभाव—ये गुल्म के पूर्वरूप कहे जाते हैं।

अरुचि, मल, मूत्र और वायु की प्रवृत्ति कठिनाई से होना, आंतों में गुड़-

गुड़ाहट, आनाह (मलावरोध एवं मूत्रावरोध) तथा ऊर्ध्ववात (डकारों की अधिकता) ये लक्षण सभी गुल्मों में पाये जाते हैं।

रूक्ष, विषम एवं अधिक मात्रा में अन्न-पान का सेवन, विरुद्ध चेष्टाएँ (स्वास्थ्य नियमों के विरुद्ध आचरण), वेग-विद्रोह, शोक, अभिघात, अति मल क्षय और अनशन वातज गुल्म के निदान हैं। जिन गुल्म के स्थान, आकार एवं पीड़ा में परिवर्तन रहते हों, जिनके साथ मल एवं वायु का अवरोध, गले और मुँह का सूखना श्यावता एवं अरुणता (Face congested and cyanosed) शीत पूर्वक ज्वर और हृदय, कुक्षि, पार्श्व, कन्धे और सिर में पीड़ा हो तथा जो भोजन पचने पर प्रकोप करता और भोजन करने पर सौम्य हो जाता हो वह वातज गुल्म है। इसमें रूक्ष, कषाय एवं तिक्त पदार्थों से शान्ति नहीं मिलती। कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही एवं रूक्ष पदार्थ, क्रोध, मद्य, सूर्यसन्ताप एवं अग्नि के ताप का अधिक सेवन, आम (अजीर्ण अन्य विषाक्त पदार्थ) की प्रतिक्रिया और दूषितरक्त पित्तज गुल्म के निदान कहे गये हैं। ज्वर, प्यास, चेहरे एवं सर्वाङ्ग में लालिमा, भोजन पचते समय उग्र प्रकार का शूल, स्वेद, दाह (अथवा भोजन का विदाह और गुल्म में व्रण के समान स्पर्श असह्यता होना) पित्तज गुल्म के लक्षण हैं।

शीतल, भारी एवं स्निग्ध पदार्थों का सेवन, काम न करना, डटकर भोजन करना और दिन में सोना कफज गुल्म के हेतु हैं।

सभी दोषों का दूषित होना त्रिदोषज गुल्म का हेतु है।

शरीर गीले वस्त्र से पोंछे हुए के समान प्रतीत होना शीतपूर्वक ज्वर, अंगों में शिथिलता, हृल्लास, खाँसी, अरुचि और भारीपन रहना तथा गुल्म में शीतलता, अल्प पीड़ा कड़ापन एवं उभार रहना कफज गुल्म के लक्षण हैं।

गुल्म में दोषों के निदान, लक्षण एवं दोष बलावत (दो दोषों का बलोत्कर्ष और तीसरे का बल क्षय) मिलने पर चिकित्सा के लिए मिश्रित लक्षणों वाले (द्वन्द्वज) तीन अन्य गुल्मों का भी निर्देश समझना चाहिए।

महान् पीड़ा एवं दाह से युक्त, पत्थर के समान कठोर एवं उभरे हुए, शीघ्र पकने वाले, भयंकर तथा मन, शरीर और अग्नि के बल का अपहरण करने वाले गुल्म को त्रिदोषज एवं असाध्य कहना चाहिए।

जो स्त्री प्रसव होने पर अथवा गर्भपात होने पर अथवा ऋतुकाल में अहितकारक भोजन करती है, उसकी वायु (कुपित होकर) रक्त को ग्रहण

करके पीड़ा, दाह और पित्तज गुल्म के समान लक्षणों से युक्त गुल्म उत्पन्न करती है। उसकी अन्य विशेषताएं निम्न हैं—

जो पीड़ित अवस्था में ही रहकर स्पन्दन करता है अंगों से स्पन्दन नहीं करता (अंगों का विकास नहीं होता) तथा दीघकाल तक शूलवत पीड़ा एवं गर्भ के समान लक्षण उत्पन्न करता है। वही स्त्रियों में होने वाला रक्तज गुल्म है, वह दसवां महीना व्यतीत होने पर चिकित्स्य है।

जब गुल्म क्रमश: बढ़कर बहुत सा-स्थान घेर लेता है, जड़ बना लेता है (अर्थात् गम्भीर धातुओं तक फैल जाता है) उस पर शिरायें उभर आती हैं और वह कछुए के समान उभरा हुआ लक्षित होता है तथा दुर्बलता अरुचि, हृल्लास, खांसी, वमन बेचैनी, ज्वर, तृष्णा एवं प्रतिश्याय युक्त हो जाता है तब वह असाध्य हो जाता है।

ज्वर, श्वास, वमन एवं अतिसार से पीड़ित गुल्मरोग के हृदय; नाभि, हाथों एवं पैर में शोथ उत्पन्न होकर उत्तरोत्तर अधिक दुर्बल बनाता है।

चिकित्सा—वातज गुल्म की चिकित्सा स्नेहन द्वारा की जानी चाहिए। स्नेहपान, अनुवासन एवं आस्थापन का प्रयोग किया जाना चाहिए। स्नेहन के पश्चात स्वेदन किया जाना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि नाभि के ऊर्ध्व भाग के गुल्म में स्नेह पान तथा अधोभाग में हो तो आस्थान-अनुवासन का प्रयोग करना चाहिए ,जब नाभि प्रदेश पर हो तो दोनों क्रियायें करनी चाहिए।

स्निग्धोषण कारणों से उत्पन्न पित्तज गुल्म में स्रंसन का प्रयोग करना चाहिए। परन्तु यदि रूक्षोष्ण कारणों से उत्पन्न हो तो घृत श्रेष्ठ शामक है। रक्तप्रोक्षण करना हितकारक है। जब पित्तज अथवा रक्तज गुल्म पक्वावस्था में पहुंच जाएं तो शल्य चिकित्सा करनी पड़ती है।

कफज गुल्म में लंघन कराना हितकारक होता है। मन्दाग्नि आदि से युक्त श्लैष्माधिक्य में वमन करना चाहिए।

कफज गुल्म में स्वेदन कराना हितकारक होता है। इन क्रियाओं को करने के पश्चात् कफज गुल्मी को क्षारयुक्त कटु घृत देना हितकारक होता है। अरिष्ट आसवों का प्रयोग कफज गुल्म में लाभ करता है। इन सब से भी यदि लाभ न हो तो अग्निदग्ध करना हितकारक रहता है।

चरक संहिता में अग्रलिखित योगों का वर्णन किया है जो गुल्म नाशक हैं। ये सब वातगुल्म नाशक हैं—

१. त्र्यूषणादि घृत	२. हिंगु सोवर्चलादि घृत	३. पिप्पलादि घृत,
४. हवुषादि घृत	५. हिंग्वादि चूर्ण,	६. लशुन क्षीर।

पित्तज गुल्म में आमलकयादि घृत का प्रयोग बताया है।

दन्ती हरीतकी का प्रयोग बहुत लाभ करता है।

स्त्रियों को जो रक्तज गुल्म होता है, उसकी चिकित्सा गर्भकाल व्यतीत हो जाने पर करें। इसमें योनि शोधक द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

निम्न योग प्रसिद्ध गुल्मनाशक हैं—

१. गुल्म कालानल रस,	२. महानाराच रस,	३. कांकायन गुटिका
४. कर्वेश्वर रस	५. प्राण बल्लभ रस।	

गुल्म में क्षाराष्टक का प्रयोग अच्छा लाभ करता है।

(३२) कृमिरोग (Worms)—आयुर्वेद में दो प्रकार के कृमियों का वर्णन किया है, बाह्य कृमि और आभ्यन्तर कृमि। त्वचा, बाल आदि में जूँ आदि बाह्य कृमि कहलाते हैं और आँतों में, आमाशय में रक्त या शरीर के किसी भी भीतरी अंग में जो कृमि होते हैं वे आभ्यन्तर कृमि कहलाते हैं। कारणभेद से इनके चार प्रकार हैं—स्वेदज कृमि जो बाह्य कृमि होते हैं, पुरीषज कृमि, कफज कृमि और रक्तज कृमि—ये आभ्यन्तरिक होते हैं। इन आभ्यन्तरिक कृमियों की संख्या बीस कही गई है। पुरीषज कृमि सात प्रकार के बताये जाते हैं, कफज कृमि छः होते हैं और रक्तज कृमि की संख्या सात बताई गई है।

कारण—कृमियों की उत्पत्ति के कारण बताते हुए ग्रन्थकारों ने लिखा है कि अजीर्ण में भोजन करने से, नित्यप्रति मीठे-खट्टे भोजन से, उड़द की चीजें, माँस, मछली, गुड़ के सेवन करने से, दूध, दही, शराब के प्रयोग करने से प्रायः कृमि उत्पन्न होते हैं।

लक्षण—कृमियों की उत्पत्ति पर कुछ साधारण लक्षण होते हैं। कुछ विशेष लक्षण होते हैं। साधारण लक्षणों का वर्णन निम्न प्रकार किया है—

"उदर कृमियों में मन्द ज्वर, शरीर का रंग बदलना, आमाशय और पक्वाशय में शूल, हृदय में व्यथा, ग्लानि, चक्कर आना, उबाक, वमन, पतले दस्त, प्रलाप, बेचैनी, अफरा, उदर पीड़ा, रोमांच, उदासी, अरुचि, क्षुधानाश, गुदा और नाक में खाज आना, दाँत कटकटाना, मुँह से दुर्गन्ध निकलना और शरीर शुष्क हो जाना आदि लक्षण होते हैं।"

पुरीषज कृमियों द्वारा होने वाले लक्षणों में गुदा में खाज होना प्रधान लक्षण है एवं अफरा होता है। कभी पतले दस्त आते हैं—कभी कब्ज

रहता है। अग्निमान्द्यता, कृशता, पाण्डुता हो जाती है। कभी-कभी ये कृमि आमाशय की ओर गति करते हैं तो मुख से विष्टावत गंध आने लगती है।

कफज कृमियों में ऊबाक होता है, मुँह में से जल गिरता है, अड़चन, अरुचि, मूर्च्छा, वमन, ज्वर, अफरा, छीकें आना, पीनस होना आदि लक्षण होते हैं।

रक्तज कृमियों द्वारा कुष्ठ रोग की उत्पत्ति होती है। रोमहर्ष, खुजली तोद, बाल और रोम झड जाना आदि लक्षण होते हैं।

इस तरह आयुर्वेद में कृमि रोगों की उत्पत्ति के कारण और उनके द्वारा उत्पन्न लक्षणों का वर्णन किया है। डाक्टरी में कृमियों का वर्णन करते हुए उनके मुख्य रूप से तीन भेद बताये हैं—

(१) पट्टी सदृश—चपटे (२) डोरी सदृश—गोल,

(३) पत्र सदृश क्वचित—गोल।

पट्टी सदृश चपटे कृमि कई जातियों के होते हैं उनमें से कुछ आँतों में रहते हैं। इनको उदरावेष्ठा कहते हैं और साधारण भाषा में 'कद्दूदाना' कहा जाता है। गोल कृमियों की अनेक जातियाँ बताई गई हैं। राउंड वर्म (Round worm), हुक वर्म (Hook worm), थ्रेड वर्म (Thread worm) आदि इसी जाति में आते हैं। फाइलेरिया का कृमि और नारू रोग का कृमि भी इसी वर्ग का है। पत्र सदृश कृमियों से रक्तमेह और शीतपित्त उत्पन्न होते हैं। इन कृमियों का स्वरूप एवं उनके द्वारा उत्पन्न विभिन्न रोगों का वर्णन शास्त्रों में किया है परन्तु वह हमारी पुस्तक की सीमा से बाहर का विषय है, अतः उसका वर्णन नहीं करेंगे।

चिकित्सा—कृमि रोग में आरम्भ में संशोधन चिकित्सा करनी चाहिए। कारण को दूर करना आवश्यक है। बाद में संशमन चिकित्सा करनी चाहिए। अतः रोगी को पहले स्नेहन, स्वेदन कराकर वमन कराना चाहिए। मधुर पदार्थों को खिलाने से उदरस्थ कृमि अपना स्थान छोड़ देते हैं—फिर कृमि-नाशक पदार्थ खिलाकर उन्हें विरेचन द्वारा निकाल देना चाहिए। एतदर्थ खुरासानी अजवायन चूर्ण गर्म पानी से दिया जाता है। वस्ति द्वारा शोधन कराया जाता है। कफज कृमियों के लिए शिरोविरेचन एवं नस्य लाभ करता है। रक्तज कृमि का उपचार कुष्ठ रोग की चिकित्सा की तरह करना चाहिए।

उदरस्थ कृमियों के लिए निम्न रसौषधि लाभकारी होती है—

१. कृमिमुद्गर रस (मुस्तादि क्वाथ से)। २. कृमिकुठार रस।
३. अग्नितुण्डी वटी, ४. बिडंगादि लोह, ५. त्रिफलादि घृत।

उदरावेष्ठा कृमि आँतों में चिपटे रहते है। यह विरेचन औषधि द्वारा भी नहीं निकलते, अतः इनकी चिकित्सा विशेष ध्यान से लम्बे समय तक करनी चाहिए। औषधियों से यह सारा नहीं निकलता, प्रायः टुकड़े-टुकड़े होकर निकलता है—जब तक इसका सिर न निकल जाए तब तक इलाज होते रहना चाहिए। डाक्टरी मत में एतदर्थं पहले दिन एरण्ड तेल पिलाते हैं, दूसरे और तीसरे दिन मेगनेशिया सल्फ देते हैं। यदि इनसे भी न निकले तो चौथे दिन सुबह एक्सट्रेक्ट मेलफर्न लिक्विड १-१ ग्राम ८ बजे और ९ बजे दें। ११ बजे मैगसल्फ को पानी में घोल कर पिलाएँ—इससे कृमि निकल जाता है।

गोल कृमि के उपचार में एरण्ड तेल देते हैं, दूसरे दिन सुबह कैलोमल और सेंटोनिन मिलाकर देते हैं। एक दो दिन बीच में छोड़कर पुनः इसी तरह औषधि प्रयोग करना चाहिए।

चूरन कृमि (थ्रेड वर्म) में जब तक गुदा में दर्द हो तब तक सोडा क्लोराइड के पानी से धोते रहना चाहिए। सप्ताह में एक बार साबुन एवं जल का एनिमा दें। इसमें विरेचन दें। डाक्टरी में सेन्टोनीन और कैलोमल मिलाकर देते हैं।

आयुर्वेद में बिडंगादि यवागु का सेवन करना बताया गया है और उसके द्वारा सभी प्रकार के कृमियों का नाश होना कहा गया है। उसका योग निम्न प्रकार बताया गया है—

"वायविडंग पीपरामूल, सहजने के बीज, कालीमिर्च का कल्क ३२ या ६४ गुनी वक्र में मिलाकर यवागु बनाएँ। फिर इच्छानुसार नमक और थोड़ा सज्जी खार मिलाकर पिलाएँ। इस यवागु में हल्दी, धनिया, जीरा, सौंफ, दालचीनी आदि डाल सकते हैं।" यवागु निर्माण की विधि इस गाइड के प्रथम खंड में लिखी है, वहीं देखनी चाहिए।

आयुर्वेद में वायविडंग और कमेला यह दो ऐसे द्रव्य कहे हैं जो उदरकृमियों पर अच्छा लाभ करते हैं, अतः इनका प्रयोग करना चाहिए।

(३३) प्लीहोदर व यकृत वृद्धि (स्पलेनोमेगैली व हैपेटाइटिस)—

सम्प्राप्ति व कारण—भोजन करने के पश्चात् सवारी पर चढ़ने से अथवा सवारी पर न चढ़ते हुए शारीरिक चेष्टाओं को अधिक मात्रा में करने से

जिसके शरीर में उत्तेजना उत्पन्न हो जाय, अत्यन्त मैथुन, अधिक भार ढोना, अधिक पैदल, वमन व अन्य भयंकर रोग से शरीर के अत्यन्त कृशित हो जाने पर उदर के वाम भाग से रहने वाली प्लीहा अपने स्थान से च्युत होकर बढ़ जाती है अथवा धातु के बढ़ जाने से बढ़ा हुआ रक्त प्लीहा को बढ़ा देता है ।

इस प्रकार बढ़ी हुई प्लीहा स्पर्श में कठिन, वेदनारहित और कच्छप के आकार की उठी हुई दिखाई देती है यदि प्रारम्भ से ही उचित चिकित्सा न की गई तो उपेक्षित यह रोग क्रम से कुक्षि, जठर, अग्नाशय को घेर लेता है और उदर में वृद्धि उत्पन्न कर देता है ।

लक्षण—दुर्बलता, भोजन में अरुचि, भोजन का ठीक न पचना, अंगदर्द मल वमन, मूर्च्छा, कास, श्वास, मन्द ज्वर, आनाह, अग्निमांद्यता, मुख की विरसता, सन्धियों में पीड़ा होती है । उदर का ऊपरी भाग रक्त वर्ण या विवर्ण हो जाता है तथा नील, हरित और हल्दी के समान पीत वर्ण की अस्पष्ट रेखाएं उभरी हुई दिखाई पड़ती हैं । ये लक्षण प्लीहोदर में पाये जात हैं ।

इसी प्रकार यदि उदर के दक्षिण भाग में वृद्धि हो ता उसे यकृतवृद्धि कहते हैं । प्लीहोदर के जो कारण, लक्षण और औषधि हैं वे ही यकृदुदर में भी हैं, इसीलिए प्लीहोदर रोग में ही यकृदुदर का भी समावेश कर लिया जाता है ।

पाश्चात्य मतानुसार (स्प्लेनोमैगली)—ल्यूकीमिया नामक रोग में प्लीहा वृद्धि काफी हो जाती है व साथ में रक्त के श्वेत कीटाणुओं की भी अत्यधिक वृद्धि हो जाती है । मलेरिया, कालाजार, टाइफाइड आदि रोगों में प्लीहा वृद्धि पाई जाती है । परन्तु इनमें श्वेत रक्त कीटाणुओं की कमी हो जाती है जो ल्यूकोपीनिया कहलाती है ।

हैपाटाइटिस या यकृदुदर

कारण—शारीरिक विष व वाह्यविष, (सोना, कुचला आदि), श्वसनक ज्वर, रक्तगत विष, फिरंग, अतिसार व मद्यपान के कारण यकृदुदर हो सकता है ।

यह बच्चों व जवान मनुष्यों में प्राय: पाई जाती है ।

लक्षण—अग्निमांद्यता , ज्वर (१०२°-१०३°F), पीलिया, यकृतवृद्धि, शारीरिक थकावट, चक्कर आना तथा वमन, अतिसार, उदर प्रदेश में ऐंठन, यकृत स्पर्श असह्यता, मूत्र पीला, भार में कमी, प्लीहोदर लक्षण पाये जाते हैं ।

चिकित्सा—प्लीहोदर में स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, निरूह और अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यदि इन प्रयोगों से लाभ होने की आशा न रहे तो वाम बाहु में शिरा का वेध करना, चाहिए (कर्पूर के मध्य में शिरा का वेध करना न्याय संगत है।)

योग—आयुर्वेद में प्लीहोदर की चिकित्सा में निम्न औषधि योगों का प्रयोग करने का विधान बताया है—

(१) बृहत् लोकनाथ रस। (२) यवानीखाण्डव। (३) रोहितकारिष्ट (४) कुमारी आसव। (५) नौसादर—४ रत्ती की मात्रा में पके पपीते के साथ। (६) कौड़ी भस्म—४ रत्ती मण्डूर भस्म—१ रत्ती मिलाकर निम्बु स्वरस से दें। घृत कुमारिका—१ तोला गूदा लेकर उसमें यवक्षार—१ माशा और भुनी हींग २ रत्ती मिलाकर दें। (८) लहसुन, पीपरामूल हरड़ और यवक्षार समान भाग का चूर्ण गोमूत्र के साथ दें।

यकृतशोथी की चिकित्सा में आयुर्वेद के ग्रन्थों में निम्न योग प्रयोग करने का विधान बताया गया है—

(१) मण्डूर भस्म, (२) ताम्र भस्म, (३) लोहासव, (४) कुमारी आसव, (५) अभयारिष्ट, (५) रोहितकारिष्ट।

यदि यकृत शोथ में मूल होता है तो हिंग्वादि वटी का प्रयोग करना चाहिए।

लोह भस्म १ रत्ती, नौसादर २ रत्ती।

ऐसी मात्राएँ प्रतिदिन पिप्पली के क्वाथ के अनुपात से दें।

यकृत एवं प्लीहा के रोग में प्रायः अग्निमान्द्य मिलता है अतः आवश्यक हो जाता है कि उस समय में हलका भोजन दिया जाए ताकि वह सरलता में पाचन को प्राप्त हो जाए।

चिकित्सा : पाश्चात्य मतानुसार—पीलिया ठीक हो जाने तक या तीन सप्ताह तक बिस्तर पर लगातार आराम करना चाहिए। यदि (१) यकृत की स्पर्शासह्यता अधिक हो। (२) श्वसनक ज्वर में रक्तस्राता हो तो आराम अधिक करना चाहिए।

भोजन में शक्कर व प्रोटीन की मात्रा अधिक होनी चाहिए। इसमें वसा बहुत ही कम देनी चाहिए।

रस के अतिरिक्त जीवनोय औषधियाँ, ग्लूकोज व न्यूमाईसीन लाभकर हैं। यदि यकृदुदर आमातिसार के पश्चात् हो तो.

(१) एमेटीन हाइड्रोक्लोराइड (Emotine- Hydrocloride) $\frac{1}{2}$—१ ग्रेन का दस दिन तक मांसगत इन्जैक्शन देना चाहिए।

(२) एरिथरोमाइसीन (Erythromycine) दस दिन तक दें।

(३) लिवर एक्ट्रैक्ट की सूची दी जा सकती है। प्लीहोदर में निम्न चिकित्सा की गई है—

(१) क्वीनीन बाइहाइड्रोक्लोर इन्जैक्शन मांसगत।

(२) सेकरोज सोल्यूशन इन्जैक्शन मांसगत।

(३) निम्न मिक्सचर—

सिनकोना फेब्रिफ्यूज	३ ग्रेन,	एसिड सल्फडिन	६ बूँद,
फरीसल्फ	१ ग्रेन,	मैगसल्फ	१$\frac{1}{2}$ ग्राम,
कार्बोलिक एसिड,	१ बूँद,	जल	१ औंस।

इसकी तीन मात्रा कर ले भोजन के पश्चात् प्रयोग कराएँ।

(३४) पाण्डु रोग कामला—पाण्डु रोग पाँच प्रकार का माना गया है—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और मृद्भक्षणजन्य।

व्यायाम, खटाई, नमक, मद्य मिट्टी, दिवास्वाप तथा तीक्ष्ण पदार्थों का अतीव सेवन करने वाले के दोष रक्त को दूषित करके त्वचा में पीलापन उत्पन्न करते हैं।

त्वचा फटना, थूकने की प्रवृत्ति, शरीर की शिथिला, मिट्टी खाने की प्रवृत्ति, अक्षिकुटों शोथ, मलमूत्र में पीलापन और अजीर्ण उसके उत्पन्न होने के पूर्व होते हैं।

वातज, पाण्डुरोग में त्वचा, मूत्र, नेत्र आदि में रूखी, काली या अरुण (लाल) रंग की आभा (झलक) तथा सुई चुभने के समान पीड़ा, कम्प, अनाह, भ्रम आदि लक्षण होते हैं।

पित्तज पाण्डुरोग का रोगी अत्यन्त पीताभ एवं दाह तृष्णा और ज्वर से युक्त रहता है उसके मूत्र मल और नेत्र पीले रहते हैं तथा मल फटा हुआ रहता है।

कफ़ज पाण्डु रोग का रोगी कफ थूकना, सूजन, तन्द्रा, आलस्य, (शरीर में अत्यन्त भारीपन) एवं शुक्लवर्ण (श्वेताभ) त्वचा, मूत्र. नेत्र और मुख से युक्त रहता है।

त्रिदोषज पाण्डुरोग का रोगी ज्वर, अरुचि, हृल्लास, वमन, प्यास और थकावट से युक्त रहता है। त्रिदोषज पाण्डुरोग का रोगी यदि क्षीण हो चुका

हो एवं इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो चुकी हो तो त्याज्य (चिकित्सा न करने योग्य) है।

जिसे मिट्टी खाने की आदत होती है उसका कोई एक दोष कुपित हो जाता है। कसैली मिट्टी वात को, नमकीन पित्त को और मीठी कफ को कुपित करती है, और (सभी प्रकार की मिट्टी रूक्षता के कारण) रस आदि धातुओं और खाये हुए पदार्थों को रूखा बना देती है, चिपकी रहकर स्रोतों को अवरुद्ध भी कर देती है तथा इन्द्रियों की शक्ति, तेज, वीर्य और ओज का नाश करके बल, वर्ण और अग्नि का नाश करने वाले पाण्डु रोगों को शीघ्र उत्पन्न करती हैं।

मिट्टी खाने से उत्पन्न पाण्डु रोग के रोगी के अक्षिकूट, गाल, भौंह, पैर, नाभि एवं लिंग सूजे हुए रहते हैं, कोष्ठ में कृमि हो जाते हैं और कफ तथा रक्त-मिश्रित मल का अवतार होता है।

चिरकालीन पाण्ड़ु रोग खर (खुरदरा) हो जाने पर साध्य नहीं होता, शोथ-युक्त रोगियों का पाण्डु रोग समय अधिक बीतने पर साध्य नहीं होता या जो रोगी सभी पदार्थों को पीला ही देखता हो, जो बंधा हुआ, थोड़ा, अंग सफेदी पुते हुए के समान हो, अथवा जो वमन व मूर्च्छा एवं तृषा से व्याकुल हो उसका भी पाण्डु रोग असाध्य होता है, रक्त का क्षय होने से जिसे श्वेतता की प्राप्ति हुई हो वह पाण्डु रोगी नहीं है।

जिसके दांत, नख और नेत्र पाण्डुवर्ण हो गये हों और जो समस्त पदार्थों को पीला ही देखता हो वह पाण्डु रोगी मर जाता है।

जिसके शरीर के अन्त के भागों (हाथ, पैर एवं सिर) में शोथ हो और मध्य भाग में पतलापन हो, इसी तरह जिसके अन्त के भाग मुर्झाये हुए और मध्य भाग शोथयुक्त हों जिसके गुदा, लिंग और अण्डकोष शोथयुक्त हों, जो अत्यन्त दुःखी हो, मृतप्राय हो, तथा अतिसार और ज्वर से पीड़ित पाण्डु रोग के रोगियों को यश चाहने वाला वैद्य त्याग दे।

जो पाण्डु रोगी अत्यधिक पित्त कारक आहार-विहार का सेवन करता है उसका पित्त रक्त और मांस को जलाकर (झुलसकार) अथवा अत्यन्त दूषित करके कामला रोग की उत्पत्ति करता है। उसके नेत्र, त्वचा, नख एवं मुख हल्दी के समान अत्यन्त पीले हो जाते हैं, मल और मुख लाल पीले रंग के हो जाते हैं, रोगी का वर्ण मेढक के समान हो जाता है, उसकी इन्द्रियों की शक्ति

मारी जाती है और दाह, अजीर्ण, दुर्बलता, अवसाद और अरुचि से पीड़ित होकर कृश होता है। यह कामला पित्ताधिक्य से होता है तथा कोष्ठाश्रय और शाखाश्रय भेद दो प्रकार का होता है।

समय अधिक बीतने पर एवं खर होने पर कुम्भ कामला कष्टसाध्य होता है।

जिसके मल-मूत्र का वर्ण कृष्णाभ पीत हो, जो अत्यन्त शोथयुक्त हो, जिसके नेत्र और मुख रक्ताधिक्य से लाली युक्त हों जो अत्यन्त बेचैन हो, दाह तृष्णा, अरुचि, अनाह, तन्द्रा और मूर्च्छा से पीड़त हो और जिसकी अग्नि नष्ट हो चुकी हो वह कामला रोगी शीघ्र मरता है।

वमन, अरुचि, हृल्लास, स्वरभेद, थकावट, श्वास, कास एवं अतिसार से पीड़ित कुम्भकामला का रोगी मर जाता है।

जब पाण्डुरोगी का वर्ण हरे या श्याम वर्ण की आभा लिए पीला हो, बल और उत्साह में कमी तन्द्रा, मन्दाग्नि, हलका ज्वर, स्त्री प्रसंग की इच्छा का अभाव, अंगड़ाई, दाह, प्यास, अरुचि भ्रम आदि लक्षण उपस्थित हों तब उसे वात-पित्त के प्रकोप से हलीमक हुआ है; ऐसा जानना चाहिए।

संताप, फटे हुए दस्त होना, शरीर के बाहरी और भीतरी अंगों में नीलापन और नेत्रों में हल्कापन—ये पानकी की रोग के लक्षण हैं।

पाश्चात्य मत

पाण्डु, कामला और हलीमक आदि (Jaundice, Icterus)—इस रोग में पित्त के रंग के संचय के अनुरूप त्वचा और श्लैष्मिक कला का वर्ण-गन्धक के समान हल्के पीले से लेकर गहरा नारंगी हरिताभ अथवा गहरा जैतूनी तक हो जाता है। रोग अधिक दिनों तक रहने पर नेत्रों के ऊपरी पलकों की त्वचा में किंचित उभरे हुए पीले दाग उत्पन्न होते हैं फिर शरीर के अन्य भागों में भी हो सकते हैं। हाथों की गदेलियों, कोहनियों, घुटनों आदि की त्वचा मे कडी और गोल उभरी हुई ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनका व्यास $\frac{1}{8}$ मे $\frac{1}{2}$ इंच तक होता है। त्वचा में खुजलाहट थोडी या बहुत अवश्य होती है। त्वचा से पहले नेत्रों की श्वेत कला में पीलापन दिखायी देता है। रोग का निदान सर्वप्रथम नेत्रों से ही होता है। कुछ लोगों के नेत्रों में चर्बी के जमाव के कारण पीलापन रहता है। उससे इसका विभेद करना चाहिए। चर्बी के जमाव का पीलापन किंचित उभरे हुए धब्बों के रूप में होता है जबकि पाण्डु-कामलादि का पीलापन सर्वत्र एक-सा फैला हुआ रहता है। पाण्डु कामलादि का पीलापन पित्त की मात्रा के

अनुसार हल्का या गहरा होता है और गहरा रंग होने पर सभी पदार्थ पीले दिखाई देने लगते हैं। मूत्र का रंग भी पित्त की मात्रा के अनुसार केसरिया, हल्दिया, हरिताभ, बादामी या कत्थई होता है, कुछ मामलों में लगभग काला हो सकता है। कांच नलिका में मूत्र को रखकर देखने से ऊपरी भाग में हरिताभ वर्ण लक्षित होता है और हिलाने से जो फेन बनता है वह स्पष्ट रूप से पीताभ या हरिताभ वर्ण का होता है। मूत्र में कपड़ा या स्याहीसोख भिगोने से पीला रंग चढ़ जाता है। रोग प्रारम्भ होते ही सर्वप्रथम मूत्र में पित्तरंजक पदार्थ उपस्थित होते हैं और उसके पश्चात् नेत्र, त्वचा आदि में, किन्तु रोगोपषम होते समय पहले मूत्र स्वच्छ होता है फिर नेत्र, त्वचा आदि क्रमशः अपने स्वाभाविक वर्ण को प्राप्त होते हैं। कुछ विशेष मामलों में मूत्र में पित्त नहीं पाया जाता है। इस प्रकार के रोग को अपित्तमेही कामला (Acholuric Jaundice) कहते हैं। पित्त नलिकाओं के अवरोध स उत्पन्न कामला में पित्त उपस्थित रहता है किन्तु अन्य प्रकारों में स्वाभाविक मात्रा में और कभी-कभी अधिक मात्रा में पाया जाता है। कुछ मामलों में पसीने और दूध (दूध पिलाने वाली स्त्रियों के दूध) का वर्ण भी पीला हो जाता है। फुफ्फुसावरण और हृदयावरण के द्रव सामान्यतः एवं मस्तिष्कावरण सुषुम्ना आदि के द्रव गम्भीर मामलों में रंजित पाए जाते हैं।

इस रोग में रक्तस्राव की प्रवृत्ति अधिक होती है जो कभी-कभी घातक सिद्ध हो सकती है। साधारणतया नाड़ी प्रवाहित रहती है किन्तु ज्वर अवसाद आदि की दशाओं में प्रभावित हो जाती है। कुछ मामलों में हृदय की गति मन्द हो जाती है। मन्द हृदयता (Bradycardia) गम्भीर प्रकार में एवं रोग अधिक काल तक बना रहने पर पित्तमयता (Cholaemia) होने से प्रलाप, तन्द्रा, आक्षेप, संन्यास आदि होकर मृत्यु हो जाती है। चिरकाल तक रोग बना रहने पर केशिकाबुंदों (Telangiectases) की उत्पत्ति शरीर के विभिन्न भागों में विशेषतया चेहरे, जीभ और होठों में होती है। कुछ मामलों में रात्र्यंधता शुष्काक्षिपाक (Xerophthalmia) भी पाए जाते हैं, रक्त आदि धातुओं का क्षय होता रहता है।

क्षोणवर्तुलि के टूटने से पित्त रक्ती (Bilirubin) स्वतन्त्र होती है जो अस्थिमज्जा, प्लीहा और यकृत के जालकान्तश्तरीय कोषों (Reticulo-endothelial cells) के द्वारा ग्रहण की जाकर यकृत के बहुभुजीय कोषों (Polygonal cells) में पहुँचकर पित्त में मिल जाती है। पित्तापित्ताशय में संचित होकर

पित्तनलिकाओं के द्वारा ग्रहणी में पहुँचता है वहाँ वह पाचन में सहायक होता है। इस स्वाभाविक क्रिया में गड़बड़ी होने से पित्तरक्ती पुनः रक्त में मिलकर पाण्डु कामलादि रोग उत्पन्न करती है। यकृत में पहुँचने पर पित्तरक्ती के गुणों में अन्तर आ जाता है, इसलिए यकृत में पहुँचने के पूर्व इसे अपक्व पित्तरक्ती (Prehepatic Bilirubin) या रक्तिम पित्तरक्ती (Haemo-Bilirubin) कहते हैं और यकृत से निकलने के बाद पक्व पित्तरक्ती (Prehepatic Bilirubin) या पित्तीय पित्तरक्ती (Cholebilirubin) कहते हैं। रक्तलसिका में पित्तरक्ती की उपस्थित का ज्ञान वान-डेन-वर्ग की प्रतिक्रिया (Van-den Bergh Reaction) से होता है। अपक्व पित्तरक्ती की उपस्थित में यह परीक्षा परोक्ष (Indirect) रूप से और पक्व पित्तरक्ती की उपस्थित में यह (Direct) रूप से सत्यात्मक (Positive) रहती है।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा में दोषों का विचार कर उपचार करना चाहिए। अतः वातज पाण्डु में स्निग्ध एवं बलवर्धक चिकित्सा लाभ करती है। पित्तज में स्निग्ध विरेचन और अनुलोमक योगों का प्रयोग करना चाहिए और शामक क्रियाएँ करनी चाहिए। कफज में ऊर्ध्वांग शोधन व आवश्यकतानुसार वमन कराना हितकारक होता है।

कामला रोग में तीक्ष्ण विरेचन दिया जाना चाहिए, फिर दीपन-पाचन औषधियों का प्रयोग कराना हितकारक रहता है।

स्निग्ध रेचन के लिए पञ्चगव्य घृत, आरग्वधादि घृत महातिक्त घृत का प्रयोग किया जाता है। त्रिफला घृत, त्रिवृता घृत, दन्ती घृत और रजनी घृत का प्रयोग करना चाहिए।

गुड़ के साथ हरीतकी का सेवन इन रोगों में लाभ करता है। फलत्रिकादि क्वाथ का प्रयोग करना चाहिए—यह अनुलोमक होता है—अग्निदीपक है और पित्त शोधक है।

इन रोगों में निम्न योगों को आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जाता है—

(१) नवायस लौह—१ माशा मधु या घृत से देते हैं। यह रक्तवर्धक बलदायक और मूत्र शोधक होता है।

(२) निशा लौह—१ से २ माशा की मात्रा में दिया जाता है। यह रक्त वर्धक, बलकारक, अग्निदीपक और अनुलोमक होता है।

(३) अष्टदशांग लौह—१ से २ माशा तक के साथ देनी चाहिए। यह दीपक-पाचक बलवर्धक एवं रक्तवर्धक होता है।

(४) पुनर्नवादि मण्डूर—४ रत्ती से १ माशे की मात्रा में दिया जाता है। रक्तवर्धक, मूत्रल, शोथनाशक, अनुलोमक, दीपक, पाचक, पाण्डुर एवं पित्तशोधक होता है।

(५) वज्रवटज मण्डूर—१ से दो माशा मधु या घृत से देते हैं। यह दीपक पाचक-मूत्रशोधक, बलकारक और रक्तवर्धक होता है।

(६) तारा मण्डूर—४ रत्ती से १ माशा की मात्रा में देते हैं।

भोजनोपरान्त निम्न आसव अरिष्टों में से जो उचित रहे उसका प्रयोग करना चाहिए—

(१) धात्र्यरिष्ट—२ तोला की मात्रा में समान जल मिला कर दें।

(२) पर्पटाद्यरिष्ट—२ तोला की मात्रा में समान जल मिलाकर दो बार दें।

(३) लोहासव—२ तोला की मात्रा में जल समान लेकर प्रयोग करें।

(४) कुमार्यासव—२ तोला की मात्रा में समान जल मिलाकर देते हैं।

ये सब अग्नि दीपक एवं मलशोधक तथा बलवर्धक होता है।

रोगी को जौ, मूंग, अरहर, परवल, कुष्माण्ड, कच्चा केला, चौलाई, पुनर्नवा, द्रोणपुष्पी का प्रयोग करना चाहिए। गोमूत्र, यवक्षार, हरिद्रा लाभ करती है।

मद्य, तीक्ष्ण पदार्थ, रक्तमोक्षण, मैथुन, स्वेदन आदि कर्म हानिकारक होते हैं।

(३५) **अम्ल पित्त**—शरीरस्थ पित्त का विदाही और अम्ल होना तथा उसके द्वारा अनेक लक्षणों का प्रकट होना 'अम्ल पित्त' कहलाता है यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वस्थावस्था में प्राकृत पित्त का रस कटु-तिक्त होता है और कुछ कारणों से वह विदग्ध होकर इस रोग को उत्पन्न करता है।

कारक एवं सम्प्राप्ति—अधिक तेज, खट्टे, रूक्ष पदार्थों के सेवन से मकई, कोदों, जौ, चना, मद्य, तक्र, मछली, दूध मिश्रित का सेवन करने से; तेल, गुड़ भोजन करने से, मात्रा से अधिक अथवा कम आहार खाने से प्रायः पित्त विदग्ध हो जाता है और रोग उत्पन्न करता है। होता यह है कि इन कारणों से आमाशय में आमायिक रस की उत्पत्ति अधिक होती है जो अत्यन्त अम्ल होता है। उसकी अधिकता से आहार आवश्यकता से अधिक पक जाता है

और पित्त का विदाह उत्पन्न करता है जो अम्लपित्त के नाम से कहा जाता है।

लक्षण—सामान्य रूप से अजीर्ण, मचली, कड़वी-खट्टी डकार, शरीर में भारीपन, सिर मे पीड़ा, मुख का स्वाद खराब रहना, छाती और गले में जलन अरुचि और अतिसार आदि लक्षण हुआ करते हैं।

अम्ल दो प्रकार का बताया गया है—

(१) अधोग अम्लपित्त, (२) ऊर्ध्व अम्लपित्त।

अधोग अम्लपित्त मे तिष्णा, मूर्च्छा, मोह, सिर में चक्कर आते हैं। बीच-बीच में अनेक रंग का हरा, काला, लाल बदबूदार गुदा मार्ग से निकलता रहता है। उबकाई आती है, शरीर में लाल रंग के चकत्ते निकल आते हैं, मन्दाग्नि, रोमाञ्च, पसीने की अधिकता और शरीर का पीलापन हुआ करता है।

ऊर्ध्व अम्लपित्त में वह पित्त वमन द्वारा निकलता है। हरा, पीला. नीला काला, गुलाबी, लाल, माँस धोवन के समान, नमकीन कड़ुआ, खट्टा पानी मुख से निकलता है। खट्टी डकारें आया करती हैं। कुक्षि में जलन होती है। हाथ, पाँव और शरीर जलता है। अरुचि ज्वर खुजली हुआ करती है।

अम्ल पित्त के लक्षणों को बहुत सावधानी से देखना चाहिए। कई बार वमन जाकर उर्ध्व अम्लपित्त को और अतिसार जाकर अधो अम्लपित्त को नहीं पहचाना जा सकता। अम्लपित्त एक पित्तज विकार है तो भी उसके साथ वायु का अथवा कफ का और कभी-कभी दोनों का अनुबन्धन रहा करता है। वायु का अनुबन्ध होने पर प्रलाप, मूर्च्छा, उदरशूलच कंपन, चक्कर आदि लक्षण साथ में होते हैं और कफानुबन्ध में गुरुता, अरुचि शीतांगता, खुजली तथा निद्रा अधिक हुआ करती है। यदि दोनों का अनुबन्धन हो तो यह सब लक्षण उत्पन्न हुआ करते हैं।

यह रोग नवीन हो तभी कुछ ठीक होने की सम्भावना रहती है। एक वर्ष पुराना हो जाने पर कष्ट साध्य हो जाता है। अधिक पुराना और अपथ्य सेवी का यह रोग याप्य होता है—जब तक चिकित्सा की जाए तब तक कुछ लाभ रहना, चिकित्सा बन्द कर देने पर रोग बढ़ जाना— याप्य कहलाता है।

इस रोग में उपद्रव रूप क्षत होते हैं जिनको आमाशयिक अथवा पक्वाशयिक व्रण (Pepticulcer) कहा जाता है।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा संशोधन से आरम्भ करनी चाहिए। उर्ध्व अम्लपित्त में वमन कराएँ, अधो अम्लपित्त में विरेचन कराना चाहिए।

निम्न औषधि योग इस रोग में लाभ करते हैं। उचित मात्रा एवं अनुपात में उनका सेवन करना चाहिए।

(१) एलादि चूर्ण (योगरत्नाकर)। (२) नारिकेल खण्ड (पाक)।
(३) कुष्माण्ड खण्ड। (४) लीला विलात रस।
(५) सूतशेखर रस।
(६) अविपत्तिकर चूर्ण—सर्वप्रसिद्ध औषधि।
(७) शतावरी घृत। (८) द्राक्षादिघृत।

एलोपैथिक चिकित्सा में निम्न योग देते हैं।

कैल्शियम कार्ब	१० ग्रेन।	बिस्मिथ कार्बन	१० ग्रेन।
मैगकार्ब	१० ग्रेन।	सोडा बाईकार्बन	१० ग्रेन।

भोजनोपरान्त जल से दें।

इस रोग में बेलाडोना का टिञ्चर भी दिया जाता है। पुराने चावल मूँग दलिया, सत्तू, दूध लाभ करता है।

तिल, सरसों, कांजी, मिर्च, खटाई, मद्य, तक्र, दही आदि हानिकारक होते हैं।

(३६) **रक्तपित्त**—ताप, व्यायाम, शोक, मार्गगमन, मैथुन और तीक्ष्ण क्षार लवण, अम्ल और कटु पदार्थों के अति सेवन के कुपित पित्त अपने गुणों से शीघ्र ही रक्त को कुपित कर देता है, इसलिए रक्त ऊपर, नीचे अथवा दोनों ही ओर प्रवृत्त होता है। वह कुपित रक्त ऊपर नाक, आँख, कान, मुँह से नीचे लिंग, योनि, गुद्रा से और समस्त रोमकूपों से निकलता है।

जब यह रोग (रक्तपित्त) होने वाला होता है तब अवसाद, शीतल पदार्थों के सेवन की आकांक्षा, कण्ठ में धुआँ सा निकलता प्रतीत होना, वमन और निःश्वास मे लोहे के समान गन्ध आदि लक्षण होते हैं।

कफज रक्तपित्त के लक्षण—कफयुक्त रक्तपित्त गाढ़ा, पीताभ, चिकना और लसदार होता है।

पित्तज रक्तपित्त के लक्षण—पित्तज रक्तपित्त गेरुआ, काला, गोमूत्र के समान, मोरपंख के समान, धुएँ के समान या अंजन के समान वर्ण का होता है।

द्वन्द्वज और सान्निपातिक रक्तपित्त—दो दोषों के सम्मिलित लक्षण से युक्त

व्याधि को द्वन्द्वज, और तीनों दोषों के सम्मिलित लक्षणों से युक्त व्याधि को सान्निपातिक मानते हैं।

कफ के संसर्ग से रक्तपित्त ऊपर के मार्गों से, वात के संसर्ग के नीचे के मार्गों से और कफ-वात के संसर्ग से दोनों मार्गों से निकलता है।

उर्ध्वंगामी रक्तपित्त साध्य, अधोगामी याप्य और उभयमार्गी असाध्य होता है।

बलवान मनुष्य का ही मार्ग से निकलने वाला, अल्पवेग, नया और उपद्रवरहित रक्तपित्त अनुकूल काल में उत्पन्न होने पर साध्य होता है।

एक दोषज रक्तपित्त साध्य, द्वन्द्वज याप्य और त्रिदोषज असाध्य होता है। जिसका अग्निमन्द है, जिसका शरीर व्याधियों के कारण क्षीण हो चुका हो, जो वृद्ध हो अथवा जो भोजन करता हो; ऐसे रोगी का अतिवेग युक्त रक्तपित्त भी असाध्य है।

दुर्बलता, श्वास, खांसी, ज्वर, वमन, मद, पाण्डुता, दाह, मूर्च्छा, भोजन के बाद अत्यन्त कष्टदायक विदाह (हृदय-प्रदेश में दाह, अम्लोद्गार आदि), घबराहट, हृदय प्रदेश में अनेक प्रकार की पीड़ा, प्यास, अतिसार, सिरदर्द या सिर गर्म रहना, दुर्गन्धित थूक निकलना और विकृत रक्त निकलना ये रक्तपित्त के उपद्रव हैं।

मांस के धोवन के समान, सड़े मांस के समान, गँदले जल के समान, चर्बी या पूय मिश्रित रक्त के समान, यकृत या पके जामुन के सामान काला या नीला, मुर्दे जैसी दुर्गन्ध वाला एवं इन्द्रधनुष के समान विविध रंगों वाला रक्त पित्त जहाँ हो और कहे हुए अन्य विकार भी हों वह रोगी त्याज्य (असाध्य) है।

(जिस रक्तपित्त से पीड़ित मनुष्य सभी पदार्थों और आकाश को भी लाल ही देखता है वह भी असाध्य है—इसमें संशय नहीं।

जिसे बार-बार रक्त-वमन होता है, जिसके नेत्र लाल हों, जिसे रक्त की डकार आती हो तथा जिसे सभी पदार्थ लाल दिखाई देते हों वह रक्तपित्त का रोगी मर जाता है।

चिकित्सा—रोगी अवस्था को विचार कर चिकित्सा आरम्भ की जाती है। यदि रोगी बलवान हो, मांस आदि क्षीण न हुआ हो तो उसे कोई ऐसा उपचार न दें जिससे रक्तस्तम्भन सो—यह दूषित रक्त रुक कर शरीर के लिए हानिकारक सिद्ध होता है।

ऊर्ध्वगत रक्तपित्त में बलवान रोगी को विरेचन करना चाहिए, एतदर्थ, निशोथ का प्रयोग कराया जा सकता है। रोगी को लंघन भी देना चाहिए। अधोग रक्तपित्त में बलवान रोगी को वमन कराना हितकारक होता है।

जो रोगी क्षीणकाय हो, दुर्बल हो उसे विरेचन आदि संशोधन चिकित्सा हानि करेगी। उसे सदैव संशमन चिकित्सा देनी चाहिए जिससे रक्त का स्राव बन्द हो जाए। एतदर्थ निम्नलिखित योगों में से किसी का भी प्रयोग कराया जा सकता है—

१. वामा कूष्माण्ड खण्ड। २. चन्दनादि चूर्ण।
३. सुधानिधि रस। ४. एलाद्य वटी।
५. दूर्वाद्य घृत।

विशेष अवस्थाओं में विशेष चिकित्सा करनी चाहिए। एतदर्थ शास्त्रों में अनेक विधियाँ बताई गई हैं। नाक से रक्त का स्राव रोकने के लिए अनार के फलों के स्वरस, दूर्वा के स्वरस, प्याज के रस से, आम की गुठली के रस से नस्य कराना चाहिए।

मूत्र मार्ग से रक्त का स्राव हो तो गोखर और शतावरी के द्वारा सिद्ध किया दुग्ध देना चाहिए।

गुदामार्ग से बहने खून को रोकने के लिए मोच-रस के द्वारा सिद्ध किया हुआ दूध देना चाहिए।

छाती से बहते हुए रक्त को रोकने के लिए लाक्षा के बारीक चूर्ण को शहद से देना हितकारक है।

हल्का भोजन, धारा गृह, भूमिगृह एवं सुन्दर तथा शीतल उपवन में ठहरना हितकारक है।

(३७) **वातरक्त**—नमकीन, खट्टे, चरपरे, क्षारयुक्त (पापड़ आदि), स्निग्ध गर्म एवं भलीभाँति न पकाया हुआ भोजन, सड़े, गले एवं सूखे जलज (मत्स्य आदि) एवं अनूप जीवों का माँस, पिसी हुई तिली (अथवा तिली की खली), मूली (अथवा मूल-शाक) जैसे आलू, अरबी, सूरन, शकरकन्द, शलगम आदि, कुलथी, उड़द, सेम का शाक आदि (आदि से अन्य द्विदल धान्यों की ओर संकेत है), मांस, गन्ना (तथा गन्ने से बना हुआ गुड़ आदि पदार्थ), दही, अरनाल, सौवीर, शुक्त (सिरका), मठा सुरा एवं आसव, विरुद्ध भोजन, अजीर्ण की दशा में भोजन, क्रोध, दिन में सोना एवं रात्रि में जागना। इन कारणों से

सुकुमार, मिथ्या आहार-विहार करने वाले, मोटे और आराम से रहने वाले लोगों का वातरक्त कुपित होता है।

हाथी, घोड़े एवं ऊँट की सवारी करने और विदाही अन्न का सेवन करने से अन्न का विदाह समस्त रक्त को शीघ्र ही विदग्ध (कुपित) कर देता है और वह दुष्ट रक्त नीचे की ओर चलकर दोनों पैरों में संचित होता है तथा दूषित वायु से मिल जाता है। वायु की प्रबलता के कारण यह रोग वातरक्त कहलाता है।

स्वेद अत्यधिक आना अथवा बिलकुल न आना, श्यामता, स्पर्शज्ञान का अभाव, क्षत हो जाने पर अधिक पीड़ा होना, सन्धियों में शिथिलता, आलस्य, अवसाद, पीड़िकाएँ निकलना, घुटने, पिण्डली, जाँघ, कमर, कन्धे, हाथ, पैर आदि अंगों सन्धियों में, चुभन, फड़कन, फटन, भारीपन, सुप्ति (संज्ञाहीनता) और खुजलाहट, सन्धियों में बार-बार पीड़ा होना और शान्त होना, विवर्णता और मण्डलों की उत्पत्ति—ये वातरक्त के पूर्व रूप हैं।

वात की अधिकता होने पर शूल, फड़कन एवं टूटने के समान पीड़ा अधिक होती है। शोथ में रूक्षता, कृष्णता एवं श्यामता रहती तथा बढ़ने-घटने की प्रवृत्ति रहती है। अंगुलियों की सन्धियों की धमनियों का सिकुड़ जाना, अंग का निष्क्रिय हो जाना तथा अत्यन्त पीड़ा होती है। ठंडक अच्छी नहीं लगती और उससे रोग की वृद्धि भी होती है। स्तम्भ, कम्प तथा प्रसुप्ति (स्थानिक संज्ञाहीनता) भी पाए जाते हैं।

रक्त की प्रबलता होने पर शोथ, अधिक पीड़ा और तोद से युक्त एवं ताम्र वर्ण होता है और उसमें चुनचुनाहट होती है, स्निग्ध अथवा रूक्ष उपचारों से शान्त नहीं होता तथा खुजलाहट और क्लेद (चिपकीले स्राव से) युक्त रहता है।

पित्त की प्रबलता होने पर दाह, सम्मोह, स्वेद, मूर्च्छा, मद और तृष्णा, तथा शोथ से स्पर्श सहन न होना, पीड़ा, लाली, अत्यन्त उष्णता और पाक होते हैं।

कफ की प्रबलता होने पर गीले वस्त्र से पोंछे हुए के समान प्रतीत होना, भारीपन, सुप्ति (स्पर्शज्ञान का अभाव) स्निग्धता, शीतलता, खुजलाहट एवं मन्द पीड़ा रहती है।

दो दोषों की प्रबलता में दोनों के लक्षण और सभी की प्रबलता में सब लक्षण मिलते हैं।

पैरों के मूल में अथवा कभी-कभी हाथों में स्थित होकर फिर कुपित होकर चूहे के विष के शरीर में फैलता है।

जो घुटने तक फैला हुआ हो, जो फटकर स्राव करने लगा हो और जो प्राणक्षय (क्षुद्र श्वास), मांसक्षय आदि उपद्रवों से युक्त हो वह वातरक्त असाध्य है। एक वर्ष पुराना वातरक्त याप्य है।

अनिद्रा, अरुचि, श्वास रोग, मांसकोथ (Gangrne), सिर में जकड़न, मूर्च्छा, मद, पीड़ा, (सर्वाङ्ग में) तृष्णा, ज्वर, मोह, कम्प, हिक्का, पंगुत्व (लंगड़ापन), विसर्प, पाक, तोद (चुभन), भ्रम, क्लम (अनायास थकावट) अंगुलियों में टेढ़ापन, फोडों की उत्पत्ति, दाह, गर्मस्थानों में जकड़ाहटयुक्त पीड़ा तथा अर्बुद, इन उपद्रवों से युक्त अथवा केवल मूर्च्छा से युक्त वातरक्तरोग असाध्य है।

थोडे उपद्रवों से युक्त वातरक्त याप्य है, उपद्रव रहित साध्य है, एक दोषज साध्य है, तथा द्विदोषज याप्य है त्रिदोषज असाध्य है और उपद्रवयुक्त असाध्य।

चिकित्सा—चिकित्सा में आरम्भ में स्नेहयुक्त अथवा रूक्ष मृदु विरेचकों से विरेचन करना चाहिए। इसमें बार-बार वस्ति कराना भी हितकारक रहता है। सेक, अभ्यंग, लेप, अविदाही अन्न वातरक्त में लाभ करते हैं।

विशेष चिकित्सा बताते हुए चरक संहिता में लिखा है कि—

१. बाह्य वातरक्त को आलेपन, अभ्यंग, परिषेक तथा उपनाहों के द्वारा ठीक कराना चाहिए।

२. गम्भीर वातरक्त की चिकित्सा विरेचन, आस्थापन, वस्ति तथा स्नेहपान द्वारा होनी चाहिए।

३. वातप्रधान वातरक्त में घृत-तैल वसा-मज्जा का पान करना तथा अभ्यंग करना वस्तियों में प्रयोग करना हितकर होता है। सुखोष्ण उपनाहों का प्रयोग करना चाहिए।

४. रक्तपित्त की प्रधानता वाले वातरक्त में विरेचन; घृत पान, दुग्ध पान परिषेक, वस्ति प्रयोग एवं दाहशामक शीत उपचार हितकारक होता है।

५. कफप्रधान वातरक्त में हल्की वमन, अल्प स्नेहन, स्वेदन, लंघन एवं सुखोष्ण लेप हितकारक होता है।

वातरक्त की चिकित्सा के लिए वस्ति के समान कोई उपचार नहीं बताया।

अतः बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। चरकसंहिता में बस्ति के लिए प्रयोग होने वाले निम्न तेलों का वर्णन किया है।

१. मधुमयष्टयादि तेल। २. सुकुमार तेल। ३. अमृताद्य तेल।
४. महापद्म तेल। ५. यष्टी मधुक तेल। ६. बला तेल।
७. पिण्ड तेल।

इनका विस्तृत विवरण चरक संहिता के चिकित्सास्थान अध्याय २९ में देखना चाहिए।

स्नेहनार्थ घृत योग जो वातरक्त में लाभ करते हैं, निम्न हैं—

१. परुषक घृत। २. जीवनीय घृत।

गुग्गुल के विविध योग भी अतदर्थ प्रयोग किए जाते हैं। कुछ प्रसिद्ध योग निम्न हैं।

१. कैशोर गुग्गुल। २. अमृताद्य गुग्गुल। ३. सिंहनाद गुग्गुल।
४. पुनर्नवा गुग्गुल। ५. चन्द्र प्रभावटी। ६. आरोग्य वर्धनी।

दिन में सोना, अत्यधिक गर्मी, व्यायाम, मैथुन, गरम तथा कड़वे, गुरू, अभिष्यन्दी और लवण तथा रस वाले पदार्थों को त्याग देना चाहिए। ये सब हानि करते हैं।

पुराने गेहूँ, जौ, शाली, साठी चावल, पक्षियों का मांस रस हितकर होता है, गाय-भैंस का दूध हितकारक होता है।

(३८) **वात व्याधि**—रूखे, शीतल, थोड़े एवं लघु भोजन से, अति मैथुन, अति जागरण, विषम-उपचार, दोष-निर्हरण तथा मोक्षण से, लांघना, तैरना (अथवा नहाना), मार्ग गमन, व्यायाम आदि चेष्टाओं की अधिकता से, चिन्ता, शोक रोग एवं अधिक कर्षण चिकित्सा के कारण धातुओं का क्षय होने से, वेग धारण, आम, अभिघात, एवं अनशन से, मर्म स्थानों पर बन्धन बांधने (या अभिघात लगने) से और हाथी, ऊँट, घोड़ा एवं शीघ्रगामी यान पर से गिर पड़ने से (अथवा उन पर बैठने से उच्छ्वास रुकने के कारण) वायु अधिक बलवान होकर देह के खाली स्रोतों को पूरकर (भरकर) अनेक प्रकार की एकांगिक (स्थानिक) और सर्वांगिक (सार्वदैहिक) व्याधियाँ उत्पन्न करता है।

वातव्याधियों के लक्षण अव्यक्त (भलीभाँति स्पष्ट नहीं) होने पर पूर्व रूप कहलाते हैं और उनमें लघुता उत्पन्न होना रोग शान्त का बोधक है।

कुपित वात के कार्य—पर्वों (अथवा सन्धियों) में संकोच (खिचाव) और

स्तम्भ (अकड़न), अस्थियों और पर्वों का टूटना (अथवा टूटने के समान पीड़ा), रोम खड़े होना, प्रलाप, हाथ, पैर, पीठ, सिर का जकड़ जाना, खंजता (लंगड़ा-कर चलना), पंगुता (चलने में असमर्थता, कुबड़ापन), अंगों में शोथ, अनिद्रा, गर्भ शुक्र एवं रज का नाश, अंग फड़कना, अंगों में सुप्तता (स्पर्श-ज्ञान का अभाव, सुनबहरी (Anaesthesia), सिर, नासिका, नेत्र, जनु एवं ग्रीवा का टेढ़ापन (अथवा फटना या क्रियाहीन होना), भेद (फटने के समान पीड़ा), तोद (सुई गोंधने के समान पीड़ा), अर्ति (सामान्य पीड़ा, दुखना) आक्षेप और शीघ्र ही थकावट आना (अथवा अङ्गों में बार-बार गति होना), इस प्रकार के लक्षण कुपित वायु उत्पन्न करते हैं तथा रोगोत्पादक कारण एवं स्थान के वैशिष्ट्य के अनुसार रोगविशेष की उत्पत्ति होती है।

आक्षेपक—जब कुपित वायु सब धमनियों (वात-नाड़ियों) में प्रविष्ट होती है तब बार-बार चलकर शरीर को जल्दी-जल्दी एवं बार-बार फेंकने के समान क्रिया करता है (अथवा आक्षेप उत्पन्न करता है)। बार-बार आक्षेप होने के कारण इसे आक्षेपक कहते हैं।

अपतन्त्रक—अनेक प्रकोकप कारणों से कुपित वायु अपने स्थान को छोड़-कर हृदय को पीड़ित करता हुआ ऊपर की ओर चला जाता है और सिर एवं शंख प्रदेश में जाकर उन्हें पीड़ित करता हुआ शरीर को धनुष के समान झुका देता है, अंगों में आक्षेप उत्पन्न करता है और मूर्च्छा उत्पन्न कर देता है। तब वह संज्ञाहीन रोगी कष्ट के साथ श्वास छोड़ता है, उसके नेत्र और पलक स्तब्ध हो जाते हैं और वह कबूतर के समान घुर-घुर करता है। यह रोग अपतन्त्रक है। दृष्टि को स्तब्ध करके और संज्ञा नाश करके कण्ठ से घुर-घुर करती हुई वायु जब हृदय छोड़ देती है तब मनुष्य स्वास्थ्य लाभ करता है और पुनः वायु प्रकोप होने पर मूर्च्छित हो जाता है। इस दारुण व्याधि को कुछ लोग अपतानक कहते हैं।

दण्डापतानक—यदि उन्हीं स्थानों (हृदय, सिर एवं शंख प्रदेश) में कफ युक्त वायु अधिक ठहरती हो तो वह सारे शरीर को डण्डे के समान सीधा अकड़ा देती है—यही दण्डापतापक है।

धनुःस्तम्भ—जो शरीर को धनुष के समान झुका दे वह धनुःस्तम्भ नामक रोग है।

बाह्यायाम—इसी प्रकार कुपित वायु बाहरी (पीठ आदि के) स्नायुओं में

स्थिति होकर वक्ष, कमर एवं जाँघों को तोड़ने वाला बाह्यायाम उत्पन्न करता है। बुद्धिमानों ने इसे असाध्य कहा है।

आक्षेपक में दोषानुबन्ध— वायु अकेले ही अथवा कफ या पित्त को साथ लेकर आक्षेपक रोग उत्पन्न करती है और चौथा अभिघातज आक्षेपक होता है।

पक्षवध और सर्वांगवध—वायु शरीर के आधे भाग को ग्रहण कर शिराओं और स्नायुओं को सुखाकर संधि बंधनों को ढीला करती हुई किसी एक पक्ष का वध करती है। इससे उस रोगी का पूरा, आधा शरीर क्रियाहीन हो जाता है। इस एकाङ्ग रोग को पक्षवध कहते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण शरीर में वात प्रकोप होने से सर्वाङ्ग रोग (सर्वाङ्गवध) होता है।

पक्षवध में दोषानुबन्ध—वायु के साथ पित्त का अनुवन्ध होने पर दाह सन्ताप और मूर्च्छा तथा कफ का अनुवन्ध होने पर शीतलता, शोथ और भारीपन होते हैं।

पक्षवध की साध्यासाध्यता—शुद्ध वातज पक्षवध को अत्यन्त कृच्छ्र-साध्य जानना चाहिए, अन्य दोष (कफ या पित्त) से युक्त होने पर साध्य है। क्षय (धातु क्षयज) पक्षवध असाध्य है।

(गर्भिणी, प्रसूता, बालक, वृद्ध एवं रक्तस्राव से क्षीण व्यक्तियों का पक्षवध तथा वेदना रहित पक्षवध प्रत्याख्येय हैं।)

अर्दित रोग—उच्च स्वर में अत्यधिक बोलने, कठोर, पदार्थ अधिक खाने, अधिक हँसने, अधिक जंभाई लेने, भारवहन करने तथा विषम (ऊँचे-नीचे) स्थान में सोने वाले का वायु सिर, नाक, ओठ, चिबुक, (निचले ओठ के नीचे स्थिति गड्ढा), ललाट और नेत्र की संधियों में स्थित होकर चेहरे को पीड़ित करके अर्दित रोग उत्पन्न करता है। इससे आधा चेहरा टेढ़ा हो जाता है, गर्दन भी मुड़ जाती है, नेत्र, ग्रीवा, चिबुक, दाँत आदि विकृत हो जाते हैं तथा उस पार्श्व में पीड़ा होती है (तथा रोमहर्ष, कँपकपी, नेत्र मलयुक्त रहना, वायु का ऊपर की ओर चढ़ना, त्वचा में सुप्तता और तोद, मन्या और हनु में जकड़न— जिसके पूर्वरूप हैं) उस व्याधि को वैद्य लोग अर्दित कहते हैं।

अर्दित के असाध्य लक्षण—क्षीण, पलक न मार सके, बोल न सके अथवा अस्पष्ट बोले—ऐसे रोगियों का, गंभीर प्रकार का, तीन वर्ष पुराना और कम्प रोग से पीड़ित रोगियों का अर्दित असाध्य है।

हनुग्रह—जीभ खरोंचने, शुष्क पदार्थ खाने और अभिघात से हनूमूल में स्थित वायु कुपित होकर जनु (जबड़े) को अपने स्थान से हटाकर मुख को फैला देती है अथवा बन्द कर देती है। यह हनुग्रह (हनुस्तंभ) है। इससे चबाना और बोलना कठिन हो जाता है।

मन्यास्तम्भ—दिन में सोने, ऊंचे-नीचे (असम) स्थान में सोने, घूमकर देखने एवं ऊपर से वायु कफ से आवृत्त होकर मन्यास्तम्भ कर देता है।

जिह्वास्तम्भ—वाग्वाहिनी नाड़ी (Hypoglossal Nerve) में स्थित वायु जीभ को स्तम्भित कर देती है—यह जिह्वास्तम्भ है। इससे अन्न-पान को ग्रहण करने और बोलने में असमर्थता हो जाती है।

शिरोग्रह—वायु रक्त में आश्रित होकर सिर को धारण करने वाली (गले की) शिराओं को रूक्ष वेदनायुक्त और कृष्णवर्ण कर देती है—यह शिरोग्रह रोग असाध्य है।

गृध्रसी रोग—वात से स्फिक-देश (चूतड़ Hip) में आरम्भ होने वाली गृध्रसी कण्डरा (वात नाड़ी) बार-बार स्पन्दन करती है तथा क्रम से कमर के पिछले भाग, जांघ, घुटने, पिण्डली और पैर की स्तम्भ, पीड़ा एवं तोद से आक्रान्त कर देती है। वात कफ से यह विकार होने पर तन्द्रा, भारीपन और अरोचक भी होते हैं।

वातज प्रकार में तोंद, शरीर झुक जाना तथा घुटने, कमर और जांघ की सन्धियों में फड़कन और अत्यधिक स्तब्धता रहती है। वात कफज प्रकार अग्निमांद्य (अजीर्ण) के कारण उत्पन्न होता है; इससे तन्द्रा, लालस्राव और अरोचक होते हैं।

विश्वाची रोग—वायु के पृष्ठ भाग से होकर अंगुलियों के तल भाग तक जाने वाली कण्डरा (नाड़ी को दूषित करके बाहुओं की क्रिया को क्षीण करने वाली व्याधि को विश्वाची कहते हैं।)

क्रोष्टुशीर्ष—घुटने में श्रृगाल (गीदड़) के सिर के समान, स्थूल एवं महान् पीड़ा करने वाला वात-रक्तज शोथ क्रोष्टुशीर्ष (या क्रोष्टुक शीर्ष) कहलाता है।

खञ्जता और पंगुत्व—जब वायु कमर में स्थित होकर जांघ (उरू) की कण्डरा (वातनाडी) में आपेक्ष उत्पन्न करती है तब मनुष्य खञ्ज हो जाता है और दोनों जांघों मे वध होने पर पंगु हो जाता है।

कलायखञ्ज—जो चलते समय कांपता हो, लँगड़ाता हुआ-सा चलता हो और जिससे सन्धि बन्धन ढीले हो चुके हो उसे कलायखञ्ज समझना चाहिए।

वातकण्टक—ऊँची-नीची भूमि में पैर पड़ने से अथवा श्रम से वायु के गुल्फ आश्रित हो जाने के कारण पैर में पीड़ा होती है उसे वातकण्टक कहते हैं।

पाददाह—पित्त और रक्तसहित वायु विशेषतः चलते समय पैरों में दाह उत्पन्न करता है—इसे पाददाह कहते हैं।

पादहर्ष—जिस रोग में पैरों में हर्ष (झनाझनाहट एवं फूलने के समान अनुभव) हो और प्रसुप्ति भी हो उसे कफ-वात के प्रकोप से उत्पन्न पादहर्ष रोग समझना चाहिए।

अवबाहुक—वही स्थित वायु शिराओं को भी आकुंचित करके अवबाहुक रोग उत्पन्न करती है।

तूनी—जो पीड़ा मलाशय और मूत्राशय से उत्पन्न होकर गुदा और मूत्रेन्द्रिय को भेद न करती हुई-सी नीचे की ओर जाती है वह तूनी नामक रोग है।

प्रतितूनी—किन्तु जो पीड़ा गुदा और मूत्रेन्द्रिय से उत्पन्न होकर प्रतिलोम (विपरीत-गामी) होकर दौड़ती हुई आवेगों के साथ पक्वाशय को जाती है वह प्रतितूनी कहलाती है।

अष्ठीला और प्रत्यष्ठीला—नाभि के नीचे के भाग में उत्पन्न चलायमान अथवा अचल अष्ठीला (सिल का बट्टा या लोड़ा) के समान कठोर ग्रन्थि जो ऊपर की ओर चौड़ी एवं उभरी हुई हो तथा वायु मल-मूत्र के मार्गों का अवरोध करती हो उसे वाताष्ठीला (अथवा अष्ठीला) जानना चाहिए।

यही वायु मलमूत्र का अवरोध करने वाली ग्रन्थि पीड़ा-युक्त और उदर में तिरछी उभरी हुई होने पर प्रत्यष्ठीला कहलाती है।

वेपथु-वात अथवा कम्पवात—सारे शरीर का काँपना अथवा सिर का काँपना वेपथु नामक वातरोग है।

खल्ली—पैर, पिण्डली, जाँघ और कलाई में ऐंठन उत्पत्ति करने वाला रोग खल्ली कहलाता है।

चिकित्सा—वात व्याधि में उपचार देते समय आवरणरहित वात की चिकित्सा में घृत-तेल-वसा मज्जा का स्नेहपान करना चाहिए जो स्नेहपान से क्लान्त हो जाए उसको दूध अथवा ग्राम्य, जलज, आनूप देशज जीवों के मांस रसों से स्नेहयुक्त यूषों से खिचड़ी एवं खीर आदि खिलाने से, खट्टे नमकीन अनुवासनों नस्यों से तर्पण करते हुए स्नेहन करना चाहिए। इन सब क्रियाओं से जो वातरोगी पूर्ण रूप से स्निग्ध हो गया हो, उसको स्वेदन देना चाहिए।

भली प्रकार अभ्यंग कराने के पश्चात् स्नेह युक्त नाड़ी, प्रस्तर, संकर तथा अन्य विविध स्वेदों से उसकी यथायोग्य चिकित्सा करनी चाहिए।

कहा गया है कि शीघ्र प्रयुक्त स्नेह शुष्क धातुओं को पुष्ट करता है, बल अग्नि, पुष्टि तथा प्राणों का अत्यन्त वर्धन करता है। बार-बार स्नेहन एवं स्वेदन करने से मृदु हुए कोष्ठों को वात विकार नहीं ठहरता।

यदि स्नेह एवं स्वेदन से रोग का निवारण हो सके तो इनके पश्चात् मृदु तथा स्नेहयुक्त औषधियों से उनका शोधन करना चाहिए। एतदर्थं तिल्वक से सिद्ध घृत अथवा दूध से दोषनाशक कल्याणकारक एरण्ड तेल का पान कराना चाहिए।

जो दुर्बल विरेचनीय नहीं है, उनको दीपन पाचन, आहार द्रव्यों का तथा निरूहों का प्रयोग कराना चाहिए।

यह वातव्याधि का सामान्य उपचार बताया है। विशेष उपचार की ओर संकेत करते हुए कहा है कि—

अर्दित रोग में नस्य, सिर में तेल का प्रयोग, तर्पण नाड़ी स्वेदन, उपनाह, आनूपदेशीय जीवों का मांस हितकारक होता है।

पक्षघात में स्वेदन तथा स्नेह युक्त कराना चाहिए।

गृध्रसी की चिकित्सा में कण्डरा और गुल्फ दोनों के बीच में शिरावेध, वस्ति प्रयोग तथा अग्नि कर्म हितकारक होता है।

खल्ली में तेल और घृतयुक्त प्रशस्त खीर तथा खिचड़ियों से उपनाह कराना चाहिए।

खुले मुख वाले हनुग्रह में हनु को खिन्न करके दोनों अँगूठों को मुख में डाल डाढ़ों पर जमाकर दबा दें तथा दोनों तर्जनियों से उठाकर चिबुक का उन्नयन करना हितकर है जो च्युत हो उसे अपने स्थान पर पहुँचाएँ और जो स्तब्ध हो उसे खिन्न करके नवाएँ।

वातरोगियों के लिए चरक संहिता में लिखा है कि वातघ्न पत्रों का क्वाथ दूध, तेल से भरी द्रोणियाँ अवगाहन के लिए प्रशस्त हैं। भली प्रकार अभ्यंग किए हुए रोगियों के लिए परिषेक देना उपयुक्त बताया गया है।

चरक संहिता में स्नेहादि के लिए निम्न स्नेहों का वर्णन किया है—

१. दशमूलादि घृत, २. चित्रकादि घृत, ३. मज्जा स्नेह, ४. मूलक तेल, ५. बला तेल, ६. सहाचर तेल, ७. अमृतादि तेल, रास्नादि तेल।

इन स्नेहों का विस्तार से वर्णन चिकित्सा स्थान अध्याय २८ में किया गया है—वहीं देखना चाहिए।

निम्नलिखित योगों का प्रयोग भी वातव्याधि के लिए किया जाता है—

१. रास्ना गुग्गुल, २. योगराज गुग्गुल, ३. त्रियोदशांग गुग्गुल, ४. अभया गुग्गुल, ५. सिंहनाद गुग्गुल ६. वृहतवात चिन्तामणि रस, ७. महावत विध्वंसन रस, ८. महानारायण तेल, ९. माष तेल, १०. सैंन्यावादि तेल।

इस अवस्था में रास्ना सप्तक क्वाथ बहुत अच्छा लाभ करता है।

शास्त्रों में बताया गया है कि घी, तेल, वसा, मज्जा का पानअभ्यंग एवं बस्ति प्रयोग, स्वेदन, स्निग्ध स्वेद, निवात स्थान, प्रावरण मांस रस, दूध एवं मधुर अम्ल लवण भोज्य पदार्थों के तथा अन्य जो भी वृहण मिलें उनका प्रयोग वातव्याधि के लिए करना चाहिए।

(३८) उरूस्तम्भ—भोजन पचने पर अथवा अजीर्ण की दशा में शीतल, उष्ण, द्रव, सूखे, भारी स्निग्ध पदार्थ खाने से परिश्रम, क्षोभ, सोने एवं जागने से लंघन, अध्ययन, वेगविधारण, परिश्रम तथा स्नेह का अधिक सेवन करने से कोष्ठ में संचित आम मेद मिलकर वातादिक कोषों को पराजित करके जाँघों पर अधिकार कर लेती है और जाँघों की अस्थियों को स्तब्ध कफ से परिपूर्ण करके स्तम्भिक कर देती है।

इससे दोनों जाँघें स्तब्ध, शीतल, अचेतन, पराई के समान, भारी और अत्यधिक पीड़ायुक्त हो जाती हैं। इसके साथ ही चिन्ता, अंगों में पीडा, शरीर गीले कपड़े से पोंछा हुआ के समान होना, तन्द्रा, वमन, अरुचि एवं ज्वर भी रहता है। पैरों में अवसाद एवं सुप्ति रहती है तथा उठाने में कठिनाई होती है। इस रोग को उरूस्तम्भ कहते हैं, दूसरे अढ्याबत भी कहते हैं।

इसके पूर्व रूप निद्रा की अधिकता, चिन्ता शरीर गीले कपडे से पोंछे हुए के समान अनुभव होना, ज्वर, रोमहर्ष, अरुचि वमन या पिण्डलियों और जाँघों में अवसाद है।

फिर अज्ञानवश वात की शंका करने वालों के द्वारा उसका स्नेह किया जाने पर पैरों में अवसाद और सुप्ति होता है तथा पैर मुश्किल से उठते हैं, पिण्डलियों और जांघों में अत्यधिक दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है तथा हमेशा दाह और पीड़ा होती है। पैर रखा रहने पर भी पीड़ा करता है और शीत-स्पर्श का ज्ञान नहीं होता। रोगी खड़े होने, पैरों से किसी वस्तु को

दबाने, चलने तथा पैर हिलाने में भी असमर्थ हो जाता है तथा जांघों और पैरों को टूटे के समान अथवा पराए के समान मानता है।

जब रोगी दाह, पीड़ा और तोद से अत्यन्त व्याकुल हो जाने और कांपने लगे तब उरूस्तम्भ मृत्युकारक हो सकता है। इसके विपरीत एवं नया होने पर चिकित्सा करनी चाहिए।

चिकित्सा—उरूस्तम्भ एक ऐसा रोग है जिसमें कफ एवं आम की अधिकता रहती है। इसकी चिकित्सा के लिए संशमन चिकित्सा उपयोगी कही गई है। इसमें शोषण करने वाली रूक्ष चिकित्सा का विधान बताया गया है। यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि वातव्याधि का भ्रम होने से स्नेह आदि चिकित्सा कदापि न कराई जाएँ अन्यथा और हानि की सम्भावना होगी।

जो काष्ठादि औषधि योग चरक संहिता में दिये हैं उनमें से कुछ निम्नवत् हैं—

१. मोथा-हरण, लोध, पद्माख, कुटकी।

२. देवदारू, हरिद्रा, दारूहरिद्रा, वच, कुटकी।

३. पिप्पली, पिप्पलामूल, चीड़ और देवदारू।

४. चव्य-त्रिकमूल, देवदारू, हरण।

५. पिप्पलामूल सहित पिल्लों और भिलावा।

इन पाँचों में से जो भी उपयुक्त समझें उसे कल्क बनाकर मधु के साथ ग्रहण करना चाहिए।

कफ क्षीण कराने के लिए शक्य व्यायाम की व्यवस्था की जाए। बजरी तथा बालू वाले स्थलों पर सैर करनी चाहिए। छोटी शीतल जल वाली नदी में प्रवाह के विपरीत तैरना चाहिए। तालाब में तैरना भी लाभ करता है।

चिकित्सा का एकमात्र सिद्धान्त बताते हुए कहा गया है कि जिसमें कफ की क्षीणता हो तथा वायु की वृद्धि न हो वह कर्म हितकारक है।

शरीर, बल और अग्नि को रक्षा करते हुए चिकित्सा करनी चाहिए।

इस रोग में पचकर्म की विधियों का निषेध किया गया है।

(४०) **मधुमेह** (Diabetis Mellitus)—आयुर्वेद में प्रमेह रोग का प्रकरण वर्णित किया गया है और वहाँ कहा गया है कि बार-बार अधिक मात्रा में मूत्र का प्रवाहित होना प्रमेह है। प्रमेह के बीस भेद बताए गए हैं और उसमें कफ की बहुलता से १०, पित्त की बहुलता से ६ और वायु की

बहुलता से ४ के प्रमेह कहे गए हैं। इनमें कफज साध्य, पित्तज याप्य और वातज प्रमेहों को असाध्य¹ कहा है। यह भी स्पष्ट किया है कि किसी प्रमेह की उपेक्षा करने पर अन्त में वह मधुमेह में परिवर्तित हो जाता है। मधुमेह को सुश्रुत संहिता में क्षौद्र-मेह कहा है। मधुमेह वातज प्रमेह का एक भेद है।

यदि मधुमेह शब्द की निरुक्ति पर प्रभाव करें तो वाग्भट्ट के निदान स्थान अध्याय १० का यह सूत्र बहुत महत्व का है "मधु के समान मधुर मूत्र त्याग करने के कारण तथा शरीर में भी माधुर्य उत्पन्न होने के कारण इस रोग को मधुमेह कहते हैं।"¹

इसका अर्थ यदि हम आधुनिकतम वैज्ञानिक शरीर क्रिया की दृष्टि से लें तो कह सकते हैं कि किन्हीं कारणों में रक्तगत शर्करा की वृद्धि होकर तथा अधिक होने के कारण वृक्क से न छन पाने की मर्यादा को लाँघ जाने के कारण मूत्र में भी शर्करा का आना ही वास्तव में मधुमेह है।

चरक संहिता में इन रोगों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "अत्यधिक मात्रा में स्निग्ध-अम्ल-लवण गुण विशिष्ट आहार द्रव्यों के भोजन करने से तथा समशन करने, नवान्न के अधिक सेवन करने से, अधिक मधुरपान करने से, अधिक निद्रा लेने से, सदा बैठे रहने से तथा किसी प्रकार के व्यायाम और चिन्ता को सर्वथा त्याग देने से और आवश्यक शरीर शोधन न करने से शरीर में श्लेष्मा, पित्त, मेद तथा मांस धातु की अधिक वृद्धि होती है। इन अधिक बैठे हुए धातुओं से जब वायु पर आवरण होता है तब आवृत्त गति वायु ओज को लेकर बस्ति में प्राप्त होकर कृच्छ्र, मधुमेह को उत्पन्न करती है।

इसे देखने से स्पष्ट है कि मधुमेह की उत्पत्ति में अग्नि का विकृत होना एक आवश्यक कारण है। जठराग्नि की विकृति से अवस्थापक की सम्यक् प्रक्रिया उचित नहीं हो पाती, इसी प्रकार भूताग्नियाँ भी उचित कार्य नहीं करतीं विशेषकर पाचक अग्नि की विकृति होती है। धात्वाग्नियाँ भी विकृत होती हैं। इन धातुओं के द्वार पर धातु का निर्माण क्रम रुक जाता है। की वृद्धि हो जाती है।

---

१. "मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति ॥
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ॥" (वा० नि० अ०

यह बात आधुनिक मनीषियों के वचनों से भी प्रमाणित होती है। वहाँ स्पष्ट किया गया है कि कार्बोहाइड्रेट के पाचन क्रम के लिए पैंक्रियाज के लैंगर हैंस के द्वीप के बीटा सैल से उत्पन्न एक स्राव इन्सुलीन आवश्यक है। यह कम बने तो इस रोग की उत्पत्ति होती है। वास्तव में यह अन्तःस्राव ही आयुर्वेद की परिभाषा में धात्वग्नि है।

मधुमेह के पूर्व रूप अलग से वर्णित नहीं किए गए—सामान्य रूस से प्रमेह के पूर्वरूप बताये हैं, वे चरक निदान स्थान अध्याय ४ तथा सुश्रुत निदान अध्याय ६ में वर्णित हैं। उन सबको देखते हुए मधुमेह में जो प्रधान पूर्वरूप मिलते हैं या कहिए लक्षण मिलते हैं, उनको निम्न प्रकार वर्णित कर सकते हैं—

"मुख माधुर्य, पिपासा, दाह तथा आलस्य एवं तालु-गल-जिह्वा दन्त में मलोत्पत्ति होती है। शरीर पर षटपद पिपीलिकायें आ जाती हैं—मूत्र पर भी चीटियाँ आ जाती है। शक्ति क्षीणता एव शिथिलता मिलती है। अंगों में सुप्तता मिलती है। निद्रा, तन्द्रा एवं स्फूर्ति का अभाव मिलता है। आमगंधता मिलता है। नख-केश की अधिक वृद्धि होती है।"

मधमेह की पहचान इन लक्षणों को देखकर जब यह बलवान हो तो कर सकना सरल है। मूत्र में शर्करा जाना और रक्त में शर्करा की मर्यादा से बढ़ोत्तरी मिलना वास्तव में निश्चित पहचान है।

मधुमेह के उपद्रवों के विषय में भी यही बात है जो लक्षणों के विषय में। वास्तव में प्रमेह रोग के उपद्रव शास्त्रों में वर्णित किए गए हैं उनमें चरक संहिता में "तृष्णा, अतिसार, ज्वर, दाह, दुर्बलता, अरुचि, सिड़कोत्पत्ति एवं मांस कोथ आदि कहे गये हैं।"

इस रोग में ओज का क्षय होता है अतः मूर्च्छा होना भी एक उपद्रव है। वाग्भट्ट ने पैतिक प्रमेहों में मूर्छा का समावेश किया है। आधुनिक चिकित्सक इसे मधुमेहिक मूर्च्छा कहते हैं (Diabetic coma)। उनका कहना है कि आहार का ठीक पाचन न होने पर 'कीकाँन बाडीज' उत्पन्न होकर रक्त में बह जाते हैं उनसे ही मूर्च्छा होती है। इस अवस्था में पीड़िकाएँ निम्न होती हैं—उनकी संख्या चरक में सात कही है—

(१) शराविका, (२) कच्छपिका, (३) जालिनी, (४) सर्षपी,
(५) अलजी, (६) विनता, (७) विद्रधि।

इनको प्रमेह पीड़िका कहा गया है ।

मधुमेह की चिकित्सा का वर्णन करते हुए लिखा है कि दो प्रकार के रोगी मिलते हैं—प्रथम स्थूल जो बलयुक्त होते हैं और दूसरे कृश जो क्षीणकाय होते हैं । स्थूल रोगी की चिकित्सा संशोधन से शरीर को शुद्ध करना चाहिए और कृश को संवृंहण चिकित्सा के साथ शमन चिकित्सा करनी चाहिए ।

आयुर्वेद में जामुन की गुठली, गुड़मार, गूलर, बीजसार और अन्य कई पदार्थ हितकारक कहे हैं 'वसन्त कुसुमाकर रस' इस रोग के लिए एक प्रसिद्ध योग है ।

द्वितीय-पत्र

उध्र्वांग-चिकित्सा

परीक्षा-विषयक निर्देश

विवरण पत्रिका में इस विषय पर जितने विषय दिए हैं उनका वर्णन हमने छः भागों में किया है। उन्हें निम्न प्रकार समझना चाहिए—

(१) कर्ण रोग विज्ञान—इस प्रकरण में कर्ण की रचना का वर्णन करने के पश्चात् शास्त्रोक्त कर्ण रोगों का लक्षणों एवं चिकित्सा सहित वर्णन किया गया है।

(२) नासा रोग विज्ञान—इस प्रकरण में नासिका की रचना और नासा सम्बन्धी रोगों का वर्णन किया गया है। इस प्रकरण में शालाक्य विषयक चिकित्सा की एक विशेष क्रिया 'नस्य' का शास्त्रोक्त सिद्धान्तों सहित वर्णन किया गया है।

(३) मुख रोग विज्ञान—इस प्रकरण में मुख के सभी अवयवों का वर्णन किया गया है। सभी शास्त्रोक्त मुख सम्बन्धी रोगों का वर्णन किया गया है। मुख लेप, कवल एवं गण्डूष नामक चिकित्सा की विशेष विधियों का वर्णन किया गया है।

(४) शिरोरोग विज्ञान—इस प्रकरण में शिरोरोगों का वर्णन, सिर से सम्बन्धित अवयवों की रचना और धूम्रपान का वर्णन किया गया है।

(५) नेत्र रोग विज्ञान—इस प्रकरण में नेत्र की विस्तृत रचना और नेत्र रोगों का वर्णन तथा आश्चोतन एवं अञ्जन का वर्णन किया गया है।

(६) मानसिक रोग विज्ञान—विवरण पत्रिका में दिए गए रोगों का वर्णन किया गया है। इस संस्करण में कुछ महत्त्वपूर्ण वर्णन दिया गया है।

इन विषयों से आप समझ ही गए होंगे कि यह प्रश्न-पत्र एक विस्तृत विवरण की अपेक्षा रखता है।

उर्ध्वांग चिकित्सा विषयक प्रश्न का इस संशोधित संस्करण में आरम्भ में वर्णन किया है।

यह प्रश्न-पत्र भी एक सौ अंक का लिखित तथा पच्चीस अंक का मौखिक होता है। यहाँ पर दिए विषय को समझ लेने पर सफलता निश्चित है।

प्रश्न—उर्ध्वाङ्ग चिकित्सा या शालाक्यतन्त्र का परिचय देते हुए इसके महत्व को प्रदर्शित कीजिए ।

उत्तर—

उर्ध्वांग चिकित्सा बनाम शालाक्यतन्त्र

उर्ध्वांग का अर्थ है—शरीर के ऊपर के अंग और इस प्रकरण में जत्रु (गर्दन) से ऊपर के अंगों के रोगों का समावेश किया जाता है। इसी से इसे अंग का उर्ध्वजत्रुगत रोग चिकित्सा भी कह दिया जाता है। इस विभाग में सिर, कर्ण नासिका, नेत्र एवं मुखरोगों को ग्रहण किया जाता है। इसको शालाक्यतन्त्र भी कहते हैं—इस विषय में अचार्य डल्हण ने स्पष्ट किया है कि इन रोगों की चिकित्सा में प्रधान रूप से शलाका का प्रयोग किया जाता है—अतः विभाग को शालाक्यतन्त्र अर्थात् शलाका प्रयोग प्रधान तन्त्र कहा गया है।

महत्त्व

शालाक्यतन्त्र या उर्ध्वांग चिकित्सा अष्टांग आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसका महत्व इसलिए भी अधिक है कि इस अंग द्वारा शरीर के उत्तमांग की चिकित्सा की जाती है—शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा उत्तमांग उर्ध्वांग प्रधान हैं—कारण यह कि वहां पर मनुष्य के प्राणाश्रित हैं तथा सभी इन्द्रियाँ भी आश्रित हैं—ऐसे उत्तमांग की चिकित्सा शालाक्यतन्त्र से होती है अतः यह अंग भी अन्य चिकित्साओं में अपना विशेष महत्व का स्थान रखता है।

१

कर्णरोग-विज्ञान

प्रश्न—कर्ण के विभिन्न अंगों का वर्णन करते हुए कर्ण-रचना का विस्तार से वर्णन करें।

उत्तर—कर्णेन्द्रिय—जिस प्रकार विधाता ने मनुष्य के कर्म करने के लिए पाँच कर्मेन्द्रियों की रचना की है, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति के लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियों को भी बनाया है। मानव शरीर में रसास्वादन के लिए जिस प्रकार जिह्वा की उपयोगिता है, उसी प्रकार प्रकृति के छोटे-बड़े समग्र पदार्थों के निरीक्षण के लिए नेत्रों की तथा शब्द ज्ञान के लिए दो कर्णों की सार्थकता है।

कर्ण रचना—कर्ण, मुख में कपोलों के दोनों ओर होते हैं, इसकी रचना नेत्रों से कम आश्चर्यजनक नहीं है, इसी से शरीर विद्या के विशेषज्ञों ने मनुष्य के कर्णों पर विशेष विचार किया है। प्रधानतः कर्ण को तीन भागों में विभक्त किया जाता है—

(१) बाह्य कर्ण, (२) मध्य कर्ण, (३) अन्तस्थ कर्ण।

१. बाह्य कर्ण—बाह्य कर्ण कान नली के आगे (झिल्ली) परदे पर जाकर समाप्त होता है, इस झिल्ली के दूसरी ओर से मध्य कर्ण का आरम्भ होता है और भीतर की ओर आधी इंच तक चला जाता है। मध्य कर्ण का अधिक भाग शंखास्थि के भीतर रहता है। कान की झिल्ली को वैज्ञानिक भाषा में 'कर्णपटह' कहते हैं, इसका निरीक्षण कर्ण यन्त्र दर्शक यन्त्र के बिना होना असम्भव है। यह पट सीधा न होकर टेढ़ा रहता है, और बीच का भाग भीतर की ओर दबा; ऊपर और नीचे के किनारे आगे की ओर उभरे रहते हैं, दबा हुआ स्थान नाभि कहलाता है। झिल्ली में जो चमकती रेखा दिखाई देती है वह एक अस्थि है और उसे 'मुग्दरास्थि' कहते हैं। कभी-कभी यह शोथ की दशा में अस्पष्ट हो जाती है। इसमें छिद्र होने पर कान बहने लगता है।

२. **मध्य कर्ण**—यह एक छोटी कोठरी है जो आध इन्च के लगभग है। इसमें तीन अस्थियाँ रहती हैं—

१—मुग्दरास्थि।

२—नेहाई (यह एक ओर मुग्धर से जुड़ी रहती है)।

३—रकाबास्थि (रकाब के समान होने से कही जाती है)—इस अस्थि का चौड़ा भाग एक छिद्र द्वारा अन्तस्थ कर्ण से मिला रहना है। इस प्रकार बाह्य कर्ण से अन्तस्थ कर्ण तक अस्थियों की एक श्रृंखला-सी बनी रहती है। यदि बाह्य कर्ण के पट में किसी प्रकार की झनझनाहट या कम्पन हो तो वह अन्तस्थ कर्ण तक पहुँच जाती है। इस मध्य कर्ण से एक नली गले में जाकर खुलती है परन्तु जब गले के भीतर कुछ शोथ उत्पन्न हो जाता है तो नली का मुख बन्द हो जाने से तथा नलिका का शोथ युक्त होने से पूर्व मध्य कर्ण में वायु के न पहुँचने से उत्पन्न होती हैं। मध्य कर्ण का सारा आन्तरिक भाग श्लेष्मल कला से ढँका रहता है। जहाँ मध्य कर्ण का अन्त होता है, वहाँ से अन्तस्त कर्ण का आरम्भ होता है यही श्रवण यन्त्र का मुख्य भाग है, इसकी रचना बड़ी ही विचित्र और गूढ़ है।

३. **अन्तस्थ कर्ण**—यह भी तीन भागों से बना हुआ है;

१. कर्ण कुटी, २. कोक्लिया।

३. अर्द्ध चन्द्राकार नलिका।

इसकी दीवारें शंखास्थि से बनी रहती हैं।

कर्ण कुटी—इसके एक ओर कोक्लिया और दूसरी ओर अर्द्ध चन्द्राकार नलिका है। सारे यन्त्र में सबसे अधिक फूला हुआ भाग यही दिखाई देता है, जिससे होकर श्रावणी नाड़ी सूत्र कर्ण के भीतर प्रवेश करते हैं। बाहर की ओर एक बड़ा छिद्र होता है, रकाब नामक अस्थि का चोड़ा भाग इसी छिद्र में रहता है, इसी छिद्र का आकार अंडे के समान होता है। इसके आगे एक दूसरा और छिद्र होता है, जिसके द्वारा उपर्युक्त नाड़ियों का सम्बन्ध रहता है। इस कुटी के पिछले भाग में पाँच छिद्र होते हैं, जिनके द्वारा अर्द्ध चन्द्राकार नलियाँ कुटी में आकर खुलती हैं। कुटी के भीतर भी झिल्ली के बने हुए कोष्ठ होते हैं जिन्हें पूर्व कोष्ठ तथा पश्चात् कोष्ठ कहते हैं।

कोक्लिया—इसकी आकृति शंख के ऊपर पतले भाग के अनुसार होती है। इसका ऊपर का सिरा नुकीला और पतला होता है, ऊपर के भाग को शिखर और नीचे के भाग को तल कहते हैं। इसमें बीच में एक स्तम्भ होता है जिसके

चारों ओर कोक्लिया की नली पूरी ढाई चक्कर खाती हुई नीचे से ऊपर को चली जाती है। यहाँ अस्थि और झिल्ली दोनों ने मिलकर इस नली को दो भागों में बाँट दिया है। इसके बीच के हिस्से को पूलक कहते हैं, इन दोनों नलियों में द्रव-सा भरा रहता है।

अर्द्ध चन्द्राकार नलियाँ—ये तीन होती हैं। दिशा का ज्ञान करना इनका कर्म है। कोक्लिया कर्णकुटी की भाँति ये नलिकाएँ भी झिल्ली की बनी हुई हैं, जो शंखास्थि द्वारा निर्मित नलिकाओं के भीतर रहती हैं। अस्थि नलिकाएँ झिल्ली नलिकाओं की अपेक्षा कहीं अधिक मोटी होती हैं। झिल्ली कृत नलिका और अस्थि कृत नलिका में कुछ दूरी रहती है। जिसमें एक द्रव भरा रहता है उसे बहिर्लसिका और नलिका के भीतर का लिम्फ अन्तर्लसिका कहलाता है। ये दोनों नलिकाएँ कुटी के पूर्व कोष्ठ में खुलती हैं। भीतर की वह नलिका जिसमें अन्तर्लसिका भरा हुआ है झिल्लीकृत है, उसके बाहर अस्थि नलिका है। झिल्ली-कृत नलिका के भीतर चारों ओर एक कला रहती है। झिल्लीकृत नलिका के बाह्यावरण और भीतरी कला के बीच में जो वस्तु रहती है वह वहाँ एक अकुर का रूप धारण कर लेती है। यहाँ की श्लैष्मिक कला के सेलों का आकार लम्बा हो जाता है और अन्तर्लसिका की ओर रहने वाले ऊपरी सिरे के कड़े बालों के समान सूक्ष्म सूत्र निकलते हैं। इन सूत्रों के बीच में तथा चारों ओर गाढ़ा पदार्थ रहता है जिसमें कैल्सियम कार्बोनेट के कुछ कण पाये जाते हैं। इन सारी रचनाओं को कुपोला नाम दिया गया है। अंकुर के दूसरी ओर से श्रवण नाड़ी के सूत्र प्रवेश करते हैं और उनकी शाखाएँ उन सेलों से जिनके ऊपर से सूत्र निकलते हैं, फैल जाती हैं। इस प्रकार इन अर्द्ध चन्द्राकार नलिकाओं के सेलों का नाड़ी द्वारा मस्तिष्क से सम्बन्ध हो जाता है। कर्णकुटी के पूर्व और पश्चात् कोष्ठ की रचना भी कुछ ऐसी ही है, यहाँ भी इस प्रकार के अंकुर मिलते हैं जिनके सूत्र में सेल उपस्थित है। तीनों दिशाओं का ज्ञान अंकुर की नाड़ी द्वारा होता है और हमारे सिर के घुमाने के साथ ही अन्त:लसिका की गति भी उसी ओर होती है। इसके विकृत होने पर दिशा ज्ञान नहीं होता तथा जी मिचलाना, वमन, सिर का घूमना प्रारम्भ हो जाता है।

फोटीयन्त्र—कोक्लिया की दो नलियों का वर्णन किया जा चुका है। इसमें एक पतली तीसरी नलिका और होती है जिसे मध्यनलिका कहते हैं, यह त्रिकोणाकार है। इसकी बाहरी दीवार कोक्लिया की दीवार से बनी रहती है। ऊपर की छत और नीचे का फर्श दोनों झिल्लियों के बने हैं। ये दोनों झिल्लियाँ

कोक्लिया के फलक के सिर पर जुड़ी रहती है। इसका फलक के साथ ऊपर जाकर अन्त हो जाता है और नीचे की ओर पश्चात् काष्ठ से मिली रहती है। कई नली के फर्श को बनाने वाली झिल्ली पर कई प्रकार के सेल रहते हैं। इस फर्श के लगभग बीच में कोटीयन्त्र रहता है। इस यन्त्र को देखने से ज्ञात होगा कि झिल्ली के ऊपर जो अङ्ग है वह दो प्रकार के स्तम्भों से बना है। नीचे की ओर यह चौड़े, बीच में पतले, ऊपर जाकर फिर चौड़े हो जाते हैं। ये दोनों प्रकार के स्तम्भ एक दूसरे की ओर झुकते हैं और अन्त में ऊपर की ओर एक दूसरे को ढक लेते हैं। स्तम्भों के बीच में जो स्थान है, सुरङ्ग का रूप धारण कर लेता है। इन स्तम्भों की ओर झुकते हुए लोमश सेल रहते हैं। जिसके ऊपर के सिरे से बाल के समान सूक्ष्म सूत्र निकलते हैं। श्रवण नाड़ी के भाग से अनेक सूत्र आकर इन सेलों में फैल जाते हैं। इनके अतिरिक्त कोटीयन्त्र में और भी कई प्रकार के सेल रहते हैं। भिन्न-भिन्न वर्णित वस्तुओं का नाड़ियों से सम्बन्ध रहता है। नाड़ियों के भीतर आने और बाहर निकलने के लिए विशेष मार्ग होते हैं। इस प्रकार सभी परस्पर अपना सम्बन्ध स्थापित करते हुए ऊपर उठते हैं।

शब्द-श्रवण—शब्द वायु भी कम्पनों से उत्पन्न होता है। वायु में तरंगें उत्पन्न होकर हमारे कर्ण पटल के द्वारा भीतर कर्ण में पहुँचती हैं और वहाँ से श्रवण नाड़ी उन तरंगों से उत्पन्न हुई उत्तेजनाओं को मस्तिष्क तक ले जाती है। तब हम शब्द का अनुभव करते हैं। ये तरंगें वायु के कणों में किसी कारण से हलचल या विप्लव आ जाने से उत्पन्न होती हैं। श्रवण से ज्यादा सम्बन्ध रखने वाला भाग कोक्लिया है।

प्रश्न—कर्ण रोग उत्पादक कारणों का वर्णन करते हुए कर्ण रोगों की साधारण चिकित्सा का वर्णन कीजिए।

उत्तर—आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में कर्ण रोगों का वर्णन उपलब्ध होता है। उनमें से सुश्रुत संहिता में अट्ठाइस रोगों का वर्णन मिलता है। इन रोगों की उत्पत्ति के कारणों का वर्णन करते हुए लिखा है कि "ओस का अधिक सेवन करना, जल में अधिक क्रीड़ा करना एवं कान को अधिक खुजलाने आदि से कर्ण स्थित वायु प्रकुपित हो जाती है। इसी प्रकार शस्त्र के मिथ्या प्रयोग से और अन्यथा प्रयोग से वायु कुपित होकर कर्णगत शिराओं को प्राप्त करती हुई कर्ण स्रोत में वेग के साथ शूल उत्पन्न करती है। इस प्रकार उत्पन्न हुए कर्ण रोग अट्ठाइस प्रकार के बताए गए हैं।

जहाँ तक कर्ण रोगों की साधारण चिकित्सा का प्रश्न है—उसके अनुसार हम कह सकते हैं कि सुश्रुत संहिता में बताए गए साधारण नियमों का पालन करना चाहिए। वहाँ कहा गया है कि "कर्ण रोगों में सामान्य रीति से घृत पान करना रसायन है। व्यायाम नहीं करना चाहिए और सिर सहित स्नान करना भी वर्जित है। ब्रह्मचर्य का पालन और कम बोलना भी हितकर समझना चाहिए।"[1]

योग रत्नाकर में साधारण चिकित्सा का विधान और भी विस्तार से बताया गया है। वहाँ कहा गया है कि "कर्ण रोगों में रोगी को पार्श्व की ओर लिटाकर स्वेदन देना हितकारक होता है। गोमूत्र, स्नेह और इक्षु रस को कुछ गर्म कर कान में धारण करना चाहिए। श्रोत, कण्ठ और सिर के रोगों में अवस्थानुसार क्रमशः सौ मात्रा, पाँच सौ मात्रा और एक हजार मात्रा तक धारण करना चाहिए। एक मात्रा उसे कहा जाता है कि जितने समय में व्यक्ति अपनी जानु के चारों ओर हाथ को घुमाकर चुटकी बजाता है यदि रसादि का पूरण करना हो तो भोजन से पूर्व करना चाहिए। यदि तेल आदि का पूरण करना हो तो सूर्यास्त के पश्चात् करना चाहिए।"

इस विषय में यह समझ लेना चाहिए कि एक मात्रा के विषय में जो विधान ऊपर दिया है, उसके अनुसार वह समय एक मिनट के दसवें भाग के बराबर होता है। कर्ण पूरण के लिए हिंग्वादि क्षार तेल, कुष्टादि तेल, कार्व्यादि तेल और मूलिका तेल का प्रयोग किया जाना चाहिए। कर्ण रोगों में इन्दुवटी, सारिवादि वटी, रास्नादि गुग्गुल का प्रयोग किया जाता है।

कर्ण रोगों में स्वेदन, वमन, विरेचन, नस्य धूम्रपान, सिरावेध आदि का प्रयोग करना चाहिए।

पथ्य में गेहूँ, चावल, मूँग, जौ, पुराने घी का प्रयोग लाभ करता है। इस अवस्था में रोग उत्पादक कारणों का परित्याग करना चाहिए।

प्रश्न—कर्ण रोगों की संख्या बताते हुए प्रत्येक रोग का निदान चिकित्सा सहित विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर—कर्ण रोगों की संख्या के विषय से हमें वृहत् त्रयी में भिन्न-भिन्न

---

१. "सामान्य कर्णरोगेषु घृतपानं रसायनम्।
अव्यायामोऽशिरः स्नान ब्रह्मचर्यमकत्थनम्॥" (सु० उ० अ० २१)

मत मिलते हैं । इनमें सुश्रुत संहिता के अट्ठाइस भेद ही अधिक प्रसिद्ध हैं । चरक संहिता में दोषानुसार चार प्रकार के कर्ण रोग माने हैं । यथा वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज । अष्टांगकार ने केवल २५ रोग माने हैं और सुश्रुत संहिता में वर्णित-अट्ठाइस में से कर्णक्ष्वेड, कर्णस्राव और कर्णगूथ को नहीं गिना है । भाव-प्रकाश योगरत्नाकर आदि परवर्ती ग्रन्थकारों ने सुश्रुत संहिता के मत का समर्थन किया है । अतः यही कहा जायेगा कि सुश्रुतोक्त कर्ण रोग जिनकी संख्या अठ्ठाइस है, वे ही हमें ग्राह्य हैं । हम यहाँ उनका वर्णन ही करने जा रहे हैं ।

(१) कर्ण शूल—सुश्रुत संहिता में इसका रूप बताते हुए लिखा है कि "श्रोत्रगत वायु कफ, पित्त दोनों से अपने आप आवृत्त होकर विमार्ग में गति करता हुआ कानों के चारों ओर अति तीव्र शूल उत्पन्न करता है । यह शूल कष्ट साध्य होता है ।"

आधुनिक चिकित्सक कर्ण शूल को अलग से रोग नहीं मानते । उनका कहना है कि कुछ रोगों में यह एक लक्षण हुआ करता है—उन रोगों के विषय में लिखते हुए कहा गया है कि—

(१) बाह्य कर्ण में शंखास्थि में, मतिष्कावरण में, करोटी की अस्थियों के बीच में किसी प्रकार का शोथ या पाक हो तो कर्णशूल उत्पन्न होता है ।

(२) कान में मैल बढ़ जाने से और कान के पर्दे के फट जाने से कर्णशूल उत्पन्न हो जाता है ।

(३) मध्यकर्ण शोथ, दन्तमूल शोथ, गले के विकारों में तथा कृमिदन्त में भी कर्ण शूल हो जाता है ।

कर्णशूल के कारण यदि उपद्रव उत्पन्न हो जाएँ तो यह प्राणघातक बताया गया है । मूर्च्छा, दाह, ज्वर, कास, श्वास, वमन आदि प्रधान उपद्रव हैं ।

कर्णशूल की चिकित्सा बताते हुए सुश्रुत संहिता में विस्तार से वर्णन किया गया है । हम यहाँ वही वर्णन उद्धृत कर रहे हैं—

"कर्णशूल के रोगी को स्नेहपान, अभ्यंग से स्नेहन कराना चाहिये । फिर वात नाशक द्रव्यों से स्वेदन कराएँ और फिर स्नेह-द्रव्यों से विरेचन दें । नाड़ी स्वेदन एवं पिण्ड स्वेदन का प्रयोग हितकारक रहता है ।

नाड़ीस्वेदनार्थं निम्न औषधियों का वर्णन सुश्रुत संहिता में किया गया है।

"बिल्व, अरण्ड, अर्क, पुनर्नवा, कैथ, धतूरा, सहजना, अश्वगन्धा, अरणी, बांस के यव को कांजी में पकाकर दिया गया, नाड़ी स्वेदन कफवात से उत्पन्न कर्ण शूल को नष्ट करता है।"

"मछली, मुर्गा, बटेर मांस से अथवा दूध के खोवे के पिण्ड से स्वेदन करें तो कर्णशूल के नाश के लिए बहुत हितकारक है।"

आगे चिकित्सा बताते हुए सुश्रुत संहिता में लिखा है कि पीपल के बहुत से कोमल पत्ते लेकर उनसे एक दोना तैयार करें जिसमें तेल भर दें, उस दोने के ऊपर पीपल के पत्ते रख दें या किसी अन्य उपयुक्त वस्तु से ढांप दें। अब उस दोने के ऊपर अंगारे रख दें। उस दोने को शूलयुक्त कान के ऊपर रख दें। अंगारों की गर्मी से कान में तेल चू जाता है और वह तेल कान में स्रोतों में जाकर कर्णशूल को दूर करता है।

अलसी-गुग्गुल, अगर और घी से धूप दें। भोजन के पश्चात् घृतपान और वस्तिकर्म हितकारक है।

रात को भोजन न कर केवल घृत पान कर, बाद में गरम दूध का पान कराना चाहिए। शिरोबस्ति, नस्य एवं अवसेचन का प्रयोग करना चाहिए। इन कार्यों के लिए शतपाकी बला तेल का प्रयोग करना चाहिए। भोजन में भी इस तेल का प्रयोग किया जा सकता है।

कटेली चार फल मात्रा में लेकर आठ गुणा दूध लें और दूध के चार गुणा पानी मिलाएँ। अब इसको पकाएँ। इसके द्वारा एक कुड़व (१६ तोला) मुर्गे का वसा को सिद्ध करें। इस सिद्ध वसा को कानों में डालने से कर्णशूल का नाश होता है।

बकरी और भेड़ के मूत्र में बांस का छिलका कल्प में डालना चाहिए। इसके द्वारा कर्णपूरण करने से कर्णशूल मिट जाता है।

अन्य योगों वर्णन करने के साथ-साथ सुश्रुत संहिता में बताया गया है कि आक के अंकुरों को कांजी से पीस कर इसमें तेल और नमक मिला लें। अब थूहर की लकड़ी के मध्यस्थ गूदे को निकाल उसे खोखला कर लें। इस रिक्त किए स्थान में रक्त कल्क भर दें और उस टुकड़े को थूहर के पत्तों से लपेट दें। फिर उसे पुटपाक की विधि से तब तक पकाएँ, जब तक उसमें रस न आ जाए। इस रस को गरम-गरम कान में डालने से कर्णशूल नष्ट हो जाता है।

कैथ, बिजोरा अदरक स्वरस, अष्ट मूत्रों में कोई-सा एक मूत्र को सुहाता सुहाता गरम कर कान में डालें। इससे कर्णशूल का नाश हो जाएगा।

आठों मूत्र या कांजी आदि अम्ल गण अथवा वातहर औषधियों में घी, तेल, वसा और मज्जा चारों स्नेहों को सिद्ध कर कान में डालें। इससे कर्णशूल का नाश हो जाएगा।

काकोल्लादि गण कल्के से दस गुणे दूध में सिद्ध किया घृत उत्तम है। बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के पत्तों के क्वाथ में काकोल्यादि गण से घृत सिद्ध करें। मुलहटी और चन्दन के क्वाथ एवं कल्क से घृत सिद्ध करें। शर्करा, मुलहटी और विरेचन द्रव्यों के क्वाथ में घृत सिद्ध करें। इन सभी औषधियों का प्रयोग पित्तज कर्णशूल को दूर करने के लिए करना चाहिए।

कफज कर्णशूल के नाश के लिए हिंगोट का तेल अथवा सरसों का तेल प्रयोग में लाना चाहिए। तिक्त औषधियों का यूस और रूक्ष स्वेदन देना चाहिए। तीक्ष्ण शिरोविरेचन एवं कवल धारण हितकारक रहता है।

इस प्रकार कर्णशूल की चिकित्सा का विस्तृत विवरण सुश्रुत संहिता में किया है। हमने उसका उपयोगी अंश ही ऊपर लिखा है।

आधुनिक चिकित्सक कुछ औषधियों को मिलाकर कान में बूंद डालते हैं जिससे लाभ होता है। वह निम्न प्रकार से हैं—

प्रोकेन हाइड्रोक्लोर	१ ग्रेन,	मैंथाल	५ ग्रेन,
केम्फर	६ ग्रेन,	डिस्टल वाटर	$\frac{1}{2}$ औंस।

सभी को मिलाकर प्रयोग करें।

दूसरी इसी प्रकर की औषधि निम्न दवाइयों से भी बनाते हैं—

टिंचर ओपयस	$\frac{1}{2}$ औंस	टिंचर बेलाडोना	$\frac{1}{2}$ औंस।

दोनों को मिलाकर रख लें, इसकी बूंद कान में टपकाने से कर्णशूल मिट जाता है।

इस तरह कर्णशूल के लक्षण तथा उसकी विस्तृत चिकित्सा का हमने वर्णन कर दिया है।

(२) कर्णनाद—सुश्रुत संहिता में कर्णनाद के लक्षण बताते हुए कहा है कि "कर्णस्रोत में वायु के स्थित होने पर विविध प्रकार के स्वर सुनाई पड़ते हैं। यह शब्द शहनाई, मृदंग और शंख की ध्वनि के समान होते हैं। इस अवस्था को 'कर्णनाद' अथवा 'कर्ण प्रणाद' कहा जाता है।"

इसकी चिकित्सा के विषय में सुश्रुत संहिता में लिखा है कि कर्णशूल की जो चिकित्सा है—वही चिकित्सा कर्णनाद के लिए भी करनी चाहिए।

(३) कर्णक्ष्वेण—इसके लक्षण बताते हुए कहा है कि "वायु पित्तादि के साथ संयुक्त होकर वेणु घोष के समान कान में शब्द पैदा करता है—उस रोग को कर्णक्ष्वेण कहा जाता है।

इसकी चिकित्सा भी कर्णशूल के समान ही कही गयी है।

यहाँ यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि कर्णनाद और कर्णक्ष्वेण दोनों रोगों में कान में अस्वाभाविक शब्दों की उत्पत्ति होती है—अन्तर केवल इतना है कि कर्णनाद में विभिन्न प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं, जबकि कर्णक्ष्वेण में केवल एक प्रकार का ही शब्द होता रहता है जो वीणा की ध्वनि के समान होता है।

ऐसा बाह्य शब्दों की उत्पत्ति के विषय में विचार करते हुए आधुनिक कर्ण रोग विशेषज्ञों ने लिखा है कि अन्तःकर्ण में स्थित कोक्लिया नामक अवयव में यदि विकृति हो जाए तो इस प्रकार के शब्द उत्पन्न होने लग जाते हैं। इसी प्रकार कर्ण अस्थियों के स्तम्भन की अवस्था में भी शब्दोत्पत्ति हो जाती है। क्विनीन आदि औषधियों के सेवन करने से भी यह विकार उत्पन्न होता है। आधुनिक चिकित्सक इन अवस्थाओं को दूर करने के लिए चेष्टा करते हैं। संशामक पदार्थ दिए जाते हैं और बलकारक औषधियों का प्रयोग किया जाता है।

(४) कर्ण बाधिर्य—सुश्रुत संहिता में बहरेपन का वर्णन इस शब्द के द्वारा किया गया है और वहाँ बताया गया है कि "वही शुद्ध वायु कफ में मिल कर विविध मार्गों का अवरोध करके शब्दवहा शिरा में रुक जाती है। यदि उस व्यक्ति की चिकित्सा न कराई जाए तो उसे निश्चित बाधिर्य हो जाता है।"

इस विषय में ध्यान रखना चाहिए कि कुछ व्यक्ति गूँगे और बहरे होते हैं। जिनमें से कुछ जन्म से ही होते हैं और कुछ जन्मोत्तर काल में विविध रोगों के प्रभाव से हो जाते हैं। अभी तक इस अवस्था का कोई निश्चित उपचार मालूम नहीं है।

आधुनिक चिकित्सकों ने बधिरता के कारणों पर विचार करते हुए बताया कि बुढ़ापे के कारण सम्बन्धित वातनाड़ी में क्षीणता आ जाती है, 'रोमन्तिका' आन्त्रिक ज्वर आदि विषयजन्य अवस्थाओं में भी वातनाड़ी के विकार के कारण;

हर समय बहुत जोर के शब्द सुनते रहने के कारण, कुछ औषधियाँ जैसे क्विनीन, पेन्सिलीन आदि भी सम्बन्धित नाड़ी को विकृत करके तथा नाड़ी पर अभिघात लगने से बधिरता उत्पन्न हो जाती है। बाह्यकर्ण की नलिका में अवरोध होने से, कर्णपटह के सच्छिद्र होने या विदीर्ण होने से, कोकल्या नामक अवयव के विकृत होने पर तथा मध्यकर्णपाक की अवस्था में विकृत होने से होता है। इन कारणों के अनुरूप ही चिकित्सा का विधान आधुनिक चिकित्सकों ने बताया है।

आयुर्वेद में इस रोग की चिकित्सा भी कर्णशूल की तरह ही करने का विधान जैसा कि पीछे दिए गए सूत्र से स्पष्ट हो जाता है। वहाँ पर यह बताया गया है कि "बालकपन में उत्पन्न हुआ और बुढ़ापे में पैदा हुआ और बहुत पुराना बाधिर्य असाध्य होता है।" बाधिर्य में वात नाशक माषादि तेलों का प्रयोग करना चाहिए, इस अवस्था में बिल्व, दशमूल तेल, नशनाद्य तेल का भी प्रयोग कर्ण पूरण करने के लिए करना चाहिए। मैथुन, क्रोध और रूक्षता का परित्याग करना चाहिए।

(५) कर्णस्राव—जैसा कि नाम से ही सिद्ध हो जाता है कि कान के स्राव का निकलना कर्णस्राव कहलाता है। इस स्राव में रक्त, पूय अथवा जलीय पदार्थ निकल सकते हैं। सुश्रुत संहिता में लिखा है कि "सिर में चोट लगने के कारण, जल में गोते लगाने के कारण, कर्णविद्रधि के पक जाने के कारण वायु दोष से पीड़ित अर्थात् तोद आदि वातिक वेदनाओं वाला कान पूय को स्रवित करता है। उस रोग को कर्णस्राव कहा जाता है।"

इसकी चिकित्सा बताते हुए निम्न पाँच क्रियाओं का प्रयोग करने को कहा गया है—

१. कर्णपूरण। २. शिरोविरेचन। ३. धूपन। ४. प्रामार्जन। ५. प्रक्षालन

इन क्रियाओं के लिए आरग्वधादि कषाय और सुरसादि गण का प्रयोग करना चाहिए।

कान में डालने के लिए कई योग कहे गए हैं। हम कुछ प्रसिद्ध योगों का संग्रह कर रहे हैं—

(क) लाख, रसौत, राल का चूर्ण कर कान में डालना चाहिए।

(ख) चीड़ के वृक्ष की छाल का चूर्ण, वन कपास फल का रस और मधु को मिलाकर कान में डालना चाहिए।

(ग) आम, कैथ, महुआ, धव और शाल इनका स्वरस अलग-अलग अथवा मिलाकर अथवा इनसे सिद्ध किया गया तेल कान में डालें।

कान को धोने के लिए पञ्चकषाय द्रव्यों के क्वाथ का प्रयोग करें।

(६) **कर्णकण्डु**—कान खुजली का होना कर्णकण्डु कहलाता है है। इसकी सम्प्राप्ति लिखते हुए कहा गया है कि "कर्णगत वायु कफ से संयुक्त होकर कान में खुजली पैदा करता है, उसे कर्णकण्डु कहते हैं।"

इसकी चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि निम्न विधियों का पालन करना चाहिए—

(१) नाड़ी स्वेदन। (२) वमन। (३) धूम्रपान।
(४) शिरोविरेचन। (५) कफनाशक विधियाँ।

एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि कान के अन्दर पामा आदि रोग हो जाने से भी खुजली होने लगती है किन्तु वह खुजली कर्णकण्डु के अन्तर्गत नहीं आती और न ही वह कर्णरोग के अधिकार में मानी जाती है।

(७) **कर्णगूथ**—कान के अन्दर मैल का रहना कर्णगूथ कहलाता है। यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि कान में मैल का रहना एक प्राकृतिक नियम है। कान के त्वचा के नीचे जो ग्रन्थियाँ हैं उनमें से जो चिपचिपा पदार्थ निकलता है वही मैल का रूप धारण करता है। यह मैल उचित मात्रा में रहता हुआ कान की नलिका की रक्षा करता है। मक्खी एवं धूल आदि को कान के अन्दर नहीं जाने देता। जब यह मैल अधिक मात्रा में हो जाता है तो यह विकार उत्पादक हो जाता है। उसे ही कर्णगूथ के नाम से कहा जाता है। इसी बात को शास्त्रों में इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है—"पित्त की उष्णता के द्वारा स्रोतों में कफ के शुष्क हो जाने पर मनुष्यों में कर्णगूथ नामक रोग पैदा होता है।"

कर्णगूथ के कारण श्रुतिपथ में रुकावट आ जाती है जिससे शब्द के प्रवेश में बाधा होती है और कुछ बाधिर्य की उत्पत्ति होती है। इसके द्वारा कान के अन्दर विभिन्न प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं। यह वहाँ दबाव डालता है जिससे वेदना एवं क्षोभ की उत्पत्ति होती है।

इसकी चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि—"कान में तेल डाल कर मैल को प्रक्लिन्न करना चाहिए। फिर स्वेदन देकर उसे पिघलाना चाहिए और शलाका का प्रयोग कर उसे बाहर निकालना चाहिए।"

आज भी हाइड्रोजन पर ऑक्साइड के द्वारा यही क्रियाएँ की जाती हैं। पिचकारी से कान को धोकर भी मैल को साफ किया जाता है।

(८) कृमिकर्ण—"जब कान में कृमि आदि गिर पड़ते हैं अथवा मक्खियाँ कान में अण्डे बच्चे दे देती हैं, तब इन कृमियों के होने से पुराने वैद्य उस कान के रोग को कृमिकर्ण कहते हैं।"

विदेह ने इसका वर्णन इन शब्दों में किया है—"रक्त और मांस में होने व कोथ के साथ कफ-पित्त और जल के मिल जाने पर कृमियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो अनेक प्रकार की पीड़ाएँ करती हैं और कान को खाती रहती हैं। ये कृमि कृष्ण, ताम्र, श्वेत अथवा अरुण वर्ण की होती हैं। इस रोग को कृमि-कर्ण कहते हैं और यह त्रिदोषज कहा जाता है।"

इस वर्णन को देखने से कहा जा सकता है कि कृमिकर्ण की उत्पत्ति उस अवस्था में होती है, जबकि कर्णस्राव एवं कर्णपाक की अवस्था में पूर्ण स्वच्छता की व्यवस्था न रखी जाय। यह बाह्य उपसर्ग द्वारा होने वाला रोग जानना चाहिए।

कृमिकर्ण की चिकित्सा सुश्रुत संहिता में निम्न प्रकार बताई गई है—

(१) कृमिनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

(२) सूखी बड़ी कटेली का धुआँ कान में देना चाहिए।

(३) सरसों का तेल कान में डालना चाहिए।

(४) गोमूत्र में हरताल मिलाकर कान में डालें।

(५) गुग्गुल का धुआँ कान में दें।

(६) वमन।

(७) धूम्रपान।

(८) कवल धारण करायें।

(९) कर्ण प्रतिनाह—सुश्रुत संहिता में कहा गया है—"कि कर्णगूथ पिघल कर द्रव रूप होकर नासामुख में आता है तब इसको कर्णप्रतिनाह कहा जाता है। इस रोग में सिर वेदनाएँ उत्पन्न होती हैं।"

दूसरी ओर वाग्भट्ट के लक्षण देखिए, कहा गया है कि—'कर्णगतश्लेष्मा वायु द्वारा शुष्क हो जाता है। अतः यह स्रोतों में लिपट जाता है—जिससे पीड़ा, गुरुता और अवरोध की उत्पत्ति होती है। उसे कर्ण प्रतिनाह कहते हैं।"

इन दोनों शास्त्र वचनों के आधार पर हम कह सकते हैं कि वह यह अवस्था है जिसमें कान का पर्दा फट जाता है और कण्ठ से सम्बन्धित श्रुति सुरंग में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है।

इस रोग की चिकित्सा निम्न सिद्धान्तों के आधार पर करने को कहा गया है—

१. स्नेहन । २. स्वेदन । ३. शिरोविरेचन । ४. उपयुक्त औषधि प्रयोग।

औषधि प्रयोग में उन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए जो शिरःशूल का नाश करने वाले हों।

(१०) **कर्णविद्रधि**—यह दो प्रकार की बताई गयी है—

(क) क्षत विद्रधि (ख) दोष विद्रधि

इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि "अभिघात से एक प्रकार की विद्रधि उत्पन्न होती है और दूसरी तरह की विद्रधि वातादि दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होती है। चुभने की-सी वेदना होती है। धूमोद्‌गार, दाह एवं जलन होती है।"

यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि दोषज्ञ विद्रधि में एक-एक दोष के अनुसार तथा उनके मिलित रूप के अनुसार उपभेद हो सकते हैं।

कर्णविद्रधि के नाम से ही स्पष्ट है कि कान के स्रोत में कोई फुंसी हो जाती है जिसके द्वारा मार्ग का अवरोध होने से वधिरता हो सकती है। शोथ के कारण शूल आदि होना स्वाभाविक है।

इस अवस्था में निम्न सिद्धान्तों के अनुसार उपचार करने के लिए लिखा है—

(क) यदि विद्रधि अपक्व है तो उसे वहीं पर समाप्त करने का उपचार करना चाहिए। इस अवस्था में संशात्मक उपचार लाभ करता है।

(ख) यदि पाकोन्मुख है तो उसे शीघ्र पकाने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(ग) यदि पक गई है तो शास्त्र द्वारा उसको विदीर्ण कर, शोधन तथा रोपण की व्यवस्था करनी चाहिए।

(११) **कर्णपाक**—सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि "पित्त के प्रकोप से सड़ना और क्लेद युक्त पाक होना, कर्णपाक कहलाता है।"

यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि यह अवस्था कर्ण के अन्दर शोथ होने के पश्चात् होती है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पित्त के स्रावक गुण के कारण ही कर्णपाक हुआ करता है।

कर्णपाक की चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि पित्तज विसर्प के समान चिकित्सा करनी चाहिए। पित्तज विसर्प की चिकित्सा निम्न प्रकार बतलाई गई है—

(१) लेप—(क) कसेरू, सिंघाड़ा, कमल कीचड़ को घृत में मिलाकर अतिशय शीतल करके वस्त्र से बांध दें।

(ख) झाऊबेर, खस, चन्दन, श्रोताजन, मुक्तामणि, गेरू को दूध में पीसकर घी के साथ मिलाकर लेप करना चाहिए।

(२) परिषेचन—बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के स्वरस से शीतल दूध से, शहद के जल से, ईख के रस से और गोर्यादि घृत में परिषेचन करना चाहिए।

(१३) पूतिकर्ण—इस रोग में कान में खराब गंध (बदबू) आने लगती है। सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि "पित्त के तेज से कर्ण श्रोत में अवस्थित श्लेष्मा के सन्तप्त एवं विलीन होने के कारण वेदना रहित या वेदना सहित गाढ़ा और दुर्गन्धित स्राव निकलने लगता है, उस रोग को पूतिकर्ण कहते हैं।"

पूतिकर्ण की चिकित्सा कर्णस्राव की तरह करने को कहा गया है। कर्णस्राव की चिकित्सा हम पीछे लिख चुके हैं।

(१४-१७) कर्ण अर्श—कान के अर्श के समान मस्से होना कर्ण-अर्श कहलाता है। यह अर्श रोग के समान जानने चाहिए। अर्श का वर्णन शल्यतन्त्र का विषय है, हम इस पुस्तक के चौथे प्रश्न-पत्र में इसका वर्णन करेंगे। यह चार प्रकार का होता है—

(१) वातार्श, (२) पित्तार्श, (३) कफार्श, (४) सन्निपातार्श।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस रोग से सम्बन्धित कुछ अवस्थाओं का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

(क) ल्युपस (Lupus)—छोटी-छोटी गाँठें होती हैं जो कान के बाहरी भाग में पायी जाती हैं—इनकी उत्पत्ति प्रायः क्षय के द्वारा होती है।

(ख) फिरंगार्श (Condyloma)—सिलाफिश की द्वितीयावस्था में इस रोग की गाँठें कान में निकल आती हैं।

(ग) कर्ण वाल्मीकि (Otomycosis)—एक फंगस द्वारा होने वाली गाँठें हैं।

अर्श रोग की चिकित्सा भी शल्यतन्त्र में विस्तार से कही जाएगी। वही चिकित्सा कर्ण अर्श के लिए समझनी चाहिए। उसकी चार विधियाँ हैं—

(१) औषधि चिकित्सा, (२) शस्त्र कर्म,
(३) अग्नि कर्म, (४) क्षार कर्म।

(१८-२४) **कर्ण अर्बुद**—शालाक्य तन्त्र में कान में होने वाले सात प्रकार के अर्बुदों की गणना भी कान के रोगों में की गई है। सुश्रुत संहिता में उत्तर तन्त्र अध्याय में कहा गया है कि इन अर्बुदों को भी दूसरे अर्बुदों के समान ही समझना चाहिए।

यदि अर्बुद रोग के विषय में संक्षेप में निर्देश किया जाय तो अनुपयुक्त न होगा। सुश्रुत संहिता निदान स्थान अध्याय ११ में अर्बुद का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि—"कुपितु वातादि दोष के किसी भी भाग में मांस और रक्त को दूषित करके शरीर में कहीं भी गोल, स्थिर, मन्दवेदना-युक्त, महान् एवं विस्तृत मूल वाली, देर में बहने वाली, पाक रहित, मांस संघातयुक्त तथा अगाध जो शोथ उत्पन्न होता है, उसे अर्बुद कहते हैं।" यह लक्षण लिखने के पश्चात् वहाँ अर्बुद के छः भेद कहे गए हैं। शालाक्य के विषय में सन्निपातज अथवा सिराज अर्बुद के नाम से सातवाँ कर्ण अर्बुद भी बताया गया है।

अर्बुद के विषय में आधुनिक शल्य विशेषज्ञों ने भी अपने विचार व्यक्त किए हैं—वे दो प्रकार के अर्बुद मानते हैं—

(१) साधारण अर्बुद (Simple Tumour)

(२) घातक अर्बुद (Malignant Tumour)

घातक अर्बुद में कैंसर आदि रोग आते हैं, इसकी कोई निश्चित चिकित्सा अभी तक ज्ञात नहीं है। रेडियम आदि द्वारा अब उपचार किया जाने लगा है।

आधुनिक शालाक्य शास्त्रियों ने इस विषय में लिखा है कि कर्ण के बाह्य भाग में प्रायः कर्णपाली, शष्कली और बाह्य श्रुतिपथ में यह अर्बुद हुआ करते हैं। इनका कहना है कि इसकी चिकित्सा करते समय छेदन कर्म करना चाहिये और फिर उसका रेडियम द्वारा वहन करना चाहिए।

आयुर्वेद के ग्रन्थ में अर्बुद की चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि निम्न प्रकार उपचार की विधियाँ हैं—

(१) औषधि चिकित्सा, (२) शस्त्र कर्म,
(३) क्षार कर्म, (४) अग्नि कर्म।

जो भी अवस्थानुसार उपयुक्त हो उसी के अनुसार उपचार करना चाहिए।

(२५-२८) **कर्णशोथ**—शास्त्रों में कर्णशोथ के चार भेद बताए गए हैं, जो इस प्रकार से हैं—

(१) वातज कर्णशोथ, (२) पित्तज कर्णशोथ,
(३) कफज कर्णशोथ, (४) सन्निपातज कर्णशोथ ।

इन चार के नाम निर्देश करने के साथ ही यह भी बताया गया है कि इन्हें भी साधारण शोथ के समान ही समझना चाहिए। इनके लक्षण एवं चिकित्सा आदि उन्हीं सिद्धान्तों पर जानना चाहिए।

आधुनिक शालाक्य शास्त्री इस विषय को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं, उनका कहना है कि कर्ण के तीन भागों के अनुसार तीन प्रकार का कर्णशोथ होता है। उनके अनुसार प्रत्येक भाग को अलग-अलग समझना चाहिए। वे निम्न तीन प्रकरणों में इनका वर्णन करते हैं—

(१) बाह्य कर्ण शोथ। (२) मध्य कर्ण शोथ। (३) अन्तः कर्ण शोथ।

इनमें अधिकतर पाया जाने वाला रोग मध्य कर्ण शोथ है। उसके विषय में यहाँ कुछ लिखना अनपयुक्त न होगा।

मध्यकर्ण शोथ (Otitis Media)—यह अवस्था कीटाणु उपसर्ग के द्वारा हुआ करती है। उपसर्ग विभिन्न मार्गों द्वारा मध्यकर्ण तक पहुँचता है और वहाँ जाकर शोथ को उत्पन्न करता है। प्रमुख मार्ग निम्न हैं—

(१) **नासाग्रसनिका द्वारा उपसर्ग का जानना**—नाक एवं गले को कान से मिलाने वाली नलिका जिसे श्रुति सुरंगा कहते हैं, के द्वारा गले एवं नाक से कान में भी रोग उत्पन्न होने लगता है।

(२) रक्तवाहिनियों द्वारा भी कान में उपसर्ग जाता है।

(३) बाह्यकर्ण में अन्तःकर्ण में जो रोग हों वहाँ से भी मध्य कर्ण में उपसर्ग जा सकता है।

जब उपसर्ग होने से तीव्र शोथ होता है तो निम्न लक्षण उत्पन्न हुआ करते हैं—

(१) वेदना। (२) बधिरता। (३) बाह्य आवाजें उत्पन्न होना।
(४) चक्कर। (५) ज्वर।

जब कर्ण दर्शक यन्त्र की सहायता से कान को देखा जाता है तो कान के पर्दे की चमक नष्ट हुई मिलती है। इस पर्दे का रंग भूरा रहना चाहिए किन्तु तीव्र शोथ में यह लाल हो जाता है और यदि पक जाए तो पीले रंग का दिखाई देता है। पकने पर कान उभरा हुआ दिखाई देता है। पक जाने पर पर्दे में छिद्र हो जाता है और पूय का स्राव होने लगता है—इस अवस्था में मध्य-

शोथ का निश्चय हो जाता है। इस अवस्था में रुई आदि से कान को साफ करने के पश्चात् यदि परीक्षा करें तो हम पाते हैं कि छिद्र वहाँ विद्यमान है।

मध्यकर्ण शोथ का उपचार अवस्थानुसार होगा। यदि छिद्र नहीं हुआ है तो वेदनाशक औषधियाँ दें। एस्प्रीन देना अच्छा है। कान में कार्बोलिक ग्लिसरीन डालते हैं। गले में गरारे कराते हैं और नाक में एफेड्रिन की बूँद डालते हैं। आजकल सल्फा एवं पैंसलीन आदि दवाएँ दी जाती हैं।

यदि शोथ के साथ पूय का संचय हो और छिद्र न हुआ हो तो विशेपज्ञों द्वारा छिद्र कराना चाहिए। पूयः आदि का स्राव न होने से कितने ही उपद्रव हो सकते हैं। यदि छिद्र हो गया हो तो सफाई एवं रोपण क्रियाएँ करनी चाहिए। इस अवस्था में बोरिक एसिड, स्पिरिट अथवा क्लोरोमाइस्टीन, टेरामाइसन, सिन्थोमायसिन आदि औषधियों की बूँद डालनी चाहिए। इनसे रोपण होने लगता है। शूल नामक एस्परीन का प्रयोग करना चाहिए। आजकल सल्फा की दवाइयाँ और पैंसलीन का प्रयोग किया जाता हैं।

यदि कुछ समय तक मध्य कर्ण शोथ की उपेक्षा की जाय तो वह पुराना होने लगता है और उस अवस्था को जीर्ण मध्यकर्ण शोथ कहा जाता है। इस अवस्था में हम वह स्वरूप पाते हैं जो पीछे कर्णस्राव एवं पूतिकर्ण के प्रकरण में बता आए हैं। इस अवस्था में बधिरता पाया जाना एक साधारण लक्षण है।

जीर्ण कर्ण शोथ में कान की सफाई रखना नितान्त आवश्यक है जो भी स्राव आता है उसको शुष्क करने के लिए उपचार करना चाहिए। इस अवस्था में भी सब औषधियाँ प्रयोग की जा सकती हैं जो कर्ण शोथ की चिकित्सा के लिए हम पीछे बता आए हैं।

इस तरह कर्ण सम्बन्धी सुश्रुतोक्त अट्ठाइस रोगों का निदान चिकित्सा सहित वर्णन किया गया है—जहाँ-जहाँ आवश्यक हुआ आधुनिक शालाक्यशास्त्र विषयक तथ्य भी दिए गए हैं।

२

नासारोग—विज्ञान

प्रश्न—नासा शरीर का सविस्तार वर्णन कीजिए।

उत्तर—नासिका जो मुख के ऊपर और दो नेत्रों के बीच में स्थित है, जिससे हर प्राणी उच्छ्वास और निश्वास का कार्य करता है, अर्थात् प्राण वायु को ग्रहण करता है जो हर प्राणी को जीवित रहने के लिए परम आवश्यक है, और अशुद्ध वायु (CO_2) का त्याग करता है। शालाक्य तन्त्र में इसका विशेष रूप से वर्णन किया जाता है; नासिका को घ्राणेन्द्रियों का अधिष्ठान माना है। आयुर्वेद में नासिका को प्राणवाही स्रोत माना है।

आधुनिक विज्ञान में नासिका का वर्णन—आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस प्रकार का वर्णन किया है कि नासिका द्वारा ऑक्सीजन को ग्रहण किया जाता है जो कि शरीर से रक्त की गति व रक्त कण के लिए अति आवश्यक है जिससे पुरुष जीवित रहता है और इसी के द्वारा कार्बन डाइ-ऑक्साइड का त्याग किया जाता है जो कि रक्त कण के लिए हानिकारक है। नासिका का कार्य जानने से पूर्व और इसके रोग जानने से पहले इसकी रचना का ज्ञान होना परम आवश्यक है।

नासिका की रचना—नासिका जो कि नेत्रेन्द्रियों के मध्य स्थित है, यह एक त्रिकोण की भाँति है, जिसका एक कोण ऊपर की ओर और दो कोण मुख की ओर हैं और मध्य में से ऊपर की ओर उठा हुआ है। इसकी बनावट में तरुणास्थि अस्थि और माँसपेशियाँ भाग लेती हैं। यह नासा दो भागों में विभाजित है, जो कि बाहर से दिखाई देता है उसे बहिर्नासिका कहते हैं और अन्दर के भाग को अन्तर्नासिका कहते हैं। अन्तर्नासिका का नासा जवनिका (Septum) द्वारा दो भागों में विभाजित होता है। अन्तःर्नासिका में दोनों तरफ तीन-तीन छिद्र पाये जाते हैं, जिनमें से एक छिद्र आँखों में खुलता है, एक छिद्र गले में तीसरा छिद्र नासिका से नथुने की ओर खुलता है, ये अन्तःनासिका के बाह्य भाग पर

श्लेष्मकला लगी रहती है, जिसके विकृत होने से मनुष्य की नासिका बढ़नी शुरू हो जाती है, अर्थात् श्लेष्म कला विकृत होकर बहना शुरू कर देती हैं जिसे नाक का बहना या अधिकतर जुकाम कहते हैं।

नासा जवनिका—जैसा कि ऊपर वर्णन किया है कि अन्त:नसिका एक परदे से दो भागों में विभाजित है, उस परदे को जो कि इसका विभाजन करता है, नासाजवनिका (Septum) कहते हैं। इस नासाजवनिका का कुछ भाग अस्थि से एवं कुछ भाग तरुणास्थि और मृदवस्थि से बना है। आगे की ओर चतुर्भुजाकार तरुणास्थि से नासाजवनिका बनी रहती है, पीछे की ओर जवनिका की बनावट में भाग लेने वाली झर्झरास्थि (Ethmaoid bone), मध्य फलक, उससे पीछे जतुकास्थि, का तुंड आ जाता है। इसी प्रकार से नीचे की ओर चतुर्भुजाकर तरुणास्थि, उध्वास्थि कंटक (Madilary spine) तथा सिरकास्थि (Vomer bone) लगी रहती है, इसके नीचे वाली धारा के साथ दो और तरुणास्थि के छोटे छोटे भाग आ जाते हैं, जिनको सीरक नासिका तरुणास्थि (Romer Nasal Cartilage) कहते हैं। नासा जवनिका की पार्श्व की दीवार में कई क्रमबद्ध उभार पाये हैं, जिन्हें आयुर्वेद में शुक्ती और अंग्रेजी में (Con elraer turbinates) कहते हैं, इनके मध्य में कई खाली स्थान पाये जाते हैं जिन्हें सुरंगा (Meatus) कहते हैं।

जवनिका भी दोनों ओर से श्लेष्मिक कला से ढकी रहती है जिसके होने से जुकाम, सिरदर्द और अन्य कई नासिका के रोग हो जाते हैं।

सुक्तिकायें—सुक्तिकायें तीन होती हैं—

(क) अधः सुक्तिका, (ख) मध्य सुक्तिका, (ग) उर्ध्व सुक्तिका।

अध: सुक्तिका—यह स्वयं एक अस्थि का रूप ले लेती है जो कि नासिका पार्श्व की दीवार से लगी रहती है। ये अध: सुक्तिका झर्झरास्थि का ही एक भाग है। इसके ऊपर भी श्लेष्मिक कला चढ़ी रहती है, जिसे म्यूकस मेम्ब्रेन कहते हैं। इसके नीचे प्रहर्षणक धातु रहता है, जिसे Erectile Tissue कहते हैं।

मध्य सुक्तिका—यह अधः सुक्तिका के साथ स्थित है। यह झर्झरास्थि का एक भाग है, यह अध: सुक्तिका के ऊपर स्थित है, इसके ऊपर श्लेष्मिका कला चढ़ी रहती है और नीचे प्रहर्षणक धातु (Erectile Tissue) रहता है जो कि अध: सुक्तिका के नीचे स्थित है, उससे अधिक होता है।

ऊर्ध्व सुक्तिका—ये मध्य सुक्तिका के ऊपर स्थित है, इसके ऊपर भी म्युकस मेम्ब्रेन तथा नीचे प्रहर्षणक धातु पाया जाता है।

नासा सुरगायें बड़ी महत्त्व की रचना है, इसमें पूय का दिखाई देना, नासा और वायु विवरों में विकृति का द्योतक होता है, इसी चिन्ह से हमारे नासा के रोगों का निदान होता है।

नासा की ऊर्ध्व सुरंगा चक्षु में जाकर खुलती है जिसे नासाश्रुवाहिस्रोत अथवा अंग्रेजी में (Nasolacrimal duct) कहते हैं।

मध्य सुरंगा में भी कोई एक महत्त्व की रचनायें मिलती हैं, इसके अग्रान्त (Ant-End) की ओर एक प्रवर्धन पाया जाता है जिसे झर्झरास्थि प्रवर्धन (Uncinati Bones) कहते हैं जो कि झर्झरास्थि का ही भाग है। इसी के साथ एक और उभार दिखाई देता है जिसे झर्झरास्थि विस्फोट (Ballaeth-moaiditis) कहते हैं। ये उभार (Ethmoidal labrynth) के उभार के कारण होता है। इन दोनों के मध्य में एक खाली स्थान होता है जो अर्धचन्द्रापारिखा कहलाता है। अर्धचन्द्रापारिखा के साथ ऊपर की ओर यदि ध्यान देखें तो एक संकरा स्थान पाया जाता है जिसे Infundibulum कहते हैं जो ऊपर जाकर पुनः नासास्रोत (Frontal Nasal Duct) होता है।

नासिका सीमा—नासिका तल तलवास्थि (Palate Bones) और दाँतों के कटोरों (Alulus) से बनता है। नासिका की छत आगे की ओर पार्श्वास्थि से और पीछे की ओर झर्झपटल (Cribiriform Plates) से जो कि झर्झरास्थि का अस्थि भाग है, उससे और जतुकास्थि से बनता है।

नासिका कर्म—नासिका के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य निम्न हैं—

उच्छ्वास विश्वास—अर्थात् इसी के द्वारा प्राण वायु (O_2) को ग्रहण करते हैं और अशुद्ध वायु (CO_2) का त्याग करते हैं, जिसके द्वारा हमारा शरीर जीवित रहता है।

ऊष्मा और आर्द्रीकरण (Warming & Moistening)—हमारे शरीर का ताप ऋतु के अनुसार परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि नासिका के द्वारा शरीर का तापक्रम ऋतु के परिवर्तन होने पर भी स्थिर रहता है। ये परस्पर सम्बन्धित क्रियाएँ हैं, नासिका में जितनी श्लेषमिक कला मोटी होगी और संकुचित होगी, उतना ही वह शरीर के ताप को बनाये रखने में सहायक होगी, इससे वाष्पीकरण भी अधिक ही होगा और गाढ़ा कफ स्राव प्रतीत होगा।

जब उसमें कोई विकृति उत्पन्न हो जायेगी इसके कारण वह ठण्ड अनुभव करेगा।

नितरण—साँस लेने पर प्राण वायु के साथ जो अशुद्ध पदार्थ नासिका द्वारा फुफ्फस में प्रविष्ट होना चाहते हैं, नासिका फुफ्फुस में प्रविष्ट होने से पूर्व रोक लेती है। अर्थात् प्राण वायु को छानकर फुफ्फुस में प्रविष्ट होने देती हैं। नासिका में श्लेष्मिक कला और कुछ बाल होने से अशुद्ध द्रव प्राण वायु में होते हैं वे श्लेष्मिक कला पर चिपक जाते हैं, इस प्रकार से फुफ्फुस में प्रवेश नहीं कर पाते।

गंध ग्रहण—नासिका द्वारा विशेष स्थान पर भिन्न-भिन्न पदार्थों की गन्ध का ज्ञान होता है।

स्वर यन्त्र को स्थिर रखना (Resonance of Voice)—स्वर को बनाये रखने में नासिका विशेष भाग लेती है, स्वर यन्त्र से निकली हुई आवाज नासिका द्वारा भिन्न-भिन्न धमनियों में परिवर्तित होती जाती है। नासिका के ठीक कार्य करने पर अथवा ठीक अवस्था में होने पर धमनी भी मधुर स्वर में उत्पन्न होती है, इसके विपरीत यदि नासिका में किसी प्रकार की विकृति आ जाय तो उस स्वर में अन्तर आ जाता है जैसे कि नासिका के बहने पर श्लेष्मिक कला झड़ जाती है और पुरुष के बोलने पर उसकी आवाज बहुत मोटी फटे बाँस की भाँति होती है।

कोषांकुर क्रिया (Ciliary action)—नासिका में श्लेष्मिक कला के ऊपर कुछ कोषाणु होते हैं, उनमें लोमवल कोषांकुर (Cilan) होते हैं जिनके द्वारा श्लेष्मिक कला विजातीय पदार्थों से अपनी सफाई करती है। इस विजातीय द्रव को भीतर नहीं जाने देती। नासिका को स्वस्थ और विजातीय पदार्थों से सुरक्षित रखने के लिए नासिका में कोषांकुर होना परम आवश्यक है। इनमें कोषांकुरों में किसी प्रकार की विकृति का होना शरीर और नासिका दोनों के लिए ही हानिकारक है। कोषांकुरों के जीवन और ठीक माध्यम में रखने के लिए एक विशेष माध्यम की आवश्यकता पड़ती है। ये अवस्था श्लेष्मिक कला (Mucus Membrane) है। जिसमें श्लेष्मा पायी जाती है। बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो कि कोषांकुरों की क्रियाओं में बाधा डालती हैं। जैसे—व्रणशोथ, श्लेष्मा का सूख जाना और किसी प्रकार की गति होना। कोषांकुरों से अधिक क्रियाशील होने से अधिक नासास्राव और कम क्रियाशील होने से कम नासास्राव होता है अर्थात् कम नासास्राव

नासिका में संचित होकर पपड़ी का बनना शुरू हो जाता है जो नाक को बन्द करके श्वास, उच्छ्वास, सुगन्ध आदि में विकृति उत्पन्न करता है। कोषांकुर जब तक कार्यशील रहते हैं, नासा के स्राव को पीछे की ओर नहीं जाने देते बल्कि बाहर की ओर फेंकते रहते हैं। जब से कोषांकुर ठीक अवस्था में होते हैं तब स्राव को बाहर नहीं फेंकते और इनके ठीक होने पर न ही अधिक स्राव उत्पन्न होती है। इस प्रकार से कोषांकुर ठीक अवस्था में होने पर नासा और शरीर के लिए सुखदायक हैं, और विकृत होने पर हानिकारक हैं। कई परिस्थितियों में नासिका में स्वतन्त्र नाड़ी मण्डल के कारण भी विकृति उत्पन्न हो जाती है परन्तु ये विकृति स्वतन्त्र नाड़ी मण्डल (Sympathetic System) के ऊपर निर्भर है कि इसमें किस प्रकार की विकृति उत्पन्न हुई है जिसके कारण नासिका में विकृति उत्पन्न हो गई है। इससे विकृति का उत्पन्न होना बहुत खतरनाक है यहाँ तक कि मृत्यु तक भी हो सकती है। जैसे कि नासावरोध या नासिका में किसी कारण पूय का उत्पन्न होना जो कि स्वतन्त्र नाड़ी को दूषित करता है और इसी के द्वारा पूय कीटाणु मस्तिष्क में पहुँचकर वहाँ घर कर लेते हैं, जिससे मृत्यु हो सकती है। इससे पूर्व कुछ चिन्ह प्रकट होते हैं जैसे—सिर में पीड़ा, भ्रम होना आदि।

इस प्रकार से नासिका का ज्ञान प्राप्त करने पर प्रतीत होता है कि नासिका शरीर का एक आवश्यक अंग है। इसका ज्ञानेन्द्रियों में विशेष स्थान है। नासिका की रचना के अवयवों का अपना-अपना विशेष कार्य है और इन रचनाओं में भी किसी में भी विकृति आने पर भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न होते हैं।

नासिका का पूर्ण ज्ञान होने पर ही नासिका रोगों का और इससे उत्पन्न और शरीर रोगों का निदान व चिकित्सा की जा सकती है।

प्रश्न—नासागत रोगों का निदान-चिकित्सात्मक वर्णन करें।

उत्तर—सुश्रुत संहिता में रोगों का वर्णन करते हुए ३१ नासारोगों का वर्णन किया गया है। इनमें से चार प्रकार के नासाअर्श, चार प्रकार के अतिरिक्त ११ रोगों की गणना की है—

(१) अपीनस, (२) पूतिनासा, (३) नासापाक, (४) पूयरक्त, (५) क्षवथु, (६) भ्रंशथु, (७) दीप्त, (८) नासानाह, (९) परिस्राव, (१०) नासाकोष, (११) रक्तपित्त।

इस प्रश्न के अन्तर्गत हम इन ग्यारह रोगों का वर्णन करेंगे। प्रतिश्याय के पाँच भेदों का वर्णन दूसरे प्रश्न में किया जायगा। अर्श, शोथ एवं अर्बुद उसी प्रकार समझने चाहिए जैसे साधारण शरीर में होने वाले रोग होते हैं। रक्त-पित्त का वर्णन अलग प्रथम प्रश्न-पत्र में इसी पुस्तक में देखना चाहिए।

१. **अपीनस**—सुश्रुत संहिता में इस रोग के लक्षणों के बारे में इस प्रकार कहा है कि "जिस मनुष्य की नासा रुकती है, जलती है, क्लिन्न रहती है, अथवा सूखी रहती है, जो मनुष्य गन्ध एवं रसों को नहीं पहचानता, उसे अपीनस रोग से युक्त जानना चाहिए। यह रोग वायु और कफ से उत्पन्न होता है, इसके लक्षण प्रतिश्याय के समान होते हैं।"

२. **पूतिनासा**—सुश्रुत संहिता में इस रोग के लक्षणों के बारे में इस प्रकार कहा है कि "जिस पुरुष के गले और तालु मूल में वायु विदग्ध दोषों से मिलकर उनको विकृति गन्ध से युक्त बनकर दुर्गन्धित होकर मुख और नासिका से निकलता है, उस रोग को पूतिनासा कहते हैं।"

चिकित्सा—सुश्रुत संहिता में इन रोगों की चिकित्सा के विषय में इस प्रकार कहा है कि "अपीनस और पूतिनासा में रोगी को स्नेहन, स्वेदन, वमन विरेचन दें। तीक्ष्ण अल्प एवं लघु भोजन समय से दें। पीने को गरम पानी तथा धूम्रपान काल में धूम्रपान करायें।

हींग, त्रिकुट, इन्द्रजौ, श्वेत पुनर्नवा, लाख, तुलसी के बीज, कटफल, वच कूठ, सुहजना, वायविडंग, करंज, इनका नित्यप्रति अवपीड़न के रूप में नस्य दें।

इन्हीं द्रव्यों को गोमूत्र के साथ सरसों का तेल नस्य के लिए बुद्धिमान वैद्य बनायें।"

३. **नासापाक**—सुश्रुत संहिता में इस रोग के लक्षणों के विषय में इस प्रकार कहा है कि "नासा में स्थिति पित्त जिस रोग में छोटी-छोटी फुंसियाँ पैदा कर दें, और जबरदस्त पाक भी हो जाये, इस रोग को नासापाक कहते हैं। इसमें क्लेद और कोथ भी देखा जाता है।"

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा सुश्रुत संहिता में इस प्रकार कही गई है कि "नासापाक में वाह्य एवं अन्त: उपचार पित्तनाशक चिकित्सा सम्पूर्ण रूप से करें। रक्त को निकालकर बरगद आदि क्षीरी वृक्षों की छाल घी के साथ मिलाकर लेप में और परिषेक में बरतनी चाहिए।"

४. **पूयरक्त**—सुश्रुत संहिता में इस रोग के लक्षण इस प्रकार बताये गए हैं कि "पित्तरक्त की अधिकता से विदग्ध हुए दोषों के कारण या माथे पर आघात लगने के कारण रोगी की नासा से रक्त से मिश्रित पूय निकलती है, इस रोग को पूयरक्त कहते हैं।"

चिकित्सा—सुश्रुत संहिता में इस रोग की चिकित्सा के विषय में लिखा है कि "पूयरक्त में भली प्रकार वमन होने पर अवपीड़न नस्य दें, तीक्ष्ण धूम, शोधन नस्य दें।"

पूयरक्त में चिकित्सा—नाड़ी व्रण की चिकित्सा करें।

५. **क्षवथु**—इस रोग के लक्षण सुश्रुत संहिता में इस प्रकार से वर्णन किये गए हैं कि "नासिका में स्थित, शृंगाटक मर्म के दूषित होने पर वायु, कफ में मिलकर बहुत बार शब्द के साथ नासिका से निकलती है, इस रोग को क्षवथु कहते हैं।"

"तीक्ष्ण वस्तुओं के खाने से, या इत्र आदि वस्तुओं के बहुत सूँघने से, कटु वस्तुओं के सूँघने से, सूर्य देखने से, नाक में धागा आदि डालने से तरु-णास्थि या मर्म के विक्षोभ से आगन्तुक छींक आती है।"

६. **भ्रंशथु**—इसके लक्षण इस प्रकार हैं कि "सिर में पहले संचित हुआ वह विदग्ध लवण, कफ, पित्त की गरमी से नासा से ही जिस रोगी में नीचे बहता है, इस रोग को भ्रंशथु कहते हैं। इस रोग में स्राव अधिक जाता है फलतः सिर की दुर्बलता का अनुभव होता है।"

चिकित्सा—इन रोगों की चिकित्सा के विषय में सुश्रुत संहिता में लिखा है कि "क्षवथु और भ्रंशथु रोग में—प्रधमन, नस्यनाड़ी से दें, शिरोविरेचन द्रव्यों का रस चूर्ण नासा में फूंके। प्रधमन, नस्य एवं चूर्णों के कफ कम हो जाने पर वातरोग नाशक स्वेद शिर पर दें। स्निग्ध धूम तथा अन्य जो हितकारी हो वह करें।"

७. **दीप्त**—इस रोग के लक्षण सुश्रुत संहिता में बताये हैं कि "अति जलन युक्त नाशा से धूम के समान जिसमें वायु बाहर आती हो, रोगी की नासा जलती हुई-सी रहती हो, इस रोग को दीप्त कहते हैं।"

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा के विषय में लिखा है कि "दीप्त रोग में पित्त चिकित्सा एवं शीतल चिकित्सा सम्पूर्ण रूप में करें।"

८. **नासानाह**—सुश्रुत संहिता में इस रोग के लक्षण इस प्रकार दिये

हैं कि "उदान संज्ञक वायु कफ से मिलकर अपने मार्ग में जब विकृत होक स्थित हो जाता है और नासिका को बन्द कर देता है, तब इस रोग को नास प्रतिनाह कहते हैं।"

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा इस प्रकार बताई गई है कि "नास नाह में स्नेह पान उत्तम है, स्नेह धूम, शिरोवस्ति प्रशस्त है। बला तैल पान अभ्यंग, शिरोविरेचन आदि सब कामों में बरतें, एवं वातव्याधि में कहे दूस अणु तैल आदि भी बरतें।"

९. **परिस्राव**—इस रोग के लक्षण सुश्रुत संहिता में इस प्रकार वर्णन कि गए हैं कि "जिस रोगी की नासा से निरन्तर, स्वच्छ पानी के समान, बिना किसी विशेष रंग का स्राव बहता रहता है, विशेषकर यह स्राव रात्रि में होता है, इस रोग को नासा परिस्राव कहते हैं।"

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा इस प्रकार वर्णित है कि "नासा-स्राव में शिरोविरेचन द्रव्यों का चूर्ण नाक से दें, तीक्ष्ण अवपीड़न को नाड़ी से नाक में दें। देवदारु, चित्रक में तीक्ष्ण धूम दें, भोजन में बकरी का मांस उपयोगी है।"

१०. **नासाशोष**—सुश्रुत संहिता में इसके लक्षण इस प्रकार से हैं कि "नासिका में स्थित कफ के वायु और पित्त से अतिशय रूप सुखाये जाने से, रोगी कठिनाई से ऊपर और नीचे श्वास लेता है, इस रोग को नासपरिशोष कहा है।"

चिकित्सा—इस रोगी की चिकित्सा सुश्रुत संहिता में इस प्रकार बताई गई है कि, नासाशोष में दूध से निकला घी श्रेष्ठ है। अणु कल्पना से बनाया तेल नस्य में दें, स्नैहिक धूम बरतें।

प्रश्न—प्रतिश्याय का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उत्तर—अत्यन्त स्त्री संसर्ग, सिरोऽभिताप धुआँ और धूल का नाक में चूसना, अत्यन्त शीतल पदार्थों का सेवन, मूत्र और पुरीष का रोकना इन बातों से तत्काल प्रतिश्याय हो जाता है।

जब वातादिक दोष पृथक्-पृथक् या सब मिलकर और रुधिर भी सिर में इकट्ठे हो जाते हैं, तब वे क्रोधादि अनेक प्रकार के उपद्रवों से कुपित होकर प्रतिश्याय कर देते हैं।

सिर का भारीपन, छींक का आना, शरीर टूटना, रोमांच होना तथा अन्य बहुत से पृथक्-पृथक् लक्षण जो जुकाम होने से पहले होते हैं, ये प्रतिश्याय के पूर्व रूप हैं।

फुली हुई-सी रज से भरी हुई-सी नाक हो जाए और पतला-पतला स्राव होने लगे, तालु और ओष्ठ में खुश्की हो व कनपटियों में दर्द हो, गला बैठ जाये, ये लक्षण वातज प्रतिश्याय के हैं।

नाक में से गर्म पीले रंग का स्राव हो, कृशता, पीलापन, सन्ताप और तृषा की अधिकता हो और नाक से ऐसा श्वास निकले जैसे धुआँ से युक्त अग्नि होती है, पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण हैं।

कफज प्रतिश्याय में शीतल और सफेद कफ नाक में से बार-बार निकलता है, सब श्वेत दिखाई दे, आँखों में सूजन तथा सिर और मुख भार हो जाए, सिर, गले, ओष्ठ में अत्यन्त खुजली होने लगती है।

जब प्रतिश्याय बार-बार होकर अपने आप अकस्मात बन्द हो जाता है। यह पका हो चाहे न पका हो सन्निपातिक प्रतिश्याय कहलाता है तथा इसमें त्रिदोष से उत्पन्न सब पीनसों के लक्षण मिलते हैं। विदेहाचार्य कहते हैं कि यह असाध्य होता है।

रक्तज प्रतिश्याय में रक्त बहने लगता है आँखें लाल हो जाती हैं, छाती में दर्द रहता है, श्वास के साथ दुर्गन्ध निकलती है और गन्ध का ज्ञान नहीं रहता है। इनमें छोटे-छोटे काले या सफेद रंग के कीड़े पड़ जाते हैं। इसके शेष लक्षण कीड़े पड़ने वाले रोग के समान ही होते हैं।

नाक में बार-बार गीलापन हो और बार-बार सूख जाय, कभी रुकी-सी हो जाए और कभी खुल जाये, तथा श्वास लेने और निकालने में दुर्गन्ध हो और गन्ध का ज्ञान जाता रहे, ऐसे दुष्ट प्रतिश्याय को कृच्छ साध्य समझो।

यदि इन प्रतिश्यायों का इलाज न किया जाय तो ये काल पाकर घोर पीनस रोगों को उत्पन्न करते हैं और बड़ी हुई पीनस, बहरापन, अंधापन, गंध-ज्ञान तीव्र नेत्रों के रोग, खाँसी, अग्निमांद्य और शोथ इत्यादि रोगों को उत्पन्न करती है।

नवीन प्रतिश्याय को छोड़कर और सब प्रतिश्यायों को घृतपान से अच्छा करें, अनेक प्रकार के स्वेदन, वमय तथा समय के अनुसार अवपीड़न करें।

अपच्यमान प्रतिश्याय के पकने के लिए पसीना दिलाना हितकारक है, खट्टा

और गर्म भोजन करायें, दूध, अदरक और गुड़, खांड़ आदि को औटाकर पिलायें, ऐसा करने से जुकाम पक जाता है।

पके हुए गाढ़े और अवलम्बित प्रतिश्याय को शिरो-विरेचन से दूर करें अथवा जैसा दोष हो उसी के अनुसार विरेचन, आस्थापन, धूम्रपान और कवलग्रह आदि करें।

निवात स्थान में सोना, बैठना तथा क्रीड़ा करना हितकर है। सिर पर गर्म और भारी वस्त्र लपेटे रहें, तीक्ष्ण शिरो-विरेचन, धूम्रपान, रूखा मांस तथा हरड़ का सेवन करते रहें।

शीतल जल, स्त्री संसर्ग, सिर-स्नान, चिन्ता अत्यन्त रूखा भोजन, मल मूत्र का अवरोध, कोक और नवीन मद्य इनको पीनस रोग वाला त्याग दे।

वमन, अंगग्लानि, ज्वर भारीपन, आर्द्रता, अरुचि, अर्ति और अतिसार यदि इन रोगों से युक्त प्रतिश्याय हो तो लंघन, पाचन और दीपन से चिकित्सा करें।

यदि तरुण पुरुष को वात और कफ से युक्त पीनस हो गया हो तो बहुत पतले द्रव्यों से वमन करायें और अन्य उपद्रवों का जो उसके साथ में हो उनके नाश करने वाली औषधि तथा भोजन विधान से दूर करें, यदि मृदु हो गया हो तो पहले कहे हुए लक्षणों से चिकित्सा करें।

वातज प्रतिश्याय में यथाक्रम घृत का पान करें। रस घृत में पाँचों नमक और विदारीगन्धादि के क्वाथ में सिद्ध कर लें तथा जो विधि अर्दित रोग में कही है वे सब नस्य कर्म में उपयुक्त करनी चाहिए।

पितरक्त से उत्पन्न प्रतिश्याय में मधुर द्रव्यों के साथ पकाया हुआ घी पान करें, तथा शीतल परिषेक और प्रदेह करें। गूगल, पतंग, प्रियंगु, शहद, खाँड़, दाख, गिलोय, गोभी, खंभारी, मुलहटी इनका कवल धारण करायें, मधुर द्रव्यों से विरेचन दें। धाय के फूल, त्रिफला, निसोथ, लोध, मुलहटी, गूगल, हल्दी इन सबको दस गुने दूध में डालकर तेल पकायें यह तेल नस्य में हितकर है।

कफज प्रतिश्याय में तिल और उरद में पकी हुई यवागू अथवा घी से वमन करायें और कफनाशक विधियों को भी करें, दोनों बला, दोनों कटेरी वायविड़ंग, गोखरू, स्पन्द की जड़, सहा, भद्रा सोंठ इनको इकट्ठा करके तेल में डालकर पका लें और इस तेल को नस्य में दें। सरला, किषही, देवदारू, दन्ती और गोंदो इनकी बत्ती बना कर यथायोग्य धूम्रपान करें।

कटुतिक्त द्रव्यों से सिद्ध घी तीक्ष्ण कटु धूम ये सन्निपातज प्रतिश्याय में देने चाहिए। रसौत, अतीस, मोथा, देवदारु इनमें तेल को पकाकर नस्य में दें। मोथा, कास मर्द, पाढ़, कायफल, कुटकी, वच, सरसों, पीपलामूल, पीपल, सेंधानमक, चीता, नीलाथोथा, करज की मिंगी, नमक, देवदारु इन सब औषधियों से सिद्ध किया हुआ कवल धारण करना उत्तम है, और इन्हीं औषधियों से सिद्ध किया हुआ तेल शिरोविरेचन में हितकर है।

दूध और दूध से आधा जल, जंगली पशु और पक्षियों का मांस औटाएँ। फिर उसमें कमल और वातनाशक औषधियों के फूल डाल दें। जब दूध शेष रह जाय तब ठंडा करके मथें और घी निकाल लें फिर इसमें सर्पगंध, मिसरी, उत्पल, सरिवा, मुलहठी, चन्दन यह डालकर दस गुने दूध में उस घी को फिर पकाएँ फिर इसकी नस्य कर्म में उपयुक्त करें। यह बढ़े हुए प्रतिश्यायों को दूर करता है तथा यथायोग्य दोषनाशक औषधियों से तेल को पका लिया करें।

कृमि की चिकित्सा में गौ का मूत्र और पित्ता डाल दें तथा कृमिनाशक औषधियों को भी उनके यापन करने के लिए डाल दें।

प्रश्न—नक्सीर का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उत्तर—नासिका की श्लैष्मिक कला में असंख्य रक्त वाहिनियाँ होती हैं। शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा बहुत कम गहराई में और बहुत पतली दीवार वाली होती है। यही कारण है कि कभी-कभी प्रायः आसानी से फट जाती है और नासा से रक्त गिरने लगता है। बहुत ऊँचे पहाड़ों पर जहाँ वायु-मण्डल का दबाव काफी कम रहता है, वहाँ पर जाने से कभी-कभी नासिका से रक्त आने लगता है। यह विकृति भी उपर्युक्त कारणों से ही होती है, अर्थात् नासा से जो रक्त निकलने लगता है उसको नक्सीर (नासिकारक्तपित्त) कहते हैं।

१. नासागत (Local), २. सार्वदैहिक (Constitutional)।

१. नासागत कारण—इसमें प्रायः बहुत थोड़ा-सा रक्त-स्राव होता है और उसका मुख्यकारण नासागत कला का रक्तमय हो जाना ही होता है। रक्तमयता (Congestion) इस दशाओं में हो सकती है—ऐडेनोइड्स (Adenoids), नासार्श (Polypus), तीव्र नासाशोथ (एक्यूटरेहनाइटिस), नासिका में कृमि पड़ जाना, नासिका या करोटितल (Base of the skull)

पर अभिघात लगाना व किसी विजातीय बाहरी द्रव्य (Foreign body) का नासिका में प्रविष्ट हो जाना। निम्नलिखित नासागत रोगों में नासा से रक्त स्राव बार-बार होता है। घातक वृद्धियाँ यथा दुष्टार्बुद (Cancer) आदि फिरंग जन्य तथा क्षयजन्य व्रण या किसी अन्य प्रकार के व्रण (यदि वे छोटे होते हैं तो शीघ्र पहचान में भी नहीं आते हैं)।

कभी-कभी जब नासागत रक्त-स्राव बहुत अल्प मात्रा में होता है तो पीछे गले में जाकर निगला जाता है और थूक के साथ या खांसी के साथ बाहर निकलता है। ऐसी दशा में आमाशयिक रक्तस्राव (Haemoptysis) का भ्रम हो जाता है। अतः सावधानी से नासागह्वर को देखकर उपर्युक्त रोगों का, नासा के रक्तपित्त का निर्णय करना चाहिए।

२. सार्वदैहिक कारण—इनसे अधिकतर पर्याप्त मात्रा में रक्तस्राव होता है; यहाँ तक कि किसी-किसी रोगी में चिन्ताजनक रूप धारण कर लेता है। कुछ लोगों में यह रोग पारिवारिक होता है और कुछ लोगों में नासा से रक्तस्राव होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी होती है। सार्वदैहिक कारणों को पुनः दो भागों में बाँटा जा सकता है :

(क) रक्तवाहक अंगों में विकृति। (ख) रक्तगत विकृति।

(क) रक्तवाहक अंगों में विकृति—यदि रोगी स्वस्थ और ४० वर्ष से अधिक अवस्था का हो और उसे पहले पहल नकसीर फूटे तो 'ब्राइट' का चिरकालीन रोग (Chronic Bright's Diseases) अथवा रक्तभाराधिक्य (High Blood Pressure) की आशंका करनी चाहिए। हार्दिक कपाटों की विकृति (Cardiac Valavar Disease), एम्फसीमा (Emphysema), पुरानी खाँसी (Chronic Bronchitis) और यकृति की शिरोसिस् (Cirrhosis of the liver)—इन रोगों में भी नाक से रक्त-स्राव का होना प्रायः देखा जाता है। इनके अतिरिक्त निम्न दशाओं में भी यह रक्त-स्राव होता है। वक्ष गुहागत अर्बुद (Therosic Tumours), तीव्रतम ज्वर (Extreme Temperature), अत्यधिक व्यायाम के बाद आर्तवकाल (Mensturul period), ऊँचे पहाड़ों पर जाना अथवा वायुयान की यात्रा।

(ख) रक्त विकृति—इसमें रक्त में ही कुछ ऐसी विकृति हो जाती है कि उसमें जो शरीर के बाहर आने पर शीघ्र जम जाने का गुण होता है उसमें कुछ दोष आ जाता है। यहाँ पर यह जान लेना चाहिए कि रक्तस्राव

के बन्द होने में स्वयं रक्त भी सहायक होता है। क्योंकि जो रक्त शरीर के बाहर आ जाता है वह जमकर फटी हुई धमनी या शिरा अथवा व्रण के मुख को बन्द कर देता है। इस प्रकार रक्त बहना अपने आप बन्द हो जाता है। रक्त के जमने के गुण में विकार आ जाने से या तो वह बिल्कुल जमता नहीं या देर में जमता है। निम्नलिखित रोगों में रक्त में यह दोष उत्पन्न होने से नासिका से रक्त-स्राव होता है, Purpura, Haemophilia, Scurvy, Leukaemia साधारण या दुष्ट पांडुरोग (Simple Pernicicous anaemia) रक्त कणिकाओं (Blood platelets) की कमी (Shrombocytopenia) कुछ विशिष्ट ज्वर यथा यान्त्रिक ज्वर (Typhoid), आमवात (Rheumatism) और रक्त-स्रावी प्रकार के विस्फोट (Haemorrhagic forms of exanthanata) बच्चों में कुक्कुर कास (Wooping cough) और कई प्रकार के ज्वरों की प्रारम्भिक दशाओं में प्रायः नासिका से रक्त-स्राव कभी-कभी हो जाता है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए नासागत रक्त पित्त (Epistaxis) यदि अधिक मात्रा में बार-बार हो तो बहुत ही सावधानी से उसके कारण का अन्वेषण करना परमावश्यक है।

चिकित्सा—यदि हृदय या फुफ्फुस के कारण नकसीर फूटी हो और अधिक रक्त-स्राव न हो तो उसे रोकने की आवश्यकता नहीं है। इन रोगों में शिर मे पीड़ा होती है और रक्त का भार अधिक रहता है। अतः प्रत्येक नकसीर की दशा में रक्त-भार (Blood Pressure) नापना चाहिए। जब तक रक्त भार अधिक रहता है तब तक कोई भय नहीं रहता है।

नकसीर के आवेग के समय की चिकित्सा—इसमें रक्त-स्राव को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। रोगी को आराम से और शान्तिपूर्वक रखें। उसे हम इस प्रकार उत्तान लिटा दें कि उसका सिर सीधा और चिबुक सामने की ओर रहे। सिर को ठण्डा तथा पैर को गर्म रखें, ग्रीवा के पीछे पृष्ठ वंश पर बर्फ रखें। हाथों को भी ऊपर उठाया जा सकता है चूंकि सार्वदैहिक कारणों से उत्पन्न रक्त-स्राव: प्रायः नासा मध्य प्राचीन के पूर्व भाग के एक स्थान से होता है। अतः शरीर के उस भाग को अँगुली और अँगूली से दबाए रहें। अग्निदग्ध भी किया जा सकता है। रक्त-स्राव के स्थान पर एड्रेनलीन लगाने पर भी रक्त का ज्ञान गन्द हो जाता है। यदि यह सब उपचार रक्त-श्राव बन्द करने में असफल हो जाए तो नासा गुहा को सूखे या प्लोत (Rihdon gauze) से खूब कसकर भर देना चाहिए और उसे प्रतिदिन बदलते रहना

चाहिए। मुख द्वारा चार-चार घण्टे पर 'कैल्शियम क्लोराइड' लेना चाहिए। कैल्शियम क्लोराइड (Calcium Chloride) का त्वचागत सूचीवेध (Subcutaneous Injection) द्वारा भी प्रयोग किया जा सकता है। आवश्यकता होने पर अश्व की लसीका (Horse serum) का भी (१० से २० शीशी प्रति (दिन) त्वचागत सूचीवेध द्वारा प्रयोग करें। यदि इतना अधिक रक्त-स्राव हो गया हो कि त्वचा में पीतिमा आ गई हो तो किसी स्वस्थ व्यक्ति का रक्त रुग्ण व्यक्ति में प्रवेश करना चाहिए।

दौरे के मध्य में नासा गह्वर के पूर्व और पश्चात् भागों को सावधानी से देखकर कारण का अन्वेषण कर उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

समय-समय पर नासिका में वैसलीन या गौ घृत स्निग्ध वस्तु लगाते रहने से भी रक्त-स्राव रोके रखने में सहायता मिलती है।

आयुर्वेदीयोपक्रम—इसकी चिकित्सा यह है कि जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ हो उसका प्रतिकार करना चाहिए। यदि रोगी बलवान हो और मस्तिष्का किसी यन्त्र में रक्ताधिक्य होने से नासिका से रक्त-स्राव हो तो उसको सहसा नहीं बन्द करना चाहिये क्योंकि सहसा बन्द करने से प्लीहा वृद्धि आदि होने की सम्भावना बनी रहती है। किन्तु यदि रोगी दुर्बल हो और अधिक मात्रा में रक्त-स्राव हो गया हो तो बन्द कर देना चाहिए।

आमलक प्रलेप—शुष्क आँवलों को पीसकर गौ घृत में भूनकर फिर बकरी के दूध में पीसकर मस्तक पर प्रलेप करें। जिस प्रकार सेतु (बाँध) से जल का प्रवाह रुक जाता है उसी प्रकार इस लेप से नासिका से रक्त गिरना बन्द हो जाता है अथवा शीतल जल में चीनी घोलकर शरबत तैयार करके नासिका द्वारा पियें अथवा नासिका से दूध पिये अथवा द्राक्षासव अथवा ईक्ष रस में चीनी मिलाकर नासिका से पीने पर रक्त बन्द हो जाता है। अनार के फूलों के स्वरस का नस्य दें व दूर्वा के स्वरस में घी मिलाकर नस्य दें अथवा आम की गुठली का रस व पलाण्डू के रस का नस्य दें। इसके नासा से रक्त गिरना बन्द हो जाता है।

प्रश्न—नस्य विधि का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उत्तर—'नावन' 'नस्य'—नासा के द्वारा औषधि प्रयोग नस्य कहलाता है। इसे ही नस्य, नावन तथा नस्तः कर्म भी कहते है। वमनादि द्वारा शरीर का शोधन हो जाता है। इसके पश्चात् एक आवश्यक अंग जिसे 'उर्ध्वजत्रु

कहते हैं, शोधनार्थ शेष रह जाता है। वे सिर आदि अंग शरीर के उत्तमाङ्ग कहे गए हैं। उनके लिये ही नावन कर्म किया जाता है। सिर के निकटतम नासा होने से नस्य का प्रयोग नासा द्वारा ही कराया जाता है। वाग्भट्ट के अनुसार नासिका द्वारा प्रेषित औषधि शृंगाटक, स्रोत, नेत्र, मस्तिष्क, कण्ठ आदि को अभ्यन्तर शिराओं में प्रविष्ट हो, दोष संचय को नासिका द्वारा बाहर निकाल डालता है। अष्टांग संग्रह में नस्य कर्म तीन प्रकार का कहा गया है—

१. विरेचन नस्य, २. शमन नस्य, ३. बृंहण नस्य।

सुश्रुत में नस्य दो प्रकार का बताया गया है—

१. शिरोविरेचन, २. स्नेहन।

१. नस्य, २. शिरोवरेचन, ३. प्रतिमर्श, ४. अवपीड, ५. प्रधमन। चरक के मतानुसार नस्य पाँच प्रकार का होता है—

१. नावन, २. अवपीड, ३. ध्यापन, ४. धूम, ५. प्रतिमर्श।

सुश्रुत तथा चरक की दृष्टि में विशेष अन्तर धूम तथा शिरोविरेचन में दिखाई देता है। धूम का प्रयोग नासिका द्वारा भी किया जाता है। मुख द्वारा किया जाने वाला धूम्र सुश्रुत ने पाँच प्रकार का माना है। उसमें कास तथा वमनीय धूम द्वारा ही प्रयोजनीय है। नासिका द्वारा प्रयोग होने से चरक ने धूम को नावन कर्म माना है। अष्टांग संग्रह में तर्पण को ही बृंहण कहा है। सुश्रुत में विरेचन तथा स्नेह नाम से इसके दो ही भेद माने जाते हैं।

'नस्य कर्म' को कराने योग्य पुरुष को, जिसे सिर पर स्नेहन एवं स्वेदन यथा विधि करा दिये गये हों—वात शून्य स्थान पर रखकर बिस्तर पर जहाँ सिर के नीचे ऊँचा तकिया रखा हो, उत्तान भाव से लिटा दें तथा उस पुरुष का शिर शरीर के दूसरे भागों की अपेक्षा नीचा ही रहे, फिर उस पुरुष के सिर भाग का पुनः स्वेदन कराएँ। अब नस्य द्रव्य नलिका (Dropper) द्वारा या रुई के फोए से नासिका के अग्र भाग को ऊँचा करके डालें। नस्य का औषधि का शनैः-शनैः प्रयोग करें। उष्ण औषधि दाह, मूर्च्छा, भ्रम, शिरशूल आदि पित्तज बिकार तथा अतिशील जड़ता, अरुचि आदि विकार तथा एकदम औषधि प्रयोग श्वासावरोध तथा कंठावरोध विकार उत्पन्न कर देता है।

यदि औषधि की मात्रा कम रही तो गुरुता, अरुचि तथा जड़ता उत्पन्न जाती है। यदि अधिक रही तो रक्तस्राव, अत्यधिक लघता आदि लक्षण होंगे जिसे नस्य का प्रयोग करा दिया हो उसके कान, कन्धे, सिर तथा तलुओं इसके हाथों से मर्दन करना चाहिए। मूर्च्छा हो जाने पर सिर के भाग छोड़कर शेष सब शरीर पर ठण्डा सेवन करें, जिसने जल, मद्य, विष तथा स्नेहपान किया हो या पीने की अत्यन्त इच्छा रखता हो, जिसका सिरा-व्या करके रक्त निकाला गया हो, प्रसूता स्त्री हो, श्वास या कास का रोगी हो वमन विरेचन बस्ति द्वारा शुद्ध किया गया हो, उनको तत्काल नस्य न दें वर्षा ऋतु के अतिरिक्त किसी अन्य ऋतु में बादल-बिजली हो तो नस्य न दें श्लेष्म रोगों में प्रातःकाल, पित्त रोगों में मध्याह्न में, शीतकाल में सूर्य अच्छ तरह प्रकाशित हो जाने पर नस्य देना चाहिए।

(१) विरेचन नस्य—विरेचन नस्य सिरः शूल, जड़ता श्लेष्मा, कण्ठरोग शोथ, गण्डरोग, क्रमिरोग, ग्रन्थि, कुण्ठ, अपस्मार तथा पीनस इन रोगों में हितकर है। विरेचन नस्य के लिए सरसों, मिर्च, सोंठ आदि तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा शोधित तेल, घृत आदि स्नेह, क्वाथ, चूर्ण, शहद, आसव, गौमूत्र आदि प्रयोग किया जाता है।

(२) बृंहण नस्य—वातशूलज, सूर्यावर्त्त, स्वर भेद, नासाशोष, मुखशोष, वाणी की रुकावट तथा अवबाहुक रोग में बृंहण नस्य हितकारक है। जंगली पशु-पक्षियों के मांस रस तथा रक्त द्वारा और तीक्ष्णता रहित स्नेह द्वारा बृंहण नस्य तैयार किया जाता है। बृंहण नस्य मस्तिष्क, कर्ण, नेत्र, नासकादि इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाता है।

(३) शमन नस्य—घृतादि स्नेह, मांस रस, दूध व जल द्वारा शमन नस्य दिया जाता है। शमन नस्य दोषों को बाहर निकालता है। शास्त्रोक्त 'अणु' तेल इस कार्य के लिए प्रसिद्ध है। नीलिका, व्यंग, केशरोग तथा अक्षिराजी रोगों में शमन नस्य हितकारक है।

(४) नस्य (नावन)—मस्तिष्क, ग्रीवा, सिर, स्कन्ध तथा वक्ष की शक्ति के लिए जब स्नेह का प्रयोग किया जाता है उसे स्निग्ध नस्य कहते हैं। कफ तथा वात से उत्पन्न रोगों में तेल का नस्य लेना चाहिए। वातज रोगों में चर्बी का तथा वात पित्तज अवस्थाओं में घृत एवं मज्जा का नस्य लेना होता। नस्य की मात्रा तीन प्रकार की बताई गई है—१. अष्टबिन्दु, २. शुक्ति ३. पाणिशुक्ति।

अष्ट बिन्दु आठ बूँदों की मात्रा होती है तथा पाणि शुक्ति (दो शुक्ति) चौंसठ बूँदों की एक मात्रा है ।

(५) अवपीड—उस विधि को जिसमें किसी द्रव्य विशेष का रस निचोड़ कर (अवपीडन कर) उस रस से नस्य लिया जाये उसे अवपीडन कहते हैं । अवपीडन का प्रयोग प्रायः शोधन तथा स्तम्भन के लिए किया जाता है ।

(६) प्रधमन—किसी चूर्ण विशेष कोन नासिका में हवा के जोर से पहुँचाना प्रधमन कहा जाता है । इसका प्रयोग एक ६ अंगुल की सुपर नलिका द्वारा होता है । जिसमें औषधि भरकर एक किनारा नाक में लगाकर दूसरे किनारे से फूँक मारी जाती है । यह चूर्ण प्रायः शोधनार्थ ही प्रयुक्त किया जाता है ।

(७) शिरोविरेचन—यह सिर का भारीपन, सिर की पीड़ा, जड़ता, अभिष्यन्द; कण्ठरोग, शोथ, गलगण्ड कृमि, ग्रन्थि, कुष्ठ अपस्मार तथा पीनस रोग शिरोविरेचन से ठीक हो जाते हैं । शिरोविरेचन ६ बार किया जाता है । शिरोविरेचन के तीसरे-तीसरे दिन के अन्तर से स्नेहपान करें फिर दूसरे दिन शिरोविरेचन लें । चरक ने इसके स्थान पर धूम्र का प्रयोग बताया है । सुश्रुत में मुख द्वारा किये जाने वाले का सघ्न तथा वमनीय है । चरक का धूम्र तीन प्रकार का है—वैरेचनिक, प्रायोगिक तथा स्नेहिक धूम्र ।

(८) प्रतिमर्श—प्रतिमर्श उस विधान द्वारा लिए गए नस्य कर्म को कहा जाता है जिसमें नसिका के द्वारा साँस को खींचते हुए वेग से स्नेह द्रव्य को ऊपर खींचा जाता है तथा कुछ अंश मुख में भी पहुँच जाता है । प्रतिमर्श का प्रयोग स्वस्थ व्यक्ति को भी करना चाहिए । निम्न कार्यों के पश्चात् अवश्य ही प्रतिमर्श करना स्वास्थ्यप्रद है यथा—

रात को भोजन के बाद, दिन के भोजन के बाद, वमन के बाद, सोने के पश्चात्, धूम्र के बाद, परिश्रम के बाद, मैथुन के बाद, सिर में मालिश के बाद, मल त्याग के बाद, दन्तुन के बाद, हँसने के बाद । प्रतिमर्श का प्रयोग स्रोतों को खोलने वाला, बल बढ़ाने वाला, दाँतों को मजबूत करने वाला होता है । प्रतिमास की मात्रा दो बूँद की होती है । यह शोधनार्थ तथा स्नेहार्थ दो प्रकार से प्रयोजनीय है ।

३

मुखरोग-विज्ञान

प्रश्न—'मुख' शब्द से आप क्या समझते हैं ? मुख के उपांगों की रचना का विशद वर्णन कीजिए।

उत्तर—'मुख' शब्द से मुख गह्वर के सभी अंगों का बोध होता है। आयुर्वेद में सात अवयवों के समूह का नाम 'मुख' है, वे सात अवयव निम्न हैं—

१. ओष्ठ (Lips), २. दन्तमूल (Gums), ३. दन्त (Teeth), ४. जिह्वा (Tongue), ५. तालु (Palate), ६. गला (कण्ठ) (Throat), ७. सकल-मुख (Mucus membrance of the buccal cavity)।

इन सात उपांगों से युक्त अवयव को 'मुख' नाम से आयुर्वेद के ग्रन्थों में वर्णित किया गया है।

रचना की दृष्टि से इन सात उपांगों का वर्णन करने के लिए हमें आधुनिक शरीर-विज्ञान की सहायता लेनी होगी और हम यहाँ उसी के आधार पर क्रमशः एक-एक का वर्णन कर रहे हैं।

१. ओष्ठ (Lips)—ओष्ठ दो गुदगुदे अवयव हैं जोकि मुख द्वार पर ऊपर तथा नीचे स्थित हैं। इनका बाह्य आवरण त्वचा द्वारा तथा आन्तरिक भाग का आवरण श्लेष्मिक कला द्वारा निर्मित होता है। इनके बीच में मांसपेशी, ओष्ठगत् रक्त वाहिनियाँ, पिच्छिल तन्तु, वसा और अनेक छोटी-छोटी ओष्ठगत ग्रन्थियाँ होती हैं। उनका आन्तरिक आवरण अपने-अपने तालुमूल पर श्लेष्मिक कला के सूत्र द्वारा जुड़ा रहता है। इनमें ऊपर ओष्ठ को जोड़ने वाला सूत्र समूह बड़ा होता है।

ओष्ठगत्त ग्रन्थियाँ श्लेष्मिक आवरण एवं मांसावरण के मध्य में स्थिति रहती हैं। यह गोल होती हैं और छोटे मटर के आकार से मिलती-जुलती हैं। इसके मुख श्लेष्मिक आवरण पर सूक्ष्म छिद्र के रूप में खुलते हैं।

इन ओष्ठों का आश्रय लेकर उत्पन्न होने वाले रोगों को आयुर्वेद में मुख रोगाधिकार में 'ओष्ठगत रोग' कहा गया है।

२. दन्तमूल (Gums)—इन्हें साधारण भाषा में मसूड़े कहा जाता है। यह दाँतों की ग्रीवाओं (Necks) पर होते हैं। इनके ऊपर अति कोमल एवं रक्त की अधिकता वाली श्लेष्मिक कला का आवरण है। यह मर्यादित सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध हैं। इन पर दाँतों के संलग्न स्थान पर बहुत से छोटे-मोटे दाने होते हैं।

दन्तमूलों में प्रायः कर रक्ताधिक्य पाया जाता है। यह शोथ युक्त हो जाने पर तथा रक्ताधिक्य से व्रणयुक्त पाये जा सकते हैं और इनमें से रक्त स्राव होता पाया जा सकता है। यह अवस्थाएँ रोगों के आक्रमण की ही होती हैं।

इन दन्तमूलों का आश्रय करके जो भी विकार उत्पन्न होते हैं—आयुर्वेद में उन्हें मुख रोगाधिकार में दन्तमूलगत रोगों के अन्तर्गत माना है।

३. दाँत (Teeth)—मुख के ऊपर और नीचे दो भागों में दाँत रहते हैं। मनुष्य के ऊपर एवं नीचे के अंग हनु कहलाते हैं। इन हन्वस्थियों में मनुष्य के दाँत लगे होते हैं। दाँतों की सम संख्या एवं सम आकृति के कारण प्रत्येक हनु प्राकृतिक रूप में दो समान भागों में विभक्त रहता है, एक बाँया और दूसरा दाँया भाग। इस प्रकार दो हन्वों के चार भाग कर लेते हैं।

मनुष्य के दाँत दो बार आते हैं—पहले बाल्यावस्था में, जिन्हें दुग्ध दन्त कहा जाता है, यह अस्थायी होते हैं। फिर किशोरावस्था में अस्थायी दाँतों के गिरने पर स्थायी दाँत आते हैं। अस्थायी दाँत संख्या में २० होते हैं और स्थायी ३२।

अस्थायी दाँतों (Deciduous teeth) को दूधिया दन्त (Milk teeth) भी कहा जाता है। यह प्रत्येक हनु में १०-१० होते हैं और प्रत्येक आधे हनु में ५-५। सामान्यतः यह दाँत बालक की छठे मास की आयु के बाद निकलने आरम्भ होते हैं। प्रायः सर्वप्रथम अधोहनु दो कर्तनक (Incisors) दाँत निकलते हैं और फिर उर्ध्वकर्तनक। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार से ऊपर नीचे के दाँतों का उद्गम क्रम चलता है और लगभग ढाई वर्षों में २० दाँत पूर्ण हो जाते हैं। छठे वर्ष के पश्चात् इन अस्थायी दाँतों का पतन काल आ जाता है और १२ वर्ष तक क्रमशः अस्थायी दाँत गिरते रहते हैं और

उनके स्थान पर स्थायी दाँत आते रहते हैं। इन दाँतों की रचना, स्थान तथा कार्य को दृष्टि में रखते हुए अस्थायी दाँत को तीन मुख्य विभागों में विभक्त करते हैं।

(क) **कतर्नक अथवा राजदन्त** (Incisors)—इनकी कुल संख्या आठ होती है, चार ऊपर के हनु में और चार नीचे के हनु में। यह प्रत्येक हनु के दाएँ एवं बाएँ विभाग में दो-दो होते हैं। इनका मुख्य कार्य पदार्थ को काटने का होता है। मुख के मध्य भाग में होने से यह शोभा भी बढ़ाते हैं।

(ख) **रदनक अथवा भेदक** (Cuspids or Canines)—इनकी कुल संख्या चार होती है। प्रत्येक हनु के आधे भाग में दाएँ-बाएँ एक-एक होता है। बोल-चाल की साधारण भाषा में इन्हें सूआ भी कहा जाता है। इनका कार्य पदार्थ को छोटे-छोटे भागों में तोड़ना होता है।

(ग) **चर्वणक** (Molars)—यह कुल आठ होते हैं और प्रत्येक हनु के आधे भाग में दो-दो रहते हैं। इन्हें दाढ़ें भी कहते है और इनका कार्य चबाने का होता है।

स्थायी दाँत (Permanent Teeth)—दूसरी प्रकार के दाँत जो पुनर्दन्त भी कहलाते हैं, स्थायी होते हैं। यह जीवन-पर्यन्त भी रह सकते हैं और यदि वृद्धावस्था में अथवा अन्य किसी कारणवश पहले भी गिर जाएँ तो पुनः और दाँतों का उद्‌गम नहीं होता है। जैसे-जैसे अस्थायी दाँत गिरते जाते हैं—उन्हीं के स्थान पर स्थायी दाँतों की उत्पत्ति होती रहती है। अस्थायी दाँत संख्या में २० होते हैं जैसा कि पीछे वर्णन कर चुके हैं किन्तु स्थायी दाँत संख्या में ३२ होते हैं। अतः २० दाँतों के स्थान पर तो २० दाँतों का पुनउद्‌गम हो जाता है, शेष १६ दाँत तो प्रथम बार ही निकलते हैं। ऊपर के हनु के दाएँ-बाएँ आधे भाग में आठ-आठ दाँत होते हैं।

जैसे अस्थायी दाँत तीन प्रकार के कहे गए हैं, स्थायी दाँत चार प्रकार के होते हैं—

(क) **कतर्नक या राजदन्त** (Incisors)—यह संख्या में आठ होते हैं। प्रत्येक हनु के आधे भाग में दो-दो होते हैं। ओष्ठ मध्यवर्ती काल्पनिक रेखा के ऊपर-नीचे इधर-उधर दो-दो करके देख सकते हैं। यह दिखने में चपटे और ऊपर से तीखे मालूम होते हैं। यह भी अस्थायी कतर्नक वत् काटने का कार्य करते हैं।

(ख) **रदनक अथवा भेदक** (Canines)—इनकी कुल संख्या चार होती

है। प्रत्येक हनु के दाएँ-बाएँ अर्धभाग में एक-एक होता है। इनका स्थान प्रत्येक हनु के आधे भाग में लगे कर्तनक दांत के पास यानी मध्यरेखा में तीसरे नम्बर पर होता है। यह दूसरे दाँतों की अपेक्षा अधिक नुकीले होते हैं।

(ग) अग्र चर्वणक (Premolars)—इनकी कुल संख्या आठ होती है। यह प्रत्येक हनु के आधे भाग में दो-दो होते हैं। इन्हीं को साधारण भाषा में छोटी दाढ़ें कहते हैं। यह कुछ मोटे होते हैं और इनका ऊपर का भाग कुछ चपटा होता है। ऊपर के चपटे भाग में दो-दो उभार और दो-दो गढ़े भी होते हैं। इनका कार्य खाद्य-पदार्थों को चबाने का होता है। इनका स्थान प्रत्येक हनु के आधे भाग में ओष्ठ मध्यवर्ती रेखा के बाद रदनक दांत के पास चौथे और पाँचवें नम्बर पर होता है।

(घ) पश्चिम चर्वणक (Molars)—इनकी कुल संख्या १२ होती है। प्रत्येक हनु के आधे भाग में तीन-तीन होते हैं। यह अन्य सब दाँतों की अपेक्षा मोटे और अधिक चपटे होते हैं। ऊपर के चपटे भाग में कुछ गढ़े और प्रायः चार उभार भी होते हैं। इनका स्थान हनु से किनारों के पास ओष्ठ मध्यवर्ती रेखा से छठें; सातवें, आठवें नम्बर पर होता है। यह कपोलों से पूर्ण रूप से ढके रहते हैं। स्मरण रहे कि अस्थायी दाँतों से १२ दाँत स्थायी दाँतों में अधिक होते हैं। वह ये ही १२ हैं। कारण इनकी उत्पत्ति अस्थायी दाँतों में अधिक होती—यह प्रथम बार ही स्थायी रूप में उत्पन्न होते हैं।

एक बात यहाँ स्पष्ट कर देना अनुपयुक्त नहीं होगा कि आजकल दाढ़ (wisdom teeth) करके जो कहा जाता है वह भी इन पश्चिम चर्वणक का ही एक दांत है। प्रत्येक हनु के आधे भाग में जो किनारे वाला है, उसे अक्कल दाढ़ कहा जाता है। वह प्रायः १८ से २५ वर्ष की आयु में उत्पन्न होती है।

दाँतों के विषय में इतना कुछ लिखने के पश्चात् एक मुख्य ज्ञातव्य और है कि इसकी सूक्ष्म रचना क्या है। इसके जाने बिना दांतों के रोगों को समझना अथवा उपचार कर पाना सम्भव नहीं होता। इस विषय को दो विभागों में वर्णित किया जाता है—

१. दन्त बाह्य रचना,   २. दन्त रचना और संगठन।

बाह्य रचना के अनुसार प्रत्येक दांत को मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त किया जाता है—

(क) दन्त शिखर (Crown)—यह दाँत का वह भाग है जो हमेशा दिखलाई देता है—यह सफेद एवं चमकीला होता है। दन्तवेष्ठ से बाहर निकला होता है।

(ख) दन्तग्रीवा (Neck)—यह दन्त का वह भाग है जहाँ दन्तमूल तथा दन्तशिखर परस्पर मिले रहते हैं। यह सन्धि स्थान कुछ संकुचित भी होता है। मसूढ़े दन्तमूल से ग्रीवा तक ही आते हैं। इस भाग को Cervix के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है और दो नाम यह भी हैं—

(i) Gingival Margin, (ii) Cervical Margin.

(ग) दन्तमूल (Root)—यह प्रत्येक दन्त का वह अन्तिम भाग है जो कि हनु के गड्ढे (Alveolus of teeth) में गढ़ा होता है।

दन्त की वास्तविक रचना एवं संगठन के विषय में आधुनिक दन्त विशेषज्ञों ने बहुत कुछ वर्णित किया है, उन सबको तो यहाँ नहीं लिखा जा सकता तो भी संक्षेप में आवश्यक बातें सार रूप में दे रहे हैं।

यदि एक दाँत को शिखाग्र से मूल पर्यन्त मध्य से काटा जाय तो निम्न तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं :

(१) दन्त कवच (Enamel)—यह दन्त के शिखर पर चिपका हुआ पदार्थ होता है जो श्वेत एवं चमकदार होता है। यह शरीर का सर्वाधिक कठोर पदार्थ माना जाता है। यह दाँतों की शोभा बढ़ाता है और उनका रक्षक भी है। दन्त कवच के निर्माण के विषय में बहुत कुछ वर्णन मिलता है तो भी इतनी बात ध्यान रखनी चाहिए कि यह कठोर पदार्थों से बनने वाला पदार्थ है। इनमें किसी प्रकार की रक्तवाहिनियाँ नहीं होती हैं और इसमें वात तन्तु भी नहीं होते, अतः इसके टूटने पर न तो वेदना ही होती है और न ही पुनः उत्पन्न होता है। वैसे इसका वर्ण श्वेत ही कहा गया है तो ध्यान रहे कि इसका वर्ण प्रकृति के अनुसार अथवा पथ्य के अनुसार भिन्न भी हो सकता है।

(२) दन्त प्रस्तर (Cementum)—यह भी कठोर पदार्थ है जो स्वस्थावस्था में दाँत की ग्रीवा से लेकर दाँत के मूल तक दन्तसार (Dentine) नामक दाँत के अन्तिम पदार्थ के ऊपर चढ़ा रहता है। यद दाँतों की रक्षा करता है और दाँत को अपने अन्तर्गत स्थित तन्तुओं से हन्वास्थि के साथ ठीक स्थान पर जकड़े रखता है।

(३) दन्तक प्रस्तर छादक कला (Predental Membrane of Pericementum)—यह एक सूक्ष्म तन्तुमय आवरण है जो कि दन्त प्रस्तर पर ग्रीवा

से मूल तक लगी रहती है और उसे दन्तोदूखल से जोड़ती है और दन्त प्रस्तर की रक्षा भी करती है। इसमें छोटी-छोटी रक्त वाहिनियाँ और वात वाहिनियाँ होती हैं।

(४) दन्तसार (Dentine)—इसे दाँत का अन्तिम भाग कहना चाहिए क्योंकि दाँत की पोषण प्रणाली और धमनी आदि का स्थान इसी में होता है। इसका वर्ण कुछ श्वेताभ अथवा पीताभ-सा होता है। इसके अन्दर अनेक छोटी-छोटी रक्तवाहिनियाँ, वातवाहिनियाँ होती हैं—इसी से दाँत में पीड़ा, शीतलता, उष्णता आदि का आभास होता है।

(५) दन्त पोषण प्रणाली (Dental Pulp)—यह दाँत का सर्वथा मध्य रिक्त भाग होता है। इसके मुख्यतः तीन कार्य होते हैं—

(क) अपनी चारों तरफ दन्तसार का निर्माण करना।

(ख) पीड़ा-उष्णता शीतलता आदि का अनुभव करना।

(ग) अपने अन्दर स्थित धमनियों आदि से समस्त दाँत का पोषण करना और उनकी रक्षा करना।

इसमें जो धमनियाँ-केशिकाएँ-शिराएँ और अन्य लसिका वाहिनियाँ आदि होती हैं, वह सभी दाँतों को पोषण देती है, सभी कर्म कराती हैं और इनके विकृत होने पर दाँतों के प्रायः रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी विस्तार से व्याख्या आज के दन्त विशेषज्ञों ने की है। आयुर्वेद में दन्तमूलगत पाँच प्रकार की नाड़ियों का वर्णन सुश्रुत संहिता में मिलता है जिसमें वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज एवं शल्यज होती है। इनके विषय में इतनी बात ध्यान रखनी बहुत आवश्यक है कि इनमें से कई धमनियों का और वातवाहिनियों का नेत्र व मस्तिष्क से घनिष्ठ सम्बन्ध है—अतः दाँत उत्पादन आदि के समय इस बात का विचार कर लेना चाहिए।

(६) दन्तमूल (Gums)—इसका अलग से वर्णन पहले कर चुके हैं।

इस प्रकार दन्त के सूक्ष्म संगठन को देखकर तथा उसकी रचना को जान कर ही दन्त रोगी को समझा जा सकता है और उसका उपचार किया जा सकता है।

४. जिह्वा (Tongue)—इसका वर्णन हम अलग से करेंगे।

५. तालु (Palate)—मुख के सप्तांगों में पंचम अङ्ग तालु है। सुविधा की दृष्टि से इसके दो भाग किये जाते हैं। (क) कठोर तालु (Hard Palate) जो कि अग्र भाग में रहता है। (ख) कोमल तालु (Soft Palate) जो

कि पश्चिम भाग में रहता है। यह बात याद रहे कि तालु मुख की छत (Koof) का काम देता है।

कठोर तालु (Hard Palate)—इसका अग्र भाग और किनारे मसूढ़ों (Gums) और विशेष तन्तुमय रचना (Alveolar arches) से घिरे रहते हैं और पश्चिम भाग में यह कोमल तालु से जुड़ा रहता है। यह भाग एक गहन-आवरण से ढका रहता है। जिसकी रचना श्लेष्मिक कला (Mucous membrane) और अस्थिकावरण-कला (Periosteum) के आपस में मिल जाने से होती है। इस भाग के बीचों-बीच एक लाइन होती है। इसके अग्रभाग की तथा दोनों किनारों की श्लेष्मिक कला मोटी और पीले रंग की होती है। पिछली ओर की पतली, कोमल और गहरे रंग की होती है।

कोमल तालु (Soft Palate) एक हिल सकनें योग्य (Moveable) रचना है जो कि कठोर (Hard Palate) के पश्चिम किनारे से लटकी रहती है। इस तरह यह मुख और गले (Pharynx) के बीच में एक अपूर्ण झिल्ली बनाती है। इसमें श्लेष्मिक कला के अन्दर मांसतन्तु, रक्तवाहिनियाँ, वातवाहिनियाँ, एडिनायडकोष एवं श्लेष्मिक ग्रन्थियाँ होती हैं। जब यह अविकृत अवस्था में हो तो इसका अग्रभाग नतोदर होता है और यह मुख की छत से लगा रहता है तथा इसके मध्य में एक लाइन होती है। इसका पश्चिम भाग उन्नतोदर होता है। इसका ऊपरी किनारा कठोर तालु के पश्चिम से जुड़ा रहता है। इसका निचला किनारा स्वतन्त्र होता है। इसके निचले किनारे के मध्य से एक छोटी, गोल सी, लटकन रहती है जिसे 'काक' 'कौवा' (Palatine-uvula) कहा जाता है; इस 'काक' के दोनों ओर किनारों में और नीचे की तरफ दो स्तम्भ होते हैं। इन्हें अग्रस्तम्भ (Anterior Paillar Glosso-palatine arch) तथा पश्चिम स्तम्भ (Posterior Pillar or Pharyngo-palatine areh) कहा जाता है।

तालु में पाँच माँसपेशियाँ होती है। इससे रक्तवाहिनियाँ एवं वातवाहिनियाँ होती हैं। तालु को आश्रय करके जो-जो रोग उत्पन्न होते हैं, उनका आयुर्वेद में तालुगत रोग के अध्याय में वर्णन किया गया है।

६. कंठ अथवा गला (Throat)—कंठ (Throat) में मुख्यतया निम्न अग होते हैं—

1. The Pharynx 2. The Larynx.
3. The Trachea. 4. The Oesophagus or Guillet.

1. The Pharynx—यह एक Fibro-muscular Tube है जो कि Conical शक्ल की है। यह Skull की Surface से लेकर Cricoid Curtilage व 6th Cervical Vertebra तक फैली है। यह बड़ों में 5" लम्बी व ½" चौड़ी होती है। इसकी तीन Layer हैं जो निम्न हैं। (1) Mucous, (2) Fibrous (3) Muscular.

Mucous membrane में बहुत से Mucous gland भी होते हैं। Anatomical इसके तीन भाग हैं—

(1) Nasopharynx, (2) Oesopharynx, (3) Hypopharynx, Nasopharynx. Soft Palate के ऊपर होता है और Hypopharynx, Larynx का पीछे रहता है जो कि Pharynx का एक हिस्सा है। Oesopharynx जो कि Pharynx का ही एक हिस्सा है वह मुँह में पीछे पडा रहता है जो कि Tongue depressor से देखा जा सकता है। Pharnx का तात्पर्य यहाँ Oesopharynx से है जिससे कि Soft Palale के किनारे Palatine Arch बनाते हैं। इस Arch के बीच में Uvula "काग" लटका रहता है जब कि दूसरी ओर किनारों पर दो Mucous membrane के Crescentic folds होते हैं जिनको हम Palatine Tonsils कहते हैं। जन्म के समय वहाँ Tonsils' अदृश्य होते हैं परन्तु दो वर्ष की अवस्था में बढ़ते हैं। Puberty के बाद घट भी जाते हैं। वृद्धावस्था में Tonsil की Atrophy हो जाती है। Tonsil almond shape के होते हैं जो कि Mucous membrane से ढकी रहती है। Tonsil को External Caroted artery की शाख रक्त प्रदान करती है। Nasopharynx Posterior wall व Roof के Junction पर Adenoid tissue पाया जाता है जिसको हम Adenoids या Nasopharyngeal tonsil कहते हैं। इनका कार्य Secondary Infection को रोकना है।

2. The Larynx—यह शब्द उत्पत्ति के लिए आवश्यक अंग है और Cartilaginous भाग है जो कि Muscles Ligaments से बँधा हुआ है। यह Hypopharynx की Anterior wall पर रहता है। यह ऊपर Pharyngeal Cavity में व नीचे Trachea में खुलता है। यह Epiglottis से 4th Cervicle Vertebra से शुरू होकर 6th Cervicle Vertebra के सामने Cricoid Cartilrge के Lowers border पर समाप्त होता है। यह पाँच Cartilage का बना होता है; जो इस प्रकार हैं—

1. Epiglottis, 2. Thoroid, 3. Cricoid, 4. Aryteroid two in number, 5. Carniculate and Cuniform Cartilage.

Thyroid Cartilage के दोनों ओर Vocal Cords होते हैं। दोनों Vocal Cords के बीच एक Chink होती है जिसे glottis chink कहते हैं। Vocal Cords दो प्रकार के होते हैं। ऊपर वाला True Vocal Cord व नीचे वाला False Vocal Cord. Male व Female में Larynx की लम्बाई अलग-अलग होती है। Male में लम्बाई 44 mm. और Female में 36 mm होती है—

इसमें दो प्रकार की मांसपेशियां होती हैं :—

1. Extrinsic. 2. Intrinsic.

Extrinsic के भी दो भाग होते हैं—(1) Supra hyoid, (3) Infra hyoid.

Intrinsic के भी दो भाग होते हैं—(1) Abductor, (2) Aductor मांसपेशियां।

3. The Trachea or Wine Pipe—यह एक Cartilaginous व Membranous tube होती है जिसकी लम्बाई 11 cm होती है। जो कि Lower Part of the Larynx से शुरू होकर, अर्थात् 6th Cervical Vertebra से Upper border of the 5th Thoracic Vertebra तक चली जाती है जहां कि वह दो Bronchi में बँट जाती है, जो कि फुफ्फुस में चले जाते हैं, यह १६ से २० Hyline Cartilage का बना होता है।

4. The Oesophagus of Gullet—यह एक Muscular Canal है जो कि 23 cm. से 25 cm. लम्बी होती है। यह Pharynx से Stomach तक होती है जो कि 6th Cervical Vertebra के सामने Lower border of the Cricoid Cartilage से शुरू होकर 11th Thoracic Vertebra के सामने Cordiacorifice of the Stomach पर समाप्त होता है। इसके चार Coat हैं; जो निम्नलिखित हैं—

1. Muscular 2. Circular fibrous, 3. Areolar, 4. Mucous coat.

प्रश्न—मुख रोगों की संख्या का शास्त्रोक्त ब्यौरा देते हुए इन रोगों के उत्पादक कारणों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उत्तर—जैसा कि विदित ही है कि मुख रोग भी शालाक्य तन्त्र के अन्तर्गत आते हैं। शालाक्य तन्त्र का जो भी आधार आज उपलब्ध है वह सुश्रुत संहिता है। वाग्भट्ट ने भी मुख रोगों का वर्णन किया है। मुख के जो भी रोग हैं उनका आश्रय मुख के सात अवयवों को समझना चाहिए। यहाँ पर हम सुश्रुतोक्त मुख रोगों की संख्या का ही वर्णन करेंगे, जो निम्न प्रकार हैं—

१. ओष्ठ रोग	८	५. तालु रोग	९
२. दन्त रोग	८	६. कण्ठ रोग	१८
३. दन्तमूल रोग	१६	७. सर्वसर रोग	३
४. जिह्वा रोग	५		

इस प्रकार मुख रोगों की संख्या ६७ बताई गई है। हम यहाँ इन रोगों का ही वर्णन करेंगे।

मुखगत रोगों के उत्पादक साधारण कारणों का वर्णन करते हुए कहा गया है, "आनूप मांस, क्षीर, दधि, उड़द का सेवन आदि कारणों से कफ आदि दोष प्रकुपित हो जाते हैं और मुख के विकार उत्पन्न हो जाते हैं।"[1]

इस तरह हम कहेंगे कि मुखगत रोग ६७ हैं, और उनके उत्पादक कारणों में कफ प्रधान है—उसके प्रकोप के पश्चात् वातादि दोष भी प्रकुपित हो जाते हैं। कफ जाति का प्रकोप उपर्युक्त आनूप आदि मांस सेवन से होता है।

प्रश्न—मुख रोगों की साधारण चिकित्सा लिखिए।

उत्तर—मुख रोगों की चिकित्सा के जो शास्त्रोक्त सिद्धान्त हैं उनमें शिरामोक्षण सबसे महत्त्वपूर्ण है। कहा गया है कि दुष्ट रक्त के विस्रावण के पश्चात् मुखरोग शान्त होने लगते हैं। आवश्यकतानुसार निम्न क्रियाओं का प्रयोग भी किया जा सकता है—

१. स्वेदन, २. विरेचन, ३. वमन, ४. गण्डूष, ५. प्रतिसारण, ६. कवल, ७ रक्तमोक्षण, ८. नस्य, ९. धूम्र, १०. शास्त्र कर्म, ११. अग्नि कर्म, १२. तर्पण।

---

१. "आनूप पिशित क्षीर दधि माषादि सेवनात्।
मुखमध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषा कफोत्तरा॥" (यो० र०)

मुख रोगों में केवल-गन्डूष, धूम्र का प्रयोग प्रायः कर कराया जाता है। प्रतिसारण का भी प्रयोग किया जाता है।

चिकित्सा में हितकर आहार का विधान बताते हुए कहा गया है कि "तृणधान्य, यव, मूँग, कुलथ, जांगल, मांस रस, पत्रशाक, करेला, पटोलपत्र, कच्ची मूली, कपूर से सुगन्धित जल; ताम्बूल, खदिर एवं घृत का सेवन, कटु एवं तिक्त पदार्थों का सेवन करना हितकारक होता है।"

आहार के विषय में यह बात याद रखनी चाहिए कि विटामिन सी एवं विटामिन बी, ए और डी का प्रयोग मुख रोगों के लिए हितकारक होते हैं। इन तत्वों की जिन द्रव्यों से भी उपलब्धि हो सके उनका प्रयोग हितकारक है। गाजर, टमाटर, पालक, मौसमी, सन्तरा, नीबू, आँवला, आलूबुखारा, धनियाँ आदि का प्रयोग हितकारक होता है।

मुख रोगों की चिकित्सा में, जहाँ पथ्य आवश्यक है वहाँ यह भी आवश्यक है कि मुख रोगों की वृद्धि करने वाले कारणों का त्याग किया जाय। कुछ हानिकारक पदार्थों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "अधिक अम्ल पदार्थों का सेवन, मछली का मांस, जलीय प्राणियों का मांस, दही, दूध, गुड़, उड़द आदि द्रव्य, रूक्ष, कठिन, गुरु तथा अभिष्यन्दी आहार का सेवन, उल्टा लेटना और दिन में सोना मुख रोगों में हानि करता है। सख्त पदार्थों का खाना और सख्त दांतुन का प्रयोग करना भी हानिकारक होता है।"

इस तरह मुख रोगों की चिकित्सा में ऊपर कहे गये किसी भी विधान का प्रयोग किया जा सकता है जिनकी आवश्यकता समझी जाय। तथ्य का प्रयोग करना चाहिए और ऊपर जो भी हानिकारक बातें एवं आहार कहे गए हैं। उनका वर्णन करना चाहिए। ऐसा करने से मुख रोगों का उपचार सफलता पूर्वक किया जा सकता है।

प्रश्न—ओष्ठगत रोगों का निदान एवं चिकित्सा लिखिए।

उत्तर—मुख रोगों की संख्या लिखते हुए हम बता आए हैं कि ओष्ठ का आश्रय लेकर आठ रोग हुआ करते हैं। उनका क्रमशः वर्णन यहाँ रहे हैं:

(१) वात ओष्ठ रोग—सुश्रुत संहिता में इसके लक्षण बताते हुए लिखा है कि "वायु के कारण ओष्ठ खुरदरे, कठोर, निश्चल और काले हो जाते हैं। ओष्ठों की त्वचा उखड़ जाती है।"

प्राय: कर रूक्षता के कारण एवं शीत ऋतु में यह रोग उत्पन्न होता है और वायु के प्रकोप द्वारा इसकी उत्पत्ति बताई गई है।

वातज ओष्ठ रोग की चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि "वातजन्य ओष्ठ प्रकोप में मोम मिश्रित घृत, तेल, वसा और मज्जा इन चार प्रकार के स्नेहों से अभ्यंग करना चाहिए। नाड़ी स्वेदन हितकारक होता है। उपनाह देना चाहिए और तदर्थ साल्वण स्वेद के द्रव्यों का प्रयोग करें। शिरोबस्ति और नस्य के लिए वातहर तेल का प्रयोग करना चाहिए। राल, श्रीवेष्टक, देवदारु, गुग्गुल और मुलहठी के चूर्ण से प्रतिसारण करना हितकारक होता है।'

(२) पित्तज ओष्ठ रोग—पित्त के प्रकोप से ओष्ठ सरसों के आकार वाली पिड़काओं से पूर्ण रूप से भर जाते हैं। इन ओष्ठों में जलन, पाक और स्राव होता है ओष्ठ का रंग नीला या पीला हो जाता है।"

पित्त ओष्ठ रोग की चिकित्सा के विषय में सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि "पित्तजन्य, रक्तजन्य और अभिघातजन्य ओष्ट रोग में जलौका लगानी चाहिए। पित्तज विद्रधि की भाँति चिकित्सा करनी चाहिए।"

इनके अनुसार हम क्रियाओं का प्रयोग पित्तज ओष्ठ रोग की चिकित्सा में कर सकते हैं—

१. रक्तमोक्षण जलौका द्वारा, २. वमन, ३. विरेचन, ४. शीतप्रदेह, ५. परिसेचन।

इन क्रियाओं के अतिरिक्त रस प्रधान लघु भोजन तथा रिक्त रस का अधिक प्रयोग हितकारक होता है और भी पित्तनाशक जो क्रियाएं हैं, सभी का प्रयोग किया जा सकता है।

(३) कफज ओष्ठ रोग—"कफ के प्रकोप से ओष्ठ त्वचा के समान वर्ण वाले पिड़िकाओं से भर जाते हैं। इनमें वेदना नहीं होती। ओष्ठों में कण्डू होती है। शोथ युक्त, पिच्छिल, शीत एवं गुरु होते हैं।"

कफज प्रकोप के लिए सुश्रुत संहिता में निम्न क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिए—

(१) रक्तमोक्षण,	(२) शिरोविरेचन,	(३) धूम्र प्रयोग
(४) स्वेदन,	(५) कवल धारण,	(६) प्रतिसारण।

प्रतिसारण का एक योग बताते हुए कहाँ कहा गया है कि 'सोंठ, मिर्च,

पीपल, सज्जीखार, यवक्षार और विड़नमक का चूर्ण मधु में मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिए।

(४) **सन्निपातज ओष्ठ रोग**—जब भी वातादि तीनों दोष सम्मिलित रूप से प्रकुपित हो जाते हैं तो उससे उनके द्वारा विकृत हुए ओष्ठ सन्निपातज ओष्ठ रोग कहलाता है। उसके लक्षण बताते हुए कहा गया है कि "सन्निपात के प्रकोप से ओष्ठ कभी कृष्ण वर्ण के, कभी पीले और कभी श्वेत रंग के हो जाते हैं। अनेक प्रकार की पिड़िकाओं से ओष्ठ भर जाते हैं।

सन्निपातज ओष्ठ रोग की कोई चिकित्सा नहीं बताई है। शास्त्रों में इसे असाध्य रोग कहा गया है, अतः चिकित्सा का कोई विशेष विधान नहीं है।

(५) **रक्तज ओष्ठ रोग**—रक्त के दूषित होने पर ओष्ठ रोग उत्पन्न होते हैं उसमें ओष्ठ खजूर के फल के समान लाल रंग की पिड़िकाओं से भरे रहते है। इनमें लाल रंग के रक्त का स्राव होता है।

रक्तज ओष्ठ रोग को साध्य माना गया है। वैसे सुश्रुत संहिता में इसका उपचार भी पित्तज ओष्ठ रोग के समान बताया है जिसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं।

(६) **मांसल ओष्ठ रोग**—"मांस के दुष्ट होने पर ओष्ट में जो रोग उत्पन्न होता है उसमें ओष्ठ गुरु और मोटे हो जाते हैं। वे मांस पिण्ड के समान उत्पन्न होते हैं। मुख के दोनों पार्श्वों में स्थित व्रणों में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं।

मांसज ओष्ठ रोग को आयुर्वेद में असाध्य माना गया है। आधुनिक चिकित्सक इस रोग में छेदन कर्म करते हैं और रेडियम का प्रयोग करते हैं।

(७) **मेदोज ओष्ठ रोग**—"मेद के विकृत होने पर जब ओष्ठ रोग होता है तो ओष्ठों का रंग घृतमण्ड के समान हो जाता है। ओष्ठ कण्डयुक्त-स्थिर एवं कोमल होते हैं। ओष्ठों से स्वच्छ-स्फटिक के समान स्राव बहता है और ओष्ठ भारी हो जाते हैं।

मेदोज ओष्ठ रोग को साध्य माना गया है और उसकी चिकित्सा का वर्णन करते हुए सुश्रुत संहिता में जो-जो लिखा है उसके अनुसार हम निम्न क्रियाओं का प्रयोग करा सकते हैं—

(१) स्वेदन, (२) भेदन, (३) अग्निकर्म, (४) शोधन—वमन और विरेचन, (५) प्रतिसारण।

प्रतिसारण के लिए एक योग बताते हुए कहा गया है कि प्रियंगु, त्रिफला एवं लोध का चूर्ण कर मधु में मिलाकर प्रतिसारण करें।

(८) **अभिघातज ओष्ठ रोग**—चोट आदि लगने से ओष्ठ क्षत की आभा वाले होते हैं। गहरे रूप में फट जाते हैं और ओष्ठों की त्वचा फट जाती है। ओष्ठों में गाँठें पड़ जाती हैं और उनमें कण्डु होती है।"

अभिघातज ओष्ठ रोग की चिकित्सा के विषय में हम पीछे ही लिख आए हैं कि पित्तज ओष्ठ रोग की जो चिकित्सा है उसी को अभिघातज रोग के लिए काम लेना चाहिए।

इस तरह हमने ओष्ठ का आश्रय लेकर होने वाले आठ रोगों का निदान चिकित्सा सहित वर्णन कर दिया है।

प्रश्न—दन्तमूलगत रोगों का वर्णन कीजिए।

उत्तर—दन्तमूल का आश्रय लेकर होने वाले रोगों की सख्या पन्द्रह कही गई है। वे निम्न प्रकार हैं—

(१) शीतादि, (२) दन्त पुप्पुटक, (३) दन्त वेष्टक, (४) शौषिर, (५) महा शौषिर, (६) परिदर, (७) उपकुश, (८) दन्त वैदर्भ, (९) वर्धन, (१०) अभिमांस, (११-१५) पाँच प्रकार के नाड़ी व्रण।

हम यहाँ क्रमशः प्रत्येक का वर्णन करेंगे।

(१) **शीताद**—सुश्रुत संहिता में इसका स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि "बिना किसी कारण के मसूड़ों में से रक्त बहने लगता है, मसूढ़ों का मांस दुर्गन्ध युक्त हो जाता है। मसूढ़े काले क्लेद युक्त एवं कोमल होते हैं। मसूढ़ों का मांस गलने लगता है और मसूढ़ों का पाक हो जाता है। यह रोग कफ रक्तजन्य होता है।"

शीताद रोग को साध्य कहा गया और उसकी चिकित्सा का वर्णन करते हुए निम्न क्रिया का प्रयोग करना हितकारक बताया गया है।

(१) रक्तसेचन।

(२) गण्डूष—सोंठ और सरसों को जल में क्वाथ करके त्रिफला, नागरमोथा और रसौत को मिलाकर प्रयोग करें।

(३) प्रलेप—प्रियुंग, मुस्ता और त्रिफला से।

(४) नस्य—मुलहटी, कमल, पद्मकाष्ठ और त्रिफला से सिद्ध किए तेल का नस्य कराएँ।

(२) दन्त पुप्पुटक—"दो अथवा तीन दाँतों के मूल में जब बहुत अधिक शोथ एवं वेदना उत्पन्न हो जाती है—उस रोग को दन्त पुप्पुटक कहा जाता है। यह रोग कफ रक्तजन्य होता है।"

सुश्रुत संहिता में इसकी चिकित्सा आगे लिखी प्रकार बताई गई है—

(१) रक्तमोक्षण, (२) प्रतिसारण—पाँचों नमक, क्षार को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिए, (३) शिरोविरेचन, (४) नस्य, (५) स्निग्ध भोजन।

(३) दन्तवेष्ट—इस रोग के लक्षण बताते हुए कहा है कि "मसूढ़ों में से रक्त और पूय बहती है, दांत हिलने लगते हैं। यह रोग दूषित रक्त से उत्पन्न होता है।

इसकी चिकित्सा का विधान निम्न प्रकार से बताया गया है—

(१) रक्त विस्रावण।

(२) प्रतिसारण—लोध, लाल, चन्दन, मुलहठी, लाख का चूर्ण कर मधु में मिलाकर।

(३) गण्डूष धारण—बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के कषाय में मधु, घृत और शक्कर मिलाकर।

(४) नस्य—काकोल्यादिगण के कल्क और दस गुने गाय के दूध से किए गए घृत के द्वारा।

(४) शौषिर—इसके लक्षण बताते हुए कहा गया है कि "इस अवस्था में मसूढ़ों में सूजन उत्पन्न हो जाती है, इसमें वेदना होती है; मुख से लार बहती है और खाज होती है। यह रोग कफ रक्तजन्य कहा गया है।"

इस रोग की चिकित्सा का वर्णन सुश्रुत संहिता में किया गया है—उनके अनुसार निम्न क्रियाओं का प्रयोग करना हितकारक होता है।

(१) रक्तावसेचन।

(२) लेप—लोध, मुस्पा, रसौत को मधु में मिलाकर लेप करना चाहिए।

(३) गण्डूष—बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के क्वाथ से।

(४) नस्य—सारिवा, उत्पल, मुलहटी, सावरलोध, अगर, चन्दन इनके कल्क से और दस गुने गाय के दूध में सिद्ध किया घृत नस्य के काम में लेना चाहिए।

(५) महाशौषिर—इस रोग के लक्षण बताते हुए सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि—"दांत मसूढ़ों को छोड़ देते हैं। तालु फट जाते हैं, मसूढ़े पक जाते हैं, मुख भी आक्रान्त हो जाता है। यह रोग सन्निपातजन्य होता है।"

इस रोग को असाध्य कहा गया है। यदि उपचार देना हो तो शौषिर चिकित्सा के समान उपचार देना चाहिए।

(६) परिदर—यह रोग पित्त-कफ एवं रक्तजन्य है। इसमें मसूढ़े गल जाते हैं। रोगी के रक्त मिश्रित थूक निकलता है।

इस रोग की चिकित्सा शीतादि रोग की चिकित्सा की तरह करनी चाहिए।

(७) उपकुश—इस रोग का स्वरूप बताते हुए सुश्रुत संहिता में लिखा है कि—"मसूढ़ों में जलन होती है, मसूढ़े गल जाते हैं। यह दांतों को छोड़ देते हैं। दांत मूलों को पकड़कर हिलाने से दबाने पर रक्त निकलता है। मन्द वेदना होती है। रक्त के निकलने पर खाली हुए मसूढ़े पुनः फूल जाते हैं। मुख से दुर्गन्ध आने लगती है। यह रोग पित्त रक्तजन्य होता है।"

इस रोग की चिकित्सा बताते हुए निम्न विधियों का प्रयोग करना हितकारक कहा गया है—

(१) वमन।

(२) विरेचन।

(३) शिरोविरेचन।

(४) रक्त निर्हरण—कठगूलर, गाजवाँ इनके पत्तों से रगड़कर रक्त को निकालें।

(५) प्रतिसारण—पाँचों नमक, सोंठ, मिर्च, पीपल के चूर्ण को मधु में मिलाकर।

(६) कवल धारण—पिप्पली, पीली सरसों, सोंठ, वेतसफल इनको गरम पानी में मिलाकर।

(७) नस्य—काकोल्यादि मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए।

(८) वैदर्भ—"मसूढ़ों को घिसने पर तीव्र शोथ उत्पन्न हो जाता है। दांत हिलने लगते हैं—यह रोग अभिघातजन्य होता है।"

इसकी चिकित्सा बताते हुए सुश्रुत संहिता में निम्न क्रियाओं का प्रयोग करने का विधान बताया गया है।

१. शास्त्र द्वारा दन्तमूलों का शोधन, २. क्षारकर्म, ३. शीतल क्रियाएँ।

(९) वर्धन—इसके लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं—"वायु के कारण से तीव्र शूल युक्त अधिक दाँत उत्पन्न होता है। इस दाँत के पूर्ण रूप में बाहर निकल आने पर दर्द स्वयं शान्त हो जाता है।"

इसकी चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि—

(१) अधिक दाँत को जड़ से निकालना।

(२) उस स्थान को अग्नि से जलाना।

(३) कृमिदन्त के समान चिकित्सा करना। (आगे लिखेंगे)

(१०) अधिमांस—"हनु के अन्तिम दन्तमूल में तीव्र वेदनायुक्त महान शोथ उत्पन्न हो जाता है इस रोग में मुख से लाल स्राव होता है। यह रोग कफजन्य होता है।"

इस रोग की चिकित्सा बताते हुए निम्न क्रियाओं का प्रयोग करने का विधान बताया गया है—

(१) छेदन—शस्त्र द्वारा अधिमांस को काट दें।

(२) प्रतिसारण—उस स्थान को वच, तेजबल, पाठा, सर्जक्षार और यवक्षार से रगड़ें।

(३) कवलधारण—गरम पानी में मधु और पिप्पली मिलाकर कवल धारण करें।

(४) परिमार्जन—परवल, त्रिफला और नीम के कषाय से धोयें।

(५) शिरोविरेचन।

(६) वैरेचनिक धूम्र।

(११-१५) नाड़ी व्रण—नाड़ी व्रण की भाँति पाँच नाड़ियाँ दन्तमूल में भी होती हैं। इसके लक्षण उसी प्रकार समझने चाहिए।

यह शब्द निदान स्थान अध्याय १६ में बताए हैं। इनके अनुसार नाड़ी व्रण का वर्णन जानने को कहा गया है जो शल्य में आता है। शल्य के प्रकरण में आठ प्रकार की नाड़ियों का वर्णन सुश्रुत निदान स्थान अध्याय १० में किया है। शालाक्य में पाँच प्रकार के नाड़ी व्रणों में द्विदोषज को नहीं गिना जाता। हम यहाँ पाँच प्रकार के नाड़ी के व्रणों के लक्षण लिख रहे हैं।

(क) **वातज नाड़ी व्रण**—कठोर, सूक्ष्ममुख एवं वेदनायुक्त होता है। इसमें झाग सहित बहता है, यह रात के समय अधिक बहता है।

(ख) **पित्तज नाड़ी व्रण**—तृष्णा, संताप, चुभन, अंगग्लानि, ज्वर आदि लक्षणों के साथ पीत एवं उष्ण स्राव बहता है जो दिन के समय अधिक निकलता है।

(ग) **कफज नाड़ी व्रण**—इसमें वेदना मन्द, कठोरता एवं कण्डू होती है। श्वेत एवं चिकना स्राव होता है। यह स्राव रात को अधिक निकलता है।

(घ) **त्रिदोष नाड़ी व्रण**—इस अवस्था में वातादि के लक्षणों का स्राव निकलता है। इस अवस्था में दाह, ज्वर, श्वास, मूर्च्छा, मुख की शुष्कता आदि लक्षण होते हैं।

(ङ) **शल्यज नाड़ी व्रण**—उदीरित स्थानों में किसी प्रकार से शल्य के नष्ट होने पर या अन्नमार्ग में घुसने पर शल्य शीतलता से नाड़ी व्रण उत्पन्न करता है। इस अवस्था में स्राव झागदार मथित-निर्मल, रक्तमिश्रित और उष्ण होता है। इसमें स्राव अकस्मात बहता है और दर्द होता है।

इस तरह पाँच प्रकार के नाड़ी व्रण के लक्षण हमने बता दिये। सुश्रुत संहिता में दन्तमूल गत नाड़ी व्रण की चिकित्सा का वर्णन किया गया है। हम अक्षरशः यहाँ दे रहे हैं।

दन्त की नाड़ियों में व्रण के समान चिकित्सा करें। जिस दाँत में नाड़ी उत्पन्न हो जाय उस दाँत को उखाड़ दें। इसका विधान यह है कि मांस को शस्त्र से काट दें और फिर दाँत को उखाड़ लें। यदि ऊपर के मसूढ़ों में हो तो दाँत को न उखाड़ें। दाँत को जब उखाड़ दिया गया हो तब उस स्थान को क्षार या अग्नि से जला देना चाहिए। दाँत को उखाड़ने की उपेक्षा करने पर नाड़ी हनुकास्थि को अवश्य नष्ट कर देती है। अतः टूटे हुए एवं हिलते हुए दाँत को जड़ सहित ही उखाड़ना चाहिए। मजबूत जमे हुए एवं ऊपर के दाँत को जड़ सहित उखाड़ने पर रक्त का अतिस्राव हो जाता है। प्रक्षालन के लिए चमेली, मैंनफल, कुटकी, गोखरू का कषाय बरतें। मुलहठी, लोध, जमीठ और खदिर में सिद्ध किया तेल दन्तगति को संशोधन करके अवश्य रोग का नाश करता है।"

इस तरह दन्तमूल गत रोगों के लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन हमने विस्तार से कर दिया है।

प्रश्न—पायोरिया का वर्णन कीजिए।

उत्तर—पायोरिया अंग्रेजी भाषा का शब्द है, यह नाम सर्वव्यापक हो रहा है, यथार्थ में दन्त पुप्पुट, दन्त वेष्ट, दन्त नाड़ी व्रण, दन्त मूल नाड़ीक्षत:, मसूढ़ों में मवाद, दन्तोलूखत पूयता, इन सब नामों का समावेश पायोरिया नामान्तर्गत हो जाता है। अत: सर्वसाधारण के व्यवहार्थ का शब्द उपयुक्त है।

सम्प्राप्ति—दाँतों को स्वच्छ रखना, शामिल भोजन, जलपान करना, होटलों की उग्र चाय, बर्फ, पान, बीड़ी, सिगरेट और दाँतुन का अभावादि इसके कारण हैं।

विशेष आधुनिक सभ्यता ने अपनी मादकता का यहाँ तक रंग जमाया है कि मल त्याग के बाद गुदा प्रक्षालन करना भी ऐब नहीं समझा जाता, अपितु भोजन के आदि-अन्त में दाँत मुख धोना भी सभ्यता के विपरीत समझा जाना है। यही हाल गँवार छोटी जातियों का है।

कारण—प्रात:-सायं दाँत साफ न करने से तथा भोजन के पूर्व-पश्चात् मुख तथा दाँतों को सावधानी से न धोने के कारण भोज्य पदार्थ के छोटे-छोटे कण दन्त सन्धियों में रहने से, वह पदार्थ सड़कर विषाक्त हो जाता है और लाला रस में मिलकर भीतर उतरता रहता है और बाहर दाँतों पर और दन्त गह्वरों से आच्छादित हो जाता है। इस सड़े हुए पदार्थ रस को आधुनिक रसायनज्ञ 'लेक्टिक एसिड' कहते हैं।

लक्षण—दाँतों की अस्वच्छता से वातादि रोष कुपित होकर दन्तमूल में वात विशेष से टीस शूल, वेदनादि, पित्त से उष्णता, लाली, दुर्गन्धित रक्त तथा कफज दोष से जड़ता, भारीपन, स्तम्भता, कण्डू, श्वेत पीव और द्विदोष से द्विदोषज तथा त्रिदोष से त्रिदोषज भयंकर लक्षण प्रतीत होते हैं।

मुख से मल द्वार के समान दुर्गन्ध आती रहती है। एक दन्त मूल की नाड़ी के मुख पर साधारण क्षत: में सहस्रों रोगाणु होते हैं। असल में उन रोगाणुओं को अपने खाने का पदार्थ यथार्थ रूप में मिलता है, जिससे रोगाणु देवदन्त गह्वर मन्दिर में अच्छी तरह अपना प्रभाव जमाते हैं। फेफड़े से दुर्गन्ध युक्त श्वास आती-जाती है। जिससे यह विषाक्त वायु (गैस) रक्त में भी मिश्रित होती जाती है, यही उपरोक्त लिखे अनुसार मन्दाग्नि, संग्रहणी, क्षयादि का बीजारोपण है।

पायोरिया मिटाने की निश्चयात्मक धारणा—सर्व साधारण में तथा बहुधा

चिकित्सक वर्ग में यह भ्रम फैला हुआ है कि 'दन्त नाड़ी व्रण' (पायोरिया रोग) बिना दाँत निकलवाये ठीक ही नहीं हो सकता । किन्तु यह ख्याल भ्रम-मूलक है. इस सिद्धांत के अनुभवी चिकित्सकों के विश्वास पर बेचारे दन्त रोगी अपनी अमूल्य निधि स्वरूप दन्त रत्नों को निकलवाकर नकली बन जाते हैं, दाँत और द्रव्य (फीस) दोनों चिकित्सक को अर्पण कर घर का रास्ता लेते हैं ।

क्या दाँत निकलवाने में मसूढ़ों का मवाद या नाड़ी क्षत: मिट सकेगा ? यह दाँत रोग ऐसे नहीं जो लवंग तेल, पिपरमेंट, अमृतधारा तथा परमेंगनेट आफ पोटाश के व्यवहार से मिट सकें ।

पायोरिया रोग को मिटाने की सैकड़ों पेटेन्ट औषधियाँ बाजार में बिकती हैं, लेकिन विश्वस्त कोई औषधि देखने में नहीं आई । हाँ, सफल चिकित्सक ही इसमें बाजी लेते हैं ।

प्रश्न—दन्त रोगों का विस्तृत विवरण दीजिए ।

उत्तर—सुश्रुत संहिता में दन्त रोगों की संख्या आठ बताई गई है—वे आठ रोग निम्नलिखित हैं—

(१) दालन । (२) कृमिदन्तक । (३) दन्तहर्ष । (४) मञ्जनक । (५) दन्तशर्करा । (६) कपालिक । (७) श्याव दन्तक । (८) हनुमोक्ष ।

हम प्रत्येक के विषय में क्रमशः शास्त्रोक्त वचनों का संग्रह कर रहे हैं ।

(१) दालन—इस रोग की उत्पत्ति का कारण वायु माना जाता है । इस रोग में दाँत अनेक स्थानों से फट जाते हैं । इनमें तीव्र वेदना होती है । सुश्रुत संहिता में इसका कोई इलाज नहीं दिया गया है । इसे असाध्य रोग माना जाता है ।

(२) कृमिदन्तक—इस अवस्था में दाँत में काला रंग आ जाता है । छेद बन जाते हैं । दाँत हिलने लगते हैं । दाँत में से स्राव बहता है, वेदना होती है जो बिना किसी कारण भी हुआ करती है, जो तीव्र भी हो सकती है । शोथ जाता है । यह रोग वायुजन्य होता है ।

कृमिदन्तक की चिकित्सा के लिए निम्न क्रियाओं का प्रयोग करने का विधान बताया गया है जो अवस्था के अनुसार करने को कहा गया है ।

(क) स्थिर दाँत में निम्न प्रकार चिकित्सा करें—

(i) रक्त विस्रावण । (ii) स्वेदन—रक्त निकालने से पहले करना चाहिए ।

(iii) स्नेह गण्डूष—वातनाशक द्रव्यों के, सिद्ध स्नेहों से। (iv) लेप—भद्रदार्वादि गण अथवा पुनर्नवा से (v) स्निग्ध भोजन।

(ख) चल दाँत का उपचार निम्न प्रकार करें—

(i) दन्त उद्धरण—हिलते हुए दाँत को निकाल दें। (ii) दहन—खोखले स्थान को जला दें। (iii) नस्य—विदारी, मुलहटी, सिंघाड़ा, कसेरू, इनके द्वारा तथा दस गुणा दूध में सिद्ध किए तेल से।

(३) दन्तहर्ष—"दन्तहर्ष रोग में दाँत शीत एवं उष्ण वस्तु के स्पर्श को सहन नहीं कर सकते। यह रोग वातजन्य होता है।"

इस रोग की चिकित्सा के निम्न सिद्धान्त होंगे—

(i) कवल धारण—चतुस्नेह अथवा त्रैवृत घृत को तनिक उष्ण करके प्रयोग करें। (ii) स्नैहिक धूम। (iii) नस्य (iv) स्निग्ध भोजन—मांस रस, यूष, यवागु, दूध घृत (v) शिरोवस्ति। (vi) वातनाशक उपचार।

(४) भञ्जनक—"इस रोग में मुख टेढ़ा हो जाता है। दाँत टूट जाते हैं। तीव्र वेदना होती है। यह रोग कफवात जन्य होता है।"

यह रोग असाध्य है इसलिए इसकी चिकित्सा का वर्णन नहीं किया गया है।

(५) दन्त शर्करा—"जिन दाँतों में शर्करा के समान मल जम जाता है उसे दन्त शर्करा कहते हैं।"

इसकी चिकित्सा के लिए निम्न विधि का वर्णन किया गया है—

(क) शर्करा उद्धरण—मसूढ़ों को हानि पहुँचाए बिना शर्करा को खुरचना चाहिए।

(ख) प्रतिसारण मधु एवं लाक्षा द्वारा दाँतों पर प्रतिसारण करना चाहिए।

(ग) दन्तहर्षवत उपचार करना चाहिए।

(६) कपालिका—"सुश्रुत संहिता में इसका स्वरूप बताते हुए लिखा है इस रोग में दाँतों के ऊपर चिपकी हुई श्वेत रंग की वल्कल शर्करा के साथ उतर जाती है। यह रोग दाँतों को नष्ट करने वाला होता है।"

इस रोग को कष्ट साध्य बताया है और इसका उपचार दन्तशर्करा के सिद्धान्त के अनुसार करने को कहा गया है।

(७) श्यावदन्तक—"इस रोग के दाँत रक्त मिश्रित पित्त से पूर्ण रूप में जल जाते हैं। दाँत का रग काला या नीला हो जाता है। इस रोग को श्याव दन्तक कहते हैं।"

इसे असाध्य रोग कहा गया है और इसकी चिकित्सा नहीं कहीं गई है।

(८) हनुमोक्ष—"ऊँचे बोलने से, कठिन पदार्थों के भक्षण से; जम्भाई आदि कारणों से वायु कुपित होकर हनु सन्धि को शिथिल कर देती है। इस रोग में अर्दित के समान लक्षण होते हैं। इसका नाम हनुमोक्ष है।"

इस रोग की चिकित्सा अर्दित के समान करने को कहा है। हमने प्रथम प्रश्न-पत्र में अर्दित रोग का वर्णन किया है जो वातव्याधि के प्रकरण में है। वहीं देखना चाहिए।

इस तरह हमने दन्त आश्रित रोगों का वर्णन कर दिया है।

प्रश्न—जिह्वा की रचना एवं कार्य लिखते हुए जिह्वा के रोगों का वर्णन कीजिए।

उत्तर—जिस प्रकार शरीर में मुख का प्रधान स्थान है। उसी प्रकार मुख में जिह्वा का प्रधान महत्त्व है और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अन्तर्गत इसका ग्रहण किया जाता है। इसके द्वारा हम सभी रसों का स्वाद ले सकते हैं और परम सन्तुष्टि का अनुभव प्राप्त करते हैं।

भोजन का ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसका स्वाद यह न जान ले। इस परिज्ञान स्वाद के पहचानने के अतिरिक्त यह बोलने तथा विचारों, भावों को व्यक्त करने का साधन भी है। इसके द्वारा हम छोटे को महान्, महान् को छोटा, रोगी को निरोग, नीरोग को रोगी, दुःखी, सुखी, मित्र, शत्रु बना सकते हैं।

यह मुख के पदार्थों को गले से नीचे उतारने का काम भी बड़ी सफलता से करती है। इसके द्वारा दन्त स्थित फँसे हुए पदार्थ भी निकाले जाते हैं। इससे इसे एक कूर्चिका का नाम दिया जाय तो असंगत न होगा। यह सारे शरीर की अधिष्ठात्री और हमारे लिए नितांत उपयोगी है। किन्तु फिर भी इसके स्वरूप का परिज्ञान सर्वसाधारण से परे की चीज है।

जिह्वा की रचना—यह मुख के भीतर दाँतों से घिरी हुई निवास करती है, इससे ऊपर के हिस्से में तालु, नीचे के हिस्से में हनु का भाग रहता है। इसका अग्र भाग नुकीला, जड़ मोटी तथा चौड़ी होती है। साधारणतया रंग गुलाबी-सा होता है, परन्तु जब शरीर में रक्त की न्यूनता हो जाती है तो इसका रंग फीका

भी पड़ जाता है। अजीर्णकान्तु रोगियों की जिह्वा मैल से आच्छादित और दुर्गन्धपूर्ण हो जाती है। जिसके कारण रंग श्वेत या भूरा-सा दिखाई देने लगता है।

सारांश यह है रोगों के अनुसार जिह्वा में अनेक रंगों के परिवर्तन होते रहते हैं। जिह्वा मांस के द्वारा बनी हुई है। वह कई मांसपेशियों द्वारा निम्न हन्वस्थि, शिफा प्रवर्धक और कण्ठास्थि से बँधी रहती है। जिस मांस से यह बनी है उसके संकोच और विस्तार से वह छोटी, बड़ी, चौड़ी, पतली हो जाती है। जिन मांसपेशियों द्वारा वह अस्थियों से बँधी है उसके संकोच और विस्तार से वह मुख के बाहर निकल आती है और स्वाभाविक रीति से ही भीतर चली जाती है तथा मुख के भीतर गमनशील होती है।

जिह्वा के ऊपर के पृष्ठ की श्लेष्मिक कला में अनेक छोटे-बड़े दाने दिखाई देते हैं। ये दाने या उभार सौत्रिक तन्तु नाड़ी सूत्र और रक्त केशिकाओं के इकट्ठे होने से बनते हैं। इन सब चीजों के ऊपर सैलों की कई तह चढ़ी रहती है। जिनका परिज्ञान चिकित्सकों को सरलता से हो सकता है।

मुख्यत: जिह्वा पर तीन प्रकार के दाने हुआ करते हैं जो नौ या दस बड़े-बड़े दाने जिह्वा मूल पर दिखाई देते हैं। ये दाने दो पंक्तियो में रहते हैं जो पीछे जाकर एक दूसरे से मिलकर एक वृहत् कोष बनाते हैं। प्रत्येक दाने के चारों ओर एक खाई रहती है। इस खाई के कारण ये दाने 'खातवेष्टितांकुर' कहलाते हैं।

इसके अतिरिक्त खात की दीवारों में दबे अनेक छोटे सैल समूह होते हैं जिनको स्वाद कोष कहते हैं।

दूसरे प्रकार के दाने जिह्वा के किनारों और अगले सिरे पर पाये जाते है। वह छत्रिका नाम की वनस्पति के आकृति के अनुसार होने से "छत्रिकांकुर" कहलाते हैं। इनमें भी स्वाद कोष होते हैं।

तीसरे प्रकार के दाने पतले-नोकीले होते हैं और जिह्वा में हर स्थान पर पाये जाते हैं। वे बहुधा समान्तर पंक्तियों में रहते हैं इनको सूत्रकारांकुर कहते हैं। इनमें स्वाद पहचानने की शक्ति कम होती है। जिह्वा की नोंक मूल तथा किनारों में स्वाद पहचानने की शक्ति भी अधिक होती है। शेष भाग उष्णता इत्यादि ज्ञान के लिए काम में आते हैं।

स्वाद कोष—यह प्राय: खातवेष्ठिनांकुरों और छत्रिकांकुरों में पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त कोमल तालु के नीचे के पृष्ठ और स्वर यन्त्र छेद के पिछले

पृष्ठ पर भी रहते हैं। स्वाद कोष में एक छिद्र होता है, जिसको स्वाद रन्ध्र कहते हैं। स्वाद कोष में दोष की सैल होती हैं।

१. एक रसज्ञ सैलें जो बीच में मोटी और सिरों पर पतली होती है। इनके ऊपर के सिरे से एक बाल जैसे तार निकलते हैं। वे बाल स्वाद रन्ध्र में रहते हैं।

२. दूसरे प्रकार की सैल रसज्ञ सैलों को सहारा देने वाली होती है। इसके द्वारा स्वाद का परिचय व ज्ञान तब ही हो सकता है जब घुली हुई वस्तु के अणु मुख के रसों में घुसकर अणु रसज्ञ सैलों के बालों से टकराते हैं और स्पर्श से जो प्रभाव इन सैलों पर पड़ता है, उनकी सूचना नाड़ी केन्द्रों द्वारा मस्तिष्क के स्वाद केन्द्रों को पहुँचती है। यह तार जिह्वा से पिछले १/३ से जिह्वा कण्ठ नाड़ी द्वारा मस्तिष्क में पहुँचते हैं। ३ भाग के मौखिक नाड़ी द्वारा मस्तिष्क को जाते हैं। इस प्रकार दोनों नाड़ियों के तार स्वाद केन्द्र तक पहुँचते हैं।

जिह्वा के द्वारा षट् रसों का भिन्न-भिन्न रूप से स्वाद लिया जाता है, जैसे मीठा स्वाद जिह्वा के आगे की नोंक से, कड़वा पिछले भाग से, तीखा दोनों किनारों से, लवण का अगली नोंक से अनुभव किया जाता है।

जिह्वा रोग निदान—मिथ्या आहार के सेवन करने, दोषों के कुपित होने आदि अनेक कारणों से जिह्वा में ३ प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, वे इस प्रकार हैं :

१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. अलास,
५. अधिजिह्व } सुश्रुत संहिता में इन दोनों को पाँचवाँ भेद माना है।
६. उपजिह्व }

वातज—वात स कुपित होने से जीभ फट जाती है। उसका रस जाता रहता है और शाक के पत्ते की भाँति जिह्वा खुरदरी हो जाती है।

पित्तज—पित्त के दोष से रसना पीली हो जाती है, उसमें जलन होने लगती है और लाल लम्बे-लम्बे काँटे जीभ पर दिखाई देने लगते हैं।

कफज—कफ से जीभ भारी तथा मांस के नीचे काँटे जैसे चुभने लगते हैं।

अलास—इसमें जीभ पर कफ रक्त के द्वारा बड़ी भारी सूजन हो जाती है। इससे इसको अलास संज्ञा दी है। यह रोग अधिक बढ़ने पर जिह्वा को स्तम्भित कर देता है और जिह्वा की जड़ पक जाती है।

अधिजिह्वा रोग—रक्त कफ से जीभ के ऊपर अग्र भाग का शोथ उत्पन्न होता जाता है और यह पकने पर असाध्य हो उठता है। अत: सफल चिकित्सक इस प्रकार के रोगी को त्याग दे।

उपजिह्वा रोग—कफ रक्त से जीभ टेढ़ी हो जाती है, सूजन बढ़ जाती है, लार बहती है और खुजली होती है, दाह होता है। इससे इसको वैद्यों ने उप-जिह्वा रोग की संज्ञा दी है।

जिह्वागत साध्य रोगों की चिकित्सा सफलता के लिए कहता हूँ। वातजन्य ओष्ठ प्रकोप में जो चिकित्सा पहले कही हैं, वातजन्य जिह्वा कण्टकों में वही का वैद्य करें। पित्तजन्य जिह्वा कण्टकों में गोजी-शेफालिका आदि के पत्तों से घर्षण करके दूषित रक्त को निकालकर मधुर प्रतिसारण और मधुर गण्डूष और मधुर नस्य बरतें। कफ जन्य कण्टकों में लेखन करके रक्त निकालकर, पिप्पल्यादि गण को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करें। श्वेत सरसों और सैन्धव के कवल मुख में धारण करें। पटोल, नीम, कटेरी बड़ी, यवक्षार और यूषों से भोजन करें। उपजिह्वा में लेखन कर क्षार से प्रतिसारण करें। शिरोविरेचक, गण्डूष, धूम से चिकित्सा करें। जिह्वागत रोगों की चिकित्सा कह दी है।

अनुभूत रोग—जीभ का रक्त मोक्षण करना जिह्वारोग के लिए उप-योगी है—

गिलोय, पीपल, नीम का छाल, कुटकी।

इनके क्वाथ से कुल्ले कराना भी जिह्वा रोग निवृत्ति के लिए अच्छा यत्न है।

सोंठ, मिर्च, पीपल, जवाखार हरड़, प्रत्येक समभाग लेकर चूर्ण जीभ पर लगाने से जिह्वा रोग दूर हो जाती है।

कचनार की छाल के क्वाथ के कुल्ली से भी इसमें शान्ति मिलती है।

घाव और छाले के लिए शहद का गण्डूष, दाह और तृषा पर दूध, घी का गन्डूष, त्रिफला के साथ मधु मिलाकर कुल्ले करना भी अधिक लाभ, प्रद है।

राई, बड़ी हरड़, सोंठ, नौसादर, अकरकरा, प्रत्येक समभाग लेकर, पीसकर जीभ पर मलने से भी जिह्वा रोग पर लाभ होता है।

जीभ पर जलन होने पर दही को पानी में मिला कर कुल्ले करना और कत्था जीभ पर मलना भी इस रोग पर उपयोगी है।

मसूर जलाकर उसके बराबर कत्था मिलाकर जीभ पर फूकें। तथा—

बड़ी इलायची के दाने, छालियाँ दोनों जलाकर महीन पीसकर जीभ पर बुरकें तथा—

बकायन की छाल और सफेद कत्था भी इसका अच्छा उपयोगी साधन है।

प्रश्न—तालुजन्य रोगों का वर्णन कीजिए।

उत्तर—तालु का आश्रय लेकर निम्न नौ रोग उत्पन्न होते हैं—

(१) गलशुण्डिका, (२) तुण्डीकेरी, (३) अध्रुष, (४) मांसकच्छप, (५) अर्बुद (६) मांस संघात। (७) तालु पुप्पुट। (८) तालु शोथ। (९) तालु पाक।

हम यहाँ प्रत्येक का वर्णन करेंगे।

(१) गलशुण्डिका—इसका वर्णन करते हुए सुश्रुत संहिता में लिखा है कि "कफ और रक्त के कारण से उत्पन्न शोथ तालुमूल से आगे की ओर बढ़ कर गलशुण्डिका में पहुँच जाता है। यह शोथ वातपूर्ण वस्ति के समान एवं लम्बा होता है। इस रोग में तृष्णा, श्वास, कास आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। वैद्य इसे काकशुण्डी के नाम से जानते हैं।"

इसकी चिकित्सा का विधान निम्न शब्दों में कहा गया है जो सुश्रुत संहिता से अविकल रूप में यहाँ दिया गया है—"जिह्वा के ऊपर लटकी गलशुण्डिका को अंगूठा और अंगुली के सन्देश से खींचकर मण्डलाग्र से काट दें; न तो बहुत अधिक काटें और न कम ही काटें, अपितु एक-तिहाई भाग को काटें। अधिक मात्रा में काटने से रक्त के निकल जाने से रोगी मर जाता है। थोड़ा काटने से शोथ, लालास्राव, निद्रा भ्रम और अन्धकार उत्पन्न होता है। इसलिये चिकित्सक कर्म को देखे हुए कुशल वैद्य सावधानी से गलशुण्डी को काट कर सावधानी से चिकित्सा करें।

इसके पश्चात् निम्न विधियों का प्रयोग करना हितकारक बताया गया है:

(१) प्रतिसारण—मिर्च, अतीस, पाठा, वच, कूठ, एलोनक, लवण को मधु में मिलाकर।

(२) कवल—वच, अतीस, पाठा, रास्ना, कुटकी, नीम का क्वाथ तैयार करके।

(३) धूम्रपान—इंगुदी, अपमार्ग, दन्ती, त्रिवृत, देवदारु इन पाँचों को पीसकर प्रचुर गन्ध द्रव्य मिलाकर धूम्रवर्ति बनाएँ।

(४) भोजन—यवक्षार से सिद्ध किये मूँग का यूष।

(२) तुण्डिकेरी—' कफ एवं रक्त के प्रकोप से स्थूल, तोद, दाह युक्त एवं पकने वाला शोथ उत्पन्न होता है। यह शोथ बनकर्पासी के समान होता है। इसको तुण्डीकेरी कहते हैं।

इसकी चिकित्सा में शस्त्र का प्रयोग करना चाहिए। शस्त्र कर्म में इसे भेद्य रोग कहा गया है।

(३) अध्रुष—इस रोग का स्वरूप बताते हुए सुश्रुत संहिता में लिखा है कि "रक्त के विकृत होने के कारण तालु प्रदेश में लाल वर्ण का एवं निश्चल शोथ उत्पन्न हो जाता है। उसको अध्रुष कहते हैं। इस रोग में वेदना एवं ज्वर रहता है।"

इसकी चिकित्सा बताते सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि यह एक शस्त्र साध्य रोग है। अतः उसी आधार पर उपचार करना चाहिये।

(४) मांस कच्छप—इसके लक्षण बताते हुए लिखा है कि "कफ के कारण कछये के समान मध्य में उठा हुआ, वेदना रहित, पाण्डुवर्ण का धीरे-धीरे फैलने वाला शोथ उत्पन्न होता है, इस रोग को कच्छप रोग कहते हैं।"

सुश्रुत संहिता में इसकी चिकित्सा भी शस्त्र कर्म द्वारा करने का विधान बताया है। वहाँ छेदन कर्म के लिए निर्देश दिया गया है।

(५) अर्बुद—"रक्त के कारण तालु के मध्य में पद्मकर्णिका के समान आकार का शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसके लक्षण रक्तार्बुद के लक्षणों के समान होते हैं।"

इस रोग को असाध्य कहा गया है।

(६) मांस संघात—"तालु के अन्दर का मांस कफ के कारण दूषित हो जाता है। इसमें वेदना नहीं होती। इसको मांस संघात कहते हैं।"

इस रोग की चिकित्सा भी छेदन कर्म द्वारा साध्य कही गई हैं।

(७) तालु पुप्पुटक—इसके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—'मेदो मिश्रित कफ के कारण तालु प्रदेश में वेदना रहित, स्थिर एवं बेर के आकार का शोथ उत्पन्न होता है—इसको तालु पुप्पुटक कहते हैं।"

इसकी चिकित्सा भी शस्त्र साध्य कही गई है और बताया गया है कि इसमें भी गलशुण्डी के समान छेदन कर्म करें।

(८) तालुशोष—इस रोग के लक्षण बताते हुए सुश्रुत संहिता में कहा

गया है कि "इस रोग में अत्यन्त शुष्कता होती है, तालु विशेष रूप से फट जाता है, श्वास उत्पन्न होता है। यह विकार वातपित्तजन्य होता है।"

इसकी चिकित्सा में निम्न विधियों का प्रयोग का विधान बताया गया है:

(१) स्नेहन। (२) स्वेदन। (३) वातनाशक उपचार।

(९) तालुपाक—इसका स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि "जिस समय पित्त तालु में अति भयानक पाक करता है—उसे तालुपाक कहा जाता है।"

इसकी चिकित्सा पित्तनाशक उपचार का विधान बताया गया है।

इस तरह हमने तालुजन्य नौ रोगों के लक्षण एवं चिकित्सा यहाँ लिख दी हैं।

प्रश्न—कण्ठ रोगों का वर्णन कीजिए।

उत्तर—सुश्रुत संहिता में सभी कण्ठ रोगों का वर्णन किया है, जो निम्न हैं—

(१-५) रोहिणी। (६) कण्ठशालूक। (७) अधिजिह्वा। (८) वलय। (९) बलास। (१०) एक वृन्द। (११) वृन्द। (१२) शतघ्नी। (१३) गिलायु (१४) गलविद्रधि। (१५) गलौघ। (१६) स्वरघ्न। (१७) मांसतान। (१८) विदारी।

हम रोहिणी का वर्णन अलग से करेंगे। शेष रोगों को क्रमशः यहाँ लिख रहे हैं—

(१) कण्ठशालूक—इसका स्वरूप बताते हुए लिखा है कि "गले में कफ के कारण बेर के समान जो ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है और कण्टक के समान पीड़ा करती है, स्पर्श में खर एवं स्थिर होती है। यह शस्त्र साध्य रोग है।"

इस रोग की चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि "कण्ठशालूक में रक्त-मोक्षण करके तुण्डीकेरी के समान चिकित्सा करें। जौ के स्निग्ध भोजन को अल्प मात्रा में एक समय खाएँ।"

(२) अधिजिह्वा—इसका स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि "रक्तमिश्रित कफ के कारण जिह्वा के अग्र भाग के समान शोथ-जिह्वा मूल के ऊपर उत्पन्न हो जाता है। इसको अधिजिह्वा कहते हैं। यदि वह पक जाए तो असाध्य समझना चाहिए।"

इसकी चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि जिह्वागत रोगों में उपजिह्वा नामक रोग की जो चिकित्सा बताई है उसे ही काम में लेना चाहिए।

(३) वलय—इसका वर्णन करते हुए सुश्रुत संहिता में लिखा है—"कफ अन्न मार्ग को रोक कर आयात और उन्नत शोथ उत्पन्न कर देता है। यह रोग सर्वदा ही असाध्य होता है। इस वलय रोग के चिकित्सा कर्म को छोड़ देना चाहिए।

(४) बलास—इस रोग का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि "प्रकुपित कफ और वायु गले में शोथ उत्पन्न करते हैं। इससे श्वास में कठिनता होती है। यह रोग प्राणनाशक है। बुद्धिमानों का कहना है कि यह रोग अतिशय कष्ट साध्य है।"

(५) एकवृन्द—सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि "कफ और क्षत के कारण से वृत्त, उन्नत, दाहयुक्त, कण्डूयुक्त, पाकरहित, कठोर एवं भारी जो शोथ उत्पन्न होता है—उसको एक वृन्द कहते हैं।"

इसकी चिकित्सा को निम्न दो क्रियाओं के लिए कहा गया है—

(१) रक्तमोक्षण (२) संशोधन।

(६) वृन्द—"पित्त और रक्त के प्रकोप से ऊपर को उठा, गोलाकार तीव्र दाह तथा तीव्र ज्वर युक्त शोथ उत्पन्न होता है। यह पित्त प्रकोप या क्षत से होता है। यदि इसमें तोद हो तो इसे वातरक्त से उत्पन्न समझना चाहिए।"

वृन्द की चिकित्सा भी एक वृन्द के समान ही करनी चाहिए।

(७) शतघ्नी—जो "गांठ कठोर, गले को रोकने वाली मासांकुरों से बहुत अधिक व्याप्त होती है एवं त्रिदोषजन्य होने से तोद, दाह, कण्डू तथा नाना प्रकार की वेदनाकारी तथा कण्टकों से व्याप्त महान शिला के समान होती है—उसको शतघ्नी कहते हैं।"

यह एक असाध्य रोग कहा गया है।

(८) गिलायु—"कफ रक्त के कारण गले में आंवले के समान बड़ी, स्थिर मन्दवेदनायुक्त ग्रंथि उत्पन्न हो आती है। रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि गले में भक्ष्य वस्तु अटक रही है। यह रोग शस्त्र साध्य कहा गया है।"

(९) गलविद्रधि—"जो शोथ सम्पूर्ण गले में व्याप्त हो और सब दोषों की पीड़ाएँ आदि उत्पन्न हों। यह रोग सन्निपात जन्य है और इसे सन्निपातज विद्रधि के समान समझना चाहिए।"

इसकी चिकित्सा के विषय में कहा गया है कि 'गलविद्रधि जो मर्म में स्थित न हो, अच्छी तरह पकी हो उसका भेदन करना चाहिए।"

(१०) **गलौघ**—कफ और रक्त के कारण गले में महान शोथ उत्पन्न हो जाता है। इस शोथ के कारण अन्न-जल का मार्ग रुक जाता है। वायु की गति भी बन्द हो जाती है। रोगी तो तीव्र ज्वर रहता है। इस रोग को गलौघ कहते हैं।"

यह असाध्य रोग है।

(११) **स्वरघ्न**—"अनिलायन में कफ भर जाने से रोगी अत्यन्त कठिनाई के साथ निरन्तर श्वास लेता है। गला शुष्क हो जाता है और स्वर टूट जाता है। यह रोग वायु के कारण उत्पन्न होता है।"

(१२) **मांसतान**—'जो शोथ थैलने वाला, कष्टदायक और धीरे-धीरे बढ़ कर क्रमशः गले को बन्द कर देता है। यह शोथ नीचे की ओर लटकता है, इसको मांसतान कहते हैं। यह रोग सन्निपातजन्य है एवं प्राणनाशक हैं।" यह रोग असाध्य कहा गया है।

(१३) **विदारी**—इसके लक्षण बताते हुए कहा गया है कि "इस रोग में उत्पन्न शोथ लाल वर्ण एवं दाह तथा तोद से युक्त होता है। यह शोथ गले में दुर्गन्धित एवं गलित मांस के कारण होता है। यह रोग पित्तजन्य है। मनुष्य जिस पार्श्व की ओर सोता है उसी ओर यह शोथ उत्पन्न होता है।"

यह रोग असाध्य है।

इस तरह कण्ठगत रोगों का वर्णन किया गया है। इनमें से रोहिणी का भेदों सहित वर्णन आगे कर रहे हैं।

प्रश्न—रोहिणी (Diphtheria) का वर्णन कीजिये।

उत्तर—यह रोग गले के १७ या १८ रोगों में प्रधान है, अतः आयुर्वेद के मत के इसे नलतोरणकीय रोहिणी भी कह सकते हैं। यह रोग गले में खराश के समान ही प्रारम्भ होता है। इसमें जल भी निगलने में वेदना अधिक होती है। प्रायः वमन भी होता है। कण्ठ प्रायः लाल दीख पड़ता है परन्तु कुछ समय के पश्चात् तुण्डिका पर कुछ हरापन लिए श्वेत रूप के बहिःस्राव के धब्बे दीख पड़ते हैं और १२ घण्टे के लगभग ये बढ़कर एक कला-सी बना देते हैं। यह कला प्रथम तुण्डिका को ढक लेती है पुनः वहाँ से गल तोरणिका दण्डों, मृदु, तालु, अधिजिह्वा तथा ग्रसनिका के ऊपर फैल जाती है। यह कला रहित वर्ण मिश्रित सफेद रंग की होती हैं तथा अपने से नीचे के तन्तुओं से चिपकी

रहती है, अतः यह अपने स्थान से शीघ्र नहीं छूटती, यदि बलपूर्वक छुड़ाया जाय तो रक्त प्रवाह होने लगता है और उस स्थान पर पुनः वही कला कुछ देर के पश्चात् बन जाती है। प्रायः गलतोरणिकादण्ड फूले हुए शोथयुक्त हो जाते हैं। ग्रैवेयक ग्रन्थियाँ शीघ्र ही फूली हुई और स्पर्श में पीड़ायुक्त हो जाती हैं। श्वास शीघ्र ही दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। नासिका से पूय तथा रक्त मिश्रित स्राव होता है।

'रोहिणी' शब्द की निरुक्ति—चरक ने इसका लक्षण इस प्रकार कहा है कि अत्यन्त बढ़े हुए वात, पित्त और कफ जिसके जिह्वामूल में स्थित हो जाते हैं उसके जिह्वामूल में शोथ और अनेक प्रकार की पीड़ा होती है और कण्ठ रोधन करके शीघ्र ही मृत्यु कर देती है; अतः कण्ठरोधनात् इसका रोहिणी नाम है।

विभेदक लक्षण—विशेष निश्चय के लिए कण्ठ परीक्षा करने से इसमें मलिनता लिए श्वेत धब्बे, दुर्गन्ध युक्त प्रश्वास, नासिका स्राव तथा फूली हुई ग्रैवेयक ग्रन्थियाँ मिलेंगी। साधारण ग्रन्थि की तुण्डिका शोथ (गल रोग) में अहिःस्राव पीला तथा सुगमता से कुछ जाने वाला होता है। इसमें कदाचित्त ही कभी कला बनती हो। विन्सेण्ट तुण्डिका शोथ (Vincent's tonsillitis) में यद्यपि कला भी बनती है तथापि उसमें जीवाणु इससे भिन्न प्रकार के होते हैं। परितुण्डीय विद्रधि (Peritonsillar abscess) में श्वास से गन्ध नहीं आती तथा ग्रन्थियों का अल्प शोथ और मुख खुलने में कठिनता का अनुभव होना रोहिणी से पृथक् किया जा सकता है।

स्वर यन्त्र में यदि यह रोग हो जाय तो केवल आवाज से ही पहचाना जा सकता है। स्वर कर्कश होना तथा श्वास का फूलना इस रोग का सन्देह उत्पन्न कराता है।

रोग के हेतु—इस रोग का कारण रोहिणी दण्डाणु है। साधारणतः ग्रीवा पश्चिमी भाग में स्थित करके स्थानिक प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। यह जीवाणु एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर कफ के बिन्दुक्षेप से फैलता है। उपसर्ग के फैलाने वाला व्यक्ति या तो स्वयं रोग से पीड़ित होता है अथवा स्वयं उसमें रोग नाशक क्षमता होती है, परन्तु उसके नासिका और गलों के स्रावों से उपसर्ग रहता है जिससे वह स्वयं पीडित नहीं होता। इस प्रकार वे व्यक्ति को वाहक कहते हैं और ऐसे वाहक के दूषित दुग्ध से भी बालकों के उपसर्ग हुआ करता है।

इसका सम्प्राप्ति काल १ से ५ दिन तक है।

रोहिणी का उपसर्ग शरीर के अन्य भागों में प्रायः नहीं होता। मध्य कर्ण में उपसर्ग साक्षात् सम्पर्क से हो सकता है। कभी-कभी नेत्र कला भाग तथा नाभि की भी रोहिणी हो सकती है।

उपद्रव—(१) **अनुरोहिणी अंगघात**—जिससे प्रलाप, तन्द्रा, अनुग्रैवेयक पेशियों तथा पृष्ठवंश का जकड़ा जाना, हाथ-पैरों में शूल, अत्यधिक प्रक्षोभ तथा शिरः शूल लक्षण मिलता है।

(२) **हृद्विकार**—रोहिणी का हृदय पर दो तरह से प्रभाव पड़ता है। एक तो रक्त परिभ्रमण द्वारा पहुँचा हुआ विष हृदय पर सीधे प्रभाव डाल कर हृद-यस्थ स्निग्धता हटाकर और दूसरा प्रकार यह है कि वात नाड़ियों पर विषाक्त प्रभाव डालकर उसमें उपद्रव करता है।

चिकित्सा—रोहिणी प्रतिविष (Diphtheria Antitoxin) सन्दिग्धावस्था में ४००० यूनिट की मात्रा है। रोग का निश्चय हो जाने पर १५००० यूनिट्स इण्ट्रा मस्क्यूलर इंजेक्शन द्वारा देना चाहिए। विष प्रवाह होने के उपरान्त ३०००० के ६०००० यूनिट्स तक दे सकते हैं। पहली मात्रा देने के पश्चात् १२-२४ घण्टे के भीतर प्रथम मात्रा की आधी मात्रा दूसरी बार देनी चाहिए। अधिक मात्रा देर से देने की क्षति पूरी नहीं कर सकती। इसकी चिकित्सा ३-४ दिन तक पेशी द्वारा प्रतिविष देकर करनी चाहिए।

आयुर्वेद मत से चिकित्सा—त्रिदोषज रोहिणी को छोड़कर शेष रोहिणी रोग में सर्वप्रथम शस्त्र क्रिया द्वारा रक्त निकालें तत्पश्चात् वमन करायें, गण्डूष (कुल्ला) करायें, नस्य दें, वैरेचनिक धूम्रपान करायें। वातज रोहिणी में रक्त निर्हरण करने के बाद सैन्धव के प्रतिमारण करके ईषदुष्ण कटु तेल का गण्डूष मुख से लेकर बार-बार डालते जायें, इस तरह रक्त निकल जाने के बाद पित्तज में मिश्री, मधु और प्रियंगु के घर्षण करायें और फालसा तथा मुनक्का का क्वाथ कर गण्डूष दें। इसी तरह कफज में रक्त निःस्राव के पश्चात् गृह धूम और कुटकी के प्रतिसारण करके श्वेद अपराजिता विडङ्ग और दन्ती के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध तेल का सैन्धव मिश्रित गण्डूष दें तथा तीनों रोहिणी में इसी तेल का नस्य दें। रक्तज रोहिणी की चिकित्सा पित्तवत् करें। इस क्रिया के पश्चात् अधोलिखित क्वाथ का पान १ सप्ताह दें।

हरड़ का क्वाथ शहद के साथ मिलाकर पिलायें। १ पल से २ पल तक चार बार बराबर मात्रा।

कुटकी, अतीस, देवदारू, पाठा, नागरमोथा, इन्द्रायन।

प्रत्येक समभाग लेकर गौमूत्र में क्वाथ बनाएँ।

मात्रा—१ तोला से १ पल तक दिन में तीन बार।

मुनक्का, कुटकी, सोंठ, मिर्च, पीपल, दारूहल्दी, दाल चीनी, आंवला, हरड़, बहेड़ा, नागरमोथा, पाठा, रसाञ्जन, दूर्वा, तेजबल, प्रत्येक समभाग लेकर यवकुट करके क्वाथ करें और मधु मिलाकर पिलायें।

मात्रा—२ पल ६ बार दिन रात्रि में।

रोहिणी से धारण योग गुटिका।

योग—यवक्षार, तेजबल, पाठा, रसाञ्जन, दारूहल्दी, पीपल।

प्रत्येक समभाग लेकर कपड़छन कर चूर्ण बना मधु से वटी बना मुख में धारण करने से सब प्रकार की रोहिणी सहज में ठीक हो जाती है।

प्रश्न—गलशुण्डिका शोथ का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उत्तर—गले में जिह्वा के दोनों पार्श्वों पर एक-एक कफ ग्रन्थि विद्यमान रहती है जिसकी शोथ को गलशुण्डिका शोथ कहते हैं और उनके पाक को गलशुण्डिका पाक कहते हैं।

कारण—अजीर्ण प्रतिश्याय, गलशोथ, निर्बल अवस्था में सहसा गले में सर्दी लग जाना या अन्य कफ प्रकोप कारणों से गलस्थ कफ का प्रकोप हो जाता है। जिससे यह उपर्युक्त गलशुण्डिका की कफ ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। यदि केवल कफ का ही प्रकोप हो तो गलशुण्डिका शोथ होकर हट जाता है साथ ही यदि पित्त का भी प्रकोप हो जाये तो गलशुण्डिका का पाक भी हो जाता है।

बालकों में तथा कफ प्रकृति के युवकों में यह रोग चिरस्थायी रूप में भी हो जाता है।

यह रोग बहुत जनपद व्यापी है। ऋतु-परिवर्तन के समय अधिक होता है। खसरा, चेचक, आन्त्र ज्वर, श्लेष्म ज्वर तथा उपदेश का एक लक्षण भी होता है। एलोपैथिक चिकित्सक इस रोग के कारण अधिकतर (Staphylo-cocci) और (Strepto-cocci) समझते हैं।

लक्षण—निम्नलिखित मुख्य लक्षण होते हैं—

(१) ग्रन्थि शोथ—रोगी के मुख को यदि खोल कर देखा जाय तो दन्त पंक्ति के अन्त में विद्यमान यह शुण्डिका ग्रन्थि लाल और उभरी हुई दिखाई

देती है तथा इसमें थोड़ी-बहुत श्लेष्मा भी रहती है। एक तरफ की ग्रन्थि के फूलने के पीछे दूसरी तरफ की ग्रन्थि भी फूल जाती है। कभी-कभी दोनों इतनी फूलती हैं कि आगे बढ़कर दोनों एक दूसरे के समीप आ जाती हैं। निम्न हनुअस्थि के पिछले कोने के पीछे यदि अंगुली से ऊपर को दबाया जाय तो इन बढ़ी हुई ग्रन्थियों का बाहर से भी अनुभव हो जाता है।

(२) **निगरण काठिन्य**—एक या दोनों ग्रन्थियों के अधिक बढ़ जाने पर भोजन का चबाना तथा निगलना भी कठिन हो जाता है।

(३) **कफ ज्वर**—कफ ज्वर तथा तज्जन्य अरुचि, क्षुधानाश, सिर दर्द, पूतिश्वास आदि लक्षण भी हो जाते हैं।

(क) यदि तीव्र शोथ के पीछे किसी शुण्डिका सन्धि में पाक भी होने लगे तो ज्वर अवश्य होता है जो १०३° फारेनहाइट से १०४° फारेनहाइट तक भी पहुँच सकता है।

(ख) रोगी के लिए बातचीत करना, चबाना आदि कठिन हो जाता है। कभी-कभी तो मुख में आवाज बिलकुल नहीं निकल सकती।

(ग) मुख में से श्लेष्मा निरन्तर बहती रहती है।

(घ) गलशुण्डिका देखने में लाल और चमकीली-सी दिखाई पड़ती है और बाहर से भी अंगली द्वारा अनुभव होती है। इसमें रह-रह कर तोद होती है। यदि एक अंगुली अन्दर ग्रन्थि पर और दूसरे हाथ की अंगुली बाहर हनुअस्थि के पीछे इस ग्रन्थि पर रखकर दबाया जाय तो पूय का अनुभव भी हो सकता है। यह पूय प्रायः कर शुण्डिका के अन्दर नहीं पड़ती किन्तु इसकी ऊपर की झिल्ली के नीचे पड़ती है तथा इसके ऊपर के और आगे के भाग में ही पड़ती है इसलिए बहुत थोड़े से क्षत के द्वारा यह निकल जाती है।

चिकित्सा—गलशुण्डिका शोथ के आरम्भ होते ही कफ ज्वरों के समान इसकी चिकित्सा करनी चाहिए। कफ ज्वरोक्त वत्सनाभ युक्त रसयोग काम में लाने चाहिए। जैसे—कफकेतु, मृत्युञ्जय, कफ चिन्तामणि, बेताल रस, सौभाग्य वटी, श्लेष्मा कालानल, कस्तूरी भैरव (लघु) आदि।

इन्हें आद्रक स्वरस तथा मधु के साथ चटाना चाहिए।

शिशु अवस्था में भी यही रस लघु मात्रा में प्रयोग में लाये जा सकते हैं। कफ ज्वर की चिकित्सा के अतिरिक्त विरेचन भी देना चाहिए जिससे कफ और पित्त का निराहरण हो। बालकों को रस कर्पूर 1/4 रत्ती तथा युवकों को

१ से २ रत्ती त्रिकुट के साथ मिलाकर दे सकते हैं। इसके उपरान्त कोई जलीय विरेचन भी जैसे निशोथ (त्रिवृत) या दन्ती आदि को देना चाहिए।

मात्रा—त्रिवृत की युवकों के लिए एक ड्राम अर्थात् ४ माशा और बच्चों के लिए ५, ६ रत्ती मधु या शर्बत में घोलकर पिला दें।

स्थानिक चिकित्सा—कफ हर गण्डूष देने चाहिए। जैसे—वच, कुण्ठ, पीपल, मरिच आदि के उष्ण फांट के गण्डूष देने चाहिए अथवा २॥ तोला गर्म पानी ५ रत्ती टंकण (भुना हुआ) मिलाकर उसके गण्डूष दें अथवा अजमोद सत्व और कपूर मिलाकर इसकी कुछ बूंद गर्म जल में डालकर गण्डूष दें। मुख में बच को थोड़ी देर रख कर श्लेष्मा को अच्छी तरह बाहर निकाल सकते हैं।

लेप—उपर्युक्त त्रिकटु, कण्ठ, वच आदि कफहर द्रव्यों को मधु में मिला कर अंगुली या फुरैरी से गले पर लगाएँ। अथवा कटफल का धन सत्व तैयार करके इसमें मधु मिलाकर फुरैरी लगायें।

स्वेदन– शुण्डिका शोथ की अवस्था में बाहर वनपशा दुग्ध में उबालकर, निचोड़कर तथा किञ्चित घृत में मर्जित करके बाँधना चाहिए अथवा जल में कपूर, अजमोदादि द्रव्य डालकर नाड़ी यन्त्र द्वारा गले में भाप पहुँचानी चाहिए। यदि शुण्डिका का पाक होने लगे तो यह स्वेद उपनाह आदि अधिक करने चाहिए जिससे शीघ्र ही पाक हो जाये।

छेदन—यदि शुण्ड़िका ग्रन्थी का पाक हो जाये तो चाकू द्वारा उथला साक्षत करके पूय निकाल देनी चाहिए। यह क्षत गहरा नहीं देना चाहिए तथा काकलक के मूल से पिछली दष्टा तक आने वाली रेखा के मध्य में या उसके कुछ बाहर की ओर यह छत करना चाहिए। पूय निकल जाने के पीछे टंकण द्रव, निम्ब द्रव में से किसी के गरारे दें। गले के बाहर गर्म कपड़ा बाँध देना चाहिए।

वालकों में शुण्डिका शोथ कफ प्रकोप जन्य होने के कारण कई बार चिर-स्थायी हो जाता है। जिससे वालक की नासिका के पिछले द्वार कुछ रुद्ध हो जाते हैं और बालक मुख खोलकर श्वास लेता है और वोलते समय ऐसा मालूम होता है कि उसके मुख में कुछ पड़ा हुआ है। इस चिरस्थायी शुण्डिका शोथ के लिए भी कफहर गण्डूष तथा लेप देने चाहिए। कई बार इस चिकित्सा से सफलता नहीं होती तब शब्द कर्म द्वारा इन्हें निकलवा देना चाहिए।

प्रश्न—सर्वसर रोगों का वर्णन कीजिए।

उत्तर - सुश्रुत संहिता में सारे मुख में होने वाले सर्वसर रोग के भेद तीन बताए हैं। किसी-किसी आचार्य ने चौथा भेद रक्तज सर्वसर मान है—सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि वह पित्तज सर्वसर के अनुसार समझना चाहिए।

इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि "वातजन्य सर्वसर में सम्पूर्ण मुख चारों ओर से तोद छालों से भर जाता है। पित्तजन्य सर्वसर में मुख लाल वर्ण, दाहयुक्त, सूक्ष्म एवं पीले छालों से भरा रहता है। कफजन्य में मुख कण्डूयुक्त मन्द वेदना वाले त्वचा के समान वर्ण वाले छालों से भरा रहता है।"

इसकी चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि "वातजन्य सर्वसर में लवण के चूर्ण प्रतिसारण करें। वातनाशक औषधियों से सिद्ध तेल कवल एवं नस्य में प्रयोग करें। शाल, खिरनी, एरण्ड, हिंगोट, महुआ, साल, इनकी, मज्जा, गुग्गुल जटामांसी, सर्जरस, शिलापुष्प और मोम इन सबका चूर्ण भली प्रकार बनाकर स्नेह में मसलकर इनको मधु लगाकर श्योनाक की डंडी पर लेप करें। यह स्नेहिक धूम सर्वसर में हितकारक होता है। यह धूम कफनाशक, वायुनाशक और मुखरोग नाशक होता है।

पित्तजन्य सर्वसर में वमन विरेचना देकर रोगी की पित्तनाशक, सम्पूर्ण शीतल चिकित्सा करनी चाहिए। प्रतिसारण, गण्डूष धूम और संशोधन क्रियाएँ करनी चाहिए।

"कफजन्य सर्वसर में कफनाशक विधि करें। अतीस. पाठ, मुस्ता, देवदारू, कुटकी, इन्द्र जौ इनके चूर्ण को छः माशा की मात्रा में गोमूत्र के साथ सेवन करें।"

इस तरह सर्वसर रोग के लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन कर दिया गया है।

प्रश्न—मुख लेप का वर्णन करें।

उत्तर—मुख लेप—मुख लेप तीन प्रकार का होता है—

१. दोषघ्न, २. विषघ्न, ३. वर्णकृत।

वात कफ रोग में उष्ण तथा पित्त संसर्गज में शीतल लेप करना चाहिए। मुख लेप अंगुली की चौथाई, तिहाई अथवा अर्धभाग के समान करना चाहिए। लेप तभी तक लगा रहना चाहिए, जब तक वह आर्द्र रहे, शुष्क होने से हटा देना चाहिए। गीला करके लेप हटाया जाय तथा वहाँ तेलादि लगा दिया जाना चाहिए। पीनस, अजीर्ण, दस्तवस्थ, अनुग्रह, अरुचि तथा जागरण के अन्त में मुख लेप करना उचित नहीं है। मुख लेप करने वाले को उचित है कि

दिन में सोना, अधिक बोलना, अग्नि तथा धूप का सेवन तथा शोक का परित्याग कर दें। सम्यक् प्रकार किया गया मुख लेप बालों को कुछ समय तक नहीं पकने देता। दृष्टि दृढ़ रहती है। मुख कमल के सदृश विकसित रहता है तथा तिमिर रोग नष्ट हो जाते हैं। निम्न प्रकार के प्रक्षेप निम्न ऋतुओं में देने चाहिए, जो कि निम्न हैं :

(१) हेमन्त में—बेर का गूदा, अड़ूसे की जड़, लोध तथा सफेद सरसों का।

(२) शिशिर में—कटेरी की जड़, काले तिल, दारू हल्दी, दालचीनी तथा निष्तुष जौ का।

(३) बसंत में—कुशा की जड, चन्दन, खस, सिरस, सौंफ तथा चावल का।

(४) ग्रीष्म में—कुमुद, कल्पल, कल्लाह, देध्र, मुलहठी तथा चन्दन का।

(५) वर्षा में—कृष्ण अगर, तिल, उशीर, जटामांशी तथा पद्माख का तथा।

(६) शरद् में—तालीस पत्र, भद्रमुस्तका, पुण्डरीक, मुलहटी, फाँस, तगर, तथा अगर का लेप करना चाहिए।

प्रश्न—कवल से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर—कवल—कवल भी गण्डूषवत् ही मुख में धारण किया जाता है। इसका प्रयोग केवल इतनी भिन्नता रखता है कि द्रव पदार्थ मुख के अन्दर इतना भरा हो कि द्रव पदार्थ हिल न सके, उसे गण्डूष कहते हैं। चार प्रकार के कवल सुश्रुत में कहे गए हैं—

१. स्नेही—वात रोगों में स्निग्ध तथा उष्ण द्रव्यों से स्नेही कवल।

२. प्रसादी—पित्तावस्थाओं में मधुर तथा शीतल द्रव्यों से।

३. शोधी—कफ रोगों में कटु, अम्ल, लवण, उष्ण तथा रूक्ष पदार्थों से। तथा।

४. रोपणी—कषाय, तिक्त, मधुर, कटु, उष्ण इन औषधों से रोपणी कवल दिया जाता है।

त्रिकटु, वच, सरसों, हरड़ इनके कल्क को मिलाकर तेल, कांजी, मदिरा; मूत्र, क्षार, मधु इनमें से किसी एक के साथ नमक मिलाकर तथा गरम करके धारण करना चाहिए। मनुष्य को उचित है कि एकाग्र मन तथा उष्णता देह से कवल को उस समय तक धारण करे जब तक कवल, नासिका के स्रोत तथा नेत्र दोष के जल से परिपूर्ण न हो जाएँ, व्याधि का दूर हो जाना, प्रसन्नता विशदता, मुख का हल्कापन, इन्द्रियों की प्रफुल्लता वह कवल के सम्यक योग

के लक्षण हैं। हीन योग में जड़ता, कफ का पतला होना, रस का स्वाद न मालुम पड़ना आदि लक्षण होते हैं। मुखपाक, शोष, तृष्णा, अरुचि तथा क्लम आदि का रोग अतियोग होता है। मन्या रोग, सिर रोग, मुख रोग, कर्ण रोग, नेत्र रोग, प्रसेक, कण्ठ रोग, मुखशोप, ह्रल्लास, तन्द्रा, अरुचि व पीनस में कवल ग्रहण करें।

प्रश्न—गण्डूष विधि का वर्णन करें।

उत्तर—कुल्ले करने का नाम गण्डूष है, यह चार प्रकार का होता है—

१. स्नेह—वात रोग एवं अवस्थाओं में।

२. शमन—पित्त रोग एवं अवस्थाओं में।

३. शोधन—कफ रोग एवं अवस्थाओं में।

४. रोपण— व्रण का रोपण करने के लिए।

स्निन्ध गण्डूष मधुर अम्ल तथा लवण रस से सिद्ध होता है। शमन गण्डूष रिक्त-कषाय तथा मधुर रस वाले द्रव्यों से तथा शोधन गण्डूष कटु, अम्ल, लवण तया उष्ण वीर्य द्रव्यों से सिद्ध होता है। रोपण गण्डूष मधुष तथा तिक्त रस वाले द्रव्यों से सिद्ध होता हैं। गण्डूप में घृतादि स्नेह, दूध, मधु, शुक्त, मध्य, मांस, पूष तथा धान्याम्ल का कल्क मिलाकर या बिना कल्क के ही गरम मूत्र या ठण्डे ही प्रयोग किया जा सकता है। दन्त हर्ष, दन्त स्राव तथा वातजन्य मुख रोगों में तिल के कल्क का सुहाता हुआ गरम पानी अथवा शीतल जल हितकारक होता है। उष्ण तथा दाहयुक्त क्षत पाक में आगन्तुक विष तथा विष क्षार तथा अग्नि दग्ध में घृत अथवा दुग्ध का गण्डूष धारण करना चाहिए। मधु का गण्डूष धारण करने से मुख में विशेषता होती है। मुख के घाव भर जाते हैं तथा दाह व तृष्णा हो जाते हैं। कांजी के गण्डूष धारण से मुख की विरसता, मल तथा दुर्गन्ध दूर होती है। बिना नमक की कांजी मुख के स्राव को दूर करती है। क्षार मिश्रित जल के गन्डूष करने से कफ का संचय शीघ्र ही नष्ट हो जाता हैं। सुखोष्णोदक के गन्डूष से मुख में हलकापन आता है। निर्वात स्थान में जहाँ धूप चमकती हो, बैठकर स्कन्ध को प्रथम स्वेदित तथा फिर मर्दित करके थोड़ा मुख ऊँचा करके गण्डूष धारण करें परन्तु पी न जाएँ। जब तक मुख कफ से लिप्त हो अथवा नाक तथा आँख से स्राव होता रहे तब तक गण्डूष धारण करना चाहिए। प्रायः सात बार गण्डूष धारण करना चाहिए।

४

शिरोरोग-विज्ञान

प्रश्न—सिर का स्थूल एवं सूक्ष्म परिचय प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर – सिर जो ऊपर से दिखाई देता है, वह अस्थियों का ढाँचा है। उसमें कितनी ही इन्द्रियों का अधिष्ठान है। यह ढाँचा बाइस अस्थियों के द्वारा बनता है। वे अस्थियाँ निम्न हैं—-

१. पश्चात् अस्थि (Occipital Bone)
२-३. शंखास्थि (Temporal Bones)
४-५. पार्श्वकास्थि (Parietal Bones)
६. ललाटास्थि (Frontal Bone)
७. जतुकास्थि (Sphenoidal Bone)
८. झर्झरास्थि (Ethmoidal Bone)
९-१०. अधिशक्तिकास्थि (Inferior Nasal Couches)
११-१२. अश्रु अस्थि (Lacrimal Bones)
१३-१४. नासिकास्थि (Nasal Bones)
१५-१६. नासाफलकास्थि (Vomer Bones)
१७. ऊर्ध्वहन्वास्थि (Maxillary Bones)
१८-१९. ताल्वास्थि (Palatine Bones)
२०-२१. कपालास्थि (Zygomatic Bones)
२२. अधोहन्वास्थि (Mandible)

ये अस्थियाँ आपस में सन्धियाँ बनाकर जुड़ी रहती हैं।

इन्हीं से सम्बन्धित रीढ़ की हड्डी नामक अंग होता है जिसमें सुषुम्ना श्रुत (Spinal Cord) रहता है। यह २६ अस्थियों के योग से बना होता है। यह अस्थियाँ बीच में खोखली होती हैं जिनमें से सुषुम्ना नीचे को आ जाता है।

अस्थियों के बने ढाँचे में मस्तिष्क रहता है जिसके मुख्य रूप से दो भाग होते हैं।

(क) सुषुम्ना काडं (Spinal Cord), (ख) मस्तुलुंगपिण्ड (Brain)।

(क) सुषुम्ना काडं (Spinal Cord)—यह स्थूल कमलनाल के आकार का लम्बा और गोल सुषुम्ना शीर्षक से प्रारम्भ होकर कशेरूनलिका में रहता है, यह लगभग ४५ cm. लम्बा है और इसकी तोल ३० gms है। इसके तीन आवरण होते हैं। इन्हें क्रमश: वराशिका (Duramater), नीशारिका (Arachnoid) और चीनांशुक (Piamater) कहते हैं। ये आवरण रिक्त स्थानों के द्वारा एक दूसरे से पृथक रहते हैं। इसमें दो अवकाश होते हैं। पृष्ठ वंश और वराशिका के बीच शिराजल व भेद रहता है। इसी प्रकार वराशिका और नीशारिका के बीच के अवकाश में लसीका रहती है। मध्य के अवकाश में ब्रह्मवारि (Cerebrospinal fluid) रहता है। यह धूसर व शुभ्रवस्तु से बना है। शुभ्र वस्तु परिवृत अनुलम्ब नाड़ी सूत्रों से बना है। धूसर वस्तु मुख्यत: नाड़ी कोषाणुओं तथा अक्षतन्तुओं और द्रव्यों से बनी होती है, सुषुम्ना में जो ब्रह्मवारि भरा रहता है यह वर्णगन्ध रहित पारदर्शक द्रव्य है, इसका विशिष्ट गुरुत्व १००७ है, यह कोमल रचनाओं की रक्षा करता है। इसके दो कार्य हैं—(१) संज्ञा तथा चेष्टा के वेगों का संवहन, (२) प्रत्यावर्तित क्रियाओं का सम्पादन जो धूसर वस्तु से बनी है।

(ख) मस्तुलुंगपिण्ड (Brain)— इसमें तीन विभाग हैं—

(१) अग्रिम मस्तुलुंग (Fore Brain)—इसमें आज्ञाकन्द (Thalamus), राजिलपिण्ड (Cropus striatum) तथा मस्तिष्क (Cerebrum) सम्मिलित हैं।

(२) मध्यम मस्तुलुंग (Mid Brain)—इनमें कपालिका-चतुष्टय (Corpora Qudrigemina) तथा मस्तिष्क मृणालक (Cerebral Peduncles) रहते हैं।

(३) पश्चिम मस्तुलुंग (Mid Brain)—इसमें सुषुम्ना शीर्षक (Medulla oblongata), उष्णोषम (Pons) तथा धम्मिलक (Cerebellum) आते हैं।

सुषुम्ना शीर्षक (Medulla-oblongata)—यह लगभग १ इन्च लम्बा और मुकुलाकार अंग है जो ऊपर से अधिक चौड़ा है। यह अग्रिमान्तरा व पश्चिमान्तरा सीता के द्वारा दो भागों में विभक्त है। प्रत्येक अर्धं भाग में पुनः दो

सीताओं के द्वारा तीन भाग बने हैं। पूर्वभाग को मुकुलिका (Pyramid) कहते हैं। ऊपरी भाग में उठे हुए भाग को लविलिका (Olibary Body) बनाता पश्चिम भाग का ऊपरी हिस्सा अधर वृन्तिका (Rasit Form Body) बनाता है। यह भी शुभ्र वस्तु व धूसर वस्तु का बना हुआ है। इनमें प्रत्यावर्तित क्रिया के अनेक केन्द्र होते हैं—यथा लाला स्राव, चूषण, चर्वण निगलना, वमन, मांस धमिनां निमेष, कनीनका की गतियाँ, भाषण, हृदय क्रिया, पाचन तथा सात्मी-करण आदि क्रियाओं पर नियन्त्रण करता है।

उष्णीषम (Pons)—यह पश्चिम मस्तिष्क का वह भाग है जो कि धम्मि-ल्लक के आगे और सुषुम्ना शीर्षक तथा मस्तिस्क मृणलकों के बीच में रहता है। बाहर से यह अनुप्रस्थ नाड़ी सूत्रों से बना है। इसके द्वारा ही विभिन्न भागों से नाड़ी वेग आते हैं। इन उष्ण सूत्रों के नीचे गम्भीर सूत्र होते हैं।

इसके अतिरिक्त Pons की धूसर वस्तुएँ पाँचवीं, छठी व सातवीं, नाड़ी कन्दिकायें तथा श्रुति नाड़ी की कन्दिरायें रहती हैं।

लघु मस्तिष्क (Cerebellum)—यह करोटि के पश्चिम महारवात में पश्चिम पिण्डिका के नीचे सुषुम्ना शीर्षक के पीछे रहता है। इसके तीन भाग होते हैं। दो पार्श्व और एक मध्य। पार्श्व भाग Hemispheres (पक्षपिण्ड) और मध्य भाग Vermis (शलयिका) कहलाता है। इसका भीतरी भाग प्राण गृहा की क्षत बनाता है। यह उत्तर, मध्यम तथा अधर वन्तिकाओं (Superior, middle and Inferior Peduncles) के द्वारा मस्तिष्क, उष्णषिक तथा सुषुम्ना शीर्षक से सम्बन्ध रखता है। इसकी रचना मस्तिष्क की तरह है। इसका कार्य शरीर को सन्तुलित करना है। यह Flourens theory है। वीरचेल नामक विद्वान का मत है कि लघु मस्तिष्क पेशियों में बल तथा शक्ति प्रदान करता है। लुसियानो नामक विद्वान का मत है कि यह पेशी संकोच को बनाए रखता है, कार्य के समय पेशी को दृढ़ रखना, कार्यकाल में पेशी को शक्तिशाली बनाये रखता है।

मध्यम मस्तुलुगपिण्ड (Mid Brain)—यह अग्रिम तथा पश्चिम मस्तुलुंग पिण्डों को मिलाने वाला सबसे छोटा भाग है इसके दोनों पार्श्वों में तीसरी, चौथी, पाँचवीं व छठी नाड़ियाँ निकलती हैं। इसके मुख्यतः तीन भाग होते हैं—

१. पुरः पार्श्विक भाग—जिसमें दोनों मस्तिष्क-मृणालक होते हैं।

२. पश्चिम भाग—जिसमें कपालिका चतुष्टय होते हैं।

३. अभ्यान्तर भाग—इसमें ब्रह्म द्वार सुरंग (Aguleduct of Sylvius) होती है। इसमें श्वेत सूत्र (Crusta) श्याम पत्रिका (Subrtantia nigra) वह कुल वितान (Tegmentum) होते हैं। यह सूत्रों के मार्ग में सहायक का कार्य करता है। यह शरीर की स्थिति को बनाये रखने के लिए आवश्यक क्रियाओं का केन्द्र है, जाड्य उत्पन्न करने में योग देता है।

ब्रह्म द्वार सुरंग—यह एक संकीर्ण मार्ग है जो ब्रह्म हृदय से प्राण गुहा तक आता-जाता है। इसके चारों ओर धूसर वस्तु है, जिसके आगे तृतीय नाड़ी की कन्दिका है।

अग्रिम मस्तुलुंग पिण्ड (Fore Brain)—

(क) आज्ञाकन्द (Thalamus)—यह अग्रिम मस्तुलुंग पिण्ड का प्रधान अवयव है। यह दो की संख्या में ब्रह्म गुहा के दोनों ओर रहते हैं। इसके दो भाग हैं :

(1) Lateral Part, (2) Anteromedial Part.

यह घ्राण नाड़ी के सूत्रों को ग्रहण करता है। दृष्टिनाड़ी के मार्ग में सहायक का कार्य है। संज्ञाओं में दुख:सुख की प्रतीति इन्हीं में होती है। यह भावावेशों की अभिव्यजना का केन्द्र है। यह मस्तिष्क के परिसरीय भाग को ऐच्छिक चेष्टाओं का नियन्त्रण करता है।

(ख) राजिल पिण्ड (Cropus striatum)—यह एक पिण्डाकार भाग है जिनमें दो धूसर वस्तु के समूह पाये जाते हैं। भीतर की ओर Candlete nucleus और बाहर की ओर Lenticulal nucleus होते हैं। ये दोनों भाग शुभ्र सूत्रों के एक गुच्छे से विभक्त हैं जिसे हम Internar Capsule कहते हैं। बड़े भाग को Putamen तथा छोटे भाग को Globus Pallidus कहते हैं। यह ऐच्छिक पेशियों की गति का नियन्त्रण करता है। यह घूमना, दौड़ना तथा शरीर ताप का नियमन करता है।

मस्तिष्क के तीन क्षेत्र—

१. चेष्टा क्षेत्र (Motor Areas)—यहाँ से ऐच्छिक वेगों का आनन्द होता है।
२. संज्ञा क्षेत्र (Sensory Areas)—इनका सम्बन्ध संज्ञाओं के ग्रहण से है।

३. संयुक्त क्षेत्र (Association Areas)—ये उच्च मानसिक प्रक्रियाओं के अधिष्ठान हैं।

प्रश्न—शिरोरोगों का विस्तार से वर्णन कीजिये।

उत्तर—शिरोरोग साधारण रोगों में होने पर भी कभी-कभी यह महान रूप ले लेता है। इसके कारण मानव अधिक पीड़ित होता है उसे मृत्यु समान कष्ट होता है। कई बार शिरःशूल से पीड़ित मानव अपने सिर को हथौड़े से पीटते तक देखा गया है फिर भी उसको सन्त्वना नहीं मिलती। इस व्याधि का विस्तार साधारण नहीं है। इस व्याधि को हम दो भागों में विभक्त करते हैं :

(१) आन्तरिक शिरोरोग, (२) बाह्य शिरोगरोग।

१—आन्तरिक शिरोरोग के ११ भेद होते हैं—

(१) वातजन्य, (२) पित्त जन्य, (३) कफ जन्य, (४) सन्निपातज, (५) रक्तज, (६) क्षयज, (७) सूर्यावर्त, (८) कृमिज, (९) अनन्त वात, (१०) शंखक, (११) अर्धविभेदक।

१—बाह्य शिरोरोग के चार भेद हैं :

(१) इन्द्रलुप्त, (२) दारूणक, (३) अरूंसिका, (४) पलित।

शिरोरोग होने के खास कारण इस प्रकार हैं—विबंध, काम, अजीर्ण, रक्तमोक्षण, स्नायविक दौर्बल्यता, नेत्ररोग, कर्णरोग, प्रमेह, उपदंश, प्रदर, चिन्ता, शोक, कठोर तकिया लगाना, प्रतिश्याय, किसी प्रकार की सिर में चोट आदि लगना, रात्रिजागरण, दिवाशयन आदि होने के कारण ही शिरोरोग होता है।

वातजन्य शिरःशूल—वातादि पदार्थों के विशेष सेवन करने से, चिन्ता विशेष करने से तथा रात्रि में जागरण करने से, विशेष रूक्ष पदार्थों के सेवन करने से, कहीं आघात लगने से अचानक सिर में शूल होने लगे और यह शूल रात्रि में विशेप बढ़ जाय तथा कसकर बाँधने से तथा उत्ताप (सेक) तेल मर्दनादि करने से कुछ लाभ-सा प्रतीत हो तो इस प्रकार के शिरःशूल को वातजन्य शिरःशूल जानना चाहिए।

पित्तजन्य शिरःशूल के लक्षण—पित्तवर्धक पदार्थों के विशेष सेवन करने से तथा क्रोधादि करने से, अधिक धूप से, लू लगने से, सिर गर्म तवे-सा जलने लगे। मध्याह्न में पीड़ा तीव्र रूप धारण कर ले तथा नासिका और नेत्र से गर्म

जल युक्त भाप-सी निकलती है। अर्थात् नाक से गर्म जल निकलता है और अनुभव यह होता है कि नासिका धूप से पूरित है। सिर के आन्तरिक भाग से पीड़ा होती है। इस शिरःशूल वाले रोगी को ठण्डे पदार्थों से तथा रात्रि में शीतलता के कारण कुछ सान्त्वना मिले तो पित्तजन्य शिर-शूल्य जानना चाहिए।

कफजन्य शिरःशूल के लक्षण—कफवर्धक पदार्थों के सेवन से तथा दिन के शयन करने से कफ प्रकुपित होकर सिर को भारी कर दें। सिर कफ से लिप्त-सा प्रतीत हो, जकड़ा हुआ अचल-सा अनुभव हो, यदि सिर को स्पर्श किया जाय तो शीतल लगे, नेत्रों के निचले भाग में शोथ हो जाय, आलस्य का विशेष अनुभव हो तथा मन्द शूल होता रहे, तो इसे कफजन्य शिरःशूल कहेंगे।

सन्निपात शिरःशूल के लक्षण—जब उपर्युक्त किन्हीं कारणों से तीनों दोष कुपित हो जाते हैं तब उपर्युक्त वातादि तीनों दोषों के लक्षण पाये जायेंगे। कभी सिर उष्णता से कँपेगा, कभी भारीपन लिए हुए जकड़ जायगा और स्पर्श में शीतलता लिए रहेगा। कभी सूचीवेध-सा तीव्र होगा, साथ ही कम्प, दाह, मद, तृष्णा, तन्द्रा, आलस्यादि लक्षण प्रकट होते रहेंगे। इस प्रकार के लक्षण होने पर शिरःशूल को सन्निपातजन्य शिरःशूल कहेंगे।

रक्त शिरःशूल के लक्षण—रक्तजन्य सिर दर्द प्रायः पित्त जन्य शिरःशूल के कारणों से होता है अर्थात् पित्त ही को कुपित करने वाले दूषित दोष रक्तजन्य शिरःशूल कर देते हैं। इसमें सभी पित्तज शिरःशूल के कारण होते हैं फिर भी इस शिरःशूल के पित्तज शिरःशूल के सभी लक्षण लक्षित होते हुए भी इसमें विशेषता यह अनुभव होती है कि रक्तजन्य सिरःशूल के रोगी को सिर पर किसी प्रकार का आघात या स्पर्श भी विशेष असह्य तथा दुःखप्रद हो जाता है। इसमें भी पित्तवत शीतल चन्दन, कपूरादि लेप सुखप्रद होते हैं।

क्षयज शिरःशूल के लक्षण—शारीरिक क्षीणता तथा अत्यन्त मैथुनादि व अधिक मस्तिष्क सम्बन्धी कार्य विशेष करने से, चोट आदि लगने से अथवा शिर मोक्षणादि करने से या धूम्रपान नस्य तथा रक्त मोक्षण से क्षयजन्य शिरःशूल बढ़ जाता है। व्याधि को क्षयजन्य शिरःशूल कहते हैं।

कृमिज शिरःशूल के लक्षण—जिस मनुष्य के सिर के आन्तरिक भाग में काटने का-सा अनुभव हो तथा सुई चुभने की-सी पीड़ा हो अथवा कपालास्थि के भीतरी भाग में स्फुरण-सा प्रतीत हो, नासिका से दुर्गन्ध युक्त जल, रक्त पूय मिश्रित तरल निकलता है। कभी-कभी तो दुर्गन्ध इतनी बढ़ जाती है कि

रोगी के समीप बैठना दुश्वार हो जाता है। छींक नहीं आती, अगर छींक आने वाली औषधि का नस्य प्रयोग किया जाय तो छींक के साथ कभी-कभी कृमि भी निकल पड़ते हैं।

सूर्यावर्त जन्य शिरःशूल के लक्षण—सूर्यावर्त जन्य शिरःशूल विशेष कर सन्निपात जन्य होते हुए भी वात पित्तोल्वण होता है। प्रातःकाल से जब सूर्योदय होने लगता है उसके साथ-साथ धीरे-धीरे सिर, नेत्र और भृकुटी भाग भारी अनुभव होता है और सिर की पीड़ा को बढ़ा देता है तथा यह पीड़ा सूर्य चढ़ने के साथ ही साथ बढ़ती चली जाती है जिस तरह धीरे-धीरे सूर्य ढलता है पीड़ा भी कम हो जाती है और सूर्य अस्त तक पीड़ा बिलकुल शान्त हो जाती है। इस व्याधि को सूर्यावर्त कहते हैं।

अनन्तवात शिरःशूल के लक्षण—उपर्युक्त कारणों से युक्त पित्त वातादि दोष ग्रीवा में स्थिति होकर मन्यादि शिराओं को अपना शिकार बना कर ग्रीवा के पिछले भाग में भीषण वेदना कर देते हैं। इसके कारण नेत्र, भ्रू तथा शंख प्रदेश में पीड़ा होती है तथा कभी-कभी कपोल के एक तरफ कम्प, हनुग्रह तथा नेत्र रोगादि भी उत्पन्न हो जाते हैं। व्याधि को अनन्तवात कहते हैं।

शंखक शिरःशूल के लक्षण—रक्तपित्त और वायु दूषित होकर शंख प्रदेश में आ जाती हैं। जिससे वहाँ उग्र वेदना हो जाती है। दाह तथा रोग सहित दारुण शोध को उत्पन्न करती है। इससे जो शोध होता है वह तीव्र वेग के साथ विषवत सिर में व्याप्त होकर शीघ्र ही गले को रोक लेता है। इसकी असाध्यावस्था में तृष्णा, मूर्छा ज्वरादि हो जाते हैं। इसका परिणाम इतना भयंकर होता कि यदि तीन दिन के अन्दर ही में रोगी की चिकित्सा करने में जरा असावधानी रहे तो निश्चय ही रोगीगत प्राण हो जाता है। इस व्याधि को शंखक शिरःशूल कहते हैं।

अर्धावभेदक शिरःशूल के लक्षण—रूक्ष अन्नादि सेवन, दिवास्वप्न, प्रातःकालीन अधिक शीतल वायु, अति मैथुन तथा किसी भी प्रकार के वेगों को रोकना आवास तथा व्यायामादि से कुपित वायु स्वयं तथा कफ को अनुगत करके आधे सिर को जकड़ कर मन्या, शंखप्रदेश, कर्ण नेत्र और ललाट के अर्धभाग को तीव्र वेदना युक्त बना देता है जिससे शस्त्र से काटते के बराबर तथा प्रचण्ड अग्निदग्धवत पीड़ा होती है। कभी-कभी इसके कारण नेत्र कान आदि तक नष्ट हो जाते हैं जब यह व्याधि उग्र रूप धारण करती है तो वह पन्द्रह या दस दिन तथा कभी सप्ताह में ही दौरे के रूप में अकस्मात तो

अर्थात् सुई चुभने की सी पीड़ा के साथ भ्रम, मोह, शूल, मूर्च्छा तक हो जाती है। इस व्याधि को अर्धावभेदक शिरःशूल कहते हैं।

इन्द्रलुप्त के लक्षण—इन्द्रलुप्त को हिन्दी में गञ्ज, टाटखल्ली, रूह्या आदि नामों से पुकारते हैं। यूनानी वाले अरबी में इंतजार उलशऊर कहते हैं। पाश्चात्य चिकित्सा विशेषज्ञ इस व्याधि को (Falling of hair) कहते हैं। आयुर्वेदिक चिकित्सकों का कहना है कि यह व्याधि वायु के सहयोग से पित्त को कुपित कर रोमकूपानुत दोषों को कुपित कर देता है। इसके कारण रक्त के साथ मिला हुआ श्लेमा रोम कूपों को रोक कर वहाँ के स्थान को दूषित कर देता है। इससे दूसरे रोमों की उत्पत्ति रुक जाती है तथा सिर की त्वचा बड़ी कठिन, रूक्ष तथा देखने में बहुत खराब हो जाती है। फिर सिर पर छोटे-छोटे क्षत से होकर उनमें से एक प्रकार तरल पदार्थ निकलता है। इसके साथ ही उसमें खाज चलने लगती है और वह तरल सूख कर जम जाता है फिर खाज चलते रहने से उस तरल का शुष्क भाग उखड़ता है और नीचे घाव निकल आता है। यह व्याधि स्त्रियों में कम पाई जाती है, क्योंकि उनको मासिक स्राव होता रहता है। इससे दोषों का निःशरण होता रहता है। कभी-कभी स्राव के न होने से अथवा दोषों के विशेष कुपित होने से यह व्याधि स्त्रियों में भी पाई जाती है।

दारूणक रोग के लक्षण—यह व्याधि सिर पर है। इसमें वायु, कफ के प्रकोप के कारण सिरगत दोष कुपित होकर कण्डु उत्पन्न करते हैं इसी से रूक्षता बढ़ जाती है। इससे पित्त और रक्त का अनुभव हो जाता है जिसमें सिर पीड़ा युक्त कठिन त्वचा वाला पाटल वर्ण युक्त हो जाता है, इससे वायु से तोद कफ से कण्डू और भारीपन तथा पित्त और रक्त से पिपास तथा दाह हो जाता है। इस व्याधि को रुक्खी के नाम से भी पुकारते हैं।

अरूंषिका रोग के लक्षण—यह व्याधि सिर पर होती है। इस व्याधि में कफ, रक्त तथा कृमियों के प्रकोप के कारण प्रायः सिर में क्लेदयुक्त तथा बहुत से मुख वाली जो पीड़िकायें उत्पन्न होती हैं उसी को अंरूषिका कहते हैं तथा इन्हीं दोषों के विशेष होने के कारण बड़े-बड़े व्रण भी हो जाते हैं और कभी-कभी असावधानी के कारण वह नाड़ी व्रण का भी रूप लेते हैं।

पलित रोग के लक्षण—क्रोध, शोक और श्रम के कारण उत्पन्न देहाग्नि और पित्त सिर में जाकर केशों को पका देता है। बाजारू साधारण मसाले के तेल तथा अधिक सुगंधित जो पदार्थ वाइट ऑयल में मिले हों उनको लगाने

से, अधिक चिन्ता आदि करने से, पित्तवर्धक पदार्थों के सेवन से केशों का रंग श्वेत हो जाता है। इस व्याधि को पलित रोग कहते हैं।

शिरःशूल की चिकित्सा—सभी प्रकार के शिरःशूल की चिकित्सा करने के लिये पहले कारण को मिटाना अनिवार्य है फिर दोषानुसार योग प्रयोग करने चाहिये।

वातजन्य शिरःशूल की चिकित्सा—वातजन्य शिरःशूल में स्नेहन, स्वेदन तथा नस्य आदि देना हितकर है। वातनाशक तेल का मर्दन करना चाहिये। महावातविध्वंस, अगस्त सूतराज, वृहद् योगराज गुग्गल देना श्रेयकर है। षेडगुण तेल की नस्य दें।

गाय का घृत १० तोला, मिसरी ११ तोला, गाय का दूध १½ तोला केशर ½ माशा।

इनमें केशर और मिसरी को दूध में घोंट लें फिर घृत के साथ घोंटें फिर केवल घृत निकाल कर उसका नस्य दें और बचा हुआ दूध पिला दें, इससे अच्छा लाभ होगा। श्वास कुठार की नस्य दें। आनन्द भैरव रस की २ गोली प्रातः २ गोली सायं दूध के साथ सेवन करायें। अमृतधारा जो समान मात्रा से बनी हो उसकी तीन-चार बूँद रूमाल पर डालकर सुँघाना चाहिए तथा पानी या बताशे में ४-५ बूँद डालकर पिलाने से शिरःशूल नष्ट होता है।

पित्तजन्य शिरःशूल की चिकित्सा—पित्तजन्य शिरःशूल में स्नेहन कराकर विरेचन कराना चाहिए। शीतल जल से सिर प्रक्षालन कराकर कर्पूर मिश्रित शतधौत घृत की मालिश करायें। श्वेत चन्दन में भीमसेनी कर्पूर गुलाबजल में घिसकर लेप कराना चाहिए, अथवा कमल केशर, नीलोफर, आँवला, श्वेत चन्दन सभी को पीसकर लेप कराना चाहिए। पाँव में काँसी के बर्तन से शत धौत घृत का मर्दन करायें।

(१) गिलोय सत्व १ माशा, प्रवाल पिष्टी ४ रत्ती, कामदुधारस २ रत्ती सितोपलादि चूर्ण १ माशा को दिन में तीन बार लौंग के पानी के साथ देना चाहिए।

(२) सूत शेखर रस २ रत्ती, गिलोय सत्व ४ रत्ती, दन्ती भस्म २ रत्ती चन्दनादि चूर्ण १ माशा को चन्दनादि शर्बत के साथ देना चाहिए।

(३) स्वर्णमाक्षिक भस्म २ रत्ती, शुक्तिभस्म २ रत्ती, गिलोय सत्व ४ रत्ती

चन्दनादि चूर्ण १ माशा लवंग के पानी के साथ दिन में तीन बार देना चाहिए।

कफजन्य शिर:शूल की चिकित्सा—कफजन्य शिर:शूल वाले रोगी को लंघन करायें, उष्ण पदार्थों द्वारा पाचन करायें, स्वेदन करायें तीक्ष्ण नस्य धूम देना चाहिए। नमक तथा त्रिकटवादि क्वाथ का कवल धारण कराना चाहिए। सौंठ के कल्क से मिश्रित दूध का नस्य और कवल धारण कराना विशेष हितकर है।

(१) अफीम, लौंग, केशर, यह सब समभाग लेकर अच्छी तरह घोंटे फिर सिर में लेप करने से अच्छा लाभ होता है।

(२) अद्रक का रस १ माशा, तुलशी के पत्तों का रस १ माशा, अड़ूसे के पत्तों का रस १ माशा, कालीमिर्च ४ रत्ती, को पीसकर नस्य देना चाहिए तो अच्छा लाभ होगा।

सन्निपातज शिर:शूल की चिकित्सा—सन्निपातजन्य सिर:शूल में स्नेहन देकर विरेचन दें। स्वेदन, नस्य देना चाहिए। पुराना घृत मिलाना भी हितकर है। कमल, देवदारू, कुठ, मुलहठी, इलायची, नीलोफर अथवा तगर रोहित, पद्माख और भटेड को घी में मिलाकर लेप करना चाहिए।

शिर:शूल वज्र रस २ रत्ती, वातविध्वंस रस २ रत्ती, सूतशेखर रस २ रत्ती, चन्दनादि चूर्ण ४ रत्ती, में मिलाकर पुराने घृत के साथ देना चाहिये। पुराने घृत की नस्य देना भी हितकर है। पर्टाबन्दु तेल की नस्य देना चाहिए, अतिरिक्त उपद्रव शान्ति के लिए दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

रक्तज शिर:शूल की चिकित्सा—रक्तजन्य शिर:शूल के पित्तजन्य शिर:शूल की तरह चिकित्सा करनी चाहिए। यदि इतने पर भी शांति न हो तो शीत उष्ण बदलकर रक्त मोक्षण करना चाहिए।

क्षयज शिर:शूल की चिकित्सा—क्षयजन्य शिर:शूल के लिए बृंहण विधि करनी चाहिए तथा अष्ट वर्ग से सिद्ध घृत को पान व नस्य के लिए देना चाहिए।

वसंत कुसुमाकर रस २ रत्ती, च्यवनप्राश २ तोला, के साथ देकर ऊपर से दूध भी पिलाना चाहिए। बृहद् जीवकीय तेल या घी का नस्य कराना तथा पान कराना हितकर है। कर्ण के द्वारा मुर्गी के अण्डे की जरदी को मस्तिष्क में पहुँचाने से भी अच्छा लाभ बताते हैं।

अभ्रक भस्म २ रत्ती, स्वर्ण मालती २ रत्ती, सूतशेखर रस ४ रत्ती, काम सुधा रस २ रत्ती, लेकर इनको दिन में दो बार च्वनप्राश के साथ देना चाहिए अथवा आंवले के मुरब्बे के साथ देना चाहिए।

कृमिज शिर:शूल की चिकित्सा—कृमिजन्य शिरोरोग के रोगी को शैया पर सुलाकर उसकी नाक में नीलगिरि तेल ४-५ बूंद डालना चाहिए। फिर श्वासकुठार, त्रिकटु, करंज इनको समान लेकर चूर्ण कर तीव्र नस्य दें जिससे कृमि निकलकर बाहर गिर पड़ेंगे। फिर षटबिन्दु तेल डालना चाहिए। वाय-विडङ्ग के द्वारा धूम्रपान कराना चाहिए। त्रिकटु, करंज, सहजने के बीज, कम्पीला इनका नस्य देना चाहिए। पलास, विडङ्ग, त्रिकटु हल्दी इनका नस्य देना चाहिए। तृणकान्त मणि पिष्टी २ रत्ती, स्वर्ण माक्षिक भस्म २ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण शहद के साथ दें।

सूर्यावर्त शिर:शूल की चिकित्सा—सूर्यावर्तजन्य शिर:जन्य में नस्य देना चाहिए। भांगरे का रस, बकरी का दूध समान लेकर धूप में रखकर गर्मकर नस्य दें। गुड़ और घी मिलाकर पिलाना चाहिए। घी, दूध का नस्य देना चाहिए। घी, दूध, शक्कर मिलाकर पिलाना चाहिए, साथ ही मृदु विरेचन देना चाहिए। दूध में पीसे तिल के द्वारा स्वेदन करना चाहिए। जीवनीयगण-युक्त औषधियां सेवन करना चाहिए। घृत, दूध, मिशरी, केशर का नस्य देना चाहिए। अमलताल के पत्तों का रस, अपामार्ग के कल्क में साथ मक्खन का नस्य सूर्यावर्त को नष्ट करता है। दशमूल क्वाथ, घृत, सेंधा नमक मिलाकर नस्य देना चाहिए।

नौसादर १ तोला, बिना बुझा हुआ चूना १ तोला, कर्पूर ३ मासा, मिल-कर उससे थोड़ा पानी डालकर हिलाकर नस्य देना चाहिए।

अर्धावभेदक शिर:शूल चिकित्सा—अर्धावभेदक जन्य शिर:शूल में स्नेहन, स्वेदन देने के पश्चात् उष्ण भोजनादि देना चाहिए। उक्त चिकित्सा के अनुसार ही दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

देशी कपूर की डेली १ माशा, मिशरी २ तोला, मेवा ४ तोला के साथ मिलाकर सूर्योदय के समय शौचादि से निवृत्त होकर आने पर दें। इस प्रकार तीन दिन तक दें। इससे अच्छा लाभ होता है। सारिवा, नीलोफर कूठ, मुलहठी इनको कांजी में पीसकर घृत मिलाकर लेप करना चाहिए। इस प्रकार के उपचार से अर्धावभेदक नष्ट होता है।

अनन्तवात जन्य शिर:शूल की चिकित्सा—अनन्तवात जन्य शिर:शूल में

सूर्यावर्त जन्य चिकित्सा हितकर है। विशेष बात यह है कि अनन्त वात में शिरावेधन द्वारा रक्तमोक्षण कराना हितकारक है। वात पित्त शामक आहार हितकर है। मधु तथा दही का तोड़, दलिया आदि देना चाहिए।

शंखक शिर:शूल की चिकित्सा—शंखक शिर:शूल में स्वेदन कर्म भूलकर भी नहीं कराना चाहिये। रोगी को महामापूर घृत की नस्य देना तथा पान कराना हितकर है। घी, दूध पिलाना चाहिये। और—

भीमसेनी कपूर ४ रत्ती, छोटी इलायची के दाने ४ रत्ती, लौंग ४ रत्ती, इनको चन्दन और गुलावजल द्वारा पीसकर सिर पर लगाने से अच्छा लाभ करता है।

लौंग तेल, इलायची तेल, पिपरमेंट, अजवाइन सत्व, भीमसेनी कपूर, प्रत्येक समभाग तेलों को लेकर फिर अजवाइन, पिपरमेंट, भीमसेनी कपूर को मिलाकर कुछ देर धूप में रखें। इनके घुलने पर सिर में मालिश करनी चाहिये।

अभ्रक भस्म २ रत्ती, स्वर्ण वसन्त मालती २ रत्ती, सूतशेखर रस २ रत्ती कामदुधारस ४ रत्ती, लेकर च्यवनप्राश में अथवा आँवला के मुरब्बे के साथ देना चाहिये। पाँवों में बकरी का घी और दूध मलना चाहिए। नागर बेल के पत्ते पर घी चुपड़ कर कुछ गर्म कर शंख प्रदेश में बाँधना चाहिए। केशर, लौंग, जायफल, गुलावजल में पीसकर सिर पर लेप करना चाहिये। इससे शंखक शिर:शूल नष्ट होता है।

प्रसूत ज्वर जन्य शिर:शूल की चिकित्सा—कभी-कभी प्रसूतावस्था में भी भयंकर शिर:शूल होता है, तब उस अवस्था में—

चन्द्रामृत रस २ रत्ती, प्रतापलंकेश्वर रस २ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १ माशा।

इस प्रकार की तीन माशा दशमूल क्वाथ के साथ दिन में तीन बार देना चाहिए।

बाह्य शिरोरोग चिकित्सा—

इन्द्रलुप्त चिकित्सा—इन्द्रलुप्त से पीड़ित रोगी के सिर को पहले नीमं की पत्तियों के सहित उबाले हुए पानी से धोना चाहिए। फिर उसको कार्बोलिक साबुन से धोकर साफ करना चाहिये।

नीम की मिगी, चिरौंजी, मुलहटी, कुठ, उदड़, सेंधा नमक, प्रत्येक समभाग

लेकर काँजी में पीसकर उसमें शहद मिलाकर सिर पर लगाना चाहिए अथवा उक्त चूर्ण को आम के अचार में डाले हुए पुराने तेल में मिलाकर लगाना चाहिये, अच्छा लाभ करता है।

आम की गुठली १ तोला, छोटी हरड़ १ तोला, तुत्थ भस्म ३ माशा, गन्धक ६ माशा, चूना ६ माशा, मुर्दासिन ६ माशा लेकर पीसकर चूर्ण करें फिर गाय के घी में मिलाकर लेप करें। अच्छा लाभ होगा।

गाय के दूध में पोस्त के दानों को पीसकर उसमें तुत्थ भस्म मिलाकर रख लें फिर सिर को धोकर उस पर लेप करें तो अच्छा लाभ होगा।

तिल का तेल, छोटी कटेरी। पंचांग का रस, गुड़हल का रस, सत्यानाशी के पंचांग का रस, भांगरे का रस, प्रत्येक समभाग।

इनमें—चिरमिटी २ तोला, त्रिफला ६ तोला, अनन्तमूल १ तोला, कबीला १ तोला। इनको मिलाकर तेल सिद्ध करें। इसके लगने से रोग मिटता है।

दारुणक रोगनाशक चिकित्सा—तुत्थ भस्म, कबीला, सफेद कत्था, सोना गेरू, शोरा प्रत्येक १-० तोला, मुर्दासिन, कालीमिर्च, महँदी प्रत्येक २-२ तोला, सरसों का तेल १८ तोला, मोम देशी २ तोला, राल २ तोला लें।

पहले तेल में महँदी के पत्ते डालकर जलायें फिर नीचे उतार कर मोम ढालें, ठण्डा होने पर वस्तुओं का चूर्ण डालकर घोंटें और मरहम बनाकर लेप करें। दारुणक रोग मिटता है। इन्द्रगुप्त भी नष्ट होता है। अरूंषिका आदि भी मिटते हैं। भृंगराज तेल भी अच्छा लाभ करता है।

अरूंषिका की चिकित्सा—यह व्याधि सिर में होती है। इस व्याधि के लिए सिर के बाल जो अरूंषिका के आस-पास हों, उनको साफ करके फिर निम्न जल से धो डालें—

कबीला ३ तोला, कपूर १।। तोला, चौकिया सुहागा १।। तोला।

इनका चूर्ण बनाकर रख लें। इसमें से थोड़ा-सा लेकर लाल चन्दन की लकड़ी से मिलाकर घिसें, फिर साफ की हुई जगह पर लगायें तो अच्छा लाभ होता है।

कज्जली २ तोला, कबीला २ तोला, कालीमिर्च २ तोला, सिन्दूर २ तोला तुत्थ भस्म १ तोला।

इनको पीसकर शतधौत गाय के घी में घोंट कर लगाना चाहिए। इससे

अच्छा लाभ रहेगा। कभी-कभी अरूषिका और दारुणगण रोग में असावधानी रहने पर यह रोग उग्र रूप धारण कर लेता है। इसके कारण कभी-कभी भयकर पीड़ा हो जाती है तथा घावों में कृमि पड़ जाते हैं, जिससे दुर्गन्ध अधिक आती है और रोगी को विशेष कष्ट होता है। ऐसी स्थिति में रोगी के व्रणों पर टरपेनटाइन तेल या नीलगिरि तेल या नीम का तेल या करञ्ज का तेल डालकर ऊपर फोहा रख देना चाहिए। फिर थोड़ी देर बाद पोटास-परमैंगनेट से युक्त जल से या नीम के पत्तों से उबाले हुए पानी से धोना चाहिए। जिससे कृमि निकल जायँ और फिर उपरोक्त उपचार मलहम आदि लगाना चाहिए अथवा बोरिक पाउडर का मलहम लगाना चाहिए।

पलित रोग की चिकित्सा—पलित रोग में मेथी कल्प या मल्लातक कल्प करना चाहिए। सिर में चन्दनादि तेल का मर्दन कराना चाहिए। प्रातः सायं नरसिंह चूर्ण, पूर्ण चन्द्रोदय रस, वसन्त कुसुमाकर रस तथा च्यवनप्राश का सेवन करना चाहिए। भोजनोत्तर भृंगराजसव का सेवन करना चाहिए। भृंगुराज तेल का मर्दन कराना हितकर है। जिस स्थान पर सिर के सभी बाल उड़कर त्वचा निकल आये तो वहाँ दाँत की निर्धूम कृष्ण भस्म बनाकर उसमें समान रसौत मिला बकरी के दूध में प्रतिदिन लेप किया जाये तो अच्छा लाभ होगा। वहाँ पुनः केश जम जायेंगे।

प्रश्न—धूम्रपान विधि का वर्णन करो।

उत्तर—"धूम्रपान का प्रयोग ऊर्ध्वजत्रु विकारों के लिए किया जाता है। हिताहार विहार करने वाले मनुष्य को यदि जत्रु से ऊपर विकार उत्पन्न हो जाए तो शमन के लिए सदा धूम्रपान का प्रयोग करें परन्तु शोक, श्रम, भय, क्रोध, उष्णता, विषरोग रक्तपित्त, मद-मूर्च्छा, दाह, तृष्णा, पाण्डु रोग, तालु-शोष, वमन, शिरोभिघात, उद्‌गार अपतर्पण, तिमिर, प्रमेय, उदर रोग, तालु-अर्ध्ववात इन सब रोगों से पीड़ित रोगियों को तथा बालक, वृद्ध, दुर्बल, विरक्त आस्थापित-जागरित, गर्भिणी, रूक्ष, क्षीण, छाती में घाव वाला तथा जिससे मधु धृत, दधि-दुग्ध, मछली, शराब, यवायु आदि खाये या पिए हों तथा जिसकी देह में कफ बहुत कम रह गया हो उसको धूम्रपान नहीं करना चाहिए। इन अवस्थाओं में प्रयोग किया गया धूम्रपान रक्त पित्त, अन्धापन, बहरापन, तृषा, मूर्च्छा, मद तथा मोह उत्पन्न करता है। इन उपद्रवों के हो जाने पर घृतपान, चस्य, आलेपन तथा परिषेकादि शीतल क्रिया हितकारी है।" यह धूम्रपान सुश्रुत ने पाँच प्रकार का बताया है—

(1) प्रायोगिक, (२) स्नेहिक, (३) वैरेचनिक (४) कासघ्न, (५) वमनीय।

इन पाँच प्रकार के धूम्रपान के लिए अलग-अलग द्रव्य बताये हुए धूम्रवर्ति बनाते हैं। इस धूम्रवर्ति के निर्माण के लिए बारह अंगुल का सरकण्डा लेकर पानी में भिगो लिया जाता है तथा फिर उस पर अभिप्रेत द्रव्यों को पीसकर लेपन करते हैं। चार-पाँच बार के लेपन से वह वर्ति अनुष्ठ परिमाण में मोटी हो जाय तब उसे छाया में सुखाकर सरकण्डा निकाल कर तथा धूम्र नेत्र में लगाकर दूसरे सिरे में अग्नि लगा धूम्रपान करें। प्रायोगिक धूम्रवर्ति निर्माणार्थं कुरु तथा तगर को जोड़कर शेष एलादि वर्ग के द्रव्य ग्रहण करें जो कि सुश्रुत के अनुसार निम्न हैं—

"इलायची, जटामांसी, गंधेलघास, तज, पत्रज, नागकेशर, प्रियंगु, हरेणु, व्याघ्र, शुक्तिवाल, कलेर, थूनेर, श्रीवेष्टक, दालचीनी, चारेक, नेत्र वाला, गूगल राल, तुरुष्क, कुन्दरु, अगर, स्पृक्ता, उशीर, देवदारु तथा केशर। स्नेहिक धूम्र वर्ति में स्नेह वाले फूलों का सार, मोम, राल, गूगल इत्यादि स्नेह द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।" वैरेचनिक धूम्र में औगा, सहंजना, सूर्यवल्ली, पील, पीपल तथा शिरोविरेचन द्रव्य निम्न है—"पीपल, वायविडंग, ओंगा, सहजना सफेद सरसों, सिरस, मिर्च, कन्नेर, कन्दूरी, सफेद कन्नेर, माल, काँगनी, करज सफेद आक, लाल आक, लहसन, अतीस, अदरख, तालीसपत्र, पसेन्दू, तुलसी, अर्जक, गोन्दी व हिंगोर मेढ़सिंग, लाल फूल का सहंजना, पीलू, चमेली, साल, ताड़, महुआ, लाख, हींग, नमक, मद्य, गोबर का रस तथा गोमूत्र शिरो विरेचनीय हैं। कटेरी, छोटी कटेरी, त्रिकुट, कसोंदी, हींग गोंदी की छाल, मेनसिल, गिलोय, काकड़ासींगी इत्यादि कासघ्न औषधि का प्रयोग कासघ्न धूम्रवर्ति बनाने के लिए करना चाहिए। वमन कराने वाले द्रव्यों जैसे स्नायु, चर्म, खुर सींग, केंकड़े की अस्थि सूखी मच्छी, सूखा मांस तथा कीड़े इत्यादि वमनीय धूम्र में काम आते हैं। चिकित्सक रोग, रोगी के बलाबल को देखकर उपयुक्त द्रव्यों का प्रयोग करें।

स्वर्ण, रूपा, शीशा, ताँबा, काँसी तथा लकड़ी आदि के द्वारा धूम्रपानार्थ नली का निर्माण करें। यह नली कनिष्ठा अंगुली के समान गोल अग्र भाग में मटर के समान तथा छिद्र की जड़ में अंगुठ के समान होनी चाहिए। प्रायोगिक धूम्रार्थ इकतालीस अंगुल की होती है। स्नेहन में बत्तीस अंगुल की, विरेचन में चौबीस अंगुल की तथा कासघ्न वमनीय में सोलह अंगुल लम्बी होती है। प्रायोगिक धूम्र नासिका से स्नेहिक मुख तथा नासिका से, विरेचन धूम्र

नासिका से, कासघ्न तथा वमनीय धूम्र मुख से प्रयोग करना चाहिए। प्रथम तीन को धूम्र नेत्र में लगाकर तथा कासघ्न एवं वमनीय को चिन्तन में रख अंगारे रखकर धूम्र नेत्र चिलम में लगाकर पान किया जाता है। नाक द्वारा धूम्रपान कर मुख से धुआँ निकाले तथा मुख द्वारा धूम्रपान कर मुख द्वारा निकाले। मुख से किए गये धूम्रपान से यदि नाक से धुआँ निकाला गया तो नेत्रों के रोग हो जायेंगे।

विष्ठा, मूत्र उपित तथा मैथुन के अन्त में स्नेहिक धूम्र दें। इस स्नेहिक धूम्र द्वारा रोग नष्ट हो जाते हैं। वलवान रोगी को स्नेहिक धूम्र तब तक दे जब तक आँखों से आँसू न टपकें। स्नान, वमन, दिवास्वप्न के अन्त में वैरेचन धूम्र दे। इसको प्रयोग तब तक करायें, जब तक दोष झरता रहे। दिन में तीन बार प्रयोग कर सकते हैं।

दन्त प्रक्षालन, स्नान, नस्य, भोजन तथा शस्त्र कर्म के अन्त में प्रायोगिक धूम्रपान करायें। इसे मुख तथा नासिका से तीन-तीन ऊँचे श्वास खींचकर पीना चाहिए। कासघ्न धूम्र ग्रास लेने के पीछे या ग्रासों के बीच-बीच में दे। यह दिन में तीन-चार बार प्रयोग कर सकते हैं। वमनीय धूम्र के पूव तिल तथा चावलों का यवागू देना चाहिए। धूम्रपान में खाँसी, पीनस, स्वरभंग, पूतिगन्ध, पान्डूता, केशदोष, कर्णस्राव, नेत्रस्राव, खुजली, दर्द, जड़ता, तन्द्रा तथा हिचकी यह रोग धूम्रपान करने वाले को छू तक नहीं सकते।

५

नेत्ररोग-विज्ञान

प्रश्न—नेत्र की रचना बताते हुए नेत्र रोगों के विषय में सामान्य जानकारी दीजिए।

उत्तर—

नेत्र का स्वरूप वर्णन—मानव नेत्र को अँगूठे के पेट के मध्य भाग के बराबर दो अंगुल की बहुलता वाला माना गया है। उसका आयाम और विस्तार ढाई अंगुल प्रमाण का है। यह नेत्र गोलक सुवृत्त तथा गौ के स्तन के आकार वाला और सम्पूर्ण महाभूतों के गुणों से उत्पन्न हुआ माना जाता है। इसमें माँस पृथ्वी से तेज से रक्त, वायु से नेत्र गोलक का कृष्ण भाग, जल से श्वेत भाग तथा आकाश तत्व से आँसुओं के निकलने के मार्ग का निर्माण होता है।

दृष्टि का वर्णन—नेत्र गोलक में नेत्र विशारदों ने दृष्टि का प्रमाण बतलाते हुए नेत्र के आयाम का एक-तिहाई भाग, कृष्ण-मण्डल को माना है और उस कृष्ण-मण्डल को भी सातवें भाग की दृष्टि माना गया है।

नेत्र के मण्डल आदि का वर्णन—नेत्र में पाँच मण्डल, छः सन्धियाँ और छः ही पटल माने गये हैं। पक्ष्म, वर्त्म, श्वेत, कृष्ण और दृष्टि ये कुल पाँचों मण्डलों के नाम हैं। सबसे बाहर वर्त्म मण्डल हैं, उसके भीतर श्वेत मण्डल हैं, उसके भी भीतर कृष्ण मण्डल है और फिर उसके भी भीतर दृष्टि मण्डल माना जाता है। पक्ष्म मण्डल सर्वथा नेत्र के बाहर है, जिसको देशी भाषा में पलक कहते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञानवादी पक्ष्म मण्डल को Eye lashes कहते हैं, वर्त्म मण्डल को Eyelids कहते हैं, श्वेत मण्डल को Conjunctival sac कहते हैं, कृष्ण मण्डल को Corneal circle कहते हैं, दृष्टि मण्डल को Circle of the pupil कहते हैं।

सन्धि वर्णन—नेत्र में सन्धियाँ छह मानी गयी हैं—(क) पक्ष्म तथा वर्त्म की सन्धि, (ख) वर्त्म तथा शुक्ल भाग की सन्धि, (ग) शुक्ल भाग और कृष्ण भाग की सन्धि, (घ) कृष्ण भाग और दृष्टि भाग की सन्धि, (ङ) कनीनिकागत सन्धि, (च) अपाङ्गगत सन्धि । आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में प्रथम सन्धि को Free margin of the lids कहते हैं । दूसरी को Cornea scleral junction कहते हैं । तीसरी को Fornix कहते हैं । चौथी को Free margin of the iris कहते हैं, पाँचवीं को Madical Palpebral commisure कहते हैं और छठी को Outer canthus कहते हैं ।

नेत्र पटल—नेत्र में छह पटल माने गये हैं । पटल को आधुनिक वैज्ञानिक Tunic of the eye कहते हैं । इन पटलों में दो वर्त्म पटल एवं चार पटल अक्षि गोलक में होते हैं । नेत्र गोलक के इन्हीं चारों पटलों में भयंकर तिमिर नामक रोग होता है । इन चार पटलों में से प्रथम बाह्य पटल तेज व जल के आश्रित है । दूसरा पटल मांस के आश्रित है । तृतीय पटल मेद के आश्रित है । चौथा-पटल अस्थि के आश्रित है । इन चारों पटलों की स्थूलता अर्थात् मोटाई दृष्टि के पाँचवें भाग के बराबर है । एलोपैथी में नेत्रगत तीन पटल माने गए हैं—(क) बाह्यपटल, (ख) मध्यपटल और (ग) अन्तः पटल ।

नेत्र रोगों की सम्प्राप्ति—सर्वप्रथम मिथ्या आहार-विहार में विकृत होकर वात आदि दोष, शिराओं का अनुसरण करते हुए शरीर के ऊर्ध्व भाग अर्थात् सिर में पहुँच जाते हैं । उससे नेत्र गोलक के विभिन्न एवं विविध प्रकार के भागों में अतीव भयंकर रोग उत्पन्न हो जाया करते हैं । एलोपैथी के मत से नेत्र रोग को सम्प्राप्ति में नेत्र के भीतर कीटाणु तथा विष का प्रवेश होकर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं । यह प्रवेश बाहर और भीतर दो प्रकार से माना जाता है । बाहर से प्रवेश होने पर नेत्र गोलक के अंगों पर शोथ, व्रण, रक्त की अधिकता, रक्त वाहनियों का फैलाव, तथा लसीका का स्राव एवं पूय का स्राव भी होने लगता है । भीतर प्रवेश होने पर शरीर के किसी भी प्रदेश में पाक होकर पूरा जीवाणु अथवा उनका विष रक्त में प्रविष्ट होकर रक्त वाहिनियों के द्वारा नेत्र में पहुंच जाता है । उससे नेत्र गोलक में शोथ स्राव, लालिमा आदि लक्षण पाए जाते हैं ।

नेत्र रोग के पूर्वरूप—नेत्रों में गंदलापन, लालिमा, वेदना, बार-बार आँसू निकलते रहना; खुजली होना, स्राव के बहते रहने से पलकों की परस्पर चिपके रहना, कफ के प्रकोप के कारण भारीपन, पित्त के कारण दाह तथा

वात प्रकोप के कारण सूची चुभने के समान वेदना होना, रक्त के प्रकोप से लालिमा होना आदि के लक्षणों का स्वल्प रूप प्रकट होना, पलकों में शूल होना, शूल चुभने जैसी चुभन होना, रूप दर्शन में अशक्यता, प्रकाश सहन में भी असमर्थता का होना आदि पाया जाता है।

नेत्र रोग का निदान—धूप गर्मी आदि से सन्तप्त व्यक्ति का सहसा जल में स्नान आदि कर बैठना, दूर स्थित वस्तुओं को बार-बार अधिक देर तक देखते रहना, निन्द्रा, शयन आदि में विपरीतता होना, लगातार रोना, क्रोध, क्लेश, शोक, चोट, अति स्त्री-विषय भोग करते रहने से, सिरका, काँजी, अम्ल पदार्थ, कुलत्थ, उड़द की दाल की बड़ियाँ आदि का सर्वदा सेवन करते रहने से, मल, मूत्र आदि के वेगों को रोकने से स्वेद अधिक आने से धूम्रपान अधिक करने से वमन के वेग को रोकने से अधिक वमन करने से, आँसुओं को रोकने से, सूक्ष्म वस्तुओं को अधिक समय तक देखते रहने से वात आदि दोष दूषित अथवा कुपित होकर नेत्र रोगों को उत्पन्न कर देते हैं।

नेत्र रोग की सामान्य चिकित्सा—साधारण रूप में निदान का त्याग, अर्थात् जिन कारणों से नेत्रों में रोग—उत्पन्न हो जाते हैं उनका त्याग करना ही क्रिया योग अथवा सरल चिकित्सा है। वातादि के अनुसार फिर विस्तृत उपाय करना ही चाहिए।

दोषानुसार नेत्र रोगों की गणना—नेत्र में वात से दस, पित्त से दस, कफ से तेरह, रक्त से सोलह, सर्वज पच्चीस और बाह्य दोष दो, इस प्रकार सर्वयोग छिहत्तर रोग होते हैं।

नेत्र रोगों की साध्यासाध्यता—वातज नेत्र रोगों से हताधिमन्थ, निमिष, गम्भीरिका दृष्टि तथा वातहतवर्त्म असाध्य माने गये हैं। वातज काँच रोग याप्य माने गए हैं। किन्तु शुष्काक्षिपाक, अधिमन्थ, अभिष्यन्द, वातपर्याय तथा अन्यतोवात ये पाँचों साध्य रोग हैं। पित्तज नेत्र रोगों में ह्रस्वजाड्य, जलस्राव को असाध्य माना है। किन्तु परिम्लायी काँच एवं नीलिका काँच को याप्य माना है। इनके अतिरिक्त अभिष्यन्द, अधिमन्थ, अम्लाध्युषित, शुक्तिका, पित्त विदग्ध दृष्टि एवं धूमदर्शी इनको साध्य माना है। श्लेष्मज नेत्र रोगों में कफज स्राव को असाध्य माना है। केवल कफज काँच याप्य होता है। इनके अतिरिक्त अभिष्यन्द, अधितन्थ, बलासग्रथित, कफविदग्ध दृष्टि पोथकी, लगण, क्रमिग्रन्थि, परिक्लिन्नवत्कर्म, शुक्लार्म, पिष्टक, कफज,

उपनाह ये ग्यारह रोग साध्य माने गये हैं। रक्तज नेत्र रोगों में रक्तस्राव, अजकाजात, रक्तार्श, सव्रणशुक्र इन चारों को असाध्य माना है। केवल रक्त जन्य काँच को याप्य माना है। इनके अतिरिक्त, रक्तज अधिमन्थ, अभिष्यन्द, क्लिष्ट, वर्त्म, शिराहर्ष, सिरोत्पात, अञ्जननामिका, शिरजाल, पर्वणी, अव्रण शुक्र, शोणितार्म और अर्जुन ये ग्यारह रोग साध्य माने जाते हैं। इसी प्रकार से सर्वज़ अथवा त्रिदोषज रोगों में पूयस्राव, नकुलान्ध्य, अक्षिपाकात्यय और अलजी इन चारों को असाध्य माना है। किन्तु काँच और पक्ष्म कोप को याँप्य माना है। परन्तु वर्त्मावबन्ध, सिराजा पिडिका, प्रस्तार्यर्म, अधिमांसार्म, स्नाय्वर्स, उत्सङ्गिनी पीड़िका, पूयालस, अर्बुद, श्यावकदर्मक, श्याववर्त्म, अर्शोवर्त्म, अक्लिन्नवर्त्म, कुम्भीका, विसवर्त्म इन उन्नीस रोगों को साध्य माना गया है।

प्रश्न—नेत्र के सन्धिगत, वर्त्मगत, शुक्लभागगत, कृष्णभागगत, सर्वगत और दृष्टिगत रोगों का वर्णन कीजिए।

उत्तर -

स्थान भेद से नेत्र रोगों की स्थिति का वर्णन—नेत्र रोगों की सर्वयोग संख्या छिहत्तर मानी गई है। इनमें से सन्धियों में नौ रोग होते हैं। वर्त्म प्रदेश में इक्कीस रोग होते हैं। शुक्ल भाग में ग्यारह रोग माने गये हैं। कृष्ण भाग में चार रोग होते हैं। सर्वजाश्रयी रोगों की संख्या सत्रह है। दृष्टि मण्डल में बारह रोग माने जाते हैं। बाह्य कारणों से भयंकर रोग दो होते हैं।

सन्धिगत रोगों का वर्णन—नेत्रगत सन्धियों में नौ प्रकार के रोग माने गये हैं। जैसे—पूयालस, उपनाह, चार प्रकार के स्राव, पर्वणिका, अलजी तथा कृमिग्रन्थि ये नौ होते हैं—

पूयालस का वर्णन—नेत्र की सन्धि में पहले शोथ होकर, पकने के बाद गाढ़ा और दुर्गन्धपूर्ण स्राव पूय के रूप में बहने लगे तो पूयालस कहते हैं। इसको एलोपैथी में (Lacrymal abscess) कहते हैं। इससे भिन्न बड़े आकार वाली और न पकने वाली, कण्डु से युक्त, किन्तु वेदना रहित बड़ी-बड़ी ग्रन्थि को उपनाह कहते हैं। डाक्टरी में इसको (Lacrymal Cyst) कहते हैं।

नेत्र स्राव का वर्णन—मिथ्या आहार, बिहार आदि कारणों से अथवा शीत, उष्ण आदि कारणों से दूषित हुए दोष अश्रु मार्ग से होकर सन्धियों में पहुँचकर

कनीनिका प्रदेश से नासिका के समीपस्थ स्थान से बिना वेदना के स्राव प्रवाहित करते हैं। इसको कुछ विद्वानों ने नेत्रनाड़ी (Sinus) माना है।

चारों स्रावों के लक्षण—संधि भाग से पाक होकर जो पूय बहता है, उसको पूयश्राव कहते हैं। इसके अनेक रूप हुआ करते हैं। जिस स्राव में सफेद, गाढ़ा पीड़ा रहित और पिच्छिल स्राव पाया जाता है उसको श्लेष्मास्राव कहा गया है तथा रक्त की विकृति होकर उत्पन्न होने वाला, रक्तश्राव, उष्ण, अधिक मात्रा में गाढ़ा, न पतला ऐसा स्राव बहता है, उसको रक्त स्राव माना है तथा पीत वर्ण अथवा नील वर्ण का, उष्ण जल के समान पतला, कनीनिका सन्धि से जो श्राव बहता है, वह पित्त श्राव कहलाता है।

पर्वणी और अलजी का वर्णन—रक्त के विकृत होने से कृष्ण और शुक्ल भाग गतसन्धि में लाल वर्ण का, पतला, वृत्ताकार जो शोथ हो जाता है और उसमें दाह एवं शूल होता रहता है, उसे 'पर्वणी' कहते हैं। किन्तु यदि यही वृत्ताकार स्वरूप स्थूल हो जाय तो उसका 'अलजी' कहलाता है।

कृमि ग्रन्थि रोग का वर्णन—वर्त्म और पक्ष्म की सन्धि में और वर्त्म एवं शुक्ल मण्डल की सन्धि में विविध प्रकार के कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। वे कण्डू करते हैं और छोटी-छोटी ग्रन्थियों को उत्पन्न कर देते हैं। इसी को कृमि ग्रन्थि रोग कहते हैं। इस रोग में कृमि संधियों को खा जाते हैं और नेत्र के आभ्यान्तर भाग को भी दोष पूर्ण देते हैं। कण्डू अधिक होने पर रोगी अपनी हथेली अथवा अँगुली से जोर से रगड़ता है, अतः पलक की धारा टूट जाती और उसमें जन्तुओं के अण्डे अथवा यूकालिक्षा आदि भर जाते हैं।

वर्त्मगत रोगों का वर्णन

वर्त्म रोग की सम्प्राप्ति—वातादि दोष पृथक्-पृथक् रूप से अथवा समस्त रूप से बहुत अधिक कुपित होकर वर्त्म मध्य में स्थिति शिराओं में प्रसारित होकर वर्त्म में ठहर जाते हैं और वहाँ फिर ये बहुअ अधिक कुपित होकर, वहाँ के मांस एवं रक्त की वृद्धि करके शीघ्र ही वर्त्म भाग में रोग को उत्पन्न कर देते हैं। उन वर्त्मगत रोगों के नाम इस प्रकार हैं—उत्सङ्गिनी, कुम्भीका, पोथकी, वर्त्मशर्करा, अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श, अञ्जननामिका, बहलवर्त्म, वर्त्मावन्बधक, क्लिष्टवर्त्म कर्दमवर्त्म, श्याववर्त्म, प्रक्लिनवर्त्म, अपरिक्लन्नवर्त्म, वातहतवर्त्म, अर्बुद, निमेष, शोणितार्श, लगण, विषवर्त्म और पक्ष्मकोप ये इक्कीस रोग वर्त्म भाग में होते हैं। हम प्रत्येक के लक्षण लिख रहे हैं।

उत्सङ्गिनी—जो पिड़िका गोद में अर्थात् अधोवर्त्म की गोद में और वर्त्म के भीतर मुँह रखने वाली, बाहर की ओर उभरी हुई और अपने जैसी छोटी-छोटी फुन्सियों से भरी हुई हो, उसका नाम उत्सङ्गिनी पिड़िका है।

कुम्भीका—कुम्भीक के बीज के समान पिड़िका वर्त्म प्रदेश में उत्पन्न हो जाती है और वे पककर फूटने के बाद फिर से भर जाया करती हैं, अतः उन्हें कुम्भीका पिड़िका कहा जाता है।

पोथकी—वर्त्म भाग में लाल सरसों के समान स्वरूप वाली फुन्सियाँ ह जाती हैं, इनमें स्राव बहता रहता है और उनमें खुजली, भारीपन और पीड़ा भी होती है, उसे 'पोथकी' कहते हैं।

वर्त्मशर्करा—वर्त्म प्रदेश में कठोर, खुरदरी-सी एक स्थूल पिड़िका उत्पन्न हो जाती है और उस पर छोटी छोटी बहुत-सी फुन्सियाँ व्याप्त रहती हैं, उसे वर्त्मशर्करा कहते हैं

अर्शोवर्त्म—वर्त्म प्रदेश में खीरे के बीज के समान आकार वाली मन्द-मन्द वेदना वाली सूक्ष्म और तीक्ष्ण अग्र भाग वाली, फुन्सियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उनको अर्शोवर्त्म कहा जाता है।

शुष्कार्श—वर्त्म भाग में उत्पन्न, दीर्घ अंकुर के समान खुरदरी, कठोर बहुत कष्ट देने वाली इसी बीमारी को शुष्कार्श कहते हैं।

अंजननामिका—वर्त्म भाग में उत्पन्न हुई पिड़िका, दाह, सुई चुभने की सी वेदना वाली, ताम्र वर्ण की, स्पर्श में मृदु, अल्प पीड़ा और सूक्ष्म स्वरूप वाली पिड़िका अंजननामिका कहलाती है।

बहलवर्त्म—जो वर्त्म चारों ओर से समान वर्ण वाली तथा समान आकृति वाली पिड़िकाओं से व्याप्त हो जाता है उसको बहलवर्त्म कहते हैं।

वर्त्मबन्ध—जिस रोगी का वर्त्म कण्डु युक्त हो और उसमें सुई के समान चुभन होती हो, आँख पूर्ण रूप से बन्द न की जा सकती हो उसको वर्त्मबन्ध रोग कहते हैं।

क्लिष्टवर्त्म—जिस नेत्र की पलक अकस्मात् ही बिना कारण के पिलपिली सी हो जाएँ तथा उनमें मन्द-मन्द पीड़ा भी होती हो पहले उसका रंग ताम्र जैसा हो बाद में रक्त वर्ण हो जाता हो तो उसको क्लिष्टवर्त्म कहते हैं।

वर्त्मकर्दम—क्लिष्टवर्त्म रोग ही जब बिना प्रकोप से युक्त हो जाए तथा वह रक्त को विदग्ध करके वर्त्म भाग को गीला कर दे तो उसको वर्त्मकर्दम कहते हैं।

श्याववर्त्म—जो वर्त्म बाह्य तथा आभ्यन्तर से श्यामवर्ण का अर्थात् धुएँ के समान वर्ण वाला हो, वह शोथ कण्डु, वेदना, क्लेद और दाह से युक्त हो, उसको 'श्याववर्त्म' कहते हैं।

क्लिन्नवर्त्म—इसमें वर्त्म का भाग पीड़ा से रहित, किन्तु शोथ से युक्त होता है, वर्त्म के भीतरी भाग में क्लेद और स्राव रहता है। इसको क्लिन्नवर्त्म कहते हैं। इसी को 'पिल्ल' नामक रोग भी माना गया है।

अक्लिन्नवर्त्म—जो वर्त्म बार-बार धोने पर भी चिपकते रहते हैं, किन्तु साफ न होता हो तो उसको 'अक्लिन्नवर्त्म' कहते हैं।

वातहतवर्त्म—जब किसी रोगी के वर्त्म तथा शुक्ल भाग की सन्धि ढीली पड़ जाती है और वर्त्म खुली दशा में रह जाता है और चेष्टा भी नहीं करता। नेत्र बन्द नहीं होने पाते, इस रोग में कभी पीड़ा होती है और कभी नहीं भी होती। अतः इसको वातहतवर्त्म कहते हैं।

वर्त्मार्बुद—जब पलकों के आभ्यन्तरीय भाग में, आकृति विषम तथा गाँठदार एवं वेदना से रहित, पित्त और रक्त के अनुबन्ध से रक्तवर्ण और लटकते हुए किनारों का रूप प्रकट हो जाता है, तब उसको वर्त्मार्बुद्ध कहते हैं।

निमेष—जब कुपित हुआ वायु वर्त्म के आश्रित निमेषिणी शिराओं में प्रवेश करके उस वर्त्म को अधिक गति युक्त कर देता है, तब उसको 'निमेष' कहते हैं।

वर्त्मार्श—वर्त्म भाग में दूषित रक्त के द्वारा उत्पन्न होने वाले तथा स्पर्श में कोमल अंकुर और जो बार-बार काटने पर भी बढ़ता रहता हैं तथा जिसमें पित्त के अनुबन्ध के कारण जलन, कफ के अनुबन्ध के कारण से खुजली और वायु का अनुबन्ध होने से वेदना होती है तो उसको 'वर्त्मार्श' कहते हैं।

लगण—वर्त्म भाग में बेर के फल के समान प्रमाण वाली ग्रन्थि, बिना ·ाक वाली, स्पर्श में कठोर, स्थूल आकृति वाली, पीड़ा से रहित, अथवा अल्प दना कारक, खुजली वाली तथा जो पिच्छिल हो उसको 'लगण' कहते हैं।

विषवर्त्म—जब वर्त्म भाग में शोथ और बहुत से सूक्ष्म छिद्र हो जाते हैं, जैसे विष में हुआ करते हैं तब उसको 'विषवर्त्म' कहते हैं।

पक्ष्मकोप—कुपित हुए वात आदि दोष वर्त्म में पहुँचकर, वर्त्म के बालों को नोंकीले खुरदरे और मुड़े हुए बना देते हैं, तब रगड़ लगकर नेत्र में वेदना उत्पन्न कर देते हैं। जब उस बाल को निकाल दिया जाता है तो शान्ति

हो जाती है। नेत्र धूप, अग्नि, वायु आदि को सह सकने में दुर्बल हो जाता है अतः इसको 'पक्ष्मकोप' कहते हैं।

शुक्लभागगत रोगों का वर्णन—नेत्र के शुक्ल भाग में प्रस्तार्यर्म, शुक्लार्म, क्षतजार्म, अधमांसार्म, स्नाय्वर्म शुक्तिका, अर्जुन, पिष्टक, शिराजाल, शिरा, पीड़िका और बलासग्रथित से ग्यारह रोग होते हैं। प्रस्तार्यर्मः नेत्र के शुक्ल प्रदेश में फैलने वाला, पतले रक्त के समान कुछ लाल और नीले वर्ण की ग्रन्थि अथवा गाँठ जैसा रोग प्रस्तारि अर्म कहलाता है। यह एक मोटी रेखा जैसा भी हो सकता है। नेत्र के शुक्ल प्रदेश में कोमल, सफेद और समान रूप से धीरे-धीरे बढ़ने वाली ग्रन्थि अथवा रेखा जैसी को शुक्लार्म कहते हैं और जो नेत्र के शुक्ल प्रदेश में मांस के भीतर लाल कमल के समान वर्ण की मांस की वृद्धि हो जाती है, उसको 'लोहितार्म', कहते हैं और नेत्र के श्वेत प्रदेश में यकृत के समान वर्ण वाला, कोमल, स्थूल फैला हुआ, तथा धुएं के समान वर्ण वाला रोग, 'अधिमांसार्म' कहलाता है और जो नेत्र के श्वेत प्रदेश के मांस को कर्कश और पीत वर्ण वृद्धि पाई जाती है उसको मनीषियों ने 'स्नाय्वर्म कहा है।

शुक्तिका तथा अर्जुन—नेत्र के शुक्ल प्रदेश पर पीत श्याम वर्ण का और मांस की भाँति दिखाई देने वाला तथा जल की सिप्पी के समान बूंदों वाला एक रोग हो जाता है। अतः इसको 'सुक्तिका' रोग कहते हैं और यदि श्वेत मण्डल पर खरगोश के रक्त के समान चमकता हुआ केवल एक ही बिन्दु परिलक्षित होता हो तो उसको 'अर्जुन' कहते हैं।

पिष्टक तथा शिराजाल—नेत्र के शुक्ल भाग के ऊपर चावल की पिट्ठी के समान श्वेत वर्ण का अथवा जल के समान दिखाई देने वाला बिन्दु जो कि सुवृत्ताकार भी हो 'पिष्टक' कहलाता है और यदि श्वेत भाग में बड़ी-बड़ी कठोर शिराओं से युक्त, लाल वर्ण की जाली जैसा चारों ओर को फैला हुआ रोग, 'शिराजाल' कहलाता है।

सिराज पिड़िका तथा बलासग्रथित—नेत्र के कृष्ण भाग के निकट नेत्र के शुक्ल मण्डल पर शिराओं से घिरी हुई सफेद फुन्सियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उनको 'सिराज पिड़िका' कहते हैं और जो नेत्र से शुक्ल प्रदेश में जल की बूंद के समान श्वेत वर्ण की अथवा कांसे से सदृश पिड़िकायें, कठोर और वेदना रहित हो जाया करती हैं, उनको बलासग्रथित कहते हैं।

नेत्र के कृष्ण भागगत रोगों का वर्णन—नेत्र के कृष्ण भाग में चार रोग होते हैं। सव्रण शुक्र, अव्रण शुक्र, पाकात्यय और अजकाजात।

(१) **सव्रत शुक्र**—नेत्र के काले प्रदेश में गहरा स्थित, कुछ कठिनता से दीखने वाला, सुई किए गये छेद के समान, उष्ण श्राव को प्रवाहित करने वाला और तीव्र वेदना से युक्त रोग सव्रण शुक्र कहलाता है। देशी भाषा में इसको 'फूला' कहते हैं। एलोपैथी में इसको (Inflamation of the cornea or keratitis) कह सकते हैं।

सव्रण शुक्र की साध्यासाध्यता—जो सव्रण या अव्रण शुक्र दृष्टि के निकट न हो, जो अधिक गहरा स्थित न हो, जिसमें से श्राव भी न होता हो, वेदना रहित हो और जिसका जोड़ा न हो ऐसा शुक्र रोग यदि उचित चिकित्सा हो तो अव्रण शुक्र तो कभी ठीक भी हो जाता होगा किन्तु सव्रण शुक्र धातुओं से विदीर्ण हो जाने पर मध्य भाग में छिद्र हो गया हो अथवा माँस से आवृत्त हो गया हो, शिराओं से संयुक्त होकर चंचल हो, देखने में बाधा पहुँचाता हो, तथा जो दो पटलों में आश्रित हो, और जिसका प्रान्त भाग लाल वर्ण का रहता हो तथा जो चिरोत्पन्न भी हो, ऐसा सव्रण शुक्र सर्वदा वर्जित होने से असाध्य है और यदि सव्रण शुक्र में नेत्र में से उष्णाश्रु निकलते हों तथा कृष्ण मण्डल के प्रदेश में फुन्सियाँ उठी हुई दिखाई देने लगें, अथवा मूँग के दाने के समान पिड़िका हो, तो भी वह सव्रण शुक्र असाध्य माना गया है अथवा जो तीतर के पंख के समान वर्ण वाला हो, ऐसा सव्रण शुक्र भी असाध्य माना गया है। किन्तु जो कृष्ण मण्डल में श्वेत-सा दिखाई दे, श्राव युक्त हो, अधिक वेदना से युक्त न हो, आँसू बहते हों, श्वेत, स्वच्छ, पतले बादलों से घिरे आकाश की भाँति जो दिखाई देता हो ऐसा अव्रण शुक्र साध्य माना जाता है। किन्तु जो गहराई में स्थित हो अर्थात् दूसरे अथवा तीसरे पटल में हो, आकार-प्रकार में स्थूल हो और चिरकालोत्पन्न हो, तो ऐसा अव्रण शुक्र 'कृच्छसाध्य' माना गया है।

(२) **अव्रण शुक्र**—जब अभिष्यन्द के कारण नेत्र के कृष्ण भाग में व्रण होकर उसके रोपण से अन्त में जो श्वेत व्रणाकार वृद्धि हो जाती है उसी को 'अव्रण शुक्र' कहते हैं। आधुनिक मत में इसको (Opacities of Cornea) कहते हैं।

(३) **अक्षिपाकात्यय**—जिस रोग में सम्पूर्ण कृष्ण मण्डल श्वेत आवरण से ढका हुआ हो, उसको ही 'अक्षिपाकात्यय' कहते हैं। इस रोग की उत्पत्ति अभिष्यन्द से हुआ करती है और तीव्र वेदना भी होती है। एलोपैथी में इसे 'हायपोपियान' कहते हैं।

(४) **अजकाजात**—नेत्र के कृष्ण भाग को फाड़कर प्रकट होने वाला, बकरी की मींगणी के समान आकृति वाला, वेदना सहित, रक्त वर्ण वाला तथा कुछ लाल रंग के स्राव वाला, जो चिपचिपाता हो ऐसा रोग 'अजकाजात' कहलाता है। आधुनिक मत में इसको (Anterior Staphyloma) कहते हैं।

नेत्र के सर्वगत रोगों का वर्णन—नेत्र में सर्वगत रोगों की सारी संख्या सत्रह है। जैसे वाताभिष्यन्द, पित्ताभिष्यन्द, कफाभिष्यन्द और रक्ताभिष्यन्द ये चार तो अभिष्यन्द होते हैं। वाताधिमन्थ, पित्ताधिमन्थ कफाधिमन्थ और रक्ताधिमन्थ ये चार अधिमन्थ होते हैं। सशोफपाक और अशोफपाक दो ये होते हैं। हताधिमन्थ, वातपर्याय, शुष्काक्षिपाक, अन्यतोवात, अम्लाध्युषित दृष्टि, सिरोत्पात और सिराहर्ष सात ये होते हैं।

वाताभिष्यन्द—वायु के प्रकोप से युक्त अभिष्यन्द वाले नेत्र रोगी की आँखों में सुई चुभने की-सी चुभन होती है। जकड़ाहट होती है। रोम हर्ष आँखों में किरकिरी का सा अनुभव होना, नेत्रों, का शुष्क होना, और शीतल अश्रु निकलना पाया जाता है।

पित्ताभिष्यन्द—पैत्तिक अभिष्यन्द के नेत्रों में दाह और पाक होता है। शीतल पदार्थों की आकांक्षा होना, धुआं निकलने की-सी प्रतीति होना, आँसू अधिक निकलना, उष्ण अश्रु बहना, नेत्रों का पीला वर्ण होना पाया जाता है।

कफाभिष्यन्द—उष्ण पदार्थों की आकांक्षा का होना धूप में बैठने की इच्छा होना, नेत्रों में भारीपन, शोथ, खुजली, नेत्रों में मैल का चिपके रहना, सफेदी, स्पर्श से नेत्रों में अधिक शीतलता का अनुभव होना, आँखों से बार-बार पिच्छिल वर्ण का श्राव बहना पाया जाता है।

रक्ताभिष्यन्द—आँसुओं का ताम्र वर्ण का होना, नेत्रों में लालिमा, नेत्र में चारों ओर लाल रेखाओ का दिखाई देना, दाह आदि का होना रक्ताभिष्यन्द में पाया जाता है।

अधिमन्थ के कारण तथा लक्षण—मिथ्या आहार विहार का सेवन करने वाला नेत्र रोगी विशेषकर अभिष्यन्द का रोगी, तीव्र वेदना प्रदायक अधिमन्थ

रोग को प्राप्त कर लेता है। अधिमन्थ उसका कहते हैं जिसमें रोगी यह अनुभव करे कि कोई उसकी आँख को निकाल रहा है अथवा नेत्र को रगड़ा जा रहा है। सिर में आधे भाग में बड़ी भारी वेदना होती है। ऐसा लक्षण अधिमन्थ का माना गया है।

वाताधिमन्थ—वातज अधिमन्थ में नेत्र भीतर से उखड़ा हुआ-सा प्रतीत होने लगता है। अरुणि मन्थन की-सी पीड़ा होती है। सुई चुभने की सी चुभन होती है। शस्त्र चीरने जैसी व्यथा होती है। नेत्र में मांस शून्यता होती हैं, मैल से नेत्र मैला रहता है, नेत्र में संकोचन, आस्फोटन, तनाव, कम्पन आदि कई प्रकार की वेदनाएँ होती हैं।

पि ाधिमन्थ—नेत्र का लाल वर्ण की रेखाओं से व्याप्त होना, स्राव बहना, अग्नि से जलने जैसी वेदना और दाह होना, नेत्र गोलक यकृत पिण्ड के समान हो गया हो, दाह युक्त हो, कटे पर नमक के समान वेदन होना, वर्त्म के प्रान्त भागों में पाक एवं शोथ होना, पसीना आना, पीले रूप दिखाई देना, कभी-कभी मूर्च्छा होना तथा सिर में दाह होना, पित्ताधिमन्थ में होता है।

कफाधिमन्थ—जो नेत्र रोगी शोफ की भाँति बहुत दाह वेदना और रोग से प्रवृत्त न हो, स्राव, शीतलता, कण्डू, पिच्छिलता, गुरुता, नेत्रमल रोमांच से युक्त हो प्रत्येक वस्तु धूल से ढकी हुई जैसी, कठिनता से दिखलाई पड़े, नेत्रों में मलिनता, नासिका में आध्मान जैसा, सिर में वेदना का पाया जाना कफाधि-मन्थ के लक्षण माने जाते हैं।

रक्तजाधिमन्थ के लक्षण—जिस नेत्र रोग में नेत्रों का वर्ण गुड़हल के फूल के समान हो, घबराहट होती हो: नेत्रों को छूने पर कष्ट होता हो, नेत्रों से रक्त बहता हो अथवा रक्त वर्ण का स्राव बहता हो, सुई चुभने जैसी चुभन होती हो, सभी दिशाओं में आग-सी जलती हुई रोगी को दिखाई दे, नेत्र का कृष्णभाग रक्त में डूबे रीठे के समान दिखलाई पडे, नेत्रों में लालिमा हो, जलते हुए से दिखलाई पड़ते हों तो वह रक्ताधिमन्थ कहलाता है।

अधिमन्थ की साध्यासाध्याता—श्लेष्मज अधिमन्थ उचित चिकित्सा के अभाव में तथा मिथ्याहार-विहार के कारण एक सप्ताह में, रक्तज अधिमन्थ पाँच दिन में, वातिक अधिमन्थ छः दिनों में, और पैत्तिक अधिमन्थ तत्काल ही दृष्टि को नष्ट कर देता है।

सशोफपाक—नेत्र में खुजली, चिपचिपाहट, आँसू बहना, पके हुए गूलर के समान नेत्र का दिखाई देना। नेत्र में जलन, रगड़, ताम्र वर्णता, शोफ, सुई चुभने के समान चुभन, गुरुता, कभी उष्ण तथा कभी शीतल और पिच्छिल स्राव का बार-बार निकलते रहना, संक्षोभ होना और पाक होना ये सशोफ नेत्र पाक के लक्षण माने गये हैं।

अशोफपाक—सशोफपाक के समान लक्षण होते हैं—अन्तर यह है कि इसमें शोथ नहीं होता। चिकित्सा भी समान है।

हताधिमन्थ—जब अधिमन्थ रोग की उपेक्षा की जाने लगती है तब शिराओं में सञ्चित होने वाली वायु कुपित होकर नेत्र को शुष्क कर देती है। यह असाध्य रोग माना जाता है, इसको हताधिमन्थ माना गया है। इसमें नेत्र गोलक नेत्र गुहा से बाहर को उभरा हुआ दिखाई देने लगता है। यह शिरा-स्थित वायु के कारण होता है और असाध्य माना गया है। एलोपैथी में इसको Sinking of the eye ball कहते हैं।

वातापर्याय—जब व्यक्ति मिथ्या आहार-विहार करता है तो उससे प्रकुपित हुई वायु, क्रम से कभी पक्ष्मों मे और कभी नेत्रों में स्थित होकर घूमती रहती है और पीड़ा उत्पन्न करती है। अत: इसको 'वातापर्याय' रोग माना गया है।

शुष्काक्षिपाक—जब नेत्र और पक्ष्म संकुचित, छूने में रूक्ष, कठोर तथा देखने में धुंधलापन दिखलाई पड़े और आँखें खोलने में भारी कष्ट का अनुभव होता हो तो इस रोग का नाम 'शुष्काक्षिपाक' माना है।

अन्यतोवात—जब अधिमन्थ बहुत पुराना हो जाता है और नेत्र के किसी भाग की नाड़ी विशेष के शुष्क होने अथवा विकृत होने से मन्या, ग्रीवा तथा पार्श्व की नाड़ियों में और कर्ण, सिर, हनु (ठोड़ी) नाड़ियों में से किसी के अथवा सिर के पिछले भाग में कुपित हुई वायु जब भृकुटी अथवा नेत्र म बहुत अधिक पीड़ा को उत्पन्न कर देती है, तब उसको 'अन्यतोवात' नामक रोग माना जाता है।

अम्लाध्युषित दृष्टि—अम्ल द्रव्यों के अति सेवन से अथवा विदाही पदार्थों के सेवन से पित्त कुपित होकर, नेत्र को चारों ओर से आवृत कर लेता है, और वह आवरण रक्त वर्ण, अथवा नील वर्ण का होता है, और नेत्र में शोथ भी हो जाता है। उस रोग को 'अम्लाध्युषित दृष्टि' कहते हैं।

सिरोत्पात—जब रोगी के नेत्र में किसी वेदना के अथवा वेदना के साथ, ताम्र वर्ण की रेखाएँ उत्पन्न हो जाएँ और कुछ समय के पश्चात् सम्पूर्ण नेत्र चारों ओर से लाल वर्ण का हो जाए तो उसको 'सिरोत्पात' रोग कहते हैं। एलोपैथी में इस रोग को Hyperemia of Conjunctive कहते हैं।

सिराप्रहर्ष—यदि अज्ञानतावश सिरोत्पात नामक रोग की उपेक्षा की जाती रहे तो 'सिराप्रहर्ष' नामक रोग उत्पन्न हो जाता है। इस रोग की बीमारी में नेत्रों से ताम्र वर्ण का, गाढ़ा, स्वच्छ रक्त प्रवाहित होता रहता है। रोगी की देखने की सामर्थ्य प्रायः नष्ट हो जाती है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञानवादी इसको रक्त विकृति से उत्पन्न होने वाला साध्य रोग मानते हैं और इसको Acute Orbital Cellulitis कहते हैं।

दृष्टिगत रोगों का वर्णन—मानव की दृष्टि के भीतर बारह प्रकार के रोग माने गए हैं। इनमें छः प्रकार के लिंगनाश अर्थात् तिमिर की अवस्था विशेष माने गए हैं। शेष पित्त विदग्ध दृष्टि धूमदर्शी, ह्रस्व जाड्य, नकुलान्ध्य, कफ विदग्ध दृष्टि और गम्भीरिका ये कुल बारह रोग दृष्टिगत माने गए हैं।

दृष्टि—मसूर की दाल के समान आकृति वाली, पाँचों महाभूतों के सार-भाग से निर्मित, जुगनू, चिनगारी और अग्नि के कण के समान चमक वाली और कभी न नष्ट होने वाले तेजो भागों से व्याप्त, परन्तु बाहर से देखने पर केवल छिद्र के समान दीखने वाली शीतल आहार, विहार का उपशय मानने वाली दृष्टि नेत्र विशारदों ने स्वीकार की है।

दृष्टिगत रोग—दृष्टि का आश्रय लेकर उत्पन्न होने वाले रोगों में छः प्रकार के लिंग नाश तथा पित्त निदग्ध दृष्टि, धूमदर्शी आदि केवल बारह रोग माने गए हैं। इनमें सर्वप्रथम पटलों में होने वाले तिमिर का वर्णन किया जाता है।

प्रथम पटलगत तिमिर—जब मनुष्य के नेत्र के प्रथम पटल में पहुँच करके दोष ठहर जाते हैं तब वे विकृत हुए दोष शिराओं के मार्ग से होकर नेत्र के भीतर के भाग में प्रविष्ट होकर विकार को जन्म देते हैं, अतः जब रोगी सभी पदार्थों को कुछ धुँधले रूप में देखने लगता है। एलोपैथी में इसको (Progressive Cataract) के साथ सम्बद्ध किया गया है।

द्वितीय पटलगत तिमिर—दूसरे पटल में विकृत दोषों के उपस्थित हो जाने पर दृष्टि बहुत अधिक बेचैन सी रहने लगती है। मक्खी, मच्छर, बाल, जाले, मण्डल, पताकाएँ, मृगतृष्णा, कुण्डल, हिलते हुए प्रकाशित द्रव्य, वर्षा,

बादल, अँधेरा आदि विभिन्न वस्तुएँ दिखाई देने लगती हैं। जब यह अवस्था अधिक बढ़ जाती है, तब रोगी के समीप के रूपों की दूरी और दूरस्त रूपों को समीपस्थ देखने लगना है। यह दृष्टि का विभ्रम कहलाती है, ऐसा रोग प्रयत्न करने पर भी सुई का छिद्र नहीं देख पाता। धागा पिरोने का काम नहीं हो सकता।

तृतीय पटलगत तिमिर—तीसरे पटल में दूषित दोष के अवस्थित हो जाने पर रोगी ऊपर को तो देख सकता है। महान् वस्तुओं को भी ढका हुआ सा देख सकता है। कान, नाक और आँखों वाले को भी अंगहीन देख सकता है। जिस दोष अथवा जैसे दोष की प्रधानता होगी, तदनुसार ही दृष्टि का वर्ण हो जाता है। यदि नेत्र भाग के नीचे वाले स्थान पर दोष की स्थिति हुई तो पास की वस्तुओं तथा ऊपर के भाग में दोष होने पर दूरस्थ वस्तुओं, और यदि दृष्टि के पार्श्व भाग में दोष की स्थिति है तो पार्श्व भाग की वस्तुओं को रोगी नहीं देख पाता। यदि दोष चारों ओर व्याप्त है तो वस्तुओं को परस्पर जुड़ा हुआ देखता है। यदि दृष्टि के मध्य भाग में दोष है तो रोगी एक दो भागों में देखता है। यदि दोष दो भागों में विभक्त है तो एक ही को तीन भागों में देखता है। यदि दोष की स्थिति अव्यवस्थित है तो एक ही वस्तु को अनेक रूपों में देखता है। यही अवस्था वस्तुतः तिमिर की है।

चतुर्थ पटलगत तिमिर, लिंगनाश, नीलिका और काँच—जब दोष चतुर्थ पटल में पहुँच जाता है तो वह दृष्टि को पूर्ण रूप से ढक लेता है। अतः इस अवस्था को 'लिंग नाश' कहा जाता है। अर्थात् देखने की शक्ति का नाश हो जाता है। यह अवस्था पूर्ण रूप से हुई तो सारा जगत रोगी को अन्धकार पूर्ण दिखाई देता है और यदि दोष अधिक वृद्धि को प्राप्त हुआ हो तो रोगी को प्रकाश का ज्ञान तो हो जाता है जैसे अग्नि, चाँद, सूर्य, बिजली, नक्षत्र तथा अन्य चमकीले पदार्थ उसे दीखते हैं किन्तु स्पष्टतः नहीं। अतः इस दशा में इस रोग का नाम लिंग नाश, नीलिका और काँच है। आधुनिक मत में इसी को कैटरेक्ट (Cataract) कहते हैं। देशी भाषा में इसी को 'मोतिया बिन्दु' कहते हैं।

दोषानुसार तिमिर—वातिक तिमर में मैले, गुलाबी, टेढ़े-मेढ़े और घूमते हुए से रूप दिखाई देते हैं। पित्तज तिमिर में रवि. जुगनू, विद्युत. इन्द्रधनुष आदि के समान विचित्र और नीले तथा काले रूप दिखाई देते हैं। कफज

तिमिर में स्निग्ध, श्वेत, चँवर, बादल सभी सफेद देखता है। छोटे पदार्थों को अधिक मोटा देखता है। सभी पदार्थों को जल में डूबा हुआ-सा देखता है। आकाश में बिना बादलों के बादल देखता है। रक्तज तिमिर में प्रत्येक वस्तु लाल, हरित वर्ण, अन्धकार पूर्ण, श्याम वर्ण युक्त, कृष्ण तथा धुएँ से युक्त देखता है। त्रिदोष तिमिर में चित्र-विचित्र, चारों ओर से घिरे हुए, एक को अनेक रूपों में, अनेकों को एक रूप में, एक को अनेक अथवा दो भागों में विभक्त देखता है। अंगहीन अथवा अवयवहीन वस्तुओं को देखता है। संसर्गज तिमिर अथवा परिम्लायि काँच रोग में पित्त और रक्त-तेज के साथ मिलकर काम करते हैं। अत: कभी-कभी और पीला-पीला अथवा उदित सूर्य के समान लाल वर्ण को देखता है। वृक्षों पर बिखरे हुए ओसकण, जुगनू अथवा सूर्य की किरणें उसे दीखती हैं।

पित्तज परिम्लापि—रक्त के तेजो भाग से उत्पन्न यह रोग होता है; इसमें दृष्टि का आकार मोटा होता जाता है दृष्टि मण्डल म्लान हो जाता है और कुछ नील वर्ण भी हो जाता है। कभी-कभी दोषपक्ष होने पर रोगी देखने भी लगता है।

पित्त विदग्ध दृष्टि—अपथ्य आहार, विहार करने से दूषित पित्त दृष्टि में पहुँचकर दृष्टि मण्डल को पीला वर्ण वाला बना देता है। अत: रोगी सभी को पीला देखता है। यह स्थिति तृतीय पटल में हुई तो रोगी को दिन म नहीं दीखता, अत: शीत प्रभाव के समय रात्रि में वह देखने लगता है क्योंकि तब पित्त का प्रभाव क्षीण हो जाता है। इसको एलोपैथी में Day-blindness कहते हैं।

कफ विदग्ध दृष्टि—कफ के प्रयोग के कारण नेत्र विकृति वाला रोगी सभी वस्तुओं को सफेद देखता है। तीनों पटलों के कफ के स्थित हो जाने से नक्तान्ध्य भी हो जाता है। दिन में सूर्य की गर्मी के कारण कफ के विलयन हो जाने पर रोगी देखने लगता है। आजकल की भाषा में इसको Degenerative disease of Retina (रतौन्धी) कहते हैं।

धूमदर्शी—शोक, ज्वर, शारीरिक श्रम तथा शिरोभिताप आदि कारणों से दृष्टि के अभिहित हो जाने पर रोगी सभी पदार्थों को कुहरे से ढका हुआ देखता है।

ह्रस्व जाड्य—यह नक्तान्ध्य का ही एक भेद है। किन्तु इसकी असाध्या-

वस्था को ह्रस्व जाड्य कहते हैं। इस रोग में रोगी दिन में बहुत कठिनता से देखता है और स्वाभाविक पदार्थों को भी छोटे आकार में देखता है। आधुनिक मत से इसका समावेश Night-blindness में होता है।

नकुलान्ध्य—तीनों दोषों से घिरी हुई जिस व्यक्ति की दृष्टि नकुल की दृष्टि के समान चमकती हो उसको नकुलान्ध्य कहते हैं, रोगी इसमें रात्रि में सर्वथा ही नहीं देख सकता किन्तु दिन में चित्र-विचित्र रूपों को देख सकता है।

गम्भीरिका— वातज विकार जब दृष्टि को आक्रान्त कर लेता है तब वह विकृत तथा संकचित हो जाता है। किन्तु नेत्र गोलक भीतर को धँस जाता है। तीव्र वेदना होती है।

सनिमित्तक और अनिमित्तक लिंगनाश—सनिमित्तक लिंगनाश सिर अभिताप से उत्पन्न होता है और उसमें अभिष्यन्द के लक्षण विद्यमान रहते हैं। अनिमित्तक लिंगनाश में निम्न कारण माने गए हैं; जैसे—देवता, ऋषि, गन्धर्व, दिव्यसर्प आदि किसी भास्वर पदार्थ को देखना। इस रोग में दृष्टि अपनी असली स्थिति से विशेष चमकने लगती है और उसका वर्ण प्राकृतिक तथा मल आदि से रहित अतीव स्वच्छ होता है।

अभिघातज लिंगनाश—किसी भी प्रकार की चोट लग जाने पर, जब मनुष्य की दृष्टि फट जाती है, तब बड़ा दुःख देती है, अथवा नष्ट ही हो जाती है।

प्रश्न—नेत्र रोगों की साध्यासाध्यता बताते हुए उसकी चिकित्सा लिखिए।

उत्तर—

नेत्र रोग साध्यासाध्यता विचार—नेत्र के सारे छिहत्तर रोगों में छेद्य रोग ग्यारह होते हैं। लेख्य नौ माने गए हैं। भेद्य रोग पाँच माने गए हैं। वेध्य रोग पन्द्रह हैं। अशस्त्र कृत्य रोग बारह होते हैं। वाह्यज रोग दो और अशस्त्र कृत्य तीन माने गये हैं। सात रोग याप्य माने गए हैं। पंद्रह रोग असाध्य माने गए हैं। दो आगन्तुक संज्ञक रोग असाध्य माने गए हैं। कुछ लोग इनको याप्य मानते हैं। अशोवर्त्म, शुष्कार्श, वर्त्मार्बुद, शिरापीड़िका, शिराजाल, और पाँच प्रकार का अर्म तथा पर्वणिका ये ग्यारह छेद्य रोग हैं। उत्संगिनी, बहलवर्त्म, कर्दववर्त्म, श्याववर्त्म, बद्धवर्त्म, क्लिष्टवर्त्म, पोथकी, कुम्भिका तथा वर्त्मशर्करा ये नौ रोग लेख्य माने गये हैं, श्लेष्मोपनाह, लगण, विषवर्त्म,

कृमि जन्यग्रन्थि, और अञ्जन नामिका ये पाँच भेद्य रोग हैं। सिरोत्पात, सिराप्रहर्ष, सशोफ नेत्र पाक, अशोफ नेत्र पाक अन्यतोवात, पूयालस, वातपर्याय, चार प्रकार के अभिष्यन्द और चार ही प्रकार के अधिमन्थ ये पन्द्रह प्रकार के वेद्य रोग हैं। शुष्काक्षि पाक, कफ विदग्ध दृष्टि, पित्त विदग्ध दृष्टि अम्लाध्युषित, अव्रणशुक्र, अर्जुन, पिष्टका, अक्लिन्निवर्त्म धूमदर्शी, शुक्तिका, प्रक्लिन्न वर्त्म, बलास ग्रथित ओर आगन्तुक दो रोग, ये सभी अशस्त्र कृत्य रोग माने गए हैं। छह प्रकार के कांच रोग (वातिक, पैत्तिक, कफज, रक्तज, त्रिदोषज और परिम्लायि) लौर सातवाँ पक्ष्मकोप इनको याप्य माना गया है। वातज हताधिमन्थ, निमिष, गम्भीरिका और वातहत वर्त्म, पैत्तिक ह्रस्व जाड्य जलस्राव, कफजश्राव चार रक्तज श्राव, अजकाजात, शोणिताशं सव्रण शुक्र, त्रिदोषज पूयाश्राव, नकुलान्धय, अक्षिपाकात्यय तथा अलजी, सनिमित्तक और अनिमित्तक लिंग नाश ये सभी असाध्य माने गए हैं।

अभिष्यन्द चिकित्सा—अभिष्यन्द तथा अधिमन्थ के रोगी को सर्वप्रथम पुराणघृत स्नेहन कर्म करके, स्वेदन कार्य करें। इनके अनन्तर उपनासिका, ललाट और अपाङ्ग प्रदेश की शिरा का यथा शास्त्र विधि वेदन कराके रक्त मोक्षण करना चाहिए। इसके अनन्तर स्नेहपान कराके विरेचन क्रिया करनी चाहिए। विरेचन के पश्चात् स्नेहवस्ति, अथवा निरूह बस्ति की चिकित्सा की जानी चाहिए। स्थानीय उपचारों में तर्पण, पुटपाक, धूम्रपान, अश्च्योतन, नस्य, स्नेह-परिषेक तथा शिरोबस्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए तथा प्रदेश और अभ्यङ्ग का भी उपयोग होना चाहिए।

अन्यतोवात और वातपर्याय की विशेष चिकित्सा विधि—इन दोनों ही रोगों में भोजन से पहले घी पिलाना चाहिए अथवा भोजन के साथ दूध भी दिया जा सकता है और फिर आकाशबेल, कपित्थ, वृहत्पंचमूल की औषधियों का कल्क तथा क्वाथ एवं दुग्ध और केकड़े का माँसरस, उचित मात्रा से देना चाहिए। वीरतर्वादिगण की औषधियों के द्वारा भी दुग्ध और घृत सिद्ध करके प्रयोग करना चाहिए।

शुष्काक्षिपाक चिकित्सा—सेंधा नमक, दारूहल्दी और सौंठ इनका सूक्ष्म चूर्ण, बिजौरे, नीबू के रस में घोंट कर सुखाकर, घी में मिलाकर एक शीशी में भरकर रख देना चाहिए। जब लगाना हो तभी इसको दूध में अथवा जल में मिलाकर नेत्रों में अञ्जन करना चाहिए। घृतपान भी करना चाहिए। नेत्रों

का तर्पण भी आवश्यक कर्म है। जीवनीय घृत तथा अणु तेल का प्रयोग करना, नस्य में हितकारी है। नमक डालकर शीतल जल से नेत्र को सिंचन करना चाहिए। हल्दी या दारूहल्दी से घृत सिद्ध करके, उसमें कुछ नमक मिलाकर अञ्जनादि के रूप में सेवन करना चाहिए। अनूप पक्षियों का मांस रस भी सेवन करना चाहिए। उन प्राणियों की वसा में सेंधव लवण तथा सोने का चूर्ण मिलाकर अंजन किया जाता है।

पित्ताभिष्यन्द की चिकित्सा—पैत्तिक अभिष्यन्द और अधिमन्थ इन दोनों में रक्त विस्रावण विरेचन आदि क्रियाएँ करनी चाहिए। पित्तजन्य विसर्प के समान सेक, आलेप, नस्य, अंजन आदि उपाय किए जाने चाहिए। उभी प्रकार की पित्त नाशक क्रियाएँ की जानी चाहिए। नागरमोथा, समुद्र फेन, कमल, वायविडङ्ग, इलाइची, आंवला और विजयसार इनकी रस क्रिया करके अंजन करना चाहिए। मुलहटी, लोध, मुनक्का, शर्करा और कमल का चूर्ण बनाकर रेशमी कपड़े अथवा अलसी के कपड़े में बाँधकर पोटली बनाकर सभी दुग्ध में भिगो-भिगोकर आश्च्योतन करना चाहिए। अम्लाध्युषित और शुक्तिका रोग में भी शिरा मोक्षण के अतिरिक्त सेक, लेप, नस्य, आश्च्योतन आदि चिकित्सा की जानी चाहिए। धूमदर्शी को घृतपान करना चाहिए। पित्तनाशक सभी चिकित्साएँ अथवा पैत्तिक विसर्प की सारी चिकित्सा विधि इस पर करें।

श्लेष्माभिष्यन्द तथा अधिमन्थ चिकित्सा—कफ की वृद्धि करके स्वेदन, अवपीड़न, नस्य, अंजन घृतपान, सेक, प्रलेप, कवलग्रह रूक्ष औषधियों से बने क्वाथ आदि के आश्च्योतन, रूक्ष औषधियों के बने पुटपाक तथा अपतर्पण का प्रयोग किया जाना चाहिए। अपतर्पण क्रिया के पश्चात् तीन-तीन के बाद प्रातःकाल में महातिक्तक घृत को पीना चाहिए। सभी प्रकार के आहार और विहार कफ़नाशक होने चाहिए। स्वेदनादि के लिए नेत्र वाला, सोंठ, देवदारु और कूठ का प्रयोग करना चाहिए।

बलास ग्रथित चिकित्सा—वमन विरेचन, शिरोविरेचन और रक्तमोक्षण के द्वारा शरीर का संशोधन करके क्षाराञ्जन का प्रयोग करें।

क्षाराञ्जन विधि—अपक्व जौ लेकर सात दिन तक गो दुग्ध में भावना दें। फिर आस्फोतक कपित्थ, बिल्व, निर्गुण्डीपत्र और चमेली के फूलसम भाग में मिलाकर फूँक दें और छः सेर पानी में घोल करके उसे इक्कीस बार छानकर एक घण्टे के लिए निथरने के लिए शान्त रख दें। पात्र काँच

या लोहे की कढ़ाई लेनी चाहिए। फिर इसमें सैन्धव लवण, तुत्थ और गोरोचन ये सब बत्तीसवें भाग के तुल्य मिलाकर, पकाकर सुखा लेना चाहिए।

पिष्टक चिकित्सा—सोंठ, पीपल, नागरमोथा, सैन्धव लवण और श्वेत मिर्च समभाग में सबका सूक्ष्म चूर्ण करके नीबू के रस में मदन करके, सुखा करके पिष्टक रोग में अञ्जन करना चाहिए।

प्रक्लिन्नवर्त्म की चिकित्सा—हीराकशीश, समुद्रफेन, रसान्जन, चमेली की कलियाँ समभाग लेकर मधु के साथ घोंट पीसकर प्रक्लिन्नवर्त्म रोग में अंजन करने से नेत्र कण्डु को लाभ होता है।

नेत्र कण्डु चिकित्सा— सैन्धव लवण, श्वेत मिर्च तथा मैनसिल सबको समभाग लेकर बिजौर नीबू के रस में मर्दन करके सुखाकर एक बार में अंजन करने से नेत्र कण्डु को लाभ होता है।

रक्ताभिष्यन्द व अधिमन्थ की चिकित्सा—रक्तज अभिष्यन्द, अधिमन्थ, सिरोत्पात और शिरा प्रहर्ष इन चारों ही रोगों में कौम्भ घृत (सौ वर्ष पुराना घृत) मांस रस का सेवन करना हितकारी होता है। स्नेह, संशोधन कर्म इससे किया जाता है। शिरोमोक्षण के द्वारा दूषित रक्त का मोक्षण किया जाना चाहिए। वातादि दोषों के नाश के लिए त्रिवृतादि विरेचक द्रव्यों का कल्क और क्वाथ लेकर घृत सिद्ध करके मिश्री मिलाकर विरेचन करना चाहिए। शिरो विरेचक द्रव्य सुखाकर, उनके सिर का संशोधन करना चाहिए। इसके अनन्तर प्रदेह नस्य, धूम्रपान, परिषेक, आश्च्यतन अभ्यंग, तर्पण और स्निग्ध पुटपाक का प्रयोग करना चाहिए। सिरोत्पात रोग में रसांजन घृत और मधु मिलाकर अंजन करना चाहिए। शिरा प्रहर्ष में फाड़ित, अर्थात् राव को शहद में मिलाकर अंजन कराना चाहिए। अर्जुन रोग की शान्ति के लिए पित्ताभिष्यन्द की अपूर्ण चिकित्सा विधि की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त इन रोगों में, ईख, मधु, मिश्री, दूध, दारूहल्दी, मधुयष्टी तथा सैन्धव लवण को पीस कर नेत्र के परिषेक और अंजन कर्म में प्रयुक्त करना चाहिए। अम्ल द्रव्यों के स्वरस से आश्च्योतन करना चाहिए और किसी लेख्य अंजन का भी प्रयोग करें।

सव्रण शुक्र चिकित्सा—इसमें सिरस के बीच कालीमिर्च, पीपल तथा सेंधा नमक समभाग चूर्ण करके, उससे शुक्र पर घर्षण करना चाहिए। वलास ग्रसित की चिकित्सा भी यहाँ पर की जानी चाहिए।

नेत्रपाक चिकित्सा—सर्वप्रथम दोनों ही नेत्रपाकी में स्नेहन एवं स्वेदन कराके सिरा वेध के द्वारा रक्त मोक्षण कराना चाहिए। फिर वहाँ पर सेक, आश्चोतन, नस्य तथा पुटपाक का भी प्रयोग करना चाहिए।

पूयालस रोग में—रक्त मोक्षण और उपनाह दोनों का प्रयोग करना चाहिए। इनके अतिरिक्त नेत्रपाक नाशक सम्पूर्ण विधि जैसे अन्तः शुद्धि और बाह्य शुद्धि करने वाली शास्त्रानुसार क्रिया की जानी चाहिए।

प्रक्लिन्नवर्त्म रोग में—सर्वप्रथम स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, शिरोविरेचन और रक्तमोक्षण आदि सभी उपायों का शरीर के आन्तरिक और बाह्य संशोधन के लिए प्रयोग करके दोषों का नाश करके तथा दोष तर्पण आदि क्रिया करें और बाद में सेक, आश्च्योतन, अंजन, नस्य तथा धूम्रपान आदि उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

लेख्य रोगों की चिकित्सा का वर्णन—सर्वप्रथम रोगी को स्नेहन कराके फिर वमन कराएँ और फिर विरेचन देकर, वायु, धूप आदि से रहित स्थान पर सीधा लिटाकर, कर्मचारियों के द्वारा चारों ओर से दृढ पकड़कर हाथ और पैर तथा छाती पर पूरा नियन्त्रण रखकर वाम हस्त के अंगुष्ठ और अंगुली के बीच में वर्त्म को पकड़कर उलटकर सुखोष्ण जल से प्राप्त हुए कपड़े से स्वेदन करना चाहिए फिर उस उलटे हुए वर्त्म को, कोमल वस्त्र से ढके हुए अंगूठे और अंगुली से मजबूत पकड़ करके, उसे प्लोत से पोंछकर मण्डलाग्रशस्त्र से पंछना लगाएँ। फिर शेफालिका आदि से उसका लेखन कर्म करें। रक्त के थम जाने पर पुनः स्वेदन करें, फिर मैनशिल, कासीस, सोंठ, मिर्च, पीपल, रसाञ्जन, सैन्धव लवण इनको पीसकर कपड़छन करके शहद में मिलाकर प्रतिसारण करें और थोड़ी ही देर के बाद कुछ उष्ण जल से उस वर्त्म भाग को धो डालना चाहिए। फिर उस पर गो घृत से उपचार करें। रुई आदि रख करके पट्टी बाँध देनी चाहिए। तीन दिन के बाद नेत्र का स्वेदन, अवपीडन आदि करना चाहिए। पुनः शास्त्र नियमानुसार पट्टी खोलना, नेत्र को धोना, दवाई लगाना आदि क्रियाएँ यथायोग्य समय यथोचित रूप से करते रहना चाहिए।

सम्यग् लिखित वर्त्म के लक्षण—रक्त का न बहना तथा अन्य स्राव आदि न बहता हो, तथा कण्डू व शोधन हो, वर्त्म का स्थान समान हो, नख के समान वर्ण हो तो वह सम्यग् माना जाता है।

दुर्लिखित वर्त्म के लक्षण— आँख में लाली, क्षत स्थान से गाढ़ा रक्त बहना, नेत्र में लालिमा, शोथ, स्राव, आँखों के आगे अन्धकार छा जाना, रोग में लाभ न होना, वर्त्म का काला पड़ जाना, भारी, स्तब्ध, कण्डू हर्ष और कीचड़ से युक्त होना आदि पाया जाता है। ऐसी अवस्था में सर्वप्रथम स्नेहन कर्म करके फिर बाद में लेखन कर्म करना चाहिए।

अति लिखित वर्त्म के लक्षण—यदि वर्त्म का लेखन अधिक हो गया होगा तो पलक पलट जाएगी, पक्ष्म भी जटिल होंगे अथवा टूट जायेंगे, वेदना तथा स्राव की भी अधिकता होगी। इसमें भी स्नेहन, स्वेदन और वातनाशक चिकित्सा क्रम करना चाहिए।

भेद्य रोगों की चिकित्सा विधि—जिस ग्रन्थ में स्वेदन करके पकी हुई गांठ का छेदों सहित भेदन करके सैन्धव लवण, कासीस, पोपल, पुष्पाञ्जन, मैनसिल और इलायची के सूक्ष्म चूर्ण का अवचूर्णन अथवा बुरकना चाहिए। बाद में घृत और मधु का लेप करके भली-भाँति बन्धन कर देना चाहिए। लगण रोग में सर्वप्रथम व्रीहिमुख शस्त्र से स्वेदन करके गोरोचन, जवाखार, नील; तुत्थ, पीपल तथा शहद का प्रतिसारण करना चाहिए। यदि लगण की ग्रन्थि बन गई हो तो भेदन करके क्षार कर्म तथा अग्नि कर्म क्रमशः करना चाहिए। अन्त में व्रणवत् उपचार करना चाहिए। अंजन नामिका में प्रथम स्वेदन करके यदि वह स्वयं ही भिन्न हो गया हो तो दबाकर सम्पूर्ण पूय को निकाल देना चाहिए और फिर मनःशिला, इलायची, तगर, सैन्धव लवण, तथा मधु को मिलाकर प्रतिसारण करें। यदि वह स्वयं भिन्न न हुई हो तो शस्त्र-कर्म से भिन्न करके रसांजन और मधु को प्रतिसारण करके दीपशिखा के ऊपर से उपाड़े हुए उष्ण अंजन को लगाएँ। कफ जन्य उपनाह में शस्त्र के द्वारा भिन्न अर्थात् फाड़ कर पीपल, शहद तथा सैन्धव लवण का प्रतिसारण करना चाहिए। महान् तथा वेदना रहित उपनाह में मण्डलाग्र शस्त्र के द्वारा लेखन करना चाहिए। रक्तज उपनाह में पछना कर्म करके बाद में प्रतिसारण आदि कर्म करना चाहिए।

छेद्य रोगों की चिकित्सा विधि—सर्व-प्रथम रोगी को स्निग्ध भोजन दिया जाना चाहिए अथवा पहली रात्रि को स्नेहपान कराना चाहिए और दूसरे दिन भोजन कराके रोगी को यत्नपूर्वक बिठलाकर सूक्ष्म लावणिक चूर्ण को आंख में अंजन विधि से लगाकर नेत्र को क्षुभित करें अर्थात् लाल कर दें। फिर उस अर्म के स्थान पर स्वेदन करना चाहिए, उसके बाद उस स्थान को

चलाना चाहिए। यदि अर्म क स्थान पर झुर्रियाँ पड़ गई हों तो वहाँ पर बड़िशयन्त (Lock) लगा देना चाहिए। फिर रोगी को अपाङ्ग की ओर देखने के लिए कहें और वैद्य उसी समय रोगी के सामने बैठकर मुचुण्डी (Forceps) से उसे फूले हुए अर्म को पकड़कर ऊँचा उठाकर अथवा सुई में धागा पिरोकर, उसे अर्म के नीचे डालकर ऊपर उठाएँ। यदि क्रिया धीरे से की जानी चाहिए। यदि जल्दी से उठाया गया तो अर्म टूट जाएगा। रोगी के ऊपर तथा अधो भाग के वर्त्म को भली प्रकार से दृढ़ता से पकड़ना चाहिए अन्यथा शस्त्र कर्म करते समय शस्त्र प्रयोग में बाधा आ पड़ती है। वर्त्म के काटने का भय बना रहता है। इस प्रकार नेत्रगोलक से शिथिल हुए अर्म को तीन बड़िश यन्त्रों से पकड़ कर, कुछ ऊँचा उठा कर तीक्ष्ण मण्डलाग्र शस्त्र के द्वारा काट देना चाहिए। कृष्ण मण्डल और शुक्ल मण्डल तथा अन्य सम्पूर्ण भाग से जब यह अर्म मुक्त हो जाए, तब उसे कनीनिका की ओर लाकर, कनीनिका को बचाते हुए, काट देना चाहिए। अर्म को काटते समय उसका चौथाई मांसल भाग नेत्र गोलक पर लगा रहने देना चाहिए। ऐसा करने से नेत्र में या दर्शन शक्ति में कोई नया उपद्रव नहीं होता। कनीनिका का वध अर्थात् छेदन हो जाने से रक्त बहने लगता है अथवा नासूर होने की संम्भावना रहती है। यदि हीन छेदन किया गया तो वह अवशिष्ट अर्म फिर से शीघ्र ही बढ़ जाता है। अर्म का पूर्ण रूप से छेदन करके बाद में जवाखार, सोंठ, मिर्च, पीपल तथा लवण के चूर्ण से नेत्र के छिन्न अर्म के स्थान पर प्रतिसारण करना चाहिए, बाद में स्वेदन करके वहाँ पर कोमल रुई रखकर बन्धन कर देना चाहिए। इस व्रण बन्धन के समय दोष, ऋतु, रोगी के बल तथा काल का ज्ञाता चिकित्सक विचारपूर्वक जैसा उचित, हितकारक समझे वैसे स्नेह को लगाकर व्रणवत उपचार क्रिया करे। तीन दिन बाद पट्टी खोलकर हाथों को गरम करके रोगी के नेत्रों पर रख कर स्वेदन करे और शोधन, रोपण आदि चिकित्सा करे। यदि अर्म का छेदन होने से शूल आदि उपद्रव उत्पन्न हो गया हो तो करंज के बीज, आँवला और मधुयष्टी के कल्क तथा हाथ से सिद्ध दुग्ध में मधु मिलाकर, उसे दिन में दो बार नेत्रों का आश्च्योतन कर्म करना चाहिए। यदि अर्म का कुछ भाग शेष रह जाय तो उसे लेख्य-अंजन लगाकर नष्ट कर देना चाहिए। यदि अर्म के बीच छोटा-सा दही के समान वर्णमाला श्वेत, नीला, लाल, अथवा

धूसर वर्ण का पतले स्तर का हो जाय तो उसकी चिकित्सा शुक्र की भांति की जानी चाहिए।

सम्यक् छिन्न अर्म के लक्षण—यदि अर्म का भली-भाँति छेदन हो गया हो तो नेत्र गोलक का वर्ण शुद्ध अर्थात स्वाभाविक हो जाता है। नेत्र अपनी संकोच, प्रसार और अवलोकन आदि क्रियाएँ सुखपूर्वक करने लगता है। म्लानता दूर हो जाती है। अन्य शूल, शोथ आदि उपद्रव भी शान्त हो जाता है।

शिरा जाल की चिकित्सा—इस रोग में जो शिराएँ कठिन अथवा मोटी-मोटी हों उनको बड़िश यंत्र से पकड़ के ऊपर उठाकर मण्डलाग्र शस्त्र से काट देना चाहिए। शेष चिकित्सा अर्मवत की जाती है।

शिराजापिड़िका की चिकित्सा—नेत्र की शिराओं में उत्पन्न पिड़िकाएँ यदि औषधि प्रयोग से ठीक न होती हों, तो उनकी चिकित्सा पुनः अर्मवत् की जानी चाहिए। मण्डलाग्रशस्त्र से छेदन किया जाना चाहिए।

पर्वाणिका की चिकित्सा—इस रोग में सर्वप्रथम कृष्ण और शुक्ल भाग के सन्धि प्रदेश में स्वेदन करें, बाद में बडिश से आगे के तृतीयांश भाग को पकड़कर खींच कर रखें और फिर अग्रभाग के भी आधे भाग को काट दें। अधिक न काटें अन्यथा अश्रु नाड़ी हो जाती है। रोग के शेष भाग पर सैन्धव लवण तथा मधु के द्वारा प्रतिसारण करना चाहिए। यदि फिर भी रोग शेष रह गया है तो लेखन चूर्णों का अञ्जन अथवा प्रतिसारण करके चिकित्सा की जानी चाहिए।

वर्त्मार्श, शुष्कार्श, अर्बुद (वर्त्म के भीतर के आश्रय में होने वाले रोगों की चिकित्सा)—इन रोगों का छेदन करने के पहले वर्त्म का स्वेदन करके उसे अंगुली अंगुष्ठ से पकड़कर पलटकर सुई में अग्रभाग से उसे अर्श आदि को मूल भाग में पकड़कर ऊपर उठाकर के तीक्ष्ण मण्डलाग्र शस्त्र से काट देना चाहिए। फिर सैन्धव लवण, कासीस तथा पीपल का चूर्ण प्रतिसारित करना चाहिए। रक्त बन्द होने के उपरान्त वर्त्म के रोगाक्रान्त भाग को शलाका के द्वारा जला देना चाहिएं। इस पर भी व्याधि का कुछ अंश शेष रह जाने पर क्षार का प्रतिसारण करना चाहिए और तीक्ष्ण वमन व विरेचन देकर उभय मार्ग द्वारा शरीर का उर्ध्व तथा अधः संशोधन करना चाहिए। और यथादोष, अभिष्यन्द में कही हुई चिकित्सा विधि की जानी चाहिए।

शास्त्र कर्म के पश्चात् एक मास तक नियमानुसार आहार-विहार का प्रयोग किया जाना चाहिए।

पक्ष्मकोप की चिकित्सा—इस याप्य रोग को प्रथम संशोधन से उपचापित करें फिर यथा योग्य यवाकृति छेदन, आर्द्र वस्त्र से स्रुति होने वाले रक्त को पोंछना, बाद में रक्त बन्द होने पर कुटिल सुई से एक-एक मूंग के प्रमाण की दूरी पर टांके लगाना, फिर ललाट पर पट्टी बांध कर उसमें सीवन सूत्र को सी देना चाहिए। परन्तु नेत्रों पर पट्टी नहीं बांधनी चाहिए। सीवन प्रदेश पर मधु और घृत की एक कवलिका रखनी चाहिए। यदि सीवन प्रदेश पर पीड़ा होती हो तो न्यग्रोधादिगण की औषधियों के छाल के क्वाथ में दूध मिलाकर सुखोष्ण सेक अथवा उसके रस की धारा गिराते हुए सेवन करना चाहिए। पाँचवें दिन घोड़े के बालों के टांके तोड़कर गैरिक चूर्ण का उस स्थान पर प्रक्षेपण करना चाहिए और यदि इस पर भी यह रोग शान्त न होता हो तो उसके वर्त्म को पलट करके, बलि की अग्नि अथवा क्षार से प्रति-सारण करें। दोष, काल, बल आदि का ध्यान करके ही क्षार आदि का विधान करें।

दृष्टिगत रोगों की चिकित्सा विधि—दृष्टिगत रोगों में धूमदर्शी, पित्त विदग्ध दृष्टि तथा कफ विदग्ध दृष्टि को साध्य माना गया है। ह्रस्व जाड्य, नकुलान्ध्य और गम्भीरिका को असाध्य माना है। शेष छः अरुणादि कांच याप्य माने गए हैं। इसमें धूमदर्शी की चिकित्सा पित्ताभिष्यन्द की भांति ही की जानी चाहिए। पित्त विदग्ध दृष्टि और कफ विदग्ध दृष्टि इन दोनों की भी क्रमशः पित्ताभिष्यन्द और कफाभिष्यन्द की भांति ही चिकित्सा की जानी चाहिए। नस्य, सेक, अंजन, आलेप, पुटपाक, तर्पण और त्रिफलादि घृत एवं त्रिवृतादि घृत का क्रमशः दोनों में प्रयोग किया जाना चाहिए। इन घृतों के अभाव में केवल पुराण घृत का ही प्रयोग किया जा सकता है। दिवान्ध्य और रात्र्यन्ध्य में एवं जामुन के पुष्पों के रस से हरेणुका के चूर्ण को पीसकर मधु और घृत से संयुक्त करके अंजन का प्रयोग करना चाहिए।

याप्य रोगों की चिकित्सा—तिमिर अथवा कांच जो छह याप्य रोग माने गए हैं उनमें सर्वप्रथम शिरा मोक्षण करके दूषित रक्त को निकालने के बाद विरेचन द्रव्यों के कल्क तथा कषाय के द्वारा सिद्ध पुराण घृत का पान कराके विरेचन कराना चाहिए। शेष लंघन विरेचनादि से शरीर का

संशोधन करके नस्य, सेक आदि का प्रयोग करना चाहिए। तिमिर में पुराना घृत, त्रिफला, शतावर, पटोलपत्र, मूंग, आँवला, जौ आदि का आहार करना चाहिए।

साध्यासाध्य तिमिर—प्रथम पटल में आश्रित तथा रोग को प्राप्त नहीं हुआ हो वह तिमिरबह साध्य माना गया है। दूसरे पटल में उतरा हुआ और रोग सहित तिमिर कष्ट साध्य माना गया है। किन्तु तीसरे पटलगत तिमिर असाध्य होता है।

दुष्ट शलाका प्रयोग के दोष—कठोर व खुरदरी शलाका के प्रयोग से नेत्रों में शूल, चारों ओर दोष की व्याप्ति, स्थूल अग्र भाग वाली नेत्रों में व्रण, तीक्ष्ण शलाका से अनेक प्रकार के क्षत, टेढ़ी-मेढ़ी शलाका से नेत्र जल का स्राव, काँपती हुई शलाका से दृष्टि का अवरोध हो जाता है। अतः उक्त दोषों से रहित शलाका का ही प्रयोग करना चाहिए।

प्रशस्त शलाका के लक्षण—जो शलाका लम्बाई में आठ अंगुल और बीच में धागे से लिपटी हुई और मोटाई में अंगुष्ठ के पेट के परिणाम वाली और दोनों अन्तिम भागों पर पुष्प की कलिका के समान स्वरूप की तथा ताम्र, लोह अथवा स्वर्ण से निर्मित हुई शलाका श्रेष्ठ मानी जाती है।

नेत्र तर्पण विधि—प्रथम पूर्व कर्म की दृष्टि से रोगी को वमन और विरेचन कर्म कराके शरीर का संशोधन और नस्य आदि के द्वारा शिरो-विरेचन कराके मस्तिष्क का संशोधन करके किसी शुभ दिवस में भोजन के ठीक परिपाक हो जाने के अनन्तर पूर्वाह्न अथवा अपराह्न में नेत्रों का तर्पण करना चाहिए। धूप, धूल आदि से सुरक्षित स्थान पर रोगी को उत्तान लिटा कर नेत्रों के चारों और आटे से थाँवला-सा बनाकर तर्पण द्रव्य भर देना चाहिए। स्वस्थ पुरुष के लिए पाँच सौ गिनने तक, कफज नेत्र रोगी को छह सौ गिनने तक, पैत्तिक नेत्र रोगी को आठ सौ गिनने तक तथा वातज नेत्र रोगी को एक हजार गिनने तक तर्पण द्रव्य नेत्रों पर धारण कराएँ। वात दोष में एक दिन, अल्प दोष में भी एक दिन मध्यम दोष तथा पित्त दोष में तीन दिन तथा प्रबल दोष और कफ में पाँच दिन, तक तर्पण करना चहिए। ठीक तर्पित नेत्र के होने पर सुख निद्रा, नेत्र निर्मलता आदि गुण होते हैं। अहितर्पित नेत्र में भारीपन, मैलापन, अधिक स्निग्धता, खुजली आदि लक्षण होते हैं। हीन तर्पित में रूक्षता, गंदलापन, आँसू अधिक आना आदि लक्षण

होते हैं और तर्पण योग्य नेत्र में म्लानता, आँख मिचना, शुष्कता, कठोरता आदि लक्षण होते हैं।

तर्पण के अयोग्य अवस्था—जब आकाश में बादल हों, बहुत उष्ण अथवा बहुत शीतल समय हो, चिन्ता, श्रम, भ्रम आदि से मानव युक्त हो, नेत्र में शोथ, राग, वेदना आदि उपद्रव शान्त न हुए हों तो तर्पण नहीं किया जाना चहिए। पुटपाक का विधान भी तर्पण की भाँति ही है। किन्तु पुटपाक की अवधि कफज नेत्र रोगों में एक दिन तक, पित्तज नेत्र रोगों में दो दिन तक और वातज नेत्र रोगों में तीन दिन तक, अथवा लेखन पुटपाक एक दिन, स्नेह पुटपाक दो दिन और रोपण पुटपाक तीन दिन तक करना चाहिए।

शिरोबस्ति विधि तथा धारण काल—सबसे पहले विरेचन के द्वारा अधं शरीर, वमन के द्वारा अर्ध तथा नस्य के द्वारा मस्तिष्क की शुद्धि करके तथा तेल आदि के द्वारा स्नेहन और स्वेद के द्वारा स्वेदन करके सायंकाल के समय तथा रोगानुसार भोजन कराके जानु तक ऊँचे आसन पर सीधा बैठा देना चाहिए। फिर रोगी के सिर पर गाय अथवा भैंस के चर्म से बना हुआ कोष अथवा वस्तिकोष, दृढ़ता से बाँधकर बाद में दोप अथवा रोगानुसार ओषधियों के कल्क और कषाय से स्रुत किए हुए स्नेह से उस बस्ति कोष को भर करके उड़द के आटे से चारों ओर से उस बस्तिकोष और सिर के छिद्र को बन्द करके स्नेह को धारण करना चाहिए। इस शिरोबस्ति को धारण किए जाने की अवधि कफज विकारों के लिए छः हजार तक पित्तज,-विकारों में आठ हजार तक और वात विकारों में दस हजार तक गिनती करनी चाहिए।

शलाका का स्वरूप—सभी शलाकाओं के मुख पर अर्थात् किनारों पर चमेली की कली के समान के आकार वाली मोटाई के मटर के तुल्य तथा आठ अगुल लम्बी और मध्य में पतली तथा भली-भाँति बनी हुई और जो ऊपर से ठीक प्रकार से पकड़ने के योग्य हो, ऐसी होनी चाहिए। यह शलाका ताम्र, स्वर्ण, वैडूर्य आदि की बनी हुई होनी चाहिए।

चूर्णाञ्जन की निर्माण-विधि—बढ़िया सुरमा आठ भाग, ताम्र का चूर्ण या भस्म स्वर्ण और चाँदी के पत्र, सब एक-एक भाग, इन सब ग्यारह भागों को लेकर के अच्छी प्रकार से खरल करें, एक मूषा में बन्द करके तीव्राग्नि पर प्रधमन करके खूब प्रतप्त करके गोबर के रस, गो मूत्र, दही, गाय का घृत, मधु, तेल, पद्य, वसा, मज्जा, एलादिगण की ओषधियों के क्वाथ द्राक्षारस,

गन्ने का रस, त्रिफला क्वाथ, अति शीत गुण प्रधान सारिवादि क्वाथ में पृथक-पृथक् इनमें क्रमश: तीन-तीन बार बुझाना चाहिए। फिर पोटली में बांधकर वर्षा के जल में एक सप्ताह तक डुबाकर रख लें। आठवें दिन जल से निकाल करके सुखा करके खरल कर लें। इसमें मोती, स्फटिक, प्रवाल और काला अनन्त मूल या तगर का सूक्ष्म चूर्ण मिला कर खूब खरल कर लें। यही चूर्णाञ्जन कहलाता है।

भद्रोदय अंजन की विधि—कूठ, चन्दन, एला, तेजपात मुलहटी, सुरमा, मेष शृंगी के पुष्प, तगर, सातों रत्न, कमल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, रक्त कमल इनके फूल, केशर, नागकेशर, खश, पीपल, तुत्थ, मुर्गी के अण्डे के छिलके, दारु हल्दी, हरड़, गोरोचन कालीमिर्च, बहेड़े की गिरी अथवा छाल, छिपकली, सबको सम भाग लेकर भली-भांति से सूक्ष्म चूर्ण करके रख लें। यही भद्रोदय नामक अंजन कहलाता है।

नयनाभिघात के लक्षण तथा चिकित्सा—लाठी, डण्डा, पत्थर आदि किसी भी प्रकार के आघात देने वाले पदार्थ से मनुष्य के नेत्रों में चोट आ जाने पर शोथ, लालिमा, भारी वेदना उत्पन्न हो जाती है अत: वहीं पर नस्य, आलेप, परिषेचन, तर्पण आदि का प्रयोग करना चाहिए और रक्ताभिष्यन्द तथा पित्ताभिष्यन्द में वर्णित चिकित्सा तथा स्निग्ध, मधुर, शीतल उपचार करना चाहिए जिससे दृष्टि में प्रसन्नता हो सके। यह चिकित्सा सद्योजात नेत्रवात की है। एक सप्ताह की चोट हो जाने पर तो वाताभिष्यन्द की चिकित्सा करनी चाहिए।

नयनाभिघात की साध्यासाध्यता—नेत्र के प्रथम पटल में उत्पन्न क्षत साध्य माना गया है। प्रथम तथा द्वितीय दोनों पटलों में उत्पन्न क्षत कष्टसाध्य माना गया है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय पटल में उत्पन्न क्षत को असाध्य माना गया है। अतीवपिच्छिल, अन्त: प्रविष्ट, आंख शिथिल, लटकती हुई अपने स्थान से भ्रष्ट, दर्शन और शक्ति के विनाश से युक्त नयनाभिघात याप्य माना गया है।

कुकूणक—यह रोग स्तन्य अर्थात् दुग्ध के प्रकोप के तथा कफ, वात, पित्त तथा रक्त की विकृति के कारण बालकों के नेत्र वर्त्म भाग में होने वाला यह रोग पृथक् माना गया है। इस रोग में बालक की आंखों में खुजली चलती है। वह नित्य ही नासिका, माथा, आंखों के किनारे रगड़ता है, वर्त्म में शोथ

हो जाता है। प्रकाश में नेत्र खोलना कठिन होता है, आंसू बहते रहते हैं। ऐसी दशा में वहाँ पर जोंक लगाकर रक्त का निर्हरण करना चाहिए। फिर लेखन कर्म करें। फिर त्रिकटु चूर्ण को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिए और शिशु की माता की चिकित्सा की जानी चाहिए। इस रोग में बालक को दूध पिलाकर सैन्धव लवण को मधु के साथ मिलाकर और अपामार्ग के बीजों का चूर्ण मिलाकर चाटना चाहिए, इससे बालक को वमन हो जाएगा।

गुटिकाञ्जन निर्माण विधि—सोंठ, मिर्च, पीपल, प्याज, मुलहटी, सैन्धव लवण, पीपल की लाख, सबको समान भाग लेकर कूटकर जल के साथ खरल करके गुटिकाञ्जन बन लें, यह कुकूणक रोगों में परम हितकारी है।

बालकों के शुल्क गत रोगों की चिकित्सा—गौ के दही में शंख की नाभि और सैन्धव लवण में पीसकर रसाञ्जन पर लेप करके सुखा लें। इस प्रकार एक सप्ताह तक प्रतिदिन एक बार लेप करके सुखाते रहें। फिर पीसकर बत्ती के रूप में बना लें। यह जल के साथ घिसकर बालकों के नेत्रों में लगाना चाहिए।

प्रश्न—आश्चोतन अञ्जन विधि का वर्णन कीजिए।

उत्तर—नेत्र रोगों में प्रयुक्त क्रियाओं में अंजन कितना लोकप्रिय है, यह किसी से छिपा नहीं, परन्तु इतना बोध प्रत्येक को नहीं कि अंजन से पूर्व आश्चोतन करना चाहिए। इससे पूर्व में हम संक्षिप्त आश्चोतन विधि लिखते हैं।

आश्चोतन की विधि यह है कि रोगी को वात रहित स्थान में बैठकर बाएँ हाथ से आंख खोलकर अभिप्रेत पदार्थ में भिगोये रुई के फोये आंख से अंगुल ऊपर रखते हुए दस-बारह बूंद नेत्र में डालनी चाहिये। फिर कोमल वस्त्र से आँख पोंछ कर गुनगुने पानी में भिगोये रुई के फोये से आंखो में स्वेदन करें।

आश्चोतन वातगत कफ अवस्थाओं में थोड़ा गरम करके तथा पित्तावस्थाओं में शीतल आश्चोतन देना चाहिए। चिकित्सक को ध्यान रहे कि अत्यन्त उष्ण और अत्यन्त तीक्ष्ण आश्चोतन से दर्द, रक्तिमा एवं दृष्टि नाश होता है। अत्यन्त शीतल आश्चोतन से नेत्रों में सुई चुभने की-सी पीड़ा, स्तब्धता और शूल होता है।

अति मात्रा आश्चोतन से पलकों में ललाई, पलकों का आपस में चिप जाना तथा कठिनता से खुलना आदि रोग हो जाते हैं।

अत्यन्त आश्चोतन के रोग की वृद्धि होती है और अपरिश्रुत अक्षिसेंच से नेत्र क्षोभ होता है।

अतः युक्तिपूर्वक प्रयुक्त आश्चोतन ही लाभप्रद होता है। अष्टांग हृद सू० आ० २३ में लिखा है—

नेत्र में डाली हुई औषधि आँखों की सन्धि, मस्तक, नासिका और मुख स्रोत में गमन करके उर्ध्वगामी सम्पूर्ण मल को दूर करती है।

सम्पूर्ण प्रकार के नेत्र रोगों में आश्चोतन हितकारी होता है। इससे नेत्र शूल, तोद, कण्डू, घर्ष, अश्रुपतन, दाह एवं शुक्तियाँ आदि जाते रहते हैं।

अञ्जन—आश्चोतन के पीछे अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए। विरेच-नादि से शुद्ध हुए रोगी के वेश में उत्पन्न करने वाला दोष नेत्र क्षेत्र में आश्रित हो जाता है। थोड़ी सूजन, अधिक कण्डू पिच्छलता, अल्पघर्ष, अश्रु-पात, नेत्र में गाढ़ापन आदि जब रोग के पक्व होने के लक्षण दिखाई दें तब अञ्जन लगाना चाहिये।

भयभीत, विरिक्त, सद्योयुक्त, कल मूत्रादि के वेग से पीड़ित, क्रुद्ध, ज्वर, पीड़ित, म्लान नेत्र, शिरो रोग ग्रस्त, शोकार्त, रात्रि जागरण करने वाला, धूम्रपायी, मद्यपायी, अजीर्ण-पीड़ित अग्नि और सूर्य से तपा हुआ, दिन में सोया हुआ तथा प्यासा, यह सब अंजन के योग्य नहीं हैं। जिस दिन बादल हो, उस दिन भी अञ्जन उपयुक्त नहीं।

भेद—यह अंजन मुख्यतया तीन प्रकार का है :

(१) लेखन, (२) रोपण, (३) प्रसादन।

जिस प्रकार शस्त्र द्वारा किसी वस्तु को काटकर अलग किया जाता है उसी प्रकार अंजन द्वारा शुक्र आदि रोगों को छीलकर अलग किया जाता है। इसे ल्याञ्जन कहते हैं।

जिस अञ्जन से अभिष्यन्दादि नेत्र रोगों का संरोहण होता है उसे रोपणा-जन कहते हैं। जिससे दृष्टि निर्मल होकर प्रफुल्लित हो जाती है। उसे प्रसा-दांजन कहते हैं।

अञ्जन लगाने के लिए दस अंगुल लम्बी शलाका का प्रयोग बतलाया है। यह बीच में पतली और दोनों किनारों पर मुकुल के आकार की होती है, लेख-नार्थ अञ्जन निर्माण में मधुर रस को छोड़कर पाँच रसयुक्त द्रव्यों का प्रयोग

करें, वात में अम्ल, लवण पित्त में कशाय, कफ में कटु तिक्त कषाय रस उपयुक्त होते हैं। तांबे से बनी शलाका का प्रयोग करना चाहिए। नेत्र विशद लघु स्राव रहित क्रिया और निर्मल और शान्त हो तो सम्यक् योग समझना चाहिए। अतियोग में वक्रता, कठिनतापूर्वक स्राव और रुक्षता आदि मिलती है। इसमें संतर्पण और पातनाशक चिकित्सा करें। हीन रोग में पीड़ा उत्पन्न होती है, इसमें धूम नस्य आदि दोष को निकालना चाहिए।

रोपण अञ्जन में कषाय और तिक्त द्रव्यों से थोड़ा-सा घृत डालकर प्रयोग किया जाता है। इसमें लोहे की शलाका का प्रयोग करें अथवा हाथ की स्वच्छ अंगुली का प्रयोग करें।

प्रसादनांजन में मधुर द्रव्य एवं स्नेह का प्रयोग करना चाहिए। इसके लिए सोने की अथवा चांदी की शलाका प्रयोग करना चाहिए।

इन दोनों (रोपण तथा प्रसादन) में नेत्र स्निग्ध वर्ण एवं बल से प्रफुल्लित दोषों से रहित हो तब सम्यक् योग जानें।

त्रिविध कल्पना—अञ्जन चाहे रोपण, लेखन, अथवा प्रसादन किसी भी कार्य के लिए प्रयुक्त करना हो। उसमें द्रव्य की तीन विधियां हो सकती हैं। (सुश्रुत उत्तर तंत्र अध्याय १८ में तीन विधियां बताई हैं।) महाबलिष्ठ रोगों में गुटिका अञ्जन औषधियों की वर्ति बनाकर प्रयोग करना) मध्य बल रोगों में रस (क्रियाञ्जन, द्रव्य पदार्थ में पिसा हुआ) तथा हीन बलों में चूर्णाञ्जन उपयुक्त होता है।

अयोग्य अञ्जन—अति तीव्र, अत्यधिक, अति मृदु, अति तरल, अति घन निर्मित अञ्जन प्रयोग नहीं करना चाहिए।

६

मानसरोग-विज्ञान

प्रश्न—मद, मूर्च्छा और संन्यास का वर्णन कीजिए।

उत्तर—अपथ्य भोजी, रज एवं तम से आच्छादित है। आत्मा जिनका ऐसे पुरुष के जब कुपित हुए पृथक्-पृथक् अथवा मिले हुए दोष रक्तवह, रसवह तथा संज्ञावह स्रोतों को रोककर वहीं ठहर जाते हैं, तब मद-मूर्च्छा तथा संन्यास नामक रोग उत्पन्न होते हैं। इसमें मद से मूर्च्छा बलवान है और मूर्च्छा से संन्यास।

मद—दुर्बल पित्त के स्थान पर जब वायु पहुँच जाता है तब पुरुष के मन को विक्षुब्ध करता हुआ संज्ञा का नाश कर देता है। इसी प्रकार कफ तथा पित्त की संज्ञा का नाश करते हैं। उस अवस्था को मद कहा जाता है।

वातज मद के आक्रान्त मनुष्य रुक-रुक कर, अव्यक्त, बहुत और जल्दी बोलने वाला होता है। उसकी चेष्टाएँ अस्थिर और स्खलित होती हैं। आकृति रूक्ष, श्याम वर्ण या अरुण की होती है।

पित्तज मद वाले पुरुष क्रोध युक्त मिलते हैं। कठोर वचन बोलना, लड़ाई-झगड़ा करना प्रायः उनकी आदत होती है। आकृति रक्त-पीत अथवा कृष्ण वर्ण की होती है।

कफज मद का रोगी थोड़ा और असम्बद्ध बोलता है। तन्द्रा एवं आलस्य-युक्त होता है। पाण्डु रंग का एवं ध्यान मस्त-सा रहता है।

सन्निपातज मद में उपर्युक्त तीनों मदों के लक्षण मिलते हैं। इस अवस्था में यह सब लक्षण भी पाए जाते हैं जो मद्यजन्य मद में होते हैं। यह शीघ्र ही उत्पन्न होता है और शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

जो मद्य से उत्पन्न होने वाला विषम या रक्तज मद कहा जाता है वह भी वात-पित्त-कफ के बिना अथवा सन्निपात के बिना नहीं हो सकते। अतः इनका भी उन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।

मूर्च्छा—वातज मूर्च्छा में रोगी आकाश को नीला, काला अथवा अरुण वर्ण का देखते हुए अन्धकार में प्रविष्ट होता-सा दिखाई देता है। पुनः वह पुरुष शीघ्र ही होश में आ जाता है। कम्पन अंगमर्द, हृदय प्रदेश में पीड़ा, कृशता एवं शरीर की छाया का श्याम एवं अरुण वर्ण का होना वातज मूर्च्छा में पाया जाता है।

पित्तज मूर्च्छा में आकाश लाल, हरा या पीले रंग का दीखता है। आँखों के सामने अँधेरा आ जाता है। जब रोगी होश में आता है तो उसे पसीना आता रहता है और प्यास-सन्ताप आदि लक्षण पाये जाते हैं। आँखें लाल-पीली और व्याकुल दिखाई देती हैं, मल निकल जाता है, शरीर की आभा पीली होती है।

कफज मूर्च्छा में आकाश को मेघ के सदृश अथवा घने अन्धकार से घिरा हुआ देखते हुए आँखों के सामने अँधेरा आ जाता है। इसमें होश देर से आता है। होश में आते ही शरीर में भारीपन मिलता है और शरीर ऐसा प्रतीत होता है जैसे गीले कपड़े से ढका हुआ हो। जी मिचलाता है और तालू का स्राव होता रहता है।

सन्निपात से तीनों दोषों की मूर्च्छाओं के लक्षण होते हैं। अपस्मार की तरह सन्निपातिक मूर्च्छा का दौरा आकर बीभत्स चेष्टाओं के बिना पुरुष को शीघ्र ही गिरा देता है। अपस्मार में मुख से झाग निकलना, जिह्वा का कटना दाँतों का भींचा जाना आदि बीभत्स लक्षण होते हैं परन्तु सन्निपातज मूर्च्छा में ऐसा कोई लक्षण नहीं प्रकट होता है।

संन्यास—देहियों के दोषों से वेग को पूरा कर चुकने के पश्चात् मद तथा मूर्च्छा स्वंय शान्त हो जाते हैं परन्तु संन्यास एक ऐसी अवस्था है जिसका वेग बिना औषधि दिए शान्त नहीं हो सकता। जब तक होश में लाने के लिए उप-युक्त औषधि आदि का प्रयोग न कराया जाय तब तक वह व्यक्ति काष्ठवत् बेहोश पड़ा रहेगा।

अति बलवान तीनों दोषी प्राणायतनों में आश्रित हुए वाणी, देह और मन की चेष्टा को नष्ट कर निर्बल प्राणी को संन्यास का सिकार बना लेते हैं और निसंज्ञ कर देते हैं। मनुष्य लकड़ी के समान बेहोश पड़ा रहता है और यदि सद्यः फलप्रद उपचार न किया जाए तो वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

जैसे अत्यन्त गहरे पानी में डूबते हुए पात्र को तल पर पहुँचने से पूर्व ही शीघ्रता से निकालना पड़ता है वैसे ही बुद्धिमान वैद्य को सन्यास से पीडित पुरुष को अन्तिम अवस्था में पहुँचने से पूर्व ही औषधि देकर बचा लेना चाहिए।

सद्यःफला क्रिया—अंजन, अवपीड़, धूम्र, प्रधमन, सुइयों या शस्त्रों का चुभाना, दाह करना, नख एवं मांस के मध्य से सुई आदि चुभाकर वेदना करना, केश एवं लोमों को उखाड़ना, कौंच की फली को रगड़ना आदि क्रियाएँ होश में लाने के लिए करनी चाहिए।

विविध प्रकार के तीक्ष्ण मद्यों को मिलाकर जिसमें मिर्च, पिपली आदि कटु द्रव्य प्रभूत मात्रा में डाले गये हों, बारम्बार रोगी के मुख में प्रयत्न से डालें। इसी से सोंठ के चूर्ण से युक्त मातुलुंग का रस रोगी के मुख में बार-बार डालें। उसी प्रकार मद्य तथा खट्टी कांजी से युक्त सौ वीर में हींग और कालीमिर्च डालकर रोगी के गले से नीचे उतारना चाहिए।

जब रोगी होश में आ जाये तब लघु अन्नों से चिकित्सा करनी चाहिए। विस्मय को उत्पन्न करने से, इष्ट विषयों को स्मरण कराने से प्रिय कथाओं के सुनाने से, चतुर पुरुषों के गाने-बजाने से, विचित्र दृश्यों या पदार्थों के दिखाने से, विरेचन, वमन, धूम्रपान, अंजन, कवल धारण, रक्तमोक्षण, व्यायाम, उद्घर्षण आदि क्रियाओं द्वारा उपचार करना चाहिए।

मद एवं मूर्च्छाओं में स्नेहन, स्वेदन किये हुये रोगों को दोष एवं बल के अनुसार वमन आदि पंचकर्म द्वारा शोधन करना चाहिए। कल्याणक घृत, तिक्त घृत, महातिक्त षट्पलघृत, शिलजतु प्रयोग, रसायनों का प्रयोग, दूध का कल्प, पिप्पली का कल्प, रक्तमोक्षण एवं शास्त्राध्ययन लाभ करते हैं।

प्रश्न—उन्माद तथा अपस्मार के निदान, लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए।

उत्तर—उन्माद का निदान—उन्माद एक मानस रोग है। जब दोष बहुत अधिक वृद्धि को प्राप्त होकर उन्मादगामी हो जाते हैं और मन के विभ्रम उत्पन्न कर देते हैं अतः उन्माद को मानसिक रोग कहा गया है। यह उन्माद रोग वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज, मानसिक दुःखज और विष से छह प्रकार का माना गया है। इस रोग की प्रथम अवस्था अथवा आरम्भिक अवस्था को 'मद' नाम से भी आयुर्वेद ने माना है। इस रोग के उत्पन्न होने के प्रमुख कारण निम्न हैं—विरुद्ध आहार (चाहे वह संयोग विरुद्ध, मात्रा विरुद्ध

आदि कोई-सा भी हो) दूषित आहार तथा अपवित्र आहार का सेवन करने से देवता, गुरु, माता और पिता तथा ब्राह्मणों आदि श्रेष्ठ एवं पूज्य व्यक्तियों का अपमान अथवा अनादरपूर्ण व्यवहार करने से, भयपूर्वक अथवा हर्षपूर्वक कोई भी हेतु उन्माद रोग का कारण होता है। यहाँ पर यह भी समझना आवश्यक है कि सभी प्रकार की चेष्टाएँ अथवा भाव दो ही प्रकार के होते हैं: (१) भयपूर्वक (२) हर्षपूर्वक। अतः भावात्मक दृष्टि से उन्माद भी दो प्रकार का होता है—(१) भयपूर्वक उन्माद, (२) हर्षपूर्वक उन्माद। इसके अतिरिक्त मानसिक दुःख मानसिक आघात, से भी उन्माद रोग होता है तथा शरीर की विषम चेष्टाएँ करते रहने से भी मन पर प्रभाव पड़कर यह उन्माद रोग उत्पन्न हो सकता है। अस्तु, इन कारणों से कमजोर मन वाले व्यक्ति के वातादि दोष अधिक प्रदुष्ट होकर बुद्धि के निवास स्थान हृदय को (अर्थात् मनोवाही स्रोतों को दूषित करके दोष मस्तिष्क को अपना स्थान बना लेते हैं) दूषित करके और मनोवाही स्रोतों में पहुँचकर शीघ्र ही मनुष्य के चित्त को उन्मत्त बना देते हैं। यही उन्माद कहलाता है।

उन्माद के लक्षण—उन्माद रोग में बुद्धि में भ्रम का होना, मन की चंचलता अधिक बढ़ जाना' दृष्टि का स्थिर न रहना, चित्त की भी अस्थिरता होना, व्यर्थ ही बड़बड़ाना अर्थात् बिना किसी तुक से फिजूल की बातें करना। हृदय में शून्यता अथवा हृदय का खाली-खाली सा मालूम होना या आत्मज्ञान न होना ये उन्माद के सर्वसाधारण लक्षण हैं।

(१) वातज उन्माद के निदान एवं लक्षण—भगवान् चरक ने वातज उन्माद के कारण, सम्प्राप्ति तथा लक्षणों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—"रूक्ष, अल्प एवं शीतल अन्न का सर्वदा सेवन करते रहने से विरेचन धातुक्षय, और उपवास के कारण से बढ़ा हुआ वायु, चिन्ता, भय आदि मानसिक कारणों से पहले ही विकृत हुए, मस्तिष्क को और अधिक दूषित करके बुद्धि और स्मृति का भी विनाश कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि रोगी बेमौके बिना अवसर के बिना उचित समय में हँसता रहता है और मुस्कराता रहता है। नाचता रहता है। व्यर्थ का प्रलाप करता रहता है और शारीरिक अंगों को इधर-उधर व्यर्थ ही चलाता, घुमाता या फेंकता-सा रहता है और कभी रोना भी रोता है। उस रोगी का शरीर रूक्ष तथा गुलाबी रंग का सा हो जाता है। जब उसका भोजन पच जाता है तब वायु का प्रकोप होकर

पागलपन का दौरा विशेष रूप से पड़ता रहता है। शोक, भय, काम आ
से भी जो उन्माद होते हैं वे इस वातज के ही समान होते हैं।

पित्तज उन्माद के निदान, लक्षण आदि—पित्त के प्रकोप से होने वा
उन्माद रोग के कारण, लक्षण आदि चरक संहिता में निम्न प्रकार से दि
गये हैं—

"अजीर्ण, चरपरे, खट्टे, दाह करने वाले, अति उष्ण पदार्थों का अधिक
मात्रा में अधिक समय तक सेवन करने से वृद्धि को प्राप्त हुआ पित्त, सत्व गु
से हीन मन वाले रोगी के मस्तिष्क में पहुँचकर चिन्ता, भय आदि कारणों
पहले से ही दूषित मन को तथा मस्तिष्क को और अधिक दूषित करके बु
और स्मृति को नष्ट कर देता है। उस अवस्था में रोगी असहनशील हो जात
है। क्रोध की मात्रा भी अधिक बढ़ जाती है। कपड़े उतार कर नंगे रहने की
प्रवृत्ति भी बढ़ जाती है। वह रोगी क्रोध में भरकर अन्य लोगों को भी डराय
अथवा धमकाता रहता है। प्रायः मारने के उद्देश्य से लोगों के पीछे दौड़ता
भी है। इस रोग का रोगी उष्णता से बहुत कष्ट अनुभव करता है छाया में
बैठना, सोना आदि अथवा शीतल जल, शीतल भोजन आदि की अभिलाषा
सदैव किया करता है। इस पैत्तिक उन्माद के रोगी का वर्ण पीला पड़ जाता
है। इस उन्माद में यही विशेषता है कि रोगी में हिंसक प्रवृत्ति पाई जाती है।
अन्य में ऐसा नहीं होता।

कफज उन्माद के निदान, लक्षण आदि—कफ के प्रयोग के कारण होने
वाले उन्माद का निरूपण, चरक संहिता में निम्न प्रकार से किया गया है—

"स्रोतों में कफ को रोककर रखने वाले भोजनादि से उस रोगी को जो
व्यायाम, चेष्टा आदि न करता हो अर्थात् पूर्णरूप से, निष्क्रिय व्यक्ति का कफ
ऊष्मा के साथ अर्थात् पित्त के साथ विकृत होकर, मस्तिष्क में पहुँचकर बुद्धि
और स्मृति को नष्ट करके मन में भ्रम उत्पन्न करके उन्माद को उत्पन्न कर
देता है। कफज उन्माद का रोगी कम बोलता है। चेष्टाएँ आदि भी कम ही
किया करता है। अरुचि से पीड़ित रहता है। नारी के साथ एकान्त में छिपकर
बैठना पसन्द करता है। उसको नींद भी अधिक ही आती है। प्रायः लार
बहती रहती है और कभी-कभी वमन भी होता रहता है। इस उन्माद का
दौरा भोजन करने के साथ उबल पड़ता है कफज उन्माद के रोगी के नख,
नेत्र, मूत्र तथा सम्पूर्ण शरीर का रंग श्वेत वर्ण हो जाता है।

त्रिदोषज उन्माद—यह तीनों दोषों से होने वाले उन्माद का एक सम्मिलित स्वरूप होता है। तीनों दोषों से होने वाले सभी लक्षण इसमें प्राप्त होते हैं।

शोकादि कारणों से उन्माद—यह उन्माद कई प्रकार का होता है। जैसे- १. चोरों के भय से होने वाला उन्माद, २. पुलिस आदि सरकारी कर्मचारियों के भय से होने वाला उन्माद, ३ शत्रुओं के भय आदि कारणों से होने वाला उन्माद, ४. अन्य किसी भी प्रकार से संपन्न होने पर होने वाला उन्माद, ५. धनं, बांधव आदि के नाश के कारण होने वाला उन्माद , ६. अपनी प्रिया या प्रेमिका के वियोग अथवा उसकी प्राप्ति न हो सकने के कारण होने वाला उन्माद, इन छः प्रकार के कारणों से होने वाले उन्माद में रोगी विचित्र बातें किया करता है। मन के रहस्य खोल देता है। गाता है। हँसता है। रोता है। ये सब लक्षण विशेष रूप से प्राप्त होते हैं।

विषजन्य उन्माद के लक्षण—किसी भी प्रकार के विष का प्रयोग हो जाने से होने वाले उन्माद में रोगी के नेत्र लाल, बल, ओज और इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है। दीन हीन मुख का वर्ण नीला-हरा हो जाता है और रोगी बेहोश हो जाता है।

उन्माद की चिकित्सा—वातोन्माद में प्रथम स्नेह पान, पित्तोन्माद में प्रथम विवेचन और कफोन्माद में सर्वप्रथम वमन करना चाहिए। तत्पश्चात् बस्ति आदि का यथायोग व्यवहार किया जाता है ब्राह्मी, कूष्माण्ड, बच और शंख पुष्पी इनमें से किसी एक का स्वरस कूठ का चूर्ण तथा मधु मिलाकर चाटना चाहिए। दशमूल का क्वाथ घृत अथवा माँस रस के साथ अथवा सफेद सरसों के चूर्ण के साथ, अथवा केवल मात्र पुराना घृत ही सेवन कराने से उन्माद नष्ट होता है। सफेद धतूरे की जड़ जोकि उत्तर दिशा की ओर भूमि के अन्दर गड़ी हुई हो, उससे सिद्ध दूध में गुड़ मिलाकर पीना चाहिए अथवा इसमें घृत, चावल डालकर खीर बनाकर खानी चाहिए। सभी प्रकार के उन्माद मधु डालकर ताड़ी पीना लाभदायक होता है। सरसों का तेल नस्य कर्म तथा अभ्यंग के लिए प्रयुक्त होना चाहिए। अथवा कच्ची गुज्जाएँ पीसकर चार रत्ती मात्रा में दूध के साथ पिलानी चाहिए। अथवा सम्पूर्ण शरीर पर तेल लगाकर धूप उत्तान सोना चाहिए। अथवा सफेद सरसों, भुनी हींग, वच, करंज देवदारु मंजीठ, त्रिफला, सफेद विष्णुक्रान्ता, माल कांगनी, दालचीनी, त्रिकटु, प्रियंगु सिरस की छाल, हल्दी एवं दारुहल्दी, इन सबका सूक्ष्म चूर्ण

बनाकर बकरे के मूत्र में मर्दन करके गोलियाँ बना लेनी चाहिए। इन गोलियों को पानी में घिसकर नेत्रों में अंजन करना चाहिए। पीने के पानी में मिलाकर देवें। नस्य कर्म देवें। आलेप करें। शरीर पर उबटन करें तथा स्नान के जल में घोलकर स्नान भी करावें। इन औषधियों के क्वाथ और कल्क के घृत सिद्ध करके भी प्रयोग किया जा सकता है। प्रत्येक प्रकार से उन्माद नाशक योग है। इसी प्रकार से त्रिकटु, हींग नमक, वच, कुटकी, सरस की छाल, करंज के बीज, सफेद सरसों इन सबको समान भाग लेकर गोमूत्र में पीसकर गोलियाँ अथवा बत्ती बना लें। यह बत्ती पानी में घिसकर आँखों में लगानी चाहिए अथवा तीक्ष्ण नस्य, तीक्ष्ण अंजन, तथा प्रताड़न के द्वारा उसके मन बुद्धि और स्मरण शक्ति को शुद्ध करनी चाहिए। अन्यथा डाँटना-फटकारना, दु:ख देना, दान, शान्ति कर्म, प्रसन्नता के काम करना-कराना, धमकाना, आश्चर्य की बातें करना चाहिए जिससे स्मरण शक्ति का उदय होकर बुद्धि का भी शोधन हो जाए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, आदि से उत्पन्न हुए उन्माद रोग में इन्हीं को पुनः जाग्रत करने से भी लाभ अवश्य होता है। जिसको किसी इष्ट वस्तु के नाश से उन्माद हुआ है, उसका उस जैसी ही वस्तु दिलाकर, शान्ति और आश्वासन आदि कर्म करने से अवश्य लाभ होता है। लेप, उबटन, अभ्यंग, धूम घृतपान आदि का भी प्रयोग करना चाहिए। कल्याणघृत, महा-कल्याण घृत, क्षीर कल्याणक, चैतसघृत, महापैशाचिक घृत, हिंग्वाद्यघृत, लशुनाद्य घृत का प्रयोग, खानपान, अभ्यंग, नस्य, लेप, बस्ति आदि विधि से करें।

आगन्तुज उन्माद में—घृतपान, मन्त्रजाप, पूजा बलि, उपहार, यज्ञ होम, भजन, पवित्रता से किये जाने चाहिए। इसके लिए छोटी पीपल, कालीमिर्च, सेंधा नमक, मधु, गोलोचन इससे बनाया हुआ अंजन प्रयोग करें। इसी प्रकार हल्दी, दारु हल्दी और शहद से बनाया हुआ अंजन करने से लाभ होता है। काली मिर्च तथा गोलोचन को एक मास धूप में रखकर प्रयोग करने से भूत दोष जन्य उन्माद रोग अवश्य नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार कपास की गुठली, मोर का पंख, बड़ी कटेरी, मैनफल दालचीनी, वंशलोचन, बिल्ली का मल, धान की भूसी, वच, केश, केंचुली, गोश्रृंग, हाथीदाँत, हींग कालीमिर्च इन सबको मिलाकर धूप देने से भी आगन्तुज उन्माद ठीक हो जाता है।

अपस्मार की चिकित्सा का विषय प्रश्न संख्या छत्तीस के हल के अन्तर्गत

दिया जा चुका है, अतः केवल मात्र चिकित्सा का विषय वहीं पर पढ़ें तथा निदान लक्षण आदि का समाधान यहाँ पर दिया जा रहा है—

अपस्मार का निदान—आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि "स्मृति याददास्त अथवा स्मरण शक्ति तथा अनुभव का विषय, इनका ज्ञान नष्ट होना अथवा भूल जाना 'अपस्मार, कहलाता है। और यह रोग विनाश कारक है। यह रोग क्यों होता है, इसके कारण (निदान) बतलाते हुए सुश्रुताचार्य ने लिखा है कि—

"इन्द्रियों के विषय और कर्मों को मिथ्यायोग अथवा अतियोग के रूप में अधिक सेवन करने से, विरुद्ध एवं मलिन आहार तथा विहार करने के कुपित हुए वातादि दोषों के द्वारा तथा मलमूत्रादि के वेगों को रोकने से, अहित एवं अपवित्र भोजनादि करने वालों को तथा जो लोग रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि से पीड़ित होते हैं, तथा जो लोग मासिक धर्म के दिनों में सभी से मैथुन करते रहते हैं. तथा जो लोग काम, क्रोध, भय, उद्वेग, शोक आदि मानसिक भावा से मन में आघात खाये हुये होते है, ऐसे प्रकार के सभी पुरुषों आदि की यह रोग अवश्य हो जाता है।"

अपस्मार के लक्षण तथा पूर्वरूप—अपस्मार के पूर्वरूपों में हृदय में कम्प तथा शून्यता, स्वेद, चिन्तन, एकाग्रता, मूर्च्छा, अधिक संज्ञानाश और निद्रानाश माना है। अपस्मार के लक्षणों में कहा है कि—

संज्ञावाही स्रोतों के कुपित हुये वातादि दोषों से आवृत होने पर तथा उन स्रोतों में रजोगुण एवं तमोगुण व्याप्त हो जाने पर मनुष्य में मूढ़ता आ जाता है, चित्त विक्षिप्त हो जाता है, हाथ और पैरों को फेंकने लगता है, भौंह और आंखें उसकी टेढ़ी हो जाती हैं, दांतों को कटकटाने लगता है, मुँह से झाग गिरने लगता है, आंखे पलट जाती हैं, रोगी ऐंठता हुआ भूमि पर छटपटाने लगता है। मुख और शरीर का स्वरूप भयंकर-सा लगने लगता है। अर्थात् रोगी की सभी चेष्टाएँ बहुत ही वीभत्स हो जाती हैं। यह अपस्मार चार प्रकार का होता है—वातज, पित्तज, कफज और त्रिदोषज। वातज अपस्मार के लक्षण निम्न प्रकार से हैं—

वातज अपस्मार रोग में रोगी काँपता है। दांतों को काटते हुए बहुत जोर से सांस लेता है। मुँह से झाग गिरता है और वह रोगी यह कहता है कि एक विकृत स्वरूप वाला काला प्राणी मेरी ओर दौड़ा चला आ रहा है,

उसको देखकर मेरा होश गायब हो जाता है। इन लक्षणों वाला वातज अपस्मार माना गया है।

पित्तज अपस्मार के लक्षण—पित्तज के प्रकोप से अपस्मार में निम्न लक्षण प्राप्त होते हैं—

प्यास, ताप, स्वेद, मूर्च्छा से पीड़ित. अंग-प्रत्यंगों को क्षेपण करता हुआ, बेचैन, और जो यह कहे कि एक पीला विकृत प्राणी मेरी ओर दौड़ा चला आ रहा है, उसे देखकर मेरा चित्तनाश हो जाता है, ऐसा रोगी पित्तज अपस्मार से आक्रान्त माना जाता है।

कफज अपस्मार के लक्षण—कफ के प्रकोप से होने वाले अपस्मार रोग में निम्न प्रकार के लक्षण प्राप्त होते हैं—

शीत का अनुभव होना, जी मिचलाना निद्रा से पीड़ित भूमि पर गिर कर मुख से कफ मिश्रित झाग का वमन करे और जो यह कहे कि एक विकृत सफेद रंग का प्राणी मेरी ओर भागा चला आ रहा है, उसको देखकर मेरा चित्तनाश हो जाता है, ऐसा अपस्मार कफ के प्रकोप से होने वाला माना गया है।

त्रिदोषज अपस्मार के लक्षण—वात, पित्त और कफ इन दोनों ही दोषों के एक साथ कुपित होकर विकार उत्पन्न करने से जो अपस्मार उत्पन्न हो जाता है, उसको त्रिदोषज अथवा सन्निपातिक अपस्मार भी कहते हैं। इसमें प्रत्येक दोष के अनुसार होने वाले पृथक-पृथक् जो लक्षण बतलाए गये हैं, वे सब के सब एक साथ यहाँ विद्यमान रहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में तीनों ही दोषों का प्रकोप रहा है।

अपस्मार का प्रकोप काल—अपस्मार का दौरा कब और क्यों पड़ता है, इस बात पर प्रकाश डालते हुये आचार्य सुश्रुत ने निम्नलिखित प्रकार से कहा है—

जब कभी पन्द्रह दिन में, बारह दिन में अथवा एक मास में दोष संचित होकर कुपित होते हैं तभी अपस्मार का वेग भी आरम्भ हो जाता है। जिस प्रकार से वर्षा ऋतु में पृथ्वी के भीतर पड़े हुये भी बीज शरत् ऋतु में ही आकर अंकुरित होते हैं ठीक उसी प्रकार से इन रोगों के बीज भी अपने निश्चित समय पर अपना प्रभाव दिखलाते हैं। पन्द्रहवें दिन पैत्तिक, बारहवें दिन वातज और एक मास में कफज अपस्मार का दौरा पड़ा करता है।

अपस्मार की चिकित्सा—अपस्मार में पुरातन घृत का पान और अभ्यंग कराना चाहिए। निम्नलिखित औषधियों से तेल सिद्ध करके अभ्यंग करना

चाहिए—सहजना, आलू, कटभी, नीम की छाल इनके स्वरस में तथा कल्क से चतुर्गुण गोमूत्र में तेल सिद्ध करें। तथा गोह-नेवला, हाथी, चित्रणमृग, रीछ आदि के पत्ते से सिद्ध किया हुआ तेल पान और अभ्यंग के लिए बहुत उत्तम माना गया है तथा तीक्ष्ण वमन और तीक्ष्ण विरेचन एवं तीक्ष्ण शिरोविरेचन के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। रुद्र की तथा उनके गुण की नित्यप्रति पूजा करनी चाहिए। वातिक अपस्मार में बास्ति कर्म, पित्तज अपस्मार में विरेचन कर्म और कफज अपस्मार में वमन कर्म के द्वारा चिकित्सा की जानी चाहिए। सिद्धार्थक घृत और पंचगव्य घृत का प्रयोग किया जाना चाहिए। इनके अति-रिक्त हनु की सन्धि के मध्य भाग में स्थिति शिरा का वेध भी किया जा सकता है। छमा, अतिच्छमादि मांगल्य वस्तुओं को धारण करना चाहिए।

अपस्मार का आहार-विहार—अपस्मार पीड़ित रोगी के लिए शहद के साथ वच का चूर्ण चटाकर दूध, चावल, मूँग की दाल, परवल, तोरई, घीया आदि का भोजन देना चाहिए। जो, गेहूँ, बासमती चावल का आहार होना चाहिए। मैनशिल, रसौता, कबूतर की बीट का अजन करना चाहिए। मोरेठी, हींग, वच, तगर, सिरस की छाल लहसुन और कूठ बकरे के मूत्र में घोंटकर नस्य लेना चाहिए। संभालू, नागरमोथा खस, जां और त्रिकुट को बकरे के मूत्र में पीसकर धूप देनी चाहिए। जटामाँसी, भटेउर, तुलसी कूठ, छोटी हरड़ इनको गोमूत्र में मिलाकर उससे स्नान करना चाहिए। गोमूत्र, सरसों और सहजने की छाल का लेप करना चाहिए। अकेलेपन, अग्नि, कूप, लाल रंग की वस्तु आदि से दूर रहना चाहिए। रात्रि जागरण और दिवास्वप्न भी वर्जित है। चिन्ताशोक आदि से भी बचना चाहिए।

प्रश्न—मद्यपान के गुण-दोष वर्णन कर बताइए कि मद्यपान का प्रभाव विशेषकर शरीर के किस भाग या भाव पर पड़ता है ? पानात्यय और पान विभ्रम का वर्णन करो।

उत्तर—मद्यपान का वर्णन आयुर्वेद में सुन्दर प्रकार से किया गया है। कुछ लोग तो स्वर्ग में स्थित अमृत से भूगोल की मदिरा की तुलना भी करते हैं। आचार्य वाग्भट्ट ने तो मद्यपान को आवश्यक बताते हुए लिखा है कि न केवल स्वयं ही कोई व्यक्ति मद्यपान करे, अपितु उसे चाहिए कि वह अपने आश्रित-पत्नी, पुत्र आदि तथा उपाश्रित नौकर-चाकर आदि को भी मद्यपान कराए। जैसे—अष्टांगकार ने लिखा है—

मानव का जीवन बहुत मूल्यवान है, अतः उस जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक है कि वह विधिपूर्वक मद्य का सेवन करे। यह मद्य का सेवन आश्रित और उपाश्रित व्यक्तियों के लिए बहुत हितकारी है और परम धर्म का साधन भी है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि मद्यपान मानव जीवन के लिए बहुत हितकारी है किन्तु यह तभी सम्भव होगा जब कि मानव विधिपूर्वक मद्य का सेवन करेगा, क्योंकि मद्य स्वभाव से अन्न के समान ही माना गया है, इस विषय से आचार्य सुश्रुत का कथन है कि "किन्तु मद्य स्वभावेनयथैवान्नं तथा स्मृतम्" अर्थात् मद्य स्वभाव से ही अन्न के समान माना गया है।

मद्य के गुण व दोष – मद्य, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, विशद, रूक्ष, आशुकारी व्यवायी और विकाशी गुणवाला माना गया है। जैसा कि आचार्य सुश्रुत ने लिखा है—"मद्यं उष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदं मेव्या रुक्षमाशुकुरं चैवव्यवापिच विकाशिच।" (सुश्रुत) यह मद्य रस से अम्ल, रस वाला है, अतः लघु, रुचि कारक और अग्निदीपक है। कुछ विद्वान् लवण को छोड़कर अन्य सभी रस मद्य में मानते हैं। उष्ण होने से पित्तप्रकोपक है। तीक्ष्ण होने से मन की गति को नष्ट करता है। सूक्ष्म होने से शरीर के अवयवों में प्रविष्ट हो जाता है। विशद गुण वाला होने से वातकारक है और कफ तथा शुक्र को नष्ट करता है। रूक्ष होने से वायु का प्रकोपण करता है और अशुगुण वाला होने से तत्काल प्रभाव करता है और शरीर पर कार्य करता है। व्यवापि गुणवान् होने से मानसिक हर्ष और काम शक्ति को भड़काता है। और विकाशी गुण वाला होने से सम्पूर्ण शरीर के अवयवों में फैल जाता है और हृदय में प्रविष्ट होकर अपने सभी गुण से ओज को आक्रान्त कर देता है। मद्य का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह मन, बुद्धि और इन्द्रियों के अन्तर्गत प्रविष्ट होकर इन्हें नियन्त्रण रहित कर देता है अतः मानव अपने मन की गुप्त बात भी कह डालता है और अगम्या नारी जैसे गुरुपत्नी, बहन आदि से गमन कर बैठता है और अभक्ष्य पदार्थों को भी खा लेता है और यदि मन में किसी की हिंसा का भाव पहले से बैठा हो तो उस समय उग्र और निर्भय होकर वह शराबी हत्या भी कर डालता है। यह मद्य जठराग्नि के साथ मिलाकर मद रोग को उत्पन्न करता है। मद के कारण ही वह मन के भावों का प्रकाशन कर बैठता है संज्ञाहीनता, क्रियाहीनता आदि करता है। भोजनादि खाद्य पदार्थों के बिना सूखी शराब पीने से अनेक प्रकार के भयानक रोग उत्पन्न करता है। शरीर को नष्ट कर देता है।

प्रलाप और मोह तो विशेष रूप से करता है। यदि व्यक्ति क्रोध में ही डरा हुआ हो, शोक से संतृप्त हो, भूखा और प्यासा हो, व्यायाम, भार, मार्ग चलन आदि से थका माँदा हो, मलमूत्र आदि के वेगों को रोके हो और मद्य का सेवन कर ले तो अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है। आयुर्वेद में मद्य के कारण होने वाले पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण और पान विभ्रम नाम के रोग माने गए हैं।

मद्यपान का प्रभाव—मद्यपान का विशेष प्रभाव मन, बुद्धि और हृदय पर पड़ता है। अतः समस्त इन्द्रियाँ प्रभावित हो जाती हैं। यह प्रभाव दो प्रकार का होता है—अच्छा या बुरा। अच्छा प्रभाव पड़ने पर बुद्धि, स्मृति और प्रीति की बढ़ोत्तरी होती है। सुख का अनुभव होने लगता है। पढ़ने, गीत गाने, स्वर अलापने की क्षमता बढ़ जाती है, कमनीयता, मन की प्रसन्नता, धैर्य, तेज, पराक्रम आदि की प्राप्ति होती है। दूसरा बुरा प्रभाव कहलाता है जो कि ऊपर मद्य के दोषों के नाम से दिया जा चुका है।

मदात्यय या पानात्यय का वर्णन—मद्य से दोषजनक होने के कारण पानात्यय (मदात्य) नामक व्याधि उत्पन्न हो जाती है। यह पानात्यय वातज, पित्तज कफज और त्रिदोषज भेद से चार प्रकॉर का होता है। वात दोष प्रधान पानात्यय में शरीर में स्तब्धता, अंगों का टूटना, हृदय का पकड़ा जाना, चुभने जैसा दर्द, कम्पन और सिर में दर्द रहता है। पित्त विकार प्रधान पानात्यय में स्वेद, प्रलाप, मुखशोष, दाह, मूर्छा, आंखों और मुख पर पीलापन रहने लगता है। कफ विकार प्रधान पानात्यय रोग में वमन शीत, और कफ का प्रसेक होता है। सन्निपात प्रधान पानात्यय में, तीनों दोषों से पृथक्-पृथक् जो विकार एवं लक्षण आदि माने गये हैं, वे सम्पूर्ण रूप से यहाँ सम्मिलित रहते हैं।

पान विभ्रम का वर्णन—मद्य के विकारों में पान विभ्रम नामक व्याधि हैं। यदि रोग में वायु की प्रधानता रहती है तो हृदय तथा हृदय प्रवेश में और शरीर में सुई चुभने जैसा दर्द बना रहता है और यह घटता-बढ़ता भी रहता है, किसी-किसी समय यह दर्द कुछ सयय के लिए स्वयं ही शान्त भी हो जाता है। सिर में दर्द तथा चक्कर आता है। पित्त की प्रधानता से वमन, ज्वर और कण्ठ में धूम की प्रतीति होती है। विदाह होता है और मूर्च्छा भी हो जाती है। कफ दोष की प्रधानता के कारण कफ का स्राव, सुरा तथा अन्न की बनावटों में द्वेष अर्थात् खाने-पीने की चीजों के प्रति अरुचि हो जाती है।

दोषानुसार वर्णन—पानात्यय या मदात्यय में वातादि के अनुसार निम्नवत् वर्णन मिलता है—

स्त्री शोक, भय-भार, ऊध्व तथा काम के कारण से अत्यन्त कृश, रूक्ष, अल्प और प्रमित खाने वाला, रात्रि में निद्रात्याग कर अधिक मात्रा में रूक्ष मदिरा का पान करता है—उसे वातज मदात्यय हो जाता है। उसे हिस्का, श्वास, सिर में कम्प, पार्श्वशूल, प्रजागरण आदि लक्षण एवं बहु प्रलाप होता है।

तीक्ष्ण, उष्ण और अम्ल मद्य को जो मात्रा में बहुत सेवन करता है, अम्ल-उष्ण-तीक्ष्ण पदार्थों से युक्त भोजन करता है, क्रोधी, अग्नि एवं आतप का प्रयोग करने वाला व्यक्ति पैत्तिक मदात्यय से पीड़ित होता है। उस रोगी को तृष्णा दाह, ज्वर, मूर्च्छा, अतिसार और विभ्रम आदि लक्षण होते हैं।

मधुर-स्निग्ध, गुरु भोजन करने वाला जो ताजा बनी मीठी-सी या गुड़ की बनी या पीठी की बनी मद्य का पान करता है—अधिक मात्रा में पीता है। दिन में सोने में, लेटने-बैठने में आराम करने में तत्पर रहता है, वह कफज मदात्यय से पीड़ित होता है।

सन्निपात के प्रकोप से विष के जो गुण होते हैं वे ही मद्य में दिखलाई देते हैं परन्तु विष में तो बलवत्तर कोई विन शीघ्र मार डालता है, कोई रोग की उत्पत्ति करता है। यह कुछ हलके लक्षण करता है।

अत्यन्त शारीरिक कष्ट, मोह, हृदयगत पीड़ा, अरुचि, निरन्तर प्यास, शीत अथवा उष्ण लक्षण वाला ज्वर, सिर, पसली, अस्थि की जोड़ों में तेज दर्द होता हैं। जम्भाई अंगस्फुरण, कम्प, थकावट, छाती की जकड़ाहट, कास, हिक्का, श्वास तथा जागरण, सर्वशरीर में कम्प, कर्ण, नेत्र, मुख के रोग त्रिकग्रह, वात-पित्तात्मक वमन, अतिसार, हृल्लास, भ्रम, प्रलाप, असत्य वस्तुओं के दर्शन, चित्त भ्रम से पीड़ित होना और कष्टदायक स्वप्नों के दर्शन मदात्यय रोगी को हुआ करते हैं।

मदात्यय को सदैव त्रिदोषज समझना चाहिए। जिस दोष की प्रधानता हो उसके लक्षण दिखाई देने लगते हैं।

जैसे विष का उपचार विष से किया है, उसी सिद्धान्त के अनुसार एक जाति के मद्य से उत्पन्न मदात्य में दूसरी जाति के मद्य का पान करना हितकारक रहता है।

वातादि की बहुलता में उस दोष को शमन करने वाले औषध द्रव्यों से भावित मद्य का सेवन कराना चाहिए। उस-उस में आहार एवं विहार भी दोष, शामक कराना चाहिए।

मदात्यय रोग की चिकित्सा में चरक संहिता में एक-प्रसिद्ध योग दिया है जो प्रयोग करना चाहिए, वह है अष्टांग लवण चूर्ण। इसका प्रयोग जीर्ण रोग से पीड़ितों को भी लाभ करता है।

प्रश्न— अपतन्त्रक और अपतानक के भेद बताते हुए अपतन्त्रक के निदान, लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए ?

उत्तर—अपतन्त्रक और अपतानक का भेद प्रश्न संख्या छः के उत्तर के अन्तर्गत किया जा चुका है। अतः इस विषय में वहीं पर पढ़ें।

अपतन्त्रक का निदान, लक्षण, चिकित्सा आदि—अपतन्त्रक का निदान आदि बतलाते हुए भगवान् पुनर्वसु के प्रधान शिष्य आचार्य अग्निवेश ने और आचार्य वाग्भट्ट ने निम्नलिखित वर्णन किया है—

"आपने ही प्रकोप के कारणों से कुपित हुआ वायु जब अपने ही स्थान बास्ति आदि स्थानों से ऊपर उठकर सिर की ओर पहुँच जाता है तब हृदय, सिर, शंख प्रदेश को पीड़ित करता हुआ, शरीर के अवयवों को धनुष के समान झुका देता है, तथा उन अंगों में आक्षेपण उत्पन्न करके रोगी में मूर्छा भी उत्पन्न कर देता है। साँस लेने और छोड़ने में बहुत कष्ट और परेशानी होती है। उसके नेत्र कभी खुले और कभी आधे खुले ही रहते हैं। रोगी की अपनी मूर्छित अवस्था में कबूतर की भाँति गुटरगुटर शब्द की धुन चलती रहती है। आक्षेपक रोग की इसी अवस्था का नाम अपतन्त्रक है। इसी का एक भेद अपतानक माना जाता है।

अपतंत्रक की चिकित्सा—आचार्य सुश्रुत ने अपतंत्रक की चिकित्सा में लिखा है कि "अपतंत्रक के रोगी को लंघन कर्म नहीं कराना चाहिए। उसका वमन, आस्थापन और अनुवासन वस्ति भी नहीं देनी चाहिए। वायु और कफ के कारण साँस लेने में कठिनता होने पर तीक्ष्ण प्रधमन नस्य का प्रयोग किया जाना चाहिए। तुम्बरु पुष्करमूल, हींग, अम्लबेतस, हरड़, (लवड़, सैंधव सौंवर्चल लवण और विडलवण) इन सबका समान भाग चूर्ण बनाकर दो मासा की मात्रा में जौ के क्वाथ के साथ पीना चाहिये। पचास हरड़, सोवर्चल लवण आठ तोला, इन दोनों के तोल से चार गुना अधिक दूध लेकर उसमें घृत सिद्ध किया

जाना चाहिए। इस घृत के पान करने से अपतन्त्रक नष्ट हो जाता है। अप-
तन्त्रक में मुख्य रूप में वात और कफनाशक चिकित्सा की जानी चाहिए।
हिंग्वादि चूर्ण, कल्याणकाव लंह माणवलादि क्वाथ, शाल पर्णीसिद्धघृत
हरीतकादि चूर्ण स्वल्परसीनपिंड का सेवन करना चाहिए। भोजन से पहले हं
बच और कालीमिर्च का चूर्ण खट्टे दही के साथ खाना चाहिए। गोमूत्र, एरण्ड
तेल इन दोनों के साथ एक मास पर्यन्त—पीपल का चूर्ण एक ग्राम पीने से
अपतन्त्रक रोग नष्ट हो जाता है। आभादिगूगल का प्रयोग भी अपतन्त्रक को
नष्ट करता है। आज घृत का एक मास तक सेवन करने से निश्चित ही अप-
तन्त्रक ठीक होता है। महाबला तेल, नारायण तेल, महानारायण तेल, रसोत
तेल, सेंधावादि तेल, माष तेल, महामाष तेल, प्रसारिणी तेल आदि का भी
प्रयोग करें। आहार, विहार वही करें जो वात और कफ को प्रेरित न करे।

तृतीय-पत्र

प्रसूति-तन्त्र एवं कौमार-भृत्य

परीक्षोपयोगी दृष्टिकोण

प्रसूति-तन्त्र एवं कौमार-भृत्य आयुर्वेद का प्रसिद्ध अंग है। इस विषय मुख्य रूप से तीन प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं। प्रथम आर्तव, गर्भावस्था ए प्रसव से सम्बन्धित प्रश्न, दूसरे स्त्री को होने वाले प्रसिद्ध रोग जिनका सम्ब जननांगों से हो और तीसरे वे विषय जो बालक के पालन-पोषण एवं बालक को होने वाले प्रसिद्ध रोगों के विषय में ज्ञान कराते हैं। इन तीनों का क्षे कितना विस्तृत है—यह बात किसी से छिपी नहीं। हमने यहाँ प्रयत्न किया कि पाठ्यक्रम की सीमा में रहते हुए सभी आवश्यक विषयों का चयन हो जा छात्र परीक्षा के लिए उपयोगी सभी विषय यहाँ पायेंगे तो भी अधिक जानका चाहने वाले इन विषयों पर उपलब्ध वृहत् पुस्तकों का अवलोकन कर सकते है

यह प्रश्नपत्र भी १०० अंक का होता है और मौखिक में २५ अंक विषय पूछा जाता है। प्रश्न-पत्र में ऊपर लिखे तीनों विषयों में से प्रायः दो- प्रश्न पूछे जाते हैं। मौखिक परीक्षा में चार्ट अथवा मॉडलों द्वारा जननांग प्रसव की विधि आदि विषय पूछे जाते हैं—ये विषय स्त्री-चिकित्सा से स लेने चाहिए—दाई एव नर्स भी इस विषय में सहायता दे सकती हैं।

इस संशोधित संस्करण में कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न सम्मिलित किए गए जो इस पुस्तक की उपयोगिता को बढ़ाने वाले हैं—पाठकों को उनसे का लाभ पहुंचेगा।

नारी जननांग

प्रश्न—नारी जननांगों का विस्तार से वर्णन कीजिये ।

उत्तर—हम नारी जननांगों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं, प्रथम सहायक अंग और दूसरे प्राथमिक अंग ।

बीज ग्रन्थि स्त्री का प्राथमिक अंग है और बाकी के स्त्री अंग सहायक अंग हैं—पहले हम सहायक (द्वितीयक) अंगों का वर्णन कर रहे हैं—

भग (Valva)—बाह्य जननेन्द्रियों को वल्वा या प्यूण्डेडम पुकारा जाता है । भग इसका प्राचीन नाम है ।

बाह्य जननेन्द्रियों में निम्न भाग होते हैं—

(१) **प्रथम भाग पीठ**—रोम राज्युप्रचित भाग है । जब स्त्री सीधी खडी होती है । तो वह भाग उसका दिखायी देता है । यह एक मेद की गद्दी जैसा भाग है जो भगस्थि सन्धि के ठीक सामने होता है । यहीं पर छोटे-छोटे घुंघराले केशों का उदय होता है ।

(2) **वृहद् भगोष्ठ**—यह भगोठर्व भाग का पीछे की ओर गया हुआ भग के दोनों ओर ओष्ठवत् फैला हुआ है । दोनों ओष्ठ बाहर की ओर घुंघराले छोटे केशों से परिवेष्ठित रहते हैं । ओष्ठों के भीतरी धरातल के केस विरहित और असृण होते हैं । दोनों में आगे की ओर मेद के होने से जो ओष्ठ सदृश मोटाई दिखलाई देती हैं, वह पीछे की ओर मेद के अभाव से प्रगट नहीं होती तथा दोनों ओष्ठ अश्चिम संधान में त्वचा के दो किनारों के रूप में मिलते हैं उनके पीछे मूलपिण्ड रहती है । इन ओष्ठों की प्रगल्भता का उदय नव यौवना में गर्भावस्था में होता है । नवयौवना के पूर्व एवं प्रौढ़ावस्था में ओष्ठ कृश रहते हैं ।

जिस प्रकार पुरुषों में अण्डकोश होते हैं वैसे ही स्त्री में वृहग् भगोष्ठ होते हैं । पर अण्डकोशों की त्वचा में जैसे पेशी के तन्तु पाये जाते हैं वैसे यहाँ नहीं होते अपितु उनके स्थान पर प्रत्यस्थ (Elastic) तन्तुओं की अधिकता होती है तथा मेद भाग भी उनसे अधिक होता है । वृहद् भगोष्ठों से पूर्व भाग में

स्त्री गर्भाशय के रज्जुबन्धिका (Round Ligament) का निवेश होता है वृहद् भगोष्ठ में भेद स्रावी ग्रन्थियाँ प्रचुरता के साथ फैली हुई रहती हैं, औ प्रत्येक ग्रन्थि को शिराओं के जाल (जिन्हें प्रहर्ष पिण्डकायें कहते हैं) से पर्याप्त रक्त प्राप्त होता है।

(३) बार्थोलिन ग्रन्थि—या वृहद् भगालिन्दीय ग्रन्थियाँ (Greatervesti-bular gland) वृहद् भगोष्ठ के अन्दर (मध्य और पश्चिमी तृतीय भाग के संगम पर) होती है। उसकी प्रणाली आगे एवं अन्दर की ओर चल कर भगच्छेद कला के सम्मुख लघु भगोष्ठ के भीतर धरातल पर खुलती है। ग्रन्थि आधा इंच व्यास की होती है। इसे स्पर्श मात्र से केवल उसी समय पहचाना जा सकता है जब वह सूजी हुई हो। प्रणाली की लम्बाई भी आधा इंच ही होती है। ग्रन्थि को दबाने से प्रणाली द्वार से एक श्लेष्मल स्राव बहने लगता है। जब स्त्री को तीव्र सुजाक प्रकट होता है और यह ग्रन्थि भी दूषित हो जाती है तो प्रणाली का द्वार रक्तवर्ण हो जाता है। बार्थोलिन ग्रन्थि बहुशाल ग्रन्थि है। इसकी अवकाशिकाओं के प्राचीरों में क्षुद्र स्तम्भ सदृश अविच्छेद (Epithelium) रहता है। प्रणाली का अन्तःस्वर अवकाशिका के समीप चतु-कोणीय होता है जो आगे जाकर अनादर्त्ती (Transitional) हो जाता है और द्वार के समीप तरकीय हो जाता है। बार्थोलिन ग्रन्थि का कार्य मैथुन के समय भग प्रदेश सुचिक्करण रखने की दृष्टि से श्लेष्मल स्राव को प्रवाहित करना होता है। यह स्राव पीताभ होता है।

(४) लघुभगोष्ठ—वृहद् भगोष्ठों के भीतरी धरातल पर होते हैं, कन्याओं में इन्हें देखने के लिये उँगलियों से पृथक् करना पड़ता है। ये मृदु चिक्कण और आदि चर्म के त्रिकोणाकृतिक भाग हैं। पीछे की ओर वे श्लेष्मलकला के एक भाग से जुड़े होते हैं जिसे लघु भगोष्ठ सम्बन्धिनी सेवनी कहते हैं। यह कला भी चर्म की होती है और बिना अँगुलियों से वृहद् भगोष्ठों के चौड़ाये नहीं देखी जा सकती है। स्त्री के प्राथमिक समागमों में वह विदीर्ण हो जाया करती है।

लघुभगोष्ठ केश विरहित होते हैं। यह चर्म के लटकते हुए से भाग हैं, पुरुष के मेढ़्र के चर्म और सामने के भाग (Prepuce and the ventral portion of the penis) का स्त्री में इन्हीं के द्वारा प्रतिनिधित्व होता है। आगे की ओर ये बहुत स्पष्ट होते हैं और ज्यों-ज्यों आगे की ओर उनका दर्शन

किया जाता है, वे समीपतर आते रहते हैं और भग सिसिनिका (Clitoris) के नीचे प्रत्येक के दो भाग हो जाते हैं। जिनमें पीछे के छोटे भाग भग सिसिनिका के पश्चिम भाग पर जुड़ जाते हैं और उसकी सेवनी (Frenulum) बनाते हैं। आगे के बड़े भाग मिलकर पूर्व चर्म का (Prepuce) निर्माण करते हैं।

योनिद्वार और लघु भगोष्ठानुबन्धिनी कला के मध्य भाग को भगालिन्दी-पसात कहते-हैं। यह सात भगलिन्द का ही एक भाग है।

(5) भगसिसिनिका (Clitoris)—स्त्री में पुरुष मेढ़ू का मिथ्या प्रतिनिधि हैं। यद्यपि इसका आकार छाटा होता है फिर भी रचना और स्वरूप की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त सादृश्य है। अन्तर यह कि जहाँ एक में से मूत्रद्वार निकल कर उसकी प्रणाली (ट्यूब) को रूप देता है वहाँ यह ठोस रहती है। भग सिसिनिका एक लम्बोतर प्रवर्धन होता है। इसके ऊपर एक अत्युतेजनशील अबुर्दिका (Tubercle) रहती है, जिसको मणि (glans) कहते हैं।

भगसिसिनिका भगास्थिसन्धि के निचले धरातल पर दन्तशिखरिका (Sus-pensary) स्नायु द्वारा सम्बद्ध होता है। भगास्थि के शृंगों के निचले किनारे से वह प्रहर्षस्तम्भो (Cxurae Cavernosa) द्वारा सम्बद्ध होता है।

भगसिसिनिका की ऊपरी अर्पुदिका व मणि के उत्तेजनशील होने के प्रधान कारण वहीं पर नाड़ी अनेक अंगों की परिव्याप्ति है। मैथुनकाल में इसमें उत्थान हो जाता है और स्त्री को समागम काल में अत्यन्त आनन्द को प्रदान करता है।

(६) भगालिन्द या भगोष्ठायावकास (Vestibulex)—लघु भगोष्ठों का मध्यवर्ती प्रदेश है। यह सुचिक्कइब (वाकभाकृतिक) (Almond Shapied) भाग होता है। इसके अग्र पर भगसिसिनिका है, मध्य में मूत्र प्रसेक द्वार एवं योनिद्वार है और अन्त में भगालिन्दीय स्रोत एवं लघु भगोष्ठानु सम्बंन्धिनी कला है।

(७) मूत्र प्रसेक द्वार—एक छिद्र है जो भगालिन्द में मध्य रेखा में स्त्री किश्न से नीचे 4/५ इंच पीछे की ओर होता है। यह बहुत छोटा होता है। इस द्वार के किनारे उन्नत होते हैं और भगालिन्द में उँगली फेरने से मालूम किये जा सकते हैं। द्वार में वृत्ताकार पूर्सा तन्तु होने से उन्नतता आती है। द्वार की आकृति गोल होती है और अन्य आकृतियों की भी हो सकतां है। किनारे के

दोनों ओर ओष्ठ चिपके हुये होने से यह एक दरार के रूप में भी दिखाई दे सकती है।

मूत्र प्रसेक द्वार के पार्श्वों में अन्दर की ओर दो क्षुद्र प्रणालियाँ आकर खुलती हैं और इनको ऊर्ध्व-वहिर्वस्तिद्वारीय (Paruretheral) प्रणालियाँ कहते हैं।

प्रहर्ष पिण्डिकायें (Vestebular Bulds) योनिद्वार पर अवस्थित सिराओं के जलौका तुल्य समूह है। प्रत्येक प्रतानक की लम्बाई एक इंच होती है। वे उपस्थ सकोचनी (Bublri Spongiosus) से तह से ढके रहते हैं। सामने की ओर वे प्रतानक संयोज द्वार एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। वह संयोजक एक छोटी शिरा होती है जो दोनों प्रतानकों को स्त्री किशन से सम्बद्ध कर देती है। यह अत्यधिक उत्थानशील होने हैं, पुरुष में जो मूत्र-प्रसेक द्वारा पेशी का कार्य है यह कार्य प्रतानकों द्वारा सम्पन्न होता है। कभी-कभी प्रसव काल में इन प्रस्तानकों के पश्चिमी भाग छिन्न-विच्छिन्न हो जाने से गम्भीर रक्तस्राव की उत्पत्ति होती है।

(८) योनिद्वार (Vaginial orifice)—योनि भगस्थ छिद्र है जिस पर योनिच्छदा कला चढ़ी होती है। योनिच्छदा एक साधारण पतली कला होती है जो कि कन्याओं की योनि को आवृत्त रखती है। इसके दोनों धरातलो पर शल्कीय अधिच्छेद चढ़ा रहता है। योनिच्छदा के मध्य भाग में एक छोटा-सा छिद्र होता है जिसमें होकर अँगुली भी नहीं जा सकती। योनिच्छदा गोल या अर्द्धचन्द्राकार विषम मोटाई की कला होती है। कभी-कभी यह चलनी सदृश अनेक छिद्रों से व्याप्त होती है और किन्हीं में इसमें एक भी छिद्र नहीं होता। किन्हीं में एक फीते की तरह अथवा झालर की तरह भी देखी जाती है। आकृति के कारण इसके अनेक नाम वृत्ताकार योनिच्छेद (Hymen annularies) बहुकेन्द्रित योनिच्छेद (Hymen Cripsiforms), हँसुआकारी योनिच्छेद (Hymenfalciformis), आच्छिद्रित योनिच्छेद (Hymen mperforatus) आदि आदि मिलते हैं। जब पुरुष का स्त्री से समागम होता है तब आनन्द की कल्पना वास्तविक कष्ट की अनुवृत्ति में योनिच्छेद में आघात होने से पूर्णतः विलीन होती है। समागम के कारण योनिच्छेद के आघात अर्द्ध व्यासक्रम और अनेक होते हैं। इस विषय का अधिकतर क्षेत्र न्यायवैद्यक मे होने से पाठकों को वहीं देखना आवश्यक है। कभी-कभी प्रसव काल में आघात होने से योनिच्छेद के अनेक खण्ड इधर-उधर लटक जाते हैं।

(२) योनि (Vagina)—आयुर्वेद में योनि सेत्रयावली योनि से लिया जाता है। जिसमें वैजाइना, सर्विक्स एवं गर्भाशय तीनों आते हैं। इसी कारण आयुर्वेद योनि व्याप्त या योनि रोगों का उल्लेख करत है तो उसमें समस्त आधुनिक गाइनोकालोजीकल रोग आते हैं। 'प्रसूति' और योनि व्याप्त का विभिन्न विषय जैसे आयुर्वेद में है वही मिडवाईफरी तथा गाइनोकालोजी के नाम से पाश्चात्य मानते हैं। योनि का वर्णन इस प्रकार आता है। योनि शंख नाभि के आकार की आवर्त्त वाली बतलाई जाती है। उसके तृतीय आवर्त्त में गर्भाशय स्थित रहता है। जिस प्रकार रोहित, मत्स्य का चन्द्राकार मुख होता वैसा ही रूप तथा वैसी ही संस्थिति योनि की होती है। प्रथम आवर्त्त को योनि, द्वितीय आवर्त्त को गर्भाशय ग्रीवा तथा तृतीय आवर्त्त को गर्भाशय पिण्ड या यूटैरस कहते हैं। डा० धाणकर ने इस श्लोक को दूसरे प्रकार का अर्थ दिया है जो कुछ जटिल है हमने योनि का अर्थ इस पुस्तक में वैजाइना लिया और उसी का वर्णन नीचे दिया है।

योनि एक तीन इंच लम्बी कानाल है, अपने ऊपरी सिरे पर जहाँ वह गर्भाशय ग्रीवा से सम्बन्धित होती है। पर्याप्त चौड़ी होती है। ऊपरी भाग को जोड़ कर योनि की पूर्व पश्चिमी प्राचीरें एक दूसरी से सटी होती हैं। ऊपरी भाग में गर्भाशय ग्रीवा के अन्तर्योनि भग (Inter vaginal part of the cerveix) के कारण दोनों प्राचीरें एक दूसरी से पृथक् होती हैं।

गर्भाशय ग्रीवा का समीपवर्त्ती योनि प्रदेश योनि तोरिणिका (Fornix) कहलाता है। जो पूर्व तोणीकर और पश्चिम तोणीकर और दो पार्श्व तोरिणिकायें कही जाती हैं। इनमें पश्चिम तोरिणिका और पूर्व तोरणिका की अपेक्षा अधिक गहरी होने से पश्चिम योनि प्राचीर (४-१/२") पूर्व योनि प्राचीर (३-१/२") की अपेक्षा एक इंच अधिक लम्बी होती है। योनि की प्राचीरें अत्यधिक विस्तरण तोरिणिकायें आगे की ओर उथली होती हैं।

योनि के कारण मूलपीठ (Perineum) दो प्रदेशो में विभाजित हा जाता है। पूर्व प्रदेश में पूर्व योनि एवं वे सब अंग जो इसके आगे होते हैं, या रहते हैं, तथा अन्य सब अंग जो उसके पीछे होते हैं, या रहते हैं।

योनि का सम्बन्ध इस प्रकार रहता है।

पूर्व में (Antriorly) योनि के ऊपर के भाग में सामने की ओर बस्ति का

पिछला भाग तथा गवीनियों के अन्तिम सिरे रहते हैं, तथा निचले भाग में मूत्र प्रसेक (Urethra) में दयतानवधातु (Fatty areoler tissue) रहता है। यह धातु लिंगास्थि मन्धि के पीछे और नीचे पाई जाती है। पूर्व योनि प्राचीर को बस्ति से बस्तिग्रीवा के अतिरिक्त सब स्थानों पर पृथक् किया जा सकता है। बस्ति ग्रीवा के पास योनि प्राचीर लान्तव धातु द्वारा बहुत अधिक अभिलग्न रहती है पर मूत्र प्रसेक और योनि की पूर्व प्राचीर आपस में पर्याप्त सम्बन्धित रहते हैं और उन्हें पृथक् करने के लिए खर पत्र (Knife) के प्रयोग की आवश्यकता होती है।

पश्चिम में योनि पश्चिमी प्राचीर का ऊपरी भाग अपने १/४ से १ इंच के भाग में उदरावरण कला द्वारा आवृत रहता है। उदरावरण कला की वृहद योनि से पृथक् करती है। उदारावरण कला के नीचे पश्चिम योनि प्राचीर मलाशय (Rectum) के निम्न भाग से सम्बन्धित रहता है और सबसे नीचे योनि और गुद्द्वार के मध्य में मूलापिण्डिका या योनि गुहान्तरीय पिण्ड (Perineal Body) रहता है।

योनि की पश्चिम प्राचीर में आघात होने से उदरावरणिक गुह (Perioneal cavity) खुल सकती है। पश्चिम प्राचीर और मलाशय के मध्य दोनों को अभिलग्न करने वाला कोई साधन न होने के कारण गर्भाशय विच्युति की अवस्था में इन दोनों के मध्य में गर्भाशय चला जा सकता है। ये दोनों तथ्य सदैव स्मरणीय रहने आवश्यक हैं।

प्रहर्षों में (Latrally) प्रार्व प्रोरणिका क्षेत्रों में गर्भाशय का प्रक्षबन्धनी स्नायु (Broad ligament) आकार निवेश पाती है। उनका सम्बन्ध गवीनियों में होता है। गवीनियों के ऊपर गर्भाशय से सम्बन्धित वाहनियाँ (utermic vessles) इनसे सम्बन्धित रहती है। इसी प्रकार यदि स्त्री की पार्वतोणिका में अँगुली रखी जाये तो इन वानिहियों का सम्बन्ध तीनों प्रायुधारिणियों से हो जाता है। भग प्रदेश में जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि योनि के पार्श्वों में वार्योतिव ग्रन्थियाँ एवं प्रहर्ष पिण्डिकायें रहती हैं। सामने आकर कन्याओं में योनि द्वार पर योनिच्छेद नामक कला चढ़ी रहती है।

योनि को रक्त प्रदान करने वाली का नाम योनि धमनी (Vaginal artry) गर्भाशय धमनी तथा मलाधिक धमनी (Middle pectal artry) तथा प्रहर्ष पिण्डिकाओं की धमनी (Ateryot the Bullot vestible) की कुछ शाखायें भी योनि प्रदेशों में रक्त पहुँचाती हैं।

योनि की उपश्लेष्मकला एवं उसके धरातल पर शिराओं के जाल देखे जाते हैं। इन जालों से शिरायें निकलकर धमनियों के साथ-साथ जाती हैं। साथ वाहिनियाँ भी योनि प्रदेशों में इतस्ततः छितरी रहती हैं। योनि के ऊपरी भागों में रस वाहिनियाँ गर्भाशिक रस वाहिनियों के साथ बहिरन्तर जघन कपालिक सब ग्रन्थियों में जाती हैं। कुछ-कुछ कानाल भग प्रदेश आदि में होकर बाह्य वंक्षण प्रदेशीय ग्रन्थियों में जाती हैं।

योजनिका के भागों (Isthmus) का भाग गर्भावस्था के समाप्ति काल तक परिवर्तन हो जाता है और उस समय उसे अधः गर्भालिक प्रदेश कहकर पुकारा जाता है। योजनिका भाग संयोजक से नीचे गर्भाशय का भाग आता है जो स्थिति के अनुसार योनिक और परियोनिक दो भागों में विभक्त किया जाता है। गर्भाशय ग्रीवा जहाँ गर्भाशय पिण्ड से मिलती है वहाँ से संकुचित भाग स्थित द्वार को अन्तर्मुख कहते हैं और गर्भाशय ग्रीवा के योनिक भाग के अन्त में जो द्वार आता है उसे बहुर्मुख कहते हैं। ये दोनों मुख संकुचित होने से दोनों के मध्य में जो कनाला बनती है। वह मृदङ्कार होती है।

गर्भाशय पिण्ड के अन्दर की कला बहुत चमकदार होती है। जो आर्तव काल में भट्टी हो जाती है गर्भाशय ग्रीवा की श्लेष्मकला में वलियों (Folds) पड़ी होती हैं। ऐसी योनि में भी देखी जाती हैं। साथ-साथ तिर्यक सीताएँ पूर्व पश्चिमी सीधी रेखा में देखी जाती हैं। इन्हें आर्बर वीटी (orbor vitae) कहते हैं।

गर्भाशय की प्राचीर ३ प्रकार के स्तरों से निर्मित है जिन्हें पर्यावरण अन्तरावरण (perimetrium myometricum & endoma) कहते हैं। इन तीनों का विशद् वर्णन नीचे दिया जाता है।

(१) **पर्यावरण** (Perimetrium)—गर्भाशय सम्पूर्णतया उदारावरण कला से आवृत्त भाग नहीं है। गर्भाशय पिण्ड की पूर्व प्राचीर तक आगे की ओर उदरावरण कला आती है। उसके पश्चात् अन्तर्मुख की सीध में बस्ति के ऊपर चली जाती है। अतः गर्भाशय ग्रीवा की पूर्व प्राचीर उदारावरणकला विरहित रहती है। पश्चिम में (Posteriorly) गर्भाशय पिण्ड पूर्णतया तथा गर्भाशय ग्रीवा का परियोनिक भाग उदरावरण कला से आवृत रहता है। परियोनिक भाग से आगे कला पश्चिम तोरणिका (पश्चिम योनि प्राचीर के ऊपर भाग) तक जाती है। गर्भाशय में बीजवाहिनियाँ और दो स्नायुओं के निकले होने के पार्श्वों में उदरावरणकला अपूर्ण होती है। उदरावरणकला

का स्वरूप यहाँ पक्ष बन्धिनी स्नायु हो जाता है। जो पार्श्वों को पूर्णतः आवृत नहीं कर पाती है। कहने का अभिप्राय यह भी है कि जहाँ गर्भाशय पिण्ड का बहुत अधिक भाग उदरावरण कला से आवृत रहता है वहाँ गर्भाशय ग्रीवा का बहुत कम भाग उदरावरण से आवृत रहता है।

(२) **पेश्यावरण** (Myometrim)—यह आवरण गर्भाशय के तीनों स्तर में सबसे अधिक मोटा होता है। गर्भाशय के पिण्ड मे इस आवरण की मोटाई आध इंच के लगभग होती है। इसके तीन स्तर यहाँ स्पष्टतः प्रगट होते हैं। ये स्तर सगर्भ या प्रसवोपरान्त के गर्भाशय में विशेष रूप से प्रकट होते हैं। सबसे प्रथम स्तर पर्यावरण के नीचे होता है। इससे अनुलम्ब दिशा में पेशी तन्तु होता है। इसमें अनैच्छिक पेशी तन्तु और संयोजक धातु के तन्तु विशेष रहते हैं। पेशी तन्तुओं एवं संयोजक धातु के तन्तुओं का अनुपात अवस्थानुसार घटता बढ़ता रहता है। अर्थात् जिस समय गर्भावस्था में गर्भ उपस्थित रहता है उस समय पेशी तन्तु अधिक और जब गर्भावस्था नहीं होती है तो कम होता है।

(३) **गर्भाशय** (Uterus)—गर्भाशय आयुर्वेद दृष्यटया एक आशय है। इसके सम्बन्ध में अनेक वाक्य आयुर्वेद के विभिन्न ग्रन्थों में इतस्ततः विखरे हुए मिलते हैं। जिन वाक्यों में निर्देशन करने से ज्ञात होता है कि जिसे हम आज यूटरस कहते हैं, वही प्राचीन काल में गर्भशय्या या गर्भाशय कहा जाता था जिसका कुछ विवरण हमने योनि के विचार करते समय पहले दिया है। जो गर्भ का आशय है या जहाँ गर्भ की शैय्या है, वही गर्भाशय है। पुरुषों में ७ आशय होते हैं, स्त्री में आठवाँ आशय कहलाता है। यह आशय पित्ताशय और पक्वाशय के मध्य में (जब स्त्री सगर्भा होती है उस समय) देखा जाता है। साधारणतया यह बस्ति के पार्श्व में पीछे शंख नाभि के आवर्त की भाँति अथवा रोहित मत्स्य के मुख की तरह कन्दरायुक्त होता है। (वैतरन्) के इसकी स्थिति को और स्पष्ट करते हुए लिखा है जिसके अधोभाग में भग और उर्ध्वभाग में बस्ति स्थिति है वह गर्भाशय है तथा बस्ति और गर्भाशय दोनों ही महास्त्रोत (Abdominal cavities) में स्थित अंश है। गर्भ के सम्बन्ध में जितना व्यापक साहित्य प्राचीनों का प्राप्त होता है उतना गर्भाशय सम्बन्धी नहीं। गर्भाशय के अनेक रोगों पर जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसको देखकर यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में गर्भाशय का पूर्ण ज्ञान था।

गर्भाशय त्रिकोणसम आवृत्ति का (Pyriform in shape) छोटा सा कंदरायुक्त (hollow) प्रायः पेशी धातु से निर्मित माँसल अंग है जो एक वयस्क

तरुणी में ३ इंच लम्बा २ इच चौड़ा (स्वतन्त्र सिरे पर) और १ इंच मोटा होता है। इसकी चौड़ाई धीरे-धीरे नीचे की ओर घटती है। और १ इंच के लगभग रहती है।

इसका जो भाग योनि से सम्पर्क में आता है वह बेलनाकार होता है। यह गर्भाशय की ग्रीवा कहलाती है। शेष को गर्भाशय पिण्ड (Body of the uterus) कहते हैं। पिण्ड और ग्रीवा के मध्य में एक संकुचित भाग होता है जिसे योजनिका भाग (Isthmus) कहते हैं। इसके स्थान पर प्रसीता (Groove) भी होती है जो प्रथम गर्भ के पश्चात् नहीं होती। गर्भाशय पिण्ड के स्वतन्त्र भाग को मंघ (Fund) कहने हैं। इसके दोनों पार्श्वों से गर्भाशय प्रणालियाँ या बीजवाहिनियाँ जाती हैं। इन प्रणालियों के सिरों पर बीजग्रन्थियाँ लगी रहती हैं।

गर्भाशय का अक्ष अनुलम्ब दिशा में आगे की ओर रहता है। गर्भाशय स्वयं कुछ आगे की ओर मुड़ा रहता है। इसे गर्भाशय का अग्रवर्तन (Anteflexion) एवं अग्रसंकोचन (Ante ersion) कहते हैं। गर्भाशय कुछ थोड़ा घूमा हुआ (rotated) भी रहता है जिमके कारण उसका वाम सिरा श्रेणी के सम्मुख भाग की ओर अधिक समीप रहता है तथा दक्षिण सिरा उसमें कुछ दूर होता है। जब स्त्री खड़ी होती है तो गर्भाशय अनुप्रस्थ दिशा में रहता है। गर्भाशय की अक्ष पर नम्ति के मूत्र द्वार भर जाने की शक्ति होने का भी परिणाम होता है।

इन पर उदरावरणिक कला ढीली-ढीली चिपकी रहती है।

शंकुसम भाग या झालर युक्त भाग या पुषित भाग बीजवाहिनी का अन्तिम भाग है। यह भाग पीछे की ओर उदारवरणिक गुहा में खुलता है। इसके द्वारा (Pelvic osteum) पर अनेक मोड़ उसे झालर बना देते हैं। इनमें सबसे बड़ी झालर बीज कोष सम्पर्क में आती है। इसे बीज कलुपा कहते हैं। जोस्टन का कथन है कि कदाचित बीज को उसके कोष से वाहिनी की ओर संचालित करने में इस झालर का प्रभाव भी पड़ता है।

बीजवाहिनी की रचना—बीजवाहिनी की रचना में ४ आवरण होते हैं।

१—वलसीयढस्तर (Serous coat) यह उदरावरणिक कला का स्तर है।

२—अपसलक (Sub-serous coat) यह श्लेष्मल और पेशी स्तरों के प्रगतिशील (Well defined) स्तर है। यह स्तर गर्भाशय में नहीं है। इसमें अनेक सूक्ष्म रक्तवाहिनियाँ और लस वाहिनियाँ रहती हैं।

३—पेशिस्तर (Muscular layer) यह बाहरी अनुलम्ब और भीतरी वृतकारी सूत्रकारी मूत्र संयोजक भाव पर सुस्पष्ट और शंकुसम भाग पर स्पष्ट रहते हैं। पेशिक्तर में अनैच्छिक पेशी तन्तुओं के साथ-साथ तान्तव (fibrous) और निर्मितस्थापक धातु (Elastic issue) के सूत्र भी रहते हैं।

४—श्लैष्मलस्तर (Mucuous layer) इस स्तर में श्लेष्मलकला कैवनल एक कोषा के बराबर मोटी होती है। इसमें गम्भीर स्तम्भकारी लोमश कोषा (Deep columnar ciliated cells) पर बिछे रहते हैं। ये कोषा एक आधार-भूत कला (Basement membrane) पर लगे रहते हैं। इस स्तर और पेशी स्तर को पृथक् करने वाली थोड़ी सी संयोजक धातु होती है। यह स्तर गर्भाशय के अन्तरावरण से सातत्य रहता है। जोस्टन कहता है कि जिस प्रकार गर्भाशय में कोई उपश्लेष्मल स्तर (Submucous layer) नहीं होता पर वस्तुस्थिति यह है कि गर्भाशय में श्लेष्मल स्तर मिलता है गर्भाशय ग्रीवा में नहीं जैसा कि पहले लिखा जा चुका है।

बीजवाहिनी की श्लेष्मलकला में विशेषता यह है कि इनमें ग्रन्थियाँ नहीं होतीं। परन्तु कला का समस्त धरातल पर्तों (folds) में भरा होता है। पर्त भी साधारण नहीं होते अपितु असामान्य शृंखलताओं (Compliated series) में होते हैं। ज्यों-ज्यों गर्भाशय भाग से पार्श्व की ओर देखते हैं, पर्तों में शाखा प्रशाखा होती चलती है। और उत्पलित भाग का अनुच्छेद चित्र-विचित्र सा लगता है।

इन पर्तों (folds) को वलि (plica) भी कहते हैं। प्रत्येक बलि संचार को निर्मित होता है जिसके ऊपर श्लेष्मलकला चढ़ी होती है। संचार कोशीय होता है। जिसके कोषा गर्भाशय के अन्तरावरेशाय के सदृश होते हैं। बीज-वाहिनी की श्लेष्मलकला में 'शा' कई प्रकार के कोषाओं की उपस्थिति बतलाता है। उनमें प्रमुख लोमश कोष हैं जो समभकारी या चतुषिकषिक होते हैं। दूसरे नम्बर पर वलयकारी भी पाये जाते हैं। पेस्थावरण में जो ग्रन्थियों का भाग खुरचने के पश्चात् अवशिष्ट रह जाता है उसमें ही नव श्लेष्मलकला (या अधिच्छेद) ग्रन्थियों और संचार का निर्माण होता है।

गर्भाशय ग्रीवा में उपश्लेष्मल स्तर का अभाव होता है वहाँ अधिच्छेद के पश्चात् पेश्यावरण ही होता है और ग्रन्थियाँ भी पेशी के अन्दर ही होती हैं जैसा कि पूर्व ही बतलाया गया है।

बीजवाहिनियाँ—जिनमें होकर बीजकोष (ovar) के डिम्ब या बीज (ovum) गर्भाशय के दोनों ओर ये दो होती हैं। प्रत्येक ४ इंच लम्बी और ३/४ इंच होती है। चौड़ाई घटती बढ़ती है। (१/८ से १/४ इंच) मध्य में गर्भाशय सम्बन्ध के गर्भाशय पिण्ड के संगम स्थान से प्रविष्ट होती है और गर्भाशय से यह श्रेणी पार्श्व की ओर बढ़ती है। इसका अन्दर का भाग ४|५ भाग पत्र बन्धनी स्नायु के स्वतन्त्र किनारे के अन्तर्गत रहता है। श्रेणी स्तर प्राचीर के समीप यह पशबन्धनी के ऊपरी स्तर का भेद न करके अपने साथ उदरावरणिक कला का एक भाग खींचती हुई यह बलकोष के ऊपर घूमती हुई स्वयं उदरवरणिक गुहा (peritocal cavity) में खुल जाती है। बीज-वाहिनी का उदरावणिक गुहा में केवल एक ही प्राकृतिक द्वार संकीर्ण (constricted) होता है और बीजवाहिनी के शंकुसम अन्तिम से उत्पन्न होती है।

गर्भकाल में बीजवाहिनी अतिवक एवं बहुत लम्बी होती है। यह दशा कभी-कभी यौवन काल में पाई जाती है।

वर्णान्तिमक दृष्टि से बीजवाहिनी के निम्न ४ भाग मान लिये गये हैं।

(१) गर्भाशय भाग (२) संयोजक भाग (३) उत्फुलित भाग (४) शंकु-सम भाग।

गर्भाशय भाग—बीजवाहिनी का यह भाग है जो गर्भाशय के अन्तर्गत रहता है। वह बीजवाहिनी का अति संकुचित भाग है। यहाँ प्रणाली छिद्र १ मिलीमीटर ही होता है।

बीजवाहिनी की संयोजक भाग उसका गर्भाशय के बाहर का संकुचित भाग है। यह बीजवाहिनी के समस्त बाह्य लम्बाई का १/३ (१ इंच) होता है। यहाँ भी छिद्र १ मि० मी० से अधिक चौड़ा नहीं होता। अनुच्छेद के चित्र के समान मानना चाहिये कनियम का कथन है कि यह इतना कम चौड़ा होता है कि एक बाल बड़ी कठिनाई से इसमें होकर जाता है। साथ ही इस पर पक्षबन्धनी बहुत सार्ईलेंट होती है।

उत्फुलित भाग—बीजवाहिनी का सबसे बड़ा बाह्य लम्बाई का २/३ (२ इंच) भाग है। साथ ही सबसे चौड़ा भी है। यह मोटा और फूला-फूला हुआ दिखाई देता है। स्तरित शंकीय होते हैं।

ग्रन्थियाँ—गर्भाशय पिण्ड के अन्तरावरण में स्थित साधारण नलिकाकार

होती है और वे समस्त अन्तरावरण में इतस्ततः फैली होती हैं और ये ग्रन्थियां भी अधिच्छेद कोषाओं द्वारा बनी होती हैं। परन्तु अधिक गहरी ग्रन्थियों में लोम (Cilia) नहीं होते। ग्रन्थियों की संख्या बहुत अधिक होती है।

कुछ ग्रन्थियाँ श्लेष्मलकला की समस्त गहराई पार करके पेशी के आवरण तक चली जाती हैं। गर्भाशय ग्रीवा में तो अधिच्छेद के बहुत पतले आवरण के पश्चात् पेश्यावरण सटा होने से सारी ग्रन्थियाँ पेशी में ही जमी रहती हैं। गर्भाशय पिण्ड की ग्रन्थियाँ भीतर की ओर दो-दो विभक्त होती हुई देखी जाती हैं। परन्तु उनका मुख एक ही देखा जाता है। परन्तु प्रायः पिण्ड प्रदेश की ग्रन्थियाँ सादा नाली के सदृश ही होता है। ग्रीवा की ग्रन्थियाँ संयुक्त बहुशास्त्र होती हैं। ग्रीवा के धरातल पर जिस प्रकार का अधिच्छेद होता है वैसे ही कोषाओं से यह ग्रन्थियाँ रेखित (Lined) होती हैं।

ग्रन्थियों का स्राव रचना की दृष्टि से पिण्ड और ग्रीवा से भिन्न प्रकार का होता है अर्थात् पिण्ड-प्रदेश की ग्रन्थियाँ एक तनु (Thin) जल, तुल्य ईषक्षारीय स्राव उतनी मात्रा में उतखत्र रहती है जिससे कि पिण्ड प्राचीर आर्द्र रहे। परन्तु ग्रीवा की संयुक्त बहुशाला ग्रन्थियों में जो गहराई में सम्भव-कारी कोषा होते हैं। उनमें चणकोषा (Goblet cells) होते हैं। जिनके कारण ग्रैविक प्रदेशीय ग्रन्थियों के स्राव बहल (Thick) चिपचिपे (Sticky) ईषक्षारीय होता है। यह स्राव अन्य किसी प्रदेश की ग्रन्थियों से उत्पन्न नहीं होता।

योनि भाग में ग्रन्थियाँ नहीं होतीं।

संचार या अन्तर्ग्रन्थिक धातु (Stroma) गर्भाशय पिण्ड के अन्तरावरण का बहुत अधिक भाग एक औणिक प्रकार (Embroyonic type) के संयोजक धातु कोषाओ द्वारा विनिर्मित होती है। 'जौसटन' इनका विशेष ज्ञान देते हुए कहता है कि जैसा अन्य संयोजक धातुओं में पाया जाता है कि तंतु (Fibres) अधिक और कोशा कम पर यहाँ तन्तुओं की कमी और कोषाओं को आधिक्य होता है। यह कोशा छोटे गोल या तारवसम (Stellate) होते हैं जिनमें अत्यल्प चिद्स रहता है। ये कोषा बहुत पास आते हैं। भ्रौणिक प्रकार के कोषाओं के होने के कारण ही आर्तवचक्र में देखा जाता है और जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

अन्तरावरण के स्तर में अनेक सूक्ष्म वाहिनियाँ रहती हैं। यहाँ पर धमनिकाएँ वक्रीय (Spirally) अनुक्रमित रहती हैं। वे ग्रन्थियों के साथ

समानान्तरण चल कर धरातल तक आती हैं और अन्त में ग्रन्थियों के मुखों के समीप के शंकीय गुच्छों में समाप्त हो जाती हैं।

यह भी स्मरणीय है कि गर्भाशय पिण्ड में श्लेष्मलकला के नीचे एक उपश्लैष्मिक स्तर (Submucous layer) होता है। यदि श्लेष्मकला को खुरच दिया जाए तो उससे ग्रन्थियों के अन्तिम सिरे तथा टुकड़े आदि मिलते हैं तथा पेशी के तन्तु समूह संयोजक तन्तु कम तथा कन्या अथवा प्रौढ़ा में पेशी तन्तु की अपेक्षा संयोजक धातु के तन्तुओं का आधिक्य रहता है। और पेश्यावरण के स्तर से पेशीतन्तु समूहों (In bundle) में रहते हैं और उन्हें संयोजक धातु के तन्तु पृथक् करते हैं। ये पेशी समूह एक दूसरे से मिले रहते हैं तथा बीच के संयोजक तन्तु भाग से रक्त वाहिनियाँ और लस वाहिनियाँ जाती है अतः गर्भाशय पेशी के संकोच के साथ-साथ वाहिनियों का भी पीड़न हो जाता है जिसके कारण रक्त प्रवाह का नियन्त्रण पेशी कोषाओं द्वारा होता हुआ देखा जाता है जिसका महत्व आगे चलकर प्रगट होगा। तीसरी पेशी स्तर वृत्ताकार (Circular) पेशी सूत्रों से निर्मित होता है। यह तीनों स्तरों में सबसे भीतरी है। यह स्तर अन्मूर्मुख एवं बीजवाहिनियों के समीप अधिक प्रगट होता है तथा अन्य स्थानों पर इतना नहीं।

गर्भाशय ग्रीवा में पेशी के दो स्तर ही देखे जाते हैं। इसमें पेशी के साथ तान्तव धातु के सूत्र रहते हैं जो इसे कठिन बना देते हैं और पेशी और तान्तव धातु के सूत्र के बिना किसी क्रम के एक दूसरे के साथ मिले रहते हैं। प्रथम स्तर अनुलम्ब सूत्रों का होता है जो ग्रीवा की पूर्व प्राचीर में होते हुए पश्चिमी प्राचीर में जाकर पुनः ग्रीवा की पश्चिमी प्राचीर में आता है। यह स्तर अत्यन्त तनु होता है अतः अगर्भा स्त्रियों में यह पृथक् न तो ग्रीवा में। परन्तु यहाँ पूर्व कथनानुसार तान्तव धातु की अधिकता होती है। इसमें स्थित स्थापक या प्रत्यस्थ (Elastic) तन्तु भी पर्याप्त होते हैं।

३. अन्तरावरण (Endonmetrium) गर्भाशय की श्लेष्मलकला के ३ मुख्य भाग हैं।

१. अधिच्छेद (Epithelium) २. ग्रन्थि या ३. अन्तर्ग्रन्थिक धातु या सुधार (Storma)

गर्भाशय पिण्ड के अन्तरावण का निर्माणक्रम गर्भाशय ग्रीवा में कुछ भिन्न होता है। पिण्ड में अधिच्छेद ग्रन्थियाँ और संधार तीनों पाये जाते हैं। पिण्ड में अन्तरावरण की स्वाभाविक मोटाई ३-४ मि० मी० होती है। तबयह मोटाई

आर्तवचक्र के विभिन्न अवसरों पर बदलती रहती है। अर्थात् पूर्वार्तवावस्था में वह अतिष्पुष्ठ (Hypertrophied) हो जाती है। और आर्तवकाल में उसका बाह्यस्तर नष्ट हो जाता है। और अन्तरावरण की कोषाओं को ज्ञान देते हुए 'शा' लिखता है कि वे कोषाएँ चतुष्कोणीय या क्षद्स्तम्भिक होते हैं जिनके षष्ठीलता कोषा के मध्य से संकरण चिद्स के मध्य में स्थिति रहती है। आगे अन्तरावण के तीनों भागों का वर्णन किया जाता है।

अधिच्छेद— यह केवल एक कोषा से निर्मित गर्भाशयन्तरिक स्तर है। इन कोषाओं के नीचे एक अतितनु मूलकता (Thin basement membrane) रहती है। यह कला संधार या अन्तर्ग्रन्थिक धातु के सपाट कोषाओं से निर्मित रहती है। यह कला देखने में गुलाबी रंग की और पूर्णतया मसृण होती है। अधिच्छेद के कोषा गम्भीर लोभज्ञातम्भित कोषा (Deep cilialu coloumur cells) के बने होते हैं। कोषाओं के लोमों की दिशा गर्भाशय पिण्ड (body) से गर्भाशय ग्रीवा (Cervrix) की ओर होती है।

गर्भाशय के परियोनिक भाग में भी अधिच्छेद प्रायः इसी प्रकार का होता है। योनिक भाग अधिच्छेद (बहुमुंख के बाहर) में यौनिक अधिच्छेद कोषा (Goblett Shaped) कोषा होते हैं। तीसरे इन दोनों के बीच के कोषा भी होते हैं। चौथे क्षुद् दण्ड सम (Small rodshaped) कोषा भी देखे जाते हैं। श्लैष्मलकला के लोमी (Silia) की दिशा बीजवाहिनी के उदर गुहा में खुले द्वार से गर्भाशय की ओर होती है। इनके कारण एक लस (Lymph) की धारा उदरवाहिनिक गुहा से शंकुसम भाग तक और वहां से गर्भाशय तक रह जाती है।

श्लेष्मलकला में अध्ययन (Diverticula, कभी-कभी सहज रूप में (Congenidutly) और कभी-कभी शोथ (Inflamation) के कारण देखे जाते हैं। इनमें ही बीजवाहिनिक सगर्भता (Tubual pregnancy) होने की सम्भावना रहती है। बीजवाहिनियाँ निर्माणकालीन मूलरीय प्रणाली (Millerian duct) के करोटि शीष (Cranial end) का प्रतिनिधित्व करती है। बीजवाहिनी में होकर बीज व गर्भ बीज (Fertilised ovum) का वहन होता है। इसमें होकर परीक्षार्थ द्रव्य पदार्थ जैसे लिपिओडौल (Lipiodol) तथा गैस जैसे छारक (Oxygen) का प्रवेश उदरावरणिक गुहा में पहुँचाकर वाहिनी की सच्छिद्रता का अनुमान किया जाता है।

बीज (Descent of ovum) एक निश्चित समय पर बीजाकंष से

परिपक्व बीज फूटकर बीज कोष से धरातल पर आता है उसके साथ के जल (Liquore follicule) निकलकर बीज को बहा देता है। मानवीय बीजकोष के स्फुटित (Repture) होने से कुछ रक्त भरण (Vascular congestion) होता है जो बीजवाहिनियों के शंकुसम झालर युक्त भाग में भी देखा जाता है। इसके कारण वह बीजकोष में उस भाग पर झुककर कूपिका (Follicle) को पकड़ लेती है। कनिंघम कहता है कि जैसे हाथ के द्वारा गेंद पकड़ ली जाती है। वैसे ही कूपिका को झालर पकड़ लेती हैं। इधर कूपिका से ज्यों ही स्फुरित होकर बीज निकाल जल से बहाया जाता है त्यों ही लोमों की गति लस धारा के कारण प्रा की झालर द्वारा बीजवाहिनियों से प्रविष्टि कर दिया जाता है और वहाँ से वह धारा एवं गति उसे गर्भाशय की ओर अग्रसर कर देती है। यदि बीज में शुक्राणु (Spermetozoa) मिल गया तो दोनों को समागम (Fertilizaton) बीजवाहिनयों में होकर गर्भ बीज गर्भाशय में आकर अवस्थित हो जाता है और यदि न मिला हो तो भी बीज गर्भाशय में उतरकर आर्तव स्राव के साथ योनि में बह जाता है। इसका विस्तृत विवरण आगे के अध्याय में होगा।

गर्भाशयातिरिक्त सगर्भता (Extrauterine Pregnancy) कभी-कभी बीज वाहिनी की ओर से जाकर उदरावरजिक गुहा में ही रह जाता है। यदि कहीं इसका शुक्राणु के साथ समागम हो जाए तो औदारिक गर्भन (Abdominal-pregnancy) नामक महा भयानक अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

कभी-कभी बीज शुक्राणु के साथ मिलने पर भी आगे गर्भाशय की ओर गति नहीं कर पाता और बीजवाहिनियों के किसी अनधयून (Diverticulum) में रहकर बढ़ने लगता है। इसे बीजवाहिनिक समगर्भता (Tubual pregnancy) कहते हैं। यह भी वाहिनी विस्फोट (Tubual rapture) के कारण महादारुण अवस्था गिनी जाती है। और बहुत अधिक रक्तस्राव होता है। यदि कहीं तंग संयोजक भाग में सगर्भत हुई तो कुछ सप्ताहों में फट जाता है, क्योंकि उसके ऊपर चढ़ी हुई उदरावरणिक कला उसे और अधिक फैलने नहीं देती और चौड़े मुख वाले उत्फुल्लित भाग में कुछ अधिक काल (१-२ मास) तक सगर्भता चल सकती है।

प्रश्न—विशुद्ध आर्तव के लक्षण लिखकर असृग्दर रोग का कारण, लक्षण उपद्रव एवं चिकित्सा विधि लिखिए। (१९६७)

आर्तव

उत्तर—आर्तव स्त्री की योनि से होने वाला रक्तमयस्राव है—जिसके विषय में प्राचीन एवं अर्वाचीन आयु-विज्ञान में विस्तार से वर्णन किया गया है। प्राचीन साहित्य को अवलोकन करने पर मिलता है कि आर्तव के लिए रज-असृक-रक्त और बीज नाम दिया है। इस विषय में अश्रु त संहिता की आयुर्वेदी रहस्य दीपिका नामक टीका में टीकाकार डाक्टर घाणेकर ने लिखा है कि—"आर्तव रक्तमय स्राव्य है जो स्त्री जब जवान होने लगती है तब उस के गर्भाशय में प्रतिमास बहने लगता है। आर्तव का पहले बार बहना रजोदर्शन कहलाता है। रजोदर्शन इस बात का चिन्ह है कि स्त्री अब जवान होने लगी है। उस समय से स्त्री के शरीर पर यौवन के चिन्ह अधिक दृष्टिगोचर होने लगते हैं और भीतरी बीजकोष से पक्व बीज बाहर आने लगता है।"

"रजोदर्शन का काल साधारणतः १२-१४ वर्ष की आयु तक होता है। परन्तु इस काल में जल, वायु और सभ्यता के अनुसार फर्क आता है। शीत प्रधान देशों में उष्ण प्रधान देशों की अपेक्षा रजोदर्शन देर में होता है। सामाजिक अवस्था, रहन-सहन के ढंग, शिक्षण इत्यादि बातों में जो लड़कियाँ अग्रसर होती हैं—उनमें रजोदर्शन शीघ्र होता है। चंचल और नाजुक प्रकृति लड़कियों को भी रजोदर्शन शीघ्र होता है। जिन्हें शारीरिक परिश्रम कम करना पड़ता है—पौष्टिक और उत्तेजक भोजन खूब मिलता है—शहर की गन्दी बस्ति में रहना पड़ता है—उन लड़कियों को विपरीत प्रकार की लड़कियों की अपेक्षा रजोदर्शन जल्दी हुआ करता है। निर्बल और रोगावस्था में रजोदर्शन जल्दी हुआ करता है। प्रथम रजोदर्शन से ४५-५० वर्ष की अवस्था तक स्त्री प्रतिमास रजस्वला होती रहती है। सगर्भावस्था में और प्रसव के पश्चात् कई महीनों तक स्त्रियाँ रजस्वला नहीं हुआ करतीं। ४५-५ वर्ष के बीच में आर्तव निकलना स्वाभाविक तौर से बन्द हो जाता है।"

श्री घाणेकरजी ने इस तरह आर्तव के विषय में साधारण परिचय करा दिया है। इस विषय में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आचार्यों ने आर्तव शब्द से दो पदार्थों को ग्रहण किया है। जहाँ कालक्रमानुसार गर्भाशय से टपकने वाले रक्त को ग्रहण किया है वहाँ अन्तः पुष्प या बीज को भी ग्रहण किया गया है। सुश्रुत की टीका में आचार्य घाणेकरजी इस विषय में लिखते हैं कि "इसलिए स्त्री-आर्तव के दो भाग होते हैं—एक भाग वह होता है जो स्त्री

गर्भाशय और योनि की सफाई करके योनि को मैथुन के लिए सुख संवेदनीय गर्भाशय और योनि को शुक्राणुओं के लिए निष्कण्टक और गर्भाशय को गर्भ के अवस्थान के योग्य बनाता है। दूसरा भाग वह है जो प्रत्यक्ष गर्भोत्पत्ति में भाग लेता है। पहले को आर्तव शोणित या बहि: पुष्प (Mensturation or Menstural Blood) कहते हैं—दूसरे भाग के लिए आर्तव-शोणित ये ही शब्द प्रयुक्त होते हैं उसको अन्त: पुष्प कहते हैं।"

इस विषय में सुश्रुत संहिता के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य डल्हण की निम्न व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। लिखा है—"जो पुराना आर्तव उपचयपूर्वक तीन दिन से बहकर स्वयमेव निकल चुका है फिर जो नूतन और स्वल्प मात्रा में प्रवर्तित होने वाला आर्तव गर्भाशय में रह गया है— वह किस प्रकार शुक्र के साथ मिलकर गर्भ संजनन में समर्थ हो सकता है ? अर्थात् स्रुत आर्तव के अतिरिक्त स्वल्प और नूतन एक दूसरा आर्तव भी रहता है जो समागम की ऊष्मा से विसर्पित होकर शुक्र से सम्बन्ध स्थापित करता है।"

इस विषय को और स्पष्ट करने के लिए पाश्चात्य प्रसूत शास्त्रों में वर्णित विषय को जानना आवश्यक है। वहाँ पर बहि पुष्प के लिए आर्तव (Mensturation) का प्रयोग किया गया है और अन्त:पुष्प नाम से कोई चीज न हो कर ओवरी से निकलने वाले ओवा को ग्रहण किया जा सकता है जिससे शुक्र-कीट मिलकर गर्भ स्थापित करता है—इस तरह दोनों विषय प्रत्यक्ष दृष्ट भी हैं तथा मासिक स्राव से ओवा के आने का सम्बन्ध भी है। हम नीचे कुछ विस्तार से इस विषय पर लिख रहे हैं—

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने आर्तव को एक पारिभाषिक शब्द माना है जिसमें गर्भाशय के परिवर्तनों की एक श्रृंखला को ग्रहण किया गया है—इसमें प्रत्यक्ष रूप से स्त्री के गर्भाशय से एक स्राव होता है जो रक्तस्राव और श्लेष्म-स्राव हुआ करता है और नियमित रूप से प्रत्येक मास में होता है और इसका होना स्त्री के युवा हो जाने का प्रतीक माना जाता है। आर्तव—मासिक स्राव होने से यह समझा जाता है कि वह अब कन्या नहीं रही बल्कि युवती हो गई है। और वह शिशु को जन्म देने में समर्थ है। यह आर्तव भिन्न-भिन्न स्त्रियों को भिन्न-भिन्न कालों में होता है और देखा गया है कि देश, काल, जाति, रहन-सहन का इस बात पर विशेष प्रभाव पड़ता है। प्राय: बारह वर्ष की अवस्था में १९ वर्ष की अवस्था तक की लड़कियों को मासिक स्राव आरम्भ

होता है शीत प्रदेशों में बड़ी आयु में प्राय: १६ से १९ की वर्ष की आयु और उष्ण देशों में छोटी आयु में प्राय: १२ से १५ वर्ष की आयु में मासिक स्राव आरम्भ होता है।

कन्या को जैसे ही मासिक स्राव आरम्भ होता है—वैसे ही कुछ विशेष परिवर्तन होते हैं—उनमें उसकी श्रोणी की वृद्धि होना; बाह्य जननेन्द्रियों का विकास होना—भग प्रदेश एवं बगलों में रोएँ निकलना—स्तनों का पुष्ट होना कन्या में लज्जाशील-स्त्रीभाव एवं कामभाव का उत्पन्न होना होता है।

आर्तव होने के बीच में एक समय होता है अर्थात् एक बार आर्तवस्राव होने के बाद दूसरे महीने में अब आर्तव स्राव होता है तो इन दोनों के बीच में एक अवधि होती है—उस अवधि को अन्तरआर्तवकाल कहते हैं। इस काल में जिस दिन स्त्री को मासिक स्राव आरम्भ होता है उस दिन को पहला दिन माना जाता है और अगले मास जिन दिन स्राव आरम्भ होता है उस दिन तक से समय को गिना जाता है। यह समय प्राय: २८ दिन का होता है—तो भी कहीं-कहीं इक्कीस दिन का और किसी-किसी को तीस दिनों का भी होता है।

इसी तरह आर्तवकाल की भी सीमा होती है। आचार्य सुश्रुत ने तीन से पाँच दिन तक की सीमा निर्धारित की हैं और हारीत ने सात दिन की सीमा बताई है। प्रसूत तन्त्रवेत्ताओं का कहना है कि आर्तवकाल पचरात्रानुबन्धी होता है। देखा गया है कि विकृति की अवस्था में कहीं-कहीं एक-दो घण्टे का ही आर्तवकाल होता है और कहीं-कहीं आठ या दस दिन तक का होता है।

आर्तवस्राव केवल उसी समय, होने वाले परिवर्तन का द्योतक नहीं है अपितु स्त्री-गर्भाशय में पूरे मास तक परिवर्तन होते रहते हैं और उन सब परिवर्तनों को चार भागों में विभक्त किया जाता है। वे अवस्थाएँ हैं—

(१) प्रफलनावस्था (Proliferative phase)।

(२) निस्रावी अवस्था (Secretory phase)।

(३) आर्तव स्रावावस्था (Menstrual phase)।

(४) पुनर्निर्माण अवस्था (Regenetative phase)।

प्रफलनावस्था को विश्रान्तिकाल (Resting phase) भी कहा जाता है। यह चौथी अवस्था के बाद आरम्भ होती है और बीजविपाक के दिन तक (आर्तव चक्र के चौदहवें दिन तक) रहती है। इस अवस्था मे गर्भाशय का अन्तरावरण वृद्धि को प्राप्त होता है—इसमें उसकी मोटाई की वृद्धि होती है।

होता यह है कि आर्तवस्राव से जर्जरित अन्तरावरण जब पूर्णतः पुनर्निर्मित हो चुकता है तब कहीं जाकर प्रफलनावस्था आरम्भ होती है। इस अवस्था में गर्भाशय में पूर्णतः रक्तमयता मिलती है।

निस्रावी अवस्था पन्द्रहवें दिन में आरम्भ होकर आर्तवस्राव के आरम्भ तक रहती है—इस अवस्था को पूर्वार्तवावस्था भी कहते हैं। इस अवस्था में अन्तरावरण अति स्थूल हो जाता है और रक्तपूर्ण होता है। इस पूरी अवस्था का काल अधिक से अधिक तेरह दिन तक बताया गया है।

आर्तवस्राव की अवस्था में गर्भाशय में एकत्रित रक्त का स्राव होने लगता है। वहाँ पर भी ग्रन्थियाँ टूट-टूटकर-फूट-फूटकर गिरने लगती हैं और उनमें भरा हुआ रक्त का स्राव होने लगता है। यह अवस्था प्रायः तीन दिन तक रहती है। आर्तवस्राव की अवस्था में जो रक्त निकलता है उसमें रक्त काला या चमकीला लाल होता है पर प्रारम्भ में वह श्वेत लाल होता है क्योंकि उससे श्लेष्मा व लस अधिक देखा जाता है। इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है—इसकी गन्ध उग्र होती जो गेंदे के फूल की गन्ध से मिलती है। आर्तव शोणित की मात्रा आधा पाव से एक पाव (४ से ८ औंस) तक होती है। आर्तव शोणित की यह विशेषता होती है कि वह जमता (स्कंदित) नहीं। यह स्कन्दित क्यों नहीं होता—इस विषय में कई मत हैं। वह इसमें बहुत अधिक चूर्णातु (Calcium) होता है और तान्त्वि (fibrin) बिलकुल भी नहीं होती—इसलिए वह जमता नहीं है। इसके अतिरिक्त गर्भाशय अधिच्छेद में तान्त्वि निकालने की एक नुची हुई क्रिया (Selective action) देखी जाती है। विकृति होने पर यह क्रिया जब समाप्त हो जाती है तो रक्त जमने लगता है।

पुनर्निर्माणावस्था का आरम्भ आर्तवस्राव-अवस्था की समाप्ति से कुछ पूर्व ही आरम्भ हो जाता है और ४८ घण्टों के अन्दर-अन्दर समस्त धरातल पुनः निर्मित हो जाता है।

आर्तवस्राव के विषय में बहुत विचार करने पर वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस स्राव की उपस्थिति के लिए बीजग्रन्थियों का क्रियाशील होना आवश्यक है और दूसरे यह कि बीजग्रन्थी एवं गर्भाशय इन दोनों को मिलाने पर सम्बद्ध करने को क्रिया रक्त प्रवाहित होने वाला एक अन्तस्राव करता है।

बीजग्रन्थी मे दो प्रकार के स्राव निकलते हैं—उनमें से एक सारी ग्रन्थी

में बनता है—खासकर ग्रैफियन कूपिकाओं में जब वे परिपक्व होना आरम्भ करती हैं—इस स्राव को इस्ट्रोडिमोल (बीजि) कहते हैं—इसे ही ईस्ट्रीन (Oestrin) अथवा इस्ट्रोजोनिक हार्मोन कहते हैं। दूसरा स्राव (उद्रेचन) प्रोजेस्टोन या पीति कहलाता है। इस विषय में यह भी ज्ञात हो चुका है कि बीजग्रन्थियों के इन दोनों उद्रेचनों की क्रिया का पूर्ण नियन्त्रण पीयूषग्रन्थी का पूर्व भाग करता है। इन उद्रेचनों का क्या प्रभाव होता है—यह नीचे के विवरण से स्पष्ट है—बीजविपाक (ovulation) से लेकर आगे की बीजग्रन्थि व गर्भाशय को प्रत्येक क्रिया का विचार हमें निम्न तीनों रूपों में मिलता है—जो एक के पश्चात् दूसरे क्रमिक कार्य से मिलते हैं।

(१) बीजग्रन्थि में बीजविपाक होने के उपरान्त (जो पिछले आर्तवस्राव के १२ वें से १७ वें दिन तक होता है) लगभग १४ दिन तक पीतपिण्ड का निर्माण होकर वह प्रगल्भता को प्राप्त होने लगता है।

(२) इसी समय गर्भाशय के अन्तरावरण में प्रफलनावस्था प्रारम्भ हो जाती है और पूर्वार्तवावस्था के लिए जितने परिवर्तन आवश्यक हैं वे सब होने लगते हैं।

(३) इधर बीज अपनी यात्रा प्रारम्भ करके लगभग ८ दिनों के अन्दर गर्भाशय तक पहुँचता है— इस काल में गर्भाशय का अन्तरावरण स्थूल होने लगता है तथ उसमें निस्रावी अवस्था देखी जाती है और ऐसा लगता है मानो बीज को ग्रहण करने के निमित्त वह उत्तेजित हो रहा है।

इन तीनों कार्यों का ज्ञान कर लेने पर आगे के कार्यों का विचार इस बात पर निर्भर करता है कि क्या बीज शुक्राणु से सम्बद्ध हो चुका या नहीं। यदि बीज और शुक्राणु का सम्बन्ध नहीं जुड़ा तो प्रजनन-चक्र अपूर्ण रह जाता है और—

(१) बीजग्रन्थी के अन्दर पीतपिण्ड का अपजनन प्रारम्भ हो जाता है।

(२) गर्भाशय में स्थूल एवं उत्तेजित अन्तरावरण छिन्न-भिन्न होने लगता है तथा आर्तवस्रावावस्था प्रारम्भ हो जाती है। तथा

(३) अशुक्रबीज (unfertilised ovum) आर्तव के साथ-साथ योनि के बाहर चला जाता है।

इस प्रकार यह आर्तव चक्र पूर्ण होकर पुनर्निर्माण होने लगता है तथा इसके १२-१७ दिन पश्चात् अग्रिम बीजविपाक के,साथ दूसरा चक्र प्रारम्भ हो जाता है।

परन्तु यदि यह मान लिया जाये कि बीज और शुक्राणु का सम्बन्ध जुड़कर एक सशुक्र बीज की रचना हो चुकी है तो—

(१) बीजग्रन्थि के अन्दर पूर्ण प्रगल्भ पीतपिण्ड अपजानत न होकर स्वस्थ रूप में बराबर बना रहता है।

(२) गर्भाशय के अन्तरावरण में गर्भ पूर्वीय परिवर्तन (Pregestational changes) प्रारम्भ हो जाते हैं तया प्रतापी कला (Decidua) का निर्माण होने लगता है।

(३) सशुक्रबीज नवनिर्मित गर्भाशय या प्रपातीकला में प्रवेश करने लगता है।

इनके पश्चात् ९-१० मास तक की गर्भावस्था चलती है, तत्पश्चात् स्तन्य-काल चलता है। जिनमें न बीजविपाक देखा जाता है न मासिक धर्म ही। इस चक्र का नाम प्रजनन चक्र है। अब जबकि पुनः मासिक धर्म का प्रारम्भ होता है तो फिर नवप्रजनन चक्र का उदय समझना चाहिये।

इन उद्वेचनों का आर्तवचक्र से सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए यह बताना आवश्यक है कि अगर्भावस्था की दशा में प्रथम मासिक धर्म की समाप्ति से लेकर द्वितीय मासिक धर्म के प्रारम्भ होने के कुछ पूर्व तक रक्त की बीजि की मात्रा लगातार बढ़ती जाती है। इस अन्तरार्तवकाल में बीजी के साथ-साथ पीति (प्रोजैस्ट्रोन) बढ़ने लगती है—जो बीजि (ईस्ट्रियोडोल) के प्रभाव में परिवर्तन कर देती है। आर्तव के ४८ घण्टे पूर्व बीजग्रन्थिस्थित पीतपिण्ड अपजनित होने लगता है क्योंकि प्रतिलोमक्रिया (Reciprocal) आरम्भ हो जाती है। इस प्रकार बीजि एवं पीति के रक्त से एक साथ हट जाने के कारण पूर्वार्तवीय अन्तरावरण छिन्न-भिन्न हो जाता है क्योंकि बिना बीजि के अन्तरावरण का स्वास्थ्य स्थिर नहीं रह सकता। पीति के हटने से भी कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता है क्योंकि यदि इसी समय स्त्री को पीति का एक सूचिवेध दे दिया जाये तो फिर आर्तवस्राव नहीं होता।

इस तरह आर्तवस्राव के विषय में आधुनिक प्रसूतिशास्त्रों में वर्णन उपलब्ध होता है।

विशुद्ध आर्तव

आर्तव क्या है और उसका स्वरूप क्या है—इस विषय में हमने ऊपर बहुत

विस्तार से लिखा है। आयुर्वेद में विशुद्ध आर्तव का अलग से वर्णन किया है और उसका लक्षण सुश्रुत संहिता में दिया है—वहाँ लिखा कि "खरगोश के रक्त के आकार का या लाक्षा के रस के जैसा जो आर्तव होता है—वह आर्तव प्रशंसनीय है तथा वह आर्तव कपड़े पर धब्बा नहीं डालता।"[१] हमने ऊपर आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा बताया गया आर्तव का स्वरूप वर्णित किया है—उसमें स्कन्द का न होना—रक्तवर्णता तथा उसकी मात्रा का चार से आठ औंस तक होना आर्तव के विशुद्ध होने के लक्षण हैं।

असृग्दर रोग

स्त्री तो आर्तव सम्बन्धित विकारों में प्रधान रूप से पायी जाने वाली विकृति है। इस रोग का स्वरूप बताते हुए सुश्रुत-चरक संहिताओं में निम्न प्रकार वर्णन किया है—सुश्रुत संहिता शरीरस्थान अध्याय दो में लिखा है—"स्वाभाविक आर्तव की मात्रा से अधिक ऋतुकाल (३-५ दिन) से अतिरिक्त काल तक जो पूर्वोक्त आर्तव से भिन्न रक्त के लक्षणों वाला रक्त बहता है उसको असृग्दर कहते हैं।"[२] चरक संहिता में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है कि—"गर्भाशय गत शिराओं द्वारा रजोवह शिराओं को जो प्रमाण से अधिक रक्त की प्राप्ति होती है—उससे रक्त की या रज की शीघ्र विवृद्धि होती है। अतः प्रसूति तन्त्र विशारद उसे असृग्दर कहते हैं।"[३] चक्रपाणिदत्त ने इसे बहुत ही सरल शब्दों में वर्णित किया है; लिखा है—"जिसमें रक्त का प्रमाण बाहुल्य है—वह असृग्दर कहलाता है"[४] और इसी रोग को प्रदर भी कहा जाता है। प्रदर में भी रज या आर्तव का प्रमाण बढ़ जाता है।[५]

---

१. "शशासृक प्रतिम यत्तु यद्वालक्षारसोपमम्।
तदार्तव प्रशसन्ति यद्वासो न विरञ्ययेत्।" —सुश्रुत शा० अ० २०

२. "तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृन्तमनृतावपि।
असृग्दरं विजानी यादतोऽन्यरक्त लक्षणात्।" —सु० शा० ल० २

३. "मुक्तं प्रमालयुत्क्रम्य गर्भाशयताः सिराः।
रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादग्य तन्द्रजः॥
यस्माद्विवर्धयत्याशु रसभावाद्विमानता।
तस्मादसृकदरं प्राहुरेतत्तन्त्र विशारदाः॥" —चि० चि० अ० ३०

४. "असृक दीर्यते यास्मिन्निति असृग्दर।" —चक्रपाणिदत्त

५. "रजः प्रदीर्यते यस्मात्प्रदरतेन स स्मृतः।"

इस तरह हम कह सकते हैं कि जितना आर्तव साधारणतया योनि मार्ग से बाहर जाता है उससे कहीं अधिक रक्त असृग्दर में योनि से बाहर निकलता है।

ऊपर के वर्णन के आधार पर सुश्रुत संहिता के टीकाकार आचार्य धाणेकर ने सुश्रुत शरीर के द्वितीय अध्याय के ऊपरिवर्णित श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है—कि "सुश्रुत संहिता इस श्लोक में असृग्दर के तीन लक्षण वर्णित किए गए हैं—

(१) रजःप्राचुर्य,

(२) दीर्घकालीन प्रवृति,

(३) स्वाभाविक आर्तव के रक्त से असृग्दर के रक्त की भिन्नता।

पाश्चात्य परिभाषा में आर्तवरक्त पर विशेष विचार हुआ है। उसके अनुसार दो स्वतन्त्र नाम अर्थात् असृग्दर या प्रदर हैं; कोई एक नाम पाश्चात्य विज्ञान में नहीं दिया गया है। जब आर्तव स्राव की प्रवृत्ति अधिक परिमाण में होती है परन्तु आर्तवकाल स्वाभाविक यानी अधिक से अधिक सात रोज तक रहता है—उसमें अधिकता नहीं होती—तब उस अवस्था को मेनोरेजिया कहा जाता है। जब आर्तव स्राव ऋतुकाल में होकर अनार्तवकाल में भी होता है तब उस अवस्था को मेट्रोरेजिया कहते हैं। इस तरह यद्यपि दो अवस्थाओं के लिए दो शब्द प्रयुक्त होते है तथापि आयुर्वेद के अनुसार दोनों का वर्णन एक साथ ही किया जाता है—क्योंकि दोनों अवस्थाएँ बहुत कुछ सम्बन्धित हैं। जो कारण स्राव की वृद्धि करते हैं—वही कारण आगे चलकर स्राव के काल में वृद्धि और अनियमितता उत्पन्न करते हैं।"

असृग्दर रोग के कारण

चरक संहिता एवं माधव निदान में असृग्दर रोग के कारणों का वर्णन किया गया है—वहाँ बताया गया है कि "जो स्त्री लवण अम्लरसों से युक्त गुरु द्रव्यों का सेवन अत्यधिक मात्रा में करती है—कटु विदाही द्रव्यों को बहुत अधिक लेती है, स्निग्ध और मांसल द्रव्यों को बहुत अधिक खाती है। विशेष कर और ग्राम्य आनूप जीवजन्तुओं का मांस सेवन करती है—मेड़ोद्रक, खिचड़ी, खीर या दही आदि अभिष्यन्दी द्रव्य, सिरका, दही का तोड़, सुरा आदि सेवन करने से वात प्रकुपित होकर असृग्दर उत्पन्न कर देती है। (चरक-संहिता)

संयोग विरुद्ध या मात्रा विरुद्ध भोजन, मद्य, अध्ययन, अजीर्ण, गर्भप्रयात, अतिमैथुन, अधिक सवारी का प्रयोग, अधिक पैदल चलना, अधिक श्मोक करना अधिक मात्रा में धातुक्षीण करने वाले पदार्थों के सेवन करने से, भार उठाने से अभिघात से या दिवास्वप्न से प्रदर असृग्दर रोग होता है। (माधव निदान)

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने इस रोग के उत्पादक कारणों को तीन भागों में विभक्त किया है—

(१) **स्थानिक कारण**—स्थानिक कारणों में श्रेणीवर्ती विकृतियाँ आती हैं यथा गर्भाशय का पेश्यार्बुद; श्रोणीय शोथ; तीव्र उष्णावातिक अन्तरावणिक शोथ, गर्भाशय भ्रंश, प्रसव या गर्भपात के पश्चात् तथा बीज ग्रन्थियों की सद्रव सुरभित ग्रन्थियाँ।

(२) **अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की विकृतियां**—अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के कई प्रकार के ऐसे विचार हैं जिनमें यह रोग पाया जाता है। जैसे हाइपर थायराडिज्म की प्रारम्भिक अवस्था; हायपोथायरायडिज्म की अन्तिम अवस्था; मिक्सोडीमा; एक्रोमैगेनी; परसिस्टेण्ट थायमस; हायमोपलेजिमा आफ सुपरारीनल ग्लैण्ड; औरेरियन डिस्फकसन, कभी-कभी ओवरी की ओवर एक्टीविटी में भी मिलता है।

(३) **संस्थानिक करण**—रक्त के रोगों में, जीर्ण फोफुसिक रोगों में तथा जीर्ण वृक्क पाक में यह रोग होता है।

इस तरह असृग्दर रोग के कारणों का वर्णन उभयमत से कर दिया गया है।

असृग्दर के लक्षण और उपद्रव

सुश्रुत संहिता शारीर स्थान अध्याय दो में असृग्दर रोग लक्षणों का वर्णन करते हुए लिखा है कि "सर्व प्रकार के असृग्दर-अंगमर्द और वेदना सहित होते हैं—तात्पर्य यह है कि शरीर में मर्दनवत पीड़ा और आर्तवस्राव में शूल प्रधानता पाई जाती है। आर्तव के अत्यधिक स्राव के कारण धातुक्षय से शरीर में दुर्बलता, रक्तक्षय से भ्रम, मूर्छा, नेत्रों के समक्ष अंधेरा, प्यास, दाह, प्रलाप, पाण्डुता, तन्द्रा और अन्य वातज रोग होते हैं।"[1]

---

१. "असृग्दरो भवेत् सर्वः साङ्गमर्दः संवेदनः।
तस्यातिवृतौ दौबल्यं भ्रमो मूर्च्छा तमस्तृषा॥
दाह प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः।" —सुश्रुत शा० अ० २

चरक संहिता में तथा माधव निदान में दोनों के अनुसार प्रदर (असृग्दर) के चार भेद बताये हैं और प्रत्येक के लक्षण अलग-अलग लिखे हैं— हम यह उसका संग्रह कर रहे हैं—

(१) **वातज प्रदर**—रूक्षादि आहार-विहारों के अत्यधिक सेवन करने में वात का प्रकोप होकर असृग्दर का प्रारम्भ हो जाता है। वात के अत्यधिक प्रकोप में होने वाले प्रदर के लक्षण निम्न प्रकार होते हैं—इसमें फेनयुक्त, पतला, रूखा, बैंगनी रंग या अल्प वर्ण का या ढाक के फूल के समान शूल के साथ या बिना शूल के साथ आर्तव स्राव होता है; साथ में कटिशूल, वंक्षणशूल, हृत्शूल, पृष्ठशूल, श्रोणी प्रदेश में शूल होता है। इसे वातज प्रदर कहते हैं। माधवकर का कहना है कि इसमें स्राव का स्वरूप मांस को पीस कर निकाले हुए अरुणाभ रस के समान होता है तथा आर्तव की मात्रा एक साथ बहुत न आकर अल्प-अल्प मात्रा में आता है।

(२) **पैत्तिक प्रदर**—अम्ल, उष्ण, लवण और क्षारयुक्त पित्त कारक द्रव्यों का अधिक सेवन करने से पूर्वोक्त पैत्तिक लक्षणों से युक्त प्रदर रोग प्रारम्भ होता है। पैत्तिक प्रदर में नीले या काले रंग का अत्युष्ण स्राव योनि मार्ग से होता है—साथ ही रक्त बराबर बहता रहता है—जिसके साथ में बार-बार वेदना भी होती है। शरीर में दाह होना, मुख का तमतमाया हुआ होना, प्यास अधिक लगना, मूर्च्छा, ज्वर, भ्रम आदि लक्षण होते हैं।

(३) **श्लैष्मिक प्रदर**—कफ के प्रकोप असृग्दर के परिणामस्वरूप आर्तव के साथ-साथ पिच्छिल, पाण्डुवर्ण का गुरु, स्निग्ध और शीतल स्राव होता है। इसमें जमा हुआ रक्त भी आ जाता है—साथ में हल्की-हल्की पीड़ा भी होती और वमन, अरुचि हृल्लास, श्वास और कास मिलते हैं। माधवकर श्लेष्मिक प्रदर के स्राव को आम पिच्छा और पुलाकतोय तुल्य मानते हैं। यह नहीं भूलना चाहिए कि यह स्राव आर्तवक के साथ-साथ होते हैं।

(४) **सन्निपातिक प्रदर**—जब तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त प्रदर (असृग्दर) होता है तब स्त्री को अत्यधिक कष्ट होता है। उसका रक्त क्षीण हो जाता है। सब दोषों का प्रकोप यद्यपि समान होता है तो भी वात के लक्षण अधिक होते हैं। आर्तव स्राव के साथ-साथ प्रत्यनीक बल स्वरूप कफ बहा करता है। दुर्गन्धयुक्त, पिच्छिल, पीला, सड़ा हुआ, ऐसे पित्त के तेज से दुष्ट हुआ स्राव निकलता है। शरीर की वसा या मज्जा को लेकर अतिवेग

अपत्य मार्ग से घृत या वसा के समान स्राव कफ के कारण बहा करता है। इस प्रकार त्रिदोष प्रदूषित आस्राव योनि मार्ग में से बराबर बहता रहता है। स्त्री को रक्त की अत्यधिक श्रुति के कारण तृष्णा और दाह बना रहता है। ज्वर भी आया करता है। इस तरह रक्तक्षय से पीड़ित और दुर्बल रुग्ण असहाय होती है । माधवकर घृत, या हरताल के स्राव के योनि द्वारा प्रगट होने पर और साथ में उसके कुणयरन्ध्री होने पर उसे त्रिदोषज प्रदर मानते हैं और निर्देश करते हैं कि यह अवस्था असह्य है ।

असृग्दर चिकित्सा

प्राचीन आयुर्वेदीय संहिताओं में प्रदर या असृग्दर रोग की चिकित्सा में प्रयुक्त विधियों का वर्णन संक्षेप में किया है। हम यहाँ सूत्ररूप में उन सिद्धान्तों का वर्णन कर रहे हैं—

"जिस प्रकार चरक ने वातलादियोनियों की भेषज बतलाई है वही दोषानुसार चारों प्रकार के प्रदरों में भी प्रयुक्त करना चाहिये रक्तातिसार, रक्तपित्त और रक्तार्श में जो भेषजयोग बताये गये हैं वे सभी असृग्दर रोग में यथादोष प्रयुक्त कर सकते हैं।" (चरक)

"रक्तयोनि में आर्तव के साथ वर्ण के अनुबन्ध का ज्ञान करके यथादोष रक्तस्थापक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।"(चरक)

'रक्तपित्त, रक्तातिसार और रक्तार्श की जो चिकित्सा है—उसी के अनुसार रक्त प्रदर की चिकित्सा करनी चाहिये। (भैषज्य रत्नावली)

हम यहां रक्तपित्त, रक्तातिसार और रक्तार्श की चिकित्सा के सिद्धान्तों का वर्णन करने जा रहे हैं।

रक्तपित्त की चिकित्सा—आरम्भ में रक्तपित्त को रोकने के लिए यदि रुग्णा बलवान हो तो संग्राहक औषधि का प्रयोग न करें अन्यथा हृदय रोग, पाण्डु रोग, गृहणी रोग प्लीहोदर, कण्डु और ज्वरादि रोग हो जाएँगे। रुग्णा यदि बलवान है और रक्तपित्त अधोगामी है तो पेया का प्रयोग कराकर वमन कराएँ। यदि रुग्णा को मांस और बलक्षीण हो गया हो, बाल-वृद्ध या क्षीण-शोथ रोग से पीड़ित हो तो रक्त स्तम्भव औषध का प्रयोग कराकर रक्त को रोकें।

रक्ताभिसार की चिकित्सा—रक्तातिसार में बकरी का दूध प्रशस्त माना जाता है। उसे उबालकर शीतल कर लें फिर मधु और शर्करा डालकर पीने

या खाने के या गुदा का प्रक्षालन करने के काम में लाना चाहिए। खाने के लिए लाल शाली के चावलों का भात बकरी के दुग्ध के साथ खिलाएँ कबूतर आदि पक्षियों के मांस का रस घी में भूनकर शर्करा मिलाकर दे सकते हैं। धन्वदेशीय शीतवीर्य शशक, मृग या पक्षियों के मांस रस-अनम्ल ही घृत और शर्करा के साथ लें। मृग या बकरी के रक्त को घृत में छौंक कर पिलाएँ। गम्भारी के फूल या यूष—कुछ खट्टा करके शर्करा मिलाकर दें। नीलोत्पल, मोचरस, मञ्जिष्ठा—कमल केशर से बकरी के दूध को सिद्ध करके पिलाएँ। और जीर्ण होने पर केवल दूध और भात का प्रयोग कराएँ। यदि रुग्णा दुर्बल हो तो पहले दूध पीकर फिर भोजन कराएँ या पहले मक्खन को मधु और शर्करा के साथ देकर फिर दुग्धादि दें।

रक्तार्श चिकित्सा—शीत चिकित्सा से यदि रक्त-श्रुति न रुके, उस काल में रुग्णा को स्निग्धोष्ठा मांस से रस से तर्पित करें। भोजनोपरान्त घृत पिलाएँ कोष्ठा घृत या तेल शरीर का अभ्यंग करें और अंशाकुरों को कोषाक्षीर या घृत या तेल से सेकें।

इस तरह ऊपरी रक्तपित्त, रक्सातिसार और रक्तार्श की जो चिकित्सा बताई है—उसका प्रयोग अवस्थानुसार असृग्दर में भी करना चाहिए।

असृग्दर में औषध का प्रयोग

असृग्दर रोग में औषधियों का प्रयोग भी किया जाता है जो रोगनाशक होती है। कुछ योग नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) दही एक पाव, काला नमक चार माशा, भुना जीरा छः माशा, मधुमष्टी तीन माशे, मधु एक तोला मिलाकर पिलाने से पैत्तिक प्रदर होता है। (भैषज्य)

(२) हिरण के रक्त में शर्करा और मधु मिलाकर पिलाने से पैत्तिक प्रदर में लाभ होता है।

(३) अशोक की छाल दो तोला एक पाव जल में औटाएँ। एक छटांक रहने पर छानकर आधा सेर जल में डालकर पाक करें—फिर शीतल होने पर प्रभात में ही पिलाएँ तो तीव्र असृग्दर नष्ट हो जाता है।

(४) कठगूलर के फल का रस दो तोला लेकर एक तोला मधु में मिलाकर पी लें और भोजन में दूध ओदन और शर्करा का प्रयोग करें तो असृग्दर नष्ट हो जाता है।

(५) बालामूल को दुग्ध के साथ पिलाने से या कुटामूल और बलामूल दोनों को तण्डुलोहक के साथ पीने से रक्त-प्रदर नष्ट हो जाता है।

(६) बेर का चूर्ण गुड़ के साथ सेवन करने से सृग्दर नष्ट हो जाता है।

(७) गुड़ के साथ बदरी चूर्ण, कच्चा केला, दुग्ध अथवा लाक्षा चूर्ण और घृत सेवन करने से नष्ट हो जाता है।

(८) शर्करा, मधुमण्ठी, शुण्ठी, तेल और दधि सब सम भाग लेकर खोंचें से मथकर पीने से प्रदर नष्ट हो जाता है।

(९) पैत्तिक प्रदर में वासास्वरस व गुड़ची स्वरस उपर्युक्त द्रव्यों में डाल कर देने से लाभ होता है।

(१०) आमल की स्वरस को मिश्री मिलाकर पिलाने से प्रदर में होने वाला योनि दाह नष्ट हो जाता है।

(११) भूआमल की चूर्ण को तण्डुलोदक के साथ तीन दिन के अन्तर पर देने से प्रदर नष्ट हो जाता है।

प्रदर रोग की चिकित्सा में अनेक प्रसिद्ध शास्त्रीय योग काम में लिए जाते है—उनकी निर्माण विधि आदि बहुत विस्तृत हैं, अतः हम यहाँ केवल ऐसे योगों के नाम और ग्रन्थों के नाम नीचे दे रहे हैं—इनका आवश्यकतानुसार प्रयोग कर लाभ उठाया जाता है—

(१) पुस्यानुग चूर्ण	(चरक संहिता)
(२) चन्दनादि चूर्ण	(भेषज्य रत्नावली)
(३) अशोक घृत	(")
(४) न्यग्रोधादि घृत	(")
(५) शीत कल्याण घृत	(")
(६) सुनिषणक चांगरी घृत	(चरक संहिता)
(७) उत्पलादि योग	(भैषस्य रत्नावली
(८) मधूकाद्यवलेह	(")
(९) रसाञ्जनादिलेह	(")
(१०) प्रदरान्तक लौह	(")
(११) प्रदरारि लौह	(")
(१२) प्रदान्तक रस	(")
(१३) अशोकारिष्ट	(")

(१४) पत्रांगसत्र (,,)
(१५) लक्ष्मणारिष्ट (,,)

इन औषध योगों का प्रयोग अवस्था के अनुसार मात्रा एवं पथ्य सेवन के साथ करने से लाभ होता है। जिन स्त्रियों को चालीस-पैंतालीस वर्ष की आयु में असृग्दर रोग हो और औषध चिकित्सा से ठीक न हो रहा हो तो उस अवस्था में ऐसी क्रियाओं का प्रयोग करना अच्छा है जिनसे स्त्री जो रजोनिवृत्ति (मीनोपास) हो जाए। इसके लिए आजकल क्ष-किरण (X-Rays) तथा रेडियम रेज (Radium Rays) का प्रयोग किया जा रहा है। इन विधियों से स्त्री को रजोनिवृत्ति हो जाती है और असृग्दर रोग नष्ट हो जाता है।

प्रश्न—कष्टार्तव व्याधि का वर्णन, इसके कारण, लक्षण व चिकित्सा-पद्धति को ध्यान में रखते हुए कीजिए। इसका उदरावर्तिनी योनि रोग से क्या सम्बन्ध है?

कष्टार्तव—स्त्री को आर्तव का कष्टपूर्वक आना कष्टार्तव कहलाता है। इसका वर्णन 'शा' ने निम्न शब्दों में किया है कि—"गम्भीर स्वरूप की आर्तव कृच्छता एकान्तवासिनी नवयौवना रमणियों में अधिक प्रचलित है—जो प्रायः बैठे रहने का कार्य करती हैं अथवा जिनका कुछ आर्थिक महत्त्व रहता है—उनको यह व्यथा विशेषरूप से सताती है—क्योंकि वह रुग्ण ऋतुकाल में एक या अधिक दिन तक कुछ न कुछ परिश्रम करती रहती हैं जिसके कारण आर्तव स्राव सुचारु रूप से नहीं हो पाता।" (अंग्रेजी से अनूदित) श्री 'शा' द्वारा इन शब्दों में किया गया चित्रण यह बताने वाला है कि ऋतुकाल चर्या का पालन न करने वाली स्त्रियों को कष्टार्तव नामक रोग पीड़ित करता है।

कष्टार्तव के भेद

पाश्चात्य प्रभूतिशास्त्रों में कष्टार्तव तीन प्रकार का बताया है—

(१) पेश्याक्षेपजन्य (Spasmodic Dysmenorrhoea)
(२) रक्ताधिक्यजन्य कष्टार्तव (Congestive ,,)
(३) कलाविदारक कष्टार्तव (Membranous ,,)

हम यहाँ तीनों का अलग-अलग वर्णन करने जा रहे हैं—

(१) पेश्याक्षेपजन्य कष्टार्तव (Spasmuodic Dysmenorrhoea)—तीनों प्रकार के कष्टार्तवों में यह ही अधिक प्रचलित है। अधिक रुग्णाओं को इसी प्रकार का कष्टार्तव मिलता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें अन्य प्रकार के उपद्रव न मिलकर केवल शूल ही प्रधान रहता है। इसमें

होता यह है कि स्त्री को आधा से एक घण्टे तक अतिपीड़ादायक शूल उठता है और फिर कम हो जाता है और थोड़ी देर के बाद पुनः शूल उठता है। यह शूल बहुत तीव्र प्रकार का होता है—यहाँ तक भी देखा गया है कि शूल की तीव्रता के कारण रुग्णाएँ अचेत तक भी हो जाती हैं—हृल्लास, वमन भी हो सकते हैं। यह शूल ऋतुकाल से एक दिन पूर्व होता है और किसी को ही दूसरे दिन रहता है—वरन् समाप्त हो जाता है। शूल कटि और निम्न उदरभाग में होता है तथा वंक्षण और उरू प्रदेश तक होता है।

पेश्याक्षेपजन्य कष्टार्तव प्रायः षोडशी या अठारह वर्ष की तरुणियों में यौवन के उभार के साथ-साथ मिलता है—यह प्रायः ३५ वर्ष तक की स्त्रियों को मिलता है। प्रायः होता यह है कि कन्या के विवाह के पश्चात् मासिक अवस्था के सुधार एवं मैथुनादि प्रसंग से समाप्त हो जाया करता है—पर यदि इस अवस्था में भी रह जाए तो उन्हें प्रथम गर्भ का प्रसव होने के पश्चात् समाप्त हो जाता है। इस प्रकार के कष्टार्तव की यह विशेषता है कि जितना आर्तव स्राव होना चाहिए उससे कम मात्रा में ही रक्त निकलता है—कभी-कभी स्कन्दित रक्त (clot) निकलता है और शूल शान्त हो जाती है।

पेश्याक्षेपजन्य कष्टार्तव की उत्पत्ति में दो प्रकार के कारण हो सकते हैं—

(१) रचनागत कारण (Stractural)

(२) क्रियागत कारण (Functional)

रचनागत कारण—स्त्री के अंगों—रचनाओं का विकृत होना पेश्याक्षेपजन्य कष्टार्तव का एक कारण है। इसमें निम्नलिखित विकृतियाँ पाई जा सकती हैं—

(क) **गर्भाशय का दुर्निर्माण**—यौवन प्राप्त होने पर भी जब कन्या का गर्भाशय विकास को प्राप्त नहीं होता और शिशुरूप में ही होता है तो उसमें अत्यन्त रक्त स्राव होता है और तीव्र वेदना होती है। यदि गर्भाशय तनिक भी न बढ़े तो आर्तवस्राव होता ही नहीं।

(ख) **गर्भाशय का कुनिर्माण**—जिसके गर्भाशय का निर्माण सही हालत में न हुआ हो जैसे किसी का गर्भाशय द्विशृंगीय (Bi-cornuate) और किसी का पटीयुक्त (Septate) प्रकार का होता है और उनमें कष्टार्तव मिलता है।

(ग) **गर्भाशय की कुस्थिति**—यदि गर्भाशय अपनी स्वाभाविक स्थिति में न हो और विकृत स्थिति में हो तो वह भी कष्टार्तव का कारण होता है। ऐसी अवस्था में गर्भाशय स्वाभाविक से अधिक अग्रवर्तित हो, सहज पृष्ठावर्तन हो या

पार्श्ववर्तन हो—ये सभी विकृत स्थितियाँ हैं और इनमें कष्टार्तव उत्पन्न हुआ करता है।

(घ) **गर्भाशयपेश्यावरण की पेथ्युपचयता**—यह दुर्निमित गर्भाशय का ही प्रकार है। इसमें गर्भाशय के पेश्यावरण का अनैच्छिक पेशी भाग स्वाभाविक से कम पाया जाता है।

क्रियागत कारण

कष्टार्तव के कारणों में आर्तव क्रिया सम्बन्धित कारण भी हैं—ऐसे कारण में निम्न कारण समावेश किया है—

ध्रुवत्व की अल्पता—प्राकृतिक नियम यह है कि गर्भाशय पिण्ड का जब संकोच होता है तो गर्भाशय ग्रीवा का विस्फार होता है और जब गर्भाशय ग्रीवा का संकोच होता है तो गर्भाशय पिण्ड में विस्फार होता है—इसको ही स्वाभाविक ध्रुवत्व कहते हैं। जब कभी यह स्वाभाविक ध्रुवत्व विकृत हो जाता है तब कष्टार्तव की उत्पत्ति होती है। आर्तव स्राव को गर्भाशय से बाहर निकलने के लिए गर्भाशय पिण्ड में संकोच होता है और उस अवस्था में जब गर्भाशय ग्रीवा में विस्फार नहीं होता तो स्राव बाहर नहीं निकल पाता और कष्ट का कारण बनता है।

(१) **आर्तव स्राव की अस्वाभाविकता**—प्राकृतिक आर्तवस्राव ही द्रव रूप में रहता है उनमें एक ऐसा तत्व रहता है जो उस रक्त को जमने नहीं देता और द्रव रूप में रखता है। जब कभी वह तत्व नहीं रहता तो रक्त स्कंदन हो जाता है और स्कन्दित रक्त को गर्भाशय ग्रीवा से निकलने में कठिनाई पड़ती है जिससे शूल होता है।

इस तरह बात स्पष्ट हो जाती है कि पेश्याक्षेपजन्य कष्टार्तव रचनागत विकारों में तथा क्रियागत विकारों में मिलता है।

(२) **रक्ताधिक्यजन्य कष्टार्तव** (Congestive Dysmenorrhoea)—इस प्रकार का शूल आर्तवस्राव से ३ से ५ दिन से पूर्व प्रारम्भ होता है तथा जैसे ही आर्तवस्राव का आरम्भ होता है, यह शूल मिट जाता है। इस रोग की सत्पति श्रेणी की विकृति की द्योतक है। विशेष कर बीजवाहिनी कोषीय शोथ, परावरणिक शोथ श्रोणी का संसक्तियाँ, गर्भाशय के वृहत वेश्यार्बुद, बीज, ग्रन्थियों को सद्रवग्रन्थियाँ—कुछ ऐसे रोग हैं जिनमें रक्ताधिक्यजन्य कष्टार्तव होता है।

(३) **कलाविदारक कष्टार्तव** (Membranous Dysmenorrhoea)—गर्भाशय की अन्तर कला का आर्तवस्राव के साथ मिलकर निकलना शूल का कारण बनता है। जब कला गर्भाशय से अलग होती है तो गर्भाशय पेशी में अत्यधिक संकोच होता है और उससे शूल होती है। पहले-पहले शूल साधारण होती है परन्तु कला की मुद्रा और उसके बाहर निकलते समय तो वह अत्यधिक बढ़ जाती है। कला के साथ-साथ जो रक्तस्राव होता है वह स्वल्प मात्रा में देखा जाता है।

इस तरह तीन प्रकार के कष्टार्तव का वर्णन पाश्चात्य प्रसूति तन्त्रों में मिलता है जिसके आधार पर हमने ऊपर लिखा है।

कष्टार्तव बनाम उदावर्तनी योनि

कष्टार्तव का उदावर्तनी योनि से क्या सम्बन्ध है ? इस विषय में चरक चिकित्सा स्थान अध्याय तीस में वर्णित उदावर्तनी योनि का वर्णन नीचे दे रहे हैं। वहाँ लिखा है :

'वेगपूर्वक उदावर्तन वायु के द्वारा गर्भाशय का होता है जिसके कारण स्त्री बड़े कष्ट से आर्तवस्राव करती है। आर्तव के विमुक्त होते ही वह तत्क्षण सुखलाभ करती है। क्योंकि इस रोग में आर्तव का गमन नीचे योनि की ओर न होकर, गर्भाशय ग्रीवा पर मार्ग के संकुचित या अवरुद्ध हो जाने पर, आर्तव का गमन उर्ध्वदिशा में होने लगता है अतः इसे उदावर्तनी योनि कहा जाता है।"[1]

ऊपर के वर्णन को देखकर और इस सूत्र में दिए वर्णन को देखकर हर कोई कह सकता है कि यह कष्टार्तव का ही वर्णन है जो उदावर्तन योनि नाम से चरक संहिता में किया गया है।

कष्टार्तव की चिकित्सा

कष्टार्तव की चिकित्सा में पेश्याक्षेपजन्य कष्टार्तव तो प्रसव के पश्चात् प्रायः मिट ही जाती है। यदि रहे तो वेदनाशामक उपचार करना चाहिए। इस विषय में यह बात विशेष रूप से बताई गई है कि कन्या की योनि परीक्षा

---

१. "वेगोदावर्तना योनिमुदावर्तयतेऽनिलः,
सा रुगार्ता रजः कृच्छ्रेणोदावृतं विमुञ्चति।
आर्तवे सा विमुक्ते तु तत्क्षणं लभते सुखम्।
रजसो गमन दूर्ध्वं ज्ञेयोदावर्तिनी बुधैः।" —च० चि० अ० ३०

न की जाए। देखा यह गया है जब कन्याओं के जननांगों का स्पर्श किया जाता है तो उसे अधिक उत्सुकता हो जाती है और यह भी सम्भव है कि बुरी आदतें पड़ जाएँ।

साधारण रूप से खुली हवा में व्यायाम करना, कब्ज को दूर करने के लिए विरेचन करना, रक्तक्षय नष्ट करने के लिए लोहे के योगों का प्रयोग, जीवतिक्तियों से परिपूर्ण मिश्रित आहार, प्राणायाम का प्रयोग, किसी भी कार्य में व्यस्तता कुछ ऐसे उपाय हैं जिनसे कष्टार्तव में लाभ होता है।

शूल को कम करने के लिए कोड़ीन, वेराजोन, फेसासिटिन और एम्प्रीन आदि औषधियों का प्रयोग कराया जा सकता है। जब अत्यधिक शूल हो तो एट्रोपीन का सूचिवेध लगाया जा सकता है। मुख द्वारा एट्रोपीन की गोलियाँ भी दी जा सकती हैं चिकित्सक अंगों की विकृतियों को ठीक करने के लिए अन्तः स्रावी ग्रन्थियों के स्रावों का प्रयोग भी कराते हैं। ईस्ट्रोजन, प्रोजेस्ट्रोन तथा टेस्टेस्टीरोन का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जाता है।

जब कभी साधारणोपचार और औषध प्रयोग से भी रोग नहीं मिटता और रुग्णा पच्चीस वर्ष से बड़ी आयु की हो जाती है उस अवस्था में शस्त्रोपचार किया जाता है। इस शास्त्रोपचार में गर्भाशय में ग्रीवा का विस्फार किया जाता है। इस शस्त्र कर्म से पच्चीस प्रतिशत रुग्णाओं को लाभ होता है शेष को छः मास पश्चात् और भी अधिक तीव्र शूल होने लगता है और कष्ट बढ़ जाता है। यदि कष्टार्तव अत्यधिक बढ़ जाए तो निम्नलिखित शस्त्र कर्म भी किये जा सकते हैं—

(१) स्वतन्त्र नाड़ी ग्रन्थ्युच्छेद (Sympathectomy)।

(२) गर्भाशयोच्छेद (Hysterectomy)।

प्रथम में रोग तो नहीं मिटता परन्तु वेदना की अनुभूति नहीं हो पाती और दूसरे शस्त्रकर्म में गर्भाशय ही निकाल दिया जाता है—फिर शेष ही कुछ नहीं रहता।

कष्टार्तव में आयुर्वेदिक चिकित्सा

चरक संहिता चिकित्सास्थान अध्याय तीस में उदावर्ता योनि नाम से इस रोग का वर्णन किया गया है। उसकी चिकित्सा का सिद्धान्त बताते हुए लिखा है—कि—"स्नेहन और बस्ति आदिक वातनाशक कर्म कष्टार्तव में करने चाहिए। स्नेहन के लिए भेशृत स्नेह (घृत-तेल-वसा मिश्रित) का प्रयोग करना

चाहिए। लवण तेल से शरीर का अभ्यंग किया जा सकता है। स्नेहन ह पर औदक, आनूप देशीय मांस, दुग्ध, तिल और चावल की पीठी या अ वातघ्न द्रव्यों के साथ नाड़ी स्वेद या कुम्भी स्वेद देना चाहिए। अश्म सं प्रस्तर स्वेद और शंकर स्वेद का प्रयोग करना चाहिए। वस्ति प्रयोग में स्नि बस्ति तथा अनुवास बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। दशमूलक्वाथ या दु की उत्तर बस्तियों से योनि प्रक्षालन कर सकते हैं। स्वेदन के पश्चात् गर्म पा शरीर पर डालना चाहिए। तत्पश्चात् वातनाशक आहार करना चाहिए।"

भैषज्य रत्नावली में लिखा है कि "योनि को किसी तेल से स्निग्ध कर उसमें हिंस्रा का कल्क कुछ गर्म करके भरने से वातशूल नष्ट हो जाता है।

स्नेहन के लिए निम्नलिखित शास्त्रीय योगों का प्रयोग कराया जाता है-

(१) गुडूच्यादि तेल (चरक संहिता)
(२) हिंग्वादि तेल (भैषज्य रत्नावली)
(३) सुधारक तेल (")
(४) बलादि घृत (")
(५) काश्यमर्यादि घृत (")

इन स्नेहों का पान अभ्यंग एवं पिचु प्रयोग तथा अनुवासन में अवस्था नुसार प्रयोग किया जाता है।

निम्नलिखित औषधयोग कष्टार्तवनाशक हैं—

(१) रजःप्रवर्तनी बटी (भैषज्य रत्नावली)
(२) कुमारिका गुटिका (")
(३) विजया बाटिका (")
(४) पिप्पल्यादि योग (चरक संहिता)
(५) रास्नादि योग (")
(६) वृषकादि योग (")

इन औषध योगों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए।

प्रश्न—गर्भावस्था के लक्षणों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उत्तर—जिस समय स्त्री एवं पुरुष के संयोग से शुक्र एवं डिम्ब का मिल स्त्री के जननांगों में हो जाता है, उसी समय से गर्भावस्था आरम्भ हो जा है और उसकी वृद्धि होते हुए नौ मास व्यतीत हो जाने पर जब शिशु जन्म ले है तब तक वह गर्भावस्था ही कहलाती है। गर्भ है अथवा नहीं, और है तो कितने समय का है—इन बातों को जानने के लिए गर्भावस्था के लक्षणों

जानना आवश्यक है। शास्त्रों में इन लक्षणों के तीन भागों में विभाजित कर रक्खा है जो निम्न प्रकार हैं—

(१) हीन बल लक्षण (Presumptive),
(२) मध्य बल लक्षण (Probable),
(३) उत्तम बल लक्षण (Positive)।

हम यहाँ क्रमशः इनका वर्णन कर रहे हैं—

(१) **हीन बल लक्षण**—इस अवस्था में मुख्य रूप से निम्नलिखित लक्षण हुआ करते हैं जिनसे गर्भस्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है—

(i) **आर्तवादर्शन**—स्त्रियों की युवावस्था में होने वाला नियमित मासिक स्राव होना बन्द हो जाता है। जिन स्त्रियों को सदैव नियत समय पर मासिक स्राव होता है और वह आना बन्द हो जाय तो यह महत्व का लक्षण माना जाएगा। यह बात विवाहित स्त्रियों के लिए ही है। कभी-कभी बिना गर्भ स्थिति के भी मासिक स्राव नहीं आना—उन अवस्थाओं का भी ध्यान रखना चाहिए। कई रोगों के कारण यथा दुर्बलता, पांडु एवं क्षय की अवस्था में रजःस्राव बन्द हो जाता है। कुछ नव विवाहिताओं को मानसिक चिन्तन-शिशु इच्छा के कारण भी मासिक स्राव बिना गर्भस्थित के बन्द हो जाता है। प्रौढ़ स्त्रियों को रजःक्षय-काल (लगभग ५० वर्ष की आयु में) आ जाने के कारण मासिक-स्राव नहीं आता। स्तन्यकाल में जब बच्चा दूध पीता है तब भी रजस्राव बन्द रहता है। अतः इस लक्षण को देखने पर इन सभी अवस्थाओं का विचार कर लेना चाहिए।

(ii) **प्रातग्लानि**—गर्भावस्था के दूसरे मास से आरम्भ हो कर चौथे मास के अन्त तक यह लक्षण प्रायः पाया जाता है। गर्भिणी जैसे ही प्रातः शय्या से उठती है तो उसका जी मिचलाता है उल्टी-आने लगती है। ध्यान रखना चाहिए कि बिना गर्भावस्था के भी अजीर्ण एवं यकृत के विकारों के कारण इस प्रकार के लक्षण मिल सकते हैं।

(iii) **स्तन परिवर्तन**—गर्भावस्था में स्तनों में भी परिवर्तत आया करते हैं। प्रथम परिवर्तन जो उनकी वृद्धि होना एवं कठोरता होना है। रजःस्राव के दिनों में ही यह लक्षण होने लगते हैं। यदि गर्भ स्थापित हो जाए तो इनकी वृद्धि होने लगती है। चुचुक भी प्रहर्षयुक्त होता है और उसका रंग कृष्ण वर्ण का हो जाता है। गर्भावस्था के तीसरे मास में स्तन मण्डल के चारों ओर रंजन द्रव्य सञ्चित होने लगता है। इसी समय पर स्तन पिड़िकाएँ निकलने लगती

हैं। चुचुक के चारों ओर बने हुए रंजक द्रव्य के घेरे के बाहर-बाहर एक औ
घेरा बन जाता है जो पाँचवें अथवा छठे मास में होता है। चौथे या पाँच
महीने में चुचुक को दबाकर पतला चिकना-सा द्रव निकल जाता है। स्तन व
शिराएँ उभरी हुई दिखाई देती हैं और त्वचा भी तनावपूर्ण दिखाई देती है

(iv) उदर परिवर्तन—उदर की क्रमिक वृद्धि होती है। उदर का अधो
भाग प्रथम दो मासों में चटपटा हो जाता है, तीसरे महीने में अनवरत उदर क
बढ़ना, चौथे मास में उदरगुहा में गर्भाशय का स्पर्श किया जा सकता है। उद
पर किकिक्स की उपस्थिति रहती है। यह लक्षण बहुप्रजाताओं में स्पष्ट दिखा
देते हैं।

(v) बस्ति की क्षुब्धता—गर्भ में आरम्भिक दो-तीन सप्ताहों में औ
अन्तिम दो तीन सप्ताहों में बस्ति क्षुब्ध रहती है। इससे बार-बार मूत्र-त्या
की इच्छा रहती है।

(vi) दोह दावस्था—यह विशिष्ट लक्षण होते हैं जिनका समझना बहु-
प्रजाताओं के लिए सरल होता है। इस अवस्था में निम्न लक्षण प्रायः हुआ
करते हैं—स्वभाव का चिड़चिड़ापन, ग्लानि, क्षुधानाश एवं विचित्र प्रकार के
पदार्थों को खाने की, देखने की इच्छा होना आदि। इन लक्षणों से भी गर्भ
स्थिति का ज्ञान हो सकता है।

यह लक्षण अनुमान कराने वाले हैं कि गर्भ स्थिति हो सकती है।

(२) मध्यबल लक्षण—गर्भावस्था के लक्षणों में गर्भवती के जननांगों में
होने वाले परिवर्तनों का भी अपना विशेष स्थान है। इनकी उपस्थिति जान कर
गर्भावस्था का बोध हो सकता है। हम यहाँ कुछ लक्षण लिख रहे हैं।

(i) गर्भाशय की आयाम वृद्धि—गर्भ स्थिति में गर्भाशय की निरन्तर
अविषम और शीघ्र वृद्धि होती है। इस विषय में विस्तृत विवरण में अनुसार
गर्भाशय की मासानुमासिक वृद्धि होती है। द्वितीय मास के अन्त में गर्भाशय
हंस के अण्डे के परिमाण का होता है। तीसरे मास के अन्त में इसका परिमाण
एक बड़े सन्तरे के बराबर होता है। इस अवस्था में इसके ऊपरी किनारे को
भगसंधानिका के ऊपर स्पर्शन परीक्षा द्वारा अनुभव कर सकते हैं। चौथे मास
के अन्त में यह श्रेणी कण्ठ के ऊपर आ जाता है और उदर की सामने वाली
दीवार का सम्पर्क प्राप्त कर लेता है। गर्भाशय स्कन्ध भग्नसन्धानिका से लग-
भग चार इंच ऊपर की रेखा में जाता है। पांचवें मास के अन्त में नाभि
के एक अंगुल नीचे आ जाता है और छठे मास के अन्त में नाभि के ठीक ऊपर

तक पहुँच जाता है। सातवें, आठवें और नवम मास में यह क्रमशः नाभि के ऊपर दो अंगुल प्रतिमाह की गति से वृद्धि करता है। दसवें मास में या गर्भावस्था के अन्तिम सप्ताहों में वह फिर नीचे को गिरता है।

(ii) **गर्भाशय गात्र की बनावट में परिवर्तन**—गृहित गर्भा स्त्रियों में दृढ़ एवं कठिन गर्भाशय प्रारम्भिक सप्ताहों में मृदु और कोमल हो जाता है। इसी लिए गर्भाशय स्थिति स्थापक गुण धर्मवाला है। ग्रीवा गात्र का मध्य भाग विशेष कर मृदु हो जाता है। गर्भाशय की स्थितिस्थापकता के विषय में सर्व-प्रथम शोधकर्त्ता के नाम पर 'रैश्चैज का चिन्ह' (Rasech's sign) कहा जाता है। ग्रीवा गात्र के मध्य भाग के विशेष मृदु होने को 'हेगर का चिन्ह' (Hager's sign) कहा जाता है।

इन दोनों चिन्हों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि विशेष विधियों से इनकी उपस्थिति-आदि का ज्ञान करना चाहिए।

रैश्चैज का चिन्ह (Rasech's sign) जानने की विधि—'एक हाथ की दो अंगुलियों को अथवा किसी एक ही अंगुली को योनि के पूर्व कोण पर रखकर दूसरे हाथ को उदर पर रखकर उदर को दबाएँ और दोनों हाथ की अंगुलियों को दवाने की कोशिश करें। इस प्रकार ग्रीवा के गात्र के मध्य का मृदुतम भाग अत्यन्त कोमल होने के कारण विलुप्त-सा प्रतीत होता है। गर्भाशय का गात्र गोलाकृति और अल्प कठिन होता है। ग्रीवा भी प्रायः कठिन होती है। इस परीक्षा को करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि गर्भाशय आगे की ओर झुका हुआ हो तो परीक्षण करते समय अंगुलियों को पूर्व कोण में और यदि गर्भाशय पश्चिम भ्रंश हो तो पश्चात् कोण में रखना चाहिए।

उदर वाले हाथ को भगसन्धानिक के ऊपर रखकर श्रेणी में दबाएँ, योनि वाले हाथ की दोनों अंगुलियों को मिलाने की कोशिश करें अथवा एक हाथ से उदर की ओर से गर्भाशय से नीचे श्रोणी को दबाएँ, दूसरे हाथ के अंगूठे को योनि के पूर्व कोण और तर्जनी को गुदा पर रख गर्भाशय तथा ग्रीवा गात्र के संयोग स्थल को पकड़े इस प्रकार गर्भाशय की ग्रीवा और गात्र भी अपेक्षाकृत कठिनता और ग्रीवा के मध्य भाग की विशेष मृदुता का सम्यक् अनुभव परीक्षक को हो जाता है। इन परीक्षाओं को युग्म विधियाँ कहते हैं।"

हेगर चिन्ह की परीक्षा विधि—'गर्भावस्था में प्रारम्भ से ही लहरें उत्पन्न होने लगती हैं और तीसरे मास से जब यह अधिक व्यक्त हो जाती

है—युग्म परीक्षा विधि से गर्भाशय का स्पर्श करते समय इनका अनुभव किया जा सकता है। इसी प्रकार की संकोच तरंगें हर पाँच या दस मिनट के अन्तर से आती रहती हैं। जब गर्भाशय बढ़कर ऊपर की ओर उदर गुहा में आता है तो केवल उदर पर हाथ रखने मात्र से ही संकोच का अनुभव परीक्षक को होने लगता है। प्रत्येक संकोच तरंग के समय गर्भाशय कुछ क्षणों के लिए दृढ़ एवं कठिन हो जाता है। यह एक महत्त्वपूर्ण चिन्ह है जो गर्भ स्थिति को बताने वाला होता है।"

(iii) **योनिस्पन्दन**—मध्यबल चिन्हों में यह भी महत्व रखता है। गर्भावस्था के दूसरे या तीसरे महीने में योनि के पार्श्व कोणों पर स्पन्दन का अनुभव किया जा सकता है।

(iv) **योनिगत परिवर्तन**—योनि की कला का रंग नीला हो जाता है और योनि के अधोभाग की शिरा में कुटिलता आ जाती है। योनिगत स्राव की वृद्धि हो जाती है और श्लेष्मक कला खुरदरी हो जाती है।

(v) **प्रत्याघात (Ballotment)**—यह दो प्रकार का होता है—

(क) बाह्यप्रत्याघात। (ख) अभ्यान्तर प्रत्याघात।

यह क्रमशः उनकी विधियों का वर्णन करेंगे।

"बाह्य प्रत्यावाता के लिए स्त्री को पार्श्व में लिटाकर उदर के ऊपर गर्भाशय के दोनों पार्श्वों पर हाथों को रखें, फिर नीचे वाले हाथ से ऊपर की ओर गर्भ को फेकें, पुनः उन्हीं हाथों से लौटाते हुए गर्भ के प्रत्याघात का अनुभव करें इससे गर्भ का कोई अवयव हाथ पर लगेगा। वापस आते हुए भी कई बार दूसरे हाथ पर कोई अवयव लगता है।"

"आभ्यन्तर प्रत्याघात के लिए स्त्री को पीठ के बल लिटा दिया जाता है—उसके सिर, ग्रीवा और स्कन्ध के नीचे तकिया रखकर कुछ ऊँचा कर दिया जाता है। फिर उनकी योनि में गर्भाशय ग्रीवा के सम्मुख के अथवा पूर्ण कोण में परीक्षक को अपनी दो अंगुलियों को प्रविष्ट करना होता है, गर्भाशय स्कन्ध को दूसरे हाथ से जो उदर के ऊपर पड़ा रहता है, मजबूती से पकड़कर रखना पड़ता है। अब लम्बी सांस लेने को कहते हैं फिर एक क्षण के लिए सांस रुकवा दिया जाता है। अब परीक्षक अपनी अंगुलियों से जो योनि में होती हैं जोर का धक्का ऊपर को देता है—इससे गर्भ का सिर अंगुलियों से अलग हो जाता है। थोड़े समय में वह पुनः नीचे आकर अंगुलियों से टकराता है। यह चिन्ह भी सहायक सिद्ध होता है।

उत्तम बल चिन्ह (Positive signs)—गर्भ का निश्चित ज्ञान प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित चिह्न ही विश्वसनीय हैं—इनकी उपस्थिति में गर्भ का होना निश्चित मानना चाहिए।

(१) गर्भहृच्छब्द—पञ्चम मास के मध्य में अथवा अन्त में गर्भ के ऊपर यह शब्द सुनाई देते हैं जिनकी आवाज तकिए के नीचे रखी घड़ी की आवाज से मिलती-जुलती होती है। एक मिनट में १२० से १४० तक शब्द सुनाई दिया करते हैं। सर्वप्रथम इस शब्द की प्राप्ति मध्यरेखा में नाभि के नीचे अथवा भगसन्धानिका के ऊपर होती है। गर्भ की अवस्था के अनुसार अन्य अवस्थाओं पर भी सुनाई दे सकता है।

(२) गर्भ चेष्टाओं का अनुभव—चौथे-पाँचवें मास में गर्भवती को गर्भ की चेष्टाओं का अनुभव होने लगता है। परीक्षक भी स्पर्श परीक्षा द्वारा अथवा श्रवण परीक्षा द्वारा कर सकता है।

(३) गर्भाङ्ग स्पर्श—गर्भ के चौथे-पाँचवें महीने में स्पर्श करने से गर्भ के विभिन्न अंगों का स्पर्श किया जा सकता है।

(४) क्ष-किरण—चौथे महीने के बाद गर्भ के कंकाल का क्ष-किरण की सहायता से कर सकता है।

इस तरह उक्त चिन्हों को देखकर कहा जाता है कि गर्भ है अथवा नहीं। आधुनिक वैज्ञानिकों ने इन चिह्नों को प्रथम दो भागों में विभाजित चिन्हों की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण माना है।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थ सुश्रुत संहिता में गर्भावस्था के लक्षणों का वर्णन किया गया है। वहाँ इसके मुख्य रूप से दो भाग किए हैं—सद्योगृहित गर्भ के लक्षण और गृहित गर्भ के पश्चात्कालीन लक्षण। सद्योगर्भ धारण के चिन्ह बताते हुए कहा गया है—"गर्भधारण के निम्नलिखित लक्षण होते हैं।"[1]

(१) श्रम—गर्भवती को थकावट-सी अनुभव होती है।

(२) ग्लानि—गर्भवती को आलस्य एवं निष्क्रियता का अनुभव होता है।

(३) पिपासा—अधिक प्यास लगती है।

(४) सक्थिसदन—गर्भवती के पैरों में शिथिलता आ जाती है।

---

१. "तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि-
श्रमोग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं,
शुक्रशोणितयो खवरवः स्फुरणञ्च योनेः।" —सु०शा० अ०३

(५) शुक्रशोणितावरोध—मैथुन के पश्चात् योनि में से शुक्र आदि बाहर नहीं लगता।

(६) योनिस्फुरण—गर्भवती की योनि में विशेष प्रकार का स्फुरण होता है।

यह जो लक्षण बताए हैं, यह संभाव्य लक्षण हैं—बहुत अनुभवी गर्भवती ही इन लक्षणों को सही रूप में जान सकती है।

गृहीत गर्भ के चिन्हों का, जो उदरकाल में मिलते हैं, वर्णन करते हुए सुश्रुत संहिता में लिखा है कि—"गर्भवती के स्तनों के मुख काले होते हैं। रोएँ खड़े होते हैं। आँखों के बाल चिपकने लगते हैं। कोई भी अन्य कारण न होते हुए वमन होने लगता है। सुगंधी से भी त्रस्त होती है। मुख के लार का स्राव होता है। हाथ-पैर शिथिल होते हैं। यह लक्षण गर्भिणी में होते हैं।"[१]

प्रश्न—गर्भिणी चर्या का वर्णन करते हुए पुंसवन विधि का भी वर्णन करें।

उत्तर—गर्भ धारण करने वाली स्त्री को अपने स्वास्थ्य की रक्षा के लिए और गर्भस्थ शिशु की वृद्धि एवं रक्षा के लिए कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक होता है—ये गर्भिणी चर्या में आते हैं। इनके पालन करने से गर्भ में श्रेष्ठ रूप एवं गुण भी आते हैं—ऐसा कहा गया है। इस प्रकार के नियमों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—प्रथम वह सब नियम जो गर्भावस्था में होने वाले परिवर्तनों के ज्ञान के लिए आवश्यक हैं और दूसरे वे सब नियम जिनका पालन गर्भिणी को करना होता है।

प्रथम प्रकार के नियमों में अधिक कार्य चिकित्सक का होता है। जब भी कोई गर्भिणी आए तो उससे सम्बन्धित सभी नियमों की जानकारी चिकित्सक को हो जानी चाहिए। इससे उसका पूर्ण इतिवृत्त जिसमें उसे होने वाले रोगों का भी समावेश हो लेना चाहिए। इसमें उस स्त्री के विषय में आवश्यक तथ्य प्रगट हो जाएँगे। बाद में शारीरिक परीक्षा करनी चाहिए। सभी अवयवों के विषय में परीक्षण करना आवश्यक है तो भी गर्भ एवं गर्भाशय सम्बन्धी विशेष परीक्षा अति आवश्यक है। गर्भ की क्या स्थिति है। उसके जननांगों का माप

---

१. "स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा !
अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः समील्यन्ते विशेषतः
अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात् ।
प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिंगमुच्यते ।"
सु० शा० अ० ३

कितना है— कहीं वह अस्वाभाविक तो नहीं ? उसका भार कितना है ? ध्यान रखना चाहिए कि निर्गम पथ की रचना में कोई विचार हुआ तो प्रसव होने में कठिनाई हो सकती है और उस अवस्था में आपरेशन आदि द्वारा ही पूरा समय होते ही बालक निकल सकता है। इस विषय में पहले से ही ज्ञात रहने पर उस समय कठिनाई की सम्भावना नहीं रहती क्योंकि उस समय तक उस विषय में सब व्यवस्था हो चुकी होती है। भार देखना इसलिए आवश्यक है कि चौथे मास पूर्व गर्भवती का भार बढ़ना गर्भ के कारण नहीं होता वह किसी दूसरे रोग की ओर निर्देश करता है—अतः इस अवस्था में उपचार बदला जा सकता है। मूत्र की परीक्षा भी गर्भवती के विषय मे आवश्यक जानकारी देती है—अतः प्रतिमास मूत्र परीक्षा करनी चाहिए। शुक्ली (एल-ब्युमिन) कितनी मात्रा में जा रहा है यह ध्यान रखना चाहिए। इस तरह यह सब जानकारी गर्भवती का कर्त्तव्य है।

दूसरी तरह के नियम गर्भवती के मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिए हैं। इनमें चिकित्सक का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह गर्भवती के मस्तिष्क में यह बात बैठा दे कि गर्भावस्था कोई रोगावस्था नहीं अपितु एक स्वाभाविकवस्था है। कुछ गर्भवती स्त्रियाँ ऐसी मिलती हैं जो अपने को रुग्ण समझने लगती हैं और ऐसा समझना तथा उनके गर्भ के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। विश्राम, व्यायाम, आहार, मल-त्याग, मैथुन, स्नान वस्त्र धारण आदि सभी बातों पर विचार कर उनका पालन करना आवश्यक है। इस विषय में हम सुश्रुत संहिता शरीर स्थान अध्याय १० से दिए गए नियमों का वर्णन कर रहे हैं जो इस विषय में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

"गर्भिणी पहले दिन से सदा प्रसन्न, अलंकारयुक्त—श्वेत वस्त्र धारण करने वाली, शान्ति रखने वाली, मंगल कार्य में रत, देवता की पूजा वाली हो। ब्राह्मण तथा गुरुजनों की सेवा में तत्पर रहे। मैले, हीन विकृत, अवयवों को स्पर्श न करे, दुर्गन्धयुक्त द्रव्य, दुदर्शन एवं उद्वेग करने वाली कथाओं को छोड़ देवे। शुष्क बासी, सड़ा हुआ तथा क्लिन्न अन्न न खाए। बाहर निकलना, शून्य स्थान, चैत्य स्थान एवं श्मशान तथा वृक्षों का आश्रय न ले। क्रोध, भय, ऊँचा बोलना, ऊँचा हँसना आदि भावों को छोड़ दे। बारंबार तेल की मालिश एवं उबटन का प्रयोग न करे। शरीर को कष्ट न दे। गर्भविक्रान्ति नामक अध्याय में दिए गये वर्जित कार्यों को छोड़ दे। शयन एवं आसन पर नरम बिछौना बिछाना चाहिये। शयन एवं आसन बहुत

ऊँचे न हों। यह सुखकारक हों—पीड़ा वाले न हों। हृदय को प्रिय लगने वाली मधुर, स्निग्ध दीपनीय वस्तुओं में भोजन का पान करना चाहिए।"

सामान्य नियम बताने के पश्चात् सुश्रुत संहिता में आगे चलकर विशष नियम बताये हैं। वहाँ लिखा है "विशेष कर गर्भिणी पहले, दूसरे, तीसरे महीनों में मीठा, ठण्डा, पतला आहार सेवन करे। कुछ लोगों का कहना तीसरे महीने में साठी चावल दूध से खिलाना चाहिए। चौथे महीने में साठी चावल दही से, पांच महीने में दूध से छठे में घी से खिलाना चाहिए।"

"चौथे महीने में दूध में मक्खन मिलाकर सेवन करना चाहिए और जाँगल माँस के साथ हृदय को हितकर लगने वाला भोजन करना चाहिए। पाँचवें मांस में दूध और घी मिलाया हुआ पान करना चाहिए। छठे मास में गोखरू में पकाये हुए घी अथवा यवागु का पान करना चाहिए। सातवें मास में प्रथक-पर्ण्यादि से बनाया हुआ घी पिलाएँ। इस प्रकार आहार देने से गर्भ पुष्ट होता है।"

"आठवें मास बदर के क्वाथ में बला, अति बला शतपुष्पा, मांस रस' दूध, दही का पानी, तेल, लवण, मदनफल, शहद और घी को मिलाकर उसकी आस्थापन वस्ति देवें। यह पुरास मल के शोधन के लिए और वायु का अनुमोलन करने के लिए है। इसके पश्चात् दूध और मधुर गण से सिद्ध किए हुए तेल से अनुवासन करना चाहिये। वायु का अनुमोलन होने से सुख से और उपद्रव रहित प्रसव होता है। इसके पश्चात् स्निग्ध यावांयुओं से और जाँगल रसों से प्रसव काल तक चिकित्सा करनी चाहिए। इस प्रकार चिकित्सा करते रहने से गर्भिणी स्नेहयुक्त, वलिष्ट और उपद्रवरहित होती हुई सुखपूर्वक प्रसूता होती है।

'नवें मास में शुभ मुहूर्त, प्रशस्त विधि आदि देख कर सूतिकागार में प्रवेश करना चाहिए।

गर्भिणीचर्या में जहाँ ऊपर का विधान बताया गया है वहाँ शास्त्रों में कुछ ऐसी बातें भी स्पष्ट की गई हैं जिनमें गर्भिणी के लिए वर्जनीय बातों का वर्णन है। सुश्रुत शरीरस्थान अध्याय ६ में उनका वर्णन किया है जो निम्न प्रकार से है :

"गर्भ रहने पर मैथुन, व्यायाम, अपतर्पण, अतिकर्शन, दिवास्वप्न, रात्रि जागरण, घोड़ा आदि की सवारी, स्नेहन, स्वेदन आदि क्रिया का सेवन शोणितमोक्षण, और वेगविधारण इत्यादि कर्म नहीं करने चाहिए।"

"ऊपर लिखे वर्जनीयों का सेवन करने से दोष प्रकुपित होकर गर्भिणी के अंगों को दूषित बनाता है और जो-जो अंग उसके दूषित होते हैं, वे-वे अंग ही गर्भ के दूषित होते हैं।"

इस प्रकार शास्त्रों में गर्भिणीचर्या का वर्णन किया है। कुछ गर्भनाशक भावों का वर्णन करते हुए लिखा है—

"उकड़ू बैठने वाली अन्य आसनों पर बैठने वाली, वायु, मूत्र और मल के वेगों को रोकने वाली अत्यन्त दारुक एवं अत्यन्त व्यायाम करने वाली, अति तीक्ष्ण वीर्य एवं अति उष्ण पदार्थों का सेवन करने वाली स्त्री को कुक्षि में ही गर्भ मर जाता है या अकाल में ही गिर जाता है अथवा उचित काल के पूर्व ही गर्भपात हो जाता है। अथवा वह गर्भ अन्दर ही सूख जाता है। आघात या किसी प्रकार का दबाव पड़ने से, गड्ढ़े, कुएँ में निरन्तर झाँकने से तथा ऊँचे से गिरने वाले प्रपात अथवा ऊँचे स्थलों को नीचे से लगातार देखने पर अकाल में ही माता का गर्भ गिर जाता है। अत्यधिक ऊँचे-नीचे चलने से, क्षोभ या झटके देने वाली सवारी का सेवन करने से अप्रिय अथवा अत्यधिक शब्दों के सुनने से अकाल में ही गर्भ गिर जाता है। निरन्तर पीठ के बल सोने या लेटने वाली गर्भवती के गर्भ की नाभि-नाड़ी उसके गर्भ के कंठ के चारों ओर लपेट खा जाती है। इससे भी गर्भ को मृत्यु होने की सम्भावना रहती है। विवृत देश खुली जगह में सोने वाली तथा रात्रि के समय इधर-उधर घूमने-फिरने वाली स्त्री उन्मत्त सन्तान को उत्पन्न करती है। लड़ाकू या झगड़ालू स्त्री की सन्तान अपस्मारयुक्त होती है। नित्य मैथुन करती है अथवा गर्भाशय के बाद भी नित्य मैथुन किए जाती है उसकी सन्तान हृष्ट नहीं होती अथवा निर्लज्ज, सन्तान उत्पन्न होती है। जो गर्भिणी नित्य शोकातुर रहती है उसकी सन्तान डरपोक, कृश शरीर वाली तथा अल्पायु होती है। मन में द्रोह करने वाली दूसरे को दुःख देने वाली, और ईर्ष्या करने वाली स्त्री ऐसे ही स्वभाव वाली सन्तान देती है। चोर, बहुत श्रम करने वाली, अत्यन्त द्रोही तथा दुष्कर्म करने वाली का पुत्र अकर्मण्य होता है। क्रोध करने वाली गर्भिणी क्रोधी और पर-निन्दक सन्तान को उत्पन्न करती है। हर समय नींद लेने वाली गर्भवती की सन्तान निद्रालु, मूर्ख तथा अल्पाग्नि वाली होती है। नित्य मद्य पीने वाली गर्भिणी की सन्तान अस्थिर चित्त वाली और अल्प बुद्धि वाली होती है। जो गर्भिणी मधुर रस का अधिक सेवन करती है वह प्रमेही, गूँगी और अति स्थूल सन्तान को उत्पन्न करती है। जो नित्य लवण रस का सेवन करती है वह

गर्भवती पलित से आक्रान्त और गञ्जी सन्तान को उत्पन्न करती है। नित्य कटु रस का सेवन करने से दुर्बल, अल्प वीर्य सन्तान उत्पन्न होती है। नित्य तिक्त रस का प्रयोग करने से सन्तान कृश होती है। नित्य कषाय रस का प्रयोग करने से गर्भवती श्यामवर्ण की सन्तान उत्पन्न करती है जो अनादि से पीड़ित रहती है।"

इन सबका विचार भी गर्भिणी-चर्या में करना आवश्यक है और इन हानिकारिक भावों का त्याग करना आवश्यक है।

पुंसवन विधि—प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थों में और धर्मशास्त्रों में ऐसी विधियों का वर्णन किया गया है। जिनका प्रयोग करने से लिङ्ग में इच्छानुसार परिवर्तन किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि आरम्भ के छहः सप्ताह तक गर्भ में लिङ्गोत्पत्ति नहीं होती उसके वाद लिङ्गोत्पत्ति होती है—अतः इस समय में इन विधियों का प्रयोग कराया जाए तो लिंग परिवर्तन हो सकता है। इस तरह गर्भ के लिंग परिवर्तन की विधि को पुंसवन विधि कहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक इस विषय में प्रयत्नशील हैं, परन्तु अभी तक कोई महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं दे पाए हैं। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में इनका विस्तार से वर्णन दिया गया है—हम यहाँ वही वर्णन लिख रहे हैं—

(१) लब्धगर्भा को इन दिनों में लक्ष्मणा, वटशुङ्गा, सहदेवी और विश्वदेवा प्रभृत्ति औषधियों में से किसी एक को लेकर दूध में पीसकर दो या तीन बूंद की मात्रा में पुत्र की कामना से गर्भिणी स्त्री के दाहिने नथुने में छोड़ दें। स्त्री को चाहिए कि उसे थूके नहीं।

(२) (क) पुष्य नक्षत्र में स्वर्ण, रजत अथवा लोह का पुतला बनाकर अग्नि में तपाकर रक्त तप्त करके दूध में बुझाकर उस दूध को एक अञ्जली मात्रा में पीएँ।

(ख) पुष्य नक्षत्र में सफेद डण्ठल वाले अपामार्ग, जीवक, ऋषमक और सैरेयक में से किसी एक या किन्हीं दो, तीन सभी का संयोग करके जल में पीसकर पी लें।

(ग) दूध में पीसकर श्वेत वृहती का मूल नासापुट में डालना चाहिए, यदि पुत्र की इच्छा हो, तो दाहिने नासापुट डालें और यदि कन्या की इच्छा हो तो बाएँ नासापुट में डालना चाहिए।

(घ) दूध के साथ लक्ष्मणा मूल का सेवन पुत्रोत्पादक कराने वाला और गर्भ को स्थिति कराने वाला होता है। इसी प्रकार मुख तथा नासाछिद्र के

लिए आठ वट के शुङ्गों का भी प्रयोग है—इसी प्रकार से जितनी जीवनीय-गण की औषधियाँ हैं उनका वाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग किया जा सकता है।

(३) उनका वेदोक्त कर्मानुष्ठान में विवर्तन किया जा सकता है। यदि गर्भ में लक्षण व्यक्त होने के पूर्व ही ठीक प्रकार से उनका प्रयोग हुआ तो देश एवं काल के उचित कर्मों का प्रयोग निश्चित रूप से दृष्टफल का देने वाला होता है। यदि प्रयोग में विपर्यय हो तो फल भी विपरीत होता है। इसलिए आसन्न गर्भा स्त्री को ठीक तरह से विचार करके उसमें गर्भ के लक्षण व्यक्त होने से पूर्व ही उसको पुंसवन देना चाहिए।

गोठ में पैदा हुए वटवृक्ष के पूर्व और उत्तर की शाखाओं में से दो अविकृत अंकुरों को लेकर दो ब्रीही मास और दो सरसों को दही में डालकर पुष्य-नक्षत्र में पी लें। इसी प्रकार दूसरे योग जैसे जीवक, ऋषभक, अपमार्ग एवं सहचर को अलग-अलग अथवा सबको मिलाकर कल्क बनाकर यथेष्ट दूध में डालकर दूध को संस्कृत करके उसमें एक अञ्जली मात्रा में छोटी मछली डालकर और जल प्रक्षेप करके मुख्य नक्षत्र में पिएँ। सोने, चाँदी तथा लोहे की बनी पुरुषाकृतियाँ जो बहुत छोटी हों को तपाकर अग्निवर्ण करके एक अञ्जली दूध-दही या पानी बुझाकर निःशेष पी लेना चाहिए।

(४) पुष्य नक्षत्र में उखाड़ी गई श्वेत वृहती के मूल का कल्प बनाकर उसका स्वरस लेकर नस्य लें। उसी प्रकार नील कमल का पत्ता, लक्ष्मणा का मूल और आठ वटांकुर का भी स्वरस निकालकर नावन कराया जा सकता है।

(५) पुष्य नक्षत्र में तण्डूल पीसकर उसको पकाएँ। पकाते समय उसकी बाष्प को सूँघकर उसी पानी से पिष्ट के रस को निकाल फिर उस रस को देहली के ऊपर रख लें और रुई का फाया लेकर गर्भिणी अपने हाथ से उस रस को दाहिने नासिका छिद्र में छोड़ें।

(६) गर्भ प्राप्त स्त्री को लक्ष्मणा आदि का नस्य देना गर्भ की स्थापना-स्थिरता के लिए होता है और गर्भ धारण के तीन मास के भीतर पुत्र संतान पैदा करने की इच्छा से नस्य दान किया जाता है।

(७) दूध में पीसकर कल्क बनाकर स्वयं स्त्री अपने हाथ से दाहिने नासा-पुट में औषधियों का स्वरस डाले।

पुंसवन कर्मकाल—जब तक गर्भ में स्त्रीत्व या पुंस्तवबोधक चिन्ह नहीं मिल रहे हों उस समय में पुंसवन कर्म के यथाविधि होने से लिङ्ग में परिवर्तन

सम्भव है। इसलिए प्रथम मास में ही गर्भवती को पुंसवन क्रियाओं का प्रयो
करना चाहिए। यह क्रियाएँ तीन मास के गर्भ होने तक कराई जा सकती हैं

पुंसवन की अवधि के विषय में कई मत हैं। कुछ का कहना है कि बार
रात्रि तक पुंसवन विधि का प्रयोग करना चाहिए। कुछ लोग केवल यु
दिनों में ही पुंसवन विधि का प्रयोग करने का विधान बताते हैं। दूसरे लो
प्रतिदिन का विधान बताते हैं ऐसा कहा गया है कि दो मास तक की अव
पुंसवन संस्कार के लिए माननी चाहिए।

इसी प्रसंग में एक बात और भी कही गई है पुंसवन संस्कार प्रत्ये
गर्भावस्था मे करने की आवश्यकता नहीं—एक बार संस्कार होने पर व
सदा के लिए संस्कृत मानी जाएगी और वह जितने भी गर्भों का प्रसव करें
वे सभी संस्कृत होंगे।

इस विषय में इतना सब वर्णन देखने पर एक शंका उत्पन्न होती है कि
जब पूर्वजन्मकृतकर्म ही स्त्री में गर्भ देने वाले होते हैं तो फिर पुंसवन संस्कार
से लिङ्ग परिवर्तन कैसे सम्भव हो सकता है। इस शंका का समाधान अष्टांग-
संग्रहकार ने किया है कि पुंसवन सस्कार इतना बलवान कर्म है कि वह पूर्व
जन्म के कर्मों (देव) को भी बदल देता है और इसलिए गर्भ में लिङ्ग परि-
वर्तन सम्भव होता है।

इस तरह शास्त्रों में वर्णित पुंसवन विधि का वर्णन किया—इसका
अधिक विषय प्रसूति-विज्ञान से संग्रह किया गया है।

प्रश्न—जीवित एवं मृत गर्भ की पहचान किस प्रकार की जा सकती है?

उत्तर—गर्भ जीवित है अथवा मृत ?—गर्भ के जीवित रहने का सबसे
प्रमुख चिन्ह है गर्भ की चेष्टायें व गर्भ के हृदय का शब्द सुनाई देना। लेकिन
शुरू के मास में गर्भ मांसपिण्ड के समान होता है और उसमें किसी प्रकार
की चेष्टायें नहीं होतीं। अतः इस हालत में केवल माँ के स्तनों की क्रमिक
वृद्धि व स्तनों के परिवर्तनों के द्वारा ही गर्भ के जीवित साक्षी होने का अनुमान
लगाया जा सकता है।

यदि पूर्वगर्भकाल में गर्भ की मृत्यु हो गयी हो, तो गर्भाशय की वृद्धि रुक
जाती है। स्तन भी म्लान हो जाते हैं और उनकी वृद्धि भी रुक जाती है।
आर्तवादर्शन के अतिरिक्त सभी गर्भस्थिति लक्षण लुप्त हो जाते हैं। गर्भाशय
से प्रायः एक प्रकार का कापिश (Brown) वर्ण का दुर्गन्धस्राव निकलता है।
कभी-कभी थोड़ी-थोड़ी मात्रा में योनि से रक्त स्राव भी होता है।

यदि उत्तरकाल में गर्भ की मृत्यु हो गई हो तो हृच्छब्द सुनाई नहीं देता व गर्भ के अंगों की चेष्टाएँ भी अनुभव नहीं होतीं। दोनों स्तन शिथिल हो जाते हैं, योनि परीक्षा से शिर; कपाल ढीले और अस्थिर प्रतीत होते हैं। एक्स रे से देखने पर गर्भ अस्त-व्यस्त सा मालूम पड़ता है।

अगर गर्भाशय में मृत गर्भ कुछ समय तक पड़ा रहे तो गर्भ गल जाता है और उसके विष के संचार के कारण गर्भिणी अस्वस्थ हो जाती है और उसमें गुरुता, अंगमर्द, दुर्बलता, क्षुधा का नष्ट होना, मुख की विरसता और दुःस्वप्नों को देखना आदि लक्षण पैदा हो जाते हैं।

मृत गर्भ प्रायः शीघ्र ही (आगामी ऋतुकाल) सम्पूर्णतया या थोड़ा-थोड़ा बाहर निकल जाता है। भीतर गर्भाशय में पड़े-पड़े कभी-कभी कई सप्ताहों तक और कभी पूरे गर्भकाल तक रह सकता है।

प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है—(१) गर्भ की मृत्यु हो जाने पर माता का उत्तर स्तब्ध और तनावयुक्त हो जाता है। उसका स्पन्दन नष्ट हो जाने से माता के उदर में उसका अनुभव भीतर शीतल पत्थर के टुकड़े जैसा होता है। शूल अधिक होता है। योनिश्राव बन्द हो जाता है। आँखें बन्द हो जाती हैं। आँखें लटक जाती हैं। गर्भिणी को साँस लेने में कठिनाई, पीड़ा होना, चक्कर आना, बेचैनी, किसी कार्य में मन न लगना आदि लक्षण मिलते हैं :

(२) गर्भ के स्पन्दन और आवी का नाश पाण्डुता, श्यामता, श्वास से दुर्गन्ध शूल आदि लक्षण शिशु के अन्तर्भूत के दबाव-होने से पाये जाते हैं।

(३) मृत गर्भ के कारण क्लोम यकृत, प्लीहा फुफ्फुस और हृदय ऊपर को चढ़ जाते हैं। जिसके पीड़न के लक्षण पैदा होने लगते हैं और गर्भिणी को मूर्च्छा, श्वासकृच्छ, शोथ तकलीफें होने लगती हैं। उसके श्वास में बदबू आती है व गले व तालू सूखने लगते हैं। सारे शरीर में कम्प होने लगता है तथा चक्कर आते हैं और अन्त में प्राण भी निकल जाते हैं।

इन्हीं उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर चिकित्सक को गर्भ का निदान करना चाहिए।

प्रश्न—मूढ़ गर्भ के विषय में विस्तार से वर्णन करें।

उत्तर—जब गर्भ बहुत बड़ा होकर सामान्य निष्क्रमण से बाहर नहीं निकल पाता और योनि में आकर रुद्ध हो जाता है। इस यातना से गर्भ मूर्च्छित 'मूढ़गर्भ' संज्ञा धारण करता है। त्रिगुण वायु की पीड़ा की विचित्रता से इसकी असंख्य गतियाँ होती हैं :

सुश्रुत चिकित्सा स्थान में चार प्रकार की गतियों का वर्णन मिलता है—

(अ) कीलक— ऊपर की ओर पैर, हाथ व सिर का जो कील के समान योनि मुख को रुख करे। यह स्फिगुदय में जघन संघ की स्थिति है।

(ब) बीजक—इसमें एक भुजा व सिर साथ ही निकलते हैं, यह जटिलोदय की अवस्था मानी जाती है।

(स) प्रतिखुर—जिसमें हाथ, पैर साथ-साथ निकलें परन्तु गात्र का संघ हो जाता है। जटिलोदय (Complex or Compound Presentation) की स्थिति होती है।

(द) परिघ—यह परिघ या कील के समान अवरुद्ध करके पड़ा रहता है। इसको स्कन्धोदय (Gross Brith) की स्थिति मानते हैं।

सुश्रुत के निदान के स्थान में आठ प्रकार की गतियों का उल्लेख है।

(१) कोई-कोई दोनों पैरों से योनि मुख में प्रतिपन्न होता है। ऐसी स्थिति स्फिक्पादोदय (Foot Breech Presentation) में होता है।

(२) कोई तो एक सक्थि से जुड़ी हुई सक्थि से जन्म लेता है। ऐसी स्थिति जानदूय (Knee Presentation) में होती है।

(३) कोई-कोई स्फिक् प्रदेश से तिरछे आकर मुड़ी हुई जानु से आता है। यह स्फिगुदय में होता है।

(४) कोई-कोई वक्ष, पार्श्व अथवा पीठ में से किसी एक के द्वारा योनि को रुद्ध करके पड़ा रहता है। ऐसी स्थिति पार्श्व-विवरण में मिलती है।

(५) कोई-कोई अन्तः पार्श्व की ओर आवृत्त सिर होकर एक बाहु से बाहर निकलता है। यह स्थिति हस्तभ्रंशयुक्त स्कन्धोदय (Transverse Presentation with Prolepse of hand) में मिलती है।

(६) कोई-कोई संकुचित और दोनों बाहुओं से रुद्ध हो जाता है। यह भी जटिलोदय में मिलता है।

(७) कोई-कोई दुहरा होकर गात्र मुड़े हुए हस्त, पाद एवं सिर के साथ ही साथ अवरुद्ध हो जाता है। यह भी उक्त रूप की तरह जटिलोदय होती है।

(८) कोई-कोई एक पैर से योनि मुख से तथा दूसरे से पायु की ओर होकर अवरुद्ध हो जाता है। यह जनादय में हो सकती है।

उपर्युक्त सातवें व आठवें विकार की वाग्भट्ट के विष्कुंभक से समानता करते हैं। अन्त वाले दो मूढ़गर्भ असाध्य होते हैं इनमें शस्त्रकर्म की आवश्यकता पड़ती है। शेष मूढ़गर्भों में यदि योनिभ्रंश, आक्षेप, योनि संवरण, मक्कलशूल

श्वास, कास, योनि द्वार का संकोच आदि उपद्रव हों तो असाध्य व्यवस्था का बोध होता है। अंग शीतल पड़ जाय, लज्जा का भाव चला गया हो बार-बार सिर नीचे करके कंपा या पटक रही हो, उदर के ऊपर नीलवर्ण की उभरी हुई शिरायें दिखाई पड़ती हों—इन लक्षणों की उपस्थिति से अरिष्ट समझना चाहिए।

सुश्रुत का मत है कि मूढ़गर्भ शल्य निर्हरण के समान कोई अन्य कष्टकर शल्य कर्म नहीं है। क्योंकि शास्त्री को योनि यकृत, आन्त्र, गर्भाशय आदि गर्भांगों के मध्य से होकर शल्य कर्म सम्पन्न करना होता है। गर्भांगों की स्थिति का ज्ञान करते हुए एक हाथ से उत्कर्षण; अपकर्षण, स्थानापवर्त्तन, भेदन छेदन, पीड़न, ऋजुकरण आदि कर्म किये जाते हैं, इसमें दो जीवों के प्राणों का प्रश्न होता है। अतः संरक्षक से स्थिति स्पष्ट करनी चाहिये।

इसकी चिकित्सा से उपक्रमों में नस्य धूम, अंजन, जृम्भण, चंक्रमण, उत्कटक आसनों से प्रयत्न करें और च्यवन मंत्रों का पाठ करते हैं।

असम्यक् आगत मूढ़ गर्भ में गर्भिणी को उत्तान सुलाकर पैर को मोड़कर कमर को तकिए से ऊँचे करके धन्यवृक्ष; शल्मकी, शाल्मली से पिसे हुए घृत से हाथ को चिकनाकर योनि में प्रवेश करके गर्भ के निर्हरण कर्म में प्रवृत्त हो जाय यदि गर्भ पैरों से निकल रहा हो तो अनुलोम कर्षण करे। एक पैर से निकल रहा हो तो दूसरे को प्रसासित कर निकालें।

स्फिक् से उदय हो रहा हो, तो उस स्फिक् को ऊपर की ओर दबाकर—उछालकर पैरों को प्रसारित कर निकालें। यदि गर्भ का तिर्यक् अवतरण हो रहा है और मोटी कील के समान होकर अवरुद्ध हो गया हो तो पीछे वाले आधे भाग को ऊपर को धक्का देकर शिरोभाग को योनिमार्ग में ले आएँ। गर्भ का सिर पार्श्व में घूम गया हो तो स्कन्ध को पीड़ित कर ऊपर की ओर ठेलकर सिर को योनि मार्ग की ओर निकालें। यदि दोनों बाहुओं से आ रहा हो तो उसके अंश को ऊपर धक्का मारकर सिर को अनुलोम गति से निर्हरण करें। शेष अन्त के दोनों मूढ़गर्भों में शस्त्र कर्म करना होता है।

अनिरस्य मान मूढ़गर्भ में यदि उपर्युक्त उपकर्मों से सफलता न मिले तब शस्त्रकर्म द्वारा गर्भ का निर्हरण करें। जीवित गर्भ में शस्त्र कर्म नहीं करना चाहिए। यदि माता का जीवन संकट में हो तो बात दूसरी है। गर्भ मृत हो गया हो तो क्षणमात्र भी उपेक्षा न करते हुए शास्त्रकर्म से गर्भ का निष्कासन

कर दें। अन्यथा गर्भ स्वयं तो मृत होता है, वह माता को भी समाप्त देता है। शस्त्र कर्म की विधि संक्षेपतः इस प्रकार है।

पूर्व कर्म में सभी आवश्यक साम्रग्री जुटा लें और शस्त्र कर्म के उद्यत हो जाएँ। प्रधान कर्म प्रारम्भ करें। मण्डलाग्र शस्त्र से कर्म का शि विदारण (Perforation) करके उसके सिर की कपालास्थियों को निकाल (Crushing) एक शंकु (Blunt Hook) से गर्भ के चिबुक (ठोड़ी) ता वक्ष या कक्षा फँसाकर निर्हरण कर दें (Extraction)। यदि किसी का सर का भंजन न होने पाए अक्षिकूट या कपोल में फँसाकर निकाल सकते इसकी समानता (Embryotomy) शस्त्र कर्म से की जाती है। यदि शि अंश से संसक्त हो तो बाहु को काटकर निकालते हैं। (Claidotomy) य शिशु का उदर वायु से भरा मशक के समान हो तो उसके उदर का विदा कर आन्त्रों को निकालकर निर्हरण का विधान है। (Erisceration) जघन से संसक्त होने की स्थिति में हो तो उसके जघन कलापों को काटक निर्हरण करना चाहिए। यह विधान है कि गर्भ का जो अंग रुकावट उत्प करे तो उसे माता के प्राण रक्षार्थ काटकर निकाल लें। विशेष तीक्ष्ण शस् का यथासम्भव प्रयोग नहीं करना चाहिये। मण्डलाग्र शस्त्र तथा अंगुली शस् का प्रायः प्रयोग किया जाता है यदि किसी अवस्था में स्त्री की मृत्यु हो ग हो और गर्भस्थ शिशु जीवित हो, स्पन्द हो रहा हो वे तत्काल भी उपस्थि हों तो चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि माता के उदर का विपाटन (Caesarie Section) शस्त्र कर्म करके उदर से शिशु को बाहर निकाल लेते हैं। पाश्चात कर्म में सल्य रहित हो जाने पर स्त्री का उष्ण जल से सिंचन करते हैं। तै से शरीर का अभ्यङ्ग करके योनि में स्निग्ध पिचु धारण करें। पिप्पली, पिप् लामूल, शुण्ठि, इलाइची, हींग, भारंगी अजमोदा, वचा, चव्य का चूर्ण कर दें तीसरे या पाँचवें दिन तक स्निग्ध करके पिलाते रहें।

एक सप्ताह के उपरान्त आसव-आरिष्ट दें। दस दिनों की पूर्णता शुद्धि बाद अल्प व स्निग्ध पथ दें चार मास तक सूतिका को अपनी देख-रेख में रखत हुए चिकित्सक या परिचारिका उपद्रवहीन व वलयुक्त हो जाने पर स्वस् समझें। बला तैल का इस अवस्था में अनेक रूप में प्रयोग करते हैं।

जब बालक जन्म लेने के बाद श्वासारोध से मूर्छित मिलता है तो पुन प्राणप्रत्यागमन के लिये इस सम्मोहित मूढ़गर्भ में शिशु के कला, ओंठ, जीभ क

साफ करना, ध्वनि करना, ठण्डे तथा गर्म पानी से परिषेक करना, पैर पकड़ कर उल्टा करना आदि करते हैं।

पुनः श्वसन कर्म प्रारम्भ करने की आजकल पाँच विधियाँ प्रयोग की जाती हैं। हृदय तथा श्वसन संस्थान केन्द्रों की उत्तेजना के लिए विभिन्न औषधियाँ प्रयोग करते हैं।

प्रश्न—गर्भपात एवं गर्भस्राव का वर्णन करें।

उत्तर—गर्भिणी स्त्री की योनि से रक्तस्राव यदि प्रथम तीन मासों में हो तो गर्भस्राव विकृत गर्भ बहिर्गर्भ स्थिति विकारों का अनुमान लगाया जाता है। चार मास तक स्राव (Miscarriage) पाँच या छठवें मास का गर्भपात (Abortion) तथा पूर्णकाल के पहले आठ मास में अपक्व प्रसव को अकाल प्रसव (Premature Labour) कहते हैं।

सुश्रुत का कथन है कि जिस प्रकार कीड़े खाने से, वायु लगने से या किसी प्रकार का आघात पहुँचने से फल अकाल में गिर पड़ता है, इसके अतिरिक्त सोलह त्रर्ष से कम की स्त्री तथा पच्चीस वर्ष से कम पुरुष यदि गर्भाधान करे तो गिरने का भय रहता है। विशेष क्रोध, चिन्ता, शोक, विभिन्न प्रकार की चोट लगना, कूदना, उछलना, देर तक स्नान करना, अप्राप्य द्रव्य प्राप्ति की उत्कट इच्छा, क्षय, प्रदर, उपवास, हिस्टीरिया, संभोग की अधिकता, रात्रि जागरण, तीक्ष्णादि गुण युक्त गर्भपातक औषधियों का प्रयोग, खाद्य द्रव्यों के अभाव से गर्भ पोषण न हो पाना, गर्भाशय की विकृतियाँ, वर्श, श्वास, अतिसार आदि हेतुओं से रक्तस्राव हो जाता है।

जब गर्भस्राव या पात होने का होता है, तो गर्भिणी का गर्भाशय कमर, नाभि व बस्ति में शूल, पेड़ू में भार, शरीर में शिथिलता का अनुभव होकर, योनि से कुछ पीवयुक्त रजःस्राव होता है। दाह युक्त पार्श्व पृष्ठ में शूल तथा रुधिर ज्यादा मात्रा में निकलने लगता हैं। साथ ही अफरा, मूत्ररोध, लक्षण भी हो जाते हैं। जब गर्भ अपने स्थान से च्युत होकर चलायमान होता है तो उदर में विशेष शूल तथा अन्त में रक्त के वेग के साथ गर्भ पिण्ड बाहर निकल जाता है।

गर्भपात गर्भस्राव रोग का अन्तर बहिर्गर्भ स्थिति, गर्भाशयार्श, गर्भाशय के आघातजन्य रोगों, बीजवाहिनी शोथ रोगों से स्पष्ट करके पुनः निश्चित निदान करना चाहिये। गर्भपात कई प्रकार के हो सकते हैं।

—

परिहार्य (Threatened Abortion) में लक्षण तीव्र नहीं होते हैं औ ठीक उपचार करने पर गर्भ गर्भाशय में रुक सकता है।

अपरिहार्य (Inevitable Abortion)' में गर्भस्राव की प्रक्रिया में गर्भाश का दुख काफी विवृत होकर स्राव रोक नहीं पाते। पूर्ण (Complete) प्रका में गर्भ गर्भधरा व जरायु सहित पूरा बाहर निकल जाता है।

अपूर्ण (Incomplete) प्रकार सामान्यतः दसवें से अट्ठाईस सप्ताह तक होता है। लीन गर्भस्राव (Missed Abortion) में गर्भपात के लक्षण के बिन कुछ स्राव किये ही शान्त हो जाते हैं। फिर एक या दो बार गर्भाशय स्थित पदार्थ इस रूप में बाहर निकलते हैं कि जैसे प्रथम लक्षणों के समय ही गर्भ मर चुका था—

यदि गर्भस्राव या पात की शंका हो तो पैरों के नीचे तकिया लगाकर पूर्ण विश्राम से लेट जाना चाहिए। पथ्य व्यवस्था ठीक चलायें। शीतल तथा स्निग्ध उपचार से लाभ होता है। नाभि के नीचे भाग पर शीतल जल में रखे घृत व मुलहटी के कल्क का लेप, न्यग्रोधादि गण की औषधियों से सिद्ध कषाय द्वारा परिषेक, गर्भिणी का इसी जल में अधोभाग तक अवगाहन, क्षीरिवृक्षों के कषाय (शीतल) में वस्त्र भिगोकर पट्टी योनि पर रखें या उक्त औषधियों के सिद्ध घृत के पित्त को योनि में धारण करना चाहिये। शोधन को छोड़कर रक्त पित्त को सम्पूर्ण बाह्य व आभ्यन्तर चिकित्सा करते हैं। गूलर फल के चूर्ण को शालि चावल के चूर्ण, शर्करा, मधु के साथ रक्तस्राव में देते हैं। इस प्रकार रक्तस्राव वेदना, मूत्रावरोध आदि लक्षणों की विशेषता को दृष्टिगत रखते हुए उपचार क्रम चलाना चाहिये।

यदि गर्भ गिर जाए तो पाचन दीपन औषधि दें गर्भाशय शोधन व पीड़ा शमनार्थ लघु पंचमूल से सिद्ध रूक्ष पेय मिलावें। पिल्वादि पंचमूल से बने क्वाथ में तिल, कोदों के चावल डालकर खिलायें। तीव्र मद्यपान भी हितकर है। उपसर्ग युक्त गर्भ पदार्थ पूर्णतः निकल जाना ही अच्छा है। गर्भ स्थापना प्रसव काल तक प्रत्येक मासयुक्त औषधियों (पूर्व वर्णित) को प्रयोग करते रहने तथा गर्भिणी चर्या का सुचारु रूप से पालन करते रहने से गर्भपात या गर्भस्राव का भय नहीं रहता।

प्रश्न—गर्भावस्था में होने वाले रोग और चिकित्सा का वर्णन करें।

उत्तर—स्त्री के लिए गर्भावस्था बड़ी नाजुक अवस्था होती है। इस कारण

बड़ी सावधानी और सरलता की आवश्यकता रहती है। मुख्यतः गर्भस्थ बालक की शारीरिक तन्दुरुस्ती और सुन्दरता आदि का सम्पूर्ण उत्तरादायित्व गर्भिणी पर ही है। माता के स्वास्थ्य पर ही गर्भस्थ बालक का स्वास्थ्य अवलम्बित है। यदि माता का रक्त शुद्ध और निरोगी है तो बालक भी सर्वाङ्ग हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर होगा। यदि माता रोगिणी और निर्बल होती है तो बालक भी जीर्ण-शीर्ण और रोगी उत्पन्न होगा। इसलिए गर्भिणी का कर्त्तव्य है कि अपना वास्थ्य बिलकुल ठीक रखे। किसी प्रकार की असावधानी न करे। खासकर आहार-विहार पर विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है। गर्भावस्था में सदैव शुद्ध, पौष्टिक और ताजा भोजन करने योग्य है। गर्भावस्था में अनियमित आहार-विहार की बुरी आदत होने के कारण स्त्रियों को दर्जनों रोगों का शिकार होना पड़ता है। यह भी एक ऐसी आदत कुछ स्त्रियों में मिलती है कि रोग होने पर भी वे उसको प्रकट करने का साहस नहीं करतीं, महीनों उसे छिपाये रहती हैं और जब रोग प्रचण्ड रूप धारण कर लेता है। तब उसकी सूचना देती हैं, गर्भावस्था में जो रोग होते हैं, उनका प्रभाव गर्भस्थ संतान पर अवश्य पड़ता है अतः स्त्रियों को चाहिए कि रोग होते ही उसे छिपाये नहीं उसका इलाज करने की कोशिश करें—अन्यथा उन्हें और उनकी संतान दोनों को ही इसका दुष्परिणाम भुगतना होगा। गर्भावस्था के खास रोगों का उल्लेख करके उनकी चिकित्सा का निर्देश भी यहाँ किये देते हैं। इस समय आप लोगों को संक्षेप रूप से उन भयंकर समस्याओं को बतलाना उचित समझते हैं कि जिनका प्रभाव गर्भ पर पड़ता है या जिस पर गर्भदशा का प्रभाव पड़ता है।

इन बातों पर प्रत्येक मनुष्य को ध्यान देना चाहिए कि रोगों पर प्रायः खराब ही प्रभाव पड़ता रहता है, क्योंकि गर्भदशा में मातृक अंगों को बहुत ही ज्यादा कार्य सम्पादन करना पड़ता है। अतः यह रोग ग्रसित होने के कारण पहले ही से दुर्बल हो जाते हैं, या दुर्बल प्रारम्भ हो जाता है। कभी ऐसा भी देखा जाता है कि जब रोग अधिक वृद्धि को प्राप्त होता है। तब इसका असर इतस्ततः भिन्न रूप में परिवर्तित हो जाता है, किन्तु इतना खराब नहीं होता जितना असर पुराने रोगों पर होता है। इन रोगों की चिकित्सा हमेशा साधारण अथवा सिद्धान्तों पर ही करना चाहिए जो कि हमारे पूर्वज या वृद्ध वैद्यों ने बतलाई है, किन्तु सर्वदा इस बात को अवश्य स्मरण रखना होगा कि जो चिकित्सा की जाए वह गर्भाशय या उसके अवयवों पर कोई खराब असर न पहुंचा सके।

पहले कुछ पूर्वजों का ख्याल था कि गर्भवती नारियों की देह में विष या कीटों के मिश्रित दुःखों के प्रति सहनशीलता हुआ करती है। परन्तु इस बात की पुष्टि करने के लिए स्पष्ट प्रमाण कोई नहीं मिलता, और न मिलने की सम्भावना पाई जा सकती है। गर्भवती स्त्रियों में रोग का संक्रमण उसी वेग से होता है जिस वेग अथवा चाल से वह रोग सामान्य स्त्रियों में हो जाता है। प्रसूतावस्था में रोगी की सहनशीलता बहुत कम हो जाती है। इसलिए स्त्रियाँ रोग ग्रसित हो जाया करती हैं। किन्तु हम यहाँ पर प्रसूता की दैहिक निर्बलता के प्रति दो बातें कहना चाहते हैं, पहली बात तो यह है कि उसका खून ज्यादा परिमाण में निकल जाता है। और दूसरी बात यह है कि वहाँ पर के कमल उखड़ जाने के बाद स्थान की स्थिति ऐसी हो जाती है, जिसके द्वारा विष अथवा रोगों को उत्पन्न करने वाले कीटाणु सरलता के साथ भीतर जा सकते हैं।

यद्यपि गर्भावस्था का असर भी बहुत अधिक कीटाणुओं के प्रवेश करने पर भिन्न-भिन्न प्रकार का पाया जाता है, जिस पर भी रोग की दशा न ज्यादा अच्छी ही पाई जाती है और न ज्यादा खराब ही पाई जाती है।

यद्यपि बिना समय प्रसूतावस्था का प्राप्त होना या गर्भपात या गर्भस्राव होना भी दुस्तर परिणाम का कारण हो सकता है। कभी-कभी तो ऐसी दशा में गर्भिणी मृत्यु को भी प्राप्त हो जाती है।

रोगों का प्रभाव तो गर्भदशा में एक दूसरे से भिन्न रूप में पाया जाता है। सामान्यतः यह भी कहा जा सकता है कि गर्भपतन या गर्भस्राव या समय के बिना भी प्रसूति की संभावना ज्यादा दिनों तक भी पाई जा सकती है।

यथा—(१) तापमान का १०४° फा० तक वृद्धि को प्राप्त होना या बहुत दिनों तक रहना भ्रूण की मृत्यु का हेतु हो जाता है।

(२) माता के खून में घूमते हुए रोगों को पैदा करने वाले कीटाणु या विष भी मरण का कारण हो जाते हैं।

(३) कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि शोणित रोग भ्रूण अपने आप व्याधि ग्रसित हो जाता है और फिर कुछ काल अनन्तर जरायु ही में उसकी मृत्यु हो जाती है।

(४) कुछ ज्वर ऐसे होते हैं कि उन ज्वरों में गर्भाशय से रक्त निकलने लगता है। ऐसी दशा में कभी-कभी भ्रूण भी साथ ही में निकल आता है। यह

बात जरूर है कि कमल को भ्रूण का एक प्रकार का पोषक ही समझा जाता है, जिस पर भी कई प्रकार के ऐसे भी रोगात्पादक कीटाणु होते हैं कि जिनको यह रोकने में समर्थ नहीं होता है।

माता की देह से घूमने वाले फिरङ्गीकीट, मोतीझरा कीट, भ्रूण के शोणित प्रवाह में भी देखे जा चुके है। जिन रोगों का असर स्त्री के उत्पादक स्थान या जननेन्द्रियों पर हो जाता है, उन रोगों के काल में यदि गर्भ का गिरना अथवा स्राव हो जाए तो नतीजा बहुत भयंकर होता है, विपरोहिणी या गलकलोष (Diptheria) मोतीझरा फुफ्फुसोष आदि के सम्बन्ध में भी ऐसे ही परिणाम होते हैं। प्रायः इन रोगों में हुआ गर्भपात या स्राव खराब ही परिणाम वाला होता है।

विषम ज्वर—यानी मलेरिया (मौसमी बुखार) गर्भ की स्थिति में बुखार के वेगों को नियमबद्ध नहीं रहने देती कि स्त्रियाँ जो कुछ वर्ष पहले इससे पीड़ित हुई थीं, गर्भधारण करते ही फिर इससे प्रभावित हो जाती हैं। शरीर में चल विचल हो जाने के कारण तथा आहार-विहार में खराबी होने के कारण कभी-कभी गर्भिणी को बुखार आया करता है। गर्भ और गर्भिणी दोनों के लिए ही ज्वर का होना अहितकर होता है और कभी-कभी तो ज्वर की गर्मी के कारण गर्भपात भी हो जाता है। ज्वर होने पर भूल कर भी गर्म औषधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए! वरन् लाभ के बदले हानि होती है। इसमें गोदन्ती हरिताल प्रयोग करना या नीम अथवा गिलोय सत्व इत्यादि को लेना चाहिए। गोदन्ती विषम ज्वर को रोकने में रामबाण है।

एलोपैथिक विद्वान् इसमें कुनीन प्रयोग करते हैं। बहुतों का मत है कि इस दशा में कुनीन नहीं देनी चाहिए, लेकिन डाक्टर वाईटिस विलयम सदृश विद्वान् ने लिखा है कि कुनीन जरूर देना चाहिए, क्योंकि मलेरिया की विद्यमानता में इसके प्रभाव से गर्भपात या स्राव होने की कोई भी सम्भावना नहीं है।

मोतीझरा—अक्सर बहुत ज्यादा गर्मी से गर्भस्राव हो जाया करता है। औरत को सूतिका समय के कीटावेश से बचाने का प्रयास करना परमावश्यक है। मृत्यु संख्या १५ प्रतिशत होती है।

चिकित्सा—प्रवाल भस्म, मुक्तापिष्टी, उत्तम केशर, जायफल, जावित्री, लवंग प्रत्येक ४-४ माशे, इन सबको क्रम से मिलाकर तुलसीपत्र के रस में घोटें, गोलियाँ बना लें।

मात्रा—१ रत्ती।

अनुपात—तुलसी का रस या पान का रस अथवा अद्रक का रस।

समय—प्रातः सायं और रात्रि १० बजे तथा आवश्यक समय पर।

रोमान्तिका—रोमान्तिका में गर्भ के गिरने की भारी शंका रहती है लेकिन स्त्री की प्रसूति रोगों से ग्रसित होने की सम्भावना होती है।

चिकित्सा—इस रोग में कोई विशेष औषधि नही चाहिए। सितोपलादि चूर्ण मधु से चटाना चाहिए। उत्तम कुंकुम १ रत्ती जल से घोंट में चटा दें। रोमान्तिका की पीड़िकाएँ शीघ्र निकल आयेंगी।

शीतला (Smallpox)—गर्भाशय में ऊँचे दर्जे की शीतला के कारण गर्भाशय से खून निकलता है। अतः गर्भ स्राव हो जाता है। कमजोर व हल्की शीतला में गर्भ सुरक्षित रह सकता है। यदि मासिक काल में हो तो शिशु के शरीर पर छोटे-छोटे दाने निकले हुए रहेंगे अथवा जन्म होने के बाद फौरन निकल आयेंगे। यदि प्रसूति कुछ समय के बाद हो तो उसकी देह पर दाने से तो निकले हुए जरूर होंगे किन्तु अपनी रोपणावस्था में होंगे। गर्भकाल में शीतला का कोई विशेष निषेध नहीं है, परन्तु प्रसूति समय में नहीं लगाना चाहिए क्योंकि इस समय में छोटे व दुर्बल से दुर्बल ही कीटाणुओं के प्रवेश से बुरा असर पड़ता है। इस समय रोगियों को पूर्ण विश्राम देना चाहिए।

चिकित्सा—यदि कोष्ठबद्धता हो तो तिक्त रस प्रधान द्रव्यों (जैसे करेला के पत्तों का रस, अथवा परवल की जड़ आदि) से हल्का विरेचन लेना चाहिए।

हल्दी और इमली के बीजों को शीतल जल से पीसकर पीना चाहिए।

नीम के बीज, हल्दी, बहेड़ा की मज्जा (मींगी) की शीतल जल से पीसकर पीना।

रुद्राक्ष (बीज) को शीतल जल से घिसकर पीना चाहिए।

कालीमिर्च और कटेरी की मूल को शीतल जल से पीसकर पीना, भोजन में सुपाच्य शीतल पदार्थ खिलाएँ। दूध देना हितकर है। इन उपायों से या तो शीतला निकलेगी नहीं और यदि निकलेगी भी तो बहुत साधारण रूप से।

विसर्प—समयाभाव में प्रसूत की विद्यमानताओं में स्ट्रैप्टोकोक्स नामक कीटाणुओं द्वारा अपत्य पथ की बुरी दशा में प्रभावित होने की शंका है। अगर ऐसा हो जाय तो इसका बहुत ज्यादा ख्याल रखना चाहिए कि कहीं रोग का विष भंग तक तो नहीं पहुँचा है।

चिकित्सा—रसांजन चूर्ण घृत में मिलाकर लेप करें। असली चन्दन का तेल लगाया करें।

योनि को प्रतिकीत धावन से आवेष्टित गद्दी द्वारा आवृत्त रखना उचित है।

गलक्लीब या रोहिणी (Diptheria)—इसके बीज योनि में फैल जाएँ या प्रसूति ही उपस्थित हो जाए, तो वहाँ रोहिणी कला सर्वतः बन जाती है। इसके गल प्रदेश की कलाओं में शोथ दाह हो जाता है।

चिकित्सा—रोहिणी के वास्ते आजकल डिफ्थेरिया एण्टीटौक्सिन (Diptheria Antitoxin) बहुत ही इस्तेमाल में आ जाती है। इससे रोग के सब उपद्रव शीघ्र ही शमन हो जाते हैं। इस औषधि का असर २४ घण्टे पश्चात् होने लगता है परन्तु जहाँ तक हो सके इसको रोग के प्रारम्भ होते ही इस्तेमाल करना चाहिए क्योंकि रोग के पहले ही दिन यदि इसका इस्तेमाल किया जाए तो बहुत ही अच्छा असर होता है, परन्तु यदि इसको रोग के आरम्भ से चौथे दिन पश्चात् इस्तेमाल किया जाए तो फिर कोई लाभ नहीं होता।

इस औषधि का ६ हजार यूनिट्स से दस या १५ यूनिट्स तक हाइपोड्रोमक सिरञ्जन द्वारा इंजेक्शन कराया जाता है और यदि कुछ असर कम हो तो प्रत्येक ६ घण्टे पश्चात् इंजेक्शन करना होता है।

पोटास क्लोरस १० ग्रेन, एसिडट्रोनाईड्रोक्लोरिड ५ बूंद, एक्वा १ औंस इस औषधि का दो घण्टे पश्चात् गरगरा कराएँ।

अथवा—एसिड कारबोलिक २ ड्राम, एसिड सल्फ्यूरोजी ३ ड्राम, टिंचर फेरीपरक्लोर १ औंस, ग्लेसरीनी औंस मिलाकर स्नाव (परकावुरूश) से हलक में लगाएँ। अथवा-अनार की कली १ तोला; धनिया के हरे पत्तों का पानी १५ तोला, ईसबगोल १ तोला मलकर गरगरा कराएँ। अथवा—बाहर गले पर निर्वसी कली असली मकोय के पत्तों के स्वरस में पीसकर लेप करें। या ग्रीवा में शोथ होने पर अमलतास का गूदा मकोय के पत्तों के स्वरस में पीसकर गाढ़ा-गाढ़ा लेप करें।

जब से इस रोग का यह उपर्युक्त इंजेक्शन चिकित्सा प्रयोग में लाया जाने लगा है तब से बहुत ही सुभीता हो गया है, मृत्यु भी बहुत कम होती है तथा उपद्रवों से सामना बहुत कम करना पड़ता है परन्तु इंजेक्शन के वास्ते एक बहुत होशियार अनुभवी चिकित्सक की अवश्यकता है अन्यथा लाभ के बदले अधिक हानि हो जाने की सम्भावना हो जाती है।

विशूचिका—खल्ली अथवा तुशन्नज से स्राव हो जाता है। कभी-कभी

प्रसव उपस्थिति से पहले ही गर्भवती स्त्री चल बसती है। जिनको गर्भपात हो जाता है, उनके स्वस्थ रखने की सम्भावना शीघ्र रहती है। इसलिए नहीं कि उन्हें गर्भस्राव हो गया है बल्कि इसलिए कि इन्हें हैंजा शुरू के ही नीचे दर्जे का होता है।

चिकित्सा—विशुचिका विध्वंसवटी

अफीम—१ तोला सिंगरफ मकसुदवादी—१ तोला

कागजी नींबू के रस में ३६ घण्टे लगातार घोटें और छाया में सुखा रखें, फिर उसमें अफीम मिलाकर जल के साथ पाव-पाव रत्ती की गोलियाँ बनाकर रखें।

मात्रा—एक गोली मुख में रखकर (दाँत छुये बिना) जल से उतार लें। ४–५ घण्टे बाद एक गोली और भी दे सकते हैं।

उग्र-फुफ्फुस खण्डौष—इस रोग में बुखार की अधिक तेजी के कारण तथा खून के लिए ओषजन न मिलने के कारण अधिकतर गर्भावस्था के आखिरी मासों में गर्भपात अथवा गर्भस्राव हो जाता है। इसके द्वारा न्यूमोकीट प्रसव में उपस्थित हो सकता है। बीमार प्रसूता का दुर्बल हृदय स्राव की कठिनाई को नहीं सह सकता अतः उसकी मृत्यु भी हो जाती है। इसलिए यदि हो सके, तो असामयिक प्रसूति ही रोकनी चाहिये। यदि यह उपस्थिति हो ही जाय तो प्रयास करना चाहिये कि प्रसूति में वहुत कम समय खर्च हो और प्रसवा को अधिक कांखना न पड़े। गर्भावस्था के अन्तिम मासों में इस रोग से पीड़ित स्त्रियों की मृत्यु संख्या ५०% होती है।

चिकित्सा—इस रोग में न्युमोनिया के सदृश चिकित्सा करें। रोग की भीषण अवस्था में योग्य चिकित्सक की सलाह लें।

अधिकष्ठीवन—गर्भावस्था में यह रोग तो वहुत ही भयंकर होता है। यह गर्भावस्था के कारण उत्पन्न होता है। २४ घण्टों में १ सेर के लगभग थूक निकला करता है, अगर यह पीड़ा नाड़ियों के प्रभाव से हुई हो, तो दवा करने से प्रायः कोई भी लाभ नहीं देखा जाता है। यदि किसी और हेतु से पैदा हुई तो भोज्य पदार्थों में दूध लेने से लाभ पहुँचता है या कोष्ठ की शोधन करने वाली अन्य औषधियों के प्रयोग से भी लाभ देखा जा चुका है। कभी यह बढ़कर वमन का रूप धारण करता है तब इसकी चिकित्सा यह है—

३ माशे मोरपंख भस्म

१ माशे बड़ी इलायची के छिलके की भस्म, शहद के साथ कई बार चाटें

इन्द्रयव, इलाइची, वायविडंग के दस दाने भुना करके शहद के साथ सुबह शाम चटाएँ। सौंफ के अर्क के साथ चन्दन घिसकर पिलाएँ।

जब वमन तीव्र हो—सोड़ा खाने का ५ रत्ती, धान खील १ तोला जल में मिलाकर ऐसे योग ३ बार दिन में पिएँ।

प्रवाल या मुक्ता भस्म १½ रत्ती मात्रा में शहद व पोदीना की चटनी के साथ पिएँ।

यदि वमन के साथ रक्त दिखलाई पड़े। मुलहटी चूर्ण २ माशे, सफेद चन्दन का बुरादा २ माशे के साथ पिएँ।

गिल्लड़ या घेंघा—इस रोग पर गर्भावस्था का असर भिन्न-भिन्न होता है, तो भी यह पीड़ादायक होता है। साम्वेदनिक नाड़ियों की साधारण अस्थिरता और चालक नाड़ियों की उत्तेजकता गर्भास्राव की आशा को ज्यादा कर देती है। प्रसवोत्तर रक्तस्राव की अधिक सम्भावना होती है—हृदय विराम का प्रसव के समय, विशेषकर उस समय, जबकि सम्मोहक दवा का प्रयोग किया गया हो, ख्याल रखना चाहिए।

शास्त्र साध्य रोग—जहाँ तक हो सके गर्भवती के अन्दर शस्त्र क्रिया न करनी चाहिये। उदर की शस्त्र क्रियाओं में गर्भस्राव होने की सम्भावना २०% है दूसरे जगह शस्त्र क्रियाओं की कम। यदि किसी शस्त्रसाध्य व्याधि को सूतिका काल तक छोड़ देने से कोई नुकसान न हो, तो उस समय तक स्थगित रखने में कोई हानि नहीं।

उपांत्रशोथ—यह गर्भ के बहुत ज्यादा भयानक उपद्रवों में से है, गर्भप्रसव से पूर्वार्द्ध में तत्क्षण शस्त्र क्रिया कर देना चाहिए। आखिरी महीनों में भी कर सकते हैं। इस समय सिर्फ यही कठिनाई है कि गर्भयुक्त गर्भाशय उपांत्र क्षेत्र के समक्ष आया होता है, प्रसव काल तक इसे स्थगित रखने से प्रसव समय की उदर सम्बन्धी आन्तरिक आकुन्चन गतियाँ उपांत्र क्षेत्र के स्थित व पक्व व्रण शोथ को फाड़ डालती हैं। फलस्वरूप परिविस्तृत तोष प्रत्यक्ष हो जाता है।

कोष्ठबद्धता—यह भी दबाव का कारण है कि गर्भवती को वेग से रोकने से तथा कोष्ठवद्धता के नुकसान के प्रति सूचित करना चाहिये। भोजन उत्तम हल्का उचित है, किसी हल्की दवा का प्रयोग जरूर हो, तेज जुलाब (रेचनादि) गर्भस्राव के कारण होते हैं। यह बड़ा दुःख देने वाला रोग है, जिसमें खासकर शहर की स्त्रियों को आराम पसन्द गद्दों पर पड़ी रहने वाली औरतें अपनी बुरी आदत के कारण इस रोग को पालती हैं और अपने तथा अपनी सन्तान के

स्वास्थ्य को बर्बाद करती है। जिस स्त्री के गर्भावस्था में कब्ज रहा है, उसके बालक को भी कब्ज रहती है, यह अक्सर देखने में आता है, और धनवानों के बालक इनके उदाहरणस्वरूप हैं।

उपचार—(१) हिंगाष्टक चूर्ण और लवण भास्कर चूर्ण को मट्ठा के साथ सेवन करना चाहिये।

(२) सोंठ, गुड़ या हरण और गुड़ का सेवन करना चाहिए।

(३) २ या ३ तोला अण्डी का तेल दूध के साथ मिला देने से भी कोष्ठ साफ हो जाता है।

उदर वेदना—साधारण रूप से बहुतों को गर्भाशय में कभी-कभी कब्ज रहने आदि से यह विकार जोरदार हो जाता है, और इससे गर्भिणी तड़फने लगती हैं, गर्भ भी गिर जाया करता है।

उपचार—(१) शंख भस्म ६ माशे गर्म जल के साथ देने से फायदा हो जाता है।

(२) शंखवटी की २ गोली खिला देने से भी लाभ होता है।

(३) ६ माशा अजवाइन या उसका अर्क गर्म पानी के साथ देने से भी लाभ होता है।

अर्श—पेट की शिराओं पर बृद्धियुक्त गर्भाशय के दबाव पड़ने से गुदा की शिरायें फूल जाती हैं और वे मस्सों के रूप में प्रगट हो जाती हैं। यदि मस्से पहले से ही हों तो गर्भकाल में और भी मोटे होकर दुःखदायी होती हैं।

उपचार—सौंफ और मिश्री का चूर्ण १ माशा १ पाव गाय के दूध में पिएँ या पंचसकार चूर्ण ६ माशा गर्म दूध के साथ १ तोला खाएँ।

मक्खन १ तोला, नागकेशर २ माशे, मिश्री ६ माशे मिलाकर सेवन करें, गुलकन्द रात को दूध के साथ १ तोला खाएँ।

यदि खूनी हो तो—सौंफ, जीरा, धनिया, तष्टाशशेषित क्वाथ १ छटाँक में १ तोला घी मिलाकर पिएँ।

कमल केशर, शहद, मक्खन, मिश्री प्रत्येक ३ माशा, नागकेशर ३ माशे, लेकर १५ गोलियाँ बना लें, प्रातः सायं सेवन करें। वेदनास्थान पर महा-काशी आदि तेल का प्रयोग करें।

पथ्य—गेहूँ की रोटी, मूग की दाल हरे शाक, घी, दूध, मक्खन, मूली, मट्ठा।

शोथ—भार की वजह से अधो शाखा में थोड़ी-बहुत शोथ आया करती है। परन्तु उसे ऊपरिलिखित दवाव का कारण न समझकर मूत्र परीक्षा द्वारा निन्दान स्थिर करना ठीक है, सर्व शरीर भी साधारण शोथ तथा मुख की शोथ या तो वृक्क के ही कारण हुआ करती है या कीटरक्तता के कारण से समझो, इसमें मूत्र परीक्षा की नियमानुकुल परीक्षा उचित है, साधारण दशा में खाट का विश्राम ही काफी है परन्तु कीट रक्तता में वह वृक्क रोग की चिकित्सा आवश्यक है, कभी-कभी भग की शोथ इतनी बढ़ जाती है कि दोनों भगोष्ट पानी से भरे व ज्यादा सूजन वाले दिखाई देते हैं।

उपचार—पुनर्नवा, दशमूल में से किसी के क्वाथ को योगराज गुग्गल के साथ सेवन करें।

योनि शोथ में—पञ्चक्षीरी वृक्षों के क्वाथ में घी मिलाकर कपड़े में भिगोकर के योनि प्रवेश को तर रखें।

आहार-विहार—लघु आहार तथा पूर्ण विश्राम देना चाहिए।

शिरा-स्फीत—(शिराओं का फूल जाना) निम्न शाखा की शिराओं पर गर्भयुक्त गर्भाशय का दवाव पड़ता है। अतः पैरों की शिराओं का फूल जाना देखा जाता है। उन स्त्रियों में यह जरूर देखने में आता है जिन स्त्रियों में पहले से ही उसकी प्रवृत्ति मौजूद हो। गर्भावस्था में शस्त्र क्रिया करना व्यर्थ है। किसी-किसी स्त्री की भग की शिरायें ज्यादा फूल जाती हैं और प्रसव में रुकावट डाल देती हैं। ऐसी औरतों को सीधा लेटना चाहिए, पैरों पर मोजे व पट्टी बाँधना अच्छा होगा।

उपचार—रास्ना, गुडूची, अमलतास, पुनर्नवा क्वाथ ३-३ तोले की मात्रा में दिन में दो बार देना चाहिए। पुनर्नवा क्वाथ में घड़ी डालकर पिलाएँ।

पथ्य—मूंग को दाल, अरहर की दाल, गेहूँ की रोटी, बथुआ, पालक, चौलाई, मूली का शाक।

अपथ्य—खट्टे, तीखे, कड़वे पदार्थ, चावल, उड़द और विष्टम्भी आहार।

रक्त प्रवाह के रोग—गर्भकाल में हृदय को बहुत काम करना पड़ता है। यदि हृदय पहले से रोग वाला हो तो उसका नतीजा खराब होता है। हृदय की कमजोरी मालूम होने लगती है जो कि पहले नहीं मालूम होती थी। हृदय के रोगों का प्रभाव गर्भाशय पर प्रकट नहीं होने पाता। यदि हृदय उस ह्रास को पूरा अपनी ताकत से कर दे। यदि यह ह्रास पूर्ति न हो तो शिराओं को रक्त के पीछे की ओर दबाएँ। यह गर्भस्राव या असामाजिक प्रसव की संभावना

को और भी बढ़ावा देता है। जिन रोगों से रक्त प्रवाह की रुकावट हो ऐसे सम मैं अधिक खतरनाक हो जाते हैं। जिस स्त्री को कोई ऐसा रोग हो, कि जिसके कारण हृदय के दोषज कार्य की क्षति पूर्ति न हो तो उसके प्रसव में बहुत कठिनाइयाँ होती हैं। इसमें हृदय का दाहिना भाग ज्यादा फैल जाता है, और प्रसव में ही रुक जाता है। सबसे ज्यादा चिन्ता वाली बात यह है कि जिसमें हृदय के बायें ग्राहक कोष्ठ या क्षेपक कोष्ठ का छिद्र एक हो जाता है, इसके हृदय बायें भाग पर पहले से होता है। महाधमनी द्वार का तंग होना इसकी दूसरी खराबी है।

सबसे ज्यादा खतरे का समय—प्रसव की द्वितीयावस्था की समाप्ति है जबकि मांसपेशी पर ज्यादा भार पड़ता है।

जबकि कमल अलग होता है और कमल के रक्त प्रवाह का गर्भाशय का शोणित शारीरिक रक्त प्रवाह में मिलता है, तो इस समय प्रसवोत्तर स्राव का भी भय होता है। ऐसे घोर रोगों से दुखी स्त्रियों की शादी न करनी चाहिए अथवा उसे गर्भाधान से बचना चाहिये। यदि वह गर्भवती हो तो उसकी साधारण दवा इत्यादि करना चाहिए। किन्हीं घोर भय वाली दशा में गर्भस्राव कराने की जरूरत होती है। प्रसवा स्त्री कोखसे तकलीफ नहीं पहुँचानी चाहिए प्रसवावस्था में तो आराम से लेटना चाहिये, बहुत तेज दर्द के समय काँखने के रोकने के लिये उसे सम्मोहक चीज दें। जब ग्रीवा विस्तृत हो जाय तो संदशों के प्रयोग से प्रसव करा देना चाहिए। प्रसव में शुरू से अन्त तक हृदय की गति के ऊपर जरूर ध्यान देना चाहिए, और क्षणिक सूचना मिलते ही जल्दी से जल्दी कुचलासत या स्ट्रिकनीन का अन्तक्षेप करने के लिए तैयार रहना चाहिये, अथवा किसी शिरा को काटकर थोड़ा सा खून निकाल देना उचित है ताकि बायाँ हिस्सा अधिक दबाव से सुरक्षित रह सके। जबकि कमल गर्भाशय से पृथक् होने लगता है तब उसकी जरूरत होती है। प्रसवोत्तर रक्त स्राव की अल्पमात्रा कुछ अश तक तो लाभप्रद है, इससे हृदय का भार घट जाता है। इसका ज्यादा मात्रा में आना-जाना भयंकर होता है। ऐसी स्त्री को सूतिका काम में बहुत देर तक बिस्तर पर लेटे रहना उचित है, अपने बच्चे को दूध स्तन से पिलाना चाहिये।

यक्ष्मा रोग—यह बात मशहूर है कि यक्ष्मा रोग से ग्रसित औरतों का स्वास्थ्य उनके गर्भ धारण के बाद अच्छा हो जाया करता है। लेकिन गर्भवती नारियों के फेफड़ों की परीक्षा से उक्त विचार बिल्कुल झूठ तथा निर्मूल ही

साबित हुआ है। रोगों में उल्टी वृद्धि देखी गई है तथापि गर्भवती के चेहरे पर ऐसा नहीं मालूम होता है और न ऐसी वह अपनी दशा को रोग ग्रसित समझती है।

प्रसव समय में बहुधा दूध देते समय ऐसी स्त्रियाँ जल्दी दुर्बल हो जाती हैं और उनका रोग वृद्धि को प्राप्त होता है। उनकी संतान प्रायः हृदय-पुष्ट होती हैं। लेकिन किसी-किसी बच्चे के वास्तविक यक्ष्मा रोग के चिन्ह भी मौजूद रहा करते हैं। ऐसी ही यक्ष्मा को "कमल यक्ष्मा" कहा करते हैं। ऐसी स्त्री को (क्षय से पीड़ित) विवाह की आज्ञा नहीं है। क्योंकि इससे उसके पति को भी इसका शिकार बनना पड़ता है। यदि शादी हो भी जाय, तो उन्हें गर्भ धारण का उपदेश नहीं देना चाहिए, यदि गर्भ रह भी जाय तो फिर यक्ष्मा रोग की साधारण सीधी चिकित्सा पद्धति से तर चिकित्सा करना उचित होगा, जहाँ तक हो प्रसव में अल्प समय व्यतीत होना चाहिए।

प्रसवा को काँखने का विरोध करना उचित है, और अवस्था के शुरू होते ही संदेशों का प्रयोग करना चाहिये। इन सब बातों के अलावा ऐसी माता कोशिश करे कि वह बच्चे को स्तन से दूध न पिलाए। प्रसव समय तथा कुछ समयान्तर भी फेफड़ों की परीक्षा जरूर करते रहना चाहिये।

उपचार—रोग की भीषण अवस्था में योग्य चिकित्सक की सलाह लें।

वृक्क क्षय—यह रोग प्रायः गर्भ काल के ५ या ६ मास में हो जाता है। रोग वाम वृक्क की अपेक्षा दायें में अधिक होता है। दोनों का एक साथ रोग-ग्रस्त हो जाना, कम दिखाई देता है।

तीव्र क्षय—यकायक आरम्भ हो जाता है, रोहिणी पार्श्व में फाड़ने का दर्द होता है, शरीर का ताप भी बढ़ता है। प्रायः कँपकँपी भी होती है। कुछ समय या घण्टे बाद मूत्र गंदला हो जाता है। पीड़ा कुछ समय को बन्द हो जाती है। यदि चिकित्सा न की जाय तो वृक्क या उसकी नलिकाओं का प्रदाह हो जाता है। इसी दशा के साथ कभी-कभी प्रवेश द्वार के समतल के उदर अस्वस्थ पार्श्व की ओर गर्भाशय कुछ फैला हुआ भी पाया जाता है इसका कारण (Bacillus coli Communis) नामी कीटाणुओं को मानते हैं, परन्तु कभी-कभी भिन्न-भिन्न श्रेणियों में मिले-जुले कीड़े भी पाये जाते हैं। रोगी की उत्पत्ति रक्त प्रवाह द्वारा होती है। यानी कीटाणु इस मार्ग से व्यथित जगह पर पहुँच जाते हैं या मूत्राशय से ऊपर की तरफ चढ़ जाते हैं इसे उपांत्रशोथ से गौर से पहचानना चाहिए। कारण कि इन दोनों में समानता पायी जाती है यानी

एक से होते हैं, तो भी इसमें वृक्क क्षेत्र स कुछ पीड़ा मालूम होती है। दवाने से जल्दी ज्ञात होता है। मूत्र परीक्षा से इसमें पीप व कीटाणु ज्यादा होते हैं। B.coli नामी कीटों की उपस्थिति से मूत्र की प्रतिक्रिया प्रायः अम्लप्रधान होती है।

उपचार—किसी योग्य चिकित्सक की सहायता लेनी चाहिए।

भयंकर यकृत वेदना का प्रधान कारण पित्ताशय में पित्तश्मरी की रुकावट हो जाना ही समझा जाता है। अश्मरी भी पित्ताशयक नली के समीप ही होती है। इनकी पीड़ा अधिकतर रात्रि में हो जाती है और अकस्मात् यह पीठ की तरफ होने लगती है या बायें कन्धे की ओर पहुँच जाती है। पेट में दवाने से भी अच्छा मालूम होता है, वृक्क पीड़ा में तो वृक्क स्थान से वेदना आरम्भ हो नीचे के भाग में कुछ तिरछी रूप में मूत्राशय की तरफ चली जाती है। शौच में तो अकस्मात् पीड़ा वक्षस्थल के किसी भाग में होने लगती है और बिल्कुल सूचिकाभेदन की तरह प्रतीत होती है। यहाँ तक कि स्वास लेने की गति में भी बहुत वेदना वृद्धि होती है।

रोग निश्चित—इस रोग में अगर बिना मथित मूत्र की बिन्दु को अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा की जाए तो उस बिन्दु में मवाद अथवा कीटाणु ही पाए जाएँ, तब तो ऐसी दशा में उस रोगी को यह रोग नहीं है, यही समझना चाहिए।

चिकित्सा—ऐसी अवस्था में औरत को बिछौने पर आराम से लिटा देना चाहिये, फिर उसके बाद जल अथवा कोई द्रव्य जलीय वस्तुओं का सेवन करना चाहिये। भोजन हल्का देना चाहिये और क्षारीय पदार्थ जैसे कि (सोडावाटर) इत्यादि खारी पदार्थ के सेवन कराने से मूत्र की भी प्रतिक्रिया क्षारीय हो जायेगी। मूत्र के क्षारीय होने से कुछ दिनों में आराम हो जाएगा। यदि रोग बलवान हो तब तो गर्भपात कराना ही उचित होगा। ऐसी चिकित्सा करने से प्रायः अधिक संख्या में रोगियों को आराम हो जाता है।

सुजाक—गर्भावस्था में श्रेणी अवयवों में इस रोग की सम्भावना अधिक होती है। चूँकि रक्त स्रोत या प्रणाली में घने जाल रहते हैं। यह ग्रीवा मार्ग से फैलता हुआ ऊपर की तरफ अंकुर वेष्ठन की तरफ पहुँचकर गर्भस्राव का कारण हो जाया करता है। यदि ऐसा न हो तथा इसकी कुछ भी चिकित्सा इत्यादि न हो तो फिर सूतिका काल में गर्भ स्थान में दूषित या कीष्टाविष्ठ

होने की सम्भावना होती है। यह रोग ज्यादा बढ़कर डिम्ब प्रणाली तक पहुँच कर उनमें पीप युक्त शोथ पैदा करता है।

गर्भाशय में केवल सुजाक कीट से पैदा हुआ सूतिका कीटावेश अथवा विष संक्रामण इतना शीघ्र नही होता, और उसके लक्षण प्रकट होने में भी करीब ८ दिन ले लेता है, पर प्रणालियों के सूजन युक्त होने की शंका जरूर हो जाती है, इसलिए उनके बचाव का प्रयत्न करना जरूरी है, इससे भी ज्यादा हानि नवजात बच्चे के नेत्रों में हुआ करती है। अतः पैदा होते ही बच्चे के नेत्रों को सुरक्षित तथा साफ करने की कोशिश करनी चाहिए।

उपचार—पैदा होते ही शिशु की आँखों में १ प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट लोशन की ११ बूँद आँखों में छोड़ दें इससे आँखे सुर्ख हो जायेंगी किन्तु चन्द मिनट में अपने आप ठीक हो जायेंगी, अथवा विशुद्ध गुलाव जल में १० प्रतिशत फिटकरी और तूतिया को मिलाकर रख लो, इसमें से एक बूँद डालें, इससे नेत्र रक्षित रहेंगे। उनमें कोई विकार नहीं होगा।

बहुमूत्र या शार्करिक मूत्रता—गर्भावस्था में कुछ दिन व्यतीत होने पर स्त्रियों के मूत्र में प्रायः शर्करा देखी जाती है, अधिक पेशाव के अलावा और भी कितने ही कारण होते हैं।

(१) मधुमेह।
(२) दुग्ध की तरह शर्करा से मिश्रित मूत्र।
(३) आहार से सम्बन्धित रखने वाली शर्करा युक्त मूत्र।
(४) गर्भाशय के यह सम्बन्धित मूत्रता-यथार्थ में तो ऐसी दशा में बहुमूत्र की परीक्षा करनी चाहिए।

मधुमेह—जिसमें कि गर्भाधान के पहले ही से मूत्र में शर्करा पाई जाए या शर्करायुक्त मूत्र के साथ यूरिया वृद्धि या अत्यन्त क्षीणता लक्षण मौजूद हों। बहुमूत्र का रोग तो वड़ा ही भयानक है। इस रोग में अधिकतर गर्भपतन भी हो जाया करता है और तन्द्रा इत्यादि रोग से ग्रसित हो, स्त्री कराल मृत्यु के गृह की अतिथि हो जाया करती है। मृत्यु गर्भावस्था के समय में ही होती है, या बच्चा जनने के समय में सन्तान भी मृतक ही पायी जाती है।

दुग्ध मूत्रता—ऐसी दशा में दुग्धीज मूत्र की यदि फैलिङ्ग द्वारा अथवा किसी दूसरे विधान से परीक्षा करने पर शर्करा देखी जाए तो उसको उसी समय यह जानना जरूरी है कि वह कौन-सी शर्करा है, दूध की है या कोई दूसरी (अंगूरी इत्यादि)। ऐसे समय में औरतों को बच्चों के लिए दुग्ध नहीं

पिलाना चाहिए। क्योंकि उनके पेशाब में दुग्ध शर्करा पाई जाती है इसलि दुग्धोज का पिलाना हानिकारक समझा जाता है।

आहार सम्बन्धी श्वेत मूत्रता—यह रोग गर्भवती में और औरतों अपेक्षा बहुतायत से देखा जाता है। उनके लिए कार्बोज अथवा शर्करा प्रयोग नहीं करना चाहिए और मुख्य कारण मन्दाग्नि ही समझा जाता है।

गर्भावस्था जनित बहुमूत्रता—इसके विषय में हम यथार्थ रूप से नहीं क सकते हैं, कि इसका प्रधान कारण क्या है? न इसके संग में शर्करा, प्रमे अथवा बहुमूत्र के ही और चिन्ह मिलते हैं, न भोजन के बदले से ही इसमें कु भेद पाया जाता है और किसी प्रयत्न के बिना ही शान्त हो जाता है।

चिकित्सा—(१) वसन्त कुसुमाकर, मालती बसन्त, तारकेश्वर रस में से किसी एक को आधा रत्ती मात्रा में सेवन करायें।

(२) लोह, मुक्ता, प्रवाल, शंखभस्म, इन सब को मिलाकर गुडुची के रस की भावना दें, तैयार होने पर १ रत्ती मात्रा में सेवन करें। मधु व मिश्री के साथ पथ्य लघु होना चाहिए।

एलादि बटी—छोटी इलायची के बीज, पाषाण, भेद, छोटी पीपल और शुद्ध शिलाजीत, ये प्रत्येक समभाग लेकर चूर्ण करें। गोखरू के क्वाथ में खरल कर गोलियाँ बना लें।

मात्रा—४ रत्ती।

अनुपान—साठी चावल के धोवन से या चन्दासव से अथवा लस्सी से अथवा तक्र से प्रातः, सायं एवं आवश्यक समय।

गुण—मधुमेह, मूत्र, शर्करा, सुजाक, मूत्रकृच्छ्र में लाभप्रद है।

मधुमेहारि चूर्ण—गुड़मार, जामुन की गुठली, निर्मला, अर्जुन छाल, गूलर छाल या फल प्रत्येक समभाग लें, चूर्ण करें।

मात्रा—६ माशा।

अनुपान—शहद।

गुण—मधुमेह, मूत्रशर्करा एवं बहुमूत्र को दूर करता है।

त्वचा रोग—बहुतायत से यह भी देखा जाता है कि गर्भवती स्त्रियों के चर्म रोग कभी-कभी हो जाया करते हैं। जैसे अर्श अरूषिका इत्यादि और यह अपना भयंकर रूप धारण कर लेते हैं। इसलिए उपाय बहुत जल्द करना चाहिए। स्त्रियों की देह पर कुछ काले रंग के धब्बे पड़ जाते हैं जो बच्चा

जनने के बाद कई साल पर्यन्त रहा करते हैं, इनको कोई-कोई झाँई के नाम से भी पुकारते हैं।

उपचार—(१) मंजिष्ठादि क्वाथ को २ से ४ तोला मात्रा में सेवन करें।

(२) सरसों, वच, चिरौंजी, पिस्ता, कमलफूल, सत्यानासी की मूल इन सबों को पीसकर उबटन लगाएँ।

योनि केडु—विशेषकर यह रोग बहुत देखा जाता है। इसमें योनि में खुजली बहुत रहती है। साथ ही दर्द भी रहता है। योनि में रूक्षता और सूखा पन आ जाता है। योनि में यदि खुजली होती हो तो उसे कार्वोलिक या नीम के साबुन से धोकर मरिचादि तेल का फाया रख दें, या सरसों के तेल को लगा दें या घी चुपण दें या यशद मरहम (Zinc ointment) को लगाएँ।

उपदंश रोग—इसका असर गर्भ समय में कई तरह का होता है और यह गर्भ धारण के पहले हो तो ७५% स्त्रियों की गर्भपतन या असामयिक प्रसव हो जाता है, क्योंकि समय के नष्ट हो जाने में तथा चिकित्सादि द्वारा रोग का जहर व प्रभाव कुछ न कुछ हल्का जरूर हो जाता है। इसलिए आगे होने वाली गर्भ स्थितियों में गर्भपात होने की शंका कम होती है और गर्भाशय का समय क्रमशः बढ़ता रहता है। आखिर में बच्चा अपने ठीक समय पर जन्म लेगा, बच्चे की हालत भी भिन्न होती है, शुरू में यह प्रायः मृतक या रोगी होता है। परन्तु बाद में जीवित व रोगी बच्चे पैदा होंगे। कुछ कालान्तर बच्चा जीवित कुछ स्वस्थ होगा, परन्तु यह भी जल्दी ही रोग का घर बन जाता है। अतः एकाध बच्चा ऐसा भी उत्पन्न हो सकता है कि जिसका शरीर रोग के चिन्हों वाला न हो, पर गुप्त रूप से उसके शरीर में बीज हो। ऐसी दशा में रोगावस्थाओं के दाँत पैदा होने के समय या यौवनावस्था के प्रारम्भ में ही अपनी दशा (रूप) प्रगट कर देता है।

यदि गर्भ धारण करते समय स्त्री को फ़िरंग हो जाता है, तो उसके बच्चे को जरूर होगा। या तो इसका बीज सीधा माता के द्वारा पहुँचता है, या स्थित होने वाले शुक्रटीट से आता है। इसी तरह की दशा में गर्भास्राव व पात होता है। यह रोग यदि स्त्री को पहले महीने में हो, तो भी बच्चे को भी होता है। जिससे असामयिक प्रसव होता है।

यदि यह रोग गर्भावस्था के बाद हो तो बच्चा या तो इससे सर्वथा बच जाता है अथवा कुछ प्रभावित हो जाता है। जितना रोग देर में होगा उतना ही बच्चा रोग-ग्रस्त कम होगा। परन्तु कभी-कभी बच्चा गर्भावस्था में तो

सुरक्षित रहता है पर अक्रान्त योनिमार्ग से गुजरते हुए वहाँ के स्थानीय दोष के कारण रोग बीज से प्रभावित हो ही जाता है। उस समय आयोजिक फिरंग के से लक्षण प्रकट होते हैं।

फिरंग से संतप्त रोगी के शुक्र से कभी-कभी रोगी बच्चा पैदा हो सकता है, पर स्त्री एक प्रकार से सुरक्षित रहती है। इसके ऊपर साक्षात् असर फिरंग का कोई नहीं पड़ता। ऐसी दशा में स्त्री बच्चे को स्तन पिला सकती है। कीटावेशमय नहीं होता परन्तु विमाता इस तरह दूध नहीं पिला सकती, इसका उत्तर इस तरह से हो सकता है, पूर्वोक्त माता गुप्त फिरंग से पीड़ित होती है, लेकिन उसके शरीर के ऊपर मालूम नहीं होता, डा० कौसल का विचार है कि माता के शरीर में इस रोग के प्रति रोग क्षमता संचित हो जाता है, डा० जान्सटन के विचार से यह ठीक नहीं है।

गर्भपात या स्राव का सबसे प्रधान कारण केवल फिरंग ही है। यदि स्त्री का कई बार से गर्भपात या स्राव हो जाय तो उसका साफ कारण फिरंग ही समझना चाहिए, थोड़ी-थोड़ी मात्रा में स्त्री की शिरा द्वारा संखिये के योगियों को देना चाहिये। जो यौगिक फिरंग के लिए है। अब फिर रक्त की जाँच करनी चाहिए। यदि अब साफ फिरंग सिद्ध हो जाय तो पति-पत्नी को कम से कम दो साल तक चिकित्सा करना चाहिये। ऐसे व्यक्तियों को नियमानुकूल चिकित्सा कराते हुए गर्भाधान न करने देना चाहिए, यदि गर्भ रह जाय तो स्त्री को सिर्फ बच्चे के रक्षार्थ चिकित्सा कराना चाहिए।

यदि बच्चा जीवित हो तो उसे स्तन पान करना चाहिए। ऐसी दशा में धात्री को भी यह रोग लग जाने के कारण स्तन पान के लिए नियुक्त न करना चाहिए।

दन्त-शर्करा—यह रोग बालकों को तो होता ही है किन्तु गर्भवती स्त्रियों में भी देखा जाता है, इसका मुख्य हेतु दो दाँतों पर मैल का इकट्ठा हो जाना अथवा सोते समय मुँह खोलकर सोना भी समझा जाता है, क्योंकि जो अन्न ठीक मुँह साफ न करने से रह गया हो फिर उसका सड़ जाना ही प्रधान कारण है। क्योंकि माधवाचार्य ने लिखा भी है—

"मलोंदन्त गतोयस्तु सित्तमारूप शौषित-शर्करे व खरस्पर्शा साज्ञै या दन्त शर्करा।

दाँतों में सड़ाव होने से वेदना भी इतनी अधिक होती है, उस दाँत से

अन्न का दवाना भी दुस्तर हो जाता है। इसी तरह से अजीर्ण भी हो जाता है। ऐसी दशा में किसी सुयोग्य वैद्य (दन्त चिकित्सक) की दवा करनी चाहिये।

चिकित्सा—(१) लाख या शहद को दाँतों में लगाना चाहिये।

(२) सैंधा नमक व कड़वा तेल दाँतों में मलें, गर्म पानी से मुँह धो लें।

(३) एलादि मन्जन, कालक, पीतक, काई योग, चरक के मुँह के योग में, का प्रयोग करें।

प्रश्न—प्रसूता का गृह का वर्णन करते हुए प्रसवावस्थाओं का विस्तार से वर्णन कीजिये।

उत्तर—जिस स्थान पर गर्भिणी का प्रसव होता है और जिस स्थान पर वह रहती है उसे सूतिकागार कहा जाता है। यह सूतिकागार अस्थि देह और मिट्टी का कपाल रहित प्रदेश में और प्रशस्त रूपरस और गंध वाली भूमि में पूर्वद्वार व उत्तर द्वार का विल्ध, तैन्दूक, ईंगनी, भस्लातक, वरुण और खदिर के काठ से वनाना चाहिये। अथर्ववेद जानने वाले ब्राह्मण के कहे अनुसार गृह वनाना चाहिए। सूतिकासार वस्त्र आलेपन द्रव्यों, आच्छादन, कपट आदि संपदों से युक्त होना चाहिये। वस्तुविद्यातत्व को जानने वाली उस आगार में अग्निगृह, सलिल स्थान, उदूखल, वर्च-स्थान, स्नानागार, महानस का अच्छा प्रवन्ध करें और ऋतु के अनुकूल गृह होना चाहिए।

सुश्रुताचार्य के मतानुसार सूतिकागार ब्राह्मण का श्वेत भूमि में विल्व काष्ठ से बना हुआ; क्षत्रिय का रक्त भूमि में न्यग्रोधकाष्ठ से बना हुआ वैश्य का पीत भूमि में तिंदूक काष्ठ से बना हुआ, शूद्र का कृष्ण भूमि में भल्लातक काष्ठ से बना हुआ होना चाहिए और उक्त काष्ठों से बना हुआ पलंग; गौ के गोबर से अच्छी तरह लीपा हुआ गोवर से ही उपलिप्त भित्ति वाला साधन सम्पन्न युक्त पूर्वद्वार व दक्षिण द्वार का आठ हाथ चौड़ा और चार हाथ विस्तृत रक्षा मंगल युक्त गृह होना चाहिए।

सुश्रुताचार्य वर्णित जो गृह है वह केवल सूतिका के सोने, बैठने और उठने का स्थान है। वहाँ प्रसूता के सिवाय अन्य किसी का आना-जाना नहीं होना चाहिए।

वहाँ घी, तेल, शहद, सैन्धव, सौवर्चल, काला लवण, विडलवण, विडंग, कुष्ठ, देवदारू, सौंठ, पीपल, ग्रथिल, गंजा, पिप्पली, मण्डूकपर्णीफला, लाँगली'

वचा, चव्य, चित्रक, चिरविल्व, हींग, संषर्प लशुन, केतक, तण्डुल, अलसी, भूजपत्र कुलत्थ, सँरेय, सुरा और आसवादि होने चाहिए। दो बड़े पत्थर, दो ह्रस्वमूसल दो उदूखल' दो तीक्ष्ण सुवर्ण या रजत से बनी हुई सुई, तीक्ष्ण आयास के शस्त्र-दो विल्व काष्ठ से बने हुए पलंग, अग्नि जलाने के लिए तँदूक या इंगद के शाष्ठ और वहाँ जिसने बहुत प्रसव करवाये हों, सौहार्द युक्त सतत प्रेम रखने वाली आचार कुशल, प्रतिपत्ति कुशल, स्वभाव प्रिय, विषाद रहित, क्लेश सहन करने वाली बहुत-सी स्त्रियाँ और अथर्ववेद जानने वाला ब्राह्मण होना चाहिए, और जो वृद्ध स्त्रियाँ या ब्राह्मण कहें वैसा करना चाहिए।

प्रसूतागार बहुत स्वच्छ होना चाहिए। उसके चारों ओर दुर्गन्ध और गंदगी नहीं होनी चाहिए। यदि खुला मैदान हों, तो बहुत अच्छा जिसमें पवन का आवागमन अच्छी तरह से हो सके। भारत में कितने ही बच्चे अच्छी हवा न मिलने से थोड़े दिन में मृत्यु के मुख में चले जाते हैं इसलिए आगार का चौड़ा होना बहुत जरूरी है। वहाँ की भूमि शुष्क होनी चाहिए। आर्द्र और क्लेद-युक्त भूमि से बहुत नुकसान होता है।

शीतकाल में और वर्षा में उनका पूर्व द्वार होना जरूरी है और उष्णकाल में चरक के अनुसार उत्तरद्वार और सुश्रुत के अनुसार दक्षिणद्वार होना चाहिए। प्रसूतागार में दक्षिण और उत्तर में दो वातायनों की आवश्यकता है। काष्ठों से और मुंजिका से बना हुआ गृह भी अच्छा हैं। मिट्टी की अपेक्षा काष्ठों से बना गृह अत्युत्तम हैं

भारत में सूतिका पलंग घर के एक अन्धकार युक्त और मलिन भाग में रहता हैं। जहाँ बहुत से बच्चों की मृत्यु होती है, इसमें गृह का और परिचा-रिका का दोष है। वह कमरे को चारों ओर से कपड़ों से बन्द कर देते हैं जिससे स्वच्छ हवा सूतिका को और बच्चे को नहीं मिलती। नमी युक्त कमरे से भी बच्चों को प्रतिश्याय आदि उपद्रव होते हैं। जिससे उनकी मृत्यु होती है। इसलिए अपने घर का जो सुन्दर, स्वच्छ और प्रकाश युक्त और हवा वाला कमरा हो वह सूतिका के लिए उचित है। जाड़े से बचने के लिए कपड़े भी होने चाहिए। कहीं-कहीं प्रसूता के पहनने के, ओढ़ने के, आच्छादन करने के वस्त्र इतने जीर्ण होते हैं कि जिससे वह अपनी रक्षा करने में असमर्थ होती है तो शिशु का तो कहना क्या।

इस गृह में अनावश्यक कार्यों के लिए पर्याप्त जगह होना जरूरी है।

अन्यान्य उपकरणों के होते हुए भी उसमें आसानी से घूमने-फिरने की (सुख प्रविचारकाम्) जगह होनी चाहिए।

आधुनिकों का प्रसूतागार स्वच्छ, सुसच्छ, उपकरण युक्त, प्रकाश युक्त और हवादार होता है। आधुनिक प्रसृति शास्त्रज्ञ इस बात को जानते हैं और प्रसूतागार में निम्नलिखित पदार्थ शुरू से रखते हैं। सेफ्टी-पिन्स, कैंची, सुई-डोरा, स्वच्छ रुई, साफ कपड़ों के टुकड़े, चद्दरे, पहिनने का तौलिया, बच्चे का वस्त्र, नाखून काटने का औजार, हिजिन्स की पिचकारी, किन्हाई के लिए शुद्ध पात्र, उष्णोदन नाल बाँधने की मजबूत डोरी तिल, तेल इत्यादि।

प्रसूतागार में प्रकाश और वायु का प्रवन्ध प्रसूता स्त्री और नवजात शिशु के लिए होना अत्यावश्यक है किन्तु उनका अति योग वर्ज्य है। आयुर्वेद का यह स्थान प्रावातैक देश, निवास और आपत वर्जित और तम रहित है। प्रसूतागार में वायु का आगमन एक ही तरफ से होना चाहिए। वायु का उपसर्ग प्रसूता स्त्री तथा बालक जहाँ लेटते हैं वहाँ कदापि नहीं होना चाहिए, अर्थात् प्रसूता और बालक का स्थान निर्वात् रहे और अन्य स्थान में वायु प्रवतैक देश में बहती रहे। प्रसूतागार में तम नहीं होना चाहिए और ज्यादा प्रकाश भी नहीं होना चाहिए। अति प्रकाश से प्रसूता स्त्री को और बालक को प्रकाश सत्रश होता है।

प्रसूता दसवें दिन सर्व गंधौषध से स्नान करके पवित्र वस्त्र पहनकर, इष्ट देव की पूजा करके ब्राह्मणों के आशीर्वचन ग्रहण करके उनका नामकरण विधि करें। तत्पश्चात् कुमारागार में प्रवेश करें यह कुमारागार कैसा होना चाहिए यह निम्न बातों से स्पष्ट होगा।

वस्तु विद्या को जानने वाला कुमारागार को प्रशस्त, मनोहर, अन्धकार रहित, वात, वर्जित किंवा प्रवातैक देश वाला, मजबूत श्वादि पशु मशिक, सर्प विरहिक, सलिलागार, मूत्रागार, वर्चगृह स्नानगृह युक्त जो अच्छी भूमि में बना हो वैसा ऋतु अनुकूल, ऋतु योग्यासन और आस्तरण से युक्त होना चाहिए। जिसमें रक्षा विधान, वलि, मंगल, होम प्रायश्चित हुआ हो और शुचि, वृद्ध वैद्य और भावुकों से युक्त कुमारागार होना चाहिए।

सूतिकागार में जो चारपाई रहती है उस पर एक हाथ लम्बा मोमजामे का टुकड़ा रखना चाहिए और उस पर दोहरा कम्बल रखना जरूरी है। इससे प्रसव के समय होने वाले भिन्न-भिन्न स्रावों से बिछौना बिगड़ता नहीं है। उसके लिए एक मल पात्र पहले से ही रखना चाहिए।

प्रसव की तीन अवस्थाएँ—प्रसव की तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली, दूसरी और तीसरी। नौवें मास में जब प्रसव होने की तैयारी होती है तब वेदना शुरू होती है, वेदना के आरम्भ होने से लेकर नाल गिरने के समय तक के तीन विभाग वर्णन सौकर्यार्थ किया गया है। उनको अवस्थाएँ कहा जाता है। प्रसव वेदना के प्रारम्भ होने से लेकर गर्भाशय का मुख अच्छी तरह से विस्तृत हो जाय तब तक के समय को पहली अवस्था कहते हैं। गर्भाशय का मुख सम्यक् तथा विस्तृत होने से लेकर बच्चे को प्रसव हो जाय तब तक के समय को दूसरी अवस्था कहते हैं। बालक का प्रसव होने के बाद अपरा गिरने के अन्त तक की अवस्था को तीसरी अवस्था कहते हैं।

प्रथमावस्था—इसमें वेदना का आरम्भ होता है और गर्भाशय का मुख क्रमशः विस्तृत होने लगता है। इसमें सोने की जरूरत नहीं किन्तु इतस्ततः घूमना चाहिए, इससे प्रसव शीघ्र होता है। बहुत-सी दवाइयाँ इस अवस्था में स्त्री को बिछौने पर सुलाने की कोशिश करती हैं और बड़े जोर से काँखने की आज्ञा देती हैं। बिना उपयुक्त समय काँखने से कभी बहुत सी आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। दूसरी अवस्था में काँखना हितावह है। जब तक पूरा मुख विस्तृत न हुआ हो तब तक काँखना चाहिए। पूरा मुख खुलने के बाद गर्भोदक कोष फूटता है। कभी बच्चा गर्भोदक कोष के साथ ही बाहर आ जाता है, तब दाई को तुरन्त ही गर्भोदक कोप को कतरी या चाकू से काट कर बच्चे को निकालना चाहिए। काटने के समय बच्चे के शरीर को कोई शस्त्रास्त्र छूना नहीं चाहिए। इसलिए बड़ी होशियारी से इस कोष को काटना चाहिए। देरी होने से बालक की श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है। इसलिए विलंब करना भयावह है। कभी-कभी गर्भाशय का मुख सम्पूर्ण विस्तृत न होने पर गर्भोदक कोष फूट हो जाता है। इस कारण प्रसव में देरी होती है। प्रथमावस्था में उष्ण आहार तथा उष्ण वेध देने से मुख शीघ्र विस्तृत होती है। वेदना होते समय गर्भोदक कोष तना हुआ रहता है और वह कुछ आगे आ जाता है। टटोलने से और योनि परीक्षा से वह गोल मालूम पड़ता है। वेग ज्यों-ज्यों अधिक जोर से होने लगते है त्यों-त्यों ग्रीवा का मुख विस्तृत होने लगता है।

प्राजनिष्यमाणा को मंगल और स्वस्तिवाचक करके कुमारों से घिरी हुई, अपने हाथ से पुन्नाम फल को ग्रहण करके, तेल से अभ्यंग करके, उष्णोदक से स्नान करके प्रसूत होने वाली स्त्री को युवागू कण्ठपर्यन्त पिलानी चाहिए। तत्पश्चात मृदु विस्तीर्ण उपधानयुक्त बिछौने में अभुवन सक्थि कराके उत्तान

सुलाना चाहिए और उनके पास अकथनीय वृद्ध प्रसव कुशल कर्तित नखों से युक्त चार स्त्रियाँ परिचर्या के लिए रखनी चाहिए।

जिसने बहु स्त्रियों को प्रसव करवाया हो, मैत्री कुशल, निरन्तर अनुराग वाली, प्रेम रखने वाली, प्रसूता के लिए अनुकूल आचरण करने वाली, धर्म दक्ष, युक्ति कुशल, इशारे से समझने वाली, स्वभाव से प्रिय, विषाद रहित, प्राजानिष्यमाणा के क्लेश सहन करने वाली बहुत स्त्रियाँ परिचर्या के लिए (सूतिका के) पास में रखना इष्ट है।

प्रसव वेदना के प्रारम्भ से ही प्रथमावस्था शुरू होती है। प्रारम्भ में ही गर्भिणी को सोम्य विरेचन देना चाहिए। एरण्ड तेल देना उत्तम है। स्वादिष्ट विवेचन; यष्टिमधुकादि या अन्य कोई विरेचन का सौम्य योग देना चाहिए। विरेचन से कोष्ठ शुद्धि हो जाती है जिससे प्रसव निर्विघ्न होता है। विरेचन से आँतों में जमा हुआ मल निकल जाता है। किन्तु मलाशय का मल वहीं रहता है इसलिए उस अवस्था के मध्य में बस्ति देनी चाहिए। जिससे मलाशय मल शून्य हो जाये। इससे गर्भ को रुकावट नहीं होती। यदि मूत्रावरोध हो तो उत्तरवस्ति से मूत्राशय को रहित करना चाहिए। इन दोनों क्रियाओं से प्रसव समय में अपत्य मार्ग और वस्त्र बिगड़ता नहीं है। रिक्त मलाशय और मूत्राशय रिक्त होने से प्रसव मार्ग बाधा रहित हो जाता है।

गर्म जल के स्नान से गर्भाशय ग्रीवा मुख शीघ्र विस्तृत होता है। स्नान के समय उष्णोदक से जनन अवयवों को अन्तर्वाह्य स्वच्छ करना चाहिए इस तरह से स्नान उत्तम है।

प्रसव को बहुत श्रम पड़ता है इसलिए प्रथमावस्था में उसे हलका, सुपाच्य, रुच्य और मनोज्ञ आहार देना चाहिए और इसलिए युवागु देना उत्तम है क्योंकि युवागू लघु वल्य तृषा और क्षुधा शामक है।

यदि प्रसव वेदना तीव्र हो और माता को श्रम मालूम होता हो, तब मृदु-शैय्या पर सुला देनी चाहिए। वेदना मन्द हो तो टहलना चाहिए।

प्रसव वेदना तीव्र होने से ग्रीवा मुख शीघ्र चौड़ा होता है और मन्द होने से क्रमशः विस्तृत होता है। इस अवस्था ने चंक्रमण और भ्रमण से गर्भोदक तथा गर्भ का दबाव ग्रीवा पर होता है जिससे गर्भाशय मुख विस्तृत होने में सहायता मिलती है भ्रमण से फुफ्फुस का दबाव वक्षोदर मध्यस्थ पेशी पर और उनका दबाव गर्भाशय पर पड़ता है जिससे ग्रीवा मुख शीघ्र

विस्तृत होता है। इसलिए भ्रंमण और चंक्रमण आयुर्वेद का प्रसव वेदना बढ़ाने के लिए श्रेष्ठ और अनपायी उपाय है।

यदि वह प्रसव वेदना से क्लेषित हो जाये तब उसको कहना चाहिए कि उठो और इस धान्य से भरे उदूखन को मूसल से बार-बार कूटो और श्रमण करो इस्ततः घूमो, ऐसा एक आचार्य का मत है। किन्तु आत्रेय भगवान् का कहना है कि दारुण व्यायाम गर्भिणी को कभी भी नहीं कराना चाहिए विशेषतः प्रजनन काल में, क्योंकि मूसल व्यायाम से कुपित हुआ वायु प्राण को नाश करना है और गर्भिणी भी दुश्चिकित्स्य होती है। इसलिए मूसल ग्रहण अनुचित है। भ्रंमण और चंक्रामण अनुष्ठेय हैं। गर्भाशय ग्रीवा विस्तृत करने के लिए कुष्ठ, वला, लाँगली-त्वचा, चित्रक चिरबिल्व और चव्य के चूर्ण को सुंघाने के लिए बार-बार दें और भूर्जपत्र अथवा शिशपा सार से योनिमुख को धूप दें, और कटि पृष्ठ पार्श्व सक्थि प्रदेश को कोष्ण तेल से अभ्यंग करें इस कर्म से गर्भ अवाक् आता है। अर्थात् गर्भाशय ग्रीवा चौड़ी होती है।

प्रथमावस्था की अवधि अधिक रहने से और प्रसव शीघ्र न होने से कभी-कभी स्त्रियाँ चिंतित और शंकित हो जाया करती हैं। इसलिए पास में रहने वाली स्त्रियाँ या दाई प्राजनिष्यमाणा को आश्वासन और धैर्य और मन बहलाने वाले पदार्थों से उनको तुष्ट कर और पीठ और कटि आदि प्रदेश में उष्ण तेल से मालिश करें। जिससे उसका कष्ट दूर हो जाता है और गर्भाशय ग्रीवा को मुख विस्तृत होता है। ग्रीवा मुख विस्तृत होने के बाद गर्भोदक कोष यदि थैली के आकार में योनि में रहे तो समझना चाहिए कि मस्तक दर्शन के अतिरिक्त और कोई शरीर का दर्शन हो रहा।

प्रसव की द्वितीयावस्था—पहली अवस्था समाप्त होने के बाद कुछ समय तक वेदना शांत हो जाती है और फिर शुरू होती है। दूसरी अवस्था में स्त्री को चारपाई पर लिटा देना चाहिए। दूसरी अवस्था में वेग में कर्तनवत् पीड़ा होती है। इसलिए नाभि के निम्न प्रदेश को हस्त से सहलाना चाहिए। सक्थि प्रदेश और पिंडलियों में भी पीड़ा होने लगती है। गर्भाशय की ग्रीवा जब पूर्णतया विस्तृत होती है तब गर्भादय कोश फूटता है तब दूसरी अवस्था शुरू होती है इसमें ही गर्भ बाहर निकलता है। फिर वेग प्रारम्भ होने लगते हैं। वेग आने के समय स्त्री प्रवाहण करती है, इसमें गर्भाशय का आकुंचन होता है। आकुंचन से गर्भ को बाहर निकालने में सहायता मिलती है। कभी-कभी स्त्रियाँ

किसी चीज का सहारा लेकर जोर से काँखती हैं। ज्यों-ज्यों बच्चे का सिर सरकता है त्यों-त्यों वेदना अधिक होने लगती है। वेग के समय काँखने से उनको बहुत परिश्रम मालूम होता है जिससे प्रस्वेद और श्रम के चिन्ह दिखाई देते हैं। वेग से प्रसव के द्वार पर धक्का लगता है जिससे उस प्रदेश के फट जाने की आशंका रहती है इसलिए दाई को वहाँ अपना हाथ रखे रहना चाहिए जिस्से उस प्रदेश का कम विदारण हो। क्योंकि उस प्रदेश में केवल माँस और त्वचा ही रहती है अस्थि नहीं होती। कभी-कभी गुदाद्वार तक की त्वचा का विदारण हो जाता है इसलिए वहाँ हाथ रखना हितावह है। जब तक सिर बाहर न निकलने लगे तब तक हाथ रखना चाहिए। सिर बाहर आने के बाद शेष भाग बाहर न निकले तो भयभीत होने की जरूरत नहीं है क्योंकि उसमें थोड़ी देरी कभी होती है। कभी अज्ञानवश बच्चे को खींचा जाय तो उसका प्राणांत तो जाता है। यदि बहुत देरी लगे तब अन्य उपाय अवश्य करना चाहिए। इसलिए उदर प्रदेश को हाथ से दबाना चाहिए जिससे वेदना शुरू होने लगे। यदि वेदना शुरू हो जाये तो फिर प्रसव आसानी से हो जाता है। बच्चे को खींचना भयावह है फिर भी ऐसा करना ही पड़े तो बड़ी सावधानी से उदर प्रदेश को दबाकर खींचना चाहिए। सिर के पश्चात ग्रीवा-वक्ष उदरादि अवयव दिखाई देने लगते हैं। तब दाई अपने दाँये हाथ में निकले हुए बच्चे को रखे और बाँया हाथ उदर प्रदेश को दबाने के लिए रखे। जब तक अपरा गिरे नहीं तब तक बायें हाथ को उदर प्रदेश पर रखे। जब बच्चा बाहर निकले तब उसको दोनों हाथों से लेकर वहाँ प्रसूता को वाम या दक्षिण प्रदेश में रख लें।

द्वितीयावस्था का प्रधान लक्षण प्रसव वेदना है, यह वेदना निरन्तर और रूजा उत्पन्न करने वाली है। वेदना से गर्भ गर्भाशय से योनि में और योनि से बाहर निकलता है। वेदना शुरू होते ही उसको पलंग पर सुला दें। प्रसव के लिए स्त्री का आसन आभुग्न सक्थि अर्थात् उत्तान ही होना चाहिए। पार्श्वासन भी सुविधाजक है। कई आचार्यों के मत में पार्श्वासन ही श्रेयस्कर है। आवी (प्रसव वेदना) होने के बाद प्रवाहरण करना चाहिए। प्रवाहरण से गर्भ योनि द्वार में आता है। योनि द्वार के बाद में किंचित कठिनता रहती है, इसलिए उसको मृदु, शिथिल और प्रसरणशील बनाने की कोशिश करनी चाहिए वेदना के साथ प्रवाहरण भी जोर से करना चाहिए। इससे शीघ्र गर्भ बाहर निकलता है पश्चात् शेष गर्भोदक और रक्त निकलता है। गर्भ के जन्म होने के बाद द्वितीयावस्था समाप्त होती है। प्रथम प्रसवा स्त्री का यह काल

१-२ घण्टे का और अनेक प्रसवा स्त्री का आधे से एक घण्टे तक का है। जन्म होने के बाद गर्भाशय नाभि के नीचे आ जाता है।

प्रथमावस्था के बाद उन स्त्रियों में से एक स्त्री गर्भिणी को अपत्य द्वार पर अनुलोम (ऊपर से नीचे की ओर) और अनुमुख से तेल का मर्दन करें और कहें कि—'हे सुभगे प्रवाहण करो, आवी न होने पर प्रवाहण मत करो' प्रथम गर्भ मार्ग का बन्धन खुलने पर श्रोणिवक्षण और वस्ति शीर्ष में. शूल होने पर रूप शल्य से रहिए हुए; तब तक अत्यधिक जोर से प्रवाहण करो। असमय प्रवाह करने से गर्भिणी उर्ध्वजत्रुगत रोगी, कासश्वास शोथ, कुब्ज, वधिरमूक-विघटित मुख सन्धि और विकृताकार वाले बच्चों को जन्म देती है।

जन्म होते ही शीघ्र यदि गर्भ आवरण के साथ योनि से बाहर निकले तो शीघ्रातिशीघ्र जरायु को विदीर्ण करके मुख को जरायु विरहित करना चाहिए। कभी-कभी जरायु का टुकड़ा बच्चे के सिर के साथ निकलता है और चारों ओर मुँह लिपटा हुआ होता है जिससे श्वास की गति में विघ्न उत्पन्न होता है। इस लिए उनको शीघ्र साफ करके मुख का वह भाग और नासिका को शुद्ध (मल-रहित) करना चाहिए। यदि किसी कार्यवश. जरायु दूर करने में विलम्ब हो जाने से श्वासारोध होता है तब बालक की मृत्यु होती है तत्पश्चात् मुख का अन्तर्भाव विशेषतया गला जो कफ से पूर्ण होता है उसको भी शुद्ध करना चाहिए। यदि श्लेष्मा गले की गहराई में हो तो अंगुलि से निकलता नहीं तब सैंधव और घी का लेह देना चाहिए। इसके अलावा नेत्र की सफाई भी आवश्यक है। अपत्य मार्ग से निकलते समय नेत्र पर योनिस्त्राव या मल मूत्र का स्पर्श हो जाता है। इन चीजों की सफाई में यदि ध्यान न दिया तो नेत्र का विकार हो जाता है। नेत्र और मुख की सफाई से वायु-स्पर्श हस्त-स्पर्श, और वस्त्र-स्पर्श होता है। उन वस्तुओं के सहन न होने से बच्चा जोर से चिल्लाता है। इससे उसकी स्वास्थावस्था को और जन्म का ज्ञान होता है प्रसव के दुःख से और दुर्बलता से बच्चा कभी रोने में असमर्थ होता है तब उष्ण या शीत जल का अवसेंचन, कान पर दो पत्थर बजाना आदि उपाय करने चाहिए, जिसमें बच्चा रोने लगता है। इन उपायों से भी यदि बच्चा न रोने लगे तब समझना चाहिए कि नवजात शिशु श्वासावरोध से पीड़ित है। इसलिए शीघ्रा-तिशीघ्र कृत्रिम श्वास देना हितावह है। आधुनिक चिकित्सक प्राण प्रत्यागमन में पिच्युट्री का इन्जेक्शन देते हैं और छाती पर ब्रांडी की मालिश करवाते हैं।

प्रसव की तृतीयावस्था—गर्भ जन्म के पश्चात् गर्भाशय से न गिरी हुई अपरा आनाह और आध्यमान करती है। अतः अपरापातनार्थ केशों से अंगुलि को लपेट कर तालु और कण्ठ प्रदेश को स्पर्श करें, अथवा कुटुम्बी आरग्वध-सर्षप और सर्प कन्चुकी को सर्षप के तेल से मिश्रित करके योनि मुख को धूपन दें। पैर और हाथ के तलवों में लांगली मूल कल्क का लेप करें। उसके मस्तक पर थूहर का दूध अवसेचन करें। कुष्ठ और लागली मूल का कल्क मद्य अथवा पिप्पल्यादिगण का चूर्ण शहद और घी के साथ चटायें। सरसों (श्वेत) कुष्ठ लांगली स्नुहीक्षीर से मिश्रित सुरामण्ड का आस्थापन दें। इन द्रव्यों से मिश्र तेल की क्षारवस्ति दें अथवा नाखून काटकर हाथ को घी तेल से स्निग्ध करके खींच लें।

वालक पैदा होने से लेकर अपरा पड़ने तक के समय को तृतीयावस्था कहते हैं। वच्चे का जन्म होने के वाद अपरा को वाहर आने के लिये गर्भाशय में आंकुचन होता है। इससे अपरा गर्भाशय की अन्तस्त्वचा से धीरे-धीरे मुक्त होती है। यदि किसी कारणवश गिरने में देर लगे तब औपधि देना जरूरी हैं। इसलिए कपास मूल त्वक का चूर्ण ६ रत्ती से लेकर ६ माशा तक देना चाहिए। वेदना तुरन्त ही शुरू होती है। पाश्चात्य चिकित्सक उसके स्थान में अगट के योग देते हैं। प्रथम और द्वितीयावस्था से यदि वेदना कम हो तो उसके लिए उलटकम्बल का चूर्ण देना चाहिए। इससे वेदना शुरू होती है।

प्रश्न—सूतिका ज्वर का वर्णन कीजिए।

उत्तर—पर्याय—सूतिका रोग, सूतिका संक्रमण, (Puerperal fever of puerperal sepsis), सूतिकोपसर्ग।

सूतिका ज्वर किसे कहते हैं—अपत्य मार्ग के व्रणों द्वारा विकारी जीवाणुओं के संक्रमण से उत्पन्न होने वाले लक्षणों को सूतिकोपसर्ग कहते हैं।

अपत्य मार्ग में यह संक्रमण प्रसव के पूर्व, मध्य अथवा पश्चात् काल में पहुँच सकता है। इसी प्रकार चाहे गर्भस्राव या गर्भपात अथवा पूर्णकाल प्रसव सभी प्रकार के प्रसवों में विकारी जीवाणुओं का संक्रमण पहुँच सकता है। विकारी जीवाणुओं के प्रवेश के परिणामस्वरूप सूतिका में ज्वर हो जाता है। यह सर्व सामान्य लक्षण है। ज्वर १०१° F° के ऊपर पाया जाता है।

सूतिका ज्वर के कारण—प्रसाधन कारण—स्वस्थ गर्भाशय तथा योनि अम्लग्राही होने के कारण अपने भीतर जीवाणुओं को पनपने नहीं देती लेकिन

प्रसूतावस्था में निकलने वाले गर्भोदक की क्षारीय प्रतिक्रिया जीवाणुओं को सरलता से पनपने देती है और रोग हो जाता है।

जीवाणुपसर्ग के मार्ग—उपसर्ग पहुँचने के तीन मार्ग हैं।

(१) अपत्य मार्ग में हाथ, श्वास, यंत्र, परिचारक के सम्पर्क, रुग्णा के निजी हाथ आदि से।

(२) जीवाणु पहले से ही गर्भिणी में मौजूद हों और हाथ या यन्त्रों के जरिये योनि में पहुँच जायँ।

(३) गर्भिणी के गात्र में किसी दूरस्थ अंग पर उपसृष्ट केन्द्र (Septic focus) हो और वहाँ से रक्त संवहन के द्वारा जीवाणु अपरा क्षेत्र में पहुँचकर गर्भाशय को संक्रमित करके सूतिकोपसर्ग का रूप दे दें।

सहायक कारण—(१) मूलाधार पीठ या योनि का विदार।
(२) गर्भाशय के अन्तः भाग अथवा ग्रीवा का क्षत।
(३) कस्ट प्रसव (यन्त्रों के द्वारा)।
(४) प्रसवोत्तर रक्तस्राव की अधिकता।
(५) अपरा एवं जरायु का गर्भाशय में रह जाना।
(६) मलवारोध।
(७) प्रथमा प्रसवा।

जीवाणु—प्रधान हेतु भूत जीवाणु (Streptoccocus Haemolyticus) है। ७५% रोगी इसी के कारण होते हैं। इन जीवाणुओं को परीक्षाओं के आधार पर A से K तक नौ उपविभागों में बाँटा गया है। इसमें A वर्ग वाला जीवाणु सबसे अधिक रोग उत्पन्न करता है।

बिन्दुक्षेत्र से जीवाणुपसर्ग—बाह्य जीवाणुओं का उपसर्ग कई बार छींकने खाँसने, हँसने, थूकने आदि से भी हो जाता है। इसलिए चिकित्सक तथा परिचारिका दोनों के लिए आच्छादक (Mask) लगने का विधान वतलाया गया है।

वैकृतिकी (Pathology)—जब जीवाणु अपपत्य मार्ग में पहुँच जाते हैं तो वहाँ पर पूयत्पादन का कोष उत्पन्न करना प्रारम्भ कर देते हैं। जिसके कारण संक्षेप में निम्न वैकारिक परिवर्तनों की सम्भावना रहती है।

(१) श्रोणिगत अन्तस्त्वकशोथ (Pelvic Cellulitis)
(२) श्रोण्युदरावण शोथ (Pelvic Peritonitis)
(३) सिरो-शोथ (Phlebitis)

(४) दोषमयता या जीवाणुमयता (Seytcaemia)

(५) पूयमयता (Pyaemia)

(६) गर्भाशयान्तरावरण शोथ (Endometritis)

(७) गर्भाशय पेशी शोथ (Metritis)

चिकित्सा—

प्रतिबन्धक—(१) चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि वह हरेक प्रकार से गर्भावस्था तथा प्रसव काल में रोगी के बाह्य साधनों से आने वाले जीवाणुओं के उपसर्ग को रोके।

(२) यदि गर्भकाल में दोष केन्द्र (Septic focus) ज्ञात हो जाय तो उनकी प्रसव होने से पूर्व ही चिकित्सा करें।

(३) यदि रोगी में रक्ताल्पता हो तो उसकी चिकित्सा करें।

(४) गर्भावस्था के अन्तिम दो मासों में स्त्री प्रसंग का निषेध होना चाहिए।

(५) गर्भकाल तथा प्रसव काल में जहाँ तक सम्भव हो योनि परीक्षा नहीं करें।

(६) यन्त्रों को उपयोग में लाने से पूर्व विशोधित करें।

(७) आच्छादक (Mask) का प्रयोग करें।

(८) सूतिका रोग से पीड़ित रुग्णा को अन्य स्वस्थ प्रसूताओं से पृथक रखें।

रोग की चिकित्सा—यह दो प्रकार से की जाती है—

(१) स्थानिक चिकित्सा।

(२) सार्वदैहिक तथा औषधि चिकित्सा।

स्थानिक चिकित्सा—यदि मूलाधार विदार उपसृष्ट हो तो सींवन को काटकर उसका शोधन और रोपण करे। इस कार्य में विशेषतः व्रण को सुखाने के लिए सल्फाथायोजोल १ ड्राम+पेन्सीलीन चूर्ण १००० इकाई का मिश्रण प्रयुक्त होता है।

योनि के स्थानिक शोधन के लिए एक्रीफ्लैविन ३% को ग्लिसरीन में मिलाकर प्रयोग करना चाहिए।

सार्वदैहिक औषधि चिकित्सा—(१) निद्रानाश बहुत पाया जाता है अतः ऐसे रोगियों में निद्राकार औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

(२) रोगी सुश्रूषा पूर्ण विश्राम व मानसिक प्रसन्नता के विचार से कर
हुए करनी चाहिये।

(३) पोषण के लिए रोगी की अनिच्छा होते हुए भी कुछ न कुछ पोष
देते रहना चाहिए। इसके लिए ग्लूकोज का शर्बत, दूध आदि बीच-बीच में दे
रहना चाहिये। ताकि रोगी का बल बना रहे।

(४) इसके अतिरिक्त रोगी ताजी हवा व सूर्य के प्रकाश का भी सेवन करें

(५) यदि तापक्रम १०३° F° के ऊपर जाय तो शीतोपचार करें।

(६) यदि विबंध रहे तो मृदु रेचनों से कोष्ठ को शुद्ध कर लिया करें।
तीव्र रेचनों का प्रयोग न करें।

शल्यकर्मीय चिकित्सा—यदि उपसर्ग अति तीव्र हो, गर्भाशय में सौत्रिक
बुंदों की उपस्थिति हो अथवा गर्भाशय के बाहरी भाग में विकार केन्द्र (Septic
focus) हो जैसे बीज कोष की विद्रधि श्रोणिगत संतरव पाक हो
अथवा पेन्सीलिन का प्रयोग असफल रहे तो गर्भाशय छेदन किया जा
सकता है।

प्रश्न—मक्कल शूल का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उत्तर—सूतिका (प्रसूता) स्त्री को होने वाले कष्टसाध्य ६४ रोगों में
'मक्कल शूल' भी एक प्रमुख रोग है। बालक के जन्म होने के पश्चात् अपरा
बाहर निकलती है परन्तु कभी-कभी उस अपरा तथा जरायु के कुछ टुकड़े गर्भा-
शय में रह जाते हैं। वह गर्भाशय की संहरण क्रिया (Retraction) से रक्त के
साथ बाहर निकल जाते हैं। इस संहरणी क्रिया से गर्भाशय के तन्तुओं में सकोच
स्थायी रूप से हो जाता है जिसके फलस्वरूप गर्भाशय आकार में छोटा हो जाता
है और आकार छोटा हो जाने के कारण उसके भीतर का पृष्ठ भाग भी क्षेत्रफल
में छोटा हो जाता है। जिसमें प्रथम तो अपरा का मध्य भाग गर्भाशय से पृथक
होने लगता है। पृथक होने पर गर्भाशय और अपरा के बीच में कुछ रक्त इकट्ठा
होने लगता है और फिर धीरे-धीरे सम्पूर्ण अपरा गर्भाशय से पृथक होकर योनि
में आ जाती है तथा फिर योनि से बाहर आ जाती है। इस अपरा के साथ ही
इकट्ठा हुआ सौ-दो सौ ग्राम रक्त भी बाहर निकल जाता है। इस अपरा के साथ
ही गर्भाशय से बाहर आ जाने पर गर्भाशय को अपनी पूर्वावस्था में जाने में कुछ
समय की आवश्यकता होती है। इस समय योनि गर्भाशय से प्रस्त्र शोणित
(Lochia) का स्राव होता रहता है। इसी स्राव के साथ गर्भाशय में शेष रहे

हुए अपरा और जरायु के छोटे-छोटे टुकड़े गर्भाशय से बाहर निकलते रहते हैं। इसलिए प्रसव के उपरान्त इस रक्तस्राव का जारी रहना आवश्यक है। इसी कारण प्रसूत स्त्री को तीन दिन तक पिप्पल्यादि चूर्ण, गर्म गुड़ोदक के साथ पिलाया जाता है। रूक्ष शरीर वाली जिन प्रसूता स्त्रियों को यह चूर्ण नहीं दिया जाता उनका वह अशुद्ध रक्तस्राव गर्भाशयगत अपानवायु से रुक जाता है और वह रुका हुआ रक्त इकट्ठा होकर नाभि के नीचे दोनों पार्श्वों में वस्ति प्रदेश अथवा बस्ति सिर में ग्रन्थि (गाँठ) उत्पन्न कर देता है उससे नाभि, वस्ति तथा उदर में शूल होता है तथा पक्वाशय में सुई चुभने के समान अथवा विदीर्ण होने के समान पीडा होती है और उदर में चारों ओर आध्यमान हो जाता है तथा मूत्र रुक जाता है। प्रसव के उपरान्त इस गर्भदोषनिः सारक वेदना को मक्कल शूल (After Pains) कहते हैं।

शार्ङ्गधर संहिता की दीपिका टीका के रचियता श्री आढ्यमल्ल ने सूतिकावस्था के इस मक्कल शूल के अतिरिक्त एक दूसरे गर्भावस्था में होने वाले मक्कल शूल का भी निर्देश किया है जो कि मानस और आगन्तुक दुःखों से पीड़ित गर्भ द्वारा कुक्षि में उत्पन्न होता है।

यह उपर्युक्त मक्कल में गर्भावस्था जन्य होने के कारण इस प्रसूतिज मक्कल शूल से भिन्न होने के कारण यहाँ विचारणीय नहीं है।

मक्कल शूल के कारण--मक्कल शूल के कई कारण हो सकते हैं।

१. गर्भाशय का प्रक्षोभ—कभी-कभी प्रसव में बहुत बिलम्ब होने से अथवा कष्ट प्रसव या अन्य किसी कारण से गर्भाशय जब कुछ क्षुब्ध (इरिटेडेट) हो जाता है और वह प्रसव के पश्चात् भी जोर से संकुचित होता रहता है तब गर्भाशय के इस संकोच के समय मक्कल शूल होता है।

२. गर्भाशय में अपरा तथा जरायु के टुकड़ों का शेष रह जाना—कभी-कभी प्रसूत स्त्री के गर्भाशय में अपरा तथा जरायु के कुछ टुकड़े शेष रह जाते हैं तब उनको बाहर निकालने की कोशिश में गर्भाशय में संकोच होते हैं और उनमें मक्कल शूल होता है।

३. गर्भाशय की दुर्बलता—कभी-कभी गर्भाशय की दुर्बलता के कारण उसकी संहरण क्रिया ठीक नहीं होती है और रक्तस्राव कुछ अधिक होता है। तथा यह रक्त गर्भाशय के भीतर जमने लगता है और उसकी गाँठें बन जाती हैं। तब इन गाँठों को निकालने के लिए उत्पन्न हुए गर्भाशय के संकोच से मक्कल शूल होता है।

ज्ञातव्य—इन कारणों के अतिरिक्त कभी-कभी कोई ठीक कारण न ज्ञात होते हुए भी प्रसव होने के पश्चात् गर्भाशय में जो संकोच होते हैं उनमें भी यह मक्कल शूल होता है।

रोग निश्चित—प्रसूता स्त्री को प्रसव के पश्चात् आन्त्रगत वायु (अर्थात् आध्मान) और मूत्रावरोध के कारण भी शूल हो जाता है क्योंकि उदरगुहा से गर्भ निकल जाने पर उदर में शून्यता तथा रिक्तता आ जाती है और योनिद्वार के समीप के भाग पर प्रसव के समय पर्याप्त दबाव तथा आघात होने के कारण मूत्र द्वार और मलद्वार सुषिरस्नायु संकुचित रहते हैं जिससे मल और मूत्र का परित्याग नहीं होता। इस मलावरोध और मूत्रावरोध से जो शूल होता है उसको मिथ्या प्रसवोत्तर वेदना कहते हैं।

मक्कल शूल अर्थात् वास्तविक प्रसवोत्तर वेदना तथा मिथ्या प्रसवोत्तर वेदना में निम्नलिखित भेद होते हैं।

मक्कल शूल या वास्तविक प्रसवोत्तर वेदना—

१—यह गर्भाशय संकोच के कारण होती है।

२—यह वेदना नियत समय पर होती है।

३—इस प्रकार की वेदना के समय गर्भाशय के ऊपर हाथ रखने से वह कड़ा मालूम होता है।

४—यह वेदना बच्चे को दूध पिलाने के समय अधिक हो जाती है। अथवा उस समय न होती हो तो वह प्रारम्भ में हो जाती है।

५—मल मूत्र त्याग करने पर भी यह वेदना कम नहीं होती है।

मिथ्या प्रसवोत्तर वेदना—

१—यह आन्त्रागत वायु अथवा मूत्रावरोध के कारण होती है।

२—यह वेदना अनियमित समय पर होती है।

३—इस वेदना के समय गर्भाशय कड़ा मालूम होता है।

४—इस वेदना पर बच्चे को दूध पिलाने का कोई परिणाम नहीं होता।

५—मलमूत्र त्याग करने अथवा अन्य उपायों से मलमूत्र निकाल देने से यह वेदना कम हो जाती है।

उपर्युक्त लक्षणों से मक्कल शूल (वास्तविक प्रसवोत्तर वेदना) का निश्चय हो जाने पर उसकी चिकित्सा अग्रलिखित विधि से करनी चाहिए—

अनुभूत शास्त्रीय प्रयोग—

आभ्यान्तरिक चिकित्सा—यवक्षार चूर्ण ३ रत्ती की मात्रा में लेकर गर्म जल अथवा घृत के साथ प्रसूता स्त्री को दिन में दो बार दें।

(पिप्पल्यादि क्वाथ के साथ में यवक्षार का चूर्ण दिया जाता है।)

बाह्य चिकित्सा—प्रसूता स्त्री के उदर पर नाभि के आस-पास गर्म जल (रबड़ की थैली अथवा बोतल से) भरकर उससे सेंकना चाहिए।

आहार—भोजन के यवक्षार से पकाई गई युवागू प्रसूता स्त्री को पिलाएँ। इस प्रकार की आभ्यान्तरिक तथा बाह्य चिकित्सा से मक्कल शूल शान्त हो जाता है। मलाशय और योनि में वस्ति देना लाभदायक है। यदि कोष्ठ शुद्धि न हो तो विरेचन द्वारा कोष्ठ शुद्धि कर लेनी चाहिए।

अन्य प्रयोग—

१—पिप्पल्यादिगण की औषधियों से बनाए हुए क्वाथ में नमक डालकर प्रसूता स्त्री को प्रातः-सायं पिलाएँ।

२—वीरतर्वागिण की औषधियों से बनाए हुए क्वाथ में उष्णकादिगण की औषधियों का चूर्ण डालकर प्रातः-सायं प्रसूता को पिलाएँ।

३—वरुणादिगण की औषधियों से बनाए हुए क्वाथ में छोटी पीपल, पीपरा मूल, चव्य, चित्रक, सोंठ और छोटी इलायची का चूर्ण प्रातः सायं प्रसूता को पिलाएँ।

४—शालपर्णी और पृश्निपर्णी से बनाए क्वाथ में देव दारू और काली मिर्च का कल्क मिलाकर प्रातः-सायं पिलाएँ।

५—सोंठ, कालीमिर्च, छोटी पीपल, दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची तथा धनिया का चूर्ण बना, पुराना गुड़ मिलाकर प्रातः-सायं प्रसूता को खिलाएँ।

६—वज्रकांजिक का प्रयोग दिन-रात में दो बार करें।

७—यदि उपर्युक्त प्रयोगों से लाभ न हो तो फेनास्टिन, एस्प्रिन, कार्बोट्यूरेटेस अथवा मार्फिया आदि वेदना नाशक औषधियों का प्रयोग करें।

प्रश्न—रक्त गुल्म का वर्णन कीजिए।

उत्तर—महर्षि चरकाचार्य अपने उपदेश में प्रतिपादन करते हैं कि जब प्रसूता स्त्री अहित भोजन करती है, तो स्त्री गर्भपात या गर्भस्राव हो जाता है तथा ऋतुकाल में यदि स्त्री वात प्रकोपक आहारादि सेवन करती है तब इन अवस्थाओं में वायु आर्तव को ग्रहण कर दाह तथा पीड़ा उत्पन्न करता है और

पित्तगुल्मोक्त लक्षणों का प्रादुर्भाव होता है, यथा—ज्वर, तृषा, दाह, अवसाद, शूल, श्वेद और स्पर्शासहिष्णुता। गुल्म का स्फुरण अधिक समय पर होता है। यह गुल्म स्त्रियों को ही होता है।

रक्तगुल्म स्त्रियों को ही होता है, यह कथन यथार्थ होता है, इस कथन का मतलब यह है कि आर्तवरूपरक्तजन्य रक्तगुल्म स्त्रियों को ही होता है। यथा—

"धातुरूपरक्तजः स्त्रीणां पुंसां च भवनीनि महाशुश्चिन्द्रः'

"तथा—

अन्यरत्वसृग्भवोगुल्मः स्त्रीणां पुंसां च जायते" (क्षारपाणि)

इन सूत्रों से रक्तगुल्म स्त्रियों को ही होता है, यह स्पष्ट हो जाता है। अब कुछ स्थान के बारे में—"रक्तजस्ण तु गर्भाशयस्थानम्" सूत्र से "रक्तगुल्म का स्थान गर्भाशय है" यह कथन ज्ञातव्य है। अपितु माधव के रोगविनिश्चय में गर्भाशय शब्द का उल्लेख रक्तगुल्म के बारे में नहीं किया गया है। टीकाकार महाशय इसके अनुसंधान में लिखते हैं कि—

"अथवा पार्श्वस्थितित्वादगर्भाशयस्य पार्श्वग्रहणे नैय ग्रहणम्" महर्षि सुश्रुत "हृन्नाभ्योतरे" व लिखते हुए "हृदवस्तयोन्तरे" लिखा है। यहाँ भी विशेपावरोध नहीं है। वस्ति गुल्म का स्थान है। यह निर्विवाद है। नाभिस्थन मेंवस्ति के समीप होने से वस्ति शब्द से नाभि प्रदेश का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। "वस्ति में गुल्म नहीं विद्रधि होती है" ऐसा आग्रह रखने वालों को यह स्पष्टीकरण मार्गदर्शक होगा। "गल्मो नपच्यते निवापथत्वात् और सर्व गुल्मानां वातामूलत्पात" ये सूत्र भी लक्षणीय हैं। रक्तगुल्म और गर्भ के लक्षण मिलते हैं, इसलिए निम्न तालिका स्पष्टीकरणार्थ दी गई है।

रक्तगुल्म

१. क्रमशः वृद्धि नहीं होती है।
२. अस्वाभाविक शूल होता है।
३. गर्भवत् स्पन्दन नहीं करता है।
४. स्तन्योत्पत्ति नहीं होती है।
५. अंग प्रत्यंग मालुम नहीं होते।

गर्भ

१. क्रमशः वृद्धि होती है।
२. शूल का अभाव होता है।
३. स्पन्दन करता है।

४. स्तन्योत्दत्ति होती है।

५. अंग-प्रत्यंग का अनुभव गर्भिणी कर सकती है।

चिकित्सा—रक्त गुल्म के लिये दशम मास में चिकित्सा का अनुरोध किया गया है इसमें निम्न हेतु हैं।

(१) "रक्त गुल्म गुराणत्वं सुख साधस्य लक्षणम्" इसका अर्थ यह है कि रक्तगुल्म जितना जीर्ण होता है, उतना सुखसाध्य होता है।

(२) यश्चर्वाग्रस्त भेदन क्रियाते तथा गर्भाशय्या क्षिणोंति (जेज्जट) आदि पहले गुल्म भेदन किया जाय तो गर्भशय्या क्षीण होती है।

(३) गुल्म और गर्भ का निर्णय न हो सकता हो तो शंका का दशम् मास के बाद समाधान होता है।

अब आप सोचिये "मासे व्यतीते दशमें चिकित्सा" इस सूत्र में महर्षि की दीर्घ दृष्टि कितनी व्यापक है। ग्यारहवें मास में गुल्म परिपीड़ित हो जाता है इस लिये स्नेहादि क्रियाओं में रक्त भेदन किया जाए तो गर्भावस्था और विकृत नहीं होती, रक्त गुल्म की चिकित्सा क्रम निम्न है—

"रोधिरस्य च गुल्मस्य गर्भकाले व्यतिक्रमे।
स्निग्ध स्विन्नशरीरायै दद्यात्त स्निग्ध विरेचम्।"

रक्तगुल्म में गर्भकाल व्यतीत होने पर स्नेह-स्वेदन करवा के उस स्त्री को स्निग्ध विरेचन दें।

सोये के बीज, करजत्वक् देवदारू, भारंगी और पिप्पली, इन वनस्पतियों के कल्क को तिल के क्वाथ से पिलाने से रक्तगुल्म दूर होता है।

पुराना गुल, शुंठी, पिप्पली, कृष्ण मिर्च, हींग और भारंगी के चूर्ण को तिल क्वाथ में डालकर खिलाएँ। इसमें स्त्रियों के रक्तगुल्म और रजोदोष नष्ट हो जाते हैं।

यवक्षार, शुंठी, कालीमिर्च, पिप्पली के चूर्ण को मधु में मिलाकर पान कराने से रक्तगुल्मिनी का गुल्म दूर होता है

पलाशक्षार से सिक घृत पिलाएँ। इसमें पलाशक्षार लोध में साधित करना चाहिये।

सुरा आदि उष्ण वीर्य द्रव्यों से रक्तगुल्म का भेदन करके फिर रक्त पित्त या असृग्दरोक्त चिकित्सा पालन कराएँ। यदि उष्ण वीर्य द्रव्यों से गुल्मभेदन न हो तो योनि शोधन का उपचार करें।

पलाशक्षार, तिल चूर्ण मिलाकर जल से बत्ती बनाएँ। जल की जगह थोहर का क्षीर भी इस्तेमाल कर सकते हैं। इस वर्तिका को योनि में रखने से योनि विशुद्ध हो जाती है। इससे यदि और अधिक रक्त स्राव हो जाए तो रक्तपित्त शामकोपचार करें।

चक्रत्तोक्त भल्लातक घृत का सेवन कराएँ। इसकी मात्रा ¼ तोला है।

रक्तगुल्म की भेदनक्रिया का भी वर्णन मिलता है, जिज्ञासु वह पढ़ लें। आधुनिक शल्यशास्त्र (Surgery) इसके शल्यकर्म का वर्णन करता है, पर वह तो बड़े शहरों के काम का है, सात लाख गाँवों वाले गरीब भारतीयों को तो वही आयुर्वेदिक चिकित्सा का सहारा लेना पड़ता है।

लोध्र, अर्जुन, खदिर और मजिष्ठा का कशाय भी पानार्थ प्रयोजित करते हैं। सुश्रुत संहितान्तर्गत काकोल्यादि घृत उत्तम है। न्योग्रांधादि गण से मिद्ध धृतपान प्रशस्त है। शुष्कमास, मत्स्य, शांक, मूँग तथा आलुरक्त गुल्मनी के लिये पथ्य है।

प्रश्न—आर्त्तवादर्शन का विस्तृत विवरण दीजिए।

उत्तर—आयुर्वेद के आदिग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि स्त्रियों के मासिक रक्त का निर्माण रस होता है और प्रत्येक मांस के अन्त में धमनियों से यह निकलता है, इसका रंग काला होता है और वायु द्वारा योनि मुख से बाहर लाया जाता है।

स्त्रियों के विशेष शारीरिक अंगों की विशेष क्रियाओं का वर्णन करते समय यह बता देना आवश्यक है कि स्वस्थ कन्या में हमारे देश में १२ से १४ वर्ष की आयु में गर्भाशय से २२ दिन के पश्चात् से ६ दिनों तक रजःस्राव होता है तथा इसी को मासिक रजः चक्र (Menstrul cyclc) कहते हैं। यह प्राकृतिक शारीरिक क्रिया है!

यह मासिक रजःचक्र १२ वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर ४५ से ५० वर्ष की आयु तक लगातार चलता रहता है। इस वय को गर्भ धारण वय कहते हैं।

प्रायः प्राकृतिक रूप में इस मासिक रजःचक्र में कुछ परिवर्तन होते हैं। शीत जलवायु में, श्रमिक दरिद्र जाति में, यौवनागमन अधिक वय में होता है तथा माशिक क्रम भी २२ दिन से अधिक या कम हो जाया करता है। प्रायः मासिक रजःस्राव भी चार-पाँच दिन के स्थान से कम या कुछ अधिक दिन तक होता है। इस प्रकार का परिवर्तन विशेष चिन्ताजनक नहीं होता तथा

व्याधि नहीं माना जाता है। अधिक परिवर्तनों का लक्षणों के अनुसार वर्गीकारण एवं विभिन्न नामकरण करके कारण के अनुसार चिकित्सा करते हैं। प्राकृतिक रजःचक्र का परिवर्तित विकृत रूप प्रायः पाया जाता है।

(क) वैकृतिक आर्त्तवादर्शन

यह दो प्रकार का होता है—१. प्रारम्भिक (Primary Amenorrhcea) २. द्वैतीयक (Secondary Amenorrhoea)।

१. प्रारम्भिक (Primary Amenorrhoea)—यौवनागमन के आयु के प्रथम रज स्राव का दर्शन इसमें नहीं होता। इसे अनार्त्तव कहते हैं।

२. द्वैतीयक (Secondary Amenorrhoea)—इसमें प्राकृतिक मासिक रजःस्राव प्रारम्भ होता है। परन्तु कुछ समय के पश्चात् किसी कारण से आर्त्तव दर्शन बन्द हो जाता है। इसे द्वैतीयक आर्त्तवादन या नाष्टार्त्तव कहते हैं।

प्राकृतिक आर्त्तवादर्शन

उपर्युक्त वैकृतिक आर्त्तवादर्शन के सिवाय प्राकृतिक आर्त्तवादर्शन भी होता होता है इसे (Physiological Amenorrhoea) कहते हैं। उदाहरणार्थ—

गर्भाशय में स्तन्य काल में (Menopause) नष्टार्त्त इत्यादिव अवस्था में आर्त्तव का दर्शन नहीं होता है तथा इस अवस्था में चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती है।

अनार्त्तव के दो वर्ग दूसरी प्रकार से भी हैं।

१. गुप्त रजःस्राव (Pseudo Amenorrhoea)—इसमें गर्भाशय से रजःस्राव होता है परन्तु रक्त बाहर नहीं निकलता है। रजःस्राव प्रजनन अंगों में इकट्ठा होता रहता है।

इसका मुख्य कारण प्रजनन अंगों की वृद्धि होना है। गर्भाशय ग्रीवा (Cervix) के नीचे योनिक्ष (Hymon) के ऊपर वाले भाग में यदि कहीं भी योनि का पूर्ण नलिका भवन नहीं हुआ रहता है तब ऐसा होता है।

ग्रीवा (Cervix) का मुख बन्द रहना योनि का न होना अथवा योनि में छिद्र नहीं रहता है। इस प्रकार से इकट्ठा होते हुए रक्तस्राव से योनि के खुलने को (Haemetoelpos) कहते हैं। गर्भाशय तथा बीजवाहिनी के रक्तस्राव से भरने पर (Haemetro) और (Haemetosalpinx) कहते हैं। इसका ज्ञान प्रायः १५, १६ वर्ष की वय में होता है।

२. वास्तविक अनार्त्तव (True Amenorrhcea)—इस वर्ग में प्रथम

र्वणित प्राकृतिक एवं वैकृतिक अनार्त्तव आता है तथा वैकृतिक अनार्त्तव के भेद स्वरूप प्राथमिक तथा द्वैतीयक अनार्त्तव आते हैं।

प्राथमिक अनार्त्तव—इसमें गुप्त रजःस्राव जो कि योनि की हीन वृद्धि के कारण होता है। इसमें यौवनागमन अधिक वय में होता है। गर्भाशय या बीज ग्रन्थि की हीन वृद्धि या अनुपस्थित का कारण होता है। १६ तथा १७ वर्ष की आयु तक भी यौवनागमन नहीं होता है। यौवनागमन के अन्य लक्षण तो उपस्थित रहते हैं। परन्तु शरीर में वसा वृद्धि होती है।

अधिकतर प्राथमिक अनार्त्तव का कारण बीज ग्रन्थि की हीन वृद्धि माना जाता है। ऐसा नहीं होता है। इसके साथ अन्य अन्तःस्रावी ग्रन्थि की हीन वृद्धि भी होती है।

मधुमेह, क्षय, रक्तक्षय आदि रोगों में प्राथमिक अनार्त्तव पाया जाता है। इस अनार्त्तव का ठीक-ठीक ज्ञान ज्ञात होने पर हेतु विपरीत चिकित्सा करने पर लाभ होता है।

प्रथम सामान्य रोगों और अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की हीन वृद्धि का निश्चित ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बहुत कम रोगियों मे शैशवीय तथा यौवनावस्था की अनुपस्थिति होती है, तथा इनमें बीज ग्रन्थि और उपवृक्क ग्रन्थि की हीन वृद्धि पाई जाती है। जिसकी उपस्थिति से व्याधि असाध्य होती है।

यदि गर्भाशय या योनि अवृद्धि या अनुपस्थित है तो रोग असाध्य है।

यदि गर्भाशय पूर्णवृद्ध है और ग्रन्थियाँ प्राकृतिक दशा में हैं तो रोग सुसाध्य होता हैं।

रुग्णा की गुदा द्वारा परीक्षा कर गर्भाशय व बीज ग्रन्थि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बाह्य प्रजनन अंगों को तथा यौवनागमन के लक्षणों को देखना चाहिए। यह सब ठीक होने पर मासिक रजःस्राव निश्चित रूप से होता है। अन्य सामान्य रोगों के लिए परीक्षाएँ करना आवश्यक है।

चिकित्सा—प्रजनन अंगों की पूर्ण वृद्धि न होने वाली रोगिणी की चिकित्सा में शुद्ध वायु, खेल, व्यायाम आदि का मुख्य स्थान है। लोह Aresnio Vitamin आदि औषधियों का उपयोग करना चाहिए।

लोध्र, मेंथी, टंकण, कचनार, कपासमूल, हिंगु, मल्ल, कसिस ये रजाप्रवर्तक द्रव माने गये हैं।

ताप्यादि लोह और घी के साथ लोह, मल्ल या स्वर्ण मासिक भस्म का प्रयोग एक-एक रत्ती किया जा सकता है। कुमार्यासव, नष्ट पुष्पांतक रस,

रज-प्रवर्तिनी, रजःवर्त्तक चूर्ण, कसीसादि बटी, कन्या लोहादि बटी आदि का प्रयोग हेतु और लक्षणानुसार करने का आदेश दिया है।

Thyroid ग्रन्थि के स्राव की कमी होने पर मुख द्वारा Thyroid का प्रयोग करना चाहिए। बीज ग्रन्थि की अकर्मण्यता में आस्ट्रीन का प्रयोग सुई एवं मुख द्वारा करना चाहिए। पीयूष ग्रन्थि श्राव (Pituitary harmone) के उपयोग से बीज ग्रन्थि को उत्तेजना मिलती है।

द्वैतीयक अनार्त्तव (Secondary Amenorrhoea)—प्राकृतिक तौर पर गर्भावस्था, धात्रीवावस्था और रजोनिवृत्ति (Menopause) में यह अनार्त्तव पाया जाता है।

शल्य-कर्मों द्वारा गर्भाशय और बीज-ग्रन्थि को निकाल देने पर अथवा एक्स-किरण (X-Ray) रेडियम द्वारा कृत्रिम रजोनिवृत्ति उत्पन्न करने पर यह अनार्त्तव पाया जाता है।

कभी-कभी प्रजनन अंगों के विशेप उपसर्गों के कारण भी अनार्त्तव उत्पन्न हो जाता है।

गर्भ धारण वय में—दोनों बीज ग्रन्थि के घातक अर्बुद में प्रायः अनार्त्तव मिलता है। कालिक या तीव्र अन्य रोगों में जैसे मधुमेह, कैन्सर, वृक्क शोथ, प्रजननांगों का श्रय, मानसिक आदि रोगों में अनार्त्तव होता है।

अन्तःस्रावी ग्रन्थि के रोगों में जैसे एक्रोमेगेली, ग्रेम की व्याधि, एडिसन की व्याधि, उपवृक्क ग्रन्थि, अर्बुद पीयूप ग्रन्थि अर्बुद में भी अनार्त्तव एक लक्षण रूप में उपस्थित रहता है। पीयूष ग्रन्थि के स्राव की कमी होने पर बीज ग्रन्थि को उत्तेजना नहीं मिलती है। उसके फलस्वरूप अनार्त्तव हो जाता है।

जलवायु परिवर्तन, मानसिक-चिन्ताएँ, ही न पोषण आदि के प्रभाव से भी अनार्त्तव होता है।

प्रायः इस प्रकार से अनार्त्तव बीज ग्रन्थि के स्राव आस्टरीन की कमी से उत्पन्न माना जाता है परन्तु ऐसी रोगिणी में यह निश्चित कर लेना चाहिए कि अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के कार्य में तो कोई गड़बड़ी नहीं है।

कभी-कभी धात्र्यावस्था में अधिक लम्बे हो जाने से अनार्त्तव रहता है। और चिकित्सक लोग इसका कारण गर्भाशय का अत्यधिक संवरण (Super involution) मानते हैं। परन्तु वस्तुतः ऐसी रोगिणी के पुराने इतिहास में प्रायः यौवनागमन का देरी से होना तथा बीज ग्रन्थि स्राव की कमी एवं रज स्राव का कम होना पाया जाता है।

कभी-कभी कम आयु में रजोनिवृत्ति के कारण अनार्त्तव पाया जाता है। इसको वैकृतिक द्वैतीयक अनार्त्तव मानना चाहिए क्योंकि इसमें रजोनिवृत्ति के अन्य लक्षण नहीं मिलते हैं। कम आयु में द्वैतीयक अनार्त्तव के साथ रजोनिवृत्ति के लक्षण मिलने पर इसे रजोनिवृत्ति का द्योतक मानते हैं।

निदान—रोगियों के रोग वृत्त का पूर्ण इतिहास लेते हुए उसकी वय को ध्यान में रखते हुए प्रजनन अंगों की परीक्षा करनी चाहिए। प्रायः ऐसा अनार्त्तव रोहिणी के स्वास्थ्य पर विशेष प्रभाव नहीं डालता है, जब तक कोई अन्य रोग उपस्थित नहीं रहता है।

ऐसी रोगिणियाँ चिकित्सक के पास यह जानने के लिए आती हैं कि वह गर्भधारण तो नहीं कर चुकी हैं।

प्रजनन अंगों की परीक्षा से यह ज्ञात कर लेना चाहिए कि इन अंगों की वृद्धि ठीक हुई है कि नहीं ? तथा अन्य कोई व्याधि है अथवा नहीं ?

चिकित्सा—चिकित्सा में रोग के कारण का पता लगाकर उसके अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

आराम, जलवायु परिवर्तन, व्यायाम सुपाच्य, पोषक भोजन, लौह, आर्सेनिक विटामिन्स इत्यादि के उपयोग से चिकित्सा में बहुत सहायता मिलती है।

आधुनिक चिकित्सा में जहाँ बीज ग्रन्थि स्राव की कमी होती है आस्ट्रीन का प्रयोग लघु मात्रा में बहुत लाभप्रद होता है। प्रायः आस्ट्रीन की पांच मिलीग्राम की मात्रा प्रतिदिन पर्याप्त होती है। कृत्रिम प्रकार से बनाया गया स्टील-वैस्ट्रोल का उपयोग ठीक होता है।

प्रोजेस्ट्रीन नामक बीज ग्रन्थि के स्राव का प्रयोग तीव्र रोगावस्था में लाभप्रद होता है।

Enterior Pituitary स्राव के समान गोनोडोट्रोपिक हारमोन का उपयोग भी लाभप्रद होता है।

समस्त अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्रावों की कमी के कारण उत्पन्न अनार्त्तव कृच्छसाध्य होता है।

शल्यकर्म द्वारा बीज-ग्रन्थि के निकाल दिये जाने पर यदि अनार्त्तव होता है तो चिकित्सक अन्य बीज-ग्रन्थि को शल्य-कर्म द्वारा शरीर में पुन स्थापित कर देता है। परन्तु कुछ समय के पश्चात् ग्रन्थियों में सिस्ट बनने लगते हैं या इनका अप्रजनन प्रारम्भ हो जाता है।

अनार्त्तव के साथ-साथ उससे सम्बन्धित लक्षणों से सामञ्जस्य रखने वाले अन्य आर्त्तव विकारों में भी विचार कर लेना आवश्यक है।

हायपोमेनोरिया (Hypomenorrhea)—इसमें मासिक रजः चक्र (Menstrual cycle) बहुत लम्बा और अनियमित होता है। प्रायः इसमें ५-६ सप्ताह का चक्र होता है। यौवनागमन के समय प्रजनन अंगों की हीन वृद्धि के साथ-साथ हायपोमेनोरिया मिलता है तथा एक वार मासिक स्राव के पश्चात् ५-६ मास तक रक्तःस्राव नहीं होता है इसमें रज का बहुत कम मात्रा में स्राव होता है। बीजागमन (Ovolution) बहुत विलम्ब से होता है। यह एक प्रकार का बीज-ग्रन्थि स्राव की गड़बड़ी से उत्पन्न होने वाला द्वैतीयक अनार्त्तव है। बीजगमन रजःस्राव के १४वें दिन ही होता है। इससे निश्चित है कि बीज-ग्रन्थियाँ अपना कार्य ठीक से नहीं करती हैं। अतः अनार्त्तव के समान ही निदान व परीक्षा कर हेतु के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए एवं साध्या-साध्यता बतानी चाहिए।

क्षीणार्त्तव (Olig-menorrhoea)—इस मासिक रजःचक्र में तो कोई परिवर्तन नहीं होता है परन्तु रजःस्राव के समय बहुत कम मात्रा में रक्त निकलता है। यह रजोनिवृत्ति के आगमन के लक्षण हैं। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्रावों की कमी के कारण भी यह उत्पन्न होता है। बहुत सी युवा रोगिणियों में इसमें गर्भाशय हीनवृद्ध पाया जाता है। परोजेस्ट्रीन (जो कि गर्भाशय की भीतरी कला (Endometerium) को (Secretory hypertrophy) कराता है, की कमी से गर्भाशय की अन्तरीय कला की वृद्धि नहीं हो पाती है अतः उसके बहुत कम नष्ट होने से रक्त स्राव कम होता है।

चिकित्सा—अन्तःस्रावों की कमी होने पर इनके उपयोग से लाभ होता है। रजोनिवृत्ति के द्योतक क्षीणार्त्तव की चिकित्सा करना आवश्यक नहीं है। केवल इसमें रजोनिवृत्ति से उत्पन्न लक्षणों की चिकित्सा कर उन्हें दूर करना चाहिए।

गर्भाधारण वय (Child Bearing Age) में यह लक्षण होने पर अन्तः-स्राव के उपयोग से लाभ होता है।

आयुर्वेद में इन उपर्युक्त तीनों रोगों का वर्णन एक साथ ही मिलता है।

"लक्षण समान होने के कारण चिकित्सा भी समान है।"

संशोधन, आग्नेय द्रव्यों का उपयोग एवं नष्ट रक्तवत् चिकित्सा करने का आदेश दिया गया है।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के अनुसार हेतु विपरीत चिकित्सा हारमोन द्वारा दी जाती है।

प्रश्न—योनिव्यापत् का विवरण दीजिए।

उत्तर—

योनि रोग के निदान सम्प्राप्ति

नारी रूक्ष, दुर्बल, कम आयु वाली हो और अधिक लम्बे, मोटे तथा दृढ़ लिंग वाले पुरुष से अधिक मात्रा में विषय-भोग करती हो तो उसकी वायु कुपित होकर योनि प्रदेश में पहुँचकर अनेक प्रकार के योनि रोगों को उत्पन्न कर देती है। ये रोग तीनों दोषों से उनके अपने-अपने लक्षणों के अनुसार कुल मिलाकर बीस होते हैं।

योनि रोग के कारण

योनि के बीस प्रकार के रोग नारियों को उनके मिथ्या आहार-विहार के कारण आर्त्तव के दूषित होने पर अथवा माता-पिता के प्रारम्भिक बीज-दोष के कारण भी तथा पूर्व जन्मार्जित पापाचारों से उत्पन्न हुआ करते हैं।

दोषज योनि रोगों के नाम

(१) वायु के देषित होने से उदावर्ता, वन्ध्या, विलुप्ता, परिलुप्ता तथा वातजा ये पाँच रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(२) पित्त के दूषित होने से रुधिरक्षरा, वामिनी स्रंसिनी, पुत्रघ्नी और पित्तला ये पाँच रोग योनि में हो जाते हैं।

(३) कफ के दूषित होने से अत्यानन्दा, कर्णिनी, चरणा, अतिचरणा और श्लेष्मला ये पाँच योनि रोग हो जाते हैं।

(४) त्रिदोष के कुपित होने पर षण्डी, फलिनी, महती सूचिवक्त्रा और सर्वज्ञा ये पाँच रोग उत्पन्न होते हैं।

(१) उदावर्ता के लक्षण एवं चिकित्सा

इस योनि में बड़े ही कष्ट के साथ झागपूर्ण रजःस्राव होता है। इसमें उत्तरबस्ति देनी चाहिए। अभ्यंग, परिषेक, प्रलेप तथा पिचुधारण, स्नेह और स्वेद वातनाशक द्रव्यों के द्वारा दिए जाने चाहिए।

(२) वन्ध्यायोनि के लक्षण व चिकित्सा

इस योनि से आर्त्तव का आना बन्द हो जाता है। अतः इसका वन्ध्यायोनि कहते हैं। इसमें वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध स्नेह, स्वेद-परिषेक अभ्यंग, वस्ति, पिचु आदि का प्रयोग करें तथा काकोल्यादि गणोक्त द्रव्यों से साधित घृतादि

का प्रयोग करना चाहिए। **विलुप्त योनि** में सर्वदा वात वेदना होती रहती है। चिकित्सा पूर्वोक्त प्रकार से ही की जानी चाहिए। **परिलुप्ता योनि** में मैथुन करते समय भारी वेदना होती है। इसकी चिकित्सा भी पूर्वोक्त प्रकार से ही की जाती है। **वाताला योनि** कठोर, रूक्ष होती है इसमें तीव्र शूल होता रहता है और सुई चुभाने जैसी तीव्र पीड़ा भी होती रहती है। इसकी भी वातनाशक चिकित्सा पूर्वोक्त कही हुई ही की जानी चाहिए।

(१) पित्तजन्य योनि रोगों के लक्षण एवं चिकित्सा

(१) **रुधिरक्षरा**—इसमें प्रवल दाह के साथ निरन्तर रक्त बहता रहता है।

(२) **वामिनी**—इसमें वायु के साथ वीर्य रज के साथ मिलकर बाहर निकलना पाया जाता है।

(३) **स्रांसिनी**—यह योनि विषय-भोग करते समय क्षुभित होकर अपने स्थान से हट जाती है और अधिक स्राव भी करती है तथा कठिनता से सन्तान उत्पन्न करती है।

(४) **पुत्रघ्नी**—इसमें से रक्त बहता रहता है और बार-बार ठहरे हुए गर्भ को रक्तस्राव के कारण गिरा देती है।

(५) **पित्तला**—इस योनि रोग में अधिक दाह होता है और योनि पक जाती है तथा रुग्णा को ज्वर रहने लगती हैं।

चिकित्सा—पित्तज योनि रोगों में ओष, चोष अर्थात दाह होने पर रक्त पित्तनाशक चिकित्सा की जानी चाहिए। दुर्गन्धयुक्त और पिच्छिल योनि में पञ्चक्षीरी वृक्षों के छाल का चूर्ण भर देना चाहिए और आरग्वधादिगण की औषधियों की छाल के क्वाथ से योनि का प्रक्षालन करना चाहिए। यदि पूय आदि बहता हो तो शोधक औषधियों के क्वाथ में गोमूत्र तथा लवण मिलाकर शोधन करना हितकारी माना गया है।

(४) कफज योनि रोगों के लक्षण एवं चिकित्सा

(१) **अत्यानन्दा**—इसमें नारी को मैथुन करने से कभी-कभी सन्तुष्टि नहीं हो पाती। सदा ही मैथुन की इच्छा बनी रहती है।

(२) **कर्णिनी**—इस योनि रोग में कफ और रक्त के दूषित होने के कारण से कर्णिका अर्थात् माँस की ग्रन्थियाँ हो जाती है।

(३) **अचरणा**—इस योनि रोग में नारी मैथुन करते समय पुरुष से प्रथम ही स्खलित हो जाती है। ऐसा कई बार होता है।

(४) **अतिचरणा**—इसमें मैथुन करते समय पुरुष से प्रथम स्खलित होने

की प्रक्रिया बार-बार होती रहती है। यह रोग प्रायः वेश्याओं में ही पाया जाता है। और

(५) श्लेष्मला—बीज की स्थिति नहीं होने पाती है। यह, श्लेष्मला योनि रोग में सर्वदा चिपचिपी रहती है। इसमें खुजली अधिक होती रहती है और वह अत्यधिक शीतल भी बनी रहती है।

चिकित्सा—इन सभी कफज योनि रोगों में यदि कण्डू रहती हो तथा स्पर्श करने पर वेदना होती हो, बड़ी कटेल के फलों का चूर्ण तथा हल्दी एवं दारु हल्दी के चूर्ण के द्वारा पूरण क्रिया तथा इन्हीं द्रव्यों से धूपन क्रिया की जानी चाहिए। रूक्ष तथा उष्ण पदार्थों के क्वाथ के द्वारा सभी प्रकार के कफज योनि रोगों में प्रक्षालन, पूरण, धूपन आदि कर्म करने चाहिए। सुरा, आसव और आरिष्टों का भी उपयोग किया जाना चाहिए। प्रातःकाल रसोत के स्वरस का पान करना चाहिए। दुग्ध और मांस रस के साथ भोजन करना चाहिए।

(५) त्रिदोषन्य योनि रोगों के लक्षण एवं चिकित्सा

(१) षण्डी—इस त्रिदोषजन्य योनि रोग में नारी के स्तन नहीं उठते और न आर्तव ही प्रवृत्त होता है। मैथुन करते समय यह योनि लिंग को कठोर मालूम पड़ती है।

(२) फलिनी—अधिक लम्बे-चौड़े, बलशाली पुरुष के साथ मोटा लिंग लगवाने से नारी की योनि फलिनी कहलाती है, इसमें नारी अल्प वयस्क और पतले शरीर वाली हो तभी यह रोग होता है।

(३) विवृता—जिस नारी की योनि का द्वार बहुत ही चौड़ा हो उसको विवृता कहते हैं उसको महायोनि भी कहते हैं।

(४) संवृता—अतिसंवृता यह योनि रोग समस्त दोषों के कुपित होने पर होता है। इसमें योनि का द्वार सिकुड़ कर सुई के समान होता है।

(५) त्रिदोषजा—जब तीनों दोष कुपित होकर योनि रोग को उत्पन्न करें और उससे त्रिदोष के लक्षण भी विद्यमान रहते हैं तब वह योनि रोग त्रिदोषजा माना जाता है।

चिकित्सा—तीनों दोषों के जायमान पाँचों प्रकार के योनि रोगों में तीनों दोषों से अलग होने वाले योनि रोगों में जो चिकित्सा कहीं गई है, वह की जानी चाहिए। विशेषकर सुरा, आसव, आरिष्टों को प्रयोग किया जाना चाहिए।

प्रातः काल के समय प्रतिदिन लहसुन का रस पीना चाहिए। कुम्भी स्वेद का प्रयोग करना चाहिए। विशेपकर उत्तर बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

(२) **कर्णिनी योनि विशेष चिकित्सा**—इस योनि में शोधन द्रव्यों से बनाई हुई वर्ति रखनी चाहिए। इसी प्रकार स्रंसिनी योनि रोग में योनि को घृत से अभ्यक्त करके दुग्ध से स्वेदित करके उसको भी तरकी और प्रविष्ट करके ठीक प्रकार से स्थिर कर देना चाहिए। फिर योनि को बाहर से पेशवार अर्थात् मांस का कीमा बनवा करके उसके द्वारा योनि ढक करके पट्टी बाँध देना चाहिए। इसके अतिरिक्त सभी प्रकार के योनि रोगों को पंचकर्म का यथा-विधि प्रयोग किया जाना चाहिए।

प्रश्न—प्रदर रोग किसे कहते हैं और उनकी क्या चिकित्सा करेंगे?

उत्तर—सम्प्रति स्त्रियों में प्रदर रोग का बहुत जोर है। इसके दो भेद किये जाते हैं—रक्त प्रदर और श्वेत प्रदर। रक्त प्रदर उस अवस्था का नाम है जिसमें "योनि मार्ग में आर्तव अधिक मात्रा में निकले।"[1] श्वेत प्रदर उस अवस्था को कहते हैं—"जिसमें योनि मार्ग से श्वेत जलयुक्त एवं लसदार द्रव प्रवाहित होता है।"[2] इस अवस्था को सोमरोग के नाम से भी वर्णित किया गया है। इसे सोमरोग इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें सोम (जल) की प्रधा-नता होती है। हम पहले श्वेत प्रदर के विषय में वर्णन करेंगे।

श्वेत प्रदर—इसको ल्युकोरिया के नाम से भी जाना जाता है, यदि विचार किया जाय तो हम पाते हैं कि स्वस्थावस्था में स्त्री की भग से लेकर गर्भाशय तक में वहाँ की श्लेष्मिक कला से थोड़ा-थोड़ा स्राव हुआ करता है जो कि योनिद्वार को स्वच्छ, स्निग्ध और सम्पुष्ट बनाये रखता है। वही जब कुछ कारणों से वृद्धि को प्राप्त हो जाता है और शरीर की शक्ति को क्षीण करने लगता है तब इसे ही श्वेत प्रदर नामक रोग कह दिया जाता है।

यदि देखा जाय तो यह स्वयं कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है। अपितु स्त्री के कुछ जननांगों की विकृति के कारण उत्पन्न होने वाला एक लक्षण है। प्रायः

---

१. "रजःप्रदीयते यस्यात्प्रदरस्तेन कथते।"

२. "आपः सर्वशरीरस्थः क्षुभ्यनिप्रश्रवन्ति च।"

निम्न चार अंगों में विकृतियाँ होती हैं जिनके कारण श्वेत प्रदर उत्पन्न होता है ।

(क) भग सम्बन्धी, (ख) योनि सम्बन्धी,
(ग) गर्भाशय सम्बन्धी, (घ) डिम्ब प्रणाली सम्बन्धी ।

(क-ख) भग तथा योनि सम्बन्धी विकार

(१) उपसर्ग ट्राइक्रोमोन्स वेजीनेलिस, यीस्ट आदि कीटों का उपसर्ग होने से ।
(२) बालिकाओं के भग अथवा योनि शोथ से ।
(३) मासिक धर्म की समाप्ति पर ।
(४) विजातीय द्रव्यों का योनि में लगातार रखना ।
(५) योनि की दीवार में अर्बुद होना ।

इन सब में वहाँ की श्लेष्मिका शोथयुक्त हो जाती है ।

(ग) **गर्भाशय सम्बन्धी कारण** दो प्रकार के हो सकते हैं ।

(i) **गर्भाशय ग्रीवा सम्बन्धी**—

(१) गर्भाशय ग्रीवा का तीव्र शोथ । (२) गर्भाशय ग्रीवा की ग्रन्थियाँ ।
(३) गर्भाशय ग्रीवा के वृण । (४) गर्भाशय ग्रीवा के अर्बुद ।

(ii) **गर्भाशय शरीर सम्बन्धी**

(१) गर्भाशय शोथ । (२) गर्भस्राव अथवा गर्भपात । (३) गर्भाशय के अर्बुद ।

(घ) डिम्ब प्रणाली सम्बन्धी

डिम्ब प्रणाली के शोथ के कारण, डिम्ब प्रणाली में अर्बुद होने के कारण यह रोग हो सकता है ।

इन सब स्थानिक कारणों के अतिरिक्त प्रायः देखा गया है कि अधिक दुर्बलता में बार-बार सन्तान उत्पन्न होने पर तथा अपथ्य सेवन करने से यह रोग होता है । मैथुन की नित्य क्रिया से भी इसकी अधिकता पाई जाती है क्योंकि मैथुन कर्म से भी क्षोभ होता है ।

प्रदर रोग में शरीर की प्राणशक्ति का ह्रास होता है । रुग्णा की कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ क्रिया रहित हो जाती हैं । मानसिक अवस्था भी ठीक नहीं रह जाती है ।

रुग्णा के योनि मार्ग में लसदार स्राव हाता रहता है जिसका रंग मैला-मैला अथवा कभी-कभी रक्तमिश्रित होता है । सिर दर्द होना, हाथ-पाँवों मे

न, आलस्य प्रायः पाये जाने वाले लक्षण हैं। शरीर में शिथिलता आ जाती
। इसकी चिकित्सा दो प्रकार की जा सकती है—

(क) स्थानिक उपचार, (ख) शारीरिक उपचार।

स्थानिक उपचार के कारण के अनुरूप करना चाहिए। प्रजनन अंग के
स अवयव में जो विकृति हो उसे दूर करने की चिकित्सा करनी चाहिए।
धक उत्तर बस्ति का प्रयोग किया जाता है। आयुर्वेद में पंचक्षीरी वृक्षों का
थ बनाकर उससे उत्तरबस्ति देते हैं। किसी प्रकार के अर्बुद हों तो उन्हें
करें। व्रण हों तो उनका रोपण करने की चिकित्सा करें। बाह्य कारणों
दूर करना चाहिए।

शारीरिक उपचार में स्त्री के रहन-सहन को सुधारना चाहिए। हल्का
याम, खुली हवा, साधारण भोजन एवं पुष्टिकारक पदार्थ लाभ करते हैं।
क्षीणता अधिक हो तो लौह भस्म आदि रक्तवर्धक द्रव्य दें।

स्राव को कम करने के लिए आयुर्वेद में प्रदरान्त लौह सुपारीपाक एवं
न्त कुसुमाकर लाभप्रद औषधि हैं। पुष्यानुगचूर्ण का प्रयोग भी एतदर्थ
या जाता है।

आधुनिक चिकित्सक कैल्शियम और आयोडीन के इन्जेक्शन लगाते हैं।
तरह अन्य सभी द्रव्य जिसमें कैल्शियम हो उनका प्रयोग कराया जाता
आयुर्वेद में शंख, कपर्दिका, प्रवाल, शुक्ति, मुक्ता आदि सभी कैल्शियम-
न द्रव्य हैं। इनके प्रयोग से लाभ होता है।

अशोकारिष्ट नामक आयुर्वेद योग का प्रयोग भी एतदर्थ किया जाता है
र वह लाभ भी करता है। स्वर्ण वंग तथा वंग-भस्म का प्रयोग भी कराया
सकता है।

इस अवस्था में पथ्य पर अधिक ध्यान रखना होगा। हल्का भोजन,
वल, गेहूँ, मूंग-मसूर-चने की दाल का प्रयोग करते हैं। परवल, बथुआ,
कीं, चौलाई, पतीता, कटहल, धनिया, टिण्डा, घीया का प्रयोग शाक रूप
करना चाहिये। अनार, अंगूर, केला का प्रयोग कराया जा सकता है। गाय
र बकरी का दूध लाभ करता है।

दिन में सोना, रात में जागना, अधिक परिश्रम, उपवास, अध्ययन, धूप
घूमना, क्रोध, शोक, अति मैथुन, मद्य, मांस, तम्बाकू का प्रयोग, दही,
रका, मिर्च, खटाई का प्रयोग, गुड़, तेल, उड़द का प्रयोग छोड़ देना चाहिए
सब रोग को बढ़ाने के कारण हैं।

प्रश्न—हिस्टीरिया (योषापस्मार) क्या है और उसकी चिकित्सा किस प्रकार की जाती है ?

उत्तर—यह रोग प्रायः स्त्रियों को उत्पन्न होता है किन्तु कभी-कभी यह पुरुषों को भी उत्पन्न हो जाता है। इसका साम्य योषापस्मार से किया गया है सो योषापस्मार नाम से किसी रोग का वर्णन किसी आर्ष ग्रन्थ में पाया जाता है। इस रोग में जो लक्षण पाए जाते हैं उनका साम्य हम अपस्मार, मूर्च्छा एवं उन्माद रोग के कुछ लक्षणों से कर सकते हैं।

उन्माद के लक्षण एव हिस्टीरिया के लक्षण आपस में मिलते-जुलते-से हैं किन्तु उनमें वेग के स्वरूप में बहुत अन्तर है। उन्माद का रोगी आक्षेप होने पर पतित नहीं होता है और न शीघ्रता से होश में आता है, जबकि हिस्टीरिया का रोगी पतित हो जाता है और वेग के निकल जाने पर तत्काल होश हो जाता है।

हिस्टीरिया रोग में प्रायः दो प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं—

१. आक्षेप विहीन अवस्था में, २. आक्षेप की अवस्था में।

आक्षेपविहीन अवस्था—इसमें विवेक, शक्ति, ज्ञान विज्ञान का अभाव हो जाता है। रोगी बिना समझे बोलता है और अर्थहीन बातें करता है। उसको चोट लगाई जाय तो वह बचने की कोशिश करता है। वेग निकल जाने पर ज्ञान हो जाता है।

आक्षेप अवस्था—इसमें रोगी के कुछ पूर्वरूप प्रगट होते हैं। उसकी आँखें चढ़ी हुई होती हैं। लालिमायुक्त होती हैं। जम्भाई आती हैं। हाथ-पैरों में दर्द होता है, कब्ज रहता है, हाथ-पाँव पटकता है और पेट में एक गोला-सा बन जाता है। रुग्णा जब तक बेहोश नहीं हो जाती तब तक उसे ये सब होता रहता है। रुग्णा रोती है, चिल्लाती है, दाँतों को कटकटाती है, बाल नोंचती है, इधर-उधर की बातें करती हैं, तब मूर्च्छा आती है। मूर्च्छा १ से २ घण्टे तक रहती है। कभी-कभी एक-दो दिन भी रह सकती है। किसी-किसी को ५-१ मिनट मूर्च्छा खत्म हो जाता है। मूर्च्छा के समय में भिन्न-भिन्न स्त्रियों के अलग-अलग लक्षण उत्पन्न होते हैं।

हिस्टीरिया के लक्षणों का सम्बन्ध रुग्णा की अवस्था विशेष के अनुसार भिन्नता रखता है। यह रोग मानसिक निर्बलता के कारण उत्पन्न होता है सुकुमार प्रकृति की बालाओं को, कामवासनाओं में लिप्त रहने वाली स्त्रि

को तथा जिनका गृहस्थ जीवन सुखी नहीं ऐसी विवाहिताओं को यह रोग होता है। जो व्यायाम नहीं करती, जिनका आहार-विहार अनुचित होता है, मासिक धर्म के विकारों से जो पीड़ित हैं उन सबको विकार उत्पन्न हो जाता है।

हिस्टीरिया रोग स्त्री की असहनशीलता का द्योतक है। कोई भी ऐसा काम में अथवा कोई भी ऐसी अवस्था जो उसे पसन्द नहीं यदि हो जाय तो उसके विरोध को प्रकट करने के हेतु यह दौरा पड़ता है। यह ऐसा दौरा नहीं जिनमें किसी प्रकार के खतरे की सम्भावना हो, क्योंकि यह दौरा उसी समय पड़ता है जबकि रुग्णा को यह ज्ञात हो कि उसे सम्भालने वाले हैं। अतः इसे हम स्त्री की सहनशीलता की कमी से उत्पन्न हुआ मान सकते हैं।

ऐसा देखा गया कि जिस स्त्री के विवाह को कुछ समय बीत गया हो और बच्चे न पैदा हुए हों तो उसे हिस्टीरिया रोग हो जाता है।

इस रोग को कष्टसाध्य रोग कहा जाता है क्योंकि इसका उपचार करना बहुत कठिन होता है, तो भी चिकित्सा के कारण की खोज करके उसको दूर करना चाहिए।

यदि कुमारी को यह रोग हो तो विवाह कर देने से लाभ हो जाता है। विवाहिता को हो तो बच्चा पैदा होने के पश्चात् स्वयं मिट जाता है। कुछ को फिर भी होता है जिसमें मन को बल देने से लाभ होता है।

इसमें यह ध्यान रहे कि रुग्णा को किसी प्रकार का मानसिक आघात न लगे। उसे सांत्वना देनी चाहिए। वात नाड़ी संस्थान को बल देने वाले द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। कोई विशेष द्रव्य नहीं जो लाभ करने के लिए प्रत्येक अवस्था में दी जा सके। अवस्था के अनुसार उपचार करना चाहिए!

हिस्टीरिया के प्रकरण में यह लिख देना अनुचित न होगा कि माधव निदान नामक संग्रह ग्रन्थ में योषापस्मार नाम से एक रोग बताया है जिसके लक्षण निम्न प्रकार कहे गये हैं—

जिस रोग में शरीर और मस्तिष्क के बीच का सांवेदनिक और गत्यात्मक नाड़ी सूत्रों का सम्बन्ध टूटकर विचित्र लक्षण प्रकट होते हैं। जिस रोग के लक्षणों का परिचय रोगी को पहले से हो जाता है और वस्तुतः उसको कोई रोग नहीं होता, उस अवस्था को योषापस्मार रोग कहते हैं।

प्रश्न—बाल संगोपन पर एक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—प्रायः देखने में आ रहा है कि, वर्तमान समय में देश के ७५% बालक तनिक-सी असावधानी के कारण शीघ्र ही काल के कराल गाल में चले जाते हैं। इसका एकमात्र कारण माता को शिशु पालन-पोषण एवं उसकी रक्षा की विधि का ज्ञान नहीं रहता है। हमारे देश में कन्या पाठशालाओं में बालिकाओं को इस प्रकार शिशु संगोपन की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध भी नहीं है। जिस भाँति माता-पिता सन्तान के लिए लालायित रहते हैं उस प्रकार बच्चों का लालन-पालन एवं रक्षा का उत्तरदायित्व नहीं लेते और विरले ही व्यक्तियों को शिशु-संरक्षण का ज्ञान रहता है। शिशु-संगोपन का ज्ञान रहना प्रत्येक माता बनने वाली कन्या को होना चाहिए ताकि वे अपनी होनहार सन्तान का उत्तरदायित्व समझें।

प्रथम शिशुओं को आरोग्य रखने का प्रयत्न महत्त्वपूर्ण है। आरोग्य संपन्न बच्चे का जन्म लेना प्रसूति पूर्व गर्भिणी के स्वास्थ्य पर बहुत कुछ अवलम्बित है। बच्चे जन्म से लेकर प्रथम वर्ष भर तक शिशु की वृद्धि आहार, विश्रान्ति स्वच्छता विषयक ज्ञान माता को होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त शिशु की सहज बीमारियों की जानकारी एवं चिकित्सा का ज्ञान जैसा कि सुविज्ञ माता का होना चाहिए, रहना आवश्यक है।

शिशु का जन्म लेते ही जहाँ "कहर-कहर" की ध्वनि से माता का हृदय आनन्द से ओत-प्रोत होता है उसी से शिशु-संरक्षण का भार भी सिर पर पड़ता है। यद्यपि शिशु संगोपन का उत्तरदायित्व बच्चे के उत्पन्न होते ही प्रारम्भ होता है। किन्तु वस्तुतः जिस दिन से बच्चा गर्भ में आता है उसी दिन से गर्भवती माता का सशास्त्र संगोपन होना अधिक महत्त्व का है और इस प्रकार गर्भिणी की परिचर्या से जो बच्चा उत्पन्न होगा, सुदृढ़ और उसी का संगोपन विशेष समाधानकारक हो सकेगा।

शिशु विश्राम तथा निद्रा—शिशु को शान्त, स्वास्थ्य एवं सुखपूर्वक निद्रा का आना अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। जन्म-जन्मान्तर प्रथम दो-चार सप्ताह स्नान व स्तनपान करने से बच्चे अधिक सोते हैं। अर्थात् लगभग २१ घण्टे तक शयन करते हैं, जैसे-जैसे उनकी आयु बढ़ती है उसी प्रकार निद्रा का समय भी क्रमशः कम होता जाता है, तीसरे महीने में बीस घण्टे, छटवें महीने में अठारह घण्टे और वर्ष बाद नित्य १६ घण्टे में निद्रा पूरी होती है।

अतएव शिशुओं को स्वस्थ्य शान्त निन्द्रा भाए इसकी चिन्तापूर्वक सावधानी रखी जाए ।

शिशु का ओढ़ना, बिछौना और शयन—शिशु के ओढ़ने एवं बिछौने के कपड़े पर विशेष ध्यान देना चाहिए । छोटे बच्चे अपने बिछौने को मलमूत्र से भिगो देते हैं इससे वे अधिकतर मैले हो जाते हैं, इस कारण बिछावन के लिए एक मोटा वस्त्र बिछाकर उसके ऊपर एकाधि गोदड़ी या १-२ तह कर कपड़ा बिछा देना चाहिए। उस पर रबर की चादर डालकर उसके ऊपर बच्चे को सुलाना चाहिए। ओढ़ने के लिए भारी या हल्के कपड़े ऋतु अनुसार गर्म या ठंड़े वर्तने चाहिए। ओढ़ने एवं बिछौने के कपड़ों को नित्य धूप में डालना चाहिए ताकि उनकी गन्दगी दूर हो जाए और कपड़ों में जुआँ, खटमल, पिस्सू न रहने पाएँ और स्वच्छ रहें ।

निम्नलिखित बातों पर ध्यान दें—

१—शिशु की सोने की जगह शान्त स्वच्छ व हवादार हो ।

२—शिशु की आँखों पर प्रकाश की किरणें न पड़ने दें ।

३—तीन महीने के बाद (ठोंक-ठोंक कर) थपकी देकर बच्चे को सुलाने की प्रवृत्ति न पड़ने दें ।

४—मच्छर, ड़ाँस, खटमल आदि से बचाने के लिए बच्चों को मच्छरदानी लगा दें ।

५—शिशुओं को कोई वस्तु मुँह में रखकर न सोने दें ।

६—शिशु का बिछौना स्वतन्त्र अलग-अलग रहे लेकिन १ महीने तक माता शिशु को पास सुलाए किन्तु असावधानी से नहीं ।

७—शिशु का मुँह ओढ़ने वाले कपड़ों से न ढ़ांकें, खुला रखें ।

८—शिशु का ओढ़ने वाला कपड़ा सावधानीपूर्वक हटायें, एकदम उठाने से बच्चे चमक जात हैं ।

९—अफीम या अन्य निन्द्रा कारक पदार्थ खिलाकर बालकों को निद्रा में लाने या सुलाने का प्रयत्न मत करें ।

१०—एक ही करवट से बच्चे को न सुलाया जाय ।

११—बच्चे को शान्त, स्वस्थ निन्द्रा न आने के और भी बहुत से कारण हैं। जैसे—बिछावन के कपड़ों का मलमूत्र से भीगा रहना, दाँत निकलना, पेट में वायु भरना (नलाश्रित वायु), कान दुखना आदि जो भी कारण हों उनका पता

लगाकर वैसा उपाय करना चाहिए। समय पर दूध न पिलाने से भी बच्चे रोते हैं अतएव समय का ध्यान रखकर दूध पिलाना चाहिए । इससे बच्चे दूध पीकर सो जाते हैं, निद्रा का समय सदैव निश्चित रखना चाहिए, उससे बच्चा सुखपूर्वक सोकर ठीक समय पर जग उठता है ।

रुदन—जब शिशु अधिक रोता है तब माता-पिता को अधिक कष्ट होता है और वे विना समझे-बुझे झाड़-फूंक आदि उपाय कर बच्चे को शान्त करने के प्रयत्न में रहते हैं, पर बच्चे के रोने के अधिकांश कारण होते हैं जिन्हें हम नीचे प्रकट कर रहे हैं ।

शिशु का जन्म लेते ही रोना उसकी श्वसनादि शरीर-क्रिया-संचालन में सहायक होता है । और उसका उस समय रोना स्वास्थ्यसूचक चिन्ह माना जाता है । अतएव रोने देना चाहिए । रोने से बच्चे का व्यायाम अच्छी प्रकार होता रहता है अतएव यदि बच्चा दिन में थोड़ा बहुत रोया करे तो उसका कोई कारण नहीं, यह प्राकृतिक नियम है । रोने से दीर्घ श्वासोच्छ्वास की क्रियाएँ सम्पादन होती रहती हैं और फेफड़ा स्वस्थ एवं दृढ़ होता है । छाती के नाड़ी संस्थान को बल मिलता है, यदि बच्चा नहीं रोता है और सुस्त पड़ा रहता है तब समझो उसकी प्रकृति अवश्य बिगड़ी है, इसलिए कहावत है "बच्चा जब तक नहीं रोता माँ भी दूध नहीं पिलाती" कहने का तात्पर्य शिशु का रोना ही उसकी भाषा है और ऐसे समय शिशु के रोने का अर्थ माता को अच्छी तरह समझना चाहिए । प्रत्येक समय रोने का अर्थ बच्चे को व्यायाम होगा, यह ही न समझना चाहिए । ऐसा समझना और रोने का कारण न समझना अज्ञानता है । बच्चे की आयु ३ माह तक होने पर्यन्त उसके रोने पर उसकी आँख से आँसू नहीं बहते इस बात का ध्यान धात्रा को रखना चाहिए ।

शिशु के रोने के कई कारण होते हैं अतएव उन कारणों की खोज करनी चाहिए और उनके निराकरण का यत्न करना चाहिए । अधिकतर बच्चे भूख के कारण रोया करते हैं, और उन्हें दूध पिलाने से वे शान्त हो जाते हैं, परन्तु प्रत्येक बार रोने का कारण भूख नहीं समझ लेना चाहिए। बच्चे के रोने के कारण निम्नलिखित भी हैं—

१—शिशु के सोने का कमरा अत्यन्त तप्त रहने से भी शिशु रोता है किन्तु तप्त कमरे से बाहर करने पर चुप हो जाता है ।

२—पेट में वायु के बढ़ जाने पर उसे शूल होता है और वह अपने को पेट की ओर सिकोड़ता है । इस प्रकार थोड़ी-थोड़ी देर में शूल के कारण रोता

है, तब ऐसे समय सोया का पानी यमानी जल १-२ चम्मच पिला देने मात्र से ही उसे आराम होता है और वह सुख से सो जाता है।

३—शिशु को जुआँ, मच्छर, खटमल आदि जब काटते हैं, तब भी वह रोया करता है या अधिक गर्म कपड़ों के ओढ़ने से भी वह रोता है।

४—कान का दर्द, दाँतों का निकलना, छाती का विकार, सिर दुखना, गुदा द्वार में आग का जलना, कृमियों (चुनूने) का गुदाद्वार में काटना, इन कारणों को लेकर भी बच्चा रोता है। अतएव इन कारणों की खोज कर तद्नुसार उपचार करें।

५—कभी-कभी बच्चा एक ही स्थान में रहने से भी रोता है तब माता उसे गोदी में लेकर चुप कराती है। पर हमेशा इस प्रकार की आदत डालना उपयुक्त नहीं होती क्योंकि इससे माता को परेशानियाँ हो जाया करती हैं।

६—कई लोगों का स्वभाव होता है कि वे बच्चे को उछालते, मुक्का मारते, गेंद के तरीखे ऊपर फेंककर झेलते, सिर में थपड़ी मारते हैं; इस प्रकार त्रास देते हैं, इससे भी बच्चा रोने लगता है। इस प्रकार व्यर्थ का प्रेम नहीं कर देना चाहिए।

शिशु का आहार दुग्ध—शिशु के पोषण एवं शरीर संवर्धन हेतु जितना मिल सके उतना ही बच्चा संसक्त और आरोग्यवान बनता है। जिस प्रकार गाय के बछड़े के लिए गाय का दूध प्राकृतिक आहार है इसी भाँति माता का दूध शिशु के लिए उपयोगी होता है। माता का स्वास्थ्य ठीक रहने से माँ का दूध बच्चे के ६-७ माह तक पर्याप्त मिल सकता है और इस दूध के पीने से बच्चे स्वस्थ रह सकते हैं। अन्य दूध की अपेक्षा माता का दूध जन्तुरहित रहता है। बच्चा जब माँ का स्तन पान करता है तब उसे तन, कण्ठ, नाक आदि के व्यायाम की सफलता सहज ही प्राप्त होती रहती है साथ ही स्तन पान कराने से माता को भी एक प्रकार का अवर्णनीय आनन्द प्राप्त होता रहता है।

माता के रोगग्रस्त एवं दुर्बल रहने से दूध अच्छा और स्वास्थ्यकर नहीं मिलता। अतएव अन्य प्रकार के गाय, बकरी आदि के दूध को शास्त्र-पद्धति अनुसार शुद्ध बनाकर शिशु को पिलाते रहना चाहिए।

शिशु का प्रथम दिन—बच्चे के जन्म लेने के ३-४ घण्टे विश्रांति के पश्चात माता बच्चे के मुख को अपने स्तनाग्र से लगाए। इस समय वास्तव में दूध नहीं निकलता किन्तु जो निकलता है उसे "खीस" कहते हैं, यह खीस सारक

होती है और इसके पिलाने से बच्चे का उदर स्वच्छ होने में सहायता मिलती है, इसके अतिरिक्त बच्चे को दूध पिलाने से गर्भाशयादि शीघ्र सिकुड़ कर सब पूर्ववत् हो जाता है तथा जन्मे बच्चे को रेचक द्रव्य देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु अधिकांश स्त्रियाँ इस काल का दूध बच्चे को अज्ञान के कारण नहीं पिलातीं।

प्रथम दिन शिशु को दूध पिलाते समय अपने एक स्तन की बोटी (स्तन के अग्रभाग चूचक) को अपने हाथ की दो अंगुली में धर कर बच्चे के मुँह को लगाएँ। किन्तु इस बात का ध्यान रखें कि अपने दोनों स्तनों को गर्म पानी से स्वच्छ कर लें नहीं तो स्तन के चिर जाने, सूज जाने एवं व्रण होने तथा पीव पड़ जाने का भय रहता है तीन दिवस के बाद प्रसूता को शुद्ध दूध आने लगे तब शिशु को ४-४ घण्टे बाद गर्म किया हुआ पानी, मधु, पानी सारवार आदि देने की व्यवस्था करने से उसके पोषण में सहायता मिल सकेगी।

बच्चे को दूध पिलाने का नियम माता को जानना चाहिए और नियमपूर्वक दूध पिलाते रहने से शिशु स्वस्थ और सुखी रहते हैं। भूख के अतिरिक्त बच्चों के जो कारण उपलब्ध हो उसका निराकरण करते रहना चाहिए। बच्चों को समय पर दूध, नियमपूर्वक देने से अच्छा रहता है। इससे बच्चा भी निरोग रहता है तथा प्रसूत को भी विश्रांति मिलती है।

३ दिन से लेकर १ महीना तक २-२ घण्टे बाद दूध पिलाएँ
१ महीने से लेकर ३ महीने तक २½-२½ घण्टे ,, ,,
३ महीने से लेकर ६ महीने तक ३-३ घण्टे ,, ,,
६ महीने से लेकर १२ महीने तक ३½-३½ घण्टे ,, ,,
(आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन भी कर सकते हैं।)

प्रत्येक बार जब दूध पिलाया जाए तब अधिक से अधिक २० मिनट तक ही पिलाएँ। इस प्रकार अन्तर देकर दूध पिलाने से बच्चों को भूख ठीक लगती है तथा माता को विश्रांति मिलती है और दूध अच्छी तरह छाती में भर आता है। अधिकांश माताएँ बच्चे का रोना बन्द करने के लिए चाहे जब दूध पिलाती हैं। ऐसा दूध बच्चे को स्वस्थ रखने में सहायक नहीं होता अपितु उल्टा हानिकारक होता है।

जिन स्त्रियों को अधिक दूध निकलता है उनको चाहिए कि वे अपने शिशु को दूध पिलाते समय अपने स्तनों का थोड़ा पतला दूध स्तन से निकाल दें और फिर बच्चे को पिलाएँ। कभी-कभी दूध पीते समय बच्चे के पेट में वायु

भर जाती है, इससे बच्चा वमन कर देता है, ऐसे समय बच्चे को कन्धे पर लिटाकर उसकी पीठ को थपथपाने से उदरस्थ वायु मुख के द्वारा निकल जायेगी। कभी-कभी अधिक दूध पी जाने पर बालक को वमी, अरुचि और टट्टी अधिक होने की शिकायत उत्पन्न हो जाती है। ऐसे समय बच्चे को थोड़ा अन्तर बढ़ा दें और दूध भी कम पिलाएँ। यदि अधिक दूध पी जाए और उससे अधिक कष्ट प्रतीत हो साथ ही बच्चे को अरुचि हो तो केवल उष्ण (कुनकुना) पानी ही चम्मच द्वारा पिलाएँ इससे विकार दूर होकर बच्चा स्वस्थ हो जाएगा।

कुछ स्त्रियों के दूध कम रहता है, ऐसी माता के बच्चे प्रायः दुर्बल और क्षीण रहते हैं तथा उनकी शरीरिक वृद्धि में रुकावट होती है व भार कम बढ़ता है बच्चे के पेट में दूध की अपेक्षा वायु अधिक भरती है और वह सन्तुष्ट नहीं रहता है। ऐसे समय प्रसूता के दूध बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

स्तन्य वर्द्धन के उपाय—१—माता को अपने स्तनों को धीरे-धीरे उष्ण जल से सेंकना चाहिए।

२—माता को भरपूर आहार सात्विक दिया जाए। दूध, फल, सब्जी का पानी एवं अरंड तेल, कॉड लिवर आयल वगैरह दिये जाएँ। शतावरादि चूर्ण दें! जीरा पाक, नाखोद की जड़ का क्वाथ पिलाएँ।

३—विश्रांति एवं निद्रा अधिक लें। प्रसन्न मुद्रा में रहें।

४—लड़ाई-झगड़ा करना, क्रोध करना, जागना या चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

५—खुली वायु में रहना तथा व्यायाम करना चाहिए। माता का दूध बच्चे के भार वृद्धि में अधिक महत्त्व का होता है। जी चाहे जैसा दूध पिलाना उपयुक्त नहीं।

बालकों को माता के दूध में सम्पूर्ण प्रकार के जीवन सत्व उपलब्ध होते रहते हैं।

आयुर्वेद शास्त्र में यहाँ तक वर्णित है कि जिस गाय या बकरी का दूध बच्चे को पिलाया जाय उसे भी पथ्याधि औषधि या (चारा) देना चाहिए। शिशु को माता के दूध के अभाव में गाय का दूध शक्कर मिलाकर माता के दूध के समान उबालकर दिया जाए। यदि इसके पीने से बिवन्ध या अन्य रोग हो तो बकरी का दूध आदि दे सकते हैं। दूशोकशुकोममसीहम सरिमनी

रस रोज पिलाने से स्वस्थ रह सकता है। जैसे-जैसे बच्चे की आयु बढ़ती जाए वैसे-वैसे आहार की व्यवस्था करते रहें। छठवें महीने में तो शक्ति-मिश्रित रस चार चम्मच तक दे सकते हैं।

अन्नप्राशन—छठवें महीने से बारहवें महीने तक माता का ही दूध इष्ट नहीं होता है इसलिए हमारे यहाँ अन्नप्राशन करने का विधान शास्त्रसम्मत है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं लगा लेना चाहिए कि अन्न के आहार पर ही बच्चे को अवलम्बित कर दें। तक माता को भरपूर दूध निकलता है और वह स्वस्थ भी है तब तक माता के दूध पर बच्चे को रखना लाभप्रद ही है। यदि माता का दूध भरपूर न रहे तब ऊपरी गाय, बकरी आदि का दूध देना चाहिए। दाँत के निकल आने पर ही बच्चे को अन्नप्राश्न कराना चाहिए। हाँ उसको फलों का रस, (टमाटरादि का) एवं अनाज का पेय बनाकर दिया जा सकता है। यदि यह प्राप्त न हो सके तो चावल, सेम, साबू-दाना आदि को खूब पकाकर लपसी बनाकर देना चाहिए। काड लिवर तेल, किंवा सार्क तेल पहले दिन से देने में बालक की जठराग्नि प्रबल होकर पाचन क्रिया में सहायता मिलती है। किन्तु शिशु की अनिच्छा होने पर बलपूर्वक पिलाना उपयुक्त नहीं है। छः माह से दसवें महीने तक माता के स्तनों का दूध क्रमशः कम करते हुए अन्य दूध एवं पेय पदार्थों का प्रमाण बढ़ाते जाना चाहिए। इस प्रकार करने से दसवें महीने के पश्चात् बच्चे की उदर पूर्ति के लिए कष्ट नहीं उठाना पड़ता एवं बच्चा भी सुख से रहता है।

स्तन-परित्याग—१—बच्चे को स्तन पान कराना एक दम बन्द न करें।

२—दसवें महीने के बाद माता का दूध पतला और मीठा हो जाता है इस लिए इस अवधि के पश्चात इसी दूध पर शिशु को निर्भर न रखें।

३—एक या दो वर्ष तक शिशु को स्तनपाई रखने से माता और शिशु दोनों के लिए हानिकारक होता है।

४—बच्चे की आयु दस महीने होने के पूर्व यदि माता गर्भवती हो जाए तो दूध बच्चे को न पिलाए।

५—कुछ स्त्रियाँ शिशु के ३-४ माह की आयु होने पर मासिक धर्म से होने लगती हैं, इसलिए भी उनका दूध कम आने लगता है और बच्चे को अन्य दूध देने की पद्धति प्रारम्भ होती है क्योंकि अधिकतर माता का दूध शीघ्र बन्द होने की सम्भावना रहती है, इसलिए वैसी तैयारी रखना जरूरी है।

६—दस महीने का शिशु हो जाने पर माता धीरे-धीरे अपने बच्चे को दूध पिलाना बन्द कर दे।

७—दूध पिलाना एकदम बन्द न करें बल्कि पहले-पहल दोपहर के समय इसके बाद सवेरे के समय, इसके बाद रात्रि के दस बजे बन्द रखें।

अधिकतर छटवें महीने के बाद माता का दूध शिशु के लिए पर्याप्त नहीं होता और इसलिए उनको अन्य ऊपरी दूध देने की चाल हमारे यहाँ चल पड़ी है। इसके लिए दाई का अथवा गाय, भैंस एवं बकरी का दूध देना पड़ता है। साधारणतः सहज में ही दाई (धाय) का मिलना कठिन है इसलिए गाय आदि का दूध बच्चे को पिलाना पड़ता है। किन्तु गाय का दूध (प्राकृतिक) उसके बच्चे (बछड़े) के लिए जितना उपयुक्त है उतना शिशु के लिए पचने में सरल नहीं है। जिस पर भी हमारे देश में गाय का दूध उपयुक्त होता है और इसकी ही चाह माता के दूध के अभाव में हम लोग करते भी हैं।

अन्य गौ की अपेक्षा श्यामा गौ का दूध अच्छा होता है। माता एवं गाय के दूध का संगठन प्रायः मिलता जुलता है। विद्वानों ने खोजकर गाय एवं माता के दूध का संगठन निम्न लिखा है—

सगठन	माता का दूध	गौ का दूध
प्रोभूजिनें	१·५ प्र० श०	३·५ प्र० श०
स्नेह	४·० ,, ,,	३·५ ,, ,,
शर्करा	७·० ,, ,,	५·० ,, ,,
लवण	०·२ ,, ,,	०·७ ,, ,,
जल	८७·० ,, ,,	८७·० ,, ,,

उपर्युक्त तालिका में प्रोभूजिन एवं शर्करा के अतिरिक्त शेष अवयव प्रायः एक-से हैं। इस अन्तर को ठीक करने के लिए थोड़ा पानी और दुग्ध शर्करा (लैक्टोज) मिलाकर ठीक किया जा सकता है। इसलिए शिशु को माता के दुग्ध के अभाव में गाय का दुग्ध देना ठीक है। भैंस का दूध गाय के दूध से अधिक देर में पचने वाला और वायु बैठाने वाला होने से शिशु को अनुकूल नहीं पड़ता। यदि गाय का दूध भारी बैठे तो ऐसे समय के दूध के समान पानी आदि जैसा कि बताया जायेगा डालकर तैयार कर लें। गाय के दूध को दुहते समय उसमें (दूध में) रोग जन्तु मिल जाने से. बच्चों को हानि होती है, अतएव अच्छी तरह उबाल कर देना चाहिए। उबल जाने से यह दूध बच्चे

को सरलता से पच जाता है और अपचन भी नहीं करता। गाय-भैंस आदि जानवरों के दूध की अपेक्षा पौष्टिक, पिच्छल, स्निग्ध, क्षार, पानी व जीवनीय द्रव्य छः घटक अधिक मिलते हैं और ये गरिष्ट होते हैं इसीलिए जानवरों के दूध में पानी मिलाकर माता के दूध के समान बना लिया जाता है। अर्थात्—

वय महीना	दूध का भाग	+	पानी का भाग
१	१	+	१
२	२	+	१
३	३	+	१
४	४	+	१
वय महीना	दूध का भाग	+	पानी का भाग
५	५	+	१
६	१	+	०

२ छटाँक दूध में एक चम्मच मधुप (ग्लूकोज) डालें। भैंस के दूध में गाय के दूध की अपेक्षा मक्खन अधिक रहने से वह पचने में कठिन होता है। इसलिए भैंस के दो भाग दूध मे एक भाग पानी मिला लेने से गाय के दूध के समान बन जाता है। माता यह ध्यान रखे कि जो दूध बनाकर बच्चे को पिलाया जा रहा है वह बच्चे को अनुकूल पड़ रहा है या नहीं। जितनी मात्रा सरलता से पच जाए उतनी ही देना चाहिए; यह अज्ञानता न करनी चाहिए कि बच्चे को अधिक दूध पिलाएँगे तो बच्चा शीघ्र मोटा ताजा होगा।

एक वर्ष की आयु पर बच्चे को बिना हल्का किया दूध देना चाहिए। प्रायः सातवें महीने के बाद तो बच्चे अन्य पदार्थों का सेवन करने लगते हैं उन्हें अधिक दूध अच्छा नहीं लगता।

शिशु को दूध मिलने के प्रायः निम्नलिखित तीन साधन होते हैं—

१. माता का दूध, २. धात्री का दूध, ३. कृत्रिम दूध।

जब तक बच्चे को माता का दूध मिलता रहे तब तक अन्य दूधों को पिलाना उचित नहीं है। नागरिक क्षेत्रों की माताएँ देहाती क्षेत्रों की माताओं की अपेक्षा कृत्रिम दूध का सहारा लेने लगी हैं। माता के दूध का सहारा तब छोड़ना चाहिए जब वह दूषित और अल्प हो जाए। आयुर्वेद शास्त्रकारों ने ऐसे समय भी दूषित दुग्ध को शुद्ध करने की विधि एवं बढ़ाने की युक्तियाँ अपने ग्रन्थों में

लिखी हैं। इसलिए जिस प्रकार भी हो शिशु को कृत्रिम दूध से बचाकर माता का ही स्तन्य पान कराने का यत्न करना चाहिए।

माता की जानकारी के लिए निम्नलिखित तालिका दी जा रही है—

आयु	दिन में स्तन्य पान का अन्तर काल		रात्रि में मात्रा
१ सप्ताह तक	प्रत्येक २ घण्टे बाद	२ बार	१ औंस
१ से ३ सप्ताह तक	प्रत्येक १ घण्टे बाद	२ ,,	२ से ३ ,,
४ से ५ सप्ताह तक	,, ,, ,, ,,	१ ,,	२॥ से ३ ,,
६ से १२ सप्ताह तक	,, ,, ,, ,,	१ ,,	४॥ औंस तक
६ से ६ माह तक	,, ३ ,, ,,	१ ,,	५॥ ,,
६ से ९ माह तक	,, ३ ,, ,,	१ ,,	७ ,,
९ से १२ माह तक	,, ३॥ ,, ,,	१ ,,	९ ,,

जिसका वर्ण, गन्ध, रस, तथा स्पर्श स्वाभाविक हो तथा जल में स्वतः मिल जाए उसको शुद्ध स्तन्य समझना चाहिए।

इसके विपरीत निम्नलिखित लवणों वाला दूध दूषित समझ उसकी चिकित्सा करना प्रारम्भ कर दें।

किन-किन अवस्थाओं में माँ का दूध नहीं पिलाना चाहिए—

१—माता राजयक्ष्मा अथवा अन्य किसी गम्भीर व्याप्ति से पीड़ित हो।

२—उपाय करने पर भी दूध न उतरता हो।

३—माता किसी संक्रामक व्याधि से पीड़ित हो।

४—माता उन्मादिनी हो।

५—प्रसव के पश्चात् अधित रक्तस्राव हो जाए।

६—माता गर्भवती हो।

७—माता गुप्त विकारों से पीड़ित हो।

८—माता को कुष्ठादि हो।

९—अत्यन्त कृश, क्रोधी एवं जो शिशु से प्रेम न करे।

उपर्युक्त कारणों से गाय, भैंसादि जानवरों का दूध विश्वासपूर्वक शुद्ध न मिले तब ग्लेक्सों आष्टर मिल्क, लैक्टोजन वगैरह के दूधों के डिब्बों का इस्तेमाल करना चाहिए पर डिब्बों के दूध ही सर्वोच्च समझना उन अबोध माताओं की भयंकर भूल है। अन्य साधन न होने पर इनको कार्य में लें। मात्रानुसार प्रतिबार नियमपूर्वक इस दूध को तैयार करना चाहिए। दूध के पुड़ों के डिब्बों

को देखकर लाना चाहिए तथा बच्चे की आयु और स्वास्थ्य के अनुसार भार जैसा कि बताया गया है बनाकर पिलाना चाहिए।

धात्री—कृत्रिम दूधों का पिलाना धाय के दूध मिलने तक बन्द रखें किन्तु धाय का चुनाव अच्छी तरह करें। साधारणतः धात्री के स्वास्थ्य का, आचरण एवं पर आसक्त रहने, समवयस्क सन्तान होने, निज, वर्ण वाली, रोग रहित अत्यन्त कृश होने का विचार कर लें। धात्री के अत्यन्त मोटे होने पर उसके उन्नतोदर या लम्ब न हों। इसका ध्यान रखकर धात्री रखे। सब गुणों से युक्त धात्री का मिलना कठिन होता है तब अन्तिम साधन कृत्रिम दूधों का सहारा रह जाता है।

कृत्रिम दूध—कृत्रिम दूधों का इस्तेमाल शिशु बाटल (दूध पिलाने की बोतल) के द्वारा जैसा कि वह माता का स्तन पान करता है उसी भाँति कर सकता है। बाटल के द्वारा दूध की मात्रा का अनुमान रहता है एवं शिशु को माता का अधिक दूध पी लेना रोग एवं बीमारियों की सम्भावना नहीं रहती।

बाजारों से बोतल जो खरीदी जाय तब इस बात का ध्यान रहे कि बोतल किश्तीनुम शीशे की हो, आकार में लम्बाकार हो तो अच्छा है। यदि इस पर तोले, माशे के चिन्ह बने हों तो एक बार दूध पिलाने में मात्रा का भी ज्ञान हो जाता है और अधिक दूध न पिलाया जा सकेगा।

प्रयोग करने से पूर्व इसे उबलते हुए पानी में धो डालना चाहिए। बोतल के भीतरी भाग को साफ करने वाली ब्रुश को प्रत्येक बार साफ कर लेना चाहिए। यदि बोतल में दूध पिलाने के बाद बच जाए तो उसे फेंक देना चाहिए। बोतल का प्रयोग कर चुकने के बाद उसमें बोरिक लोशन भरकर रखना चाहिए। कभी-कभी बोतल के निपिल का छिद्र बन्द हो जाता है, इस कारण बच्चा दूध नहीं पी सकता। ऐसी अवस्था में देख लेना चाहिए कि बोतल को उलटने पर छिद्र में से एक बूँद दूध प्रति सेकण्ड गिरता है या नहीं। यदि नहीं गिरे तो उस छिद्र को खोलना चाहिए किन्तु स्मरण रहे कि बोतल रबर की न हो। रबर की बोतल होने से उसकी स्वच्छता नहीं हो पाएगी, दूध सदैव गरम ही पिलाना चाहिए। रबर के निपिल को भी प्रत्येक बार बाहर एवं भीतर उलट कर गर्म पानी से स्वच्छ कर देना चाहिए। निपिल के फट जाने पर दूसरा निपिल लगाएँ तथा दूध पिलाते समय या बोतल में

अन्वायोजन करते समय भली भाँति इसके छिद्रादि देख लें। यदि चम्मच से दूध पिलाएँ तब इस बात का ध्यान रखें कि दूध भरे चम्मच में मक्खी आदि न बैठे। इसलिए चम्मच को भी साफ कर लेना चाहिए। कहने का तात्पर्य है पर्याप्त सावधानी से दूध पिलाया जाय।

शिशु का व्यायाम—शिशु के जीवन में व्यायाम का भारी महत्व है। प्रारम्भ में शिशु आप ही आप व्यायाम करने लगता है, इसमें माता की थोड़ी-सी भी सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। शिशु के व्यायाम करने में बाधा डालने पर उसका वात नाड़ी संस्थान शिथिल पड़ जाता है और उसकी वृद्धि रुक जाती है।

शिशु के जन्म लेते ही वह 'कहर कहर' करने लगता है। इस रोदन से ही उसका व्यायाम प्रारम्भ होता है, इसलिए बच्चे का रोना ही व्यायाम है। इस विषय पर हम ऊपर लिख चुके हैं।

बालकों को चित्त सुलाने से वे अपने हाथ-पैरों को अच्छी तरह से फटकारने लगते हैं और हाथ-पैर को चलाने में उन्हें आनन्द भी अच्छा आता है। इस तरह से व्यायाम भी अच्छी तरह होता है।

अतएव जन्म से पन्द्रह दिन बच्चे को तेल लगाकर कम से कम १५ मिनट तक स्नान के पूर्व इसी भाँति (खेल) व्यायाम करने देना चाहिए।

शिशु के पेट, पीठ, हाथ-पैरों में तेल लगाकर धीरे-धीरे मालिश करें। पाँचवें महीने के पश्चात् बच्चे के दोनों हाथ पकड़ बैठालने के समान करके फिर लिटा दें। इस प्रकार करने से बच्चे को आनन्द के साथ व्यायाम होता है। शिशु के व्यायाम की सहायता देने हेतु उसके हाथ-पाँव और जाँघ को पेट पर कसना चाहिए। यदि बच्चा अपने पैरों को उछालता है तो उसे उसके हाथ-पैरों को चलाने देना चाहिए। इस प्रकार हँसते-हँसते उसका व्यायाम होता है। बच्चे को निरन्तर गोदी में लिए रहने से उसके व्यायाम में बाधा होती है। इसलिए उसे उसके बिछौने पर खेलने देना चाहिए। उसके बिस्तर पर ही उसे उथल-पुथल करने और सरकने देना चाहिए।

शिशु का स्नान—शिशुओं को नित्य प्रति स्नान कराना और उसका शरीर स्वच्छ रखना अत्यन्त ही आरोग्यकारक है। इससे बच्चा स्वस्थ रहता है तथा निद्रा भी भरपूर आती है। बच्चों को तुरन्त दूध पिलाकर और सोते हुए को उठाकर स्नान नहीं कराना चाहिए। दो घण्टे के बाद स्नान कराना उपयुक्त है। शिशु को स्नान कराने के पूर्व उसके शरीर में सरसों का तेल, तिल

का तेल या नारायण तेल की मालिश करके सुहाते हुए गुनगुने पानी से स्नान कराएँ। ऋतु-अनुसार उष्ण या शीतल जल का प्रयोग करें एवं खुली ठण्डी हवा में स्नान न कराएँ। स्नान कराने के बाद बच्चों को हवा न लगने दें।

उत्पन्न होने के पश्चात् शिशु को एक महीने तक उष्ण जल से ही स्नान कराना चाहिए। जैसे-जैसे समय बीतता जाय ऋतु-अनुकूल पानी भी वैसा ही शीतल या उष्ण लेना चाहिए। स्नान कराने के बाद उसका शरीर अगोछे से पोंछकर ऋतु-मानानुसार कपड़ों से ढक दें या झगली पहना दें और सुला दें। स्नान कराते समय शिशु के नाक, कान, आँखें व गुद आदि स्थानों को स्वच्छ कर दें। साबुन से स्नान कराते समय इस बात का ध्यान रखें कि साबुन चाहे जैसा न हो। स्नान के जो साबुन बने हैं उनमें से चुनकर लेना चाहिए! बेसनादि का उबटना कर स्नान करना सदैव उत्तम है। शिशु के सिर पर लगातार पानी की धार न डालें। शिशु स्नान के समय यदि नहीं रोता है और आनन्द से रहता है तो अच्छी स्नान की पद्धति है। निरन्तर स्नान से बच्चा सुखपूर्वक स्नान करता है।

शिशु के वस्त्र—शिशु के ओढ़ने, बिछाने तथा पहनने के कपड़े ऋतु-अनुसार स्वच्छ रहें। बच्चों को ठण्ड शीघ्र लग जाया करती है, इसलिए उन्हें अवस्त्र नहीं रहना चाहिए। उनके पहनने के कपड़े साबुन से धुले हों, पहनने के कपड़े सुगन्ध से धूपित करना चाहिए तथा न तो वह अधिक ढीले हों और न ही अधिक कसे, ठीक-बैठने वाले होने चाहिए। झगली बनवाना अच्छा है ताकि उतारने में सरलता रहे। तंग कपड़ों से फेफड़े एवं हृदय व पक्वाशय को हानि पहुँचती है तथा श्वास लेने में कष्ट होता है, भोजन ठीक से नहीं पचता और न रक्त संचार ही ठीक से हो पाता है। अत्यन्त ढीले होने पर हाथ पैरों से उलझने से मोच आ जाने का भय रहता है। जहाँ तक हो सके कपड़े हल्के और स्वच्छ ओढ़ाएँ। सर्द ऋतु में ऊनी कपड़ा शाल आदि उढ़ाएँ। कुछ माताएँ बच्चों के बिछौने से ओढ़ने वाले कपड़ों से ही शिशु का मलमूत्र पोंछकर वैसे ही रहने देती है यह हितकर नहीं है। इससे शिशुओं को कई प्रकार की बीमारियाँ आ घेरती हैं। कपड़ों के भीग जाने पर बदल देना चाहिए।

प्रश्न—फक्क रोग (रिकेट्स) का लक्षण चिकित्सा सहित वर्णन करें।

उत्तर—यह प्रायः एक वर्ष के, माता या धाय का दूध पीने वाले शिशुओं को होने वाला 'कफज' रोग है, जो कि विशेषतया कफ से 'दूषित' माता या धाय का दूध पीने से शिशुओं को उत्पन्न हुआ करता है।

महर्षि कश्यप ने कफ दूषित हुए दूध वाली धाय को 'फक्कदुग्धा' संज्ञा लिखी है, उसके कफ से दूषित हुए दूध को पीने से शिशु के रसवाही स्रोत रुक जाने के कारण, रक्त आदि धातुओं के क्षीण होने पर शिशुओं की अस्थियाँ भी क्षीण होने लगती हैं, जिससे शिशु कृश हो जाता है और एक वर्ष का हो जाने पर भी चलने में असमर्थ होने के कारण धीरे-धीरे चलता (सरकता) है। इसलिए 'फक्कति मन्दं गच्छति इति फक्का'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर वह १ वर्ष का शिशु 'फक्क' कहलाता है और उसको होने वाला रोग 'फक्क' रोग कहलाता है और पाश्चात्य एलोपैथिक चिकित्सा इसको रिकेट्स (Rickets) नाम से पुकारते हैं।

फक्क रोग के भेद—यह फक्क रोग क्षीरज, गर्भज और व्याधि फक्क के भेद से तीन प्रकार का माना गया है।

१. क्षीरज फक्क—यह माता या धाय के कफ से दूपित दूध के पीने से शिशु को उत्पन्न होता है।

२. गर्भज फक्क—गर्भ की विकृति से होता है।

३. व्याधि फक्क - यह जीर्ण ज्वर आदि निज तथा आगन्तुक व्याधियों से कृश शिशु को उत्पन्न होता है ।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के फक्क रोग में फक्कता अर्थात शिशु में चलने-फिरने की असामर्थ्य (Inability of walk) अवश्य होती हैं। इस रोग का यही रूप (मुख्य चिन्ह) है। साथ में अरुचि' खाँसी, मंदाग्नि' वमन, कृशता, विभ्रम, उदर, शिर और मुख की वृद्धि, नितम्ब, भुजा और वक्षस्थल का सूखना, आँखों में पीलापन, रोमांच होना, मल-मूत्र का परित्याग, शरीर के कटि से नीच के भाग की क्षीणता, मलिनता, मृतप्रायता, चिड़चिड़ापन, नख-वृद्धि, श्वास-वृद्धि, नेत्र और नाक से मल निकलना यह अन्य लक्षण भी न्यूनाधिक होते है। क्षीणता एवं कृशता के कारण, अस्थियाँ दुर्बल हो जाने से शिशु चलने में असमर्थ हो जाते हैं और यदि ऐसी अवस्था में भी जब वे चलने का प्रयत्न करते हैं या उनके माता-पिता उनको चलाते हैं तो चलने से उनकी अस्थियों पर दबाव पड़ने के कारण वह अस्थियाँ वक्र (तिरछी) हो जाती हैं।

फक्क रोग के यह सब लक्षण पाश्चात्य एलोपैथिक चिकित्साशास्त्र में प्रसिद्ध रिकेट्स (Rickets) रोग में भी न्यूनाधिक देश, काल आदि के भेद से मिलते हैं। इसलिए इस फक्क रोग को एलोपैथिक चिकित्साशास्त्र के अनुसार रिकेट्स (Rickets) रोग मानना उचित है।

पाश्चात्य (एलोपैथिक्) चिकित्सक इस रोग का कारण चूना और जीवनीय द्रव्य (खाद्योज, Vitamin) विटामिन डी की न्यूनता मानते हैं। गर्भस्थ भ्रूण का शरीर अन्तिम २ मास में खटिक लवण को एकत्रित करता है, इस कारण अप्रगल्भ शिशुओं में उचित मात्रा में खटिक की राशि एकत्रित नहीं होने पाती और उनकी तीव्रता से वृद्धि के कारण फक्क रोग हो जाता है। पर्याप्त सूर्य प्रकाश का अभाव, दरिद्रता एवं अस्वाथ्यकर निवास भी इस रोग की उत्पत्ति में प्रधान कारण हैं, परन्तु यह निश्चित है कि यह रोग सहज नहीं होता है और चार मास से पहले तथा तीन वर्ष से अधिक अवस्था में इस फक्क रोग का सुनिश्चित लक्षण अपवाद रूप में ही मिलता है। यद्यपि फक्कावस्था में रक्तगत खटिक (कैलशियम : calcium) की राशि कम हो जाती है तथापि अधिकतर रोगियों में रक्तगत खटिक प्राकृतिक सीमा में रहता है। रक्तगत खटिक की न्यूनता के कारण उत्पन्न हुए फक्क रोग में टिटैनी (Titany) स्वर यंत्र की कर्कशता तथा आक्षेप आदि वातप्रधान उपद्रव हो जाया करते हैं। साधारणतया बढ़ती हुई अस्थियों में फास्फेट की उपस्थित में कैलशियम फास्फेट (Calcium phosphate) के संचय से अस्थियों के निर्माण का कार्य सम्पन्न हुआ करता है। फक्क से पीणित शिशुओं में फास्फेट प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त होता है। अतएव यह सोचा जाता है कि रक्त से अस्थियों को जिस प्रक्रिया द्वारा कैलशियम फास्फेट प्राप्त हुआ करता है उस प्रक्रिया में विकृति होती है। कैलशियम फास्फेट के न पाये जाने के निम्नलिखित अनेक कारण हो सकते हैं—

१. आहार में समुचित-मात्रा में खटिक (कैलसियम) और फास्फेट न हों।

२. आन्त्र द्वारा शोषण के कार्य में विकृत हों।

३. जिस प्रक्रिया द्वारा अस्थि के तन्तुओं के निर्माण के लिए रक्त के कैलशियम और फास्फेट लिया जाता है; उसमें बाधा हो। अशोषित खटिक मल द्वारा निकलता रहता है। यह सोचा जाता है कि कैलसियम (खटिम) का आंत्र द्वारा शोषण होता है परन्तु जब अस्थियाँ अपने विकास के लिए उसको ग्रहण नहीं करती हैं तब वह फिर आँत्र में उत्सृष्ट हो जाता है तथा फास्फेट का मूत्र द्वारा अधिक परित्याग होने लगता है।

फक्क रोग में सब लक्षण एक साथ न होकर क्रमशः प्रगट होते हैं। पूर्वावस्था में शिशु उद्विग्न एवं क्षुब्ध रहता है और उसकी स्वाभाविक चपलता

कम हो जाती है। हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु की रात्रि में भी उर कपाल में पसीना निकलता रहता है। साधारणतया शिशु पहले स्थूल और अधिक स्वस्थ्य प्रतीत होता है, परन्तु स्नायु ढीली और पेशियाँ दुर्बल हो जाती हैं। इस फक्क रोग में अस्थिगत परिवर्तन विशेष महत्व का होता है। शिशु की करोटि में अस्थि भवन कार्य देरी से तथा अनियमित रूप से होता है। उर और पार्श्वकपाल के अस्थि भवन केन्द्र चारों ओर उभार दृष्टिगोचर होता है। साधारणतया शिशुओं का ब्रह्मरन्ध्र १½ वर्ष के भीतर बन्द हो जाता है, किन्तु फक्क रोग से आक्रान्त शिशु का विलम्ब से बन्द होता है। सावधानी से स्पर्श करने के पश्चात कपालास्थि में कोमलता पाई जाती है तथ करोटि चौकोर हो जाती है। प्रायः दूध के दाँत भी देर से निकलते हैं। पहला दाँत दूसरे वर्ष तक भी नहीं निकलता। गर्भाशय में रहने के समय जो शिशु खटिक एकत्रित कर लेते हैं उनके दूध के दाँत समय पर ही निकल आते हैं परन्तु वे आकृतिविहीन एवं समय में गिरने वाले होते हैं। इस फक्क रोग का बुरा प्रभाव दूसरी बार निकलने वाले दाँतों पर भी पड़ता है। सबसे सामान्य एवं पूर्वावस्था में मिलने वाला चिन्ह फक्कीयमाला (Rickety rosary) है जो पसलियों और उनकी तरुणास्थितियों (कार्टिलेजों) के सन्धि-स्थल अधिकतर चौथे, पाँचवें एवं छठे में मिलता है। कोमल पसलियाँ पीछे की ओर दब जाती हैं तथा उरःफलक ऊपर हो जाता है। जिससे शिशु का वक्ष कपोतवक्ष वत दृष्टिगोचर होता है। मेरुदण्ड को बाँधने वाली स्नायु एवं प्रधानतया पेशियों की शिथिलता के कारण तथा अक्षतः कशेरुकाओं की कोमलता के कारण पृष्ठवंश टेढ़ा हो जाता है। कन्याओं की त्रिकास्थि आगे की ओर उभर जाती है, जिससे उनको प्रसव के समय कष्ट हो जाता है। फक्क रोग बढ़ने पर लम्बी अस्थियों का शिखर प्रांत बढ़ जाता है। यह मणिवन्ध और गुल्फ में अधिक स्पष्ट होता है, सन्दिग्धावस्था में एक्स-रे द्वारा परीक्षा करा लेनी चाहिए। चलने में भार पड़ने के कारण पैर की लम्बी अस्थियाँ टेढ़ी हो जाती हैं। रोगी को रक्ताल्पता भी हो जाती है। प्रायः अल्पमात्रा में श्वेताणुओं की वृद्धि पाई जाती है। स्नायुओं की शिथिलता के कारण रोगी को चलने और बैठने में देरी होती है। उदर-प्राचीर की पेशियों की तान (Tone) में कमी होने के कारण व आहाराधिक्य से दूषित वायु उत्पन्न होने से उदर में आध्मान हो जाता है एवं यकृत प्लीहा छूने पर बढ़े प्रतीत होते हैं।

उपद्रव—फक्क रोग बढ़ने पर अतिसार एवं श्वसन मार्ग का संक्रमण

बहुत मामूली है। शालूक (एडेनाइड) वृद्धि के कारण जब वक्षस्थल में वायु के प्रवेश में रुकावट होती है तब वक्ष प्राचीर में' विकृत हो जाती है। क्लोम नली का आक्रमण बार-बार होता है। फक्क रोग से आक्रान्त बालक की जब रोग क्षमता शक्ति न्यून हो जाती है तब प्रायः उत्फुल्लिका (Branko Pneumonia) ब्रांकोनीमोनिया का भयंकर आक्रमण हुआ करता है। यदि रोगी शिशु के आहार में स्टार्च (Starch निशास्ता) की अधिकता होती है। तब प्रबल प्रतिसार हो जाता है जिससे अन्त की पेशियों की दुर्बलता और आध्यमान रहने से कभी-कभी शिशु की मृत्यु भी हो जाती है।

सापेक्षिक रोग निश्चित—अस्थियों का स्पर्शासहत्व—यह फक्क रोग के अतिरिक्त वच्चों के स्कर्वी (Infantile scurvy) रोग में नहीं होता।

अस्थि वक्रता—यह चिन्ह फक्क रोग के अतिरिक्त स्वस्थ्य शिशु में भी अंशतः पर की बाह्यधारा में वसा के संचय के कारण से प्राकृतिक रूप में सम्पूर्ण पैर में हो जाता है, परन्तु यह वक्रता शिशु के चलने से स्वयमेव दूर हो जाती है। इसके विपरीत फक्क रोग की अस्थि-वक्रता जंघा के नीचे के प्रान्त में ही जाती है।

साध्यासाध्यता (Prognonsis)—उपद्रवरहित फक्क रोग साध्य होता है। गम्भीर रोगियों में अस्थियों की विकृति फक्कावस्था के अन्दर भी बहुत समय तक रह जाती है। पसलियों की वक्रता प्रायः मिट जाती है। रोग क्षमत्ता की न्यूनता से रोमान्तिका, इन्फ्लूएन्जा, कुकर खाँसी (Whooping cough : हूपिक कफ) आदि संक्रामक रोग उपद्रव स्वरूप में होने पर रोगी शिशु की दशा चिन्ताजनक हो जाती है और प्रबल अतिसार एवं उत्फुल्लिका (पसली चलना, ब्रांकोनिमोनिया) से मृत्यु भी हो जाती है।

चिकित्सा—१—शिशु और उसको दूध पिलाने वाली माता अथवा धाय को सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु का पर्याप्त सेवन कराएँ।

२—माता या धाय के कफ से दूषित दूध को चरक संहिता की दुग्धशोधक पाठ आदि दस औषधियों का क्वाथ या अन्य कफ नाशक औषधियों का क्वाथ माता धाय को पिलाकर शुद्ध करें।

३—फक्क रोग से पीड़ित शिशु को सर्वप्रथम घृत अथवा षट्पल घृत चटाकर उसके रसवाही स्रोतों को शुद्ध करें और फिर निशोध में पकाए हुए दूध

को पिलाकर विरेचन करावें और तदनन्तर उसका कोष्ठ शुद्ध हो जाने पर उसको ग्राही घृत पिलावें तथा एण्ड, शालपर्णी, बेलगिरी आदि दस औषधियों के कल्क तथा जौ, बेर और कुत्थी के क्वाथ और दही से तिल का तेल पका कर बनाये गए राज तेल की शिशु के वदन पर मालिश करावें। यदि वातज उपद्रव हो तो इस शिशु को बस्ति, स्नेहपान, स्वेद और उबटन का प्रयोग करावें। कफ की अधिकता होने पर गाय के दूध में गोमूत्र मिलाकर पिलावें। इस चिकित्सा में घृत और दूध आदि का प्रयोग प्रधान है। पाश्चात्य चिकित्सक भी कॉड लिवर आयल (Cod liver oil) और दूध का प्रयोग कराते हैं। यदि शिशु को अतिसार हो तो उसको दूर करने का सर्वप्रथम उपाय करें। अष्टांग हृदय में लिखा हुआ है कि प्रीणन मोदक तथा दोपन संग्राही मोदक दें।

आहार—शिशु को रास्ना और मुलहठी द्वारा अथवा पृश्निपर्णी (पिठवन) या एरण्ड तथा सौंफ द्वारा अथवा मुनक्का, पीलु तथा निशोध द्वारा क्षीरपारक विधि से पकाया हुआ दूध पिलावें। मूँग का यूष और शाली चावलों का भात खिलावें।

विहार—इस प्रकार की चिकित्सा और आहार के प्रयोग से लाभ होने पर बालकों को पैरों क चलने में सहायता देने के लिए तीन पहिए की छोटी गाड़ी (त्रिचक फक्क रथ) के द्वारा शिशु को चलाने का अभ्यास नित्य-प्रति कराना चाहिए और उसको शुद्ध वायु तथा सूर्य प्रकाश का सेवन कराते रहना चाहिए।

प्रश्न—बालग्रह के विषय में वर्णन कीजिए।

उत्तर—बालग्रह—धात्री व माता के दुष्ट आचरणों से युक्त मल-मूत्र से भ्रष्ट, मंगलाचार से हीन, भयभीत, धमकाये हुए, रोते हुए, शारीरिक-मानसिक अपवित्रता से, बच्चों पर प्यार न रहना, जिस घर में वृद्धा की सेवा न की जाती हो अधर्मी व नियम-विरुद्ध आचरण करने वालों के यहाँ बालक को ग्रह, भूत, प्रेत, पिशाच कष्ट देते हैं। ग्रह जुष्ट बालक की उचित व्यवस्था न होने पर जीवन संकट में पड़ जाता है।

बालग्रहों से ग्रस्त बालकों में सामान्यतः इस प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं।

क्षण भर में बालक व्याकुल हो जाता है, क्षण भर में रोने लगता है, नख व दाँतों से अपने को व माता को काटता है। ऊपर देखता है, दाँत चबाता है तथा बार-बार फेनयुक्त वमन करना, जंभाई लेना, रात्रि में नींद न आना, अंगों में सूजन हो जाना, पतले दस्त होना, बोली में परिवर्तन हो जाना, शरीर में मछली व रक्त के समान दुर्गन्ध आना, पूर्व की तरह न खाना-पीना, दुर्बल व मलिन अंगों वाला होकर बेहोश हो जाता है।

बालग्रहों के नाम—स्कन्ध—स्कन्दापस्मागु, शकुनी, रेवती, पूतना, अन्ध, पूतना, शीत पूतना, मुख मण्डिका, नैगमेष नामक नवग्रह।

(१) स्कन्द ग्रह जुष्ट बालक के अंस ढीले हो जाना, शरीर से रक्त की सी गन्ध आना, दूध न पीना, मुख टेढ़ा हो जाना, आँख होकर एक पलक चलना व्याकुल हो जाना, नेत्र में आँसू भरा रहना, कम रोना, हाथ की मुट्ठी कसकर बंध जाना तथा मल कड़ा निकलना लक्षण होते हैं।

(२) स्कन्दापस्मार ग्रह जुष्ट बालक में बेहोश होना, फिर चैतन्य हो जाना, नाचने के समान हाथ-पैरों को चलाना, मुख से फैन छोड़ना, देर तक जंभाई लेना तथा मलमूत्र त्याग करना लक्षण होते हैं।

(३) शकुनी ग्रह जुष्ट बालक में अंगों का ढीलापन, डरा-सा रहना, शरीर में पक्षी जैसी दुर्गन्ध आना, स्राव युक्त व्रणों से पीड़ित रहना, शरीर में सब तरफ जलन तथा पाकयुक्त व्रण पीड़िका होना लक्षण होते हैं।

(४) रेवती ग्रह जुष्ट बालक में मुख लाल हो जाना, हरे रंग की विष्ठा, शरीर अत्यन्त पीला या काला होना, मुख पाक हो जाना, शरीर में पीड़ा होने से बालक के कान व नासिका को मलना लक्षण होते हैं।

(५) पूतना ग्रह जुष्ट बालक में अंगों से बहुत-सा मल निकलना, दिन में व रात को सोना, पाखाना पतला होना, कौवे की तरह शरीर में दुर्गन्ध आना वमन होना प्यास होना तथा रोमांच होना आदि लक्षण होते हैं।

(६) अन्धपूतना ग्रह जुष्ट बालक में स्तन पान करना, अतिसार, काम, वमन, हिक्का, ज्वर शरीर का रंग बिगड़ जाना लक्षण होते हैं।

(७) शीत पूतना ग्रह जुष्ट बालक में अधिक रोना, भयभीत होना, घबड़ाया हुआ-सा रहना, पेट में गुड़गुड़ाहट व पीड़ा, अंगों की शिथिलता तथा ठण्ड लगते रहना विशेष लक्षण होते हैं।

(८) मुख मण्डिका ग्रह जुष्ट बालक में सत्र मुरझाये से रहना, हाथ, पांव मुख से रक्त निकलना, बहुत आहार लेना, पेट पर अनेक कलुषित रेखाएँ उभर आना, उद्विग्न होना तथा शरीर से मूत्र जैसी गन्ध आना लक्षण होते हैं।

(९) नैगमेष ग्रह जुष्ट बालक के मुख से फेन की उल्टी होना, शरीर के मध्य भाग का झुक जाना, उद्विग्नता, हँसना, ऊपर देखना, निरन्तर कराहना तथा शरीर से चर्बी की-सी दुर्गन्ध आना लक्षण होते हैं।

इन ग्रहों से रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि बालक तीक्ष्ण पवन, धूप, विजली की चकाचौंध, डरावने, वृक्ष, लता, शून्यस्थान, बहुत ही गहरे या नीचे स्थान, दीवालों की परछाई तथा दुष्ट ग्रहों से रक्षा की जाय। ये भूत, प्रेत, ग्रह आदि मानव-शरीर में इस प्रकार प्रवेश करते हैं जिस प्रकार दर्पण में छाया प्रवेश करती है। शीत या गर्मी बिना दिखाई दिये ही प्राप्त हो जाती है तथा जिस प्रकार देह में जीव रहता है जो दिखाई नहीं पड़ता। ग्रह जुष्ट रोगों की चिकित्सा मुख्यतः दैवाश्रय कर्म पर निर्धारित है। अतः देवपूजन जप, यज्ञ, हवन, वेदोक्त नियमों का पालन करना चाहिए। घर में धर्म, भक्ति-भाव भी ईश्वर के प्रति आस्था को रखकर कर्म करें। बलिकर्म, सत्याचार, दिव्य औषधियों व अंगदों को धारण, ब्राह्मण गुरुजनों की सेवा, तप, दान, मांगलिक कर्म, सिद्ध औषधियों एवं मन्त्रों से इसकी चिकित्सा करते हैं।

सामान्यतः बालग्रह बाधा में दूर्वा, कुटकी, निम्ब के पत्तों को जल सहित पीसकर बच्चे को उबटन करें। फिर सतौना के पत्र, पीपल के पत्र, मुलहटी या उपर्युक्त द्रव्यों में गरम किये जल से स्नान करें। राई लाख, नीम के पत्ते, बाँध की त्वचा, गौ-घृत से तैयार धूप का प्रयोग करें। साँप की केंचुल, लहसुन, मरोड़-फली, सरसों, नीम के पत्ते, बिल्ली की विष्ठा, बकरी की रोम, मेढ़ासिंगी वच, शहद की धूनी देने से बालक के ग्रह हो जाते हैं। अष्ट मंगल घृत का नित्य प्रातः सेवन करना लाभकर है। इसके साथ ही ज्वर-मूर्च्छा-मलावरोध-कास-कृमिरोग-कर्णपाक-मूत्रकृच्छ्रता आदि का लाक्षणिक उपचार भी दिया जा सकता है।

प्रश्न—शुद्ध मातृ दुग्ध के लक्षण लिखकर वातादि से दूषित दुग्ध के लक्षण तथा दुग्धशोधक उपाय लिखिए। (१९६९)

उत्तर—

शुद्ध मातृ दुग्ध—स्त्री के स्तनों से प्राप्त होने वाला दुग्ध मातृ दुग्ध कहलाता है। यह सर्वविदित है कि स्त्री के दो स्तन या दो दुग्ध ग्रन्थियाँ होती हैं। ग्रन्थियाँ कुछ अर्धगोलाकार होती हैं तथा वसा-त्वचा से आच्छादित रहती हैं। ग्रन्थि दूसरी पर्शुका (Rib) से छठी पर्शुका (Rib) तक उरोस्थि के किनारे से वक्ष तल की मध्यरेखा तक फैली रहती है। ग्रन्थि के मध्य में एक बेलनाकार उभार होता है जिसको चूचक या स्तनवृन्त कहते हैं। चूचक के शिखर पर कुछ मांसतन्तु होते हैं जिनके मिलने से मांस के संकोच के कारण स्तन दृढ़ हो जाया करते हैं। चूचक के चारों तरफ गहरे रंग का एक घेरा होता है—जिसको स्तन मण्डल कहते हैं। कुमारियों के स्तन छोटे होते हैं—ज्यों-ज्यों कुमारी कन्या जवान होती हैं तथा जननेन्द्रियाँ बढ़ती हैं त्यों-त्यों स्तन ग्रन्थियाँ भी बढ़ती हैं तथा जब स्त्री गर्भवती होती है फिर वह प्रसव के पश्चात् अपने स्तनों से बालक को दुग्ध पिलाती है तो वह और भी बढ़ते हैं। यह सिद्धान्त है कि जैसे ही स्त्री गर्भवती होती है— उसका मासिक स्राव रुक जाता है और उसके मासिक स्राव के न होने से उधर तो गर्भ का पोषण एव वृद्धि होती है और दूसरी तरफ स्तन बढ़ने लगते हैं जब बालक पैदा होता है तो प्रसव के तीसरे दिन माता को दुग्ध की उत्पत्ति हो जाती है। प्रथम और द्वितीय दिन स्तनों से कुछ गाढ़ा पदार्थ जमा हुआ-सा निकलता है—उसको माताएँ 'पीयूष' कहती हैं और प्राय: उस दुग्ध को बालक को पिलाती नहीं हैं।

शुद्ध स्तन्य (दुग्ध) की परीक्षा का विधान बताया गया है और प्रशस्त दुग्ध के विषय में लिखा है कि—"स्तन्य का प्राशस्त्य जानने के लिए उसकी परीक्षा जल में करनी चाहिए। यदि वह शीतल, निर्मल, पतला, शंख के सदृश अवभासित हो, जल के साथ एकीभाव हो जाय, उसमें कोई फेन या तन्तु न हों, जो जल में न तो उत्प्लावित होता हो और न अवसीदित होता है, तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में प्राकृतिक हो, जलयुक्त पात्र में डालने पर अपनी प्रकृति के कारण मिल जाए। ऐसा दुग्ध शुद्ध कहा जाता है। यही पुष्टिकर है—आरोग्यकर तथा कुमार के शरीर को उपचित करके बल की वृद्धि करता है।" और यह भी लिखा है कि "जो क्षीर सुखपूर्वक आरोग्य का वर्धन करे; आयु को बढ़ाए, बिना किसी कष्ट के अंग-प्रत्यंग में बल का वर्धन

करे और न शिशु को न धात्री को आपत्तिकर हो—वह ही शुद्ध दुग्ध समझना चाहिए।

दुग्ध के गुण—इस प्रश्न के सन्दर्भ में दुग्ध के गुणों को जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान अध्याय पैंतालिस में दुग्ध के सामान्य गुण बताए गए हैं—लिखा है कि दुग्ध 'जातिसाम्य होने से प्राणियों के लिए सभी प्रकार से अप्रतिषिद्ध होता है। वात-पित्त-रक्त और मानसजन्य रोगों में भी अविरुद्ध है। जीर्णज्वर, कास, श्वास. शोष, क्षय, गुल्म, उन्माद, उदररोग, मूर्च्छा, भ्रम. मद, दाह, पिपासा, हृद्रोग, वस्तिदोष, पाण्डुरोग, गुहार्ग दोष, अर्ध-उदरशूल तथा आंत्रशूल, उदावर्त अतिसार, प्रवाहिका, योनिरोग, गर्भस्राव, रक्तपित्त, श्रमक्लम का नाश करता है। यह पापनाशक, बल्य वृष्य, वाजीकरण, रसायन, मेध्य, अस्थि सन्धानक, आस्थापन में हितकारक, वयस्थापक, आयुष्य, जीवन, बृंहण, वमनोपग और विरेचन होता है तथा इसमें ओज के तुल्य गुण होते हैं।

स्त्री दुग्ध के गुण अलग बताये गए हैं। वहां लिखा है कि—'स्त्रीदुग्ध जीवन, बृहण-सात्म्य, स्नेहन, स्थैर्यकर, शीतल, चक्षुष्य, बलवर्धक, लघु, दीपन पथ्य, पाचन तथा रोचन होता है। यह शीतवीर्य लघु, मधुरस एवं कषाय अनुरस युक्त द्रव्य है जो वात-पित्त-रक्त तथा अभिघातजन्य रोगों को दूर करता है।

स्तन्य दोष

विविध उपकरणों से दुग्ध दूषित हो जाता है। उसमें निम्न दोष हो जाते हैं—

(१) विवर्णत्व—पित्त के कारण
(२) विगान्धत्व—पित्त के कारण
(३) विरसता—वात के कारण
(४) पिच्छिलता—कफ के कारण
(५) फेन संघात—वात के कारण
(६) रुक्षता—वात के कारण
(७) जोख—कफ के कारण
(८) अतिस्निग्धता—कफ के कारण

दुग्ध शोधक उपाय

दुग्ध शुद्ध करने के उपायों में दोषों के अनुसार वमन-विरेचन, आस्थापन बस्ति, अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिये। स्तन्य शोधक द्रव्यों में तिक्तकषाय, कटु और मधुर द्रव्य होते हैं। अद्रक-पटोलपत्र, पिप्पली मजीठ, मुलहठी, चिरायता, त्रिफला का प्रयोग करना चाहिए। काश्यप संहिता में क्षीरोत्पत्ति अध्याय में क्षीर संशोधन का विस्तार से सुन्दर वर्णन किया है।

आहार में शालि या सांठी चावल, प्रियंगु कोदी, बांस के बीज, मटर, मूंग मसूर, कुलथी का प्रयोग किया जाता है। करेला, बैंगन, आंवला का प्रयोग करना चाहिए।

चतुर्थ-पत्र

शल्य-शास्त्र एवं अगद-तन्त्र

परीक्षोपयोगी दृष्टिकोण

इस पत्र में दो विषय हैं शल्य-शास्त्र एवं अगद-तन्त्र । हमने दो विषयों को अलग-अलग लिखा है—(क) भाग में शल्य-शास्त्र का वर्णन किया गया है और (ख) भाग में अगद-तन्त्र का । दोनों ही विषय वृहत हैं—इसलिए प्रयत्न किया है कि सभी आवश्यक विषय यहाँ आ जावें । इस चतुर्थ सशाधित संस्करण में कई महत्त्व के विषयों को बढ़ाया गया है ।

इस प्रश्न-पत्र के अंक भी १०० होते हैं और मौखिक में २५ अंक । मौखिक परीक्षा में शल्य-शास्त्र के यन्त्र एवं शास्त्रों का परिचय कराया जा सकता है अथवा विष-उपविषों का परिचय पूछा जा सकता है, इस विषय में कुछ मौखिक प्रश्न किये जा सकते हैं । यन्त्र एव शास्त्रों का रूप किसी अस्पताल में जाकर पहचानना चाहिए ।

इस भाग के लेखन में हमारे अनन्य मित्र प्रो० श्री वी सी. जी प्रेमीजी ने जो सहयोग दिया है—वह छात्रों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा—उनकी विशेष अभिरुचि इन विषयों की ओर रही है ।

द्वितीय संशोधित संस्करण में इस प्रश्न-पत्र का रूप बदल दिया गया । सभी विषयों का प्रश्नों की सीमा में बाँध दिया गया । शल्य-शास्त्र सम्बन्धी कई रोग परीक्षाओं में पूछे गए हैं । जो इस पुस्तक में पहले नहीं थे, अब बढ़ा दिए गए हैं । इस तरह यह परिवर्धित संस्करण छात्रों के लिए और भी उपयोगी बन गया है ।

क

'शल्य-शास्त्र'

प्रश्न—शल्य-तन्त्र किसे कहते हैं ? आयुर्वेद में उसकी प्रधानता बताइए। शल्य-तन्त्र के कर्मों का वर्णन कीजिए।

उत्तर—आयुर्वेद के जिस अंग में विविध प्रकार के घास, तृण, काष्ठ, पत्थर, धूल के अणु, लोहा, मिट्‌टी, नख, केश. पूयस्राव, दूषित व्रण, अन्त:शल्य, अन्तर्गर्भ अथवा मृतगर्भ, शल्य आदि के निर्हरण का ज्ञान, यन्त्र, शस्त्र, क्षार तथा अग्नि कर्म की विधियों का ज्ञान और व्रणों के साम, निराम, पच्यमान, पक्व आदि के विषय में निश्चय एवं निर्णय किया जाता है, उसको शल्य-तन्त्र[1] कहते हैं।

शल्य-तन्त्र को आयुर्वेद का प्रधान अंग माना गया है। क्योंकि यह सर्वश्रेष्ठ और पहला अंग है। यह प्रत्यक्ष, आगम, अनुमान तथा उपमान इन चारों प्रमाणों से प्रमाणित एवं सिद्ध है। अतः सम्पूर्ण आयुर्वेद में शल्य-तन्त्र को मुख्यता प्राप्त है। यह प्रधानता प्राचीन काल में देवासुर संग्राम के अवसर पर संग्राम से प्रहारजन्य व्रणों के रोपण कर्म करने से प्राप्त हुई थी। यह भी सुना जाता है कि भगवान् शंकर ने यक्ष का शिरश्छेदन कर दिया था, तब देवताओं ने अश्विनी कुमारों से प्रार्थना करके यक्ष का सिर पुन.सन्धान करवाया था, तब से शल्य-तन्त्र को मुख्यता अथवा प्रधानता प्राप्त है। इन वर्णनों से शल्य-तन्त्र का महत्त्व भी सिद्ध है तथा शल्य-चिकित्सक की उपयोगिता भी प्रमाणित है। आयुर्वेद के आठों अंगों में यह शीघ्र क्रिया करने से यन्त्र, शस्त्र, क्षार तथा अग्नि का प्रणिधान करने से तथा अन्य सभी तन्त्रों में जो भी चिकित्सा का रूप है, वह शल्य-तन्त्र में भी होने से यह अधिक[2] माननीय हुआ। इसलिए यह

---

१. शल्यंनाम विविध तृण काष्ठ पाषाणांशुलोष्टास्थिबाल नख पूया स्राव-दुष्ट व्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यन्त्र शस्त्र क्षाराग्नि प्रणिधानव्रण विनिश्चयार्थंच।

२. अष्टास्वपिचायुर्वेद तन्त्रेष्वेतदेवाधिकमभिमतम्। आशु क्रिया करणात् यन्त्र-शस्त्र क्षाराग्नि प्राणिधानात् सर्व तन्त्र सामान्याच्च।—सुश्रुत सूत्र० अ० १

इसलिए यह शल्य-तन्त्र नित्य, पुण्यकारक, स्वर्गप्रदायक, यश और कीर्ति को देने वाला, आयु के लिए हितकारी और जीविका के लिए भी उपयोगी है।

शल्य-तन्त्र में विविध कर्म माने गए हैं : (क) पूर्व कर्म, (ख) प्रधान कर्म, (ग) पश्चात्कर्म, इनका उपयोग प्रत्येक व्याधि के अनुसार पृथक्-पृथक् किया जाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी तीन कर्म प्रधान हैं। लंघन, विरेचन, बस्ति और शास्त्र कर्म स्थान (संशोधन Sterilization) ये पूर्व कर्म माने गए हैं। इसको आजकल (Preparation of the patient) कहते हैं। प्रधान कर्म में मुख्य शस्त्र-क्रिया मानी गई है—इसको (Main operation) कहा जाता है। व्रण रोगी के उपचार आदि तथा अन्यस भी उपाय, व्रण की चिकित्सा को पश्चात्कर्म कहते हैं। इसको आजकल (After treatment) कहते हैं। शल्य-तन्त्र में शस्त्र-कर्म और उसकी सामग्री की ही प्रधानता है।

प्रश्न—शस्त्र कर्म कितने हैं और कौन-कौन हैं, विस्तार से लिखिए। शस्त्र कर्मोपयोगी सामग्री, शस्त्र-कर्म विधि और शस्त्र-कर्म कर्त्ता वैद्य के गुण लिखिए।

उत्तर—शल्यतन्त्रान्तर्गत शस्त्र के कर्म आचार्य सुश्रुत ने अष्टविध माने हैं जैसे—छेद, भेद, लेख्य, वेध्य, एष्य, आहार्य, विस्राव्य और सीव्य। किन्तु भगवान् चरक ने एषण और आहार कर्म को यन्त्र कर्म माना है। अतः उनकी दृष्टि से शस्त्रकर्म केवल छः ही हैं। जैसे—पाटन[1], व्यधन, छेदन, लेखन, प्रोंछभ, सीवन यह षड्विध शस्त्र कर्म चरक सम्मत हैं।

(क) छेद्य अर्थात् छेदन[2] (Excision)—काटकर पृथक् कर देना यथा—अर्श चर्मकील, भगन्दर आदि रोग माने गये हैं।

(ख) भेद्य अर्थात् भेदन[3] (Incision)—चीरना, यथा—विद्रधि, ग्रन्थि आदि।

(ग) लेखन[4] (Scraping)—खुरचना, यथा—किलास, रोहिणी, उपजिह्विका आदि।

---

१ पाटनं व्यधनं [illegible] लेखन तथा।
प्रोंछनं सीवनं चैवषड्विध शस्त्रकर्मतत् ॥ —च० चि० अ० १५
२. छेद्या भगन्दराः ग्रन्थिः श्लैष्मिकस्तिलकालकः।
३. भेद्याविद्राधियोऽन्यश सर्वजाद् ग्रन्थयस्त्रयः।
४. लेख्याश्चतस्रोरोहिण्य किलासमुपजिह्विका। —सर्वे सुश्रुतस्यसन्ति

(घ) वेध्य[1] अर्थात् वेधन (Puncturing)—नुकीले शस्त्र से छेद करना-यथा शिरा वेध।

(ङ) एष्य[2] अर्थात् एषण (Probing Exploration)— शलाका के द्वारा नाड़ी व्रण आदि को खोलना और उसमे से कुछ बाहर निकालना, खीचन आदि विधि।

(च) आहार्य[3] अर्थात् आपहरण (Extraction)—बाहर की ओर खींचकरा निकालना, जैसे—दन्त, कर्ण आदि का मल तथा अश्मरी आदि।

(छ) विस्राव्य[4] अर्थात् विस्रावण (Drainage)—रक्त, पूय, लसीका आदि बाहर निकालना, जैसे—विद्रधि।

(ज) सीव्य[5] अर्थात् सीवन (Suturing Stiching)—टाँके लगाना, सीना, जैसे—सद्योव्रण आदि।

आचार्य वाग्भट्ट ने सुश्रुतोक्त अष्टाविधि शास्त्र कर्मों के परिगणन के साथ उत्पादन कुट्टन, मन्थन, ग्रहण और दहन इस पाँच कर्मों को और अधिक मानकर तेरह प्रकार के शस्त्र कर्म स्वीकार किए हैं। उत्पादन-उखाड़ना (To root up), कुट्टन-कूटना अथवा सुई से छेद करना (Pricking), मन्थन-मन्थना (Drilling), ग्रहण-पकड़ना (Catching), दहन शस्त्र से जलाना (Cautery), सुश्रुत में इस दहन कर्म का विशेष प्रयोग है। आधुनिक सर्जरी में भी है।

शस्त्र-कर्म के समय काम आने वाली सामग्री—जब वैद्य कोई-सा भी शस्त्र कर्म करने के लिए उद्यत हो तो उसको निम्नलिखित सामग्री पहले ही तैयार कर लेनी चाहिए जैसे— यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका, शृंग, जोंक तुम्बी जाम्बवोष्ठ, पिचु (फावा, रुई), प्रोत (कपड़ा, टुकड़े, पट्टी), सूत्र, पत्ते, पट, घृत, मधु, चरबी, तेल, दुग्ध, सन्तर्पण पदार्थ जैसे—जलयुक्त सात्तू क्षीर आदि पतले द्रव्य क्वाथ, लेप आदि की औषधियाँ, कल्क, (लुगदी, पुल्टिस, मलहम

---

१. वेध्याः सिरा बहुविधा मूत्रवृद्धिर्दकोदरम्।
२. एश्या नाड्यः सशल्याश्च व्रणा उन्मार्गिणश्च ये।
३. आहार्याः शर्करास्तिस्त्रोरन्त कर्णमलोऽश्मरी।
शल्यानिमूढ़ गर्भाश्चवर्चश्च निचितं गुदे॥
४. स्राव्या विद्रधयः पच भवेयु सर्संजाट्टते।
५. सीव्या भेद, समुत्थाश्चभिन्ताः सुलिखितः गदाः।
सद्योव्रणाश्चये चैव चलसन्धिव्यपाश्रिताः॥

आदि), पंखा, शीतजल, उष्णजल कड़ाही, बड़ाहे लोहपात्र (चिलमची, तसले आदि), अनुरक्त, स्थिरचित्त वाले तथा बलिष्ठ नौकर, कम्पाउण्डर, बार्डर, सिस्टर्स आदि।

शस्त्र-कर्म करने की विधि और समय—शस्त्र-कर्म करने के लिए शुभ तिथि, नक्षत्र और मुहूर्त के दिन दही, चावल, अन्न-पान तथा रत्न आदि से ब्राह्मण, अग्नि, गौ तथा वैद्यों का पूजन-सत्कार आदि करके बलि, मंगल, स्वस्तिवाचन आदि करके लघु भोजन किए हुए रोगी को पूर्व दिशा की ओर अभिमुख करके बिठलाकर, उसके हाथ, पैर आदि अंगों को भली-भाँति नियन्त्रित करके पश्चिम दिशा में मुख करके बैठा हुआ वैद्य अर्थात् सर्जन मर्म, शिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि तथा धमनियों को बचाता हुआ पूय को पूर्ण रूप से निकलने तक अनुमोल शस्त्र को चलाए। इस विधि में भली-भाँति उचित स्थान पर एक ही वार में शस्त्र का प्रवेश करके उसे तुरन्त ही निकाल ले। यदि पके हुए स्थल अधिक दूर तक फैले हुए हों तो दो अंगुल अथवा तीन अंगुल तक लम्बा व्रण का घाव किया जा सकता है।

शस्त्र-कर्म के योग्य वैद्य के लक्षण[1]—जो शस्त्र-कर्म करने वाला वैद्य उत्साह, निर्भयता, लघुहस्त, आशु (शीघ्र) कार्यकारी, तीक्ष्णशस्त्रधारी, पसीना मल आदि से रहित, हाथ के काँपने से रहित, घाव, रक्त प्रवाह आदि को देखकर जो घबराते नहीं, वह शस्त्र वैद्य उत्तम माना गया है। यदि एक चीरा होने पर फोड़े की शुद्धि न हो पाती हो अथवा पूय आदि की ठीक से सफाई न हो पाती हो तो अपनी बुद्धि से सोच-समझकर वैद्य और चीरा अयन्त्र अथवा पहले वाले के निकट दे सकता है। अतः जिस-जिस स्थान पर चीरा दे डाले, जिससे पूय, स्राव आदि भीतर कहीं न रह सके। शस्त्र प्रयोग करते समय यह भी ध्यान रहे कि भौंह, गण्डस्थल, ललाट, नेत्रों के पलक, ओष्ठ, मसूड़े, काँख, पेट और वंक्षण इन स्थानों पर तिरछा छेदन कर्म करना चाहिए। हाथों और पैरों पर चन्द्र-मण्डल के समान गोल छेदन करे और गुदा लिंग में अर्ध चन्द्राकर छेदन करना चाहिए अन्यथा शिरा व स्नायु के कट जाने की सम्भावना रहती है। वेदना भी अधिक होती है और व्रण का रोहण

---

१. शौर्यमाशुक्रिताशस्त्रतैक्ष्ण्यमस्वेदपथु ।
असम्मोहश्च वैद्यस्य शस्यकर्मणि शस्यते ॥ —सु० सू० अ० १

देर से होता है और उस स्थान पर माँस की गाँठ भी उत्पन्न हो जाती है। परन्तु मूढ़ गर्भ, उदर रोग, अर्श, अश्मीर, भगन्दर और मुख रोगों में बिना कुछ खाए ही अर्थात् भूखे रोगी पर ही शस्त्र-कर्म करना चाहिए। इस प्रकार से विवेकपूर्वक शस्त्र का प्रयोग करके रोगी को शीतल जल से हाथ, पैर आदि धोकर के उसे आश्वस्त कर लेना चाहिए और फिर चारों ओर अर्थात् बाहर और भीतर से अँगुलियों द्वारा व्रण को धीरे-धीरे दवा करके व्रण शोधक कषाय के द्वारा, उस व्रन को धो डालना चाहिए। उसके बाद में फिर शुद्ध वस्त्र से व्रण के भीतर लेष कषाय जल को पोंछ करके तिल का कल्क, शहद तथा घृत से लिप्त किन्तु न अति स्निग्ध और न अधिक रुक्ष कल्क ढक करके उस पर मोटी कवलिका अर्थात् तह बनाए हुए कपड़े की गद्दी अथवा रुई रख करके कपडे की पट्टी से बाँध देना चाहिए। बाद में वेदनाहर कथा जीवाणु नाशक द्रव्यों की धूनी अर्थात् धुआँ से उस स्थान को धूपित कर देना चाहिए। व्रण को धूनी देने के लिए गूगल, अगर, सर्जरस, वचा सफेद सरसों इन सब सूक्ष्म चूर्ण तथा नमक, नीम के पत्तों को घोंटकर मिलाकर घी से युक्त करके प्रयोग करना चाहिए। इसमें से गर्म-गर्म घी जो कि जलने से शेष रह जाता है, उसको व्रण के आस-पास चुपड़ देना चाहिए। पूर्ण व्यवस्था के अनुसार उस रोगी को आतुरालय (Indoor Ward) में रखना चाहिए। तीसरे दिन उसकी पट्टी खोलनी चाहिए और इसी प्रकार से फिर पट्टी करके आतुरालय में प्रविष्ट करा दें। जल्दबाजी में दूसरे दिन पट्टी नहीं खोल देनी चाहिए क्योंकि दूसरे ही दिन पट्टी खोल देने से व्रण फैल जाता है, अथवा गाँठें भी पड़ सकती हैं और चिरकाल में व्रण भर पाता है तथा उसमें सर्वथा बहुत अधिक वेदना भी होती रहती है जो कि रोगी के लिए नई मुसीबत बन जाती है। इसके अनन्तर व्रण के दोष तथा काल एव वल आदि के अनुसार यथायोग्य कषाय आलेपन बन्धन आहार तथा आचार आदि का प्रयोग करें। किन्तु शीघ्र अच्छे होने अथवा करने की आकांक्षा से शीघ्रता करके दोषों से युक्त व्रण की रोपण क्रिया के भी कभी भी भरने की कोशिश न करें क्योंकि सदोष व्रण रोपित हो जाने पर फिर कभी भी अवसर पाकर फट पड़ता है अथवा भीतर ही भीतर विकार एकत्र होकर बहुत भारी उठाव वाला, उभारा हुआ शोथयुक्त रूप में प्रकट हो जाता है।

प्रश्न—शास्त्रकृत व्रण के लक्षण, व्रण बन्धन और शस्त्रकृत वेदना का उपचार लिखें।

उत्तर—शस्त्र के द्वारा किया गया व्रण चौड़ा-दीर्घ सीधा और शस्त्र से स्पष्ट कटा हुआ, त्वचा-मांस का अधिक विनाश न हुआ तो तथा जो पूय के किसी भी प्रकार के आश्रय से रहित हो वह शस्त्रकृत व्रण उत्तम माना जाता है।

शुद्ध व्रण के लक्षण—जो व्रण तीनों दोषों से आक्रान्त न हो, नीले और काले रंग के जिनके किनारे हो गये हों, छोटे-छोटे मांस के अंकुर जिसमें उप-लक्षित होने लगे हों जो सब ओर से समान हो, वेदना से रहित हो, किसी प्रकार का स्राव जिसमें न बहता हो वह व्रण शुद्ध माना जाता है।

सम्यग्रूढ़ व्रण के लक्षण—जो व्रण ग्रन्थियों से रहित हो, वेदना और शोथ से रहित हो जिसके किनारे शरीर से मिलकर समान हो गए हों, जिसका वर्ण त्वचा के प्राकृतिक वर्ण में मिलकर एकीकार हो गया हो, जिसका तल भाग भी समान हो, वह व्रण ठीक प्रकार से भरा हुआ माना जाता है।

व्रण की पट्टी खोलने का नियम—कुशल चिकित्सक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह हेमन्त, शिशिर और वसन्त में तीसरे दिन व्रण की पट्टी खोल दे क्योंकि प्राय: शीतकाल में व्रण में पाक कम होने से तीन दिन में कोई भय नहीं होता। किन्तु ग्रीष्म ऋतु तथा वर्षा ऋतु में दूसरे ही दिन व्रण की पट्टी खोल देनी चाहिए। क्योंकि उष्माकाल मे व्रण में पाक शीघ्रता से होने का भय रहता है। अत: दो दिन मे ही पट्टी खोलना सुरक्षा की दृष्टि से भी हितकारी है। यदि पैत्तिक व्रण हो तथा शरद ऋतु अथवा ग्रीष्म ऋतु हो तो दिन में दो बार प्रात: सायं भी पट्टी खोलनी चाहिए, यह उचित नियम है। किन्तु यह नियम खतरनाक व्रणों पर लागू नहीं है। जिसमें रोगी के प्राणों का संकट हो, तीव्र रक्तस्राव होकर भारी हानि की सम्भावना हो अथवा भारी पाक होकर अधिक हानि की सम्भावना हो तो वहाँ पर भी यह नियम लागू नहीं होता है। ऐसे अवसरों पर तो तात्कालिक आपातकालीन चिकित्सा-विधियाँ तथा व्यवस्थाएँ आदि की जाती हैं। जिस प्रकार मकान में आग लग जाने पर उस समय जो भी कार्यवाही, उपाय तथा प्रबन्ध उचित जान पड़ते हैं, किए जाते हैं ठीक उसी प्रकार से अतिपातित रोगों पर भी किया जाता है।

शस्त्र प्रयोग की वेदना[1] का उपचार—यदि रोगी के शरीर पर किसी भी

---

१. या वेदना शस्त्र निपात जाता तीव्रा शरीर प्रदुनोति जन्तो:।
घृतेन सा शान्तिमुपैति सिक्ता, कोष्णेनयष्टी मधुकान्वितेन ।।१।।
—सु० सू० अ० ५

प्रकार का शस्त्र का घाव लगकर वेदना हो रही हो, अथवा शल्य-चिकित्सक के द्वारा शस्त्र का प्रयोग चीरा-फाड़ी के रूप में किया गया हो और उससे वेदना हो रही हो और उससे रोगी का शरीर अधिक सन्तप्त या दुखी हो रहा हो तो मुलहटी के चूर्ण से युक्त नाम मात्र के उष्ण घृत के द्वारा उस व्रण का सेंचन करते रहने से बहुत शीघ्र ही वेदना शान्त हो जाती है। इसकी निर्माण विधि इस प्रकार से है—एक कटोरी में १ तोले अथवा ६ माशे भर घृत डालकर उसमें तीन माशा मुलहटी का चूर्ण डालकर निर्धूम अगारों पर रखकर कुछ उष्ण करके व्रण के वेदना स्थान पर उसे लगाना चाहिए।

प्रश्न—यन्त्र किसे कहते हैं ? यन्त्रों के भेद-कर्म-गुण-दोषों का वर्णन करें।

उत्तर—शल्य-तन्त्र में एक सौ एक यन्त्र माने गये हैं। इनमें हाथ को ही प्रधानतम यन्त्र माना गया है। क्योंकि हाथ के बिना यन्त्रों की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। इसलिए भी कि सभी प्रकार के यन्त्रों के कर्म हाथ के अधीन ही हैं।

यन्त्र का लक्षण—नाना प्रकार के शल्यों को पकड़ने अथवा पकड़कर बाहर निकालने, अथवा शल्य को देखने तथा उसका पता लगाने से जो साधन सहायक होकर उपयोगी कार्यकारी होता है उसको यन्त्र कहते हैं।

यन्त्रों के भेद—यन्त्रों के भेद छः प्रकार के माने गये हैं, जैसे—स्वस्तिक यन्त्र। इनकी सख्या चौबीस है। ये अठारह अंगुल के लम्बे होते हैं। सिंह, व्याघ्र, चीता, उलूक क्रौञ्च आदि पशु और पक्षियों के मुख तथा चोंच के समान मुख वाले होते हैं। मसूर के समान आकृति वाली कीलों से कसे हुए होते हैं। मूल में अंकुश की भाँति मोड़े हुए पकड़ने के स्थान वाले होते हैं। इनका उपयोग अस्थि में अथवा और जहाँ कहीं भी शल्य उसको निकालने में होता है। आधुनिक सर्जरी में इन तत्त्वों को Forceps कहते हैं। आजकल डाक्टरी में प्रयुक्त होने वाले स्वस्तिक यन्त्रों की सख्या निम्नलिखित है और वह नाममात्र की है, जबकि आयुर्वेद में चौबीस प्रकार के लिखे हुए हैं। आधुनिक स्वस्तिक यन्त्र (१) सिंहमुख (Lion forceps); (२) शशघातिमुख (Dental hawk bill forceps), (३) मूषिक मुख (Mouse teeth forceps), (४) श्वमुख (Bull-dog volsalla), (५) मकरमुख (Crocodile forcens), (६) कार्यानुसार नाम वाले जैसे—(क) Bone forceps, (ख) Dentel forceps।

संदंश यन्त्र—ये केवल दो प्रकार के होते हैं—(क) सनिग्रह, (ख) अनिग्रह। ये दोनों ही सोलह अंगुल के लम्बे होते हैं, लोहू अथवा लोहू जैसी धातु से बने होते हैं। सनिग्रह का अर्थ है कीलयुक्त अर्थात् हत्थे वाले यन्त्र। आधुनिक

मत में इन्हें (With a catch or With handle) कहते हैं। अनिग्रह का अर्थ है बिना कील के बन्धन के। इन्हें आजकल (Without a catch or Without handle) कहा जाता है। वाग्भट ने इनके अतिरिक्त एक तीसरा संदंश यन्त्र ६ अंगुल का माना है और चौथा मुचुण्डी संदंश यन्त्र माना है। संदश का अर्थ चिमटा या चिमटी होता है। इनका उपयोग त्वचा, मांस, शिरा और स्नायु में प्रविष्ट शल्य के निर्हरण के लिए होता है।

ताल यन्त्र—ताल यन्त्र दो प्रकार के होते हैं। इनकी लम्बाई बारह अंगुल की होती है। ये मत्स्य के तालु के समान एक ताल तथा दो ताल वाले होते हैं। इनका प्रयोग कर्ण, नासिका तथा नाडीगत शल्य को निकाल लेने के लिए किया जाता है। आजकल इनको क्रमशः Single scoop तथा Double scoop कहा जाता है।

नाड़ी यन्त्र—नाड़ी यन्त्र अनेक प्रकार के माने गये हैं। इनका प्रयोग भी विविध कार्यों के लिए किया जाता है। इनमें से किसी का मुख एक ओर को होता है तो किसी का मुख दोनों ओर को होता है। अतः इनका मुख्य प्रयोग स्रोतों में गए हुए शल्य को निकालने में, रोग दर्शन के लिए अथवा रोगों के परीक्षणार्थ तथा कुछ का प्रयोग दूषित रक्त और पूय का चूषण करने के लिए तथा अर्श आदि रोगों में क्षार पातन आदि क्रिया की सरलता के लिए किया जाता है। इन नाड़ी यन्त्रों की मोटाई स्रोतों के द्वार के समान तथा लम्बाई आवश्यकता के अनुसार की जाती है। इनको आजकल (Speculum and scoop) कहा जाता है।

शलाका यन्त्र—शलाका यन्त्र भी अनेक प्रकार के माने गये हैं। इनके प्रयोजन भी अनेक प्रकार के हैं। इनकी मोटाई और लम्बाई भी आवश्यकतानुसार रखी जाती है। इनमें गण्डूपदमुख, सर्पफणमुख, शरपुंखमुख और बडिश मुख के चार तो दो-दो होते हैं। इनका प्रयोग एषण, ऊपर उठा करके बाहर निकालने, लालच और आहरण की क्रिया के लिए किया जाता है। मसूर के टुकड़े के समान मुख वाले दो यन्त्र होते हैं। इनका अग्र भाग कुछ झुका हुआ होता है। इनका प्रयोग स्रोस में फँसे हुए शल्य को निकालने के लिए होता है। छः यन्त्र ऐसे होते हैं कि जिनके सिर पर रुई लपेटी हुई होती है। इनको Swab Probes कहते हैं। इनका प्रयोग व्रण आदि धोने अथवा पोंछने आदि के लिए किया जाता है। इसमें तीन यन्त्र कड़छी के समान आकृति वाले खरल जैसे मुख वाले होते हैं। इनको आजकल Spoons कहते हैं। इनका प्रयोग व्रण आदि में

क्षार तथा अन्य औषध आदि डालने के लिए किया जाता है। तीन और शलाका यन्त्र जामुन के फल के समान मुख वाले होते हैं और तीन ही अंकुश के समान मुख वाले होते हैं। इनका प्रयोग अर्थात् इन छहों शलाका यन्त्रों का प्रयोग अग्नि कर्म करने के लिए होता है। एक शलाका यन्त्र वेर की गुठली के टुकड़े के समान मुख वाला, खरल जैसे किनारों वाला और तेज धार के किनारों वाला होता है। इसका प्रयोग नासिका में से अर्बुद रोग को निकालने के लिए होता है। एक शलाका यन्त्र, मटर की गोलाई के समान गोल मुख वाला और कली के समान अग्र भाग वाला होता है। इसके दोनों किनारे एक समान गोलाई लिये होते हैं। इसका प्रयोग आँखों में सुरमा आदि डालने के लिए होता है। एक शलाका यन्त्र चमेली के फूल के डण्ठल के अग्र भाग के समान परिमाण में गोलाई वाला होता है। इसका उपयोग मूल मार्ग को साफ करने के लिए होता है। इसको आजकल कैथेटर (Catheter) कहते हैं।

उप यन्त्र—उप-यन्त्र भी रस्सी, वेणिका, पट्टी, चमड़ा, छाल, लता, वस्त्र अष्टीला (गोल पत्थर), मूँगरी, पाणितल, पादरज, अंगुलि, जीभ, दाँत, नाखून, मुँह, बाल, घोड़े की काठी, पेड़ की शाखा, थूकना, प्रवाहण, हर्ष, अयस्कान्त क्षार, अग्नि और औषध—ये माने गए हैं। इन उपयन्त्रो का प्रयोग सम्पूर्ण शरीर में अथवा शरीर के किसी एक भाग में, सन्धि, कोष्ठ और चिमनियों में यथायोग्य किया जाता है।

यन्त्रों के कर्म—यन्त्रों के कार्य इस प्रकार हैं—निर्घातन, इसको आजकल 'Hammering' कहते हैं। पूरण अर्थात् नेत्र व शिरोवस्ति आदि में तेल, क्वाथ आदि का भरना, बन्धन, रस्सी आदि से बाँधना, व्यूहन अर्थात् शल्य को निकालने के लिए हिलाना और ऊपर को उभारना। वर्तन अर्थात् यथास्थान अंग आदि को रखना। चालन, विवर्तन अर्थात् निकालना, विवरण अर्थात् चौड़ा करना। पीड़न, मार्ग विशोधन, विकर्षण, आहरण आच्छन अर्थात् मुड़ी हुई वस्तु को आगे की ओर फैलाना, उन्नमन, विनमन, भंजन, उन्मथन, आचूषण, एषण, दरण, ऋजूकरण अर्थात् सीधा करना, प्रक्षालन, प्रधमन और प्रमार्जन ये चौबीस यन्त्रों के कार्य माने गए हैं।

यन्त्रों के दोष—इन यन्त्रों के बारह दोष माने गए हैं। अत्यन्त स्थूलता, अशुद्ध लोहे से बना हुआ होना, बहुत अधिक लम्बाई होना, बहुत अधिक छोटा होना, पकड़ने के काम न आ सकने वाला, कभी पकड़े कभी न पकड़े, टेढ़ा,

शिथिल, बहुत ऊँचा, हिलती हुई कीलों अथवा ढीले बन्धनों वाला, ढीले मुँह वाला तथा मृदुपाश अर्थात् कोमल जाली अर्थात् कोमल मुँह वाला।

कंक मुख यन्त्र की प्रधानता—किसी भी शल्य को निकालने के लिए कंक मुख नाम का यन्त्र सभी यन्त्रों में मुख्य माना गया है। क्योंकि यह व्रण में ठीक प्रकार से प्रविष्ट हो जाता है और भली प्रकार से शल्य को पकड़ने अथवा पता लगाने के लिए व्रण में सरलता से घुमाया-फिराया जा सकता है। यह शल्य को तत्काल पकड़ लेता है और बाहर पकड़कर ले आता है और यह शरीर के सभी अंग-प्रत्यंगों में भली प्रकार से प्रयुक्त किया जा सकता है। अतः कंक मुख यन्त्र सभी यन्त्रों में प्रधान माना गया है।

प्रश्न—शस्त्र किसे कहते हैं ? शस्त्रों की संख्या, स्वरूप तथा कर्म बताइए।

उत्तर—'शस्' हिंसायां धातु से शस्त्र शब्द बना है। इसका अर्थ यह है कि जिस उपकरण के प्रयोग से शरीर के धातु कोषों का कुछ न कुछ नाश अवश्य होता हो वह शस्त्र कहलाता है।

सुश्रुत संहिता में 'विंशतिः शस्त्राणि' ऐसा कहते हुए बीस प्रकार के शस्त्र बताए हैं। वे निम्नवत् हैं—

(१) मण्डलाग्र, (२) करपत्र, (३) वृद्धि पत्र, (४) नखशस्त्र, (५) मुद्रिका, (६) उत्पल पत्र, (७) अर्धधार, (८) सूचि, (९) कुश पत्र, (१०) आटी मुख, (११) शरारि मुख, (१२) अन्तर्मुख, (१३) त्रिकूर्चक, (१४) कुठारिका, (१५) ब्रीहीमुख, (१६) आरा, (१७) वेतस पत्र, (१८) वडिस, (१९) दन्त-शंकु (२०) एषणी।

नीचे हम प्रत्येक स्वरूप बताते हुए उपयोग भी लिख रहे हैं—

मण्डलाग्र—इसका अग्र भाग गोल होता है। आचार्य भालुकि और भोज के मतानुसार यह दो प्रकार का होता है—(१) गोलमुख, (२) क्षुराकार। आचार्य वाग्भट्ट के मतानुसार 'तर्जन्यन्तर्नखाकृति' ऐसा किया गया है। इसके अनुसार मण्डलाग्र शंक्वाकृति होता है। इसका उपयोग अर्म पोथकी, शिराजाल इत्यादि अनेक नेत्र-रोगों की चिकित्सा में तथा गलशुण्डिका, अधिजिह्विका और मूढ़गर्भ की शस्त्र-चिकित्सा में होता है।

करपत्र—सुश्रुत टीकाकार हाराणचन्द्र ने इसकी निरुक्ति में लिखा है—"करपत्र-कण्टकैराचित् त्वात्करात् पतित इति करपत्रम्" सुश्रुत के मतानुसार परिमाण में यह छह अंगुल (षडंगुल) और वाग्भट्ट के अनुसार दस अंगुल

(दशांगुल) और भोज के मत से १२ (द्वादशांगुल) लम्बा और दो अंगुल चौड़ा होता है। यह आरी की तरह होता है। इसका उपयोग अस्थिच्छेदन के लिए होता है।

वृद्धिपत्र—वृद्धिनामक वनस्पति-पत्र के आकार का यह होता है, और यह प्रयताग्र और अंचिताग्र भेद से दो प्रकार का होता है। इसकी लम्बाई सात अंगुल और वृन्त चार अंगुल तथा तीन अंगुल फलक होते हैं। इसमें प्रयताग्र का फलक सीधा, छुराकार और अंचिताग्र कुछ मुड़ा हुआ होता है। वाग्भट्ट ने छुराकार वृद्धिपत्र को उन्नत शोथयुक्त गम्भीर व्रणों के छेदन-भेदन के लिए बताया है। इनमें प्रयताग्र वृद्धिपत्र के साहृश्य 'स्काल्पेल' या 'डिसेक्टिंग नाइफ' के साथ और अंचिताग्र वृद्धिपत्र का 'कर्व्ड विस्चूरी' के साथ होता है। इसका उपयोग निद्रधि चीरने, व्रणस्थान के बाल काटने, लतदांश में त्वचा-विदारण करने और मेदोवृद्धि (एलिफेण्टाइटिस) के पाटन के लिए होता है।

नख-शस्त्र—नख काटने का शस्त्र। डल्हन के अनुसार इसका फलक दो अंगुल लम्बा और एक अंगुल चौड़ा होता है। वाग्भट्ट के अनुसार इसकी लम्बाई नौ अंगुल होती है और यह वह संदश शस्त्र है, जिसका मुख वक्रधार और ऋजु धार ऐसे दो फलकों से बनता है। अंग्रेजी में इसको 'नेलपेरर' कहा जाता है।

मुद्रिका—तर्जनी अंगुली के पोर के समान इसका वलय होता है और उसी में वृद्धिपत्र के समान एक शस्त्र जुड़ा हुआ रहता है। वाग्भट्ट के मत से यह अंगुली शस्त्र है। इसका गलरोग और मूढ़गर्भ-दारण के लिए उपयोग होता है। अंग्रेजी में इसको 'फिंगर नाइफ' कहते हैं।

उत्पलपत्र—इस शस्त्र के फलक (धार) का आकार नीलकमल की पंखुड़ी के समान होता है। यह तीन अंगुल लम्बा और एक अंगुल चौड़ा होता है। आधुनिकों के अनुसार इसको 'लान्सेट' कहते हैं।

अर्धधार—इस शस्त्र की कुल लम्वाई आठ अंगुल होती है और फलक दो अंगुल होता है तथा उसी के आधे भाग में तीक्ष्ण धार होती है। वाग्भट्ट ने इसको 'अध्यर्धधार' कहा है। उसके अनुसार इसके धारायुक्त भाग की लम्बाई शस्त्र की कुल लम्बाई के आधे से अधिक होती है, अर्थात् फलक, वृन्त से अधिक लम्बा होता है। यह एक प्रकार का नाइफ' होता है।

सूची—यह सीवन-कर्म के लिए प्रयुक्त होता है और तीन प्रकार की होती है—(१) दो अंगुल लम्बी और गोल, (२) तीन अंगुल लम्बी और तिधारी,

और (३) धनु के समान टेढ़े आकार वाली। इनमें एक अग्र अत्यन्त तीक्ष्ण और दूसरा अग्र सूत्रण के लिए पाशयुक्त होता है। उपर्युक्त तीन आकार-प्रकार के अनुसार केवल दो ही बन जाते हैं—(१) सरल और (२) वक्र। अंग्रेजी में इसको 'नीडल' कहते हैं।

कुशपत्र—दर्भ (कुश) पत्र के समान इसका फलक होता है। इसकी लम्बाई दो अंगुल होती है। अंग्रेजी में इसको 'पेजेट्स नाइफ' या 'बिस्चूरी' कहते हैं।

आटीमुख—दलदल स्थानों में रहने वाला एक विशेष पक्षी होता है जिसे आटा या वर्धनी कहते हैं, उसके मुख के समान इसका फलक होता है। इसका फलक लम्बाई में दो अंगुल और वृन्त (मूँठ) चार अंगुल का होता है। यह भी एक प्रकार का 'लान्सेट' सदृश शस्त्र है।

शरारिमुख—शरारि नामक लम्बी चोंच वाला एक पक्षी-विशेष होता है। इसका स्कन्ध धवल (श्वेत वर्ण) होता है। उसके मुख के समान यह शस्त्र होता है। सुश्रुत ने "दशांगुला शरारिमुखी या कर्तरीति कथ्यते" इसे 'कर्तरी' कहा है और वाग्भट्ट ने शरारिमुखी या कर्तरी इन दोनों का स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है और शरारिमुख का विस्रावण के लिए और कर्तरी का भेदन के लिए उपयोग लिखा है।

अन्तर्मुख— इसका मुख अर्द्धचन्द्राकार और फलक डेढ़ अंगुल लम्बा होता है। इसकी धार अन्तर्भाग में होती है। यह आधुनिकों के 'कर्वड बिस्चुरी' के समान शस्त्र है।

त्रिकूर्चक—एक गोल पृष्ठ पर तीन तीक्ष्ण शलाकाएँ या सूची होती हैं।

कुठारिका—यह कुठार (कुल्हाड़ी) के समान शस्त्र होता है। वाग्भट्ट इसको गोदना के समान आध-अंगुल फलक वाला शस्त्र कहता है। डल्हन इसे गोदन्त के समान वाला मुख साढ़े सात अंगुल लम्बे वृन्त (मूँठ) वाला तथा आध अंगुल चौड़े फलक वाला शस्त्र मानता है। अंग्रेजी मे इसको 'एक्स शेप्ड नाइफ' कहते हैं।

व्रीहिमुख—इस शस्त्र का व्रीहि के समान मुख होता है। इसकी कुल लम्बाई ६ अंगुल होती है, दो अंगुल वृन्त और चार अंगुल फलक होते हैं। इसका उपयोग जलोदर तथा अण्डकोषोदक (हाइड्रोसिल) में वेधन कर्म के लिए होता है। अंग्रेजी में इसे 'ट्रोकर' कहते हैं।

आरा—इसकी लम्बाई आठ अंगुल होती है। फलक तल के समान चपटा

और पतला होता है। पिछला भाग गो-पुच्छ की तरह क्रमशः ऊपर की ओर मोटा होता है। इसका उपयोग पक्वाशययुक्त शोथ के वेधन के लिए होता है।

वेतसपत्र—वेंत के पत्र की तरह इसका फलक लम्बा, पतला और तीक्ष्णाग्र होता है। इसकी धार दन्तयुक्त होती है। फलक और वृन्त की लम्बाई चार-चार अंगुल होती है। अंग्रेजी में इसको न्यारोब्लेडेड नाइफ या स्कालपाल कहते हैं।

बडिशमुख—मछली पकड़ने के काँटे के समान यह होती है। इसकी लम्बाई ६ अंगुल होती है। साढ़े पाँच अंगुल वृन्त और आधा अंगुल फलक। इसके दो भेद होते हैं—(१) स्वानतबडिसश (अधिकवक्र), नत्यानतबडिश (थोड़ा मुड़ा हुआ) या अर्धचन्द्राकृति। इसका उपयोग ग्रहण (पकड़ने) के लिए होता है।

दन्तशंकु—इसका मुख चौकोर, तीक्ष्ण शंकु की तरह मुड़ा हुआ होता है। लम्बाई ६ अंगुल होती है। इसका उपयोग दांतों से शर्करा कपालिका इत्यादि निकालने के लिए होता है। वाग्भट्ट ने इसका उल्लेख 'दन्तलेखन' के नाम से किया है। अंग्रेजी में इसको 'टुथ-स्केलर' कहते हैं।

एषणी—शलाका यन्त्रों में जिस एषणी से अभिप्राय था उसका कर्म अन्वेषण करता है, जो गण्डूपदाकार मुखी कहलाती है। शस्त्रों में एषणी का कर्म भेदनपूर्वक अनुलोमन किया है। अतः इसका तीक्ष्णाग्र होता है। इसकी लम्बाई आठ अंगुल होती है और पीछे सूत्र के लिए पाश होता है। अंग्रेजी में इसको 'प्रोबडाइरेक्टर' कहते हैं।

एषणी शस्त्र के सम्बन्ध में डा० घाणेकरजी का कथन है कि—"गण्डूपदाकार मुखी" एषणी का वर्णन यन्त्रों में हो चुका है, क्योंकि उसके प्रयोग से शरीर धातु का नाश नहीं होता है। चरक संहिता में एषण और आहरण छोड़कर शेष ६ ही शस्त्रकर्म निर्दिष्ट हैं "षड्विधं शस्त्र कर्म" च० चि०। परन्तु यह मत दृढ़ बल प्रति संस्कृत चरक संहिता (द्विव्रणीय चिकित्सा) में मिलता है। चरक का अग्निवेश का मत सुश्रुत के समान है, क्योंकि चरक सूत्रस्थान के तिस्त्रैषणीय अध्याय में लिखा है—"शस्त्र प्राणिधानं पुनश्छेदन-भेधन-व्यधन, दारण, लेखन, उत्पाटन प्रच्छन, सीवन, एषण क्षारजलौक-सश्चेति"। वास्तव में एषण और आहरण यन्त्रकर्म हैं, शस्त्रकर्म नहीं, परन्तु अनेक बार छेदन-भेदन करके एषण, आहरण करना पड़ता है। इसलिए सुश्रुत

नें इनका समावेश शस्त्रकर्म में किया है । यहाँ अन्य दो प्रकार की एषणियाँ अभिप्रेत हैं । एषणी के कुल तीन कार्य होते हैं—१—अन्वेषण, २—भेदन, ३—अनुलोमन । अन्वेषण के लिए गण्डूपदार मुखी एषणी व्यवहृत होती है । और इसी समावेश शलाका में किया गया है । भेदन या भेदनपूर्वक अन्वेषण के लिए तीक्ष्णमुखी एषणी चाहिए । इस तीक्ष्णमुखी एषणी का समावेश महा शस्त्र में किया है । इसका उद्देश्य अन्वेषणपूर्वक भेदन या भेदनपूर्वक अन्वेषण होता है । इसको अंग्रेजी में 'शार्पप्रोव' या 'नीडल शेप्ड प्रोव' कह सकते हैं । एषणी का तीसरा कार्य अनुलोमन होता है । इस काम के लिए जो एषणी उपयोग में आती है उसे अंग्रेजी में 'डायरेक्टर' समझना चाहिए । शस्त्रपात के समय अनुलोमन एषणी का निर्देश है. वहाँ अनुलोमन एषणी 'प्रोव डायरेक्टर' समझना चाहिए । शस्त्रपात के समय अनुलोमन एषणी का उपयोग करने से व्रण-गति के अनुसार भेदन होता है तथा शरीर के अन्य अंग पर शस्त्र का आघात होने का भय नहीं होता है । शस्त्र की तरह सूत्र का भी अनुलोमन करने के लिए पाश्चात्य शस्त्रों में अनुलोमन एषणी प्रयुक्त होती है ।

प्रश्न—शस्त्र पकड़ने की विधि, शस्त्रों की लम्बाई, शस्त्र सम्पत, शस्त्र दोष, शस्त्र धारा, शस्त्र पायना का वर्णन करते हुए अनुशस्त्रों का वर्णन करें ।

उत्तर—शस्त्र पकड़ने की विधि—इसमें वृद्धिपत्र को मूठ और फल के संयोग स्थान से पकड़ना होता है । उसी प्रकार से सभी भेदन कर्म करने वाले शस्त्रों को पकडना चाहिए । वृद्धि पत्र तथा मण्डलाग्र को कुछ ऊँचा किए हुए हाथ से पकड़कर लेखन कर्म के लिए अनेक बार प्रयोग करना चाहिए । विस्रावण कर्म करने वाले शस्त्र सूची, कुशपत्र आदि को मूठ के अग्रभाग पर पकड़ना चाहिए । विशेष करके बालक, वृद्ध कोमलांग, भीरु तथा स्त्रियों, राजाओं एवं राजकुमारों के विस्रावण कर्म को त्रिकूर्चक के द्वारा संपन्न करें । व्रीहिमुख के मूठ भाग को हथेली से ढककर अंगूठा तथा तर्जनी से उसको पकड़ना चाहिए । कुठारिका को वाम हस्त से पकड़कर दक्षिण हस्त की मध्यमा अंगुली से अंगूठे को सहारा देकर उसके सिर पर ठोकनी चाहिए । आरा तथा कर पत्र और एषणी को मूल भाग में पकड़कर कर्म करें । शेष शस्त्रों को यथायोग्य, यथा-कार्य अपनी सुविधा और आवश्यकता के अनुसार जहाँ उचित समझें, पकड़ें और उपयोग करें ।

शस्त्रों की लम्बाई—इनमें नखशस्त्र तथा एषणी की दीर्घता आठ-आठ

अंगुल की मानी गई है। सूची शस्त्र की लम्बाई यदि उसका प्रयोग अल्प मांस वाले स्थानों और संधियों में करना हो तो दो अंगुल लंबी और गोल मुख वाली होनी चाहिए और उसका प्रयोग अधिक मांस वाले स्थानों पर करना हो तो उसकी लम्बाई तीन अंगुल की होनी चाहिए और वह तीन कोने वाली तिकोनी होनी चाहिए। मुद्रिका शस्त्र तर्जनी अंगुली के अगले पर्व के समान होनी चाहिए। शरीरी मुख की लम्बाई दस अंगुल की होनी चाहिए। इसको देशी भाषा में कैंची कहते हैं। शेष सभी शस्त्रों की लम्बाई छह अँगुल की मानी गई है।

शस्त्र-सम्पत्—इन सभी शस्त्रों को अच्छी प्रकार से पकड़ने योग्य, अच्छे लोहे से बने हुए, अच्छी धार वाले, देखने में सुन्दर, मुख के अग्र भाग पर से सुन्दर बने हुए, तथा सुन्दर अर्थात् दाँतों रहित होनी चाहिए। इसी को शस्त्रों का सम्पत् माना गया है।

शस्त्र के दोष—शस्त्र के दोष आठ प्रकार के माने गए हैं। जैसे—टेढ़ापन, धाररहित, बहुत मोटा, बहुत छोटा, बहुत लम्बा, बहुत पतला, टूटा हुआ, खरदरी धार वाला—शस्त्र के दोष हैं।

शस्त्र धार—जो शस्त्र भेदन कर्म करने के लिए हों, उसकी धार मसूर के समान होना चाहिए। केवल कार्य के योग्य शस्त्रों की धार आधे मसूर के बराबर होनी चाहिए। वेधन तथा विस्रावज कर्म करने वाले शस्त्रों की धार केश के बराबर पतली, तथा छेदन कर्म वाले शस्त्रों की धार आधे केश के बराबर की होनी चाहिए। वेडिश और दन्तशकु ये दोनों शस्त्र अपने अग्र भाग पर से कुछ मुड़े हुए होने चाहिए और एषणी तीन प्रकार की होती है: (१) तीक्ष्ण काँटे के समान मुख वाली, (२) जो कि नवीन उत्पन्न हुए पत्र के समान मुख वाली, (३) केंचुए के समान आकार तथा मुख वाली।

शस्त्र पायना[1]—शस्त्रों की कुण्ठित धार को पुनः तेज करना अथवा उनकी धार को फिर से तेज बनाना पायना कहलाता है। इसकी विधि इस प्रकार से है—सर्व प्रथम शस्त्रों को गर्म किया जाता है, फिर क्षार में, जल में अथवा तेल में उसको डुबो देते हैं। अतः इस क्रिया का 'पायना' कहते हैं। क्षार में पायित होने से क्षार पायना, तथा जल में पायित होने से जल-पायना और तेल में पायित होने से तेल पायना। इस प्रकार से विविध पायना

---

१. निवृत्तानांशस्त्राणा तत्क्षणात् द्रव द्रव्येषु निर्वापनं यापना।
सा च तत्तद् द्रव प्रभावात् कर्म विशेषोत्कर्ष करीभवति॥ —हाराणचन्द्रः

मानी जाती है। क्षार पायना पायित शस्त्र को प्रयोग शर शल्य को निकालने तथा अस्थि छेदन के लिए हाता है। जलपायना शस्त्र मांस के छेदन भेदन, पाटनादि कर्म में प्रयुक्त होता है। तेलपायति शस्त्रों का उपयोग स्नायु छेदन, और शिराओं के बन्धन के लिए होता है। ऐलोपैथी में इसको 'Tempering' कहते हैं। कुण्ठित शस्त्रों का पैना करने के लिए उड़द के समान वर्ण वाले काले पत्थर की चिकनी शिला होती है और उस धार को स्थिर करने के लिए 'शाल्मलिफलक' अर्थात् 'नाई का चर्मपट्ट' होता है। शस्त्र की 'निशातनी' को एलोपैथी में—'Whet Stone' कहते हैं और शाल्मलिफलक को एलोपैथी में 'Stropping' कहते हैं।

कर्म योग्य शस्त्र—जब शान पर घिसकर शस्त्र इतना पैना हो जाए कि वह रोम और बालों को बहुत सफाई से काट दे और उसका सुन्दर रूप हो, ठीक प्रकार से पकड़कर उसका प्रयोग करने के योग्य हो वही शस्त्र माना जाता है।

अनुशस्त्र—अनुशस्त्र बाँस की छाल स्फटिक पत्थर, काँच, कुरूविन्द, जोंक, अग्नि, क्षार, नख, गोभी ,शेफालिका का पत्ता, सागीन का पत्ता, शरीर, वाल और अंगुलियां माने जाते हैं।

अनुशस्त्रों की प्रयोग विधि—अनुशस्त्रों का प्रयोग शस्त्रों की भांति ही किया जाता है किन्तु इनका उपयोग कोमल चिकित्सा के रूप में माना गया है अतः इन अनुशस्त्रों का प्रयोग बालकों के लिए, शस्त्र प्रयोग से डरने वाले और शस्त्र के अभाव में किया जाता है। इनसे छेदन तथा भेदन कार्य करने के लिए वक्-सार, स्फटिक-काँच और कुरुविन्द आदि का प्रयोग किया जाता है। आहरण, छेदन-भेदन और अन्य करने योग्य शस्त्र के कर्म करने के लिए नखों का उपयोग किया जाता है। मुख रोग और नेत्र वर्त्मगत रोगों का विस्रावणादि कर्म करने के लिए रोगी, शेफालिका तथा शाक पत्र आदि का प्रयोग किया जाता है एषण कर्म करने के लिए एषणी का प्रयोग करना चाहिए। इसके अभाव में वाल, अंगुलियाँ आदि का उपयोग आवश्यक माना गया है। वृक्ष आदि के अंकुर भी इस विषय में उपयोगी होते हैं। शेष क्षार, अग्नि और जलूका से साध्य रोगों के लिए क्षार अग्नि तथा जोक का प्रयोग करना परम आवश्यक है।

प्रश्न—'योग्या' शब्द का क्या अर्थ है? उसकी विधि आर आवश्यकता को स्पष्ट करें।

उत्तर—"योग्या"[1] शब्द का अर्थ है—भली-भाँति कर्म में अभ्यास करना। शस्त्र आदि के विषय में जो कर्त्तव्य कर्म हैं उनका भली-भाँति प्रशिक्षण प्राप्त करना "योग्या" कहलाता है। इस "योग्या" को एलोपैथी में ऑपरेटिव सर्जरी (Operative Surgery) कहते हैं। मृत शरीर, पुस्त, पत्र, खीरा आदि पर इसका प्रशिक्षण दिया जाता है। सम्पूर्ण शास्त्र को भली-भाँति अध्ययन कर लेने पर भी शिष्य को "योग्या" करानी चाहिये। अर्थात् प्रत्यक्ष कर्म का अभ्यास कराना चाहिए। स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन और छेदन, भेदन, बन्धन, सीवन आदि कर्मों का मार्ग दर्शन करना चाहिए। भली-भाँति बहुत से शस्त्रों को जानने वाला भी यदि छात्र योग्या अर्थात् प्रत्यक्ष कर्माभ्यास से वंचित रहा है तो वह कर्म क्षेत्र में उपयोगी माना जाता है। अतः योग्या की आवश्यकता है। छेदन कर्म की योग्या पुष्प, फल, घिया, लौकी, कद्दू, पेठा, तोरई, खीरा, ककड़ी, तरबूज, खरबूज आदि पर करनी चाहिए। इन्हीं पर ऊर्ध्वच्छेदन, अध-छेदन आदि भी सीखने चाहिए। भेदन कर्म की योग्या के लिए मशक, बस्ती; कर्म निर्मित्त पात्र, रबड़ के ब्लैडर आदि में करनी चाहिए। अथवा इसी प्रकार के अन्य साधन जुटाकर भेदन कर्म का अभ्यास करना कराना चाहिए। लेखन कर्म की योग्या करने के लिए बालों वाले और चौड़े चमड़े के टुकड़ों पर अभ्यास करना चाहिए। वेधन कर्म के लिए मृत प्राणियों को शिराओं तथा कमल नालों पर योग्या अर्थात् प्रशिक्षण कर लेना चाहिए। एषण कर्म की योग्यता प्राप्त करने के लिए घुन के खाए हुए काष्ठ, बाँस. कमल नाल, शिरा, सूची तुम्बा आदि का प्रयोग करना चाहिए। आहरण कर्म के प्रशिक्षण के लिए कटहल, टिंडस, तुण्डी, कुआ, तोरी, विल्वफल की मज्जा, मृत प्राणियों के दाँतों आदि का प्रयोग किया जाना चाहिए। विस्रावण कर्म की योग्या प्राप्त करने के लिए मोम से लिपटे हुए सेमल के फलक का प्रयोग करना चाहिए। सीवन कर्म की योग्यता प्राप्त करने के लिए पतले तथा मोटे दो कपड़ों के प्रान्त भागों, कोमल चमड़े आदि का प्रयोग किया जाना चाहिए। बन्धन कर्म के प्रशिक्षणार्थ वस्त्र या मिट्टी से बनाये हुए पुतलों के अंग और प्रत्यंग का प्रयोग किया जा सकता है। अग्नि कर्म की योग्यता के लिए कोमल से, मांसखण्ड लेने चाहिए। क्षार कर्म के लिए भी यह उचित कर्म की सन्धि बन्धन के लिए कोमल चर्म, मांस-पेशियों तथा कमल का प्रयोग करना चाहिए। वस्ति कर्म अथवा व्रण वस्ति-

१. योग्या सम्यख् कर्माभ्यासः।—आयुर्वेद तत्त्व संदीपिका

कर्म के लिए आजकल के एनिंमा, ड्यूस, जल से भरे घड़े के पार्श्व छिद्र में और तुम्बी के मुख आदि मे नेत्र अर्थात् बस्ति नेत्र या नली का प्रवेश करके प्रशिक्षण लिया जाना चाहिए।

प्रश्न—क्षार की प्रधानता, भेद, गुण-दोष, प्रयोग विधि का वर्णन कर क्षारदग्ध के भेद तथा क्षार कर्म के आरोग्य बताइए।

उत्तर—शस्त्र और अनुशस्त्रों से भी क्षार श्रेष्ठ है, क्योंकि यह अकेला ही छेदन-भेदन और लेखन आदि कर्म भली-भाँति कर सकता है तथा यह तीनों दोषों को भी नष्ट करता है और विशेष क्रियाओं में भी इसका उपयोग होता है, अतः क्षार को सबसे अधिक प्रधानता प्राप्त है। यह क्षार अनेक प्रकार की औषधों की समवाय से तैयार होता है, अतः यह भी दोषनाशक है। यह वर्ण में श्वेत होने के कारण सौम्य माना गया है, फिर भी दहन, पाचन, दारण आदि के सम्बन्ध को शक्ति इसमें विद्यमान रहती है और वह क्षार भी अग्निगुण प्रधान औषधों से तैयार होता है। अतः कटु, तीक्ष्ण, सेष्ण, पाचन, विलयन, शोधन, रोपण, शोषण, स्तम्भन, लेखन गुणों से भरपूर हैं और कृमिरोग, आमदोषद, कफ रोग व अन्य विकार, विष और मेदो वृद्धि का नाशक है। यदि इसको अधिक मात्रा में सेवन किया जाये तो यह पौरुष शक्ति का भी नाश करता है। यह क्षार दो प्रकार का माना गया है—(क) प्रतिसारणीय, (ख) पानीय। प्रतिसारणीय क्षार का प्रयोग कुष्ठ, क्रिटिभ, दद्रु, श्वेतकुष्ठ, भगन्दर, अर्बुद, अर्श, दुष्णवृण, नाड़ी, चर्मकील, तिल कालक न्यच्छ, व्यंग, मशक बाह्य-विद्रधि, कृमि विष में किया जाता है और उपजिह्वा, अधिजिह्वा, उपकुश, दन्तवैदर्भ तथा तीन प्रकार की रोहिणी इन सात प्रकार के मुख रोगों में भी इस क्षार का प्रयोग होता है। इन रोगों में अनुशस्त्रों का प्रयोग करना लिखा है। दूसरा पानीय क्षार गर विष, गुल्म, उदर, रोत, अग्निमान्द्य, अजीर्ण और आरोचक, आनाह, शर्करा, अश्मरी आभ्याकार-विद्रधि कृमिरोग, विष तथा अर्श इन रोगों में प्रयुक्त होता हैं। किन्तु कोई-सा भी, क्षार प्रयोग रक्तपित्त, ज्वरित, पित्तप्रकृति, बालक, वृद्ध, दुर्बल और भ्रमा मद, मूर्च्छा तथा तिमिर रोगों में नहीं किया जाना चाहिये।

प्रतिसारणीय क्षार—यह क्षार तीन प्रकार का होता है—(क) मृदु, (ख) मध्य, (ग) तीक्ष्ण। इस क्षार को शरद् ऋतु मे तैयार करना चाहिए। जिस द्रव्य का क्षार बनाना हो, उसको पर्वतो की ऊंची और पवित्र चोटियों पर से ग्रहण करना चाहिए। वह द्रव्य शीत, उष्ण, वर्षा, हिम, कीट, विष, अग्नि

आदि से नष्ट वीर्य नहीं होना चाहिए और वह द्रव्य मध्य आयु का होना चाहिए। न बालक द्रव्य हो और न वृद्ध द्रव्य हो। उसको किसी अच्छे दिन उखाड़ कर टुकड़े-टुकड़े करके, वायु रहित स्थान पर एकत्र करना चाहिए। उस द्रव्य के कुछ ऊपर और कुछ नीचे को छोटे-छोटे ढेले डाल देने चाहिए। फिर अग्नि लगाकर उसका दहन करना चाहिए। स्नांगशीतल होने पर उस भस्म को एकत्र करके रोड़े, कंकड़ आदि से छाँट करके किसी एक गड्ढे में पात्र में भरकर रख देना चाहिए। इस क्षार को निर्मित करने के लिए मोक्षक, आरग्वध, कुटज, पलाश, विभीतक, पारिभद्र, तिल्वक अर्क, स्नुही, अपामार्ग, पाटल, नक्तमाल, वाषा, केलावृक्ष, चित्रक, अश्वमार, सप्तपर्ण अग्निमन्थ, गुंजा. कोशातकी आदि द्रव्य लिए जाते हैं। इनके मूल, पुष्प, पत्र, शाखा आदि को अग्नि में दग्ध किया जाता है।

क्षार पाक विधि—किसी द्रव्य का क्षार बनाना हो तो उस द्रव्य की भस्म एक द्रोण अर्थात् तेरह से लेकर छह द्रोण अर्थात् अठहत्तर सेर जल में घोल देना चाहिए। अथवा गोमूत्र में घोल देना चाहिए। इस विधि से घोलकर उसको इक्कीस बार छान लेना चाहिए। फिर एक बड़े कढ़ाहे में डालकर चूल्हे पर चढ़ाकर शनैः-शनैः कड़छी से हिलाता हुआ उसका पाचन करें। पकने पर जब वह साफ, श्वेत, किंचित रक्तवर्ण तीक्ष्ण और पिच्छिल अर्थात् चिपकने वाले हो जायँ तो उसको एक बड़े कपड़े म से छान लेना चाहिए और फिर अन्य पात्र में भर करके अग्नि पर पकाएँ, किन्तु इनमें से लगभग आधा सेर क्षार जल पहले निकालकर अलग रख लें और उस आधा सेर क्षार जल में चूना जल की शुक्ति, शंक की नाभि आदि को अग्नि में लाल वर्ण का तपा-तपा कर बुझाते जाना चाहिए और उसी क्षार जल से उसे चटनी जैसा पीसकर चूल्हे पर पकते हुए क्षार जल में मिला देना चाहिए। इसका प्रमाण बत्तीस सेर क्षार जल में आठ पल माना गया है। इसके बाद उसे सावधानी से तथा कड़छी से चलाता हुआ पकाएँ। जब वह न तो अधिक गाड़ा और न अधिक पतला, ऐसा हो जाए तब उसको चूल्हे से उतार लेना चाहिए और छोटे मुख वाले लोहे के पलड़े में भरकर रख देना चाहिए। यह विधि मध्यम क्षार पाक की है। यदि मृदु क्षार पकाना हो तो शंख, नाभि आदि का प्रतिवाप जो ऊपर लिखा गया है, उसको न डालें।

प्रतिवाप द्रव्य—क्षार पाक के समय उसमें जिन-जिन द्रव्यों का प्रतिवाप डालना चाहिए, वे इस प्रकार हैं—दन्ती, द्रवन्ती चित्रक, लांगली, पूतिकरंज,

प्रवाल, तालपत्री, विडलवण, सज्जीक्षार, सत्यानाशी अथवा पीले पुष्प का धत्तूर, हींग, वच, अतीस। इनका सम्भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके दो तोले के प्रमाण में क्षार जल में डालकर पकाने से वह क्षार 'तीक्ष्ण क्षार' बन जाता है। इन तीन प्रकार के क्षारों का यथाव्याधि और यथावत् प्रयोग किया जाना चाहिए। यदि क्षार, पड़े रहने से अथवा बहुत दिनों का हो जाने से, अथवा पुराना होने से क्षीण बल हो गया तो, उसकी शक्ति को पुनर्जीवित करने के लिए उसमें और नया क्षार जल डालकर पाचन करना चाहिए।

क्षार के गुण—क्षार में आठ गुण माने जाते हैं। जैसे न अधिक तीक्ष्ण, न अधिक मृदु, शुक्ल, कोमल, चिकना, फैलने वाला न हो, सौम्य तथा शीघ्र प्रभाव करने वाला हो।

क्षार के दोष—जो क्षार अधिक कोमल, अधिक श्वेत, अधिक उष्ण, अधिक तीक्ष्ण, अधिक पिच्छिल, अधिक प्रसरणशील, अधिक गाढ़ा, अपूर्व पक्व, और द्रव्य से हीन अथवा हीन द्रव्य वाला होता है वह निकृष्ट क्षार माना जाता है। इन दोषों से युक्त क्षार कभी भी लाभ नहीं पहुँचाता।

क्षार की प्रयोगविधि—क्षार के प्रयोग से सिद्ध होने वाली व्याधि से पीड़ित रोगी को वायु रहित तथा अन्य बाधाओं से रहित स्थान पर बैठा करके और उसके लिए उपयोगी सभी प्रबन्ध करके उस रोगी के उस स्थान का भली भाँति परीक्षण करना चाहिए, जिस पर क्षार का उपयोग किया जाना हो। इस स्थान को सामान्य रूप से घर्षण करके अर्थात् वात दोष की प्रधानता वाले रोग में लेखन कर्म करके, पित्त प्रधान रोग वाले स्थान का घर्षण करके, और कफ से दूषित स्थान को नस्तर लगाकर, सावधानी से शलाका यन्त्र के द्वारा क्षार लगा देना चाहिए और सौ तक गिनने तक उस स्थान पर वह क्षार लगा रहना चाहिए। उस समय क्षार के प्रयोग से यदि रोग नष्ट हो गया होगा तो उस स्थान का वर्ण काला पड़ जायगा। यह क्षार दग्ध का लक्षण है। बाद में उस स्थान पर कोई-सा अम्ल पदार्थ, घी और शहद मिलाकर अथवा घी और मुलहटी मिलाकर लेप कर देने से, दाह, पीड़ा आदि कष्ट दूर हो जाते हैं और यदि रोग की जड़ बहुत अधिक दृढ़, अधिक गहरी होने से क्षार दग्ध ठीक प्रकार से न हो पा रहा हो तो उस अवस्था में काँजी की तलछट, तिल तथा मुलहटी इन सबको सम भाग लेकर पीसकर क्षारदग्ध स्थान पर लेप कर दें। इस लेप से

ार दग्ध कट जाएगा और वहाँ व्रण बन जायगा, फिर वहाँ पर तिलों का ल्क मधुयष्टी तथा घृत से संयुक्त करके लेप कर देने से उस क्षारदग्ध व्रण का क प्रकार से रोपण कार्य हो जाता है।

तीक्ष्ण, उष्ण तथा आग्नेय अम्ल द्रव्य से क्षार कैसे शान्त हो जाता है? हाँ पर शंका इस बात की होती है कि क्षार तीक्ष्ण, उष्ण तथा अग्नि गुण धर्म ाला द्रव्य है। अतः क्षार का दग्ध व्रण उसी के सदृश उष्ण, तीक्ष्ण और अग्नि ण धर्म स्वभाव वाले अम्ल द्रव्य से कैसे शान्त हो सकता है। इसका उत्तर ह है कि क्षार में अम्ल रस को छोड़कर शेष सभी रस होते हैं। अतः क्षार के ग्ध में अम्ल रस का सम्बन्ध होते ही दाह, पीड़ा आदि शान्त हो जाते हैं। योंकि क्षार तीक्ष्ण लवण रस अम्ल के साथ मिलते ही मधुर रस बन जाता , अत: मधुरता के ही उत्पन्न हो जाने से क्षारदग्ध व्रण के कष्ट शान्त हो जाते । जैसे जल से अधिक अग्नि का उपशम हो जाता है।

क्षार दग्ध के भेद और लक्षण—क्षार दग्ध तीन प्रकार का माना गया : (क) सम्यग्दग्ध, (ख) हीनदग्ध, (ग) अतिदग्ध। सम्यग्दग्ध में विकार की ाान्ति. अवयवों में हलकापन और स्राव का बन्ध होना माना गया है। हीन ग्ध में सुई चुभने की-सी वेदना, खुजली तथा अंगों की जडता अर्थात् शून्यता ा लक्षण माने गये हैं। इसी प्रकार से क्षार दग्ध में दाहपाक, राग, स्राव, अंगों ो ऐंठन वलम, तृष्णा, मूर्छा और मृत्यु हो जाये तो समझना चाहिए कि अति दग्ध' हुआ है। इन सबका उपचार दोष एवं व्याधि के अनुसार किया ाना चाहिए।

क्षार कर्म के अयोग्य कौन हैं—निम्नलिखित रोगी क्षारकर्म के लिए योग्य हीं माने गए, अतः इनकी चिकित्सा में क्षार का प्रयोग वर्जित है—बलहीन, ालक, वृद्ध, भीरू, सर्वांग शोथ वाला, उदर रोगी, रक्तासक्त गर्भिणी, रजस्वला ारी, तीव्र ज्वर वेग वाला, प्रमेह रोगी, उरथित का रोगी, क्षीणतृष्णा तथा ूर्च्छा से पीड़ित, नपुंसक, गर्भाशय का भ्रंश इनमें कभी भी क्षार का प्रयोग हीं किया जाता। इनके अतिरिक्त अर्श शिरा, स्नायु सन्धि, तरुणास्थि सेवनी, मनी, गला, नाभि, नख, अन्तः शेफ अर्थात् लिंग के भीतर, स्रोत, अल्प मांस ाले स्थान तथा वर्त्म को छोड़कर नेत्रों के सम्पूर्ण रोगों में क्षार को प्रयोग नहीं रना चाहिए। क्षार से साध्य होने वाले रोगों में भी शोथ युक्त, अस्थि में शूल ुक्त, अन्नद्वेषी, हृदय तथा सन्धि में जिसके पीड़ा होती हो ऐसे सभी प्रकार के लोगों को क्षार से लाभ नहीं होता।

मूर्ख[1] व्यक्ति द्वारा क्षार का प्रयोग कैसा होता है ?—यदि मूर्ख वैद्य अथ अल्प बुद्धि वाला अथवा कम पढ़ा-लिखा व्यक्ति क्षार का प्रयोग करता है वह क्षार विष, अग्नि शस्त्र और वज्र के समान मृत्यु को करने वाला मा जाता है। किन्तु उसी क्षार को जब बुद्धिमान चिकित्सक प्रयुक्त करता है तुरन्त ही भयंकर रोगों का विनाश कर देता है।

प्रश्न—अग्नि कर्म की श्रेष्ठता, साधन भेद लक्षण सहित लिखें।

उत्तर—शल्य शास्त्रियों ने क्षार से भी उत्तम अग्नि को माना है। क्यों अग्नि के द्वारा दग्ध किए रोगों का पुनः प्रादुर्भाव ही नहीं होता है और दू यह कि औषधि, शस्त्र और क्षार कर्म के द्वारा भी जिन रोगों का विनाश न किया जा सकता उनका भी विनाश इस अग्नि कर्म द्वारा किया जा सकता अतः अग्नि कर्म ही सर्वश्रेष्ठ है।

अग्निकर्म के साधन—अग्नि द्वारा दहन कर्म करने के लिए पीपली, बक की मींगनी, गौ का दाँत, शर, शलाका, जाम्बवौष्ठ, सन्धि और अस्थि ग शील रोगों के दहन कार्य के लिए शहद, गुड़, घृत, तैल आदि। त्वचा में प्रा रोगों के दहन कर्म के लिए पीपल, बकरी की मींगनी, गोदन्त, शर और शला का प्रयोग करना चाहिए। मांस गत रोगों के अग्नि कर्म के लिए जाम्बवो सोना-चाँदी, ताँबा आदि धातुओं का प्रयोग किया जाता है। किन्तु शिरा स्ना सन्धि और अस्थिगत रोगों के दहन कार्य के लिए शहद, गुड़ और स्नेह प्रयो करना चाहिए।

अग्निकर्म की विधि—अग्निकर्म शरद और ग्रीष्म ऋतु में नहीं कर चाहिए। यदि किसी प्राणघातक रोग अथवा विकार की उपस्थिति हो तो ऋतुओं में भी अग्निकर्म किया जा सकता है। किन्तु ऋतु प्रत्यनीक अव तथा आहार एवं विहार आदि का पूर्ण प्रबन्ध करके किया जाना चाहिए। भी ध्यान रहे कि यह रोग अग्निकर्म से साध्य हो सकता हो तो किया ज अन्यथा नहीं। शेष सभी ऋतुओं में अग्निकर्म करना हितकारी और योग्य है अतः सभी ऋतुओं में और व्याधियों में अग्निकर्म करने के समय रोगी

---

१. विषाग्नि शस्त्राशनिमृत्युकल्पः क्षारो भवत्यल्प मति प्रयुक्तः।
स धीमता सम्यगनु प्रयुक्तो रोगान्निहन्यादचिरेण घोरान् ॥१॥
—सु० सू० अ०

पिच्छिल भोजन करा देना चाहिए। किन्तु अश्मरी, भंगन्दर, अर्श और मुख रोगों में विना भोजन किए हुए रोगी पर अग्निकर्म किया जाना चाहिए।

अग्निकर्म के भेद—विद्वानों के मत के अनुसार त्वदग्दग्ध और मांस-दग्ध इस प्रकार दो भेद अग्निकर्म के होते हैं। परन्तु धन्वन्तरि के सम्प्रदाय के अनुसार शिरादग्ध, स्नायुदग्ध, संन्दिग्ध और अस्थिदग्ध भी अग्निकर्म के उचित भेद माने गए हैं। अर्थात् इनमें भी अग्निकर्म किया जाता है। त्वग्दग्ध में शब्द की उत्पत्ति, दुर्गन्धि, त्वचा का सिकुड़ना ये लक्षण पाये जाते हैं। मांसदग्ध में कपोत का-सा वर्ण होना, थोडा शोथ, थाड़ी वेदना, व्रण का सूखकर सिकुड-जाना ये लक्षण पाए जाते हैं। शिरादग्ध और स्नायुदग्ध में व्रण में कालापन और ऊँचाई होना और स्राव का रुक जाना ये लक्षण माने गए हैं। सन्दिग्ध और अस्थिदग्ध में रुक्षता, अरुणता, कठोरता स्थिरता के लक्षण पाये जाते हैं।

रोगानुसार अग्निकर्म के लिए स्थान निर्देश—शिरोरोग और अधिमन्थ रोग में भृकुटी, मस्तक और शंख प्रदेश में दहन कार्य किया जाता है। वर्त्म के रोगों में दृष्टि को गीले कपड़ से ढककर वर्म के रोम कूपों अथवा बालों की जड़ में अग्निदग्ध किया जाता है।

अग्निकर्म के लिए विशेष रोग आदि का वर्णन—त्वचा, मांस, शिरा, स्नायु सन्धि और अस्थि में प्राप्त वायु की तीव्र वेदना और जिस व्रण में मांस उभरकर बाहर को आ गया हो कठोरता, शून्यता आदि हो गए हों तथा ग्रन्थि, अर्दुद, स्लीपद, अपची, भगन्दर, अर्श, चर्मकील, तिलकालक, आन्त्रवृद्धि सन्धिगत रोग शिराओं के कट जाने पर, नाड़ीव्रण और रक्त के अधि प्रवाहित होने पर अग्निकर्म अवश्य लाभदायक होता है।

अग्निकर्म के प्रकार भेद नामोल्लेखन पूर्वक—अग्निकर्म के चार प्रकार अथवा स्वरूप माने गये हैं। इसमें (क) वलय, (ख) बिन्दु (ग) विलेखा (घ) प्रतिसारण अर्थात् किसी तप्त पदार्थ से रगड़ना, ये चार दहन प्रकार माने जाते हैं। ये सभी अग्निकर्म के प्रकार रोगानुसार किए जात हैं। योग और दोष का समय अर्थात् ऋतु, ममस्थान बलाबल और रोग के स्थान आदि का भली-भाँति निरीक्षण करके विचारपूर्वक अग्निकर्म यथाविधि किया जाना चाहिए

१. रोगस्य संस्थान भवेक्ष्य सम्यङ् नरस्य मर्माणिबलाबल च।
व्यार्तिथतुंच समीक्ष्य सम्यक्तनी व्यवस्येदूभिषगग्निकर्म।
—सु० सू० अ० १२

अग्निकर्म में यदि सम्यग्दग्ध के लक्षण हों तो शहद तथा घी मिला करके प्रलेप किया जाना चाहिए।

अग्निकर्म के लिए निषिद्ध रोगी—निम्नलिखित रोगियों में अग्निकर्म का प्रयोग नहीं करना चाहिए। पित्त प्रकृति वाला, रक्तपित्ती, अतिसारयुक्त, दुर्बल, बालक, वृद्ध, भीरु, विविध व्रणों से आक्रान्त, और स्वेदकर्म के लिए निषिद्ध रोगी।

प्रमाददग्ध के लक्षण—अग्नि किसी स्निग्ध वस्तु और रुक्ष पदार्थ को ही जलाया करती है अतः अग्नि से बहुत गर्म किया हुआ तेलादि स्नेह द्रव्य सूक्ष्म शिराओं में प्रवेश करके वहाँ से पूर्व त्वचा, मांस, आदि को शीघ्र ही जला डालता है। अतः स्नेह से दग्ध हुए में अधिक पीड़ा होती है।

प्रश्न—अग्निदग्ध के भेदों का विस्तृत वर्णन कीजिए और चिकित्सा लिखिए। धूमोपहत के लक्षण और चिकित्सा का वर्णन लिखिए।

उत्तर—अग्निदग्ध चार प्रकार का माना गया है—(क) प्लुष्ट (ख) दुर्दग्ध (ग) सम्यदग्ध (घ) अतिदग्ध। जिसमें त्वचा का वर्ण जल जाने से भद्दा हो जाए और झुलसना भी पाया जाए उसको 'प्लुष्ट' कहते हैं। जिसमें दग्ध होने में भयंकर छाले पड़ जाएँ तथा दाह, रोग, पाक, वेदना और चूसने जैसी वदना होती हो वह दुर्दग्ध माना जाता है। यह दग्ध बहुत समय लेकर शान्त हो जाता है। जिसमें दग्ध व्रण नीचा न हो उसका वर्ण ताड़ के फल जैसा हो, समान हो, त्वचा, मांस, शिरा, स्नायु के दग्ध लक्षणों से युक्त हो तो उसको 'सम्यदग्ध' कहते है और जिसमे दग्ध हो जाने से मांस के खण्ड लटकने लगें, शारीरिक अंगों तथा सन्धियों का विघटन हो गया हो, शिरा, स्नायु, अस्थि का विशेष विनाश हो गया हो, रोगी मे ज्वर, दाह, तृष्णा मूर्च्छा आदि उपद्रव उत्पन्न हो गये हों, और व्रण का रोपण चिरकाल में हो पाता हो तथा व्रण स्थान विकृत रूप वाला हो गया हो तो वह "अति दग्ध" माना गया है।

अग्निदग्ध की चिकित्सा—'प्लुष्ट' में पुनः अग्नि से ही सेकना लाभदायक होता है। ऊपर से लगाने वाली औषधें तथा भीतर से पीने आदि के रूप में दी जाने वाली औषधें भी उष्ण ही होनी चाहिए। दग्ध के कारण शरीर स्विन्न हो जाता है। अतः रक्त भी स्विन्न हो जाता है तो उस दशा में शीतल उपचार जल आदि का सम्बन्ध भी उचित नहीं माना गया है। क्योंकि उससे रक्त गाढ़ा होकर जम जाता है। अतः सर्वदा ही यहाँ पर उष्ण जल का

अथवा अन्य उष्णोपचार का ही प्रयोग करना चाहिए न कि शीतल जल अथवा शीतलोपचार आदि का। "दुर्दग्ध" में शीतल और उष्ण दोनों ही प्रकार की चिकित्सा की जाती है। घृत, आलेपन तथा सेक आदि सभी शीतल ही होने चाहिए।

"सम्यदग्ध" में वंशलोचन, पिलखन, लाल चन्दन, सोनागेरू तथा गिलोय इन सबका समान भाग लेकर घोंट-पीसकर घी मिलाकर लेप करना चाहिए। ग्राम्य पशुओं के मांस, आनूप और जलीय माँसों के द्वारा भी इसका उपचार किया जाना चाहिए। यदि इसमें लगातार जलन रहती हो तो पैत्तिक विद्रधि चिकित्सा विधि करनी चाहिए।

"अति दग्ध" में कटे, फटे और लटकते हुए मांस के टुकड़ों को काटकर साफकर देना चाहिए और फिर शीतल चिकित्सा विधि की जानी चाहिए। फिर चावलों का आटा अथवा तेंदु की छाल के क्वाथ में घृत मिलाकर प्रलेप करना चाहिए। उस व्रण को गिलोय के अथवा कमल के पत्तों से ढँककर रखना चाहिए और शेष चिकित्सा कर्मपित्तज विसर्प रोग के अनुसार की जानी चाहिए। सम्पूर्ण प्रकार के अग्निदग्धों के रोपण कर्म के लिए, मोम, मुलहटी, लोध, राज, मजीठ, लाल चन्दन, और मूर्वा जल के साथ पत्थर पर घिसकर कल्क जैसा बनाकर इस कल्क से चौगुना घृत तथा घृत से चौगुना पानी मिला कर घृत शेष कर-लें। यह रोपण घृत है। किन्तु तेल और घृत आदि से दग्ध की विशेष रूप से रुक्ष क्रिया करनी चाहिए। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से 'दग्ध' से मूर्छित रोगी को गर्म कमरे में रखना तथा कम्बल, लोई आदि गर्म कपड़ों में लपेटकर या ढककर रखना तथा उष्ण, उत्तेजक एवं हृदय के लिए हितकारी पदार्थ पीने के लिए देने चाहिए। दग्ध अंग को बोरिक एसिड के विलयन में रखना चाहिए। अथवा विलयन में भीगे हुए वस्त्र को दग्ध स्थान पर रखना चाहिए। सड़े-गले मांस को अलग करके 'केलोमीना प्रिपरेटा' मलहम लगाना चाहिए।

धूमोपहित के लक्षण तथा चिकित्सा—श्वास लेने में दिक्कत होना, छींक का बारम्बार आना, पेट में आध्यमान खाँसी होना, आँखों में जलन एवं लालिमा होना और श्वास में धुआँ निकलना, श्वास में धूम की गन्ध आना, अन्य किसी भी पदार्थ का ज्ञान न होना, ये लक्षण धूमोपहत में पाए जाते हैं। इसमें रस ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। सुनने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है। तृष्णा, दाह

तथा ज्वर से पीड़ित होकर रोगी का दुर्बल हो जाना पाया जाता है। मूर्च्छा भी होती है। एलोपैथी में धूमोपहत को Asphyxiation कहा गया है। धुएँ की कार्बन डाइऑक्साइड आदि गैसें फेफड़ों में भर जाने से शुद्ध वायु का भीतर प्रवेश नहीं हो पाता। अत: रक्तशुद्धि भी नहीं हो पाती। अत: दूषित गैसें रक्त में मिल जाती हैं, और फिर उससे श्वास केन्द्र प्रभावित होता है। अत: श्वास-कृच्छता, आक्षेपण तथा अवसाद दो-तीन दशाएँ क्रमश: उत्पन्न होकर अन्त में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

धूमोपहत की चिकित्सा में सर्वप्रथम रोगी को वमन कराना चाहिए और उसको घृत, गन्ने का रस, द्राक्षा, दूध, शक्कर का शर्बत, मधुर तथा अम्लरस इनको मिलाकर पिलाना चाहिए। यह वमन क्रिया कोष्ठ की शुद्धि करने के लिए परम आवश्यक है। कोष्ठ में से अथवा भीतर प्रविष्ट धूम की गन्ध भी इसमें नष्ट हो जाती है तथा अंग की ग्लानि, छींक और ज्वर की शान्ति भी इससे हो जाती है। दाह, मूर्च्छा, तृष्णा, आध्यमान, भयंकर श्वास तथा कास रोग भी नष्ट हो जाते हैं। मधुर लवण अम्ल तथा कटु रस प्रधान द्रव्यों के स्वरस अथवा क्वाथ के द्वारा कवलग्रह करने से वह मानव शब्द, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषयों को भली-भाँति ग्रहण करने लग जाता है। मन में भी निर्मलता आ जाती है। वमन के अनन्तर शिराविरोचन क्रिया करनी चाहिए। इससे रोगी की दृष्टि, सिर और गला भी शुद्ध हो जाता है। इसके अनन्तर रोगी को लघु, स्निग्ध तथा दाह उत्पन्न करने वाला आहार देना चाहिए। एलोपैथी के अनुसार धूमोपहत की चिकित्सा में रोगी को खुली वायु में लिटा देना चाहिए। गले और छाती के कपड़ों को हटा देना चाहिए। छाती, मुख और सिर पर शीतल जल का सेवन करना चाहिए। चीमटी से जीभ को पकड़कर बार-बार थोड़े-थोड़े समय बाद खींचते रहना चाहिए और सूँघने के लिए "ऑक्सीजन" दिया जाना चाहिए। होश में लाने के लिए अमोनिया गैस का प्रयोग किया जाना चाहिए। यदि रोगी की दशा सांघातिक हो तो शिरावेध के द्वारा चालीस से लेकर अस्सी तोले तक, यथावश्यक रक्त निकाल देना चाहिए और जितना रक्त निकालें, शिरा द्वारा उतना ही 'नार्मल सेलाइन' का प्रवेश करा देना चाहिए। हृदय की रक्षा के लिए 'टिंचर नक्सवोमिका', 'कोरामीन' आदि का प्रयोग लाभकारी माना गया है। हाथ-पैरों पर गर्म पानी की थैलियाँ रखनी चाहिए। कृत्रिम श्वास-क्रिया का प्रयोग करना चाहिए।

लू लगने, धूप लगने तथा शीत, वर्षा और वाय्र दग्ध की चिकित्सा

विधि—लू और धूप से दग्ध की शीतल चिकित्सा की जानी चाहिए। शीत, वर्षा और वायु से दग्ध के लिए स्निग्ध और उष्ण उपचार किया जाना चाहिए। इन्द्र वज्र और विद्युत्पात से दग्ध रोगी की चिकित्सा नहीं हो सकती। क्योंकि इनका प्रभाव तत्काल मृत्युकारक होता है। किन्तु इनसे दग्ध रोगी यदि जीवित हो अथवा थोड़ी-बहुत चेतना में हो तो शीघ्र ही स्नेह, अभ्यंग, परिषेक और प्रदेह आदि के द्वारा उसका तत्काल उपचार किया जाना चाहिए।

प्रश्न—जलौंका प्रयोग किनके लिए हितकारी होता है ? जलौंका के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी देते हुए उसके प्रयोग का विधान लिखिए।

उत्तर—राजा, धनवान, बालक, वृद्ध, भीरू, दुर्बल, नारी, सुकुमार आदि व्यक्तियों के लिए रक्त मोक्षण का यह परम सुकुमार उपाय माना है। वात दूषित रक्तावसेंचन के लिए श्रृंगी लगाना चाहिए। पित्त दूषित रक्त के अव-सेंचन के निमित्त जलौंका का प्रयोग किया जाना चाहिए और कफ से दूषित रक्त निकालने के लिए अलाबू का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि तीनों प्रकार दूषित रक्तों में क्रमशः स्निग्धता, शीतलता और रूक्षता का गुण आ जाने से दोष शमन होता है अथवा इन सभी दोषों को दूर करने के लिए इन सभी उपायों का अवलम्बन किया जाना चाहिए। सिंगी उष्ण वीर्य तथा मधुर रस युक्त होने से स्निग्ध माना गया है। अतः वात दूषित रक्त में यह लाभदायक है। जलौंका पानी में रहने के कारण मधुर एवं शीतल होती है अतः पित्त से दूषित रक्त का निर्हरण करने में उचित लाभकारी होती है। तुम्बी कटु रस युक्त रूक्ष और तीक्ष्ण होती है अतः कफ दूषित रक्त को निकालने में लाभकारी है। सर्वप्रथम जिस स्थान से रक्त निकालना हो उस स्थान पर प्रच्छन करके, कपड़े अथवा रस्सी से बाँधकर सींगों में रखकर मुँह के द्वारा आचूषण किया जाता है अथवा तुम्बी में दीपक रखकर भीतर जलाकर, उस तुम्बी को फिर दूषित स्थान पर ओंधी रखकर रक्त का अवसेंचन करना चाहिए।

जलौंकाओं का वर्णन—जलौंकाएँ संख्या में बारह मानी गई हैं। इनमें से छह सविष और छह ही निर्विष मानी गई हैं। सविष जलौंका में कृष्णा, कबूरा, अलागर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका और गोचन्दना। इनमें काले सुरमे के समान वर्ण वाली और मोटे सिर वाली कृष्णा होती है। वर्मा की मछली के समान चौड़ी, विभक्त और ऊँचे पेट वाली कबूरा होती है। बालों वाली और बड़े-बड़े पार्श्व भाग वाली तथा काले मुँह की अलग होती है। इन्द्रधनुष के समान ऊपर को रेखाओं से चित्रित इन्द्रायुधानाम की होती है। कुछ काली

और पीत वर्ण की विचित्र पुष्पों की-सी आकृति वाली अर्थात् चितकवरी सामुद्रिका होती हैं। साँड़ के अांड़ों की भांति निचले भाग में दो भागों में विभक्त आकृति वाली और छोटे मुख वाली चन्दना नाम की होती है। इन जलौकाओं के दंष्ट करने पर दंश स्थान पर शोथ, बहुत अधिक खुजली, मूर्च्छा, ज्वर, दाह, वमन, नशा तथा थकावट के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। अत: इनकी चिकित्सा विधि में अगद-तन्त्र में निर्दिष्ट "महागद" नामक योग पान, नस्य आलेपन आदि के रूप में प्रयुक्त किया जाना चाहिए। इन्द्रायुधा का काटा हुआ असाध्य माना गया है। निर्विष जलौंकाएँ छह मानी गई हैं—कपिला, पिंगला, शकुमुखी, मूषिका, पुण्डरीक मुखी और सावरिका। इनमें मैनशिल के वर्ण के समान रंगीन दोनों ही पार्श्व भाग वाली, और पृष्ठ भाग पर चिकने मूँगिया रंग की कपिला मानी गई है। कुछ भाग रंग की गोल शरीर वाली, पिंगल वर्ण की और तेज चलने वाली पिंगला होती है। यकृत के समान वर्णवाली, जल्दी जल्दी रक्त को पीने वाली, लम्बे पैने मुख वाली शकुमुखी होती है। चूहे की-सी आकृति वाली और उसी के वण वाली तथा असह्य दुर्गन्ध वाली मूषिका नाम की होती है। मूँगिया रंग के कमल के पत्र के समान मुख वाली पुण्डरीक मुखी जलौंका होती है। चिकनी, कमल पत्र के ही समान रग वाली. अठारह अंगुल प्रमाण वाली सावरिका कहलाती है। इनका प्रयोग पशु के दूषित रक्त निकालने के लिए किया जाता है। इनमें से सविष जलौंकाएँ जहरीली मछली, कीड़े, मेंढक, मूत्र पुरीष आदि के सड़ने से उत्पन्न होती हैं। इनकी उत्पत्ति मैले जल में होती है और कमलों के सड़ने से उत्पन्न होने वाली जलौंकाएँ तथा निर्मल जल में रहने वाली निर्विष मानी जाती हैं। इन जलौंकाओं को गीले चमड़े, वस्त्र तथा अन्य उचित उपायों से पकड़ना चाहिए।

जलौंका पालन विधि—इन जलौंकाओं को नवीन, बड़े भारी मटके में तालाब के कीचड़ और जल आदि डालकर उसमें रखना चाहिए और इनके खाने के लिए शैवाल, सूखा मांस और जल में उत्पन्न होने वाले कन्द जैसे कसेरू, सिंघाड़े आदि का चूर्ण डालकर और इनकी खाट बनाने के लिए कमल आदि के पत्ते डालने चाहिए और तीन-तीन दिन के अन्दर उस बड़े मटके का पानी और खाद्य वस्तु भी बदल लेना चाहिए और सात-सात दिन के अनन्तर सम्पूर्ण रूप से सारा मटका ही बदल देना चाहिए। यह जलौंका पालन विधि है।

अयोग्य जलौंकाओं के लक्षण—जो जलौंकाएं बीच में से मोटी, शेष भागों ी ओर से पतली, चपटी और मन्द गति से सरकने वाली, रोगी के अंग को न कड़ने वाली, अल्प मात्रा में रक्त पीने और विषैली, ये सब जलौंकाएँ अच्छी हीं मानी गई हैं।

जलौंका प्रयोग विधि—जलौंका के द्वारा रक्तावसेंचन योग्य रोगी को बैठा र अथवा लिटाकर, उस अंग को मिट्टी या उपले के चूरे से रगड़-रगड़ र रूक्ष बनाना चाहिए जिस पर कि जलौंका को लगाना हो। किन्तु वह थान वेदनारहित होगा, तभी यह कार्य हो सकेगा अन्यथा नहीं। अतः वेदना ले स्थान पर गोमय आदि से रूक्ष नहीं किया जाना चाहिए, वहाँ पर वैसे ही लौंका को चिपका देना चाहिए। फिर जलौंका को सरसों और हल्दी के कल्क प्रलेप करके, जल के पात्र में थोड़ी देर तक के लिए रख छोड़ें। जब वह कावट, ग्लानि आदि से रहित जान पड़े, तब उसको रोग वाले स्थान पर गाना चाहिए और जब वह पकड़ ले तब उसके ऊपर कोमल, श्वेत और गीला चु अथवा प्रोत से ढक देना चाहिए। केवल उसका मुख बाहर रहने दिया ाए। यदि जलौंका रोगी के स्थान को पकड़े ही नहीं तो उस स्थान पर दुग्ध थवा रक्त की कुछ बूँदें टपकाकर फिर जलौंका को लगाने का प्रयास करें। स्त्र के प्रच्छान करके भी जलौंका को चिपकाया जा सकता है। इतना रने पर भी यदि वह जलौंका न पकड़े तो उसे हटा देना चाहिए और दूसरी लगाने का प्रयत्न करें। जब जलौंका घोड़े के खुर के समान अपना मुख नाकर और अपने कन्धों को ऊँचा उठाकर रोगी के रोग वाले स्थान पर कड़ ले और रक्त पीने लगे तो समझ लेना चाहिए कि वह रक्त को ग्रहण कर ही है, तब उसको गीले कपड़े से ढककर कुछ पानी भी उस पर छिड़क देना हिए। जब दंश स्थान पर सुई चुभने जैसी वेदना, खुजली आदि का अनुभव ने लगे तो समझ लेना चाहिए कि वह अब विशुद्ध रक्त को ग्रहण करने लगी । अतः उसको उस स्थान पर से हटा देना चाहिए, यदि रक्त की गन्ध के रण वह न छोड़ती हो तो उसके मुख पर सैन्धव लवण को छिड़क देने से वह श्य छोड़ देती है।

जलौंका द्वारा रक्त निकालने की विधि—जिस जलौंका ने विधिवत् रोगी रोग युक्त स्थान का रक्त चूस लिया है, अब उसके पेट में से उस रक्त को काल देना चाहिए। इसको निकालने की विधि यह है कि जलौंका को पकड़ उसके शरीर पर चावलों का चूरा और उसके मुख पर सैन्धव लवण मसल

कर वाएँ हाथ के अँगूठे और अगुली से उसकी पूँछ पकड़कर, दाहिने हाथ अँगूठे और अंगुली से धीरे-धीरे जलौंका के मुख से लेकर पूँछ तक अनुलो रूप से निचोड़ देना चाहिए। इस विधि से तब तक वमन कराते जाना चाहि जब तक कि जलौंका में सम्यग्वान्त के लक्षण प्रकट न हो जाएँ। सम्यग्वान जलौंका का यह लक्षण है कि उसको एक जल के पात्र में रखने पर वह कु खाने की अभिलाषा से पानी में इधर-उधर घूमने लगती है, और जो सम्यग्वान नहीं होगी वह जलौंका जलपात्र की तली में ही बैठ जायगी, कोई भी चेष्ट नहीं करेगी, अतः वह दुर्वान्त कहलाती है। उसको पुनः निचोड़ना चाहिए। यां इसको ठीक से वमन न कराया गया तो उसे "इन्द्रमद" नामक रोग उत्पन्न हो जाता है। इन्द्रमद के लक्षण यही हैं कि जलौंका पानी में नीचे बैठ जाती है कोई भी चेष्टा नहीं करती, न कुछ खाती है।

जलौंका कृत व्रण का उपचार—रक्त का योग अर्थात् सम्यक स्राव औ अयोग अर्थात् हीनयोग, अतियोग, और मिथ्यायोग का भली-भाँति विचार करके तदनुकूल शतधौत घी का अभ्यंग करना चाहिए अथवा शतधौत घृत में पि डुबोकर जलौंका द्वारा कृत व्रणों पर रखना चाहिए अथवा जलौंका के व्रणों का उपचार मधु से संघर्षण करके फिर शीतल जल से सेंचन करना चाहिए। अथवा व्रणों पर यह पट्ट बन्धन करना चाहिए। अथवा कषाय, मधुर स्निग्ध औ शीतल पदार्थों का प्रलेप कर देना चाहिए।

प्रश्न—व्रण बन्धन का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उत्तर— व्रण को पट्टी आदि से बाँधना 'व्रण बन्धन' कहलाता है। इस व्र बन्धन से व्रण का शोधन, रोपण और अस्थि तथा सन्धियों की स्थिरता हो जाती है। व्रण बन्धन के द्रव्य इस प्रकार हैं– अलसी अथवा शण से बना हुअ कपड़ा रुई, भेड की ऊन अथवा उससे बना हुआ कपड़ा, पट्टी का कपड़ अथवा पट्टी ही, रेशम, पत्ते, ऊन, चीनी मिट्टी, चमड़ा, भोजपत्र, वृक्षों के भीतर की छाल, तुम्बी का टुकड़ा, अथवा तुम्बी और टुकड़ा दोनों अलग-अल बेल, अर्थात् लता, बांस की खपच्चियाँ, रस्सी, तूल, फल, मलाई, सोना, चांदी ताँबा, लोहा आदि। रोग और काल का विचार करके इन सभी का प्रयोग किया जाता है।

व्रण बन्धनों के नाम-निर्देश पूर्वक वर्णन—व्रण के बन्धन चौदह माने ग हैं—कोश, दाम, स्वस्तिक अनुवेल्लित, प्रतोली, मण्डल, स्थगिका, यमक खटवा चीन, विबन्ध वितान, गोफण तथा पंचागी। इनके नाम के

अनुसार ही प्रायः इसके स्वरूप को समझ लेना चाहिए। इनमें से कोश नामक बन्धन अंगुष्ठ और अंगुली के पर्वों पर बाँधा जाता है। दाम नाम का बन्धन, शरीर के तंग स्थानों पर बाँधा जाता है। स्वस्तिक बन्धन का प्रयोग, सन्धि, कूर्चक भ्रू स्तनों के मध्य भाग, हस्तनल, पादनल तथा कानों पर किया जाता है। अनुवेल्लित बन्धन शाखाओं पर बाँधा जाता है। प्रतोली ग्रीवा और लिंग पर बन्धन माना गया है। मण्डल बांधने के लिए शरीर के गोल अग माने गए हैं। स्थगिका बन्धन को अँगूठा, अंगुली तथा लिंग के अग्र भागों पर प्रयुक्त किया जाता है। दो व्रण साथ-साथ हों अथवा दोनों पार्श्व भाग में व्रण हो तो यमक नाम का बन्ध बांधना चाहिए। खट्टा बन्धन के लिए ठोड़ी, कनपटी तथा कपोल की जगह मानी गई है। चीन नामक बन्ध अपांग देश पर बाँधा जाता है। विबन्ध को पीठ, उदर तथा वक्षस्थल पर बाँधा जाता है। वितान बन्ध सिर के लिए माना गया है। गोधण बन्ध को ठोड़ी की नोंक, नासिका, होठ, स्कन्ध तथा प्रदेश में बाँधा जाता है और पंचांगी बन्धन जत्रु के ऊपर बांधना चाहिए।

बन्धन के भेद—व्रण स्थान अर्थात् स्थान, दोष और काल की विशेषता के आधार पर बन्धन भी गाढ़, सम और शिथिल इस तरह से तीन प्रकार का होता है। जो बन्धन को दवाने से पीड़ा न करे वह 'गाढ़' कहलाता है। जो बन्धन साँस लेने के लिए हिलता रहे उसको शिथिल कहते हैं और जो बन्धन न तो गाढ़ा हो और न शिथिल हो उसको "सम" बन्धन माना गया है। इनमें से "गाढ़" नाम का बन्धन नितम्भ, काँख, वंक्षण, सन्धि, उरु तथा सिर पर बाँधा जाता है और हाथ, पैर, मुख, कान, कण्ठ, लिंग, अण्डकोश, पीठ, पार्श्व, उदर तथा छाती इन पर सम बन्धन बांधना चाहिए। किन्तु नेत्र तथा सन्धि भागों पर शिथिल बन्धन बांधा जाता है। पैत्तिक स्थानों पर गाढ़ बन्धन के स्थान पर सम बन्धन बांधना चाहिए। सम बन्धन वाले स्थानो पर शिथिल बन्ध बाँधें तथा शिथिल बन्ध योग्य पैत्तिक स्थान को खुला छोड़ देना चाहिए। यही ध्यान रक्त-दूषित स्थानों पर बन्धन बाँधने के विषय में है। कफज स्थानों पर शिथिल के स्थानों पर सम बन्धन, सम के स्थान पर गाढ़ बन्धन और गाढ़ बन्धन के योग्य स्थानों पर गाढ़तर बन्धन बाँधना चाहिए। यही नियम ज्यों का त्यों बात दुष्ट व्रण के बन्धन के विषय में जानना चाहिए।

काल के अनुसार बन्ध की विशेषता—पैत्तिक व्रण को शरद और ग्रीष्म ऋतु में दिन में दो बार प्रातः-सायं बांधना चाहिए। यही नियम रक्तदुष्ट व्रण

में भी माना गया है। कफ दुष्ट व्रण में हेमन्त और बसन्त ऋतु में तीसरी पट्टी खोले और बाँधे। वातज दुष्ट व्रण में भी यह नियम माना जाता है।

यदि सम तथा शिथिल वन्धन योग्य स्थान पर गाढ़ बन्ध लगाया गया हो तो विकेशिका अर्थात् बत्ती एवं औषध का कोई लाभ नहीं होगा और व्रण में सूजन तथा पीड़ा भी उत्पन्न हो जाती है। गाढ़ तथा सम बन्ध के स्थान पर यदि शिथिल वन्ध बाँधा गया हो तो वर्ती तथा औषध गिर जाती है और पट्टी के खिसकते रहने से व्रण में घर्षण हो जाता है। और यदि गाढ़ एवं शिथिल वन्धन के स्थान पर सम बन्धन बाँधा गया, तो वह निष्फल हो जाता है। अतः बन्धन अनुकूल होना चाहिए, ऐसा करने से पीड़ा की शान्ति, रक्त-शुद्धि एवं व्रण स्थान पर कोमलता उत्पन्न होती है।

व्रण को न बांधने के दोष—यदि व्रण को न-बाँधा जाए तो वह मक्खी, मच्छर, घास, लकड़ी, पत्थर, रेत, धूप, शीत, वायु, दूध आदि से दूषित हो जाता है और उस पर लगाई गई औषध भी शीघ्र ही शुष्क हो जाती है।

व्रण बन्धन के गुण—चोट लगने से यदि शरीर का कोई अंग चूर्णित अर्थात् चूरचूर मथित अर्थात् मथा गया, टूटा हुआ, सन्धि से पृथक् हुआ स्वस्थान से पृथक् लटकता हुआ अस्थिछिन्न, स्नायुछिन्न तथा शिरा छिन्न आदि का बन्धन बांधने से पूर्ण लाभ पहुँचता है। व्रण शीघ्र ही स्वस्थ हो जाते हैं, वण वाला व्यक्ति भी स्वस्थ हो जाता है। सुखपूर्वक चल फिर सकता है। सुखपूर्वक खड़ा हो सकता है। सुखपूर्वक बैठ सकता है तथा सो सकता है। ऐसा करने से व्रण भी शीघ्र भर जाता है।

बन्धन के अयोग्य रोगी—पित्त से पीड़ित, रक्त से दूषित, अभिघातजा विषय व्रण तथा शोफ, शोथ, दाह, पाक, रोग, पीड़ा और सुई चुभने जैसी वेदना से यक्त रोगी क्षार और अग्नि से दग्ध पुरुष तथा पाक स जिनका मांस सड़कर झड़ता रहता हो, ऐसे व्रण वाले को बन्धन नहीं बाँधना चाहिए और कुष्ठी, अग्निदग्ध, मधुमेही की पीड़िकाओं के व्रण, चूहे के काटे हुए व्रण विष युक्त व्रण, मांसपाक, गुदापाक आदि पर भी बन्धन नहीं बाँधा जाता।

'यन्त्रणा' किसे कहते हैं—व्रण पर बाँधी गई पट्टी को गाँठ लगाई जाती है उसको 'यन्त्रणा' कहते हैं। यह यन्त्रणा तीन प्रकार की होती है। ऊपर, नीचे तथा टेढ़ी। व्रण के ऊपर गाँठ नहीं आनी चाहिए। व्रण ऊपर है तो पट्टी की गाँठ नीचे होनी चाहिए। यदि व्रण नीचे है तो गाँठ ऊपर लगानी चाहिए। दोनों ओर को व्रण हो तो पट्टी की गाँठ तिरछी अथवा टेढ़ी बाँधी जाती है।

प्रश्न—अष्टावध शस्त्र-कर्म का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उत्तर—शस्त्रकर्म सुश्रुत ने आठ और चरक ने छह माने हैं। यह प्रथम लिखा जा चुका है। छेदन कर्म के योग्य भगन्दर, ग्रन्थि (कफज), तिलकालक, नाड़ीव्रण, अर्बुद्ध, अर्श, चर्मकील, अस्थिशल्य, मांसशल्य, जतुमणि, मांससंघात, गलशुण्डिका, स्नायु मांस और शिराओं के सड़े-गले भाग, बल्मीक, शतपोनक, भगन्दर, अध्रुष, उपदंश मांसकन्दी तथा अधिमांस—ये माने गए हैं।

भेदन कर्म के योग्य इस प्रकार हैं, जैसे—त्रिद्रोषज विद्रधि के अतिरिक्त शेष सभी विद्रधियाँ तीनों दोष की ग्रन्थियाँ, तीनों दोषों के अलग वीसर्प, संपूर्ण वृद्धि रोग, दिवारिका, प्रेमहपिड़का, व्रणशोफ, स्तन विद्रधि, अवमन्थक, कुम्भिका, अनुशयी, नाड़ीव्रण, दोनों वृन्द रोग, पुष्फारिका, अलजी, सम्पूर्ण छुद्र रोग, तालु पुप्पुट, दन्त पुप्पुट, तुण्डीकेरी, गिलोय, मुखपाक सम्बन्धी रोग, अश्मरी के कारण वस्ति तथा मेदोजन्य रोग—ये माने गये हैं।

लेखन कर्म के योग्य रोग इस प्रकार हैं—वात, पित्त, कफ और रक्त जन्य रोहिणी, किलास, उपजिह्विका, मेदोजन्य रोग दन्तवैदर्भ, ग्रन्थिरोग, वर्त्म रोग, अधिजिह्विका, अर्श, मण्डल, कुष्ठ, माँस कंदी, माँस की वृद्धि आदि रोग हैं।

वेधन कर्म के योग्य—अनेक प्रकार की विकृत शिराएँ मूत्रवृद्धि और जलोदर माने गए हैं; एषण कर्म के लिए शल्य युक्त नाड़ियाँ, उन्मार्गी व्रण माना गया है। आहार्य कर्म के लिए दन्त शर्करा, पाद शर्करा, मूत्र शर्करा, दाँतों तथा कानों का मल, अश्मरी, सर्व प्रकार से शल्य, मूढ़गर्भ, गुदा में एकत्र हुआ मल, माना गया है। विस्रावण कर्म के योग्य त्रिदोषज विद्रधि के अतिरिक्त शेष पाँचों विद्रधियाँ, कुष्ठ, वेदना युक्त वायु, एक देशज शोथ, कर्म पाली के रोग, श्लीपद, विष से दूषित रक्त सभी अर्बुद और विसप, प्रारम्भ की तीनों ग्रन्थियाँ तथा प्रारम्भ के ही तीनों उपदंश, स्तन रोग, विदारिका, सौषिर दन्त रोग, गलशालूक, तालुकण्टक, कृमिदन्त, दन्तवेष्ट, उपकुश; शीताद, दन्त, पुप्पुट, पित्तरक्त और कफजन्य ओष्ठ रोग तथा क्षुद्र रोग। सीवन के योग्य मेदोजन्य रोग तथा भिन्न व्रण, लेखन कर्म प्रयुक्त व्रण जलसन्धि पर होने वाले सद्योव्रण आदि माने गए हैं।

सीवन कर्म योग्यायोग्य और सीवन विधियाँ—

(क) क्षार, अग्नि तथा विष व्याप्त और जिनसे वायु निकली हो, जिनके

भीतर दूषित रक्त तथा शल्य शेष हो, इस प्रकार के व्रणों का सीवन कर्म नहीं करना चाहिए।

(ख) सीवन कर्म के योग्य व्रण को प्रथम शोधन करके अर्थात् उसमें से धूलि, बाल, नख आदि वस्तु और टूटी हुई अस्थि के टुकड़े जो भीतर ही फँसे हुए हों आदि को निकालकर साफ करके अग्नि कर्म करें।

(ग) सीवनकर्म के योग्य व्रण के किनारों को ऊँचा करके दोनों ओर से समान रूप से मिलाकर महीन सूत्र, अश्मन्तक की छाल के रेशे, शण के सूत्र, क्षौभ सूत्र, स्नायु के तान, घोड़े के बाल, मूर्वा तथा गिलोय के तन्तु आदि में से यथा प्राप्त को लेकर वेल्लितक, गोफणिका, तुन्न सेवनी, ऋजुग्रन्थि आदि जैसा उचित हो, वैसा ही सेवन कर देना चाहिए। व्रणोष्ठ के सीवन कर्म में सुई को न तो अधिक दूर न अधिक पास ही प्रयुक्त करना चाहिए। अपण अर्थात् टाँके उचित स्थान पर ही लगाने चाहिए। यदि टाँके दूरी पर लगाये गय हों तो तनाव उत्पन्न होकर वेदना उत्पन्न हो जाती है और यदि टाँके अत्यन्त निकट हों तो व्रण के किनारे कट जाने का भय रहता है। उचित प्रकार से सीए हुए व्रण को फोए से ढककर प्रियंगु, सौवीरांजन, मुलहटी, लोध के चूर्ण का प्रतिसारण करके नियमानुसार बाँध देना चाहिए।

प्रश्न—व्रणित के लिए नियम लिखिए।

उत्तर—सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान अध्याय १९ में व्रणतोपासनीय अध्याय की व्याख्या की गई है। उसी आधार पर हम यहाँ विषय प्रस्तुत कर रहे हैं।

व्रणी पुरुष के लिए सबसे प्रथम शय्या, आसन, घर आदि की व्यवस्था करनी चाहिए और यह घर प्रशस्त प्रदेश में होना चाहिए।

क्योंकि प्रशस्त प्रदेश में बने घर, में पवित्र-स्वच्छ एवं धूप तथा सीधी वायु की रुकावट (घर में वायु आये परन्तु सीधी जोर से नहीं आनी चाहिए) वाले घर में शारीरिक एवं आगन्तुक तथा मानसिक रोग नहीं होते।

इस घर में शय्या-पीड़ा रहित असंकुचित (पर्याप्त लम्बी-चौड़ी), शोभन गद्दे चादर वाली रमणीय हिंसा निवारण के लिए शस्त्र युक्त करनी चाहिए। शय्या का सिर पूर्व की ओर रखना चाहिए। इस प्रकार शय्या पर सोने से लाभ—व्रण रोगी पुरुष सुन्दर बिछौने वाली शय्या पर सोकर अपनी चेष्टायें भली प्रकार से आराम से कर सकता है। पूर्वदिशा में देवता रहते हैं (सूर्य आदि)। उसकी पूजा के लिए रोगी का सिर पूर्व दिशा में रखा जाता है। इस

घर में अपने मन के अनुकूल प्रिय बोलने वाले मित्रों के साथ मिलकर यथेष्ट समय तक निवास करे। क्योंकि मित्र लोग नई-नई बात कहकर रोग की वेदना को भुला देते हैं। नाना प्रकार से सान्त्वना देते हुए, मन के अनुकूल प्रिय कहने वाले मित्र वेदना को कम कर देते हैं। व्रणी पुरुष को कभी भी दिन में नहीं सोना चाहिए। क्योंकि दिन में सोने से व्रण में कण्डु उत्पन्न हो जाती है। अंगों में भारीपन आ जाता है व्रण में सूजन, लालिमा और वहुत स्राव आ म्भ हो जाता है। व्रणी पुरुष को चाहिए कि अपनी चेष्टाओं में उठने, बैठने वामदक्षिण करवट बदलने तथा चलने में बहुत सावधानी वरते। उठना, बैठना, घूमना, दिन में सोना वलवान व्रणी भी सेवन न करे।

अधिक उठने से, अधिक बैठने से, अधिक सीधा खड़ा होने से, अधिक विस्तर पर पड़े रहने से अंगों में वायु प्रकुपित होती है, इससे दर्द बढ़ जाता है। गम्य ग्राम्यधर्म के योग्य स्त्रियों के दर्शन, इनके साथ बोलचाल, इनके स्पर्श से दूर से ही बचना चाहिये (अगम्य स्त्रियों की वात ही नहीं) क्योंकि कभी अकस्मात स्त्री दर्शन आदि से शुक्र स्रवित हो जाय तो ग्राम्य धर्म के बिना भी, ग्राम्य धर्म द्वारा उत्पन्न विकार शुक्रस्राव से उत्पन्न हो जाते हैं।

ये आहार त्याग देने चाहिए—नये धान्य (एक साल जिन धान्यों पर नहीं बीता), उड़द, तिल, कलाय (मटर) कुलत्थी, निष्पाव (राजशिम्बी), हरितक अम्ल, लवण, कटु रस गुड़पिष्टी—गुण से बने पदार्थ, बल्लूर (शुष्क मांस, शुष्क शाक, बकरी-भेड़ का मांस, आनूप मांस, औदक मांस, वसा, शीत, पानी, कुशरा तल तण्डुल मांस से वनी युवागू), पायस (खीर), दधि, दूध, तक्र प्रभृति (गुरु पदार्थों) का परित्याग करना चाहिए। व्रणी पुरुष यदि मद्यपी हो (या न भी हो) तो भी उसको मैरेय (सुरा और आसव को एक पात्र में बन्द करके वनाने से), अरिष्ट (क्वाथ से बनाया), सीधु (सयस्क), सुरा (लोहित वर्ण) मद्य के विकारों का परित्याग करना चाहिए। (कई आचार्यों का मत है कि 'अम्लादि गुण युक्त सब प्रकार के मद्य का निषेध है, परन्तु अम्लादि से विपरीत द्राक्षा-रसादि पिलाने चाहिये)

बाह्य आहार-विहार—वात, धूप, धूल धुआँ, ओस इनका अधिक सेवन, अति भोजन, अनिष्ट भोजन, अनिष्ट बात का सुनना, अनिष्ट वस्तु का दर्शन ईर्ष्या, क्रोध, भय, शक, शोक, चिन्त, रात्रि जागरण, विषमाशन, उपवास, करना, विषम शयन, अनशन, वाणी का श्रम (जोर से बोलना), सीधा खड़ा होना,

चलना, शीत वायु, विरुद्ध भोजन (दूध, मछली को साथ लाना), अजीर्ण, मक्खी आदि से बचना चाहिये। (विषम शयन—कम या अधिक सोना)।

उपर्युक्त एवं अन्य इसी प्रकार के कारणों से व्रणी पुरुष के दुखी होने पर मांस और रक्त क्षीण हो जाता है, जिसमें कि खाया भोजन भली प्रकार से जीर्ण नहीं होता। अजीर्ण के होने से वात-पित्त-कफ का स्थानान्तर में जाना होता है। इसमें सूजन, पीड़ा, रक्तस्राव, विपाक और पाक उत्पन्न हो जाते हैं।

व्रणी पुरुष को सदा नख और बाल कटाकर, पवित्र, साफ, श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिए। मन की शान्ति, मंगल, देवता, ब्राह्मण और गुरु की आज्ञा व सेवा में सदैव तत्पर रहना चाहिए। यह सब किसलिये ? क्योंकि हिंसा के लिये विहार (प्रवृत्ति) करने वाले बड़े शक्तिशाली महेश, कुबेर और कार्त्तिकेय की आज्ञा पालन करने वाले राक्षस—माँस एवं रक्त की चाहना से रक्त के कारण व्रणी पुरुष के पास आते हैं। इनके आने का उद्देश्य—पूजा प्र प्त व रना या गतायुष को मारने के लिए आना है।

इन पूजाभिलाषी अनुचरों के सत्कार के लिए अन्तरात्मा से प्रयत्न करना चाहिये। इनको धूप (सुगन्धित जलाना), बलि (पूजा), उपहार (पशु बाल) एवं उत्तम भक्ष्य देने चाहिए।

ये अनुचर भली प्रकार से तृप्त होने पर जितेन्द्रिय पुरुष को नहीं मार सकते, इसलिए सदा सावधान (चौकस), मनुष्यों से घिरा; सदा दीप पानी शस्त्र-सृग (सर को माला), दाम, फूलमाला, लाजा वीणा-चन्दन आदि ऐश्वर्य से युक्त होकर मंगल, सुन्दर एवं अनुकूल (मन पसन्द) कथाओं को सुनता हुआ समय बिताये।

उपर्युक्त ऐश्वर्ययुक्त और अनुकूल मन की प्रिय कथाओं को सुनते हुए, रोग की शान्ति में आशा रखने (मैं अवश्य अच्छा हो जाऊँगा) शीघ्र स्वस्थ हो जाता है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद में कहे तथा अन्य आर्शीवाद द्वारा पुरोहित तथा वैद्य प्रातः-सायं दोनों संध्या कालों में रोगी की रक्षा करें। सरसों अरिष्ट पत्र (निम्ब पत्र), घी और सैन्धव नमक, इनके साथ दस दिन तक विना आलस्य किये—प्रातः सायं धूप देना चाहिए (व्रण के सिवाय बिस्तर कपड़े आदि पर भी धूप देना चाहिए)।

इन औषधों को सिर पर धारण करना चाहिए—छत्र, अतिच्छत्र (दोनों द्रोणपुष्पी गोमा), लाँगली (कलिहारी या कपिकच्छु कौंच), जटिला

(जटामांसी)। ब्रह्मचारिणी (मुण्डतिका या लाल चन्दन या मण्डूकपर्णी), लक्ष्मी (लक्ष्मण या समी), गुहा (शालिपर्णी) अति गुहा (वृश्निपर्णी) शतवीर्या (शतावरी या दूर्वा), सहस्र वीर्या (श्वेत दूर्वा) और सिद्धार्थक (सरसों), इनको सिर पर धारण करना चाहिए।

व्रण को चमर से वायु करते रहना चाहिए, दबाना, सुई आदि से वेधना खजाना नहीं चाहिए और व्रण-रोगी सोते समय व्रण की रक्षा करता रहे, अर्थात् व्रण पर कोई आघात न पहुँचे।

इन उपर्युक्त विधि के सेवन करने से राक्षस लोग पहले ही से भाग जाते हैं जिस प्रकार केसरी—सिंह से आक्रान्त वन में मृग नहीं घुसते, इसी प्रकार राक्षस भी व्रण के पास नहीं आते।

सेवन विधि—स्निग्ध, अल्प उष्ण एवं द्रव बहुल पुराने शालि चावलों के भात को जांगल मांस के साथ खाने से व्रण शीघ्र भरता है। (क्योंकि माँस से मांस बढ़ता है)। तण्डूलीयक (चौलाई), जीवन्ती (डोढ़िका) सुनिषण्णक (चौपतिया), वास्तुक (बथुआ), बालमूलक (निर्ममूली) वार्त्ताक (बैंगन), पटोल (परवल), कारवेल्लक (कपेला) इनको घी में भूनकर (तेल में नहीं) अनार-दाना, आंवला, सैंधा नमक के साथ संस्कृत भात को—इसी प्रकार से अन्य इसी प्रकार के गुण वाले—मूँग, मांसरस के साथ खाये, सत्तू, विलेपी (लप्सी) कुल्माष (अर्द्धखिन्न गेहूँ या चने) और गरम करके ठण्डा किया जल पीना चाहिए।

वातरहित घर में रहा हुआ रोगी कभी भी नहीं सोए। वैद्य की आज्ञा का पालन करने से घाव शीघ्र भर जाता है। परिश्रम करने से व्रण में सूजन उत्पन्न होती है, रात में जागने से व्रण में सूजन एव लालिमा आती है। दिन में सोने से व्रण में सूजन, लालिमा, वेदना और मृत्यु होती है।

इस प्रकार आहार-विहार का पालन करने से व्रणी सुखी (स्वस्थ) होता है, दीर्घायुष्य को प्राप्त करता है—ऐसा धन्वन्तरि का वचन है।

प्रश्न—शल्य का लक्षण लिखते हुए व्रणस्थित शल्य के लक्षण बताएं।

उत्तर—सम्पूर्ण शरीर को जो बाधा अथवा कष्ट पहुंचाता है, उसको शल्य कहते हैं। यह शल्य दो प्रकार का होता है—(क) शारीरिक शल्य, (ख) आगतुक शल्य। शारीरिक शल्य दन्त, रोग, नख, अस्थि, श्मश्रु आदि तथा रस-रक्त, मांस आदि धातु, अन्न, मल तथा दूषित वातादि दोष माने गए हैं। इनके अतिरिक्त संसार की सम्पूर्ण चीजें जो कि मानव शरीर में प्रविष्ट होकर

कष्ट पहुँचा सकती हैं उनको आगन्तुक शल्य माना गया है। जैसे ईंट, रोड़ा, पत्थर, लकड़ी, शोध आदि।

यह शल्य चाहे छोटा हो अथवा बड़ा हो, इसकी पाँच प्रकार की गतियाँ मानी गई हैं—(क) ऊपर, (ख) नीचे, (ग) त्रिपर्यस्त, (घ) तिर्यक (ङ) सरल। ये शल्य वेग क्षीण हो जाने से, प्रतिघात से, त्वचा आदि व्रण वस्तुओं में अथवा धमनी, स्रोत, अस्थिविवर, मांसपेशी और नाडी आदि शरीर के भागों में प्रविष्ट होकर स्थित हो जाते हैं।

व्रण में स्थित शल्य के लक्षण—जब कोई-सा शल्य शरीर में जाकर स्थित हो गया होता है तो उसके दो प्रकार के लक्षण होते हैं—(क) सामान्य, (ख) विशेष। यदि व्रण श्याम रंग का है, और श्यामवर्ण की फुन्सियों से आक्रान्त है, शोथ, वेदना, बार-बार रक्त का बहना, बुलबुले उठना, मांस कोमल होना, ये व्रण में स्थित शल्य के सामान्य लक्षण होते हैं।

विशेष लक्षण—त्वग्गत शल्य में विवर्णता, शोथ, चौड़ाई और कठोरता होती है। मांसगत शल्य में शोथ की वृद्धि, शल्य मार्ग का रोपण न होना, पीड़न करने पर सहन न होना, दाह और पाक होते हैं। पेशीगत शल्य में भी यही लक्षण होते हैं, केवल दाह और पाक नहीं होता। शिरोगत शल्य में शिराएँ फूल जाती हैं, शिराओं में शूल और शोथ उत्पन्न हो जाती है। स्नायुगत शल्य में स्नायु जल का संकोच, शोथ और भारी वेदना होती है। स्रोतोगत शल्य में स्रोत अपने-अपने कर्म और गुणों को त्याग देते हैं। धमनीगत शल्य में झाग और रक्त को लेकर वायु बड़े शब्द के साथ बाहर को निकलता है। अंगमर्द, तृष्णा और जी मिचलाना ये लक्षण होते हैं। अस्थिगत शल्य में विविध प्रकार की वेदनाएँ तथा शोथ हो जाता है। अस्थि विवरगत शल्य में अस्थि भर जाती है अस्थि में तोद होता है। रगड़ और बेचैनी होती है। सन्धिगत शल्य में अस्थि के समान लक्षण होते हैं। चेष्टाओं का विरोध हो जाता है। कोष्ठगत शल्य में ओपढ़ अफरा हो जाता है। व्रण के मुख से मल, मूत्र, अन्न आदि निकलने लगते हैं। मर्मगत शल्य में मर्म विद्ध के समान लक्षण पाए जाते हैं और सूक्ष्म गति वाले शल्यों के भी यही लक्षण अस्पष्ट रूप में माने जाते हैं।

त्वग्गत आदि शल्य की चिकित्सा—त्वग्गत शल्य में तेल में स्निग्ध करके, स्वेदन करके, पाचन विधि से शल्य को निकाल लेना चाहिए। जहाँ पर यन्त्र का प्रयोग हो सकता है, वहाँ पर यन्त्र के द्वारा निकाल लेना चाहिए और फिर व्रणवत् उपचार करें।

गुप्त शल्य के विज्ञानोपाय—यदि शरीर में शल्य होगा तो, छींकने, खाँसने थूकने, हँसने, मल-मूत्र, अपान वायु आदि का उत्सर्ग करते समय उठना, बैठना, दौड़ना, कूदना, खेलना, तैरना, व्यायाम आदि विभिन्न प्रकार की चेष्टायें करने पर लाली वेदना और शोथ हो जायेगा।

निःशल्य का लक्षण—वेदना, शोथ, राग, दाह, पाक आदि जब नहीं हों। व्रण के किनारे कोमल हों, व्रण समान, ऊँचा, नीचा न हो।

शल्य के दो भेद और होते हैं—(क) अवबद्ध, (ख) अनवबद्ध। इनमें से अनवबद्ध शल्य को ही निकालने के लिए संक्षेप में पन्द्रह उपाय बतलाए गए हैं। जैसे—स्वभाव पाचन, भेदन, दारण, पीड़न प्रमार्जन, निर्घातन, वमन, विरेचन, प्रक्षालन, प्रतिमर्श, प्रवाहण, आचरण, अयस्कान्त और हर्ष।

कण्ठ शल्य की निर्हरण विधि—कण्ठ में लाक्षा अथवा लाक्षा जैसे पदार्थ के शल्य के फँस जाने पर प्रथम कण्ठ में एक नलिका डालकर उसके भीतर से अग्नितप्तशलाका प्रविष्ट करके शल्य के पिघलकर उस पर चिपट जाने पर, शीतल जल से उस नाड़ी को सेंचन करके शल्य के स्थिर हो जाने पर शनैः-शनैः बाहर खींच लें। यदि अन्य कोई-सा शल्य हो तो मोम से लिपटी हुई शलाका के द्वारा उसको बाहर निकाल लेना चाहिए।

प्रश्न—शिरावेधन के सिद्धान्त, विधि, लक्षण विस्तार से लिखिए।

उत्तर—बालक, वृद्ध, रूक्ष, क्षत, क्षतक्षीण, भीरू, परिश्रान्त, मद्यपान करने वाले, स्त्री और मार्ग से श्रान्त, कृश वमन किया हुआ, या सोता हुआ, विरेचन किया हुआ, आस्थापित, अनुवासित, जागरित, नपुंसक, गर्भिणी, कास, श्वास, शोष, विषम ज्वर, आक्षेपक, पक्षाघात इन रोगों से युक्त उपवास, प्यास, मूर्च्छा आदि रोगों से पीड़ित व्यक्ति का शिरावेध नहीं करना चाहिए।

शिरावेध विधि—सर्वप्रथम रोगी को स्नेहन और स्वेदन कर्म कराके दोष के विपरीत पतला-सा अन्न देकर अथवा यवागु का पान कराकर योग्य काल में अपने निकट रोगी को बैठा करके या खड़ा करके, जीवन में बाधा न पहुँचाता हुआ, सम्भाल कर कपड़ा, चमड़ा, लता, पट्टी आदि से ठीक प्रकार से बाँधकर साधारण बाँध करके उस स्थान पर की शिरा का वेध कर दें।

शिरावेध कब नहीं करना चाहिए—अधिक शीत काल में, अधिक उष्ण काल में, वेगवान् वायु के काल में, आकाश में जब मेघ आच्छादित हों, जब कोई भी बीमारी ही न हो तो इन सब दशाओं में शिरावेध कदापि नहीं किया

जाना चाहिए। जिस व्यक्ति का शिरावेधन करना हो, उसका मुख सूर्य की ओ करके एक बालिश्त ऊँची चौकी पर बिठलाकर दोनों टाँगों और दोनों हाथ को सिकोड़कर मुट्ठी बाँध कर उनको मन्याओं पर धर कर, आगे और पीछे खड़े हुए दोनों आदमी एक धोती जैसे कपड़े से आवेष्टन करके शिरावेध क दें। इसी प्रकार से जिस-जिस स्थान पर शिरावेध करना हो, उस-उसके अनुसा मन्त्रणा करके, वहाँ-वहाँ के अनुसार शिरावेध करें। मांसल प्रदेशों पर एक जौ के बराबर, इससे भिन्न प्रदेशों पर, आधे जौ के बराबर अथवा यवमात्र व्रीहि मुख यन्त्र से वेध करें।

शिरा वेधन काल—वर्षा ऋतु में जब बादल न हों, ग्रीष्म ऋतु में, शीतल समय में, हेमन्त ऋतु में दोपहर के समय, शस्त्र कर्म करना चाहिएं।

सुबुद्धि के लक्षण—भली-भाँति शस्त्र की धारा के साथ कुछ काल तक रक्त बहे, अनन्तर रुक जाए तो उसको सुविद्ध समझना चाहिए।

शिराओं के न बहने के कारण—मूर्च्छित रोगी, अधिक भयभीत, थके हुए प्यासे न उठी हुई शिरा और यन्त्रित शिरा रक्त नहीं बहाती।

रोगानुसार शिरावेध के स्थान

(१) पाददाह, पाददारी, विचर्चिका, विसर्प, वातरक्त, वात कफरक्त, पाद हर्ष, चिप्प आदि में क्षिप्रमर्म के ऊपर दो अंगुल का शिरावेध, व्रीहिमुख के द्वारा करना चाहिए।

(२) क्रोष्टुक शीर्ष, खंजता, पंगुता तथा वात वेदनाओं में जाँघ में रखने से चार अंगुल ऊपर शिरावेध करें।

(३) अपनी इन्द्रवस्ती मर्म के नीचे दो अंगुल पर।

(४) गृध्रसी में जानुसन्धि के ऊपर या नीचे चार अंगुल पर।

(५) गलगण्ड में उरुमूल में शिरावेध करें।

(६) प्लीहा में बाँये हाथ की अर्थात् वाम भुजा के मध्य में भीतर की ओर कर्पूर सन्धि के निकट शिरावेध करें।

(७) शूल युक्त प्रवाहिका में श्रोणि के चारों ओर दो अंगुल के अन्तर पर शिरावेध करें।

(८) परिवर्तिका, उपदंश, शुक्रदोष और शुक्र रोगों में लिंग के मध्य में शिरावेधन करें।

(९) मूत्र वृद्धि में वृषणों के अगल-बगल में, जलोदर में, नाभि के नीचे सीवनी के वाम भाग में चार अंगुल पर।

(१०) बाहुशोष और अवबाहुक के कन्धे के बीच में।
(११) तृतीय ज्वर त्रिकसन्धि के मध्य की शिरा।
(१२) चातुर्थिक ज्वर में एक पार्श्व में स्कन्ध सन्धि के नीचे।
(१३) अपस्मार में हनुसंधि के बीच में।
(१४) तिमिर रोग आदि में नाक के समीप अपांग की सन्धि में।

दुर्विद्धा का लक्षण—सूक्ष्म शस्त्र के वेध करने पर थोड़ा-सा रक्त आता हो और उसमें वेदना भी होती हो, शोथ भी हो तो वह दुर्विद्धा शिरा मानी जाती है।

अतिविद्धा का लक्षण—प्रमाण से अधिक वेध हो जाने के कारण खून शरीर के भीतर चला जा रहा हो अथवा अधिक मात्रा में रक्त बाहर की ओर बह रहा हो तो ऐसी शिराएँ अतिविद्धा मानी जाती हैं।

शिरोवेध के उपद्रव और उनका उपचार—अयोग्य व्यक्ति अर्थात् वैद्य के द्वारा शिरावेध में भूलें करने से सभी प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाया करते हैं। जैसे दुर्बलता, रक्त की कमी, कास, श्वास, तृष्णा, तिमिर, शोथ, दाह, राग, पक्षाघात आदि। उनका उपचार शिरावेध ही है।

जिस प्रकार से काय चिकित्सा में वस्ति का महत्त्व माना गया है, ठीक उसी प्रकार से शल्य तन्त्र में शिरावेध को ही आधार चिकित्सा तन्त्र माना गया है।

शिरावेध में पथ्यापथ्य—शिरावेध करने पर स्नेहन; स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन किया जाता है किन्तु इनके करने वाले रोगी को चाहिए कि वह क्रोध, परिश्रम, स्त्री का संगम, दिन में सोना, जोर से बोलना, गाना, चिल्लाना आदि; घोड़ा, साइकिल आदि की सवारी करना; अध्ययन, एक स्थान पर ही खड़े रहना, एक स्थान पर बैठे रहना, घूमना-फिरना, शीत, वायु धूप, विरुद्ध आहार, असात्म्य भोजन तथा अजीर्ण का त्याग कर दें। क्योंकि बहुत स्थान से रक्त निकालने के कारण शिरामोक्षण में कम से कम एक मास तक पूर्ण विश्राम को प्राप्त करना ही कल्याणकारक माना गया है।

प्रश्न—निम्नलिखित रोगों का निदान-चिकित्सात्मक वर्णन करें।

उत्तर—विद्रधि (Abcess) शोथ की पच्यमानावस्था में पूयोत्पत्ति आरम्भ हो जाती है और पक्वावस्था में पूय युक्त शोथ होता है। इन अवस्थाओं को प्राप्त शोथ विद्रधि कहलाता है। क्योंकि यह शीघ्र ही विदाह

को प्राप्त होने वाला रोग है, इसलिए इस रोग को विद्रधि कहा जाता है। पाश्चात्य शल्य शास्त्र में इस रोग को एबासिस (Abcess) कहा जाता है।

सुश्रुत संहिता में इस विषय में निदान स्थान में निम्न प्रकार विस्तृत वर्णन मिलता है—

सम्प्राप्ति—मिथ्या आहार-विहारों से अत्यन्त कुपित हुए वातादि दोष प्रथम त्वचा, रक्त, मांस और मेदोधातु को दूषित करके अस्थि के अन्दर आश्रित होकर धीरे-धीरे भयंकर शोथ उत्पन्न करते हैं। जब यह शोथ महामूल, पीड़ायुक्त, गोल अथवा आयत हो जाता है—तब विद्वान उसे विद्रधि कहते हैं। पृथक् पृथक् दोषों से तीन तथा तीनों मिलित दोषों से एक, क्षत से एक तथा रक्त से एक - ऐसे वह विद्रधि छह प्रकार की होती हैं। अब उन छहों के लक्षण कहे जाते हैं।

विद्रधि छह प्रकार की दोषों के अनुसार की है—स्थान भेद से केवल दो प्रकार की है—

(१) वाह्य विद्रधि, (२) आन्तरिक विद्रधि।

हम पहले दोषानुसार विद्रधि का वर्णन करेंगे।

वातादि विद्रधि रंग में काली, कुछ लाल, कठोर, अधिक पीड़ाकर अनेक प्रकार से उठने तथा पकने वाली होती है।

पैत्तिक विद्रधि पके हुए गूलर फल के समान कुछ श्याव, ज्वर और दाह युक्त तथा जल्दी उठने और पकने वाली होती है।

कफज विद्रधि शराव के समान फैली हुई पाण्डु, शीत, कड़ी, अल्पपीड़ाकर, देर से उठने तथा पकने वाली और कण्डयुक्त होती है।

इन विद्रधियों में वातिकावस्था में पतला और अल्पस्राव होता है, पीत वर्ण का स्राव पैत्तिका में होता है और श्लेष्मिक में श्वेत वर्ण का स्राव होता है।

सन्निपातिक विद्रधि में अनेक प्रकार के रंग, पीड़ा एवं स्राव मिलते हैं। यह उभरी हुई, टेढ़ी-मेढ़ी, बड़ी तथा विषम रूप से होती है।

आगन्तुक विद्रधि को क्षतज़ विद्रधि कहकर भी वर्णित किया गया है। काष्ठ-लोष्ट-पाषाण आदि से चोट लगने पर या छत होने पर तथा मिथ्या आहार विहार सेवन करने वाले की वायु से प्रेरित क्षत की उष्णता सहित पित्त को प्रकुपित कर देती है जिससे ज्वर, प्यास तथा दाह उत्पन्न होता है। यह पित्तज विद्रधि के लक्षणों वाली आगन्तुक विद्रधि होती है।

रक्तज विद्रधि काले फोड़े-फुन्सियों से युक्त श्याव, तीव्र दाह पीड़ा तथा ज्वर वाली एवं पित्तज विद्रधि के लक्षणों से युक्त होती है।

यह छह प्रकार की विद्रधियाँ बाह्य रूप के अनुसार कही हैं—इनमें से सन्निपातिक विद्रधि असाध्य होती है।

अन्तर्विद्रधि के विषय में बताते हुए लिखा है कि गरिष्ठ, असात्म्य, विरुद्ध शुष्क तथा पथ्यापथ्य मिलित भोजन से एव अधिक स्त्री सम्भोग, व्यायाम और आधारणीय वेगों के रोकने से तथा दाहजनक पदार्थों के खाने से अलग-अलग या मिले हुए कुपित दोष गोले के स्वरूप की और बाल्मीक के समान ऊँची उठी हुई अन्तर्विद्रधि को पैदा करते हैं।

यह अन्तर्विद्रधि गुदा, वस्ति मुख, नाभि, कुक्षि, वंक्षण, वृक्क, यकृत, प्लीहा हृदय और क्लोम में होती है।

इन अन्तर्बिद्रधियों के दोषज लक्षण वाह्य विद्रधि लक्षणों के दोषज लक्षणों के अनुसार ही जानने चाहिए तथा इनके पक्व एवं अपक्वावस्था का ज्ञान शोथ के अनुसार करना चाहिए। यहाँ शोथ के अवस्थानुसार लक्षण बता रहे हैं जो विद्रधि के ऊपर उसी प्रकार लागू होंगे।

आमावस्था में शोथ का स्थान कुछ गरम होगा, उस स्थान की अन्य त्वचा के समान वर्णता, शोथ की शीत स्पर्श, स्थिरता, अल्प पीड़ा और अल्प शोधता मिलेगी।

पच्यमानावस्था में सुइयों के चुभोने की-सी पीड़ा होना, चींटियों से काटा जाता हो तथा चींटियाँ शरीर में चलती हुई-सी प्रतीत होती हों, शस्त्र से काटा जाता हो, शक्ति शस्त्र से भेदन करने के समान; दण्डे या लकड़ी से पीटे जाने के समान, हाथ से दबाए जाने के समान अगुलियों द्वारा मले जाने के समान, अग्नि से जलाए जाने एवं क्षार से पकाए जाने के समान प्रतीत होता है। ओष-चोष परिदाह तथा जलन प्रतीत होती है। बिच्छू के काटे हुए के समान खड़े रहने, बैठने और सोने से भी शान्ति न मिलना, शोथ का फूली हुई मशक के समान होना, त्वचा में वर्ण भिन्नता आ जाना, शोध में वृद्धि होना, ज्वर-दाह-प्यास तथा अरुचि आदि मिलते हैं।

शोथ की पक्वावस्था में वेदना की शान्ति, देह में पांडुता, शोथ का कम होना, त्वचा पर झुर्रियाँ पड़ना और दरार होना, अंगुली से दबाने पर त्वचा मांस में गढ़ा पड़ना तथा अंगुलि के हटाने पर पुनः गढ़े का भर जाना, अंगुली के तरफ के भाग को दबाने पर मशक में भरे हुए पानी की तरह पूय के

संघरण का दूसरी ओर प्रतीत होना, बार-बार सुई चुभोने की-सी पीड़ा होन कण्डु का कम होना, शोथ के उत्सेध का कम होना, उपद्रवों की शान्ति तथ भोजन करने की इच्छा होना मिलता है।

अन्तविद्रधि की अवस्था क्या है, इसका ज्ञान उपयुक्त लक्षणों के आधा पर करना पड़ता है। सुश्रुत संहिता में भिन्न-भिन्न स्थानों में होने वाली अन्त विद्रधि के विशेष लक्षण लिखे हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

गुदा के अन्दर विद्रधि होने से वात तथा मल का अवरोध; वस्ति में हो से मूत्र त्याग में कठिनाई तथा मूत्र की अल्पता, नाभि में होने से हिक्का तथ आटोप, कुक्षि में होने से वायु का प्रकोप, वंक्षण में होने से कमर और पीठ क तीव्र जकड़न, वृक्कों में होने से पार्श्व संकोच, प्लीहा में होने से श्वास में रुकावट, हृदय में होने से शरीर में तीव्र जकड़न तथा हृदय में दारुण शूल्य, यकृत में होने से श्वास और प्यास तथा क्लोम में होने से अधिक तृष्णा होती है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि मर्मस्थान में उत्पन्न विद्रधि चाहे आम हो अथवा पक्व; छोटी हो या बड़ी सब कष्टसाध्य होती हैं।

विद्रधि के पाक हो जाने पर स्राव के निर्गम के मार्ग का वर्णन करते हुए लिखा है कि नाभि से ऊपर अर्थात् यकृत-क्लोम-प्लीहा ग्रहणी, अमाशय-हृदय आदि में होने वाली विद्रधियाँ पकने पर ऊपर की ओर जाकर मुख नासादि से झरती हैं किन्तु नाभि से नीचे वस्ति वंक्षण गुदा में होकर पकने वाली विद्रधियाँ नीचे के गुदा और मूत्र मार्ग से झरती हैं। इनमें नीचे की ओर स्रुत होने वाली विद्रधियों में मनुष्य ठीक हो जाता है किन्तु ऊपर मुखादि से स्रुत होने वाली विद्रधियों में जीवित नही रह सकता है।

हृदय-नाभि और बस्ति को छोड़कर अन्य स्थानों में होने वाली विद्रधियां यदि भाग्यवश बाहरी त्वचा में विदीर्ण हो जाती हैं तब मनुष्य कदाचित जीवित रह सकता है परन्तु हृदय, नाभि एवं वस्ति विद्रधि के बाहर विदीर्ण हो जाने पर मृत्यु शीघ्र आ जाती है।

सुश्रुत संहिता में इसी प्रकरण में स्त्रियों को होने वाली रक्त विद्रधि का वर्णन किया है। वहां कहा गया है कि गर्भपात या गर्भस्राव होने पर अथवा ठीक समय पर प्रसव होने पर जो स्त्रियाँ अहितकर आहार-विहार करती हैं उसके उनके दाह तथा ज्वर को करने वाली घोर रक्त विद्रधि होती है तथा

योग्य रूप से प्रसव होने पर भी जिन स्त्रियों के शरीर से अशुद्ध रक्त पूर्ण रूप से नहीं निकलता है तब वह रक्त कुक्षि में मक्कल संज्ञक रक्त विद्रधि पैदा करता है। यदि मक्कल विद्रधि सात दिन में शान्त न हो तो फिर पक जाती है।

इस प्रकरण में यह शंका व्यक्त की है कि स्त्रियों की गुल्म और विद्रधि समान दोषों से उत्पन्न होते हैं तो फिर क्या कारण है कि विद्रधि पकती है और गुल्म नहीं पकता। इस विषय में लिखा है कि गुल्मों का निबन्ध नहीं होता किन्तु विद्रधि निबन्ध सहित होती है। गुल्म में वातादि दोष स्वयं गोले के स्वरूप में हो जाते हैं किन्तु विद्रधि मांस और रक्त में बनती है। गुल्म रूपी गांठ विवर में घूमती है जैसे जल में बुदवुद बनकर घूमते हैं। इन कारणों से गुल्म पकता नहीं है किन्तु विद्रधि में रक्त और मांस की अधिकता होने से वह पाक को प्राप्त होती है और गुल्म मांस रक्त से रहित होने के कारण पकता नहीं है। गुल्म अपने ही दोषों में अवस्थित होता है; किन्तु विद्रधि मांस और रक्त में अवस्थित होती है।

जब विद्रधि अस्थि नाल के भीतर उत्पन्न होती है तब चिकित्सा न करने से कालान्तर में मज्जा का भयंकर पाक होने लगता है। जब यह मज्जा का पाक अस्थि तथा मांस के निरोध से अथवा अस्थि पर चढ़े हुए मांस के निरोध से बाहर निकलने का रास्ता प्राप्त नहीं करता है तब वह मनुष्य उस व्याधि से अग्नि की तरह दाह से जलता हुआ-सा अनुभव करता है तथा अस्थि-मज्जा गत उस दाह से जलती हुई वस्तु के समान वह नष्ट हो जाता है। जब शस्त्र-कर्म से अस्थि के भिन्न होने पर मज्जा परिपाक जन्य पूय को बाहर निकलने का मार्ग मिल जाता है तब मेदो धातु के समान, चिकना, श्वेत, शीत तथा भारी पूय बहता रहता है। वैद्य लोग मज्जा के इस पाक को अस्थिगत विद्रधि कहते हैं। इसको पाश्चात्य शल्यशास्त्र में इन्फेक्टिव आस्टिओ माइलायटिस (Osteomylitis Infective) कहा जाता है।

चिकित्सा—विद्रधि की चिकित्सा सुश्रुत चिकित्सा स्थान अध्याय १६ में वर्णित की है। वहाँ कहा गया है कि साध्य विद्रधियों की अपक्वावस्था में शोथ के समान चिकित्सा करनी चाहिए। व्रणशोथ के प्रकरण में एतदर्थ चिकित्सा के १२ उपक्रमों का वर्णन किया है। आवश्यकतानुसार उनमें से जो उपयुक्त हो उसे काम में लिया जाना चाहिए। वे उपक्रम इस प्रकार हैं—

(१) अपतर्ण—अपतर्ण को प्रधान एवं आद्य उपक्रम कहा है। इसक साधारण अर्थ है—शरीर में पोषण जाना रोक देना। साधारण तौर प अभोजन अथवा लंघन को ही अपतर्ण कर सकते हैं।

(२) आलेप—साधारणतः औषध के लेप करने को आलेप कहा जाता है। यह शोथ का प्रह्लादन, शोधन, हरण, उत्सादन एवं रोपण भी करता है। ध्यान रखना चाहिए कि लेप प्रतिलोम किया जाए; अनुलोम नहीं। लेप की मोटाई भैंस में गीले चमड़े की मोटाई के बराबर रखने को कहा गया है। इसके तीन भेद बताए हैं—प्रलेप, प्रदेह एवं आलेप (सुश्रुत)।

(३) परिषेक—वेदना की शान्ति करता है जिस प्रकार जल सिंचित होने पर अग्नि शान्त हो जाती है, उसी प्रकार शोथ में कुपित हुए दोषों की अग्नि परिषेक से निवृत्त हो जाती है। दोषानुसार भिन्न-भिन्न योगों का एतदर्थ प्रयोग करते हैं।

(४) अभ्यंग—मालिश के द्वारा दोषों का उपशमन हो जाता है और शोथ में मृदुता आ जाती है।

(५) स्वेदन—पसीना लाने की विधियों को स्वेदन कहते हैं। इस विधि से रक्त संचार बढ़ जाता है।

(६) विम्लापन—इसका अर्थ है कि स्वेदन करने के पश्चात् शोथ स्थान का मर्दन करना।

(७) उपनाह—शोथ का प्रशमन या पाचन करने के लिए द्रव्यों को पीस कर और गरम करके कपड़े से बांधना चाहिए। इसे साधारणतः पुल्टिस कहा जाता है। इस क्रिया का प्रयोग शोध की दोनों अवस्थाओं में किया जाता है। यदि आमावस्था में प्रयोग किया जाय तो वह शान्त हो जाता है और किंचित् पक्वावस्था में प्रयोग किया जाय तो इससे शोथ जल्दी पाक हो जाता है।

(८) पाचन—कुछ औषधियों को यथा मूली, बीज आदि में दधि-तक्र-सुरा आदि मिलाकर नमक डालकर लप्सिका बनाकर शोथ स्थान पर रखकर एरण्ड पत्र से आच्छादित कर बांधना चाहिए। यह पका देता है।

(९) शोणित मोक्षण—शोथ में वेदना और पाक से बचाने के लिए रक्तावसेंचन करना चाहिए। रक्तावसेंचन की जो विधि उपयोगी हो उसका प्रयोग करना चाहिए।

(१०) स्नेहपान—सोपद्रव शोथों में दोषानुसार सिद्ध स्नेहों का पान करना चाहिए।

(११) वमन—कफाक्रान्त शोथ में वमन कराना चाहिए।

(१२) विरेचन—वात पित्त प्रदुष्ट शोथ मे जो जीर्ण हो गया हो उसमें विरेचन कराना चाहिए।

विद्रधि आमावस्था की चिकित्सा में उन उपक्रमों का अवस्थानुसार प्रयोग किया जाता है। संहिता में कहा गया है कि—

वातज विद्रधि में वातघ्न द्रव्यों की जड़ के कल्क में भी घी-तेल-वसा मिला कर सहने योग्य उष्ण तथा गाढ़ा लेप लगाना चाहिए। उपनाह के लिए आनूप एवं औदक जीवों का मांस, काकोल्यादि गण के द्रव्य, धान का लावा, सेंधा नमक मिलाकर स्नेह तथा काजी के साथ सिद्ध करके प्रयोग में लाना चाहिए। वेशवार, दूध तथा पायस से निरन्तर स्वेदन करना एवं रक्तमोक्षण करना चाहिए।

पैत्तिक विद्रधि में शर्करा, धान का लावा, मुलहठी सारिवा, अथवा क्षीर काकोली, खस और चन्दन को दूध में पीसकर लेप करना चाहिए। उपर्युक्त औषधियों के उष्ण या शीत कषाय, दूध और गन्ने के रस से अथवा शर्करा-युक्त जीवनीय गण से सिद्ध घृत के द्वारा भी परिषेक करना चाहिए। निशोथ और हरीतकी का चूर्ण मधु मिलाकर चटाना चाहिए।

श्लैष्मिक विद्रधि को उष्ण ईंट, वाल, पत्थर, गोबर, भूसा, धूल और गोमूत्र से निरन्तर सेंकना चाहिए। क्वाथ, वमन, आलेप और उपनाह से दोषों को तथा अलाबु से रक्त को बार-बार निकालना चाहिए।

रक्तज और आगन्तुज विद्रधि में पित्तज विद्रधि के समान चिकित्सा करें।

यदि बाह्य विद्रधि इन उपचारों के करने पर भी शमन न हो तो पाक को प्राप्त विद्रधि की एकमात्र चिकित्सा पाठन क्रिया है। साधारणतः निम्न क्रियाएँ की जाती हैं—

(१) भेदन, (२) पूय निर्हरण, (३) व्रण शोधन, (४) रोपण।

सुश्रुत संहिता में दोषानुसार इन क्रियाओं के लिए औषधियों का वर्णन किया है। वातज विद्रधि में भेदन क्रिया के बाद व्रणशोधन एवं रोपण के लिए बताया है कि वृहतपंचमूल के क्वाथ से व्रण का शोधन करना चाहिए; भद्र दार्वादिगण के द्रव्य, मुलहठी तथा पर्याप्त लवण मिश्रित तेल के बल का रोपण

करना चाहिए। यह भी बताया गया है कि विवेचक द्रव्यों द्वारा स्रवृत (घी-तेल-वसा) को शुद्ध कर शोधन करना चाहिए और पृथकपर्ण्यादि गण से सिद्ध स्रवृत से रोपण करना चाहिए।

पैत्तिक विद्रधि पाक पर पाटन (भेदन) कर जलौंका द्वारा अवसेंचन कराना चाहिए। क्षीरीवृक्ष तथा औदक द्रव्यों के कषाय के व्रण का शोधन कर, मुलहठी दुग्ध-मिश्रित तिलकल्क का लेप करके पतले कपड़े से व्रण को बांध देना चाहिए। प्रपौंडरीक, मजीठ, मुलहठी, खश, मग्नाख और हल्दी के कल्क के साथ दूध से सिद्ध घृत का प्रयोग व्रण रोपण के लिए करना चाहिए। सुश्रुतोक्त करंजादि घृत रोपण के लिए हितकारक है।

श्लैष्मिक विद्रधि पाक पर उसका पाटन कर चमलतास क्वाथ से धोना चाहिए। मधु-मिश्रित हल्दी, निशोथ, सत्तू और तिल के कल्क से व्रण को भली भांति भर गाढ़तर व्रण बन्धन करना चाहिए।

रक्त एवं आगन्तुज विद्रधि के पाक पर पित्तज विद्रधि के पाकावस्था के अनुसार उपचार करना चाहिए।

अन्तर्विद्रधि की चिकित्सा बताते हुए लिखा है कि अपक्व अन्तर्विद्रधि में ऊषकादिगण के प्रक्षेप से युक्त, सुख देने वाले, वरुणादि गण का क्वाथ रोगी को पिलाना चाहिए। इन दोनों वर्गों एवं विरेचक द्रव्य से सिद्ध घृत प्रतिदिन प्रातः काल पीने से विद्रधि शीघ्र नष्ट होती है। इन वरुणादि ऊषकादि एवं विरेचक गण के द्रव्यों के क्वाथ में तेल मिलाकर आस्थापन एवं अनुवासन बस्ति का प्रयोग भी करना चाहिए। दोषानुसार पान-आलेप और भोजन में मधुर सहजने के वृक्ष की छाल का चूर्ण मिलाकर सेवन से अपक्व विद्रधि नष्ट होती है। जल, कांजी, गोमूत्र और सुरा आदि के साथ मीठे सहजने की छाल का चूर्ण या वातादि दोपहर गण के क्वाथ के साथ शिलाजतु का सेवन करना चाहिए। सोंठ या देवदारू मिश्रित श्रेष्ठ महिषाक्ष गुग्गुल का भी सेवन करना चाहिए। स्नेह-उपनाह एवं अनुलोमन का भी प्रयोग कराना चाहिए। कफज विद्रधि में पूर्वोक्त के अनुसार शिरावेध कराना चाहिए।

यदि पक्वावस्था हो अथवा अन्तर्विद्रधि बाहर को उभरी हुई हो तो उसका भेदन कर व्रण के अनुसार उपचार करना चाहिए। विद्रधि में मैरेय, कांजी, सुरा और आसव के साथ वरुणादि गण के द्रव्य मीठे सहजने की छाल का चूर्ण पीना चाहिए। सहजने की जड़ के क्वाथ से सिद्ध सरसों युक्त भात, जौ,

वेर और कुलथी के यूष के साथ रोगी को खिलाना चाहिए। अथवा प्रतिदिन प्रातः काल विद्रधि की शान्ति के लिए अल्प मात्रा में तिल्वक घृत या त्रिवृतादि गण के क्वाथ से सिद्ध घृत का सेवन करना चाहिए। वैद्य को ऐसा यत्न करना चाहिए कि विद्रधि का पाक न हो।

मज्जागत विद्रधि में पाक होने पर सफलता कठिन हो जाती है—अतः असाध्य समझकर ही उपचार आरम्भ करना चाहिए। स्नेहन तथा स्वेदन से युक्त रोगी का रक्तमोक्षण करना चाहिए। पाक होने पर अस्थि का भेदन कर चिकित्सा करनी चाहिए।

विद्रधि व्रण के पूय रहित होने पर व्रण का शोधन करना चाहिए। तिक्त द्रव्यों के क्वाथ से व्रणों को धोना चाहिए और तिक्त द्रव्यों के क्वाथ से सिद्ध घृत का पान करना चाहिए।

यदि रोगी को विद्रधि से मज्जा का बहना बन्द न हो तो संशोधनीय क्वाथ का प्रयोग बुद्धिमान वैद्य को करना चाहिए।

प्रियंगु—धाय के फूल—लोध्र-कायफल तिनिश और सेंधा नमक के साथ विद्रधि व्रण रोपक बनाना चाहिए।

भगन्दर (Fistula in ano)—भगन्दर ५ प्रकार का होता है, अर्थात् वायु-पित्त-कफ-सन्निपात और आगन्तुक, इन कारणों से क्रमशः शतपोनक, उष्ट्रग्रीव, परिस्रावी, शम्बूक और उन्मार्गी। परन्तु वाग्भट्ट आठ प्रकार का भगन्दर मानता है, ५—उपर्युक्त तथा ६—परिक्षेपी, ७—ऋतु भगन्दर और ८—अर्शो भगन्दर। आधुनिक चिकित्साशास्त्र (डाक्टरी) में भगन्दर के तीन भेद किये गये हैं, यथा—(i) द्विमुखी या पूर्ण भगन्दर (Complete Fistula) (ii) वाह्य अन्ध भगन्दर (External Blind Fistula) तथा (iii) अन्तर्मुखी या आन्तरिक अन्ध भगन्दर (Internal Blind Fistula)।

(i) द्विमुखी पूर्ण भगन्दर—इसका एक मुख मलाशय के भीतर और दूसरा मलद्वार के पास चर्म पर होता है।

(ii) बाह्य अन्ध भगन्दर—इसका केवल एक ही छिद्र चर्म पर खुलता है। इस भगन्दर का मलाशय से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।

(iii) अन्तर्मुखी या आन्तरिक अन्ध भगन्दर—इसका छिद्र चर्म पर नहीं होता, वह केवल भीतर की ओर मलाशय में खुलता है तथा उसमें उत्पन्न पूय भी मलाशय में जाती है अतः मल के साथ पूय आती है।

ये भगन्दर भग, गुदा, वस्ति इन स्थानों का दारण करने से भगन्दर कहे जाते हैं। जब तक यह अपक्व होते हैं तब तक पिड़का कहलाते हैं तथा पककर फट जाने पर भगन्दर कहलाते हैं।

कटि की अस्थियों में पीड़ा तथा गुदा में खुजली, दाह और सूजन ये पूर्वरूप के लक्षण होते हैं।

यहाँ पर हम प्रथम ५ प्रकार का वर्णन कर रहे हैं—

(१) **शतपोनक**—मिथ्या आहार तथा विहार करने वाले पुरुष में प्रकुपित वात स्वकार्य से निवृत एवं स्थिर होकर गुदा के चारों ओर एक या दो अंगुल स्थान के मांस और रक्त को दूषित करके लाल वर्ण की पिड़का को पैदा करता है तथा यह पिड़का उस पुरुष के गुदादि प्रवेश में सुई चुभोने की-सी पीड़ा आदि लक्षणों को उत्पन्न करती है तथा उसकी चिकित्सा न करने से पाक को प्राप्त हो जाती है। इस पिड़का के फूटने से जायमान व्रण मूत्राशय के पास में होने से गीला रहता हुआ चलनी के समान छोटे-छोटे छिद्रों से पूर्ण हो जाता है, अर्थात् उसमें छोटे-छोटे व्रण बन जाते हैं तथा वे छिद्र निरन्तर स्वच्छ तथा झागदार स्राव अधिक मात्रा में बहाते रहते हैं तथा वह व्रण ताड़न, भेदन, छेदन और सूचीवेधन की-सी पीड़ा से युक्त रहता है और गुदा अवदीर्ण (विदारयुक्त) हो जाती है। इसकी उपेक्षा (चिकित्सा न) करने से उन चलनी समान छिद्रों से वात, मूत्र, मल तथा वीर्य का आगमन (स्राव) होता है। इस प्रकार के भगन्दर को शतपोनक कहते हैं।

(२) **उष्ट्रग्रीव**—प्रकुपित पित्तवात के द्वारा नीचे की ओर प्रेरित होकर पूर्ववत् उस स्थान में अवस्थित होकर लाल रंग की, पतली तथा उभरी हुई उष्ट्रग्रीवा के स्वरूप की पिड़का उत्पन्न करता है तथा वह पिड़का गुदादि स्थान में दाह आदि पित्त के अनुरूप वेदना-विशेषों को उत्पन्न करता है तथा उस पिड़का को बैठाने (शान्त होने) की चिकित्सा न करने से वह पाक को प्राप्त होती है तथा उसके फूटने से बना हुआ व्रण अग्नि और क्षार लगाने के समान दाहयुक्त होता है एवं दुर्गन्धित उष्ण स्राव त्यागता है तथा इस व्रण की भी उपेक्षा कर देने से रोग बढ़ जाता है जिससे वह व्रण वात, मूत्र और वीर्य का स्राव त्यागता है। इस प्रकार के भगन्दर को उष्ट्रग्रीव भगन्दर कहते हैं।

(३) **परिस्रावी**—मिथ्या आहार-विहारादि से प्रकुपित कफ-वात द्वारा नीचे की ओर प्रेरित होकर पूर्ववत् गुदा के चारों ओर एक या दो अंगुल के

स्थान में अवस्थित होकर कुछ श्वेत वर्ण की, स्थिर (कठिन) और खुजलीयुक्त पिड़िका को पैदा करता है तथा वह पिड़िका इस रोगी के गुदादि स्थान में कण्डू आदि कफानुरूप वेदना विशेष को उत्पन्न करती है तो लेपादि द्वारा प्रतीकार न करने पर पाक को प्राप्त हो जाती है तथा इससे उत्पन्न व्रण स्पर्श में कठोर, सरसराहटयुक्त और खुजलीयुक्त तथा निरन्तर चिकने स्राव का उत्सर्ग करता है तथा उस व्रण का शोधन-रोपणादि रूप चिकित्सा न करने से वात, मूत्र, मल और वीर्य का स्राव होता है। इस प्रकार के भगन्दर को परिस्रावी कहते हैं।

(४) **शम्बूकावर्त**—मिथ्या आहार-विहारादि से कुपित वात प्रकुपित हुए पित्त और कफ को चारों ओर से ग्रहण करके नीचे जाकर पूर्व के समान गुदादि अंगों में अवस्थान करते हुए पैर के अँगूठे के प्रमाण की सर्व लक्षणों से युक्त पिड़िका को उत्पन्न करता है। वह पिड़िका इस रोगी के उस गुदादि प्रदेश में सुई चुभोने की-सी पीड़ा, दाह, कण्डू आदि विशिष्ट वेदनाओं को उत्पन्न करती है तथा पिड़िका की चिकित्सा न करने से पाक को प्राप्त होती है तथा इसके फूटने से उत्पन्न व्रण अनेक प्रकार के रंग वाले स्राव को बहाता है तथा जल अधिक पूर (बाढ़) के समान या शंख के आवर्त्त (भँवर) के समान विशिष्ट पीड़ाओं को पैदा करता है। ऐसे को शम्बूकावर्त्त भगन्दर कहते हैं।

(५) **उन्मार्गी-भगन्दर**—मांस खाने का लालजी मूढ़ पुरुष अन्न के साथ अस्थि शल्य को निगल जाता है तथा वह शल्य जब कठिन मल के साथ मिल-कर अपना वायु से नीचे की ओर प्रेरित होकर टेढ़ा-मेढ़ा आकर गुदा को चोट पहुँचाता है, तथा वहाँ व्रण बन जाने से कोथ (सड़ान) उत्पन्न होता है तथा उस पूय और रक्त से पूर्ण मांस के कोथ में जल मे क्लिन्न (कीचड़युक्त) हुई भूमि में जैसे कीड़े पड़ जाते हैं, वैसे कीड़े पड़ जाते हैं तथा वे कीड़े गुदा के मांस को खाते हुए उसे अगल-बगल से विदीर्ण (नष्ट) कर देते हैं। उस पुरुष के उन कृमियों के द्वारा किए हुए मार्ग से वात, मूत्र, मल और वीर्य निकलते रहते हैं। ऐसे को उन्मार्गी भगन्दर कहते हैं।

गुदा के आखिरी हिस्से में स्वल्प पीड़ा तथा शोययुक्त पिड़िका उत्पन्न होती है तथा जल्दी ही शान्त भी हो (बैठ) जाती है, वह भगन्दर के अतिरिक्त पिड़िका होती है।

गुदा के दो अंगुल दूर वाले प्रदेश में उत्पन्न होने वाली, गहरे मूल की

तथा पीड़ा और ज्वर से युक्त तथा पूर्व में कही हुई पिड़िका से विपरीत लक्षणों वाली भगन्दर पैदा करने वाली पिड़िका है।

किसी सवारी पर यान (आरोहण) करने से, मल का त्याग करने से गुदा में खुजली, पीड़ा, जलन तथा सूजन का होना एवं कमर में दर्द होना यह भगन्दर के पूर्वरूप हैं।

इस विषय में सुश्रुत संहिता के चिकित्सा स्थान अध्याय ८ में चिकित्सा और सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं जो यहाँ लिखे जा रहे हैं।

पाँच प्रकार के भगन्दरों का वर्णन किया जा चुका है, इसमें शम्बूकावर्त (त्रिदोषज) और शल्य से उत्पन्न (क्षतज) भगन्दर असाध्य तथा शेष कष्टसाध्य होते हैं।

भगन्दर पिड़िका से पीड़ित, अपक्व पिड़िका वाले रोगी की चिकित्सा अपतर्पण से लेकर विरेचन पर्यन्त (द्विव्रणीय चिकित्सा में पठित) ग्यारह विधानों के द्वारा करनी चाहिए। पक्वपिड़िका वाले रोगी का स्नेहन कर अवगाह स्वेदन करें (उष्ण जल की द्रोणी में बिठाकर स्वेदन करना) और शय्या पर बिठाएँ। फिर अर्श चिकित्सा विधि की भाँति (Lithotomy position) रोगी को बाँधकर प्राचीन (बहिर्मुख) और अर्वाचीन (अन्तर्मुख) भगन्दर की परीक्षा करें तथा एषणीयन्त्र प्रवेश करके कुछ ऊँचा उठाएँ एव आशयसहित शस्त्र से काट दें।

अन्तर्मुख वाले भगन्दर में उसी प्रकार भली-भाँति यन्त्र प्रवेश करके प्रवाहरण करते हुए रोगी के भगन्दर मुख की परीक्षा करें और एषणीयन्त्र डालकर चीरा लगाएँ अथवा भगन्दर को देखकर अग्नि या क्षार कर्म का प्रयोग करें। सभी भगन्दरों के लिये यह सामान्य चिकित्सा विधि है।

विशेष चिकित्सा—सुशिक्षित वैद्य को शतपोनक (चलनी के समान छिद्र वाले) भगन्दर में नाड़ियों के मध्य में व्रण बनाना चाहिए और इन व्रणों के भर जाने पर शेष नाड़ी (Sinus) की चिकित्सा करनी चाहिए। एक दूसरे से सम्बन्धित नाड़ियों में अनेक प्रकार के व्रण बाहर से बनाना चाहिए।

जो वैद्य एक दूसरे से सम्बन्ध रहित नाड़ी में एक प्रकार का व्रण बनाता है वह रोगी के व्रण को फैला देता है तथा गुदा को विदीर्ण कर देता है। उस रोगी के फैले हुए व्रण मार्ग से मल, मूत्र का स्राव होता है तथा वायु आटोप और गुदा में अत्यन्त शूल उत्पन्न कर देता है। ऐसे अवसर पर शल्य शास्त्र

निष्णात वैद्य भी निस्सन्देह घवड़ा जाता है। इसलिए शतपोनक भगन्दर में व्रण को चौड़ा नहीं करना चाहिये।

कुशल वैद्य इस अनेक छिद्र वाली व्याधि में अर्द्धलांगलक (आधे हल की आकृति की भाँति) या लांगलक (पूरे हल की आकृति की भाँति) व्रण भी बनाए अथवा सर्वतोभद्रक (मण्डलाकार) या गोतीर्थक (गौ के खुर की आकृति का व्रण वनाए।

वैद्य स्रावमार्गों को चारों ओर से अग्नि के द्वारा जलाए। सुकुमार एवं भीरु व्यक्ति का शतपोनक-भगन्दर कष्टसाध्य होता है। उसमें वेदना तथा स्राव को बन्द करने के लिए स्वेदन का प्रयोग शीघ्र करना चाहिए।

पूर्वकथित स्वेदन द्रव्य, कृशरा, पायस, ग्राम्य, आनूप और उदक जीवों के मांस, लवा आदि या विष्कर (विखेर कर खाने वाले) पक्षियों के मांस तथा वृक्षादनी (वन्दाक), एरण्ड एवं बिल्वादिगण (वृहतपंचमूल) के द्रव्यों का भली-भाँति क्वाथ बनाकर स्नेहलिप्त घड़े में रखें और नाड़ीस्वेद के द्वारा वैद्य रोगी के व्रण का स्वेदन करें।

तिल, एरण्ड, अलसी, उड़द, जौ, गेँहूँ, सरसों, पंचलवण, और अम्लवर्ग का थाली में (चौड़े पात्र में) क्वाथ बनाकर रोगी का स्वेदन करें। इस क्रिया से रोग की निवृत्ति होती है।

स्वेदन के उपरान्त रोगी को, कूठ, पंचलवण, वच, हींग और अजवायन सम भाग में लेकर घी के साथ पिलाएँ। द्रक्षामद्य, काञ्जी, सुरा अथवा सौवीरक या मुलेठी के कल्क के सिद्ध तेल के द्वारा उस रोगी के व्रण का परिषेक करें। वातवेदना को शमन करने वाले (वातव्याधि में गठित) के तेल के द्वारा रोगी के गुदा का परिषेक करें। इन विधानों के द्वारा मल, मूत्र की प्रवृत्ति स्वाभाविक मार्ग से होने लगती है और अन्य भयंकर उपद्रव (आध्मान गुदभ्रंश आदि) निस्सन्देह हो जाते हैं।

शतपोनक का वर्णन हो चुका, अब उष्ट्रग्रीव भगन्दर की क्रिया विधि सुनो। उष्ट्रग्रीवा भगन्दर में एषण (Probing) करें और व्रण में चीरा लगाकर क्षार लगाएँ। उसमें सड़े हुए दुर्गन्धित मांस को निकालने के लिए अग्निकर्म श्रेष्ठ नहीं होता। उष्ट्रग्रीव भगन्दर में तिलों को पीसकर घृत मिला लेप करना चाहिए। उसके बाद पट्टी बांध देनी चाहिए और घी से परिषेक करना चाहिए। वैद्य तीसरे दिन पट्टी खोलकर पित्त और ताप को दूर करने वाली औषधियों

के द्वारा व्रण को शुद्ध करें। व्रण के शुद्ध होने पर जब रोपण की अवस्था प्राप्त हो तब रोपण करें।

बुद्धिमान वैद्य परिस्रावी भगन्दर में स्रावमार्गों को शस्त्र से काटकर क्षार या अग्नि से स्रावमार्ग को जलाएँ। सुखोष्ण अणुतेल में गुदा चक्र का सेक करें। गोमूत्र तथा क्षारयुक्त उपनाह (पुल्टिस) एवं प्रलेप लगाएं। वमन कराने वाली (मदनफल आदि) औषधियों के क्वाथ से थोड़ा परिषेक करें। इसमें स्राव तथा पीड़ा की न्यूनता एवं कोमलता होने पर स्रावमार्ग का (एषणी से) अन्वेषण करके शस्त्र से खजूर के पत्ते की आकृति का, अर्धचन्द्राकार, चन्द्रमण्डल, तुल्य, सूचिमुख अवांग मुख चीरा लगाएँ। शस्त्र से चीरा लगाने के बाद क्षार या अग्नि से भली-भांति पुनः जलाएं। इसके बाद प्रथम संशोधन द्रव्यों के द्वारा मृदु संशोधन देकर (कोष्ठ की परीक्षा करके) तीक्ष्ण विरेचन का प्रयोग करें।

वालक के वहिर्मुख तथा अन्तर्मुख भगन्दर में भी विरेचन, अग्निकर्म शस्त्र और क्षार का प्रयोग हानिकारक होता है। इसमें मृदु और तीक्ष्ण अर्थात् न तो अधिक तीक्ष्ण और न अधिक मृदु औषधियों के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

अमलतास, हल्दी और तगर का चूर्ण मधु तथा घृत में मिलाकर सूत को मोटी बत्ती में लगाएँ तथा व्रण में प्रवेश करें। यह व्रणों के शोधन के लिए हितकर है। यह योग (वर्ति) गति (स्रावमार्ग) को उसी प्रकार शीघ्र नष्ट करता है, जिस प्रकार वायु बादलों का नाश करता है।

बुद्धिमान वैद्य आगन्तुक भगन्दर में नाड़ी (स्रावमार्ग) को शस्त्र द्वारा यत्न पूर्वक काटकर जामुन के फल के समान अग्नि वर्ण शलाकायन्त्र से पूर्वकथित विधि के अनुसार उस व्रण को जलाएँ। व्रण के अन्दर से शल्य निकालने का उपाय तथा कृमिनाशक क्रिया करें।

यह (आगन्तुक भगन्दर) असाध्य है। ऐसा समझकर इसकी चिकित्सा प्रारम्भ करें तथा त्रिदोषज भगन्दर को असाध्य समझकर त्याग दें। सभी भगन्दरों के लिए क्रमशः इस चिकित्सा विधि का वर्णन किया गया है।

इनमें शस्त्रकर्म के कारण जहाँ वेदना उत्पन्न हो वहाँ अणुतेल के द्वारा परिषेक करना हितकर (श्रेष्ठ) होता है।

वातघ्न औषधियों (भद्रदार्वादि) के क्वाथ से पूर्ण, छिद्र युक्त शराब से ढकी तथा वाष्प से भरी हुई, तप्त थाली पर गुदा में स्नेह लगाकर रोगी को बैठाएं अथवा रोगी को सुलाकर वेदना शान्त करने वाले नाड़ीस्वेद से स्वेदन करें अथवा उष्ण जल में बैठाने से भी वेदना शान्त होती है।

बुद्धिमान वैद्य कदलीमृग, लोपाक (लोमड़ी) और प्रियक के चर्म को एकत्रित कर उनके द्वारा पुल्टिश बाँधें तथा शाल्वण (मांस मिश्रित) स्वेद करें।

त्रिकटु, वच हींग, पंचलवण और अजवायन का चूर्ण कांजी, कुलथी के क्वाथ, सुरा तथा सोवीनक आदि के साथ पिलाएँ।

मालकांगनि, कलिहारी, काला निशोथ, दन्ती श्वेत-निशोथ, तिल, कूठ, सौंफ श्वेतर्दूवा, लोध्र श्वेतपुष्पा, अपराजिता, कासीस, कंकुष्ठ और श्वेत यवतिक्ता। यह वर्ग (भगन्दर में) शोधन के लिए उत्तम है।

श्वेतनिशोथ, तिल, दन्ती तथा मजीठ का दूध के साथ, सेंधा नमक और मधु मिलाकर लेप करने से निम्न व्रण भरता है।

रसोत, हल्दी, दारुहल्दी, मजीठ, नीम का पत्ता, श्वेतनिशोथ, तेजबल और दन्ती का कल्क नाड़ीव्रण (Sinus) का नाश करता है।

कुष्ठ श्वेतनिशोथ, तिल, दन्ती पिप्पल, सेंधा नमक, हल्दी, त्रिफला और तूतिया व्रणशोधन के लिए हितकर होते हैं।

पिप्पल, मुलहठी, लोध्र, कूठ, इलायची, रेणुकाबीज, मजीठ, धाय के फूल, सारिबा, हल्दी, दारुहल्दी, फुलप्रियंग, राल, पद्माख, कमलकेशर, सेहुण्ड, वच, कलिहारी, मोम और सेंधा नमक इन द्रव्यों को पूर्ण रूप से एकत्रित कर इनके द्वारा धैर्यशील वैद्य तेल पाक करे। यह तेल गण्डमाला, मण्डल तथा प्रमेहजन्य व्रण के रोपण के लिये हितकर एवं भगन्दर नाशक है।

न्यग्रोधादिगण से द्रव्य शोधन-रोपण के लिए हितकर तथा इनके कल्क से सिद्ध तेल या घृत भगन्दर नाशक होता है।

श्वेतनिशोध, दन्ती हल्दी, मदार की जड़, लोह (अगर), कनेर की जड़, विडंग, त्रिफला, सेहुण्ड का दूध, मदार का दूध, मधु और मोम के द्वारा तेल पाक करें। इस तेल का प्रयोग विशेष रूप से भगन्दर के नाश के लिए करना चाहिए।

चित्रक, मदार, श्वेतनिशोथ, पाठा, कठगूलर, कनेर, सेहुण्ड, वच, कलिहार, सतवन, सज्जीखार और मालकांगनी को एकत्रित कर धैर्यवान वैद्य तेल पाक करें। यह तेल दोषों को बाहर निकालने वाला है। इसका प्रयोग भगन्दर में प्रचुर परिमाण में करना चाहिए। यह व्रण का शोधन रोपण करता है एवं व्रण स्थान को त्वचा का रंग प्रदान करता है। बुद्धिमान वैद्य व्रण की दशा के अनुसार द्विव्रणीय-चिकित्सा में पठित विधि का प्रयोग करें।

यन्त्र प्रयोग को जानने वाला वैद्य अर्धयन्त्र के ओष्ठ को छिद्र से ऊपर पकड़कर अर्धचन्द्राकार रूप में भगन्दर के अन्दर प्रवेश करें।

भगन्दर व्रण के भर जाने पर भी रोगी को व्यायाम, मैथुन, क्रोध, घोड़े आदि का सवारी और भारी भोजन एक वर्ष तक त्याग देना चाहिए।

अर्श (Piles)—गुदनासादिकी त्वचा के मांस में उत्पन्न हुए विकार को अर्श कहते हैं। अर्श छह प्रकार के होते हैं—(१) वात-अर्श, (२) पित्त अर्श, (३) कफ अर्श, (४) रक्त-अर्श, (५) सन्निपात-अर्श, (६) सहज-अर्श।

सहज अर्श को आदिबल प्रवृत या कुलज अर्श भी कहते हैं। डाक्टरी में अर्श को कुलज प्रवृत्ति नहीं मानते।

वाग्भट्ट तथा चरक ने अर्श के दो भेद बताये हैं—(१) शुष्क और (२) स्रावी। वात तथा कफ की अधिकता वाले शुष्क तथा रक्त पित्त की अधिकता वाले स्रावी कहे जाते हैं। डाक्टरों में अर्श के दो भेद मानते हैं—(१) बाह्य (External), (२) आन्तरिक (Internal)।

शुष्कार्श-बाह्यार्श (External Piles)—ये गुदोष्ठ के बाहर पहिये के आरे की भाँति चारों ओर रहते हैं। प्रत्येक मस्से के मध्य में एक शिरा होती है, उसके चारों ओर सौत्रिक तन्तु होते हैं जो त्वचा से ढके रहते हैं। ये प्रायः सूखे रहते हैं, अतः इन्हें शुष्कार्श भी कहते हैं। जब ये रगड़ से शीतस्पर्श एवं अधिक बैठने, तीव्र मलावरोध आदि कारणों से प्रकुपित व शोधयुक्त हो जाते हैं तब रोगी को चलने-फिरने में कष्ट होता है।

स्रावी-रक्तार्श या आन्तरिकार्श (Interal Piles or Bleeding Piles)—ये गुदोष्ठ के भीतर तथा मध्य में अधिक शिराओं से युक्त होते हैं तथा चारों ओर सौत्रिक तन्तु होते हैं तथा सबसे ऊपर श्लैष्मिक कला का आवरण चढ़ा रहता है। प्रारम्भ में कोमल तथा बन्द में रगड़ आदि से कठोर हो जाते हैं। शौच करते समय ये बाहर भी आ जाते हैं तथा इनमें श्लेष्मा और रक्त का स्राव होता है।

पर्व में कहे हुए प्रकोपक कारणों से एवं विरुद्ध भोजन अध्ययन, स्त्री के साथ सम्भोग, उकड़ा आसन लगाकर बैठना घोड़े, बैल और ऊँट की पीठ पर सवारी करना और आधारणीय वेगों के धारण करने से असंयमी पुरुषों के प्रकुपित हुए वातादि दोष अकेले, दो-दो मिलकर, समस्त दोष मिलकर या रक्त के सहित अनेक प्रकार से प्रसृत होकर शरीर की प्रधान धमनियों का आश्रय लेकर उनके द्वारा नीचे जाकर गुद में आकर गुदा की बलियों को दूषित

करके उनमें मांस के अंकुर उत्पन्न करते हैं। मंदाग्नि वाले मनुष्य में यह रोग विशेष रूप से उत्पन्न होता है तथा ये माँसाकुर, (मस्से) तृण, काष्ठ, पत्थर, ढेला, वस्त्र इत्यादि की रगड से अथवा शीतल पानी के अधिक स्पर्श से परि-वृद्धि को प्राप्त करते हैं, उन्हीं को अर्श कहा जाता है।

प्रधान रूप से चिरकालिक निबन्ध के कारण दस्त जाते समय प्रवाहण करने से एवं मूत्राश्मरी, अष्ठीलावृद्धि यकृद्दाल्युदर, जलोदर तथा स्त्रियों में गर्भावस्था, गर्भाशय के अर्बुद आदि से उत्पन्न होता है। सम्प्राप्ति मलाशय की शिराओं की विकृति है। मलाशय की शिरायें लम्बाई की ओर होती हैं तथा उनमें कपाट नहीं होते हैं अतः प्रवाहणादि कारणों से इनमें रक्त भर जाता है तथा ये शिरायें फूलकर मस्से बन जाते हैं।

गुद वर्णन—शरीर में स्थूलान्त्र के आखिरी भाग के साथ संयुक्त साढ़े पाँच अंगुल अथवा साढ़े चार अंगुल गुदा होती है। उनमें डेढ़-डेढ़ अंगुल के अन्तर पर प्रवाहिणी, विसर्जनी तथा संवरणी नाम की तीन बलियाँ होती हैं। उक्त तीनों वलियाँ मिलाकर चार अंगुल लम्बी एक अंगुल टेढ़ी उभरी हुई एक शंख के आवर्त्त की तरह एक के ऊपर एक रहती है। इनका रंग हाथी के तालु के समान कुछ काला-लाल होता है। रोम प्रान्तों में गुदौष्ठ डेढ़ यव ऊपर होता है तथा प्रथम संवरणीवली गुदौष्ठ से एक अंगुल दूर होती है।

अर्श पूर्व रूप—उत्पन्न होने वाली अर्श के पूर्वरूप की अवस्था में भोज[न] करने में अनिच्छा, कठिनाई से अन्न का पचना, खट्टी डकारें आना, जलन, पेट में अफरा होना, प्यास लगना, टाँगों में थकावट, पेट में गुड़-गुड़ शब्द होना, शरीर की कृशता, डकारें अधिक आना, आँखों में सूजन, आँतों में कूजन, गुद में कैंची से कतरने की-सी पीड़ा होना तथा पाण्डु, संग्रहणी तथा उदर रोग होने की शंका होना एवं कास, श्वास, बलहानि, भ्रम, तन्द्रा, निन्द्रा तथा अन्य इन्द्रियों की दुर्बलता आदि लक्षण होते हैं। अर्श के उत्पन्न होने पर ये ही उक्त लक्षण अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाते हैं।

वातार्श—वायु की अधिकता से अर्श (मस्से) सूखे, लाल काले, नीले, बीच में से ऊँचे-नीचे तथा कदम्ब के फूल के समान या बनकापसि के फूल-सदृश, अथवा नाड़ी (नालिका) के सदृश किंवा पुष्प के मुकुल के समान किंवा सुई के मुख के समान तीखी नोंक वाले होते हैं। इनसे पीड़ित मनुष्य शूल के साथ

सख्त मल का त्याग करता है तथा उस मनुष्य की कटि, पुष्ठ, शाश्वं, मेढ़, गुदा और नाभि के स्थानों में पीड़ा होती है तथा उन्हीं से गुल्म, अष्ठीला तथा प्लीहावृद्धि रोग उत्पन्न होते हैं एवं उस पुरुष की त्वचा, नख, नेत्र, दन्त, मुख, मूत्र और मल ये काले हो जाते हैं।

पित्तार्श—अग्र भाग में नीले, पतले, फैलने वाले, कुछ पीलेपन से युक्त, यकृत के समान चमकते हुए एवं तोते की जीभ के समान आकृति वाले, बीच में यव के सदृश मोटे, जलौंका के मुख के समान स्वरूप के तथा क्लेद (स्राव) युक्त होते हैं। इनसे पीड़ित मनुष्य दण्ड तथा रक्तायुक्त दस्त करता है तथा ज्वर, दाह, पिपासा और मूर्च्छा में उपद्रव होते हैं एवं उस पुरुष की त्वचा, नख, नेत्र, दन्त, मुख, मूत्र और मल पीले हो जाते हैं।

श्लेष्मार्श—श्वेत, मूलभाग में मोटे, कठिन, गोल, चिकने, वर्ण में पाण्डु तथा कटीर (मरुस्थल द्रुम) फल और कटहल की गुठली एवं द्राक्षा के स्वरूप के होते हैं एवं न तो फटते हैं और न ही रक्तादि का स्रवण करते हैं एवं उनमें खुजली अधिक चलती है। श्लैष्मिक अर्श से पीड़ित मनुष्य कफयुक्त, मांस के धाव के समान अधिक मात्रा में मल का उत्सर्ग करता है तथा अर्श के ही कारण शरीर में शोथ, शीतज्वर, अरुचि, मन्दाग्नि तथा सिर में भारीपन ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं एवं उस मनुष्य की त्वचा, नख, मुख, मूत्र और मल श्वेत वर्ण के हो जाते हैं।

रक्तार्श—वट के अंकुर, मूंगा तथा गुञ्जा के फल के समान लाल वर्ण के तथा पित्त के लक्षणों से युक्त होते हैं। जब मनुष्य बड़ी सख्ती से मल त्याग करता है तब उसके मल की रगड़ से पीड़ित (घर्षित) होकर अत्यधिक मात्रा में दूषित रक्त सहसा स्राव करते हैं। उस रक्त स्रुति या रक्तार्श के अधिक बढ़ने पर रक्त के अधिक स्रवण रूपी अतियोग उत्पन्न उपद्रव होते हैं।

सहजार्श—ये गर्भाधान के समय माता के दुष्ट रक्त तथा पिता के दुष्ट वीर्य के कारण उत्पन्न होते हैं। इन शहजार्शों में भी दोषों के अनुसार ही भेद करना चाहिए। दोषों के अनुसार ही चिकित्सा की जानी चाहिये। ये अर्श विशेषतया कठिनता से दिखाई देने वाले, स्पर्श में कठोर, वर्ण में पाण्डु दारुण (दुखदायी) तथा अन्तर्मुख (या अन्तर्वली में) होते हैं। इनसे पीड़ित मनुष्य दुर्बल, अल्प भोजन करने वाला, शरीर पर शिराओं के उभार से युक्त, कम सन्तान वाला, क्षीणवीर्य, दुर्बल स्वर, क्रोधी, अल्पपाचकाग्नियुक्त तथा

नासा, सिर, नेत्र और कानों के रोगों से पीड़ित एवं निरन्तर आन्त्र में कूजन शब्द तथा आटोप (गुड़गड़ाहट) होना तथा हृदय पर भारीपन, अरुचि आदि लक्षणों से पीड़ित रहता है।

इस विषय में कहा गया है कि जो अर्श बाह्य (संवरणी वली) जो कि Spincteronl नामक दो पेशियों से बनी है, वली तथा मध्यम (विसर्जनी) वली में होते हैं। उनका प्रतिकार (चिकित्सा) करना चाहिए तथा जो अन्तर्वली (प्रवाहिणी) में हो उनकी चिकित्सा (निषेध करके या असाध्य कहकर) करनी चाहिए।

लिंगार्श—प्रकुपित हुए वातादि दोष मेढ़ (लिंग) में जाकर वहाँ के मांस तथा रक्त को दूषित कर उसमें प्रथम खुजली पैदा करते हैं। खुजलाने से वहाँ क्षत (घाव : ulcer) बन जाता है तथा उस क्षत में कूच के आकार के शिश्न की सुपारी (मणि पर या चर्म के ऊपर) दूषित मांस के अंकुर पैदा होते हैं तथा उनसे लसदार रक्त का स्राव होता है तथा अधिक बढ़कर वे अंकुर लिंग तथा पुंस्त्व को नष्ट कर देते हैं तथा स्त्रियों की योनि में कुपित हुए वातादि दोष वहाँ से मांस तथा रक्त को दूषित कर कोमल, दुर्गन्धयुक्त, चिपचिपे रक्त का स्राव करने वाले तथा छत्र के आकार के अंकुर उत्पन्न करते हैं। ये अंकुर योनि तथा आर्तव का विनाश कर देते हैं।

नाभि में प्राप्त हुए वातादि दोष कोमल, दुर्गन्धित, चिपचिपे, गण्डूपद (केंचुए) के मुख के आकार के करीरों (अकुरों) को पैदा करते हैं। वे ही वातादि दोष शरीर के ऊर्ध्व भाग में आकर कर्ण, नेत्र, नासा और मुख इन स्थानों में अर्श होने पर बहरापन, शूल तथा पूतिकर्णता ये रोग उत्पन्न करते हैं। नेत्र में अर्श होने पर वर्त्म की गति में बाधा, पीड़ा, स्राव तथा दर्शन-शक्ति का नाश, ये लक्षण उत्पन्न होते है। नासा में अर्श उत्पन्न होने पर प्रतिश्याय (जुकाम), अधिक छींकें आना, कठिनता से साँस लेना, नासा-दौर्गन्ध्य, अनुनासिक शब्दों का उच्चारण और सिर में पीड़ा ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। मुख में कण्ठ, ओष्ठ तथा तालु इनमें से किसी एक अंग पर अर्श उत्पन्न होने से अस्पष्ट वाक्य का उच्चारण, रस का ठीक ज्ञान न होना तथा अन्य मुख रोग उत्पन्न होते हैं।

चर्मकील—प्रकुपित व्यान वायु कफ के साथ संयुक्त होकर त्वचा के बाह्य प्रदेश पर स्थित तथा कील के समान अर्श उत्पन्न करता है, उस अर्श को चर्मकील कहते हैं।

वात दोष की अधिकता होने से उन चमंकीलों में सुई चुभाने की-सी पीड़ा होती है तथा कफ दोष की अधिकता में उनका कफ के समान श्वेत रंग तथा ग्रन्थि समान आकार का होता है। पित्त और रक्त की दृष्टि से उनमें कालापन तथा लालिमा होती है एवं कफ से स्निग्धता तथा वायु से तीव्र परुषता भी होती है।

श्रेष्ठ वैद्य मेढ़, नाभि, नासा आदि स्थानों मे उत्पन्न अर्श के जो लक्षण संक्षेप में कहे हैं उन्हें विस्तार से कहे हुए अर्श के लक्षणों के अनुसार दोषादि की कल्पना से समझ कर चिकित्सा द्वारा ठीक करें।

द्वन्द्वजार्श—जल अर्श में दो-दो दोषों के मिले हुए लक्षण दिखाई दें, तब उन्हें संसर्गज अर्श या द्वन्द्वज अर्श समझना चाहिए तथा यह संसर्ग (वातपित्त, वातकफ, पित्तकफ, वातरक्त, पित्तरक्त और कफरक्त भेद से) छह प्रकार का होता है।

जो अर्श त्रिदोष युक्त हो किन्तु दोषों ने लक्षण अल्प या तीव्र न हों उन्हें याप्य अर्श कहते हैं। जो अर्श दोषों से उत्पन्न तथा गुदनलिका की द्वितीय (वसर्जनी) नली में होते हैं तथा एक वर्ष से अधिक पुराने हो गये हों उन्हें कृच्छ साध्य अर्श कहते हैं। सन्निपात (त्रिदोषज-संयोग) से उत्पन्न तथा सहज अर्श असाध्य होने से चिकित्सा दृष्टि से वर्जित है।

प्रतिषेधात्मक चिकित्सा

निदान वर्जन—अर्श किन कारणों से होता है, उसका विस्तार से वर्णन करते हुए चरक चिकित्सा स्थान अ० १४ में लिखा है कि सहज अर्श तो जन्म लेने के पूर्व से ही माता के शोणित एवं पिता के शुक्र की विगुणता के कारण गर्भावस्था में ही हो जाता है और जन्मोत्तर कालीन अर्श गुरु मधुर शीतल आदि आहार एवं विषमाचार के कारण होते हैं। उन सभी कारणों को देखते हुए हम एक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाचन संस्थान की क्रिया का उचित रूप में कार्य कर रहना अर्श को उत्पन्न नहीं होने देता है। शरीर की पाचकाग्नि का सुचारु रूप से कार्य करना ही स्वस्थ रख सकता है। अतः प्रतिषेध के लिए प्रथम जो नियम है वह है निदान परिवर्जन। प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य का कर्त्तव्य है कि स्वस्थ रहने के लिए उन कारणों को न आने दे जो कि अर्श उत्पादक बताये हैं। अतः कारणों से बचाव करना प्रथम उपाय हुआ।

भ्रमण—स्वस्थ मनुष्य के लिए आवश्यक है कि स्वस्थवृत्त में लिखे अनुसार नियम पालन करे और इस रोग से बचने के लिए भ्रमण एक आवश्यक कार्य

समझे। हर समय बैठने एवं लेटने वालों को यह रोग अधिक होता है। अतः घूमना इससे बचने में सहायक है।

आसन—कुछ ऐसे आसन हैं जिनको अभ्यास करते हुए नित्य करते रहना पाचन के लिए लाभदायक हैं। पाचन ठीक रखते हुए वे आसन अर्श रोग से बचाते हैं। अतः आसन की क्रियाओं को सीखकर उनको करना लाभप्रद रहेगा। हम यहाँ कुछ आसनों के नाम दे रहे हैं, जिनकी क्रियाओं को कार्यकुशल व्यक्ति से सीख लेना चाहिए। एतदर्थ—एकपादकन्दरासन; उत्थित द्विपादासन, शीर्षासन, चतुष्पादासन, मयूरासन आदि का अभ्यास लाभप्रद रहता है।

तक्रादि पाचन प्रयोग—जैसा कि निदान बताते हुए भी लिखा है कि जठराग्नि की क्रिया के ठीक रहने से इस व्याधि से बचा जा सकता है। अन्य आहार भी स्वस्थवृत्तानुसार सेवन करे परन्तु उस अर्श को नाश कर देने वाले तक्र को अवश्य ही प्रयोग में लाये जो अर्श की उत्पत्ति के बाद उसको नष्ट कर देती है. तक्र कितना लाभकारी पेय है, इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि यो तो इस लोक का अमृत का पान तक्र) सभी को करना चाहिए तो भी यह ध्यान रहे कि अर्श से बचने के लिए यह बहुत ही उत्तम आहार होता है।

२० **गणेश क्रिया**—इस क्रिया का नित्य प्रति प्रयोग करने वाला व्यक्ति अर्श से पीड़ित नहीं हो सकता। इसका विधान यह है कि शौचापरान्त अपनी तर्जनी अंगुली को गुदा में प्रवेश कर इधर-उधर से सारा मल साफ कर लेना चाहिए। यह अंगुली गुदा के आकार की होती है। इसके प्रवेश के बाद पुनः थोड़ा मल त्याग होता है और इस प्रकार गुदा के भाग म थोड़ा भी मल नहीं रह सकता जो अर्शोत्पत्ति में कारण बन सके। अतः रोज ही इस क्रिया को प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए, जिससे वह अर्श से बचा रहे।

इस प्रकार ऊपर के नियमों को जानते हुए एव सभी का पालन करते हुए एक स्वस्थ मनुष्य अपने को अर्श रोग के उत्पन्न होने से बचा सकता है और इस महाकष्टकर व्याधि के पाश में नहीं फँसता।

प्रशमनात्मक चिकित्सा

सुश्रुत में चार प्रकार के उपाय बताये हैं। इन चारों की प्रयोगावस्थाओं का भी वर्णन है, तदनुसार अल्प समय से उत्पन्न वातादि दोषों के लक्षण एवं उपद्रव अल्प हों, वे अर्श भैषज्य साध्य होती है। कोमल, फूले हुए, कठोर और जो कुछ ऊँचे हो गये हैं वे क्षार साध्य होते है। तीक्ष्ण, दृढ़, कठोर और मोटे

मस्से अग्नि कर्म साध्य हैं। पतली जड़ वाले, ऊँचे और क्लेदयुक्त मस्से शस्त्र कर्म साध्य हैं।

शस्त्र क्षार और अग्नि, यह तीन प्रकार का कर्म बहुत शास्त्र पारंगत, शस्त्र-कर्म जिसने देखे हैं बुद्धिमान वैद्य द्वारा किया जाता है। उसमें भूल करना अत्यन्त भयंकर होता है। शस्त्र-क्षार व अग्नि कर्म में विभ्रम होने से पुंस्त्वनाश, गुदशोथ, मलादिवेगरोध, आध्मान, उदरशूल, पीड़ा, रक्त की अतिशय प्रवृत्ति, अर्शों की पुनरुत्पत्ति, भरे हुए अर्शों का क्लेद, गुदभ्रंश अथवा मृत्यु भी शीघ्र हो सकती है। अर्शों की समूल निवृत्ति के लिए जो चिकित्सा सुखसाध्य अल्पभ्रंश करने वाली और अदारुण है, वह है भैषज्य चिकित्सा।

ऊपर के दोनों वर्णन भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवादियों के हैं। चरक कार्य-चिकित्सा प्रधान ग्रन्थ है। अतः वह शल्यशास्त्र के विधान में अपनी सम्मति न देकर केवल इतना ही संकेत कर रहा है कि ये तीनों कर्म कितनी सावधानी से हो सकते हैं—अन्यथा मृत्यु तक हो सकती है—अतः वह अपना अधिकार ही उपयोग में लाते हुए केवल औषधि द्वारा चिकित्सा का ही वर्णन करता है जिसकी ऊपर लिखी विशेषताएँ हैं और दूसरी ओर सुश्रुत शल्य प्रधान ग्रन्थ होने से क्षार, अग्निशस्त्र का ही विधान बताता है। औषधि का विधान दूसरे सम्प्रदाय का होने से उनका अधिकार नहीं छीनता, अतः हम चारों का ही विधिवत् वर्णन करेंगे।

औषधोपचार—चिकित्सा करते समय चरक ने अर्श के केवल दो ही रूप लिये हैं—प्रथम शुष्कार्श और द्वितीय परिस्रावी। अतः इनका क्रमशः अलग-अलग वर्णन करते हैं।

शुष्कार्श

पिण्ड स्वेद—चरक ने शोथ-शूलयुक्त स्तब्ध अर्श के रोगी को सर्वप्रथम स्वेदन करने की आज्ञा दी है। पिण्ड स्वेद करने को बताते समय चरक ने ये योग बताये हैं—चित्रक यवक्षार, बेल से सिद्ध तेल लगाकर इन वस्तुओं में से किसी का पिण्ड बनाकर स्वेद दें—(१) जौ, उड़द, कुलथी, पुलाक की पोटलियों से, (२) गाय, गधा, घोड़ा की मल पिण्डों से, (३) तिल कल्कों से, (४) भुसी से, (५) वच, सौंफ के पिण्डों, (६) सक्तु पिण्डों से, (७) स्नेहयुक्त सुहाते गर्म सूखी मूली के पिण्डों से, (८) सहजन मूलत्वक पिण्डों से, (९) रास्ना पिण्डों से एवं (१०) हाऊबेर के पिण्डों से स्वेदन करें।

कुष्ठ में सिद्ध तेल से चुपड़कर ईंट, खुरासानी अजवायन या गाजर के शाकों से पिण्ड बनाकर स्वेदन करना चाहिए।

परिषेक—वासा, आक, एरण्ड, बेल के पत्तों के क्वाथ से परिषेक करें। परिषेक कुम्भी वर्षलिका अथवा पुनाठी के क्वाथ भर कर किया जाता है। इन यन्त्रों से उस क्वाथ को सीधे शरीरावयव पर डाला जाता है।

अवगाह—मूली, हरण, बहेड़ा, आँवला, बांस, वरुण, अरणी, सहेंजन तथा अश्मन्तक के पत्तों को जल में उबालकर भले प्रकार के तेल से चुपड़े शेलयुक्त अर्श वाले का अवगाह करायें।

वेर के उक्त क्वाथ में, गुनगुने सौवीरक तुषोदक में, बेल के क्वाथ में तक्र में, दधिमण्ड खट्टी कांजी या गोमूत्र में स्नेह भावित अवगाह करें।[1]

धूपन—रोगी को दो ईंटों पर मल त्यागने की स्थिति में बैठा दें। उसके नीचे अंगारे रखकर निम्न योगों में से किसी का चूर्ण डालकर धूपन देना चाहिए।

१—काला सांप, सूअर, ऊँट, चमगादड़, बिलौटा, इनकी वसा का अभ्यंग दें तथा धूपन करें।

२—धनिया, बिडंग, देवदारु, जौ, घी, बड़ी कटेरी तथा अश्वगन्धा के चूर्ण का।

३—पीपल, तुलसी, घृत, सूअर और बैल के गोबर का।

४—सत्तू और घी का।

५—हाथी की लीद, राल तथा घृत का धूपन करना चाहिए।

प्रलेप—अर्श पर लेप करने का विधान बहुत लाभदायक है, इन प्रलेपों से संचित हुआ दुष्ट रक्त निकल जाता है, कण्डु शान्त हो जाती है। अर्शों का पातन भी होता है। हम नीचे शास्त्रोक्त योग दे रहे हैं—

१—सेहुण्ड, दूध, हल्दी के चूर्ण में मिलाकर लेप करना चाहिए।

२—हल्दी और पिप्पली को गाय के पित्ते में मिलाकर लेपन करें।

३—सिरस के बीज, कूठ, पिप्पलियाँ, सेंधा नमक, गुड़, आक का दूध सेहुण्ड का दूध तथा त्रिफला का प्रलेप करें।

---

१. परिषेक, अवगाह का विधान लेखक की पुस्तक 'पंचकर्म विज्ञान' पृष्ठ ५५ पर देखें।

४—पिप्पली, चित्रक, निशोथ काली, किणव, मदनफल के बीज, मुर्गे की बीट, हल्दी, गुड़ मिलाकर प्रलेप करें।

५—दन्ती, काली निशोध, तूतिया, कबूतर की बीट, गुड़, हाथी की हड्डी, नीम तथा भिलावे का लेपन करें।

६—ऊँट की वसायुक्त अथवा मगर की वसायुक्त हरताल का गुनगुना लेप करें।

७—आक का दूध, सेहुण्ड का तना, कड़वी, लौकी, करंज के पत्ते और बकरे के मूत्र का लेपन करना चाहिए।

८—**रजनी लेप**—हल्दी के चूर्ण को थूहर के दूध में मिलाकर लेप करें।

९—**पिप्पल्यादिलेप**—पीपल, सैंधव, कुठ और सिरस के बीज के चूर्ण को थूहर के अलावा आक के दूध में पीसकर लेप करें।

१०—**हरिद्रादिलेप**—हल्दी और कड़वी तोरई का चूर्ण करके सरसों के तेल में मिलाकर लेप करें।

—भावप्रकाश से।

रक्तावसेंचन—ऊपर लिखी सभी क्रियाओं को कर लेने के बाद दुष्ट रक्त को निकालने के लिए रक्तावसेंचन का विधान बताया है रक्त दुष्ट होने पर शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष उपचारों से व्याधि शान्त नहीं होती है, अतः रक्तावसेंचन कराना चाहिए। जोंक लगाकर, सुइयों से या शस्त्र इत्यादि से रक्त निकाला जाये। दूषित रक्त निकल जाने पर शूल शोथ आदि की निवृत्ति हो जाती है। यदि अर्श कठोर हो तो अभ्यंग आदि कर उन्हें कोमल कर लेना चाहिए फिर रक्तावसेंचन हो जायेगा।

औषध—गुड़ सहित हरीतिकी भोजन पूर्व खिलाएं। त्रिफला के रस में निशोथ चूर्ण मिलाकर पिलाएँ। गोमूत्र में एक रात तक भिगोई गई हरीतिका का प्रयोग गुड़ से कराएँ। तक्र के साथ हरण या त्रिफला का सेवन कराएँ। जीरे के साथ चित्रक तथा चव्य मिलाकर सीधु से दें। हाऊवेर, पाठा, काला नमक, सुरा के साथ पिलाएं। व्युषणादि चूर्ण का प्रयोग करें। कैथ और बेल, चित्रक और भल्लातक अथवा बेल, सोंठ और अजवायन के साथ तक्र प्रधान तर्पण दें।

तक्र प्रयोग—शुष्कार्श की चिकित्सा लिखते समय तक्र प्रयोग का वर्णन करना चिकित्सा विषय की अपूर्णता है। वातार्श में स्नेह सहित तथा कफार्श में स्नेहरहित तक्र का प्रयोग कराना चाहिए। तक्र प्रयोग का विधान बताते समय

दोष, बल तथा काल का विचार कर यथाविधि सात दिन, पन्द्रह दिन अथवा अधिक से अधिक एक मास तक प्रयोग कराने का विधान चरक ने बताया है। जिस रोगी की पाचकाग्नि मन्द पड़ गई हो उसको केवल तक्र पर ही रखना चाहिए। कुछ अग्नि अपेक्षाकृत तीक्ष्ण होने पर प्रातःकाल तक्र और सायंकाल लाजा से सत्तुओं का बनाया गया अवलेह देना चाहिए। अपेक्षाकृत अग्नि के और तीव्र होने पर तक्र के साथ घृतादि स्नेह एवं भात खाने को दें। भोजनोपरान्त तृष्णा की शान्ति के लिए तक्र का ही प्रयोग करना चाहिए। तक्र के साथ मिलाकर यूष अथवा मांस रस का भोजन कराएँ।

इस प्रकार तक्र का जो प्रयोग चरक ने बताया है, वह एक तक्र कल्प की रूपरेखा है। इसी से आचार्य कहते हैं कि तक्र का प्रयोग एकदम बन्द न किया जाय। शनैः-शनैः थोड़ा-थोड़ा कम करते हुए छोड़ना चाहिए। यथाविधि किए गये इस कल्प से रोगी शक्तियुक्त, तीव्राग्नि, पुष्ट तथा शुभ्रवर्ण युक्त हो जाता है तथा इसके द्वारा ठीक हुए अर्श की पुनः उत्पत्ति की सम्भावना नहीं रहती।

तक्र के प्रयोग विधान के साथ ही साथ चरक में लिखे तक्रारिष्ट के महत्त्व को भी कम न समझना चाहिए। इस दीपक, अनुलोमक आरिष्ट के प्रयोग से अर्श में लाभ होता है। तक्र की विशेष औषध सावित करने के लिए चरक में बताया गया है कि चित्रकमूल त्वक को पीसकर घड़े में लेप करें और उस लिप्त घड़े में दूध को जमाकर दही तैयार करें। इस दही का बना तक्र इस रोग के लिए विशेष उपयोगी है।

स्नेह—शुष्कार्श से पीड़ित उन रोगियों को जिनको अत्यन्त गाढ़ा पुरीष निकलता है स्नेह चिकित्सा देनी पड़ती है। चरक ने इसके लिए निम्न स्नेहों का वर्णन किया है—

(१) पिप्पल्यादि घृत	(चरक चि० अ० १४)
(२) चव्यादि घृत	(,, ,, ,,)
(३) नागरादि घृत	(,, ,, ,,)

उनके साथ ही साथ अनुवासन करने को भी चरक ने कहा है, विशेषकर पिप्पल्यानुवासन के प्रयोग के लिये।[1]

---

१. अनुवासन के विषय में वर्णन लेखक की पुस्तक 'पंचकर्म विज्ञान' पृष्ठ १५१ पर देखें।

शास्त्रोक्त योग—शुष्कार्श की चिकित्सा करते समय जो प्रसिद्ध शास्त्रोक्त योग हैं उनके नाम मात्र हम नीचे देते हैं—

१. अभयारिष्ट	(चरक अर्श)
२. दन्त्यारिष्ट	(" ")
३. फलारिष्ट	(" ")
४. शर्करासव	(" ")
५. कनकारिष्ट	(" ")
६. समशर्कर चूर्ण	(भावप्रकाशअर्श)
७. विजय चूर्ण	(" ")
८ लघु शूरण मोदक	(" ")
९. वृहत्सूरण मोदक	(" ")
१०. श्री बाहुशाल गुड़	(" ")
११. पिलादि मोदक	(" ")
१२. सगुडाभया	(" ")
१३ शंकर लोह	(" ")
१४. हिंग्वादि चूर्ण	(सुश्रुत चि०)
१५. काकायन मोदक	(भै० र०)

इसके अतिरिक्त रस औषधियों का भी प्रयोग अर्श की चिकित्सा में किया जाता है।

पथ्य—आहार पर विशेष ध्यान रखना बहुत ही आवश्यक है जो कि चिकित्सक अवस्था विशेष में स्वयं ही निर्णय कर सकता है—तो भी मलावरोध एवं वातावरोध में निम्न आहार का निर्देश शास्त्र में किया है—

(१) मोर, तीतर, लावा, मुर्गा और बटेर का मांसरस अम्लीकृत (अनारादि से) करके आहारार्थ दें।

(२) निशोथ, दन्ती, पलाश, चांगेरी और चित्रक के पत्तों को घृत एवं तेल में भूककर दही में मिलाकर खाने को दें।

(३) पोई का शाक, चौलाई, शतावर, बथुआ, ब्राह्मी, यवशाक, सकोय, मानकन्द, कचूर, शलगम, गाजर, लाल लहसुन आदि शाकों को घृत एवं तेल में भूनकर दही के साथ दें।

(४) अनुपान मदिरा, तक्र, तुषोदक, आरिष्ट, दही का पानी, षडांगनीय जल पीने को देना चाहिए।

ऊपर जितनी औषधि, तक्र, शास्त्रोक्त योग एवं पथ्य के विषय में बातें लिखी हैं उनका आधार केवल एक ही है कि अर्श के रोगी की पाचकाग्नि को तीव्र रखा जाय। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन सभी योगों में मुख्य रूप से चित्रक, पिपलीमूल, पाठा, बेल, काली मिर्च गुड़, यवक्षार, सोंठ, चव्य, हाऊबेर, अजवायन, हरीतकी एवं निशोथ का विशेष भाग है। वह सब द्रव्य वात एवं मल विबन्ध नाशक हैं तथा अग्नि को दीप्त करने वाले हैं। अग्नि का दीप्त होना ही अर्श का ठीक होना है।

तीनों में (अर्श, अतिसार एवं ग्रहणी) विशेष रूप से अग्नि बल की रक्षा होनी चाहिए। इस सिद्धान्त के आधार पर ही सारी उपर्युक्त चिकित्सा का वर्णन है।

पाश्चात्य मतानुसार—शुष्कार्श की चिकित्सा के विषय में एलोपैथी के ग्रन्थों का अवलोकन करें तो ऐसा लगता है कि उनकी पुस्तकों में चरक द्वारा प्रतिपादित विषय को ज्यों का त्यों रख दिया है। यहाँ शुष्कार्श की चिकित्सा में देखिए आयुर्वेदानुसार स्वेद, अवगाह आदि का जो विधान बता आये हैं वही विधान शोथयुक्त अर्श के लिए सैवल साहब ने लिखा है—

'Inflamed piles are very painful and are best treated by warm hip baths, frequent bathing; warm fomentation with opium-belladona and cocaine (System of Clinical Medicines)

इसी प्रकार जितना भी प्रलेप आदि का वर्णन हम कर आये हैं, इसी प्रकार इन पुस्तकों में भी स्थानिक द्रव्यों (Local application) का विधान है। इन सभी औषधियों के गुण संग्राही और संज्ञा नाशक (Astringents and Anodynes) होती है। इन योगों से शूल तथा शोथ तो कम हो जाती है परन्तु आयुर्वेदोक्त लेपवत अर्शों का पाटन नहीं हो सकता। हेडेन्सा (Hedensa) एनाथीना (Anathena), रेक्टोसीरोल (Recto-serol) आदि पेटेण्ट औषधियों के अतिरिक्त बेलाडोना, मार्फिन आइडोफार्म आदि द्रव्यों की वर्तियों का प्रयोग भी किया जाता है। यह सभी एक विशेष वस्तिनेत्र (Nozzle) द्वारा प्रयोग की जाती है।

स्थानिक लेप के अतिरिक्त औषधोपचार का सिद्धान्त भी लगभग एक समान ही है। यह चिकित्सक कब्ज दूर करने पर विशेष जोर देते हैं। हाँ, एक बात है कि आयुर्वेदिक अर्शनाशक जिन औषधि योगों का चरक आदि में वर्णन

है उस प्रकार की औषधियों के विषय में अभी तक आधुनिक चिकित्सा शास्त्रि (एलोपैथी) के पास कुछ भी नहीं है। एक भी मुख द्वारा सेवनीय ऐसा द्र नहीं है जिसे कहा जा सके कि इसका प्रभाव शुष्कार्श पर होता है।

अपथ्य—वातार्श के रोगी को मैथुन, रूक्ष भोजन, कसैली वस्तुएँ, श्रम मद्यपान, दाहकारक द्रव्य, जल मे तैरकर स्नान, अत्यन्त सामने की वायु ए अति गरिष्ठ पदार्थों का भोजन छोड़ देना चाहिए।

परिस्रावी अर्श

परिस्राविक रक्त की उपेक्षा—चरक ने शुष्कार्श और परिस्रावी अर्श दे प्रकार के रखे हैं। हमने शुष्कार्श का तो वर्णन कर दिया। अतः यहाँ परिस्रावी अर्श का वर्णन कर रहे हैं। सर्वप्रथम जो नियम आचार्य ने बताया है वह है दूषित रक्त के स्राव की उपेक्षा करना। चरक में लिखा है—"निदान, लक्षण कालवेत्ता, बल, वर्ण तथा रक्तवेत्ता वैद्य जब तक रोगी गम्भीरावस्था को न प्राप्त हो जाय तब तक दूषित रक्त के स्राव की उपेक्षा करें। दुष्ट रक्त की स्रुति के पश्चात् अग्नि सदीपन रक्त संग्रहण तथा दोष पाचन के लिए तिक्त द्रव्यों में उपचार करें।"

परिस्रावी अर्श में बहते हुए रक्त को देखकर उसे एक बार बन्द करने वाले चिकित्सकों के लिए यह नियम ध्यान देने योग्य है। यदि इस दुष्ट रक्त का अवरोध किया जाय तो अवश्य ही यह अनेक रोग उत्पादक होगा। इस विषय में आचार्य के शब्दों को देखिए—"आरम्भ में जो अर्शों से निकलते हुए अत्यन्त दूषित रक्त को रोकता है तो वह रुका हुआ रक्त अनेक रोगों को, यथा—रक्तपित्त, ज्वर, तृष्णा, अग्निमांद्य, अरोचक, कामला, शोथ, गुदसश्रित शूल, वंक्षण संश्रित शूल, कन्डू, व्रण, कोठ, पिड़िका, कुष्ठ, पाण्डु नामक रोग, वातशूल, पुरीष का विबन्ध, शिर-शूल, स्तैमित्यम, गुरुता तथा अन्य रक्तजन्य विकार उत्पन्न करना है। अतः दुष्ट रक्त निकल जाने के बाद रक्त स्तम्भन करना चाहिए।"

चिकित्सा की दृष्टि से चरक ने परिस्रावी अर्श का अनुबन्ध वात से एवं कफ से बताया है। यदि परिस्रावी अर्श का वातानुबन्ध हो तो स्निग्ध शीतोपचार करना चाहिए। एतदर्थ स्नेह पान, अभ्यंग और अनुवासन का प्रयोग हितकर कहा गया है। यदि कफानुबन्ध रहे तो रूक्ष शीतोपचार करना चाहिए। रक्त स्तम्भनार्थ कुछ योग यहाँ लिखते हैं—

१—कूटजत्वक क्वाथ शुण्ठी के साथ,
२—दाड़िमत्वक क्वाथ ,, ,, ,,
३—चन्दन क्वाथ ,, ,, ,,
४—चन्दन, चिरायता, दुरालभा का क्वाथ शुण्ठी के साथ,
५—दारू हल्दी, खस और नीम का क्वाथ शुण्डी के साथ,
६—कुटजत्वक का क्वाथ रसौत के साथ।
७—इन्द्र जौ रसौत मधु में मिलाकर तण्डुलोदक के साथ।
८—कुटजादि रस क्रिया अजा दूध से।
९—नीलोफर, मजीठ, मोचरस, चन्दन, तिल, लोध्र बकरी के दूध से पीसकर उसी के दूध से शाली भात के साथ खायें।
१०—बथुआ के साथ बकरी का दूध तथा जांगल पशु-पक्षियों का मांस रस खटाई के साथ प्रयोग करना चाहिए।

सशूल रक्तस्राव पर—जब रक्तस्राव के साथ शूल भी होती हैं तो चरक ने निम्न योग बताये हैं—

१—पाठादि चूर्ण,
२—दारु हल्दी, चिरायता, मोथा, दुरालभा, साधित घृत।
३—इन्द्र जौ, कुटजत्वक, नागकेशर, नीलोफर, लोध के पुष्पों से भावित घृत।
४—अनार रस तथा यवक्षार से भावित घृत।
५—चक्रिका, नागकेशर, नीलोफर, बला और पृश्नपर्णी से सिद्ध खीलों की पेया।
६—सुगन्ध वाला, वेल, सौंठ के क्वाथ से साधित मक्खन सहित पेय।
७—अजा दुग्ध से निकला मक्खन, अजामांस, शलि और सांठी का भात और सुरामण्ड को प्रयोग करना चाहिए।
८—तक्र से सिद्ध प्याज का शाक, वेर की खटाई से सिद्ध पोई शाक, मसूर की दाल तथा खट्टा-मट्ठा।
९—मुर्गी, मोर, तीतर, ऊँट एव लोमड़ी के मांस रस से भावित शालि-भात।
१०—ताजा घृत, बकरे का मांस, शालि के चावल, ताजा सुरामण्ड तथा ताजी शराब का प्रयोग रक्तस्राव एवं शूल नाशक है।

परिषेक—अत्यधिक रक्त प्रवृत्ति को रोकने के लिए आचार्य ने बाह्योपचा बताया है। परिषेक का विधान बताते समय वहाँ बताया गया है कि—"पंच वल्क, मुलहठी, बेर की छाल, गूलर, धव, पटोल पत्र, वासा, अर्जुन एवं धमाश के क्वाथ का प्रयोग करें। इनके क्वाथ का प्रयोग अत्यधिक उष्णता रहने त न करके शीतल होने पर करना चाहिए। मुखोष्ण, दूध घृत तथा तेल के द्वार परिषेक करने को आचार्य ने कहा है।

अवगाह—शीतल तेल से अभ्यंग किये रोगी को शीतल जल, ईख के रस में मुलहठी और बेतस शीतल हुए क्वाथ में अवगाह करना चाहिए। मुलहठी, कमलनाल, पद्माख, चन्दन, कुश, कांस के शीतल कषाय में अवगाह करें।

शिशिर धारा—शिशिर जल (बर्फ का पानी) की धारा का प्रयोग रक्त को रोकता है। आचार्य ने बताया है कि घी में मिसरी मिलाकर उपस्थेन्द्रिय, कुदा तथा त्रिक पर लेपन करें फिर यह धारा डालें।

लेपन—कुछ ऐसे द्रव्य बताये हैं जिनका लेपन करने से रक्त का अवरोध होता है। उसके विषय में बताते हुए चरक में लिखा है कि मजीठ एवं मुलहठी युक्त घृत का, रसौत मिलित घृत का, शहद और घी का, चन्दन सहित कमल नाल घृत का लेप करें। शतधौत घृत एवं सहस्राधौत घृत का प्रयोग लेपनार्थ किया जाता है।

पिच्छाबस्ति—चरक ने रक्तार्थ के लिए पिच्छाबस्ति का प्रयोग करना बताया है। जवासा, कुश, कास आदि औषधियाँ बताई हैं जिनको घृत, तेल एवं मधु आदि के साथ संयोग पिच्छावस्ति दी जाती है। इसका बहुत महत्त्व है। पिच्छावस्ति का विधान देखने के लिए लेखक की 'पंचकर्म विज्ञान' पुस्तक देखिए।

परिस्रावी अर्श की चिकित्सा समाप्त करने से पूर्व हम कुछ शास्त्रोक्त योग देना चाहते हैं—

१—कुटजावलेह (अ० हृ०), २—चणेश्वर रस (र० सा० स०)
३—चन्द्र प्रभावटी (र० सा० स०), ४—बोल पर्पटी,
५—लाक्षादि प्रयोग।

इस प्रकार औषधोपचार का विस्तार से वर्णन किया है। यदि चाहें तो केवल औषधोपचार पर ही एक ग्रन्थ बन जाए परन्तु यहाँ इससे अधिक विस्तार अपेक्षित नहीं। अब शेष तीनों प्रकार के उपचारों का वर्णन करते हैं।

क्षार प्रलेप—क्षार के प्रलेप का विधान बताते हुए सुश्रुत में विशेष अवस्था में लेटने का विधान बताया है और यन्त्र विशेष द्वारा गुदा में अर्शों को देखने के लिए कहा गया है। इससे पूर्व के कर्म के विषय में कहा गया है कि बलवान् रोगी को जो अर्श रोग से पीड़ित है उसे स्नेहन और स्नेह के अन्तर वात जनित वेदना—वृद्धि की शान्ति के लिए चिकनाई युक्त गर्म और थोड़ा पतला भोजन कराएँ। अब साफ और समान भूमि पर तख्त या खाट बिछाकर लिटाएँ। ध्यान रहे कि उस दिन वर्षा, बादल इत्यादि कुछ न हो। दूसरे पुरुष की गोद में उसका सिर रखकर सूर्य की ओर अभिमुख उसकी गुदा कराएँ। कमर कुछ ऊँची रहे और अगला धड़ कुछ नीचा रहे। अब उसे कपड़े की पट्टी आदि से बांध दें और परिचारकों द्वारा पकड़कर रखवायें ताकि वह हिल न सके।

ऐसी अवस्था के बाद यन्त्र द्वारा जो अर्श दृष्टि लभ्य है उस अर्श पर क्षार प्रलेप को लिए कहा है। आचार्य ने सर्वप्रथम दाहिनी ओर के अर्श पर क्षार लगाने को कहा है। इसके व्रण के रोपण के बाद लगभग एक सप्ताह बाद बाईं ओर के अर्श पर और उसके बाद पीठ की तरफ के तथा अन्त में आगे की तरफ के अर्श पर लेप करने का विधान है। ऐसा होता है कि योग्य अर्श को कूर्च अथवा शलाका से उठाकर रुई से स्वच्छ कर लिया जाता है और क्षार लेपन किया जाता है। लगभग आधा मिनट तक लगा रहने के बाद क्षार को पोंछ दिया जाता है। रोगी एवं व्याधि के बलानुसार पुनः ऐसा ही किया जाता है, जब तक कि अर्श पके हुए जामुन के रंग के, दबे हुए एवं थोड़ झुके हुए न हो जाएँ। ऐसी अवस्था में अर्शों को धान्याम्ल, मस्तु, शुक्ति, बिजोरा रस आदि से धो डाला जाता है। अब उस स्थान पर घृत में मुलहठी लगाकर जलन शान्ति के लिए लेपन किया जाता है। इतना सब विधान करके अर्शोयन्त्र को निकाल लिया जाता है।

क्षार द्वारा दग्ध सम्यक् होना चाहिए, अन्यथा उपद्रव हो जाते हैं। हम यहाँ सम्यक् दग्ध आदि के लक्षण बताते हैं।

सम्यक् दग्ध—पूर्व लिखित पके जामुन के फल के समान झुके हुए एवं दबे हुए होंगे। दोषानुसार बताते हुए वर्ण अलग-अलग प्रकार के बताते हुए लिखा है—वातार्श मे पक्व जामुनवत पित्तार्श में मृग और मयूर के कण्ठवत एव कफार्श में वृहती द्रव्य के वर्णवत होता है। साथ ही साथ वातुलोमन एवं पाचन के लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं।

हीनदग्ध—हीनदग्ध में अर्श का वर्ण कृष्ण पड़ जाता है। व्रण का रोपण नहीं होता, कण्डू वायु की विपरीतता एवं इन्द्रियों की अप्रसन्नता रहती है, तथा व्याधि ज्यों की त्यों बनी रहती है।

अतिदग्ध—यदि अतिदग्ध हो गया हो तो गुदा में जलन, चिरमिराहट, मूर्च्छा, ताप, तृष्णा और अधिक रक्तस्रावजन्य उपद्रव हो जाते हैं।

क्षारसूत्र—क्षारसूत्र बनाने का विधान बताते हुए लिखा है कि कपास के सूत्र को समभाग मिले थूहर के दूध एवं हरिद्राचूर्ण की इक्कीस भावनायें दें। सूख जाने पर प्रयोग करें।

इसका प्रयोग करते समय भी पूर्व लिखित पूर्व कर्म कराकर अर्शोयन्त्र डालकर अभिप्रेत अर्श की जड़ को उंगली से उठाकर इस क्षार को बाँध दिया जाता है। हर तीसरे दिन नया क्षार सूत्र बाँध देना चाहिए। प्रायः १५ दिन में यह अर्श कटकर गिर जाता है। कभी-कभी एक मास भी लग जाता है। क्षार सूत्र बांधने से रक्त उस अर्श में रहने से वह सूज जाता है और यदि कब्ज रहा तो वह अति कष्टकर होता है। यों तो थोड़ा-बहुत दर्द वैसे इस सूत्र के बांधने पर होता ही है तो भी मृदुरेचन देते रहना चाहिए।

जब अर्श गिर जाये तब प्रलेपवत घृत मुलहठी लेपन एव अन्य व्रण रोपण कार्य करना चाहिए।

अग्निकर्म—अर्श चिकित्सा में अग्निकर्म का प्रयोग औषधोपचार एवं क्षार प्रयोग आदि की अपेक्षा बहुत कम होता है तो भी अर्श की चिकित्सा में इसका विशेष महत्त्व है अतः इसका वर्णन करना आवश्यक है। अग्निकर्म के महत्त्व को बताते हुए लिखा है कि अन्य औषधक्षार आदि से भी जिन अर्शों का नाश नहीं हो सकता उनको अग्निकर्म से किया गया उपचार लाभ करता है, अग्नि कर्म से जो अर्श ठीक हो जाते हैं, वह पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं। इस कर्म के करते समय रक्तस्राव भी नहीं होता और न पूयोत्पत्ति की सम्भावना रहती है। अन्त में, अन्य उपचारों की अपेक्षा यह विशेष महत्त्वपूर्ण है। अग्निकर्म किस अवस्था के अर्शों के लिए लाभकारी है, यह पीछे बता आये हैं, वह अर्श जो कठोर मोटी मूठ वाले, स्थिर और कर्कश होते है वह अग्नि कर्म द्वारा साध्य होते हैं।

त्रिविधकर्म—अग्निकर्म के पूर्वकर्म, प्रधानकर्म और पश्चात् कर्म का वर्णन करना होगा। पूर्वकर्म में क्षारवत् ही शोधन आदि कराकर अर्शयन्त्र द्वारा मस्से को दृष्टिलाभ कर लिया जाता है। रोगी विशेष अवस्था में लिटा लिया

जाता है। उस रोगी को हिलने न दिया जाय एतदर्थ भी प्रबन्ध किया जाता है।

प्रधानकर्म अग्निकर्म योग्य अर्शशास्त्र द्वारा छेदन करके लौह जाम्बौष्ठ यन्त्र विशेष के द्वारा दहन कर दिया जाता है। यन्त्र अङ्गों में लाल तपा हुआ होना चाहिये। सम्यक् दग्ध के चिन्ह देखकर अर्थात् श्यामवर्ण, उभार एवं रक्तस्रावावरोध होने पर दहन सम्यक् समझना चाहिए।

पश्चात् कर्म में अग्नि के द्वारा दग्ध हुए अर्श के व्रण को भरने के लिए और वेदना तथा दाह की शान्ति के लिए मधु और घृत का अभ्यंग करना चाहिए। मुलहठी एवं शतमूलादि का लेप लाभ करता है।

दग्ध की अवस्थाओं का ज्ञान क्षारवत ही समझना चाहिए। हीनदग्ध और अतिदग्ध होना वास्तव में ही रोगी के लिए अहितकर है।

शस्त्रकर्म—आयुर्वेद में अर्श चिकित्सा का जो चतुर्थ उपचार है वह है शस्त्रकर्म। पूर्ववर्णित पतले मूल वाले, क्लेदयुक्त और उठे हुए अर्शों को शस्त्र साध्य कहा है परन्तु किसी प्रकार का विस्तृत विधान सुश्रुत में नहीं लिखा है कि किस प्रकार से किया जाय। इसका एक मात्र कारण यह लगता है कि शस्त्र के छेदन-भेदन आदि कर्मों का आचार्य ने दूसरे अध्यायों में विस्तार से वर्णन किया है अतः इस अर्श के प्रसंग में उनकी पुनरावृत्ति करना शास्त्र की दृष्टि से उचित नहीं, इसलिए केवल शल्यकर्म का निर्देश कर दिया है।

अतः हम पाते हैं कि अर्श की चिकित्सा का औषधादि चार प्रकार का उपचार बताकर आयुर्वेद ने इस महाकष्टकर व्याधि से छुटकारा पाने के लिए बहुत ही उपादेय वर्णन किया है।

अश्मरी (Kenal Galculus)—"अश्मरातीति अश्मरी"—अर्थात् जिसकी पत्थर की रचना हो उसे अश्मरी कहते हैं। श्लेष्मा का आश्रय करके उत्पन्न होने वाली अश्मरियाँ चार प्रकार की होती हैं जैसे कफ से, वायु से, पित्त से और शक्र से। डाक्टरी में भी प्रमाणित हो गया है कि प्रायः अश्मरियाँ शुष्क श्लेष्मा (Mucus) को केन्द्र (Nucleus) बनाकर पैदा होती हैं। क्वचित् जीवाणु तथा रक्त के थक्के को भी आश्रय करके उसके चारों ओर मूत्रस्थ खनिजों के कणों के स्तर जमकर अश्मरी बनती है।

अश्मरी कारण—वमन-विवेचनादि पंचकर्मों द्वारा शरीर का शोधन न

करने से एवं मिथ्या आहार-विहार रूपी कुपथ्य करने से प्रकुपित हुआ श्लेष्मा मूत्र के साथ मिलकर बस्ति में प्रवेश करके अश्मरी को उत्पन्न करता है।

उक्त कारणों के सिवाय नाइट्रोजन युक्त गरिष्ठ पदार्थ मद्य, चाय तथा मिष्ठान्नों का अधिक सेवन तथा क्षारयुक्त पदार्थ, नमक, साग, सब्जी, दुग्ध इनका अल्प सेवन अधिक देर तक मूत्र के वेग को रोकना, कड़ी धूप में रहने से पसीने द्वारा अधिक रक्त के जलीयांश के निकल जाने से तथा अधिक खटिकांश-युक्त जल के पीने से अश्मरी रोग पैदा होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में, तथा शीत देशों की अपेक्षा उष्ण देशों में यह अधिक होता है।

अश्मरी पूर्वरूप—अश्मरी के पूर्वरूप में बस्ति में पीड़ा भोजन में अरुचि, मूत्रकृच्छ्र बस्तिशिर (Internal Urethral Orifice) मुष्क [अण्ड ग्रन्थियां (Testicles)] और लिंग में पीड़ा, मूत्रकृच्छ्र होने से ज्वर तथा हृदयादि का अवसाद (दुर्बलता) एवं मूत्र में बकरे की गन्ध आना ये लक्षण होते हैं।

इसके अतिरिक्त मनुष्य वातादि दोषों के अनुसार वेदना तथा रंगयुक्त दूषित, गाढ़ा तथा कलुषित मूत्र कठिनता से त्यागता है।

अश्मरियों के उत्पन्न हो जाने पर मूत्र त्याग करते समय नाभि, बस्ति, सेवनी और मेहन (लिंग) इनमें किसी एक में पीड़ा, मूत्र त्यागते समय बीच मे मूत्र की धार का रुक जाना, मूत्र के साथ रक्त का आना, मूत्र का इधर-उधर विकिरण (गिरना या धार का टेढ़ा गिरना), गोमेदमणि के समान स्वच्छ मूत्र का आना एवं मूत्र के साथ सिकता (शर्करा-Gravel) का त्यागना ये सामान्य लक्षण होते हैं। दौड़ने, किसी नाले नाली को लांघने, तैरने, घोड़े व ऊँट की पीठ कर सवारी करने और मार्ग में चलने से अश्मरी रोगी को पीड़ा होता है।

कफाश्मरी—अत्यधिक कफ जनक भोजन करने वाले मनुष्य का कफ संघातक रूप में होकर तथा यथोक्त वृद्धि को प्राप्त होकर बस्तिमुख में स्थित होकर मूत्र निकलने के स्रोत (मार्ग) का निरोध कर देता है। इस तरह रुके हुए मूत्र के प्रत्याघात से बस्ति फटी सी, विदीर्ण और व्यथित-सी व सुई चुभोने की सी पीड़ा एवं भारी और शीत होती है। अश्मरी का रंग सफेद, स्पर्श में चिकनी, आकार में बड़ी तथा मुर्गी के अण्डे या महुए के फूल के समान स्वरूप वाली होती है, उसे कफजन्य अश्मरी जानना चाहिए।

पित्ताश्मरी—पित्त के सहित कफ संघात (कड़ेपन) को प्राप्त कर यथोक्त रूप से बढ़ कर बस्ति के मुख में स्थित होकर मूत्र-स्रोत को रोक देता है। उस

रोगी के रुके हुए मूत्र के प्रतिघात से बस्ति प्रदेश झुलसने सा, तपने सा, जलने सा, व पकने सा प्रतीत होता है तथा उष्ण वात भी हो जाता है। इस प्रकार की पथरी लाल, पीली, भिलावे की गुठली के समान अथवा शहद के रंग सी होती है। उसे पित्तजन्य-अश्मरी कहते हैं।

वाताश्मरी—वातयुक्त कफ संघात के रूप में होकर यथोक्त रूप से बढ़कर वस्ति के मुख में स्थित होकर मूत्र-मार्ग को रोक देता है तथा उस इकट्ठे हुए मूत्र के प्रतिघात से तीव्र वेदना होती है तथा वेदना से अधिक पीड़ित होकर रोगी दांतों को खाता है, नाभि को दबाता है, शिश्न को मसलता है, गुदा को छूता है, जोर से चिल्लाता है, परितप्त होता है, एवं वायु, मूत्र और मल बड़ी कठिनता से मेहन (प्रवाहण) करने से निकलते हैं। अश्मरी का रंग सांवला, स्पर्श में कठोर, टेढ़ी-मेढ़ी, खुरदरी, कदम्ब के फूल के समान कांटों सरीखी रचना से युक्त होती है। उसे वातजन्य अश्मरी कहते हैं।

बहुधा उपर्युक्त तीनों प्रकार की अश्मरियाँ दिन में शमन, समशन (हिताहित भोजन), अध्यशन (भोजन पर भोजन), शीत, स्निग्ध, गुरु, मधुर ऐसे आहार में रुचि रखने से तथा विशेष करके बालकों में होती है, क्योंकि उन बच्चों की वस्ति तथा शरीर छोटा होने से एवं उनमें वस्ति के मांस का उपचय अधिक न होने से पैदा होता है तथा उन अश्मरियों को यन्त्र द्वारा आसानी से पकड़ सकते हैं और निकाल सकते हैं।

शुक्राश्मरी—बड़े मनुष्यों में शुक्र के कारण शुक्राश्मरी होती है। क्योंकि अधिक वर्ष या मास तक शुक्र (वेग) को रोकने से अथवा अधिक स्त्री-संभोग करने के स्वस्थान से चलित शुक्र बाहर न निकलकर उलटा गमन करता है तब वायु उसे पकड़कर मेढ़्र (शिश्न) तथा वृषण (अण्डकोष) के बीच में एकत्रित करती है तथा एकत्रित कर सुखा देती है। इस तरह बनी हुई वह शुक्राश्मरी मूत्र के मार्ग को रोक देती है जिससे मूत्रकृच्छ्र, बस्ति में पीड़ा तथा वृषणों में शोथ पैदा होता है एवं दबाने पर वह अश्मरी उन्हीं स्थानों में लीन हो जाती है। इस तरह से उत्पन्न को शुक्राश्मरी कहते हैं। बच्चों में शुक्र होता नहीं है, अतः शुक्राश्मरी उनमें नहीं होती।

शर्करामेह (Passing of Gravel), सिकतामेह (Brickdust deposit) तथा भस्ममेह (Phosphaturia) ये अश्मरी के कारण ही पैदा होते हैं। शर्करा. के अश्मरी के समान ही स्वरूप और लक्षण होते हैं। किन्तु अश्मरी

छोटी हो तथा वायु अनुकूल हो तो मूत्र के साथ बाहर निकल आती है तथा वही अश्मरी वायु से विदीर्ण होकर मूत्र के साथ बाहर निकलती है, उसे शर्करा अश्मरी कहते हैं।

शर्करा लक्षण – हृदय में पीड़ा, टांगों में दर्द, उदर में शूल, शरीर मे कंपन, प्यास, डकारें (ऊर्ध्ववात) आना, शरीर में कालापन, दुर्बलता, पाण्डुवर्णता, अरुचि और भोजन का पाचन नहीं होना ये लक्षण शर्करा रोगी के होते हैं। वस्ति से बाहर निकलने के लिए मूत्र मार्ग में प्रवृत्त हुई वह शर्करा जब वहाँ अटक जाती है तब दुर्बलता, सदन, (पीड़ा), कृशता, उदरशूल, अरुचि, देह की पाण्डुता, उष्णवात, तृष्णा, हृदय में पीड़ा और वमन इन लक्षणों को पैदा करती है।

बस्ति वर्णन—नाभि, पृष्ठ, कटी, वृषण, गुदा, वंक्षण और लिंग इनके बीच में एक द्वार वाली पतले चर्म से बनी हुई, नीचे को मुख की हुई वास्त होती है। बस्ति स्वरूप में तोरई के समान होती है तथा शिरा और स्नायुओं से घिरी हुई होती है। बस्ति, बस्तिशिर, पौरुषग्रन्थि, वृषण (अण्डग्रन्थियाँ) और गुदा ये गुदास्थि विवर के आश्रित तथा परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। बस्ति का दूसरा नाम मूत्राशय (मूत्र संचय होने का स्थान) है तथा इसी को किट्ट (मल) रूपी मूत्र का आशय होने से मलाधार भी कहते हैं। यह प्राणों का आयतन तथा श्रेष्ठ है।

बस्ति को ब्लेडर (Bladder) कहते हैं। यह एक थैली है जो बस्तिगह्वर (Pelvic Cavity) में विटपसन्धि के पीछे रहती है तथा इसमे वृक्कों से छनकर गविनियों (Ureters) द्वारा मूत्र बूँद-बूँद के रूप में आकर इकट्ठा होता है। पुरुषों में बस्ति के पीछे दो शुक्राशय (Seminal Vesicle) और उनके पीछे वृहदान्त्र का अन्तिम भाग या मलाशय (Rectum) तथा स्त्रियों में मूत्राशय के पीछे गर्भाशय (Uterus) तथा गर्भाशय के पीछे मलाशय रहता है। मूत्राशय की दीवार स्वतन्त्र मांसीय सूत्रों से बनी होती है। भीतरी पृष्ठ पर श्लैष्मिक झिल्ली (Mucus Membrane) लगी रहती है। मूत्र से खाली रहने पर यह तिकोना सा तथा भर जाने पर गोलाकार हो जाता है तथा बस्तिगह्वर से कुछ ऊपर उठकर उदर की अगली दीवार के पीछे आ लगता है।

पक्वाशय में स्थित जो मूत्रवाहक नाड़ियाँ हैं वे सदा बस्ति को मूत्र द्वारा तर्पित करती रहती हैं जैसे नदियाँ अपने जल से समुद्र को पूर्ण करती रहती हैं।

इन नाड़ियों के हजारों मुख हैं जो कि सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देते हैं। आमाशय एवं पक्वाशय के भीतरी भाग से नाड़ियों के द्वारा लाये गये मूत्र के क्षरण से जागते हुए तथा सोते हुए मनुष्य की बस्तिपूरित होती रहती है। जिस तरह मुख पर्यन्त पानी में रखा हुआ नूतन मिट्टी का घड़ा अपने आस-पास के सूक्ष्म छिद्रों द्वारा रिस-रिस कर जल से भर जाता है, उसी तरह बस्ति अपने चारों ओर बने हुए सूक्ष्म छिद्रों द्वारा मूत्र से भरती रहती है।

आयुर्वेद के मत से मूत्रोत्पत्ति आमाशय तथा पक्वाशय में होती है तथा वहाँ से मूत्र सूक्ष्म स्रोतों द्वारा बस्ति में पहुँचता रहता है। आयुर्वेद के मत से आहार के पचने पर दो भाग होते हैं। प्रसाद भाग या सारभाग को रस कहते हैं तथा दूसरा किट्टभाग या मलभाग होता है। इस किट्टभाग से ही मल और मूत्र बनते हैं। यह कार्य आमाशय तथा पक्वाशय में पाचकपित्त और समान वायु करता है।

परन्तु आधुनिक विज्ञान में मूत्रोत्पत्ति इस प्रकार से नहीं मानी है। औदरिक वृहद् धमनी (Abdominal Aoria) की दो शाखायें (वृक्कीय धमनियाँ (Renal Arteries) दोनों वृक्कों में जाती हैं तथा वहाँ पर उनकी अनेक सूक्ष्म शाखायें (केशिकाएँ : Capilaries) होकर वृक्कस्थ नालियों के आस-पास फैल जाती हैं तथा वृक्कस्थ नालियाँ अपने विशिष्ट प्रभाव से रक्त से निकम्मे किट्ट रूप या मलरूपभाग [यूरिया, यूरिक अम्ल, सेन्द्रिय (Organic) तथा निरिन्द्रिय (Inorganic) घन पदार्थ] तथा त्याज्य जल को पृथक् कर लेती है, इसे मूत्र कहते हैं तथा यह मूत्र वृक्कस्थ नलियों द्वारा ही बनी हुई गविनियों (Ureters) द्वारा बूँद-बूँद के रूप में बस्ति में आता रहता है। आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में वृक्क स्थान, स्वरूप और संख्या का ठीक वर्णन है किन्तु मूत्रोत्पत्ति के साथ कोई सम्बन्ध न मानकर मेदोधातु की पुष्टि करने का इनका कार्य माना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वृक्क के चारों ओर फेर बहुत रहती है किन्तु उसमें वृक्कों का क्या सम्बन्ध है, आधुनिक विज्ञान अभी जान नहीं सका।

मूत्र में यूरिया आदि मल रहते हैं, उनका निर्माण वृक्कों में नहीं होता है। वृक्क तो केवल छनने का कार्य करते हैं। आमाशय तथा पक्वाशय में आहार के पाचन में जो तोड़-फोड़ होती है उसी वक्त मूत्र के मल भाग भी बन जाते हैं तथा उनका वहन रस और रक्त के साथ-साथ हजारों नालियों में होता रहता है। अन्त में वृक्क में वे मल भाग आकर छनकर मूत्राशय में जाते हैं।

जिस तरह मूत्र बस्ति में प्रवेश करता है उसी तरह उसके साथ वात, पित्त और कफ भी प्रविष्ट होकर उपस्नेह या तलछट से अश्मरी रोग को पैदा करते हैं।

जिस प्रकार नये घड़े में अति स्वच्छ पानी भरने पर भी कुछ समय के पश्चात् उसमें कीचड़ अवशेष (Precipitate) के रूप में एकत्रित हो जाता है, वैसे ही बस्तिस्थ स्वच्छ मूत्र में भी कुछ काल के पश्चात् अश्मरी पैदा हो जाती है।

प्राय: विशुद्ध जल में कोई पदार्थ घुले नहीं रहते हैं किन्तु पृथ्वी पर पड़ने से उसमें कई क्षार और लवण घुल जाते हैं किन्तु विलायक शक्ति से अधिक लवण क्षारादि के जल घुलने से कुछ काल बाद पात्रकल में अवक्षेप हो जाता है उसी तरह वृक्कस्थ नालियों के द्वारा मूत्र में यूरिक एसिड, यूरेट्स, फास्फेट् आदि लवण अधिक प्रमाण में त्यक्त होते हैं। तब मूत्र के जल में इसका पूर्ण विलयन न होकर कुछ अंश सूक्ष्म स्फटिक (Crystal) के स्वरूप में वृक्क, गविनियों के प्रारम्भिक भाग और बस्ति में अवक्षिप्त होकर उसके चारों ओर इन्हीं लवणों के कण धीरे-धीरे संगठित होते रहते हैं, जिससे अश्मरी बन जाती है। कभी-कभी सूखा श्लेष्मा (Mucus) जमे रक्त का थक्का और कृमियों के अण्डे को केन्द्र बनाकर उक्त लवण संचित होकर अश्मरी बनाते हैं।

ज़िस प्रकार हवा और विद्युत् की अग्नि आकाश के जल को बाँधकर ओले बनाती है, उसी प्रकार वायु के सहित अग्नि (पित्त) बस्ति के मूत्र के साथ आए हुए कफ को बांधकर अश्मरी बना देते हैं।

अश्मरी की चिकित्सा—चिकित्सा की दृष्टि से अश्मरी एक भयंकर व्याधि है—इसे यमराज के समान घातक समझना चाहिए। नवीन अश्मरी औषध चिकित्सा साध्य है किन्तु पुरानी अश्मरी के लिए शस्त चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है।

चिकित्सक को ध्यान रखना चाहिये कि जैसे ही अश्मरी के पूर्व रूप आरम्भ हों वैसे ही स्नेह स्वेदन आदि द्वारा चिकित्सा आरम्भ कर दें।

वातज अश्मरी की औषध चिकित्सा निम्न प्रकार कही गई हैं—

पाषाणभेद, श्वेतार्क, रक्तअपामार्ग, अश्मंतक, शतावर, गोखरू, बड़ी कटेरी, ब्राह्मी, नील पीयाबांसा, कच्चक, खस, गुन्जा, बन्दाक, श्योनाक, वरुण, शाकजफल, जौ, कुलथी, वेर और निर्मली इन द्रव्यों के क्लाथ से ऊषकादि गण का

कल्क डाल कर घृत सिद्ध करें। यह घृत वातज अश्मरी को शीघ्र नष्ट करता है। इस वातनाशक गण के द्वारा यवागु, क्षार, यूष, क्वाथ, दूध तथा भोजन सिद्ध करना चाहिये।

पित्तज अश्मरी की औषध चिकित्सा निम्न प्रकार कही गई है—

कुश, काश, सरपत, गुन्द्रा, उत्कट, मोरट, पाषाणभेद, शतावरी, विदारीकन्द वाराहीकन्द, शालिधान्य की जड़, गोखरू, अरलु, पाढ़ल, पाठा, पतंग, कटैली पुनर्नवा और शिरष के क्वाथ में शिलाजीत, मुलहठी, नीलकमल के बीज, खीरा और ककड़ी आदि के बीज का कल्क मिलाकर सिद्ध किया गया घृत पित्तज अश्मरी को नष्ट करता है। इस पित्तनाशक वर्ग के द्वारा क्षार, यवागु, यूष, कषाय, दूध और भोजन का पाक करना चाहिए।

कफज अश्मरी की औषध निम्न प्रकार कही गई है—

वरुणादि, गण गुग्गुल, इलायची, रेणुकाबीज, कूठ, भद्रादिगण, मरिच चित्रक और देवदारु के क्वाथ में ऊषकादि गण की औषधियों के कल्क से सिद्ध बकरी के घृत का प्रयोग करना चाहिए। इस कफनाशक गण के द्वारा क्षार यवागु यूष, कषाय, दूध और भोजन का पाक करना चाहिए।

शर्करा नाश के लिए निम्न औषध चिकित्सा कही गई है—

कपास के फूल, अकोल, निर्मली शाक और नीलकमल के फल का चूर्ण जल में गुड़ के साथ घोल कर शर्करा को नष्ट करने के लिए पीना चाहिए।

करांकुल, ऊँट और गदहे की अस्थि, गोखरू, मूसली, अजवायन, कदम्ब की जड़, सौंठ की सुरा या उष्ण जल के साथ पीने से शर्करा नष्ट हो जाती है।

तिल-अपामार्ग-केला-पलाश और जौ के कल्क से निर्मित क्षार का, भेड़ के मूत्र के साथ सेवन करना शर्करा का नाश करता है।

अश्मरी नाशक कुछ योग्य निम्न बताए हैं—

गोखरू के बीज का चूर्ण—मधु मिलाकर बकरी के दूध के साथ अश्मरी करने के लिए पीएँ।

घृत पाक के लिए कहे गए वरुणादि गण के द्रव्यों को भेड़ के मूत्र में घोल कर छाना गया क्षार और ग्राम्य पशुओं के मल के क्षार को मिलाकर ऊषकादि गण तथा त्रिकटु के कल्क के साथ पकाकर पिलाना चाहिए।

घृत, क्षार, कषाय, दूध और उत्तर बस्ति से भी यदि लाभ न हो तो शस्त्रकर्म के द्वारा छेदन करना चाहिए।

सुश्रुत संहिता में इसे जघन्य कर्म कहा गया है और बताया है कि अनुभवी गुणी शल्यज्ञ ही इस कर्म का सम्पादन करें। क्योंकि क्रिया न करने से मृत्यु अवश्य हो जाती है और क्रिया करने में संदेह रहता है अतः अभिभावक से पूछ कर यह कर्म करना चाहिए।

सुश्रुत संहिता में इस शस्त्रकर्म का विधान निम्न प्रकार बताया है—

रोगी को स्नेहन-शोधन करके कुछ दुर्बल करें और अभ्यंग तथा स्वेदन से शरीर को शुद्ध कर भोजन कराएँ। फिर बलि प्रदान, मंगलापाठ एवं स्वस्तिवाचन कर्म करें तथा यन्त्र-शस्त्र-क्षार शलाका आदि सभी साधनों को एकत्रित कर रोगी को आश्वासन दें। फिर बल सम्पन्न एवं भयरहित रोगी को घुटने की ऊँचाई के बराबर चौकी पर पूर्वाभिमुख बैठाएँ और पूर्वाभिमुख बैठे हुए दूसरे पुरुष की गोद में रोगी का कटि के ऊपर का भाग उत्तान रूप में रहे। कटि के प्रदेश कुछ ऊँचा कर कपड़े की गद्दी नितम्ब के नीचे लगाएं घुटने और कोहनी को सिकोड़ कर एक दूसरे के साथ धागे या कपड़े से बांध फिर भली-भांति नाभि प्रदेश में स्नेह की मालिश करें और बाएँ पखवाड़े को मलकर नाभि के नीचे मुट्टी से तब तक दबाएँ जब तक अश्मरी नीचे न आ जाय। फिर स्नेह से स्निग्ध, कटे हुए नाखून वाली बाएँ हाथ की तर्जनी और मध्यमा अँगुलियों को रोगी को गुदा में प्रवेश करें और सेवनी के नीचे ले जाकर उपाय और बल से गुदा तथा लिंग के बीच जाकर सिकुड़न रहित छोटी तथा सीधी वस्ति को सम्यक् स्थापित करके अंगुलियों को जोर से दबाएँ जिससे शल्य गांठ के समान ऊपर उठ जाए।

यदि शल्य को पकड़ लेने पर रोगी के नेत्र स्तब्ध हो जाएँ वह मूच्छित हो जाए, मुर्दे के समान गर्दन लटका दे तथा चेष्ठा रहित मृतक के समान लगे तो उस रोगी का शल्य नहीं निकालना चाहिए। शल्य निकाला जाए तो उसकी मृत्यु हो सकती है। इन लक्षणों से रहित रोगी को अश्मरी को निकालना चाहिए।

वाम पदार्थ में सेवनी को एक जौ छोड़कर अश्मरी के प्रमाण के अनुसार दाहिनी ओर चीरा लगाएँ। यह ध्यान रहे कि निकालते समय अश्मरी का चूरा न हो जाए क्योंकि यदि थोड़ा भी चूरा शेष रह गया तो पुनः अश्मरी का रूप धारण कर लेता है। अत पूरी अश्मरी को आहरण यन्त्र से निकालना चाहिए।

ध्यान रहे कि स्त्रियों का गर्भाशय बस्ति के पार्श्व में रहता है अतः शस्त्र प्रयोग, उत्तान करना चाहिए अन्यथा गर्भाशय को क्षति पहुँचती है। इस प्रकार इस स्थान पर स्थित आठ मर्म स्थानों की भी रक्षा करनी चाहिए। वह आठ मर्म हैं—सेवनी, शुक्रवह, मुष्कस्रोत, गुदा, मूत्र प्रसेक, मूत्रवह, योनी और बस्ति।

अश्मरी के निकल जाने के बाद, रोगी को उष्ण जल की द्रोणी में बैठाकर स्वेदन करें। ऐसा करने से बस्ति में रक्त एकत्रित नहीं होता। यदि बस्ति में रक्त भर जाय तो क्षीरवृक्ष कषाय का प्रयोग उत्तर बस्ति की विधि से करना चाहिए।

स्वेदन के बाद रोगी को द्रोणी के बाहर निकालें और मधु तथा व्रण पर लगाएँ। मूत्र शोधन के लिए गुड़ मिश्रित भात दें—गोरुख-तृणपञ्चमूल के द्रव्यों का प्रयोग कराएँ। तीन दिन के बाद मूत्र और रक्त की शुद्धि तथा व्रण आर्द्र करने के लिए पर्याप्त गुड़ मिश्रित दूध के साथ नरम भात थोड़ी मात्रा में दस दिन तक दें। दस दिन के बाद खट्टे फल तथा जंगली जीवों का मांस रस का सेवन कराएँ। इसके बाद दस दिन तक रोगी का स्नेह या द्रव स्वेद द्वारा स्वेदन करें। क्षीरी वृक्षों के क्वाथ से रोगी के व्रणों को धोएँ।

भग्नरोग—गिरने से, दबाने से, चोट लगने से, आक्षेपण (आकर्षक या अतिशय झटकने से), म्याल (सिंहादि), मृग (हरिण आदि) के नख दन्त आदि से, एव बलवान से लड़ाई करने आदि से, चोट विशेष लगने के कारण बहुत प्रकार से अस्थियों का भंग होता है।

सम्पूर्ण प्रकार के भग्नों का तत्तत रूप में अनुसन्धान करने में (संक्षेप रूप से दो प्रकार के भग्नों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। यहाँ सन्धियुक्त (dislocation) और काण्ड भग्न (Fracture)। इसमे सन्धि युक्त भग्न छह प्रकार का है। यथा—उत्पिष्ट (चूर्णित), विश्लिष्ट (पृथक् हुआ), विवर्त्तित (दक्षिण या बाम पार्श्व में घूमा), अवक्षिप्त (ऊपर या नीचे क्षिप्त), अतिक्षिप्त (मांस आदि का विदारण करके उत्पन्न) और तिर्यक्क्षिप्त (टेड़ा होकर थोड़ा-सा हिला हुआ)।

लक्षण—प्रसारण (फैलने में), आकुंचन (संकोच) विपर्तन (विपरीत घुमाने) आक्षेपण (अतिशय चालन या आकर्षण) में अशक्ति, तीव्र वेदना, स्पर्श से असहिष्णुता ये सन्धियुक्त के सामान्य लक्षण हैं।

विशेष लक्षण—उत्पिष्ट सन्धियुक्त में—सन्धि के दोनों पार्श्वों में शोफ वेदना, और विशेषतः नाना प्रकार की वेदनाएँ रात्रि में उत्पन्न होती हैं। विश्लिष्ट सन्धियुक्त में—थोड़ी सूजन, निरन्तर वेदना सन्धि में अक्रियता आ जाती हैं। विवर्ति सन्धि युक्त में—सन्धि के पार्श्व से हटकर दूसरे में आ जाने से अंग मे विषमता तथा वेदना होती है। अवक्षिप्त सन्धियुक्त में—सन्धि का पृथक् होना, और तीव्र वेदना होती है। अतिक्षिप्त सन्धियुक्त में—सन्धिवाली दोनों अस्थियाँ परस्पर दूर हट जाती हैं और वेदना होती है। तिर्यकक्षिप्त सन्धि युक्त में—एक अस्थि पार्श्व में दूरी आ जाती है और तीव्र वेदना होती है।

काण्ड भग्न—नलकास्थि का भंग (काण्ड भग्न) बारह प्रकार का है। यथा-कर्कटक, अश्वकर्ण, पिच्चित, अस्थि छल्लित, काण्ड भग्न, मज्जानुगत, अतिपतित, वक्र, छिन्न, पाटित, स्फुटित।

सामान्य लक्षण—सूजन की अधिकता, स्पन्दन और विवर्तन में स्पर्श की असहिष्णुता, दबाने पर या रगड़ने पर शब्दोत्पत्ति [(Crapitotion) बालों को रगड़ने के समान] अङ्ग का गिरा रहना, नाना प्रकार की वेदनाओं की उत्पत्ति किसी भी अवस्था में शान्ति लाभ न होना, ये काण्ड भग्न के सामान्य लक्षण हैं।

विशेष लक्षण—कर्कटक में—अस्थि मध्य में टूट जाने पर ऊर्ध्व और अधः दोनों प्रान्तों के समूंढ (कार्य में अशक्य बन जाती है, अस्थि के कड़े के समान ऊपर को उठी रहती है। घोड़े के कान के समान ऊपर उठी अस्थि अश्वकर्ण है। चूर्णित भग्न में—अस्थि स्पर्श करने पर चरचर की आवाज करती हुई प्रतीत होती है। पिच्चित भग्न में—अस्थि पार्श्वों में कुछ ऊपर को उठ जाती है (अथवा इसमें अस्थि टूटकर छलका सा बन जाता है) काण्ड भग्न में—अस्थि चलाने पर चलती है (हिलती है)। मज्जानुगत में—अस्थि का कोई भाग अस्थि के अन्दर घुसकर मज्जा को बाहर कर देता है। अतिपतित भग्न में—अस्थि सम्पूर्ण रूप में छिन्न हो जाती है। वक्र भग्न में—अस्थि मुड़ जाती है परन्तु पृथक् नहीं होती है। छिन्न एक पार्श्व में लगी रहती है और एक पार्श्व से छिन्न हो जाती है। पाटित फटने से बहुत से छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं और तीव्र वेदना हो जाती है। स्फुटित-शूक (यवादि धान्यों का अग्र भाग) पूर्ण के समान

वेदना युक्त, आध्यमान (सूजी हुई), विपुल विस्फुटित (विशेष रूप से विदलित कणों के रूप में टूटी) अस्थि स्फुटित होती है।

इनमें स्फुटित, चूर्णित, छिन्न, अतिपातित, मज्जानुगत ये काण्ड भग्न कष्ट-साध्य हैं। कृश, वृद्ध और बालक तथा (उरः क्षत रोग), क्षीण, कुष्ठ एवं श्वास रोगी में सन्धि भग्न कष्टसाध्य हैं (इनमें काण्ड भग्न भी कष्टसाध्य समझना चाहिए)।

कपाल (Flat) अस्थियों के भग्न होने पर, कटि सन्धि के मुक्त अथवा च्युत (स्खलित) होने पर, जघन स्थान में पिष्ट (उत्पिष्ट) भग्न होने पर, असाध्य समझना चाहिए।

कपालास्थियों की सन्धियों के पृथक् होने पर, ललाट में कपाल भग्न होने पर, स्तनों के मध्यवर्ति शंख नामक मर्म के भग्न होने पर पीठ एवं शिर के दोनों प्रकार के भग्न को असाध्य समझना चाहिए। आदि से (जन्मोत्पत्ति काल से), दुर्जात (दूषित सन्धान के कारण), उत्पन्न अस्थि या सन्धि असाध्य है। सम्यक् प्रकार से संहत (मिलाई) भी अस्थि-दुर्न्यास (बुरी प्रकार से रखने के कारण) से अथवा अनुचित रूप में बाँधने पर या संक्षोभ (हिलाने-डुलाने) से जो विकृति हो जाती है; वह अस्थि असाध्य समझनी चाहिए।

प्रथम जो तीन (वृद्धि, यौवन और सम्पूर्ण) अवस्थायें कही हैं, इनमें मध्यम आयु के अन्दर (चालीस वर्ष की आयु में) पुरुष के धातु स्थिर रहते हैं। (१६ से ४० धातु स्थिर रहते हैं) इस अवस्था में चिकित्सा करनी चाहिए। इसके आगे चालीस से सत्तर वर्ष की आयु में अतिशय कष्ट साध्य हो जाता है।

तरुणास्थियाँ (Cartilage-घ्राण, नाक, आँख की)—टेढ़ी बन जाती हैं। नलक (Long-Bones शाखास्थियाँ) टूटती हैं। कपालास्थियाँ (Flat सिर आदि की) फटती हैं। रुचक (दाँत आदि) एवं वलयास्थियों (small bones) कलई की में स्फुटन (दरार) होती है। इस प्रकार से अस्थियाँ पाँच प्रकार की बताई हैं। यथा—तरुण, कपाल, वलय, रूपक और नलक।

चिकित्सा—थोड़ा खाने वाले, अजितेन्द्रिय, वात प्रधान या उपद्रवों से युक्त व्यक्ति में भग्न रोग कठिनाई से अच्छा होता है।

भग्न रोगी—लवण, कटुरस, क्षार, अम्ल, मैथुन, धूप, व्यायाम और रुक्ष भोजन का सेवन न करे। भग्न रोगी—को जानने वाला वैद्य, शालि, मांसरस,

दूध, घी, मटर का घी से बनाया यूष, वृद्धि कारक खानपान दें। (मटर-वा कर होने पर भी घी आदि से संस्कृत करके दिया जाता है)।

महुआ, गूलर, पीपल, अर्जुन, ढाक इनकी छाल; बाँस, सर्ज, बरगद कं छाल, इनकी कुशा के काम (स्पिलिण्ट) में बरतें। मजीठ, मुलहठी, लाल चंद इनको शतधौत घृत में मिलाकर और शालि को पीस कर इनसे लेपें। सौम्य ऋतुओं में (शीत काल हेमन्त में) सात-सात दिन पीछे पट्टी बांधें। साधारण ऋतुओं (शरद ऋतु) में पाँचवें-पाँचवें दिन, आग्नेय ऋतु (ग्रीष्म में) तीसरे दिन पट्टी को बदलें अथवा भग्न दोष के अनुसार जब ठीक समझे तब बदल दें।

पट्टी को बहुत ढीला बाँधने से सन्धि स्थिर नहीं होती। कसकर बांधने से त्वचा आदि में सूजन, वेदना और पाक होता है। इसलिये भग्न से साधारण बन्धन (न ढीला न कसा) उत्तम है। परिषेचन कार्य में न्यग्रोधादिगण का कषाय वरतें। वेदन होने पर बृहत्पंचमूल से पकाया दूध बरतें अथवा जानने वाला वैद्य सुहाता गरम चक्रतेल बरतें (चक्रतेल=कोल्हू से ताजा निकला तेल)।

दोष और काल की विवेचना करके दोष नाशक औषधियों से युक्त-मिश्रित परिषेक या प्रदेह शीतल ही करें।

काकोल्यादि मधुर औषधियों से संस्कृत प्रथम बार ब्याई गाय क दूध को घी के साथ, ठण्डा करके, लाक्षा के साथ, भग्न नर प्रातःकाल पीयें। व्रण वाले भग्नों में घी और मधु प्रधान कषायों को (क्षीरी वृक्ष आदि कषाय रस वाले द्रव्यों का कल्क) लेप करके आहार-विहारादि भग्न की भाँति करें। प्रथम वय (बचपन) में हुआ भग्न सुख साध्य होता है। इसी प्रकार थोड़े दोष वाले प्राणी का और शिशर काल में हुआ भग्न सुख साध्य है।

बचपन में सन्धि को दृढ़ होने के लिये एक मास का समय चाहिए। मध्यम वय (युवावस्था) में दो मास और वृद्धावस्था में तीन मास का समय चाहिए। नीचे दबी अस्थि को ऊपर उठायें, ऊपर उठी को नीचे दबायें। बहुत दूर की हड्डी को पास में खींच कर लायें।

बुद्धिमान वैद्य चल और अचल शरीर की सब प्रकार की सन्धियों को आछत (खींचना), पीड़न (दबाना), संक्षेप (संकुचित करना) और बांधकर इनको ठीक विठाने के साधनों से ठीक बैठायें।

उत्पिष्ट (चूर्णित), विश्लिष्ट (च्युत) सन्धियों को वैद्य न चलाये। इन पर शीतल परिषेक और शीतल प्रदेह बरतें। चोट का प्रभाव हटने पर फिर अपने स्थान पर बिठाकर घी से लिप्त वस्त्र से लपेटकर पट्टी के ऊपर कशाओं को रखकर ठीक प्रकार से बन्ध बाँध दें।

प्रत्येक अंग के भग्न की चिकित्सा आगे कहेंगे।

चूर्णित हुई नख सन्धि में रक्त भर जाने पर आरा शस्त्र से मथकर (बहुत से छेद करके तोद कर) रक्त निकालें, पीछे से चावलों को पीसकर लेप करें। भग्न या सन्धि से अलग हुई अंगुलियाँ बराबर बिठाकर, सूक्ष्म पतली पट्टी से लपेट दें। ऊपर से घी का सेक करें।

पैर के तलुए में भग्न होने पर घी से अभ्यंग करके ऊपर से कुशा रखकर वस्त्र पट्टी से बाँध दें। इसमें व्यायाम न करें।

अति सावधानी से जंघा और उरु पर अभ्यंग करके इनको खींचें फिर न्यग्रोधादि शीतल वृक्षों की त्वचा बाँधकर पट्टी से लपेट दें। बाहर की ओर या अपने कोटर से खिसकी ऊर्ध्वस्थि को बुद्धिमान वैद्य चारों ओर गोलाई में घुमाकर बिठायें, स्फुटित या पिच्चित में भी पूर्व की भाँति वैद्य पट्टी करें।

जिस मनुष्य की कटि टूट गई हो: उसमें ऊर्ध्वगत अस्थि को नीचे, अधोगत अस्थि को ऊपर की ओर खींचें। फिर सन्धि के अपने स्थान पर बैठ जाने पर बस्तियों की चिकित्सा करें।

पर्शुकाओं के भग्न में रोगी को सीधा खड़ा करके घी का अभ्यंग करें। दक्षिण का वाम पार्श्व की पर्शुकाओं में मांस रज्जुओं पर घी का अभ्यंग करके, ऊपर से कवलिका बांस के खप्पच पर रुई की गद्दी रख कर वस्त्र की पट्टी से भली प्रकार बाँध दें। रोगी को तेल से भरे कड़ाह या टब में सुलायें।

अंश सन्धि के अलग होने पर कक्षा को मूसल से ऊँचा उठाएँ। इस स्थान पर बुद्धिमान वैद्य स्वस्तिक बन्धन बाँधें। कर्पूर सन्धि भग को अंगूठे से मलें। मलकर कोहनी की अलग हुई सन्धि को दबायें। खींचकर इसको कोहनी पर संकुचित (मोड़े) करें, ऊपर से स्नेह का परिषेक करें। जानु गुल्फ और मणिबन्ध के भंग होने पर भी इसी प्रकार करें।

मनुष्य की हथेली टूटने पर दोनों हथेलियों को समान करके बाँध दें, ऊपर कोल्हू के ताजे तेल से परिषेक करें। पहले मिट्टी का ढेला पकड़ें, फिर

सैंन्धव नमक को पकड़े। हाथ में बल आने पर धीरे-धीरे पत्थर को थमान आरम्भ करें।

अक्षक अस्थि नीचे दबी हो तो इसको मूसल से ऊपर उठायें, ऊपर क उठी अस्थि को मूसल से नीचे दबायें। कसकर पट्टी बाँध दें। ग्रीवा टेढ़ी हो जाने पर या नीचे को बैठ जाने पर रोगी को ठोड़ी और गर्दन के पिछले भाग गुद्दी से पकड़ कर ऊँचा करें। फिर बराबर कुशाओं को बिठाक पट्टी से बाँध दें। बिना आलस्य किए वैद्य इसको सात दिन पीठ के बल (चित्त) सुलायें।

हनु सन्धि के अलग होने पर हनु की अस्थियों को ठीक बिठाकर स्वेदन करे। ठीक बैठ जाने पर पञ्चागी बन्ध बाँध दें। भद्रदार्व्यादि विदारि-गन्धादि और काकोल्यादि से सिद्ध घृत नस्य में उत्तम है।

युवा मनुष्य के न टूटे हुए, हिले एवं रक्त वाले दाँतों को दबाएँ, बाहर शीतल लेप करें। शीतल जल से परिषेक करने, मधु घृत अति सन्धानीय द्रव्यों से चिकित्सा करें। कमल के नाल से दूध पिलाएँ। वृद्ध मनुष्य के हिलते हुए दाँतों की चिकित्सा न करें।

दबी हुई या टेढ़ी हुई नासा को शलाकाओं से सीधा करके, प्रत्येक नाशा में दो मुख वाली नाड़ी प्रवेश करें। फिर वस्त्र से लपेटकर घी से सेक करें। भग्न कर्णों को ठीक प्रकार बाँधकर, प्रचुर घृत युक्त मधु से सद्यः क्षत की भाँति, अभ्यंग, परिषेक आदि पीछे बरतें।

शिर की अस्थियों के भिन्न होने पर यदि मस्तुलुंग भग्न नहीं हुआ हो, तो मधु और घी को लगाकर बाँध दें, और सात दिन घृत पिएँ।

गिरने से या चोट लगने से जिस अंग में क्षत हुए बिना सूजन आ गई हो, उस पर शीतल प्रदेह, शीतल परिषेक वैद्य बरतें।

जंघा और उरु के टूटने पर रोगी को लकड़ी के तख्ते पर लिटाना चाहिए। रोगी हिले-डुले नहीं, इसलिये तख्ते पर पाँच कीलें गाड़ देनी चाहिए (एक तलुए के साथ, दो जंघा में, दो उसके दोनों ओर) भग्न रोगी हिले-डुले नहीं, ऐसा प्रयत्न करें। इसमें जघा भग्न में एक कील, तलुए पर दो कीलें, गुल्फ सन्धि के दोनों ओर और दो जानु सन्धि की दोनों ओर गाड़ें। उरु भग्न में—जानु सन्धि के पास दो, वंक्षण सन्धि के पास दो और तलुए पर एक कील गाड़ें।

श्रोणि, पृष्ठवंश, वक्षस्थल, अक्षक इनके भग्न होने पर या सन्धियुक्त होने पर यही विधि बरतें। अर्थात् रोगी को लिटाये रखें, हिलने न दें। देह से अलग हुई सन्धियों में स्नेहन स्वेदन करके इनको नरम करें। फिर कहे हुए उपायों से और अपनी बुद्धि से वैद्य इनको भली प्रकार पूर्वावस्था में लायें।

काण्ड भग्न-विषय उल्वण जुड़ने पर यदि भर गया हो (स्थिर हो गया हो) तो भी उसको अलग करके भग्न को समान बनायें—शेष क्रिया भग्न की भाँति करें।

व्रण के एक भाग में सूखी और बाहर निकली अस्थि को सावधानी से काट दें अथवा व्रण वाले भग्न में सन्धि के समीप से काट दें और व्रणयुक्त भग्न के समान उपचार करें।

शिर के भग्नों में शिर पर शिरोवस्ति, घी या तेल का पिचु, कान में तेल डालना, घृतपान और नस्य उत्तम है। हाथ-पैर के भग्नों में अनुवासन वस्ति उत्तम है।

इसके आगे भग्न को स्वस्थ करने वाला तेल कहूँगा। काले तिलों को सात दिन तक रात्रि में नदी के बहते जल में रखें और दिन में धूप में सुखायें, फिर सात दिन गाय के दूध में भावित करें। तीसरे हफ्ते में मुलहठी के क्वाथ से भावना दें। फिर चौथे सप्ताह पुनः गाय के दूध में भावित करके सुखाकर चूर्ण कर लो। इनमें काकोल्यादि गण के द्रव्य, मुलहठी, मजीठ, सारिवा, कूठ, राल, जटामांसी, देवदारु, चन्दन, सौंफ इनका चूर्ण (आपस में समान भाग) तिल के चूर्ण समान भाग से मिलायें। फिर एलादि गण से सिद्ध दूध से इस चूर्ण को गीला बनाकर, इन तिलों से तेल निकालें। इस तेल को तेल से चार गुने दूध के साथ इलायची, शालपर्णी, तेजपत्र, जीवक, तगर, लोध्र, प्रपौण्डरीक कालानुसारी, झिण्टी, क्षीर विदाही, सरिवा, मधूलिक, सिंघाड़ा पूर्वोक्त औषधियाँ (काकोल्यादि से लेकर सौंफ तक की) इनको कल्क के साथ मृदु अग्नि पर शस्त्र को जानने वाला तेल सिद्ध करे। यह तेल भग्न व्यक्तियों के सब कार्यों में पथ्य है। आक्षेपक, पक्षाघात, तालुशोष, अर्दित, मन्यास्तम्भ, शिरोरोग, कर्णशूल, हनुग्रह बधिरता, तिमिर रोगों में तथा जो पुरुष स्त्रियों में क्षीण हुए हैं, उनके पान, अभ्यंग, नस्य, बस्ति और भोजन में पथ्य है। इस तेल से ग्रीवा, स्कन्ध और छाती की वृद्धि होती है। मुख कमल के समान, मुख की वायु सुगन्धित होती है। इस तेल का नाम गन्ध तेल है, वायु के सब विकारों

को नष्ट करता है। यह तेल राजाओं के योग्य है, बुद्धिमानों को राजाओं के लिए ही बनाना चाहिए।

खीरा, बहेड़ा, चिरौंजी इनके तेलों को काकोल्यादि गण के साथ, दस गुने दूध से सिद्ध करे। यदि वसा मिल जाये तो उसे भी मिला दे। यह उत्तम स्नेह भग्नों को जल्द स्वस्थ करता है। स्नान, अभ्यंग, नस्य, परिषेचन और वस्ति कर्म में उत्तम है।

वैद्य को चाहिए कि वह ऐसा प्रयत्न करे कि भग्न पकने न पाये। मांस सिरा, स्नायु के पक जाने पर भग्न कठिनाई से अच्छा होता है।

जिस भग्न या सन्धि भंग से रोगी को बेचैनी अंग की कमी (छोटा पड़ना) या ऊपर को उठाना न हो, सिकोड़ने फैलाने आदि चेष्टाओं में सुखपूर्वक प्रवृत्ति हो, उसे भली प्रकार जुड़ा जाने जाने।

गलगण्ड—अतिशय रूप में प्रवुद्ध वायु और कफ तथा मेदसन्या (ग्रीवा के पार्श्व भाग की धमनियों) का आश्रय करके वात कफ के (अपने-अपने) लक्षणों से युक्त, क्रमशः (शनैः-शनैः वुद्धिशील) गण्डरोग को उत्पन्न करते हैं, इसको गलगण्ड कहते हैं (पित्त जन्य गलगण्ड नहीं होता)।

वातजन्य गलगण्ड—तोदान्वित (सुई चुभने की वेदना युक्त), कृष्ण-शिराओं से व्याप्त, कृष्ण अथवा लाल वर्ण होता है। यदि कालवश से सचित भेद के साथ संयुक्त हो जाता है तो अतिशय स्निग्ध एवं अरुज (वेदना रहित) होता है। यह अर्बुद कठोरता युक्त, देर में वर्धनशील, देर में पकने वाला, भाग्यवश कभी पकता है। रोगी के मुख का स्वाद बदल जाता है, तालु और गला सूख जाता है।

कफजन्य गलगण्ड—स्थिर, त्वचा के समान वर्ण, मन्द वेदनाशील, कण्डु-बहुल, शीतल एवं महान होता है। बहुत देर में बढ़ता है और कभी भाग्य से बहुत देर में पकता है, तब थोड़ी वेदना होती है। रोगी का मुख मीठा रहता है, तालु और गला कफ से भरा रहता है।

मेदजन्य गलगण्ड—स्निग्ध, मृदु (कोमल), पाण्डु वर्ण, अनिष्ट गन्ध (दुर्गन्धयुक्त), वेदना रहित, कण्डु वपुल होता है। अलाबु (घीया कद्दू) के समान नीचे लटकता है, मूल अल्प (छोटा) होता है, शरीर की वृद्धि से बढ़ता है और शरीर के क्षय से घटता है। रोगी का मुख स्निग्ध रहता है, सर्वदा या बोलने पर गले से शब्द आता रहता है।

असाध्यता—कठिनाई से श्वास लेने वाला रोगी हो, सम्पूर्ण शरीर कोमल

(थोथला) हो, एक साल पुराना हो गया हो, अरोचक रोग से पीड़ित हो, शरीर से क्षीण तथा भिन्न स्वर (शब्द स्वर टूटे हुए) रोगी को असाध्य समझना चाहिए।

गलगण्ड का स्वरूप—जिस रोगी के गले में महान अथवा ह्रसव सूजन, अण्डकोष के समान लटकने लगती है, उसको गलगण्ड कहते हैं।

चिकित्सा

वातजन्य गलगण्ड में—वैद्य वातनाशक (एरण्ड आदि) द्रव्यों के पत्तों से नाड़ी द्वारा स्वेद दें। पित्तावृत्त वायु में कांजी से, कफावृत्त में मूत्र क्वाथ से, रक्तावृत वायु में मांस के साथ तेल मिलाकर गर्म स्वेदन हो जाने पर बिना आलस्य के विद्वान जौंक आदि से रक्त मोक्षण करें। रक्त हरण से शुक्त हो जाने पर सन, अलसी, मूली, सुहांजना, किण्व, (सुराबीज), गिलोय, सहजन पुनर्नवी, आक, गज-पिप्पली, मैनफल, कुष्ठ एकैषिका (पाठा), कुटज, तिल्वक इनको सुरा और कांजी में पीसकर बार-बार लेप करें। गिलोय, नीम, हंसराज, कुटज, पिप्पली, बला, देवदारु इनसे सिद्ध किया तेल गलगण्ड रोग में नित्य हितकारी हैं।

कफजन्य गलगण्ड में—स्वेदन और उपनाह करके इसको स्वेद देकर रक्त मोक्षण ही करना चाहिए। फिर अजगन्धा, अतीस, कलिहारी, मेढ़ासीगीं, कुष्ठ, शुकनास, रक्तियाँ इनको पलाश क्षारोदक में पीसकर, गर्म करके लेप करें। पाँचों नमक के साथ, पिप्पली आदि गण के क्वाथ और कल्क से सिद्ध किया तेल पिएँ। वमन, शिरोविरेचन, विरैचनिक धूम बरतने चाहिए। वात और कफजन्य गलगण्ड के किसी प्रकार पक जाने पर वैद्य को पाक विधि बरतनी चाहिए।

भक्ष्यों (धान्य, कुल्माष आदि) को गौ मूत्र में भिगोकर, सुखाकर, जौ के बने भक्ष्य, मूंग का रस, इनको तथा त्रिकुट को मधु के साथ खाएं। शृंगवर, परवल नीम को गलगण्ड रोग में देना उत्तम है।

मेदजन्य गलगण्ड में—स्नेहन देकर कही हुई सिरा (उरु सन्धि में कही) का वेधन करें। निशोध, चूना (या सेहुण्ड) लोहे का मैल (किट्ट), दन्ती और रसौत इनका लेप करें। साल सारादिगण के वृक्षों के सार कल्क को (कर्ष मात्रा) में गोमूत्र में घोलकर प्रातःकाल पिएं। अथवा इसको शस्त्र से चीरकर,

मेद को निकालकर, इसको पुनः सी दें। अथवा मज्जा, घी, मेद और मधु से इसे जलाएँ। जल जाने पर घी और मधु को लगाएँ। पीछे से कसीस, तुत्थ, गोरचना, (सा हल्दी) इनका चूर्ण व्रण पर मलें। फिर तेल लगाकर साल सारादिगण की और गोबर (धानों) की भस्म लगाएँ। त्रिफला कषाय नित्य उत्तम है। कसकर पट्टी बाँधनी चाहिए और नित्य जौ का भोजन करना चाहिए।

अर्बुद—सम्मूर्छित (कुपित हुए) वातादि दोष शरीर के किसी भी भाग में मांस और रक्त को दूषित करके गोल, स्थिर, मन्द वेदनायुक्त, महान एवं विस्तृत मूलवाली, देर में बढ़ने वाली, पाकरहित (न पकने वाली) मांसोच्छ्रय (मांस संघातयुक्त) तथा अगाध (गम्भीर) शोथ उत्पन्न करते हैं। शास्त्रविद इसको 'अर्बुद' कहते हैं।

वायु, पित्त, कफ, रक्त, मांस एवं मेद के कारण छह प्रकार का अर्बुद होता है। इस अर्बुद के लक्षण ग्रन्थि के समान होते हैं।

अर्बुद के लक्षण—दूषित वातादि दोष एवं रक्त शिराओं को पीड़ित एवं संकुचित करके, पकने पर रक्त की मात्रा बढ़ने से एवं त्वचा के न फटने के कारण मांसपिण्ड को ऊपर की ओर उभार देते हैं। यह शोथ (उभार) मांसांकुरों से व्याप्त होता है और शीघ्र बढ़ता है। इससे निरन्तर दूषित रक्त बहता रहता है। यह रक्तजन्य अर्बुद असाध्य है। रक्त क्षय के कारण उपद्रवों से (मूर्च्छा आदि रक्तपित्तजन्य उपद्रवों से) पीड़ित तथा अर्बुद रोगी जो पाण्डु वर्ण हो जाए, वह भी असाध्य है।

मांसजन्य अर्बुद—मुष्टि प्रहार (मुक्का की चोट आदि) के कारण अंगों में चोट लगने से मांस दूषित होकर (शोथ उत्पन्न करता है।) यह शोथ वेदना रहित, स्निग्ध, त्वचा के समान वर्ण, पाक रहित, पत्थर के समान कठोर एवं निश्चय (न हिलने वाला) होता है। मांसपरायण (अतिशय मांस भक्षी) पुरुष के मांस के अति दूषित होने से यह अर्बुद (स्फिक कक्षा, जघा आदि मांस-बहुल स्थानों में) विशेषकर होता है। यह मांसार्बुद असाध्य है।

साध्य अर्बुदों में निम्नलिखित अर्बुदों को चिकित्सा कर्म में छोड़ देना चाहिए। यथा—जिन अर्बुदों में से रक्त का स्राव होता हो जो अर्बुद मर्म या स्रोतस स्थानों में उत्पन्न हुआ हो, जो अचल हो, प्रथम अर्बुद के होने पर जो अर्बुद फिर—दूसरा उत्पन्न होता है उसको 'अध्यर्बुद' कहते हैं। जो अर्बुद के साथ द्वन्द्व (जोड़िया) रूप में अथवा क्रम से (एक के पीछे दूसरा) उत्पन्न होते हैं

उनको द्विरर्बुद कहते हैं—ये द्विरर्बुद (एवं द्विदोषजन्य भी) तथा अध्यर्बुद असाध्य हैं।

न पकने का कारण—अर्बुदों में कफ और मेद की अधिकता विशेष रूप में होती है। इसलिए, यथा—वातादि दोषों के स्थिर (मांसोन्नति के कारण चिरकाल तक रहने से कठोर) होने से एवं वातादि दोषों के ग्रन्थि रूप में (निश्चल) बन जाने से, सब प्रकार के अर्बुद स्वभाव से नहीं पकते।

चिकित्सा—कर्कारु (कूष्माण्ड) एर्वारुक (ककड़ी), नारियल, चिरौंजी एरण्ड इनके बीजों के चूर्ण से दूध और घृत के साथ सिद्ध करके रक्तपित्त का अनुबन्ध होने पर वातार्बुद पर उपनाह करें। शुद्धवातार्बुद में तेल युक्त गरम-गरम उपनाह करें। मांस वेसवार से सिद्ध किये हुए मुख्य उपनाह (साल्वण आदि) बरतें। कुशल वैद्य नाड़ी से स्वेद करें और शृंग से बार-बार रक्त मोक्षण करें। देवदारु आदि वातघ्न द्रव्यों के क्वाथ दूध और काजी में तेल का शतपाक करके पियें अथवा घृत, तेल, वसा इस त्रिवृत स्नेह को पूर्वोक्त वातहर द्रव्यों क्वाथ, दूध, कांजी में सिद्ध करके पियें।

पित्तार्बुद में—स्वेदन, उपनाह, ये कोमल रूप में करें, अर्थात् द्रव्य स्वेद दें काकोल्यादि मृदु द्रव्यों से बन्ध करें, इनको दूध और अम्ल में पीसकर बहुत गर्म न बाँधें विरेचन भी मृदु ही दें। गूलर, सागौन, गाजवाँ इनके पत्तों से अर्बुद को रगड़कर इस पर राल, प्रियंगु, लाल चन्दन, लोध्र, अंजन (सुरमा) और मुलहठी इनको चूर्ण करके मधु में मिलाकर बहुत बार लेप करें। रक्त निकाल कर अमलतास, गाजवां, कट्फल और काली निशोथ इनका लेप लगाएं। काली निशोथ, गिरिह्वा (श्वेतस्यन्द), अंजन की (नीलाञ्जटिका का शरद ऋतु फल) इनके क्वाथ में और द्राक्षारस में तथा सप्तलिका (यवक्तिका) के रस में मुलैहठी के कल्क से सिद्ध किया घृत पित्तार्बुद रोगी और पित्तोदरी पियें।

वमन से शुद्ध हुए कफार्बुद रोगी का रक्त (अलाबु से) निकालकर अर्बुद पर अपची से कहे ऊर्ध्व और अधः मार्ग (वमन विरेचन) से दोषों को निकालने वाले द्रव्यों के कल्क से (जीमूतक, घोषवती, दन्ती, द्रवन्ती, त्रिवृत आदि) लेप करें। कबूतर को बीट, पारावत की बीट, काँसी की स्याही, शुक्र (ग्रन्थि वर्ण) कलिहारी, काकादनी का मूल इनको मूत्र में पीसकर लेप करें अथवा क्षार में मिलाकर लेप करें (अथवा) कबूतर की बीट आदि को क्षारोदक में मिलाकर लेप करें।)

सेम, खली (या पिल कल्क), कुलथी, इनका कल्क, मांस, दही, यस
इनको अच्छी तरह मिलाकर अर्बुद पर लेप करें। इस लेप से खिचकर मक्खिय
इस अर्बुद पर गिरेंगी और वहाँ अण्डे और कृमि उत्पन्न हो जायेंगे। कीड़े ज
अर्बुद को खा जाये, थोड़ा बचे, तब इसका लेखन करके अग्नि से इसक
जलायें। जिस अर्बुद का मूल छोटा हो उसे रांगा, ताम्र, सीसा या लोह
इनके पतरे से चारों ओर से घेरकर इस अर्बुद पर क्षार, अग्नि या शस्त्र क
बार-बार वैद्य सावधानी से करें, परन्तु प्राणों को नुकसान न होने दें। सखि
चमेली, कनेर इनके पत्तों का क्वाथ व्रण के धोने के लिए उत्तम है। व्रण के
शुद्ध हो जाने पर भार्गी, विडंग, पाठा, त्रिफला से पकाया तेल बरतें। जो
अर्बुद अचानक चोट आदि के कारण पक जायें उनमें विधि को जानने वाला
वैद्य पाक की चिकित्सा बरते।

मेदोर्बुद में—इसमे स्वेदन करके इसको चीरकर इसका शोधन करें। रक्त
बन्द हो जाने पर इसको सी दें। इसके पीछे हल्दी, घी का धुवांसा, लोध्र
चन्दन काष्ट, मैनसिल, हरताल, इस चूर्ण को मधु में भली प्रकार मिलाकर
व्रण पर रगड़ें। शोधन हो जाने पर विद्रधि में कहा करंज बरतें। क्योंकि दोषों
के रह जाने पर अर्बुद फिर से उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए अर्बुदों को सम्पूर्ण
रूप में बाहर निकालें। जैसे कि आग सम्पूर्ण नष्ट कर देती है, उसी प्रकार
इसको जड़ समेत नष्ट करें।

ग्रन्थि—वात, पित्त, कफ, दूषित होकर मांस एवं रक्त तथा कफ संयुक्त
मेद को दूषित करके गोलाकार, उठी हुई गांठ के समान, कठोरता युक्त शोथ
उत्पन्न करते हैं। इसलिए इसको ग्रन्थि कहते हैं।

वातजन्य ग्रन्थि में—वायु के आकर्षण के कारण लम्बी सी की जाने के
सदृश. आरे से कटने के सदृश, सुई चुभने के समान, खींचकर ढेला आदि लगने
के समान, कुठार के फटाने के समान तथा परशु से फाड़ने के समान वेदना
होती है। ग्रन्थि कृष्णवर्ण, कठोर तथा मूत्राशय के समान तनी होती है। इसके
फटने पर स्वच्छ रक्त बहता है।

पित्तजन्य ग्रन्थि—अतिशय दाहयुक्त प्रतीत होती है, अतिशय सन्ताप-युक्त
अथवा गरम प्रतीत होती है चूसने के समान वेदनायुक्त होती है, अतिशय
पकती है, तथा जलती-सी प्रतीत होती है, ग्रन्थि का वर्ण लाल या पीला होता
है। इसके फूटने पर अति उष्ण रक्त बहता है।

कफजन्य ग्रन्थि—शीत, कुछ मलिन रंग वाली, अल्प वेदना वाली, अधिक कण्डु वाली, पत्थर की तरह कठिन होती है। शनैः-शनैः बढ़ती है, इसके फूटने पर श्वेत गाढ़ा पूय बहता है।

मेदो ग्रन्थि—शरीर की वृद्धि से बढ़ती है और शरीर क्षय से घटती है, चिकनी, आकार में महान, मन्द वेदना युक्त, अधिक कण्डु वाली होती है। इसके फूटने पर 'पिण्याक' (तिलकल्क खल) और घी के समान मेद बाहर आती है।

शिराजन्य ग्रन्थि—निर्बल पुरुष के अतिशय व्यायाम करने तथा अन्य वायुवर्धक कारणों से वायु कुपित होकर शिरा जालों को पीड़न करके संकुचित करके अथवा शुष्क करके गोल उन्नत (उठी हुई) ग्रन्थि को शीघ्र उत्पन्न करती है। यदि शिराजन्य ग्रन्थि वेदनायुक्त और चल (गतिशील) हो तो कृच्छ्रसाध्य है और यदि अचल (निश्चल), महान वेदना रहित हो, अथवा मर्मस्थानों में उत्पन्न हुई हो तो असाध्य समझनी चाहिए।

चिकित्सा

अपक्व ग्रन्थियों में विधि को जानने वाला वैद्य शोफ चिकित्सा (अपतर्पण से लेकर विरेचन पर्यन्त) को प्रधानतया करें। रोगी के बल की सदा रक्षा करते रहना चाहिये। रक्षा किए रोगी का बल रोग के बल को (रोगी की तीव्रता) को कम करता है।

रोगी तेल को पिये या घी पिये इन दोनों को मिलाकर पिये अथवा इन दोनों में वसा मिलाकर पिये। अथवा इन दोनों में वसा मिलाकर त्रैवृत के रूप में इन स्नेहों को पिये प्रसारिणी और दशमूल से सिद्ध किया तेल, घी या दोनों या चारों स्नेह (घी, तेल, वसा, मज्जा) को पिये।

वातजन्य ग्रन्थि में—शुण्ठी, कुटकी, गिलोय, मार्गी, श्योनाक, बिल्व, अगुरु, शोभाजन, गाजवाँ और मूसली इनको पीसकर लेप करें। इन पर स्वेदन और उपनाह करें। नाना प्रकार के प्रसिद्ध दूसरे लेपों को (मिश्रकोक्त मातुलुंगादि) लगायें। पकने पर ग्रन्थि को चीरकर पूय को निकालकर बिल्व, अमलतास इनके क्वाथ से धोकर तिल, एरण्ड के पत्ते और सैंधव इनका लेप करके व्रण का शोधन करें। व्रण का शोधन हो जाने पर रास्ना सरल गोंद से मिश्रित तेल से व्रण को भरें। अथवा वायविडग, मुलहठी, गिलोय और दूध से सिद्ध तेल से व्रण का रोपण करें।

पित्तजन्य ग्रंथि में—ऐसी ग्रन्थियों में जौंक का लगाना और दूध व जल से परिषेचन करना उत्तम है। काकोल्यादिगण के शीतल कषायों में शर्करा मिलाकर पियें। हरण के चूर्ण को द्राक्षा रस मे या गन्ने के रस के साथ पियें। महुआ, जामुन, अर्जुन और अम्ल वेतस इनकी छालों से लेप करें। केवड़े को शर्करा में मिलाकर उससे या मुचुकुन्द (मुचुलुन्द) से लेप बार-बार करें। पक जाने पर ग्रन्थि को चीर कर, सब पूय निकालकर, बरगद, पीपल, गूलर इनके कषायों से इसे धोयें। तिल, मुलहठी के लेप से व्रण का शोधन करके काकोल्यादि वर्ग में सिद्ध घृत का उपयोग करें।

कफजन्य ग्रंथि—इस ग्रन्थि में वैद्य-स्नेहन स्वेदन के क्रम से वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन, रक्तमोक्षण से कफ, पित्त वात दोषों को निकाल करके रक्तमोक्षण के उपरान्त स्वेदन करके अँगूठे, लोह, पत्थर बाँस के डण्डे से विम्लापन करें। विकङ्कत (वैंकड़ा), अमलतास, रत्ती, काकादनी (कौआ ठूँटी-वायसतिन्तुका) इगुंटी इनकी जड़ ॆं, पिण्ड फल (तिक्तलाबु उल्हण) आक, भार्गी, करंज काला (कंचुहिस्रा या कालानुसारी) मैनफल इनसे कुशल पुरुष लेप करें।

जो ग्रन्थि मर्म में उत्पन्न न हुई हो, और उपर्युक्त चिकित्सा से शान्त न होती हो तो उसे आक्वावस्था में चीरकर निकाल दें। कुशल वैद्य इसको जलायें और रक्त के बन्द होने पर सद्यः क्षत में कही गई विधि को करें।

शरीर में कठिन मांसकन्दी और बड़ी हों, उनमें भी विधि को जानने वाला वैद्य वही विधि बरते। भली प्रकार मांसकन्दी को शस्त्र से शीघ्र ही चीरकर, कफोत्थ व्रणहर कषायों से धोयें। यवक्षार प्रधान मधु और गुड़ का लेप करके इन संशोधनों से इसका शोधन करें। शोधन हो जाने पर विडंग, पाठा, हल्दी से पकाए तेल को लगाना चाहिए।

मेदोजन्य ग्रंथि—तिलकल्क का लेप करके, इसके ऊपर दुहरा कपड़ा रख दें। फिर अग्नि में गरम किए लोहे से इसको बार-बार स्पर्श करें परन्तु त्वचा को जलने न दें (मेढ़ ही पिछले)। अथवा कड़वी पर लाख लगाकर उसको गरम करके इससे स्वेदन करें। अथवा वस्त्र से चीरकर मेढ़ को निकालकर जलायें। अच्छी प्रकार पिसे तिल, मुर्वाचिका, यवक्षार, हरताल, सैंधव, मधु और घृत एवं क्षार प्रधान द्रव्यों से इसका शोधन करके करंज, नाटाकरंज, रत्ती, बाँस की छाल, हिंगोट और गोमूत्र में सिद्ध तेल बरतें।

जीमूतक (देवदाली), कोशातकी फल (कड़वी तुम्बी), दन्ती द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड) और निशोध (इनकी जड़) इनसे सिद्ध किया घी; बढ़ी हुई अपची को दोनों मार्गों से (वमन विरेचन से) दोषों का हरण करके नष्ट करता है। यह घृत उत्कृष्ट शक्ति का है। निर्गुण्डी (सम्भालु), चमेली, वरिहिष्ट (बालक), जीमूतक (देवदाली), मधु, और सैंधव प्रचुर मात्रा में मिलाकर गरम करके दिया हुआ घट्ट वमन, (बड़ी मात्रा में) अपचियाँ, उत्तम कहा है। बकायन, कन्दूरी कनेर, इनके कल्क से सिद्ध किया तेल (द्रवस्थान में जल) शिरोविरेचन में उत्तम है। शाखोटक के स्वरस में सिद्ध किया हुआ तेल नस्य विरेचन में उत्तम है। महुआ का सार शोभाजन के फल या चिरचिटे के फलों को गरम पानी में पीसकर अवपीडन नस्य देना चाहिए।

मर्मस्थान से अतिरिक्त स्थानों में उत्पन्न अपक्व ग्रन्थियों को निकाल देना चाहिए अथवा क्षार से इनका प्रतिसारण कर घिसें।। कहे अनुसार शस्त्र से लेखन करके क्षार से घिसें।

पार्ष्णि (एड़ी) से लेकर पिण्डली में बारह अंगुल मापकर वहाँ पर इन्द्र बस्ति मर्म को बचाकर वैद्य चीरा दें। इस स्थान पर मछली के अण्डे के समान (आपस में जुड़े), जो जाल (शिराओं का गुच्छा) हो उसे निकालकर जला दे। दूसरे आचार्य कहते हैं कि गुल्फ के कर्णभाग से लेकर घुटने तक माप करके, उस माप का आठवाँ भाग खुड़ (पैर और जंघा की संधि) स्थान से छोड़कर इन्द्रबस्ति मर्म को नेत्र के बराबर (दो अंगुल) बचाते हुए नासिका के समान सीधा बेधन करना चाहिए।

अथवा मणिबन्ध (कलाई) के ऊपर वैद्य तीन रेखायें एक-एक अंगुली के अन्तर से, अपचियों की निवृत्ति के लिए करें। (कक्षा, कूर्पर, सन्धिगत अपचियों में बाहु में कर्म करें)।

रोपण काल में मोर, कौवा, गोह, साँप, कछुआ, इनकी मसी (राख-क्षार) को हिंगोट के तेल के साथ दें। वैरेचनिक धूम का प्रयोग करें। नित्यप्रति जौ और मूँग का भोजन करें।

ख

अगद-तन्त्र

प्रश्न—विष किसे कहते हैं ? विष की उत्पत्ति, लक्षण एवं अधिष्ठान सहित भेद लिखिए। विष के गुण-कर्म बताइए और दोष प्रकोपकता सिद्ध कीजिए।

उत्तर—विष[1]—विषाद जनक होने के कारण विष कहते हैं। क्योंकि जिस समय विष उत्पन्न हुआ था, उस समय इसको देखकर देवता, मनुष्य, पशु आदि सभी को विषाद उत्पन्न हुआ था। अतः विषाद उत्पन्न करने के कारण ही इसको विष कहा गया है।

विष की उत्पत्ति—विषोत्पत्ति का पुराना इतिहास है। जब ब्रह्माजी इस संसार की रचना कर रहे थे, तब उस समय कैटभ नाम के दैत्य ने अभिमान-वश होकर उनके कार्य में विघ्न उपस्थित करना चाहा, उस समय महान् तेजस्वी ब्रह्माजी के क्रुद्ध होने पर उनके मुख मार्ग से क्रोध शरीर धारण करके अति दारुण रूप धारण करके उपस्थित[2] हो गया। ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न हुए इस क्रोध रूपी मानव ने यमराज के समान गर्जन करके कैटभ राक्षस को मार डाला। उसके मारने के अनन्तर यह तेजस्वी क्रोध विचित्र रूप में बढ़ने लगा। इसको देखकर देवताओं को बहुत विषाद, अर्थात् दुःख हुआ। तदनन्तर ब्रह्माजी ने इस क्रोध रूपी विष को जड़ और चेतन पदार्थों में स्थापित कर दिया।

विष के भेद[3]—यह विष जड़ और चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों में पाया जाता है, अतः प्रमुख रूप से इसके दो भेद हैं—

(१) स्थावर विष, (२) जंगम विष।

---

१. ततोविषादोदेवानामभवत्तं निरीक्ष्यवै।
विषाद जननत्वाच्च विषमित्यभिधीयते ॥

२. तस्य क्रुद्धस्य वै वक्त्राद् ब्रह्मणस्तेजसोनिधेः।
क्रोधो विग्रहवान् भूत्वा निपपातातिदारुणः ॥

३. स्थावरं जंगमं चैव द्विविधं विषमुच्यते।

स्थावर विष के लक्षण—वनस्पति जगत अर्थात् वृक्ष, लता, पुष्प, कन्द आदि से प्राप्त होने वाले को स्थावर विष माना जाता है।

स्थावर विष अधिष्ठान[1]—स्थावर विष के दस अधिष्ठान माने गये हैं। जैसे—मूल, पत्र, फल, पुष्प, छाल, दूध, सार, गोंद, धातु और कन्द।

जंगम विष के लक्षण—जो विष जंगम जगत् अर्थात् सर्प वृश्चिक, लूता आदि प्राणियों में पाया जाता है, उसको जंगम विष कहा गया है।

जंगम विष के अधिष्ठान—जंगम विष के सोलह अधिष्ठान अथवा आश्रय माने गये हैं। जैसे—दृष्टि निःश्वास, दंष्ट्रा, नख, मूत्र, पुरीष, शुक्र लाला (लार), आर्तव, मुख, सन्दूश, विशर्धित, तुण्डास्थि, पित्त, शूक और शव।

विष के गुण और कार्य—विष के दस गुण माने गये हैं। जैसे—रूक्ष, उष्ण तीक्ष्ण, सूक्ष्म, आशु, व्यवायी, विकाशी, विशद, लघु और अपाकी। इसके कार्य इस प्रकार से हैं—विष रूक्ष होने से वायु को, उष्ण होने से रक्त के साथ पित्त को, तीक्ष्ण होने से बुद्धि को तथा मर्म-बन्धनों को, सूक्ष्म होने से शरीर के अव-यवों को विकृत, दूषित तथा कुपित करता है। आशुकारी होने से शीघ्र ही प्राणनाशक है। व्यवसायी होने पर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। विनाशी होने से दोष, धातु तथा मलों को नष्ट कर देता है। विशद होने से न कहीं रुकता है और न कहीं चिपकता ही है। लघु गुण होने से दुश्चिकित्सस्य होता है। अविपाकी होने से बड़ी ही कठिनाई से बाहर निकाला जा सकने वाला है। अतः यह मानव को बहुत समय तक क्लेश पहुँचाता रहता है। योगवासी बनकर कफ स्थान पर पहुँच कर अन्न में मिलकर कफ प्रकोप होता है। इन रस गुणों से मुक्त होने के कारण ही कोई विष तुरन्त मानव के प्राणों को नष्ट कर सकता है, कम गुण होने पर चिरकाल में कार्यकारी होता है।

विष के नाना वीर्य—क्योंकि यह विष, जिस प्रकार से अव्यक्त रस वाला, जल आकाश में बरस कर, पृथ्वी पर गिरकर, उन-उन प्रदेशों के अनुसार रसों को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार से जिस द्रव्य का आश्रय लेता है, स्वाभाविक के वीर्य वाला माना गया है।

विष की सर्वदोष प्रकोपकता—विष की प्रायः सभी गुण तीक्ष्ण रूप से विद्यमान रहते हैं। इसलिए सभी प्रकार के विष सभी दोषों को कुपित किय

---

१. दशाधिष्ठानमाद्यंतु द्वितीयं षोड़शाश्रयम्।

करते हैं। और ये वात, पित्त आदि दोष विष के प्रभाव से पीड़ित होकर अपने प्राकृतिक स्वभाव, गुण और धर्म को त्याग देते हैं। अतः विष का पाचन नहीं होने पाता और प्राणघातक बन जाता है, अतः भीतर से जीवित रहते हुए भी बाहर से संज्ञाहीन होकर पड़ा रहता है।

प्रश्न—गर विष या कृत्रिम विष किसे कहते हैं ? दूषी विष क्या है ? दूषी विष का प्रकोप काल, पूर्वरूप एवं कर्म लिखिए।

उत्तर—स्थावर और जंगम इन दो विषों के अतिरिक्त दो प्रकार के विष-भेद माने गये हैं। प्रथम भेद कृत्रिम अथवा गर विष कहलाता है। इसकी उत्पत्ति कई प्रकार के विष क्रिया कारक पदार्थों के सम्मिश्रण से हुआ करती है। जैसे दुष्टा स्त्रियाँ अपने पति को अपने अनुकूल रखने के लिए बाल, नख, रोम, स्वेदमल, आर्तव, सिन्दूर आदि मिलाकर इसे धीरे-धीरे खिलाती रहती हैं। ऐसे ही कृत्रिम विष बनाने की अनेक प्रक्रियाएँ हैं। इस कृत्रिम विष का प्रभाव रोगी पर शनैः-शनैः हुआ करता है। यथासमय इसकी पूर्ण विष क्रिया उत्पन्न हो जाने पर शरीर में विभिन्न प्रकार के रोग एवं विकार आदि उत्पन्न हो जाया करते हैं।

दूसरा विष भेद दूषी विष कहलाता है—इसकी उत्पत्ति स्थावर, जंगम, और कृत्रिम इन तीनों प्रकार के विषों से ही किसी न किसी रूप में हुआ करती है। जब इनमें से कोई सा विष शरीर में प्राप्त होकर पूर्ण रूप से बाहर नहीं निकल पाता तब वह कुछ अंश, प्रत्यंश के रूप में शरीर के ही भीतर लुप्तप्राय बना रहता है, क्योंकि यह पचकर अथवा विषहर औषधियों से नष्ट होकर अथवा दावानल, वायु, धूप आदि से सूख जाने के कारण अथवा अपने ही स्वभाव से गुणों में कुछ न्यून गुण वाला हो जाता है, तब इस विष की दूषी विष संज्ञा होती है।

यह दूषी विष शक्ति में न्यून होता है, अतः शीघ्र ही मनुष्य के लिए मारक नहीं बन जाता, अपितु कफ से आवृत होने के कारण बहुत वर्षों तक शरीर में बना रहता है।

शरीर में स्थानानुसार दूषी विष के लक्षण—दूषी विष से पीड़ित मानव अतिसार से ग्रस्त रहता है, शरीर का वर्ण बदल जाता है। मुख से दुर्गन्ध आने लगती है, विरसता (रस की अनुभूति में परिवर्तन) तथा प्यास उत्पन्न हो जाती है। रोगी में मूर्च्छा, वमन, स्वर की विकृति आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं। मानव सर्वदा उदास रहता है और उसमें दूष्योदर के भी चिह्न प्रकट हो जाने से

पर्याप्त कष्ट का अनुभव करता है। यदि यह दूषी विष आमाशय में पहुँचकर स्थित हो जाता है तो कफ और वात के विकारों की उत्पत्ति हो जाती है और पक्वाशय में पहुँचने पर वात-पित्तज रोगों की उत्पत्ति होती है। मनुष्य के सिर के बाल और शरीर के रोम भी झड़ जाते हैं। रोगी पंख कटे पक्षी के समान दिखलाई पड़ने लगता है। यदि यह दूषी विष रस-रक्त आदि धातुओं में जाकर स्थिर हो जाता है तो उसी-उसी धातु जन्य विकारों को विशेषतया उत्पन्न करता है।

दूषी विष प्रकोप काल—यह दूषी विष शीत, वायु, वर्षा अथवा मेघाच्छन्न आकाश के होने पर प्रकुपित हो जाता है।

दूषी विष के पूर्व रूप—निद्रा का आना, भारीपन, जृम्भा, सन्धियों में शिथिलता, शरीर पर रोमाञ्च होना, शरीर के अङ्गों का टूटना आदि लक्षण रोगी में पाये जाते हैं।

दूषी विष के कार्य—अन्न का नशा, अविपाक, अरोचक, शरीर पर चकत्ते, और कोठ (ददोड़े) उत्पन्न हो जाते हैं। धातुओं का क्षय, हाथ, पैर और मुख पर शोथ, उदर में जल की वृद्धि, वमन, अतिसार, विवर्णता, मूर्च्छा, विषमज्वर प्रबल तृष्णा को भी उत्पन्न करता है। यह दूषी विष कभी उन्माद रोग को, कभी अनाह, कभी शुक्र का नाश, कभी स्वर की विकृति और कभी कुष्ठ को भी उत्पन्न कर दिया करता है। अतः यह विष नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर सकता है।

दूषी विष की निरुक्ति[1]—यह विष, देशकाल, अन्न दिवास्वाप (दिन में सोना) आदि कारणों से बार-बार धातुओं को दूषित करता रहता है, अतः इसको दूषी विष कहते हैं।

प्रश्न—विषकन्या, विषवैद्य, विषदाता, विष देने के साधन, विषमिश्रित खाद्य पदार्थ के विषय में आप क्या जानते हैं? इसी सन्दर्भ में आमाशयगत एवं पक्वाशयगत विष के लक्षण लिखिए।

उत्तर—विषकन्या का लक्षण—विष कन्या बनाने के लिए कन्या को बचपन से ही थोड़ी-थोड़ी मात्रा मे विष का सेवन कराया जाता था। धीरे-धीरे इस विष की मात्रा बढ़ती जाती थी और अन्त में इसकी मात्रा इतनी

१. दूषित देश कालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः।
यस्माद् दूषयते धातूस्तमाद दूषी विषं स्मृतम्॥

अधिक हो जाती थी कि वह उस कन्या के लिए तो सह्य होती थी किन्तु अन्य प्राणी के लिए वह प्राण घातक सिद्ध होती थी। यह विष उस कन्या के संपूर्ण शरीर में व्याप्त रहता था अतः उसका चुम्बन, स्पर्श, आलिंगन तथा मैथुन करते ही मानव मर जाता था। यह प्राचीन युग में होता था। आजकल नहीं होता।

विषवैद्य के लक्षण—अगद-तन्त्र के नियमानुसार विषों के चिकित्सक में निम्नलिखित लक्षण होने चाहिए तभी वह अच्छा विषवैद्य माना जा सकता है अन्यथा नहीं। विषवैद्य कुलीन, धर्मात्मा, स्नेह रखने वाला, धन-धान्य आदि साधनों से सम्पन्न, सदा अपने कर्त्तव्य तथा शास्त्रों की बातों पर ध्यान करने वाला, लोभरहित, धूर्तता से रहित, श्रद्धालु, कृतज्ञ अच्छे, व्यक्तित्व वाला, क्रोध, कठोरता, मत्सरता, माया और आलस्य से रहित, जितेन्द्रिय, क्षमा वाला, पवित्र जीवन वाला, शील और दया से सम्पन्न, मेधावी, कभी न थकने वाला, अनुरक्त हित चाहने वाला, चतुर, कुशल, दक्ष, व्यसन आदि रहित, और अच्छे गुणों से युक्त, विषनाशक औषधियों से युक्त होता है।

विष देने वाले के लक्षण—विष देने वाले व्यक्ति को इशारों और चिह्नों से पहचान लेना चाहिए। चतुर मनुष्य, वाणी, चेष्टा, मुख के भावों का उतार-चढ़ाव आदि से विषदाता व्यक्ति को पहचान ले, विष देने वाला प्रश्न किए जाने पर उत्तर नहीं देता। बोलने की इच्छा तथा चेष्टा करता हुआ भी घबराहट में रहता है। व्यर्थ इधर-उधर की निरर्थक बातें किया करता है। अंगुलियों का चटकाना, पृथ्वी पर नखों तथा तिनकों से कुरेदना आदि करता है। अकारण ही वह हँसता रहता है। वह काँपता है और भय से एक-दूसरे को देखता रहता है। शरीर से कृश, सूखा, उतरे हुए मुख वाला, तथा नाखूनों से कुछ न कुछ तोड़ता रहता है। सिर के बालों को अपने हाथों से बार-बार ठीक करता रहता है। अयोग्य मार्गों से भाग निकलने की चेष्टा में रहता है। वह पीछे की ओर बार-बार मुड़कर देखता रहता है। उसकी सभी चेष्टाएँ विपरीत हुआ करती हैं और वह संज्ञाहीन-अज्ञानी तथा मूढ़-सा हो जाता है।

विष देने वाले की परीक्षा—जिस समय विषदाता की जाँच पड़ताल की जाए उस समय उसके साथ सभ्यतापूर्वक सरल और मृदु व्यवहार किया जाना चाहिए क्योंकि उग्रता, भय, पुलिस, सरकारी कठोर आज्ञा आदि कारणों से भयभीत होकर निर्दोष व्यक्ति भी अपराधी की भाँति व्यवहार, चेष्टाएँ आदि कर सकता है, अतः सही निर्णय के लिए आदर का प्रयोग करें।

विष देने के साधन—विषदाता मानव खाद्यपदार्थ, पेयपदार्थ, दातुर, तेल, कंघी आदि, उबटन, स्नान के लिए जल आदि, कषाय, परिषेक चन्दन आदि लेप, माला, वस्त्र, शय्या, कवच, आभूषण, जूता, आसन, (कुर्सी आदि बैठने के सभी साधन) हाथी, घोड़े, (आजकल की सभी सवारियाँ भी) की पीठ, तमाखू, सिगरेट, आयुर्वेदिक धूम, पान, अंजन, मञ्जन आदि मे विष का प्रयोग किया करता है।

विष मिश्रित खाद्य पदार्थ के लक्षण—विष युक्त अन्न आदि खाने पर मक्खी, कौवे आदि तत्काल मर जाते हैं। अग्नि मे उस अन्न को डालने पर चर-चर का शब्द होता है और अग्नि की लपट मोर के कण्ठ के समान नीले वर्ण की हो जाती है। यह अग्नि सहन नही की जा सकती। अग्नि की लपटें फटी हुई होती हैं। धुआँ तीक्ष्ण होता है और अग्नि शीघ्र बुझ जाती है। विषैले अन्न से चकोर पक्षी की आँखें देखने में असमर्थ अथवा धुँधली हो जाती हैं। एक जीव जीवक नामक पक्षी होता है, वह तो विषाक्त अन्न को देखते ही मर जाता है। कोयल का स्वर भंग हो जाता है। क्रौञ्च पक्षी को मद हो जाता है मोर बहुत प्रसन्न और चंचल हो जाता है। तोता और मैना जोर से चीखने चिल्लाने लगते हैं। हंस की जोर-जोर से वाणी निकलने लगती है। चित्तल हिरन की आँखों से अश्रु धारा बह निकलती है। बन्दर विषाक्त अन्न को देखते ही टट्टी कर देता है। इसलिए विषाक्त पदार्थ की पहचान के लिए इनका प्रयोग करना हितकारी रहता है।

विष मिश्रित अन्न की भाप के कार्य—विष युक्त अन्न को जब थाली आदि में परोसा जायगा, तब उसमें से ऊपर को भाप उठेगी, उसके लगने से हृदय में पीड़ा, नेत्रों में भ्रान्ति और सिर में दर्द उत्पन्न हो जाता है।

वाष्प की चिकित्सा—इस अवस्था में नस्य और अञ्जन कर्म करें। उसके लिए कूट, खश, जटमांसी, और मधु का उपयोग करना चाहिए। शिरस, हल्दी और चन्दन का लेप करना चाहिए। विशेषकर हृदय पर चन्दन का प्रलेप करने से आराम पहुँचता है, चैन पड़ता है।

विष मिश्रित अन्न के हाथ पर लगने पर दाह, नाखुनों का झड़ जाना, त्वचा की विकृति आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इसकी चिकित्सा के लिए प्रियंगु अनन्तमूल, कायफल और कमल का लेप करना चाहिए।

सविष अन्न के उपयोग में दोष—यदि अज्ञानता के कारण अथवा लोभवश अथवा उपेक्षावश कोई व्यक्ति विष मिश्रित अन्न का उपयोग करता है तो उसकी जीभ, विष के प्रभाव से पत्थर की भाँति कठोर और रस ज्ञान से शून्य हो जाती है। जीभ में सुई चुभने जैसी वेदना होने लगती है। दाह और मुख से अतिमात्रा में लालास्राव तथा कफ का स्राव भी अवश्य होने लगता है। इसकी चिकित्सा में पीछे कही हुई चिकित्सा ही करनी चाहिए।

आमाशयगत विष के लक्षण—जब भोजन आदि के द्वारा विष आमाशय में पहुँच जाता है तब रोगी को मूर्छा, वमन, अतिसार, आध्मान, दाह, कम्पन इन्द्रियों में विकृति आदि लक्षण होते हैं।

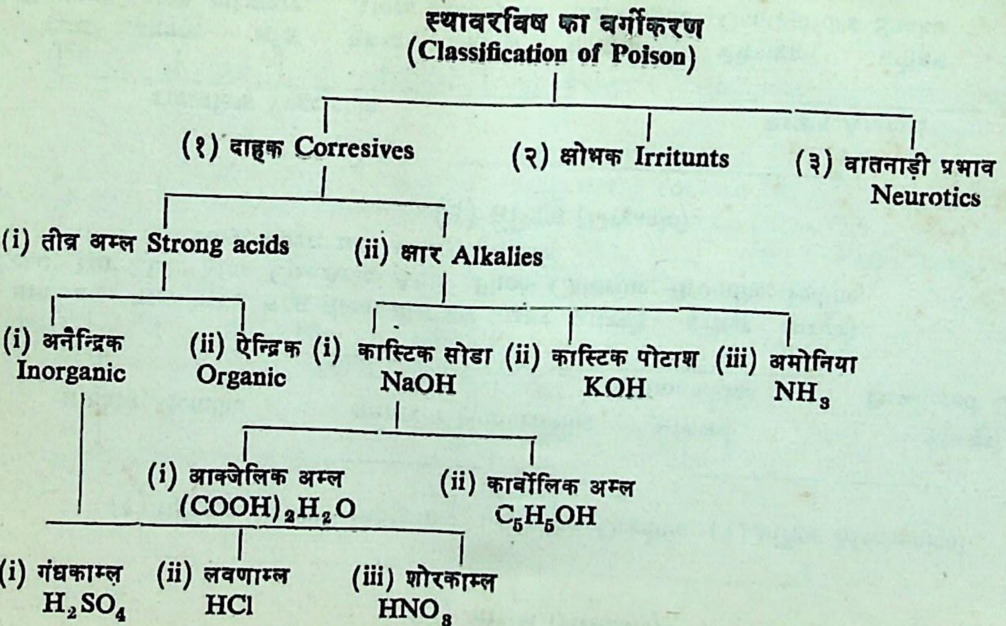
चिकित्सा—इस दशा में तत्काल ही मैनफल, कड़वी तुम्बी, बिम्बफल, कड़वी तोरी आदि के जल अथवा क्वाथ को पिला-पिला करके रोगी को विष निकल जाने तक वमन कराना चाहिए अथवा दही के तोड़ अथवा तक्र पिलाकर अथवा चावलों का पानी पिलाना चाहिए और वमन करा देना चाहिए।

पक्वाशयगत विष के लक्षण—पक्वाशयगत विष में दाह, मूर्छा, अतिसार, तृष्णा, इन्द्रियों में विकृति, पेट में गुड़-गुड़ का शब्द, पीलिया, कृशता आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—नीलनी फल का विरेचन द्रव्य घृतयुक्त देना चाहिए अथवा दही, मधु आदि में से किसी एक के साथ दूषीविषारि अगद पिलाना चाहिए।

दूषीविषारि अगद—दूषी विष आदि के रोगी को भली प्रकार स्वेदन देकर वमन कर्म के शोधन कराएँ और यह दूषीविषारि अगद नित्य ही पिलाना चाहिए—पीपल, कत्तृण, जटामांसी, पठानी लोध, केवड़ियां मोथा हुलहुल (सूर्यभकता), छोटी इलायची, स्वर्ण गैरीक, इन सबको मधु में मिलाकर सेवन करने से शीघ्र लाभ होता है। यह दूषाविषारि अगद दूषीविष को तो नष्ट करता ही है, किन्तु अन्य विषों की विषाक्तता को भी नष्ट करता है।

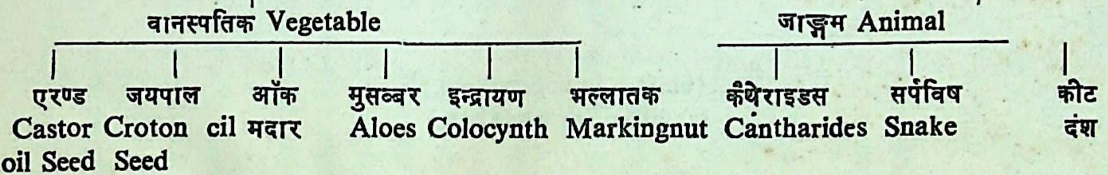
सविष द्रव के दृव्य के लक्षण—सविष दूध, मधु, जल, तेल आदि तरल में विष के कारण नाना प्रकार की रेखाएँ अथवा धारियाँ दिखाई देने लगती हैं अथवा उन द्रव्यों में झाग, बुलबुले अति उत्पन्न हो जाते हैं। इन द्रव पदार्थों में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब अथवा परछाईं दिखाई नहीं देती। अथवा परछाईं का जोड़ा, छिद्र युक्त, पतला, विकृत रूप वाला दिखाई दिया करता है। भिन्न रूप भी हो सकता है।

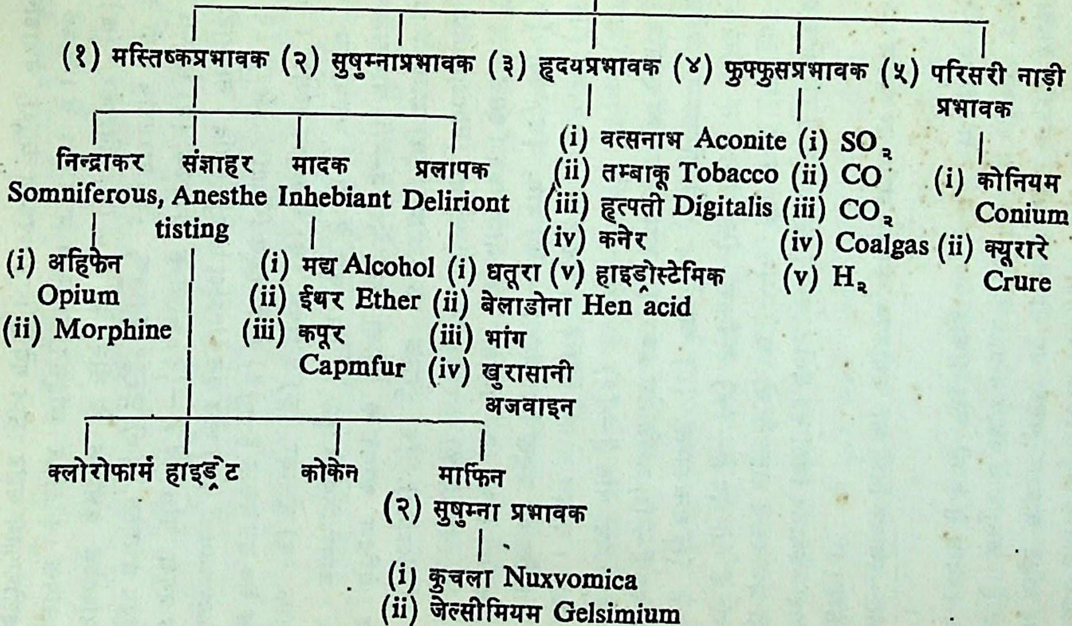

स्थावरविष का वर्गीकरण
(Classification of Poison)
(१) दाहक Corresives
(२) क्षोभक Irritunts
(३) वातनाड़ी प्रभाव
Neurotics
(i) तीव्र अम्ल Strong acids
(ii) क्षार Alkalies
(i) अनैन्द्रिक
Inorganic
(ii) ऐन्द्रिक
Organic
(i) कास्टिक सोडा
NaOH
(ii) कास्टिक पोटाश
KOH
(iii) अमोनिया
NH_3
(i) आक्जेलिक अम्ल
$(COOH)_2H_2O$
(ii) कार्बोलिक अम्ल
C_5H_5OH
(i) गंधकाम्ल
H_2SO_4
(ii) लवणाम्ल
HCl
(iii) शोरकाम्ल
HNO_3

(२) क्षोभक (Irritants)

- (१) निरिन्द्रय (खनिज) Inorganic
  - धातवीय Metallic
    - नाग Lead;
    - बंग Tin;
    - यशद Zinc;
    - पारद Mercury;
    - ताम्र Copper;
    - संखिया Arsenic;
    - नीलांजल Antimany;
  - अधातवीय Nonmetallic
    - भास्वर Phosphorus
    - हारिकी Chlorine;
    - दुरांध्रि Bromine;
    - जाम्बुकी Iodine;
- (२) सेंद्रिक Organic
- (३) यांत्रिक Mechanical
  - मणिचर्ण Diamanddus
  - काँचचूर्ण Powdered Glass

(३) सेन्द्रिक (Organic)




(३) वातनाड़ी प्रभाव Neurotices
(१) मस्तिष्कप्रभावक
(२) सुषुम्नाप्रभावक
(३) हृदयप्रभावक
(४) फुफ्फुसप्रभावक
(५) परिसरी नाड़ी प्रभावक
निन्द्राकर Somniferous,
संज्ञाहर Anesthe tisting
मादक Inhebiant
प्रलापक Deliriont
(i) अहिफेन Opium
(ii) Morphine
(i) मद्य Alcohol
(ii) ईथर Ether
(iii) कपूर Capmfur
(i) धतूरा
(ii) बेलाडोना
(iii) भांग
(iv) खुरासानी अजवाइन
क्लोरोफार्म
हाइड्रेट
कोकेन
मार्फिन
(i) वत्सनाभ Aconite
(ii) तम्बाकू Tobacco
(iii) हृत्पती Digitalis
(iv) कनेर
(v) हाइड्रोस्टेमिक Hen acid
(i) SO_2
(ii) CO
(iii) CO_2
(iv) Coalgas
(v) H_2
(i) कोनियम Conium
(ii) क्यूरारे Crure
(२) सुषुम्ना प्रभावक
(i) कुचला Nuxvomica
(ii) जेल्सीमियम Gelsimium

सविष शाक, दाल भक्ष्य पदार्थ और फलों के लक्षण—जब कोई विष शाक-सब्जियों, दाल-दलिया, चना-चबेना आदि दाँतों से चबाकर खाने योग्य पदार्थों और फलों में प्रयुक्त किया गया होता है, तब पदार्थ क्लिन्त, (गिल-गिले से) स्वाद रहित, तत्काल पकाए गए भी बासी जैसे, गन्धहीन अथवा दुर्गन्ध युक्त होते हैं। वस्तुत: ये पदार्थ गन्ध, वर्ण, रस आदि से रहित हो जाया करते हैं। विष सम्बन्ध से कच्चे फल तत्काल पक जाते हैं और पके हुए तुरन्त सड़ जाते हैं।

प्रश्न—स्थावर विषों का वर्गीकरण, उनका शरीर पर प्रभाव एवं मारक काल बताइए।

उत्तर—स्थावर विषों का वर्गीकरण—(१) दाहक, (२) क्षोभक, (३) वातनाड़ी प्रभावक। दाहक के दो भेद हैं—(क) तीव्र अम्ल, (ख) क्षार। इसमें तीव्र अम्ल के दो भेद हैं—(क) अनैन्द्रिक, (ख) ऐन्द्रिक। अनैन्द्रिक के तीन भेद होते हैं (i) गन्धकाम्ल, (ii) लवणाम्ल, (iii) शोरकाम्ल। ऐन्द्रिक तीव्र के मुख्य भेद हैं—(i) आक्जेलिक अम्ल, (ii) कार्बोलिक अम्ल इत्यादि। क्षोभक विष के मुख्य भेद तीन हैं—(१) निरिन्दिय अर्थात् खनिज, (२) ऐन्द्रिक, (३) यांत्रिक। खनिज क्षोभक विष के दो भेद हैं—(i) धातवीय, (ii) अधातवीय। धातवीय के प्रमुख भेद सात हैं—(क) नाग, (ख) बंग, (ग) यशद, (ग) पारद (ङ) ताम्र, (च) संखिया, (छ) नीलाञ्जन। इसके अतिरिक्त और भी हैं। अधातवीय के भी चार भेद हैं—(क) भास्वर (Phosphorus) (ख) हरिकी (Chlorine), (ग) दुर्गन्धि (Bromine), (घ) जाम्बुकी (Iodine) इत्यादि। ऐन्द्रिक क्षोभक के भी दो मुख्य भेद हैं—(i) वानस्पतिक, (ii) जाङ्गम। वानस्पतिक के कुछ भेद इस प्रकार हैं—(क) एरण्ड, (ख) जपपाल, (ग) आक, (घ) मुसब्बर, (ङ) इन्द्रायण, (च) भल्लातक इत्यादि। जाङ्गम के भी कुछ भेद इस प्रकार हैं—(१) कैन्थेराइड्स (Cantharides), (२) सर्पविष (Snakevenom), (३) कीट दंश (Insect bite) इत्यादि। वातनाड़ी प्रभावक विष के प्रमुख पाँच भेद हैं—(१) मस्तिष्क प्रभावक, (२) सुषुम्ना प्रभावक, (३) हृदय प्रभावक, (४) फुफ्फुस प्रभावक, (५) परिसरीय नाड़ी प्रभावक। इनमें मस्तिष्क प्रभावक के तीन भेद हैं—(क) निद्राकर, (ख) मादक, (ग) प्रलापक। निद्राकर अहिफेन का सत्व आदि होते हैं। मादक मे मद्य, ईथर, क्लोरोफार्म आदि माने गये हैं। प्रलापक मे धतूरा, बेलाडोना, भांग,

खुरासानी अजवाइन आदि माने जाते हैं। सुषुम्ना प्रभावक का कोई भेद नहीं है। हृदय प्रभावक के चार भेद होते हैं—(क) कुचला, जेल्सीमिनियम आदि (ख) वत्सनाभ, तम्बाकू, हृत्पत्री, कनेर, हाइड्रोस्येनिक अम्ल, (ग) सल्फर-डाइ-ऑक्साइड, कार्बन-डाइ ऑक्साइड, कार्बन-मोनोक्साइड और हाइड्रोजन सल्फाइड, (घ) कोनियम, कुरारे शेष के कोई भेद नहीं हैं। इस प्रकार यह वर्गीकरण आधुनिक चिकित्सा- विज्ञानवादियों के मतानुसार है, किन्तु प्राचीन चिकित्सा विद् भारतीय भी इसे स्वीकार करते हैं।

विभिन्न स्थावर विषों का शरीर पर प्रभाव—मूल विष कनेर, गुञ्जा, विजया आदि से ऐंठन प्रलाप तथा मूर्च्छा उत्पन्न होती है। पत्र विषों से जृम्भा, अङ्गों में ऐंठन, और श्वास लेने में कष्ट होता है। फल विष अण्ड-कोशों पर शोफ, दाह तथा अन्न में द्वेष आदि करते हैं। पुष्प विष वमन, अफरा, मोह आदि को उत्पन्न करते हैं। त्वक, विष सार विष और निर्यास विष मुख में दुर्गन्ध, कठोरता शिर शूल, कफ का स्राव आदि किया करते हैं। क्षीर विष, स्नुही क्षीर आदि से फेन का वमन, अतिसार, जिह्वा का भारी-पन आदि करते हैं। धातु जन्य विष संखिया, हरताल आदि हृदय में वेदना, मूर्च्छा, ताल में दाह, तृष्णा आदि को उत्पन्न करते हैं।

स्थावर विषों का मारण काल—प्रायः सभी स्थावर विष कालघाती माने गये हैं, अर्थात् ये विष अपनी उग्रता के अनुपात के अनुसार एक दिन पन्द्रह दिन और एक मास के समय में मनुष्य को मार देते हैं। स्थावर विष सामान्य रूप से ज्वर, हिचकी दन्तहर्ष, गलग्रह, झाग आना, वमन, अरुचि, श्वास तथा मूर्च्छा को विशेष उत्पन्न करता है।

आधुनिक मत से विषों की प्रतिक्रिया---आधुनिक मत से स्थावर विषों की क्रिया तीन प्रकार की मानी जाती है—

(१) स्थानीय, अर्थात् यदि विष शरीर के किसी भाग में लग जाय तो वह केवल उसी स्थान की धातुओं का विनाश किया करता है। जैसे तीव्र अम्ल तथा क्षारीय द्रव जहाँ पर लगते हैं। वहीं पर अपनी रासायनिक प्रक्रिया द्वारा दाह व्रण आदि को उत्पन्न करते हैं। रसकपूर, नीलाञ्जन आदि क्षोभक विषों के संयोग होने पर उस स्थान अथवा अंग में क्षोभ तथा शोथ आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें कुछ पदार्थ त्वचा तथा श्लेष्मिक कलाओं के साथ सम्बन्ध करने पर नाड़ी को प्रभावित करते हैं, बेलाडोना, एट्रोपीन

आदि के प्रयोग से कनीनिका का ही विस्तार होता है तथा वत्सनाभ के प्रयोग से झनझनाहट तथा संज्ञाहीनता होती है।

(२) सर्वाङ्गीण क्रिया अर्थात् जब विषों का शरीर के संस्थानों में ही शोषण होता है, तब उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया सम्पूर्ण शरीर में होती है; जैसे—कुचला का प्रभाव सुषुम्ना पर होता है अतः धनुर्वात के समान मांसपेशियों में आक्षेपण हुआ करता है। वृक्क पर भी कैन्थेराइड्स की क्षोमक क्रिया होती है। अतः वृक्क-शोथ हो जाता है। क्लोरोफार्म सूंघ लेने पर मूर्च्छा होती है। इत्यादि।

(३) स्थानीय और सर्वाङ्गीण की मिश्रित क्रिया—यह क्रिया उन विषों के प्रभाव से सम्बन्ध रखती है जो कि अपने प्रभाव से धातुओं का नाश करके स्थानीय क्रिया करते हैं और साथ ही शरीर में शोषित होकर सर्वाङ्गीण क्रिया भी किया करते हैं। जैसे—कार्बोलिक एसिड, फास्फोरस आदि विष। भिन्न-भिन्न विषों से भिन्न-भिन्न प्रभाव शरीर पर हुआ करते है; जैसे—वमन, विरेचन, कनीनिका प्रसरण, संकोचन, बाधिर्य, अन्धापन, स्वेद की अधिकता शीतांग की अवस्था, प्रलाप आक्षेप कम्प, पक्षाघात, मूत्रवैवर्ध्य, नाड़ी की तीव्रता, मन्दता आदि लक्षण होते हैं।

कन्द विषयों के लक्षण—वमन, विरेचन, लालस्राव, आध्मान, उदर में तीव्र शूल तथा संकोचन, कनीनिका पर प्रभाव अर्थात् संकोच विस्तार, कर्णक्ष्वेड (कानों में आवाज होना), पसीने का आना, तापवृद्धि, शीतांगण, श्यावता—(शरीर नीला पड़ जाना), सन्यास की अवस्था, प्रलाप, आक्षेपण और अन्य नाडीमंडलजन्य लक्षण, मूत्र प्रभाव, नाड़ी पर प्रभाव, श्वास-प्रश्वास पर प्रभाव ये सत्तरह लक्षण कन्द विषों में हुआ करते हैं।

प्रश्न—विष दूषित जल, भूमि भोजन, घास, वायु, वाष्प धूम्र के लक्षण एवं उनकी चिकित्सा लिखें। विष खनिज के लक्षण लिखें।

उत्तर—दूषीविष के उपद्रव और इनकी चिकित्सा—दूषी विष में ज्वर दाह, हिक्का, आनाह, शुक्रक्षय, शोक, अतिसार, मूर्च्छा, हृद्रोग, उन्माद, कम्पन आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाया करते है। अतः उसकी चिकित्सा विषघ्न औषधियों के द्वारा की जानी चाहिए। विशेषकर दूषी विषारि अगद ही बहुत लाभ पहुंचाता है।

दूषीविष की साध्यासाध्यता—संयमी दूषी विषार्त व्यक्ति में तत्काल का दूषी विष साध्य माना गया है। एक वर्ष का पुराना विष याप्य कहलाता है

क्षीण पुरुष तथा अहित सेवन करने वाले व्यक्ति का दूषीविष असाध्य माना गया है।

विष दूषित जल के लक्षण तथा चिकित्सा—विष के दूषित जल में पिच्छलता (चिकनाई), अग्रगन्ध, झाग रेखाएँ, जलीय जन्तु, मेंढक, मछली आदि का मर जाना, पक्षियों का मतवाला बनकर घूमना, मनुष्य, घोड़ा, हाथी आदि प्राणियों का इस जल में स्नान आदि करते ही उनको वमन, ज्वर, दाह और शोफ का हो जाना माना जाता है।

विष दूषित जल शोधन विधि—विष दूषित जल में धाय के फूल, अश्वकर्म, विजयसास, फरहद, पाटल (गुलाब) सिद्धक (निर्गुण्डी) मोखा अमलतास, सोमवल्क की छाल इन सबको जलाकर भस्म करके, छिड़क देना चाहिए अथवा किसी पात्र में दूषित जल भरकर उसमें इस भस्म की एक अंजली घोल देनी चाहिए। यह विषदूषित जल की सर्वोत्तम शोधन विधि है।

विष दूषित भूमि आदि के लक्षण व चिकित्सा—विष से दूषित हुए भूमि प्रदेश, शिलाप्रदेश, तीर्थ, आसन, कुर्सी, मैदान, घोड़े, हाथी आदि की पीठ आदि पर जब मनुष्य का कोई भी अङ्ग स्पर्श करता है तो उसमें दाह उत्पन्न हो जाता है, वहाँ के रोम, बाल, नख आदि भी झड़ जाते हैं। इसकी चिकित्सा में अनन्त्रमूल एलादिगण को सुरा में पीसकर दूध, काली मिट्टी मिलाकर अथवा वल्मीकमृत्तिका मिलाकर लेपन तथा छिड़काव करना चाहिए अथवा वायविडंग, जल जमनी (पाठा) कट भी आदि के क्वाथ से स्नान, सिंचन आदि कार्य करना चाहिए।

विष दूषित भोजन, घास आदि के लक्षण तथा चिकित्सा—भोजन द्रव्य, घास, भूसा आदि के विष से दूषित हो जाने पर इनका सेवन जो प्राणी करता है, उसके अङ्ग शिथिल पड़ जाते हैं। मूर्च्छा, वमन, अतिसार हो जाते हैं तथा अन्त में मृत्यु भी हो जाती है। इसके प्रतिकार के लिए चाँदी, पारद, स्वर्ण सारिवा को समभाग और इन सबके बराबर कुसविन्द अथवा नागर-मोथा, शाण का पत्थर मिलाना चाहिए और फिर सबको कपिला गाय के पित्ते में मिलाकर वाद्ययन्त्रों पर लेप करके, उनके वादन-शब्द से घोर विष भी प्रभावहीन तथा नष्ट हो जाते हैं। आधुनिक मत से इनका शोधन नहीं किया जाता, अपितु इन्हें फेंक दिया जाता है, भूमि में दबा देते हैं अथवा अग्नि से जलाकर नष्ट कर देते हैं।

विष दूषित वायु, वाष्प, धूम आदि के लक्षण व चिकित्सा—वायु, भाप और धूम के विष में संयुक्त होने पर आकाश आदि के पक्षी श्रम से थककर नीचे गिर पड़ते हैं। कास, श्वास, प्रतिश्याय, शिरोरोग तथा नेत्र रोग से ग्रस्त हो जाते हैं। इसके प्रतिकार के लिए लाक्षा, हल्दी, तमालपत्र, तगर, कूठ, प्रियंगु आदि द्रव्यों को अग्नि में जलाकर धुआँ चारों ओर को उड़ाना चाहिए। इससे वायु, धूम आदि निर्विष हो जाते हैं।

विष खाए हुए के लक्षण—जिस व्यक्ति ने विष खाया हुआ होता है वह अपान वायु के साथ घर के धुएँ जैसा मल का त्याग बार-बार करता रहता है। आध्मान से ग्रस्त, उष्ण आँसू, विवर्ण युक्त, शिथिल, वमन से युक्त, मुख में झाग उत्पन्न होना आदि लक्षणों से युक्त है। विष पीने पर भी यही लक्षण प्रकट हुआ करते हैं।

प्रश्न—सर्पदंश के भेद बताइए, सर्पों की संख्या-भेद लिखिए। सर्पदंश के लक्षण एवं वेग लिखिए और चिकित्सा बताइए।

सर्पदंश के प्रकार—जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में शुक्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार से सर्प के सम्पूर्ण शरीर में विष रहता है और जैसे रति, कामेच्छा आदि होने पर शरीरगत शुक्र निकल पड़ता है, उसी प्रकार सर्प के क्रुद्ध होने पर उसके अंगों से विष एकत्र होकर दंष्ट्रा द्वारा मानव आदि के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। इसलिए जब तक सर्प दाढ़ को फंसाकर उलटा नहीं होता, तब तक विष की थैली में से विष दाढ़ के द्वारा शरीर में प्रविष्ट नहीं हो सकता, अतः सर्प अपने विषदन्त को चुभाते ही उल्टा हो जाता है। दूसरी बात यह है कि जब तक सर्प उलटेगा नहीं तब तक उसका दांत शरीर से निकल भी नहीं सकता, क्योंकि उसका अग्र भाग, अंकुश की भाँति टेढ़ा मुड़ा हुआ होता है। वह शरीर में प्रविष्ट होते ही फँस जाता है।

सर्पों की संख्या—यद्यपि सर्पों की संख्या करना असम्भव है, किन्तु पार्थिव सर्पों की ही संख्या की जाती है और वे अस्सी प्रकार के माने गये हैं।

सर्पों के भेद—सर्पों के पाँच भेद माने गए हैं—(१) दर्वीकर (फणी), (२) मण्डली, (३) राजिमान, (४) निर्विष, (५) वैकरञ्ज।

इनमें दर्वीकर छब्बीस प्रकार के होते हैं। मण्डली बाईस प्रकार के हैं। राजिमान दस प्रकार के माने गए हैं। निर्विष बारह प्रकार के माने जाते हैं। वैकरञ्ज केवल तीन प्रकार के है। वैकरञ्जों के खानदान में चितकबरे वर्ण के सात सर्प और भी होते हैं। इनमें से चार की उत्पत्ति मण्डली के सम्पर्क

से होती है और शेष तीन की उत्पत्ति राजमानों के साथ संभोग होने से होती है।

सर्पदंश के कारण—सांप के काटने के कारण इस प्रकार हैं—पैर से कुचले जाने पर, स्वभाव से दुष्ट सर्प, वृद्ध अवस्था में अथवा भोजन की अभिलाषा से ये अत्यन्त क्रोध में आकर काट लेते हैं।

सर्पदंश के भेद—सर्पदंश तीन प्रकार के माने जाते हैं। सर्पित, रदित और निर्विष दंश। सर्पदंश विशेषज्ञ विद्वान एक और चतुर्थ भेद सर्पाङ्गाभिहत को भी मानते हैं।

विष की दोष प्रकोपता—फणी सर्प का विष वायु को कुपित करता है। मण्डली का विष पित्त प्रकोपक होता है और राजिमान का विष श्लेष्मा का प्रकोप किया करता है।

सर्पदंश का लक्षण—फणी सर्प के दंश स्थान पर दाँतों के चिह्न सूक्ष्म, तथा कृष्ण वर्ण के होते हैं। रक्त नहीं निकलता, दंश स्थान कछुए की पीठ की भाँति ऊपर को उभरा हुआ होता है और वात रोग उत्पन्न हो जाता है। मण्डली सर्प के द्वारा किया गया दंश चौड़ा अथवा गहरा होता है और बहुत शोथ युक्त होता है। पीली आभा से युक्त, स्रवित रक्त का वर्ण पीला तथा पित्त के विकारों से युक्त होता है। यह स्निग्ध तथा किंचित् पीला व श्वेत मिश्रित वर्ण का होता है। दंश स्थान से निकलने वाला रक्त गाढ़ा होता है। इसमें श्लैष्मिक रोग हो जाते हैं।

सर्प विष के वेग—सर्प के विष वेग सात माने गये हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय इत्यादि। प्रथम वेग रस धातु, द्वितीय रक्त में, तृतीय मांसधातु में, चतुर्थ मेद धातु में, पंचम अस्थिधातु में, षष्ठ मज्जा धातु में और सप्तम विष वेग शुक्र धातु में होता है। भगवान् चरक ने विष वेग आठ माने हैं।

सात विष वेग के कारण—धातुओं के बीच में जो सात कलाएँ कही गई हैं उनमें से एक-एक को पार करता हुआ विष वेगों को उत्पन्न करता है। अतः वायु से प्रेरित होकर विष जितने समय में एक कला को पार करता है, उतने समय का वेगान्तर कहा जाता है।

सर्पदंश विष चिकित्सा—सर्वप्रथम सभी प्रकार से सर्पों द्वारा काटे हुए स्थान पर यदि, वह शाखाओं (हाथ, पैर,) पर तो दंश स्थान से चार अंगुल की दूरी पर एक 'अरिष्टा' बन्धन बाँध देना चाहिए। यह अरिष्टा कपड़े, रस्सी, चर्म-वृक्ष की छाल, रबड़ आदि बनी हुई हो सकती है। इस अरिष्टा द्वारा रोका

गया विष ऊर्ध्व गति नहीं कर पाता। तदनन्तर आचूषण, दाह और छेदन कर्म भी किए जाते हैं किन्तु इनकी उपयोगिता विशेषकर उन्हीं स्थानों पर हुआ करती है, जहाँ पर अरिष्टा बन्धन न बँध सकता हो। अतः ऐसे स्थल पर दंश स्थान को काटकर अग्निकर्म द्वारा उपचार किया जाना चाहिए अथवा उस स्थान पर आचूषण क्रिया भी की जानी चाहिए। आचूषण के लिए प्रथम मुख में वस्त्र ठूँस लेना चाहिए। इसके अनन्तर सर्पदंश के समय तत्काल सर्प को ही काट खाना भी ठीक माना गया है अथवा ढले आदि को काट लेना चाहिए। यहाँ पर विशेष ध्यान देने वाली बात यह है कि मण्डलीक सर्प द्वारा दृष्ट व्यक्ति की अग्नि क्रिया नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यह पित्त प्रधान होने से दाह क्रिया करने पर दंश फैल जाता है। सर्प विष चिकित्सा में गारुड़िक मन्त्रों का भी प्रयोग किया जाता है। किन्तु आज का युग मन्त्र सिद्धि का नहीं रहा, अतः इस विषय में औषधि आदि का प्रयोग ही कल्याणकारी माना जाता है। इसके अतिरिक्त शिरामोक्षण करना भी प्रशस्त माना गया है। सर्पदंश आस-पास की शिराओं का वेध कर देने से रक्त का प्रवाह होकर विष का भी साथ में ही निर्हरण हो जाता है। यह वेध क्रिया हाथ-पैरों के अग्र भाग में तथा मस्तक पर भी की जाती है। दंश की चतुर्दिक प्रच्छन्न किए हुए स्थान पर चन्दन, खस आदि से प्रलेप कर देना चाहिए और विष नाशक द्रव्यों के जल से परिषेक भी किया जाना चाहिए।

अपथ्य—सर्पदंश में रोगी को चाहिए कि वह तेल, कुलत्थ का यूष, मद्य और कांजी आदि अम्ल, क्षार, तैक्ष्ण—पदार्थों का प्रयोग सर्वथा त्याग दें।

वमन—सर्पविष को निकालने के लिए और कोई द्रव्य पीकर वमन कर लेना चाहिए। यही क्रिया पुनः-पुनः करने से विष सुखपूर्वक निकल जाता है।

शिरावेधन का निषेध—सर्पदंश चिकित्सा में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि शिरावेध, गर्भिणी स्त्री, बालक, वृद्ध, अतीव दुर्बल का नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—विष चिकित्सा के सिद्धान्त लिखिए। नष्टसंज्ञ विषातुर की चिकित्सा बताइये। विषगलित मांस की चिकित्सा लिखिए।

विष चिकित्सा में देश आदि का विचार—विष चिकित्सा का यह कर्त्तव्य है कि वह चिकित्सा करने से पूर्व देश, काल, प्रकृति, सात्म्य ऋतु, वेग, बल, अबल को श्रेष्ठ बुद्धि से विचार कर पश्चात् उपचार आदि में प्रवृत्त करें।

विष चिकित्सा में विशेष—कफ विषातुर को, शीतकाल से अथवा शीत

प्रत्येक से पीड़ित होने पर, कफ प्रकृति तथा कफ कारक विष की अवस्था में तीक्ष्ण द्रव्यों के द्वारा वमन कराएँ। यही विधि मूर्च्छा और मद वाले विष रोगी को भी करना चाहिए। इसी प्रकार से वातपित्त विषातुर रोगी के लिए वस्ति तथा विरेचन की चिकित्सा करनी चाहिए। कोष्ठ में दाह, पीड़ा, आध्मान, मूत्रावरोध जन्य पीड़ा से पीड़ित, मल तथा वायु के अवरोध से पीड़ित और पित्त प्रकृत्ति के मानव को विरेचन दें।

विषातुर को अंजन का प्रयोग—विषाक्रान्त रोगी की पलकों के नीचे सूजन आ गई हो। नींद से पीड़ित आँखें विवर्ण तथा मलिन हो गई हों, और वह रोगी नाना प्रकार के वर्ण रूप आदि देखता हो तो अंजन, नस्य आदि का तीव्र प्रयोग करें।

शिरोविरेचन की व्यवस्था—विषातुर रोगी के जब शिर में वेदना, भारीपन, आलस्य, हनुस्तम्भ, गलग्रह तथा भयानक मन्यास्तम्भ की उपस्थिति हो तब तुरन्त ही तीक्ष्ण शिरोविरेचन दे देना चाहिए।

नष्ट संज्ञा विषतुर की चिकित्सा—विष-रोगी की संज्ञाहीनता अथवा संज्ञा नष्ट होने पर जब आँखें खुली रह गई हों अथवा बाहर निकल आई हों, ग्रीवा लटक गई हो, तब तीक्ष्ण प्रधमन चूर्णों से नस्य तथा शिरोविरेचन दें। शाखा तथा मस्तक में जाने वाली शिराओं पर तत्काल प्रताड़न करना चाहिए। इस स्थिति में यदि उनसे रक्त न निकले तो तुरन्त ही विधिज्ञ वैद्य शस्त्र के द्वारा रोगी के शिर पर काक पद बना दें। इस प्रकार रक्त बहने लगता है। किन्तु उसका काक पद सदृश चिह्न पर रक्त वाला चर्म अथवा मांस खण्ड रखकर देना चाहिए। चर्मवृक्ष (चामेर) के क्वाथ अथवा कल्क को भी उस पर रखा जा सकता है। चेतना आने पर फिर उसे वमन विरेचन क्रिया से उपचरित करें। इस क्रिया में किंचिन्मात्र भी विष शेष न रहने पाए; अन्यथा तिमिर, शोष, पीनस आदि भयानक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। विष पीड़ित रोगी के उपद्रवों की चिकित्सा भी विष-चिकित्सा की भाँति ही की जानी चाहिए। अरिष्टा बन्धन से दूषित रक्त-चिकित्सा, विषदंश स्थान से अरिष्टा को खोलकर, दंश स्थान पर पछना से पाछ करके वहाँ पर तत्काल दाह क्रिया कर लेनी चाहिए। क्योंकि वहाँ पर जमा हुआ विष पुनः वेग उत्पन्न कर सकता है।

विष निकालने के बाद कुपित दोषों की चिकित्सा—विष रोगों में से औषधियों आदि के द्वारा विष निकाल दिये जाने के अनन्तर ही वातादि दोषों से कुपित होने की पूरी स्थिति होती है, अतः उस दशा में उनकी चिकित्सा की

जानी चाहिए। वायु की स्नेहन, दमन आदि विधि से चिकित्सा कर्म करें। परन्तु, तेल, मछली, कुलथी, अम्ल द्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों से स्नेहन, वमन आदि उपचार किए जाने चाहिए। पित्त को पित्त ज्वर नाशक स्नेह, बस्ति आदि में शान्त करें, कफ से शमनार्थ आरग्वधादिगण में मधु मिलाकर, कफनाशक अगदों, रूक्ष तथा तिक्त भोज्य पदार्थों का प्रयोग करें। इस प्रकार से अपने स्थान से हटे हुए दोष पुनः अपने-अपने स्थान पर आकर के स्वस्थ रूप में शीघ्र ही उपस्थित हो जाते हैं।

अन्य प्रकार से संज्ञाहीन की चिकित्सा—जो व्यक्ति वृक्ष, ऊँचे, प्रपात नीचे स्थान से गिरकर नष्टसंज्ञ हो गया हो, जल में डूब करके बेहोश हो गया हो, फाँसी लगाकर नष्टसंज्ञ हुआ हो, ऐसे प्रकार के सभी मूर्च्छितों की चिकित्सा ऊपर कहीं नष्टसंज्ञ की भाँति करनी चाहिए।

आधुनिक विधि से चिकित्सा—आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के अनुसार उपर्युक्त संज्ञाहीनता की अवस्थाओं में अधोलिखित चिकित्सा विधि का प्रयोग किया जाता है—

(१) रोगी को तत्काल नीचे लिटाकर शरीर के वस्त्र ढीले कर देने चाहिए तथा ग्रीवा आदि में पड़े हुए सभी प्रकार के बन्धनों को खोल देना चाहिए।

(२) कृत्रिम श्वास क्रिया ली जानी चाहिए।

(३) विशुद्ध एवं स्वच्छ वायु अथवा अमोनिया का प्रयोग यथाविधि करना चाहिए।

(४) मुख तथा सिर पर शीतल क्रिया करनी चाहिए।

(५) यदि रोगी का शरीर शीतल हो उष्ण, उपनाह, अभ्यङ्ग अथवा उष्ण जल की बोतलों के द्वारा शरीर के ताप की रक्षा की जानी चाहिए।

(६) उत्तेजना के लिए कोरामीन, एड्रीनेलिन, क्लोराइड आदि से सूचीवेधों का भी प्रयोग यथाविधि किया जाना चाहिए।

(७) मुख पथ तथा मल द्वार द्वारा ब्राण्डी का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(८) वृक्ष, उदर तथा पिण्डलियों पर राई के प्लास्टर का प्रयोग भी किया जाना चाहिए।

(९) अगर हृदय की वृद्धि के लक्षण प्रकट हो गये हों तो शिराव्याध (Venesection) द्वारा रक्तमोक्षण कराना चाहिए।

विष से मांस के गलने पर चिकित्सा—विषाक्त रोगों के शरीर पर आरिष्टा को अत्यधिक कसकर बाँधने से, तीक्ष्ण लेपों के प्रयोग से तथा इसी प्रकार अन्य कई कारणों से, अथवा विष के शेष रह जाने से शरीर में शोथ उत्पन्न हो जाने के कारण, उस स्थान का मांस गल जाता है और इसमें से बहुत अधिक दुर्गन्ध आने लगती है। यह दुर्गन्ध विष के कारण होती है तथा कष्ट साध्य मानी गई है। विषलिप्त बाण, भाला, तलवार आदि के वेधन से शरीर से तत्काल कृष्ण वर्ण का रक्त बहने लगता है। व्रण शीघ्र ही पक जाता है। प्रतिक्षण दाह होने लगता है। बार-बार व्रण में पाक क्रिया होने लगती है। क्षत स्थान में से दुर्गन्ध युक्त काला सड़ा हुआ मांस स्वयं ही गिरने लगता है और रोगी को तृषा, मूर्च्छा, भ्रान्ति, दाह, ज्वर आदि के लक्षणों से युक्त होने पर विषलिप्त शस्त्र विद्ध समझना चाहिए।

प्रश्न—विषनाशक अगद बताइये। विष वृद्धि के कारण और विषक्रान्त रोगी के असाध्य लक्षण लिखिए।

उत्तर—विष नाशक अगद वर्णन।

(१) महागदनिर्माण-विधि—निशोथ, कलिहारी, मुलहठी, हरिद्रा, दारुहल्दी मजीठ, अमलतास, पंचलवण, त्रिकुट; इन सबको सम भाग लेकर कूट पीसकर, कपड़छन करके, मधु में मिलाकर, सींग से बने हुए पात्र में भरकर रख दें। इस अगद का प्रयोग पीने, खाने, अभ्यंग, अंजन और नस्य के रूप में किया जाता है विष-नाशक रोगों में यह अमोघ औषधि है।

(२) ऋषभ अगद—जटामांसी, हरेलु, त्रिफला, सहेजना, मजीठ, प्रियंगु, मुलहठी, पदमाख, बायविडंग, तालीसपत्र, सर्पगंधा इलायची, दालचीनी, कूठ, तेजपात, चन्दन, भारंगी, चिरचिटा, पाठा, इन्द्रायण, काकड़ासिंगी, गूगुल, निशोथ, अशोक, सुपारी, तुलसी के पुष्प और भिलासु के पुष्पों को सम भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण बनाकर पित्त और मधु के साथ मिलाकर सींग निर्मित पात्र में रख दें। यहाँ पर पित्ता, शूकर, गांधा, मयूर, शल्लकी, बिडाल, नकुल तथा चित्तल मृग का ही लिया जाता है। यह अगद सम्पूर्ण प्रकार स्थावर, जंगल और कृत्रिम विषों का नाश कर देने में विशेष सफलता दिखलाता है। यह उत्तम है कि विष प्रभाव को तो नष्ट करता ही है, तत्सम्बन्धी विकारों को भी नष्ट करता है।

(३) संजीवन अगद—लाक्षा, मुलहठी, मीठा सहेजना, हरेणप्रियंगु,

जटामांसी, कड़वा सहेजना, बड़ी इलायची, हल्दी, इन सबको सम भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके, घृत तथा मधु में मिश्रित करके गाय के सींग में भर कर उसी के ढक्कन से बन्द करके रखें। पन्द्रह दिन के अनन्तर इसका प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग मंजन, नस्य, पान, भक्षण, शिरोविरेचन, अभ्यंग आदि सभी विधियों में किया जाता है। यह विषाक्त मानव को निश्चय जीवन प्रदान करता है।

फणी और रजिमान सर्प-विष में अगद—यह काले सांप के फण वाले तथा रजिमान सर्प के दंश की विशेष चिकित्सा में काम आने वाला अगद है। विशेष उपयोगी होने से यहाँ पर लिखा जा रहा है। लसोड़ा, कायफल, विजौरा नीबू, अपराजिता, चिरचिटा, सिता इन सबको सम भाग लेकर चौलाई के साथ घोंट-पीस कर तैयार करके रख लेना चाहिए।

मण्डली विष में विशेष अगद—द्राक्षा, सर्पगन्धा, नवव्रत्तिका, श्वेत कोपल मजीठ ये सब समान भाग लेकर, तुलसीपत्र, कपित्थपत्र, बिल्वपत्र, और अनार के पत्ते इस सबके साथ घोंट कर रख लें। इनके प्रत्येक के दो-दो भाग ग्रहण किये जाते हैं। इनके साथ श्वेत त्रिगुण्डी अंकोल की जड़ और गेरु का आधा भाग मिलाया जाता है। फिर सबको घोंट-पीसकर मधु में मिलाकर प्रयोग किया जाता है। यह अगद मण्डली सर्पों के विष को नष्ट करने में परम सफल माना है।

मकड़ी, चूहा, कीट तथा सर्प विष नाशक अगद—यह अगद सभी प्रकार के कीटाणुओं, जीवाणुओं, मकड़ी, चूहे तथा सांप आदि के विष को नष्ट करने में विशेष क्षमता रखता है। अतः इसको बनाकर प्रत्येक समय अपने पास रखना चाहिए—गीले बांस की छाल, आंवला, कैथ, सोंठ, मिर्च, पीपल, वच कूट, करञ्ज के बीज, तगर, शिरिष के फूल इन सबको समान भाग लेकर कूट-पीस कर गाय के पित्त में मिलाकर रख लेना चाहिए। इसका उपयोग प्रलेप, आलेप, अंजन, नस्य, शिरोविरेचन आदि के रूप में किया जाता है। इसकी वत्ती बनाकर भी प्रयोग हो सकती है, इसका प्रयोग करने से सभी, प्रकार के मच्छर, मक्खी, खटमल आदि तथा अन्य प्रकार के सभी विषैले लघु कीट, पतग आदि का विष तथा वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। यह विशेष उपयोगी है।

मूसक विष में विशेष अगद—कूट, त्रिकटु, दारु हल्दी, मुलहठी, सेंधा नमक, चमेली के फूल, नागकेशर तथा काकोल्यादि गण की औषधियाँ सम

भाग लेकर कपीत्थ के रस में घोंट-पीस कर मिश्री तथा मधु मिलाकर सेवन करने से अठारह प्रकार के सभी मूसकों का विष नष्ट हो जाता है।

विष की सर्व साधारण चिकित्सा—शिरिष के पुष्प, फल और जड़ की छाल, कोमल पत्र, छाल तथा बीज का क्वाथ बनाकर विशेष मात्रा में त्रिकटु चूर्ण मिलाकर, मधु और लवण के साथ मिलाकर पीने से यह क्वाथ कीट विषों का विशेष रूप से विनाश करता है, परन्तु सभी प्रकार के विषों में इसका प्रयोग सफलतापूर्वक किया जाता है।

सर्प दंश के असाध्य विशेष कारण—निम्नलिखित स्थानों, नक्षत्रों, प्रदेशों में तथा समय में यदि कोई सर्प किसी को डस ले तो वह व्यक्ति अवश्य मर जाता है, वह विष असाध्य माना जाता है। उसकी चिकित्सा में कदापि सफलता नहीं मिलती यह ध्रुव सत्य है; जैसे—पीपल, मन्दिर, श्मशान, वल्मीक, सन्ध्याकाल, चौराहा, भरणी, नक्षत्र, मर्मस्थानों पर सर्प काटा हुआ असाध्य होता है।

अवस्था विशेष में विष वृद्धि का कारण—फणी सर्पों का विष तत्काल मारक माना जाता है। सभी प्रकार के विष उष्ण काल में दुगनी शक्ति वाले हो जाते हैं। अजीर्ण रोगी, पित्त रोगी, धूप पीड़ित, बालक, प्रमेह रोगी, गर्भवती नारी, वृद्ध, रोगी, क्षीण व्यक्ति, रूक्ष प्रकृति, भीड़ और बादलों के आगमन पर विष का वेग तीव्र होकर बढ़ने लगता है।

विषाक्रान्त रोगी के अन्य असाध्य लक्षण—शस्त्र में क्षत करने पर भी जिसका रक्त न निकले; लता, बेत आदि मारने पर भी जिसके शरीर पर निशान न पड़े; शीतल जल, बर्फ आदि का प्रयोग करने पर भी जिसे रोमांच न होता हो; जिसका मुख टेढ़ा पड़ गया हो, जिसके बाल गिर गये हों, जिसकी नासिका मुड़ गई हो, दंश स्थान पर कालापन आ गया हो जिसके मुख से युक्त कृष्ण वर्ण का शोध आ गया हो, हनुस्तम्भ हो गया हो जिसके मुख से माटी वर्ती लाला युक्त निकले, जिसके ऊर्ध्व तथा अधो भाग से रक्त बह रहा हो, ऐसा विष रोगी भी असाध्य माना जाता है।

प्रश्न—पागल कुत्ता, गीदड़ आदि के काटने से उत्पन्न रोग के लक्षण लिखिए। जलसंत्रास किसे कहते हैं? उस अवस्था में क्या चिकित्सा करेंगे?

पागल कुत्ते, गीदड़ आदि के लक्षण—कुत्ता, गीदड़, लकड़बग्घा, रीछ, बघेरा आदि पशु जब पागल होते हैं तब विष के कारण, कफ से दूषित वायु

संज्ञावाही स्रोतों में पहुँचकर संज्ञा विनाश रक्त देती है। जब उस पशु की पूँछ हनु तथा स्कन्ध ढीले पड़ जाते हैं। उन पशुओं का अपने अंगों पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। उसके मुख से बहुत अधिक मात्रा में लार टपकती रहती है। वह पशु बहरा हो जाता है। वह एक-दूसरे की ओर भागता है। उस पागल विषैले पशु के काटने से दंश स्थान पर सुषुप्ति (सुन्न होना) हो जाती है और वहाँ से काले रंग का बहुत सा रक्त बहता रहता है। विष लिप्त शस्त्र विद्ध के से लक्षण उसमें पाये जाते हैं।

उन्मत्त श्वास आदि से दुष्ट लक्षण—मनुष्य को जिस पागल प्राणी ने काटा होगा, वह मनुष्य उसी के समान चेष्टाएँ तथा शब्द किया करता है। ऐसा बार-बार करता रहता है और अपनी स्वतः की उसकी चेष्टाएँ प्रायः सभी नष्ट हो जाती हैं। वह मनुष्य अवश्य ही मर जाता है। जिस पागल पशु ने मानव को काटा हो, यदि उसी के रूप को जल अथवा दर्पण में वह मानव देखने लगे तो वह अवश्य ही मर जायगा। ये अरिष्ट लक्षण माने गये हैं।

जल त्रास के लक्षण—पागल कुत्ते आदि के द्वारा काटे जाने पर प्रायः जल त्रास अथवा जलसंत्रास (Hydrophobia) नामक रोग हो जाता है। इसे अलर्क विष भी कहा जाता है। आयुर्वेद में इसका लक्षण दिया है कि कुत्ते आदि से दष्ट व्यक्ति जब अचानक ही जल को देखकर डर जाए और दौरा पड़ जाये तो उसे 'जलसंत्रास' कहते हैं, यह अरिष्ट माना गया है। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के मतानुसार यह रोग मनुष्य को पागल कुत्ते अथवा उसी प्रकार के जानवरों के काटने से लाला रस (Saliva) द्वारा विषाणु (Virus) के उपसर्ग से उत्पन्न होता है। यह रोग मुख्य रूप से कुत्ता, भेड़िया, गीदड़, आदि प्राणियों से उत्पन्न होता है। विषाणु शरीर में प्रविष्ट होकर परिसरीय वातनाड़ियों (Perepheral nerves) द्वारा केन्द्रीय वात नाड़ी संस्थान में प्राप्त होकर स्थिर हो जाता है। इसमें निगलने का कष्ट (Dysphagia), अंगघात (Paralysis), चीत्कार शब्द आदि लक्षण पाये जाते हैं। तीन-चार दिनों में रोगी की मृत्यु हो जाती है। इसके लक्षणों में दंश स्थान में विकृति, ज्वर, निगलने का कष्ट, ऐंठन, जलसंत्रास, चीत्कार, उन्माद, अंगघात और लालास्राव इसके प्रधान लक्षणों में से हैं। कुत्ते के द्वारा मनुष्य को काटने के तीस दिन पश्चात् इन लक्षणों का प्रारम्भ अति शीघ्रता से होता है। कई वर्षों बाद भी इसका प्रकोप होता देखा गया है। इसकी चिकित्सा नहीं की जा सकती। क्योंकि यह असाध्य माना गया है। किन्तु लक्षणों की

उत्पत्ति के पहले ही जल संत्रास निरोधक चिकित्सा करने से रोग की उत्पत्ति नहीं हो पाती।

उन्मत श्वास आदि की चिकित्सा—आयुर्वेदिक दृष्टि से उन्मत्त पशु के काटे स्थान पर दबाकर रक्त निकाल देना चाहिए। तथा उष्ण घृत से उस दंश स्थान को दग्ध कर देना चाहिए। बिषहर अगदों का प्रलेप दंश स्थान पर करना चाहिए। पुराण घृत का लेप करना चाहिए आक के दुग्ध से मिला विरेचन द्रव्य विरेचन के रूप में देना चाहिए। धतूरे के साथ पुनर्नवा के श्वेत-कोपल का प्रयोग भी अवश्य ही करना चाहिए। तिल कल्क, तिल तेल तथा अर्कदुग्ध और गुण का सेवक करना चाहिए। विशेष बात यह है कि कुत्ते के विष को स्वयं कुपित होने से पूर्व ही कुपित कर देना चाहिए। इससे रोगा की रक्षा हो जाती है. इसके लिये धतूरे के पत्तों के पकौड़े तिल के तेल में पकाकर रोगी को खिलाते जाना चाहिए। यदि पागल कुत्ते आदि प्राणी ने अपने नखों, दांतों आदि से मानव शरीर पर खरोंच लगा दी हो तो तत्काल ही उस स्थान पर गर्म तेल का सिंचन करना चाहिए और हाथ से उस स्थान को मल देना चाहिए। आधुनिक मतानुसार पागल कुत्ते के व्रण को तीव्र शोरकाम्ल से दग्ध कर देना चाहिए। इसके न मिलने पर तप्त लोहे के शलाक से भी दग्ध किया जा सकता है। इसके अनन्तर यदि मालूम हो जाय कि काटने वाला जीव पागल नहीं तो चिकित्सा बन्द कर देनी चाहिए, अन्यथा चालू रखें। पागल कुत्ता आदि दस दिन में मर जाता है। अतः उस पर ध्यान रखना चाहिए। उस समय तो रोगी पर जाती हुई प्रतिषेधात्मक चिकित्सा भी रोक देनी चाहिए। इसकी चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाली प्रत्यलर्कमसूरी (Antirabic vaccine) कई प्रकार से बनती है। हमारे देश में यह भेड़ के मस्तिष्क से तैयार की जाती है। यह कार्बोलिक एसिड के मध्यम विलयन या लवण के हल्के घोल में बनाई जाती है। यह प्रत्यलर्कमसूरी ३, ५, १०, २० सी० सी० की मात्राओं में मिलती है। इसको सर्वदा ही ५०° सेण्टीग्रेड ताप वाले स्थान पर रखना चाहिए। इस विधि से रखी गई यह मसूरी छह मास तक वीर्यवान (Potential) बनी रहती है। सुई अथवा पिचकारी को सम्यक् प्रकार से हिलाकर, दवाई को पिचकारी में भरें। उदर की दीवार (Abdominal wall) को टिंचर आयोडीन से साफ कर लेना चाहिए। पेट के नीचे इसका सूची वेध किया जाता है। यह सूची वेध क्रम रोगी के अनुसार चौदह दिन से लेकर

इक्कीस दिन तक किया जा सकता है। साधारण अवस्था में पागल कुत्ते की लार के लगने या घात के मस्तिष्क से दूर स्थित होने पर २ सी० सी० सात दिन तक अथवा चार दिनों तक ४ सी० सी० तीव्र उपसर्ग की अवस्था में १० सी० सी० चौदह दिनों तक देना चाहिए। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इस मसूरी को शिरा मार्ग से कदापि प्रविष्ट न किया जाय। इस प्रकार से चिकित्सा करते समय कुछ उपद्रव भी उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे कि माँसपेशी के ऊपर छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, अथवा खुजली, पीड़ा, दाद आदि में से भी कोई सा उत्पन्न हो सकता है। अतः उस स्थान पर सेंक करना चाहिए और कैल्शियम का चूर्ण मुख मार्ग से प्रयुक्त किया जाना चाहिए। यदि सिर में दर्द रहने लगे तो एस्पिरीन सिबाल्सिन, सैरिडॉन आदि का प्रयोग करना चाहिए। ज्वर आने लगे तो यथाविधि यथा-योग्य चिकित्सा की जानी चाहिए। रोगी को चाहिए कि इस चिकित्सा के करते समय मादक पदार्थों जैसे तम्बाकू, शराब, अफीम, गाँजा आदि का प्रयोग कदापि न करें, अपथ्य से रोग के उपचार में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। खेलकूद, ऊँचे स्थानों पर चढ़ना, नीचे स्थानों पर उतरना, आकाश में उड़ना, सर्दी आदि का परित्याग कर देना चाहिए। मल प्रतिदिन साफ होते रहना चाहिए। तेल, खटाई, गुड़, मिर्च आदि का सेवन नहीं किया जाना चाहिए। जल संत्रास मे रोग उत्पन्न होने से पूर्व ही यदि व्यवस्था कर ली जाय तो रोगी बचाया जा सकता है। उस समय उसकी गुदा के मार्ग से पोषण देना चाहिए और अफीम आदि अव-सादक द्रव्यों का भी प्रयोग करना चाहिए और उस रोगी को अँधेरे में गर्म स्थान पर रखना हितकारी होता है।

प्रश्न—वृश्चिक की उत्पत्ति, संख्या और लक्षण चिकित्सा सहित लिखिए।

वृश्चिक की उत्पत्ति—बिच्छू तीन प्रकार के माने गये हैं—(क) मन्द विष, (ख) मध्य विष (ग) महा विष। गाय, आदि के गोबर के सड़ने से उत्पन्न होने वाले बिच्छू मन्द विष कहलाते हैं। लकड़ी, ईंट, पत्थर आदि के सड़ने से उत्पन्न होने वाले बिच्छू मध्य विष हुआ करते हैं। सर्प आदि विषैले प्राणियों के शरीर के सड़ने से उत्पन्न होने वाले तीव्र विष कहलाते हैं।

वृश्चिक संख्या—संख्या में बिच्छू तीस माने गये हैं। मन्द विष वाले बारह, मध्य विष वाले तीन और तीव्र विष वाले पन्द्रह माने जाते हैं।

मन्द विष वृश्चिक के कर्म तथा लक्षण—मन्द विष वाले बिच्छू उदर से श्वेत होते हैं और इनके पुच्छ प्रदेश पर बहुत से पर्व होते हैं। इनकी पूँछ पर बहुत से जोड़ होते हैं इसके दंश से वेदना, कम्पन, गात्रस्तम्भ, काले रक्त की प्रवृत्ति होती है। शाखाओं में दंश होने से विष ऊपर को चढ़ता है; दाह, स्वेद, ज्वर तथा दंश स्थान पर शोथ उत्पन्न हो जाता है।

मध्य विष वृश्चिक के लक्षण तथा कार्य—ये बिच्छू लाल, पीले और कपिल वर्ण के होते हैं। इनका पेट काले रंग का होता है। इनकी पूँछ पर पर्व अर्थात् जोड़ होते हैं। इन बिच्छुओं का विष जिह्वा में शोथ, भोजन का अवरोध, तीव्र मूर्च्छा आदि कार्य उत्पन्न होते हैं।

तीव्र विष वृश्चिक के लक्षण तथा कार्य—ये बिच्छू नाना प्रकार की आकृति वाले होते हैं। इनके रूप भी रंग-बिरंगे होते हैं। ये बिच्छू बहुत भयानक प्राणनाशक माने गए हैं। इनकी उत्पत्ति काटने पर सर्प विष के वेग की भाँति विष वेग चलते हैं और छाले, भ्रान्ति, दाह, ज्वर आदि उत्पन्न हो जाते हैं। रोमकूपों, नासिका, मुख आदि के भागों से काला रक्त बहुत वेग से निकलने लगता है। इसलिए रोगी शीघ्र ही प्राणों का त्याग कर देता है।

महा विष तथा मध्य विष वृश्चिक चिकित्सा—तीव्र तथा मध्य विष वाले बिच्छू के दंश होने पर सर्पदष्ट की भाँति, उपचार, चिकित्सा आदि करें। दंश के चारों ओर स्वेदन करके तथा उस स्थान को पोंछ कर हल्दी, सैंधव लवण त्रिकुट, शिरीष के फल, पुष्प आदि का चूर्ण डालकर प्रतिसारण अथवा घर्षण क्रिया करनी चाहिए। स्वेदन के लिए सूखे गोबर से सुहाता-सा गरम सेक दें। पीने के लिए घी को मधु के साथ अथवा प्रचुर मात्रा में शर्करा मिश्रित दुग्ध पिलाएँ।

मन्द विष वृश्चिक दंत चिकित्सा—मन्द विष वाले बिच्छुओं में कोल्हू के ताजे तेल से परिषेक करना चाहिए अथवा विदारीगण से सिद्ध तेल सुहाता-सा गरम-गरम सेक करें। शिरीषादि विषहर दवों से बनाई गई पुलटिस से स्वेदन करें। विषघ्न दव्यों से ही उपनाहन कर्म करना चाहिए। दालचीनी, इलायची, तेजपात, नाग केशर से मिले गुड़ के शर्बत को बहुत ठण्डा करके पीने को देना चाहिए। मोर, मुर्ग आदि के पंख, सैंधव लवण, तेल इनका धुआँ देने से वृश्चिक विष तत्काल नष्ट हो जाता है।

प्रश्न—लूता की उत्पत्ति, लूतादष्ट लक्षण एवं चिकित्सा लिखिए।

लूता की उत्पत्ति—प्राचीन युग में विश्वामित्र ने महर्षि वसिष्ठ को कुपित

कर दिया था। कुपित ऋषि के मस्तक के पसीने की बूँदें कटी हुई कुशा घास पर गिरीं। उनसे सोलह प्रकार की लूता अर्थात् मकड़ियाँ उत्पन्न हो गईं।

लूता का विष त्याग मार्ग—लूताएँ सात प्रकार से अपने विष को निकालती हैं जैसे लाला-मुख, नख, मूत्र दष्टा, रस अर्थात् रज, मल और शुक्र से। यह विष भी, मध्य तीव्र तीन प्रकार का होता है। लूता का विष सात दिनों में कुपित होता है और भिन्न-भिन्न लक्षण दिखलाता है। आरम्भ में मकड़ी का प्रसरित विष पहचान में नहीं आता। उग्र विष लूताएँ रोगी को सात दिन में मार देती हैं। मध्यम विष वीर्य वाली लूता एक पक्ष के भीतर मार सकती हैं। किन्तु मन्द विष वाली लूताएँ पन्दह दिन से लेकर और अधिक दिनों में मार देती हैं। लूता का दंश दो प्रकार का होता है—(१) कष्टसाध्य, (२) असाध्य।

लूताओं के दष्ट लक्षण—लूताओं के काटने पर सिर में वेदना, दंशस्थान पर कण्डू वेदना; और कफवात जन्य अन्य कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

सब लूताओं की सामान्य चिकित्सा—लंसूड़े की छाल का पेय पदार्थ बना कर पिलाना चाहिए। लेप आदि में भी इसका ही प्रयोग करना चाहिए। शोभांजन की पीपल अथवा महानींव पर उत्पन्न होने वाले पीपल का प्रयोग भी विशेष उपयोगी होता है। पीपल की छाल को दूध में पीसकर पिलाना लेप करना आदि भी विद्वानों ने श्रेष्ठ उपचार माना है। साध्य लूताओं के दंश के तत्काल ही चाकू से काट कर साफ कर देना चाहिए।

लूता विष में विशेष उपक्रम—मकड़ी के विष में विशेष रूप से दस प्रकार का उपक्रम किया जाता है। जैसे—नस्य, अञ्जन, अभ्यग, पान, धूम, अवपीड़ कवलग्रह तीक्ष्ण विरेचन तथा शिरामोक्षण।

प्रश्न—अमृत सर्पि क्या है ? विषातुर को स्वेदन का निषेध एव उसके लिए पथ्यापथ्य की-व्यवस्था लिखिए। विषमुक्त के लक्षण बताइए।

सम्पूर्ण विषों में अमृत सर्पि—सर्प, मूषक, वृश्चिक, लूता, कीट आदि सभी विषों को दूर करने में यह अमृत सर्पि विशेष आवश्यक माना गया है। अपामार्ग क बीज, शिरीष के बीज, श्वेत, कोयल, नीली कोयल, मकोय, इन सबको समान भाग में लकर गोमूत्र पीसकर फिर इससे घृत सिद्ध करें। इनको अमृत सर्पि माना गया है। यह परम विष नाशक है। मूर्च्छित, मृतप्राय को भी खड़ा कर देता है।

विषातुरों को स्वेदन का निषेध—विष से पीड़ित मानवों को उष्ण को छोड़कर सभी उपक्रमों का उपयोग करने पर आशातीत लाभ होता है। कीट विषों में उष्ण उपचार करना श्रेयष्कर है। यह शीत के कारण कीट का प्रभाव और अधिक फैल जाता है।

विषातुरों के लिए पथ्यापथ्य—विष पीडित रोगी की फांणित (राब) सहजना, कांजी, अजीर्ण, अध्वशन, नवधान्य, दिन में सोना, मैथुन, व्यायाम, क्रोध, धूम्र, सुरापान, तिल, कुलत्थ आदि का परित्याग कर देना चाहिए।

विष मुक्त के लक्षण—स्वभाव में स्थित वातादि दोष होने पर, रस आदि धातु मल अपने स्वभाव में आने पर, अन्न, रुचि होने पर, मन के साथ उचित रूप में, इसको ग्रहण करने वाली जिह्वा के होने पर, वर्ण, इन्द्रीय तथा चेष्टा से प्रसन्न हो जाने पर नर को विष रहित माना गया है।

प्रश्न—निम्नलिखित विष द्रव्यों के प्रयोग से उत्पन्न लक्षण एवं चिकित्सा लिखें। आधुनिक स्थावर विषों का वर्णन करिए।

(१) शोरकाम्ल का प्रयोग हो जाने पर ओष्ठ, कपोल, मुख, जिह्वा और हाथ की श्लैष्मिक कला आदि सम्पर्क में आने वाली धातुएँ प्रारम्भ में मृदु तथा श्वेत वर्ण की, किन्तु कुछ देर के पश्चात् क्षांथों प्रोटिक अम्ल बनने से पीत वर्ण की हो जाती है। दाँतों पर का एनैमल नष्ट हो जाता है और उनका वर्ण भी पीला होता है। त्वचा तथा नखों पर के धब्बे भी पीले होते हैं। इन पर अमोनिया का घोल डालने से इन धब्बों का वर्ण सन्तरे के रंग के समान हो जाता है। आमाशय में अत्यधिक आध्मान और तीव्र पीड़ा होती है और इसके कारण दूसरे अम्लों की अपेक्षा इस अम्ल में वमन की प्रवृत्ति अधिक रहती है। अनुस्तम्भ और मूर्च्छा भी इस अम्ल से हो जाते हैं। यदि इस अम्ल की वाष्प को सूँघ लिया जाय तो श्वास प्रणाली और फुफ्फुसों में प्रदाह उत्पन्न हो जाता है। इसके कारण सर्वप्रथम खाँसी का दौरा आरम्भ हो जाता है। फिर श्वास की कठिनता तथा श्वसन का अवरोध होने लगता है। कभी-कभी इससे न्यूमोनिया भी हो जाता है। तीव्र अम्ल के वाष्प से, सूँघने पर मृत्यु भी हो जाती है। इसकी घातक मात्रा १२० बूँद होती है। घातक काल १२ से लेकर २४ घण्टों तक माना जाता है। रोगी के मर जाने पर उसके शारीरिक अवयव पीत वर्ण के हो जाते हैं अथवा पीत वर्ण के धब्बे चकत्ते आदि पड़ जाते हैं। मुख और नाक पर पीली श्लेष्मा के झाग मिलते हैं। आभ्यन्तर शरीर पर अर्थात् मुख, जिह्वा, अन्न प्रणाली, गला, आमाशय तथा पक्वाशय

के ऊर्ध्व भाग में जलन होती है और वहाँ पीले रंग के दाग मिलते हैं। आमाशय में छिद्र हो जाते हैं। प्रायः आमाशय क्षतयुक्त पाया जाता है। स्वर यन्त्र, वायुप्रणाली तथा श्वास-नलिका में शोथ के चिह्न पाये जाते हैं।

(२) **गन्धकाम्ल प्रयोग का वर्णन**—गन्धक के अम्ल का प्रयोग हो जाने पर मुख की श्लैष्मिक कला का रंग कपिल हो जाता है। जीभ श्वेत होती है। धीरे-धीरे कुछ काली अथवा भूरे रंग की हो जाती है। दाँत खड़िया के समान बिना चमक के सफेद होते हैं। यह अम्ल अतिसार को उत्पन्न कर देता है। उसमें रक्त भी आने लगता है और श्लैष्मिक कला के टुकड़े भी पाए जाते हैं। आमाशय में छिद्र होने से अन्य स्थानों पर शोथ होने की पूरी सम्भावना रहती है। मूर्च्छा भी हो जाती है क्योंकि अवसाद रहने लगता है। इसकी घातक मात्रा साठ बूँदें मानी गई हैं और घातक काल अठारह घण्टों से लेकर चौबीस घण्टों तक होता है। मरने के बाद रोगी के ओष्ठ, कपोल अथवा शरीर के अन्य भागों पर, इस अम्ल के प्रभाव से भूरे रंग के अथवा काले रंग के धब्बे अथवा चकत्ते पाए जाते हैं। जिह्वा और मुख पर शोथ होता है। वहाँ मृदुता और गलना पाया जाता है। आमाशय की बाहर की सतह काली और उसकी भित्ति मृदु हो जाती है। कभी एक या दो अधिक छिद्र भी बन जाते हैं। अम्ल की हलकी दशा में सम्पूर्ण आमाशय फैला हुआ होता है। वहाँ की रक्त नलिकाएँ भी फूल जाती हैं। श्लैष्मिक भी काली पड़ जाती है।

(३) **अम्लों की चिकित्सा विधि**—इनमें से किसी भी अम्ल के आक्रान्त होने पर रोगी को तत्काल बीस औंस जल अथवा दूध में आठ चमचे कैलशियम अथवा मैग्नेशियम ऑक्साइड मिलाकर पिलाना चाहिए। इसके अभाव में साबुन का घोल दीवारों की सफेदी अथवा खाने के चूने के जल में मिलाकर पिलाना उचित है। इसके बाद में अण्डे की सफेदी का पानी, घी, जैतून का तेल, ईसबगोल आदि का पानी पिलाना चाहिए। कार्बोनेट्स अथवा बाइकार्बोनेट्स का प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे कार्बन-डाइ-ऑक्साइड गैस उत्पन्न होकर आमाशय में पीड़ा आदि होकर छिद्र होने की सम्भावना रहती है। प्यास को रोकने के लिए बर्फ चूसने के लिए दी जानी चाहिए। शेष अम्लों की सामान्य चिकित्सा की जानी चाहिए।

(४) **फनाइम (संखिया) का वर्णन**—संखिया खा लेने पर एक घण्टे के भीतर रोगी पर इसके लक्षण प्रकट होन लगते हैं। जी मिचलाना, श्रम, सिर चकराना आदि प्रारम्भिक लक्षण हुआ करते है। इसके अनन्तर, दाह, तृष्णा,

और वमन होने लगती है। गले तथा आमाशय में तीव्र दाह, एवं पीड़ा होने लगती है। तीव्र तृष्णा और वमन आरम्भ हो जाती है जो कि अन्त तक बनी रहती है। वमन में सर्व प्रथम आमाशयिक पदार्थ और इसके अनन्तर रक्त युक्त श्लेष्मा निकलने लगता है। वमन का रंग हरित, नील आदि होता है। गहरा काला अथवा पीला भी होता है। बारम्बार मल जाता है, उसमें प्राय: रक्त रहता है। उदर में तीव्र शूल होने लगता है। टाँगों में ऐंठन तथा तीव्र उदर शूल के कारण श्वास लेने में कठिनाई होती है। मूत्र कम होता जाता है। दाह और पीड़ा होती है। नाड़ी की गति तीव्र, दुर्बल तथा अनियमित रहती है। श्वास की कृच्छ्रता रहती है। अन्त में मृत्यु से पूर्व तन्द्रा, मूर्च्छा होकर बोलने में अशक्ति, कर्णनाद, प्रकाश को न सह सकना, नेत्रों की विकृति, ज्वर, लाला स्राव, श्वास की कठिनता आदि लक्षण हो जाते हैं। इसकी घातक मात्रा डेढ़ रत्ती अर्थात् तीन ग्रेन है। इसका घातक काल बारह से चौबीस घण्टे तक है।

सापेक्षिक निदान—आमाशय की अन्तर्कला में शोथ, क्षुद्रान्तर्कला में शोथ, अथवा इन दोनों में ही शोथ और इनके साथ संखिया विष के लक्षणों की कुछ समानता है। उदर की परिविस्तृत कला का शोथ उत्पन्न होने पर भी कुछ समानता है। उदर की परिविस्तृत कला का शोथ उत्पन्न होने पर भी लक्षण तथा विसूचिका के लक्षणों में अधिकतर समानता है। इसलिए यहाँ पर दोनों की तुलनात्मक स्थिति लिखी जा रही है।

संखिया विष	विसूचिका रोग
(१) इसमें एक अथवा दो, इससे कुछ अधिक बाकी अर्थात् जिन-जिन व्यक्तियों को विष दिया गया होगा, विष आक्रान्त होंगे।	(१) महामारी के रूप में किसी नगर में, गाँव अथवा बस्ती में विसूचिका का प्रसार होता है और बहुत से लोग विसूचिका ग्रस्त मिलते हैं।
(२) रोगी को पहले वमन होती है फिर बाद में दस्त आते हैं।	(२) रोगी को पहले दस्त आते हैं फिर बाद में वमन होती है।
(३) वमन रक्त मिश्रित होती है और उसमें श्लेष्मा तथा पित्त का कुछ अंश पाया जाता है।	(३) वमन किया हुआ पदार्थ पानी की तरह पतला होता है और उसमें श्लेष्मा, पित्त अथवा रक्त नहीं होता।

संखिया विष	विसूचिका रोग
(४) पहले रोगी के गले में पीड़ा होती है और बाद में वमन होती है।	(४) प्रायः गले में पीड़ा नहीं होती, यदि होती भी है तो वमन होने के बाद में।
(५) रोगी को पानी की तरह पतले दस्त आते हैं जिसमें रक्त और पित्त का कुछ अंश उपस्थित होता है। दस्त के समय रोगी को उदर शूल अथवा गुद-संक्षोभ होता है।	(५) सदैव चावल के माड़ की भाँति दस्त आते हैं। इसमें पित्त अथवा रक्त अनुपस्थित होता है किन्तु कभी-कभी रक्त आता भी है।
(६) रोगी के कण्ठ-स्वर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।	(६) रोगी का कण्ठस्वर प्रायः भारी हो जाता है।
(७) वमन और दस्त किए हुए पदार्थों का विश्लेषण करने पर उसमें फेनाश्म का अंश पाया जाता है।	(७) दस्त किए हुए पदार्थ का सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षण करने पर अथवा उनकी 'जीवाणु सम्वर्धन' क्रिया करने पर उसमें विसूचिका के जीवाणु पाये जाते हैं।

चिकित्सा—सर्वप्रथम यदि अपने आप वमन न हुआ हो तो वमन कराना चाहिए। इसके लिए जिंक सल्फेट, राई, एपोमार्फीन का इंजेक्शन—इनमें से किसी का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु तूतिया का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। जल्दी से जल्दी दूध और पानी मिलाकर आमाशय-प्रक्षालन नलिका द्वारा आमाशय का प्रक्षालन करना ही सबसे अच्छा उपाय है। प्रक्षालन करने के अनन्तर नलिका द्वारा हायड्रेटेड फेरिक ऑक्साइड का द्रव आमाशय में छोड़ना चाहिए, यह योग्य प्रतिविष है। इससे फेरिक ऑक्साइड नामक अघुलनशील तथा निष्क्रिय योग्य बनता है। हायड्रेटेड फेरिक ऑक्साइड के बनने में जो अवक्षेप बनता है उसको चार ड्राम की मात्रा में बार-बार खिलाना चाहिए। कैलसाइड मैग्नेशिया तथा जान्तव कोयले के चूर्ण को मिलाकर प्रतिविष के रूप में प्रयोग किया जाता है। एक अथवा दो प्रतिशत खाने के लिए सोड़े के द्रव से भी आमाशय का प्रक्षालन करने से लाभ होता है। दस्त न हुआ हो तो एरण्ड तेल अथवा मैग-सल्फेट एक औंस देना चाहिए। अण्डे की सफेदी, दूध इत्यादि स्निग्ध तथा शामक औषधियाँ देनी चाहिए।

शरीर के ताप की रक्षा के लिए उष्ण जल से भरी बोतलों का प्रयोग करना चाहिए। यदि पीड़ा अधिक हो तो मार्फिया का इंजेक्शन लगा देना चाहिए। शरीर में उत्तेजना पहुँचाने के लिए स्ट्रिकनीन का इंजेक्शन दिया जा सकता है। अत्यधिक वमन और दस्तों से शरीर का द्रव और अन्य क्षार कम होते हैं और मूत्र की मात्रा कम होती जाती है। इसलिए सामान्य लवण, द्रव तथा ग्लूकोज का प्रयोग त्वचा द्वारा अथवा सिरा द्वारा अवश्य करना चाहिए। सोडियम थायो-सल्फेट का शत-प्रतिशत घोल से साढ़े सात ग्रेन, की मात्रा में शिरा द्वारा प्रयोग प्रतिदिन एक बार करना चाहिए। 'बाल' (BAL) का प्रयोग निदान होते ही यथाशीघ्र करना चाहिए। इस बात को 'ब्रिटिश एण्टी लिवी-साइट' भी कहते हैं। यह तेल में औषधि का दस प्रतिशत घोल होता है जिसमें बीस प्रतिशत वेञ्जोट मिला रहता है। इसके एक सी० सी० में सौ मिलीग्राम औषधि होती है। इंजेक्शन हमेशा पेशी में दिया जाता है। अत्यधिक काल में शिरा द्वारा प्रयोग के लिए इसका विशेष विलयन बाजार में मिलता है, उसका प्रयोग करना चाहिए। विष का परिणाम अधिक न हो तो एक किलोग्राम शरीर के वजन के लिए तीन मिलीग्राम, औषधि इस परिणाम में एक इजेक्शन के लिए पूर्ण मात्रा का निश्चय करना चाहिए। प्रथम और दूसरे दिन तक एक इंजेक्शन प्रत्येक चार घण्टे पर रात और दिन में। तीसरे दिन एक इंजेक्शन प्रत्येक चार घण्टों पर रात और दिन। चतुर्थ दिन से जब तक पूर्ण स्वस्थ न हो एक इंजेक्शन प्रत्येक बारह घण्टों में प्रायः दस दिन तक अथवा जब तक पूर्ण स्वस्थ न हो। विष अधिक न हो तो एक किलोग्राम शरीर के वजन के लिए ढाई मिलीग्राम औषधि इस परिणाम में एक इंजेक्शन के लिए पूर्ण मात्रा का निश्चय करना चाहिए। प्रथम और दूसरे दिन—एक इंजेक्शन प्रत्येक चार घण्टे पर दिन भर में चार बार। तीसरे दिन—एक इजेक्शन प्रातः और सायं, चौथे दिन—एक इजेक्शन प्रतिदिन। दस दिन तक अथवा पूर्ण स्वस्थ होने तक।

नीलाञ्जन—अंजन के निम्नलिखित यौगिक होते हैं—

(क) एण्टीमनी टार्टरैटम, (ख) एण्टीमोनियस ऑक्साइड, (ग) एण्टीमनी ट्राई क्लोराइड, (घ) एण्टीमनी ट्राई सल्फाइड, (ङ) एण्टीमनी हाइड्राइड या स्टिबिन।

लक्षण—मुँह में धातवीय स्वाद मालूम होता है। जी मिचलाने लगता है। वमन होने लगती है। आमाशय में दाहयुक्त पीड़ा होती है। विरेचन

होता है। नाड़ी मन्द पड़ जाती है। त्वचा शीतल तथा स्वेदयुक्त होती है। श्वास क्रिया में कठिनता तथा पीड़ा होती है। मूर्च्छा उत्पन्न होती है। हृदय का अवसाद होकर रोगी की मृत्यु भी हो जाती है।

घातक मात्रा—पांच रत्ती से लेकर दस रत्ती तक की मारक मात्रा है। और घातक काल दस घण्टे से लेकर साठ घण्टे तक माना गया है।

चिकित्सा—यदि वमन न होती हो तो वामक द्रव्यों के प्रयोग से वमन कराना उचित है। प्रति विष के रूप में टैनिकाम्ल पन्द्रह से तीस रत्ती तक की मात्रा में देना उचित है। इसके लिए गैलिकाम्ल प्रबल चाय अथवा कॉफी का प्रयोग उचित हैं। दूध, अण्डे की सफेदी, जैतून का तेल इत्यादि स्निग्ध तथा शामक औषधियाँ देनी चाहिए। यदि पीड़ा अधिक हो तो मार्फिया का इंजेक्शन लगाना उचित होता है। उत्तेजक औषधियाँ देनी चाहिए। एतदर्थ स्ट्रिकनीन का इंजेक्शन लगाया जा सकता है।

जलपान विष—इसको जमालगोटा भी कहते हैं। इसके खाने पर मुख, गला तथा आमाशय में जलन और पीड़ा होती है और वमन भी होने लगती है। लाला का स्राव होने लगता है। रक्त के मिश्रित दस्त अथवा विरेचन होने लगते हैं। शरीर में ऐंठन होती है। त्वचा शीतल हो जाती है। अन्त में हृदय का अवसाद होकर मृत्यु हो जाती है। घातक मात्रा चार बीज और तेल पन्द्रह से तीस बूँद तक। घातक काल चार से पांच घण्टे, अधिक से अधिक तीन दिन।

चिकित्सा—जमालगोटा के खाए हुए रोगी के आमाशय का गरम जल से प्रक्षालन करना चाहिए। जौ का पानी, अण्डे की सफेदी इत्यादि स्निग्ध शामक औषधियाँ देनी चाहिए। यदि पीड़ा अधिक हो तो मार्फिया का इंजेक्शन लगाना चाहिए और अन्य लाक्षणिक उपाय करना चाहिए। हृदय के लिए उत्तेजक औषधियाँ देनी चाहिए। दस्तों को रोकने के लिए तीन बूँद कपूर अर्क अथवा दस बूँदें स्प्रिट कैम्फर, प्रति दस मिनट में मिश्री अथवा दुग्ध में मिलाकर पाँच अथवा छह बार देना चाहिए, बाद में कम कर देना चाहिए।

एरण्ड विष—एरण्ड के बीजों को खा लेने से भी विष के चिह्न प्रकट हो जाते हैं। उनमें पाये जाने वाले विष को 'राइसिन' कहा गया है।

लक्षण—गले में पीड़ा, उदर में शूल, मलोत्सर्ग की अधिकता अथवा

अभाव । वमन, स्वेद युक्त शीतल त्वचा हृदय का अवसाद मृत्यु । घातक मात्रा में तीन बीज माने गए हैं । घातक काल दो दिन से लेकर छह दिन तक ।

चिकित्सा—आमाशय का प्रक्षालन, शरीर में ताप को बनाये रखने के लिए उपचार तथा पीड़ा को कम करने के लिए मार्फिया का इन्जेशन लगाना चाहिए ।

इन्द्रायण विष—इन्द्रायण का चूर्ण गर्भ गिराने के लिए प्रयुक्त होता है । आयुर्वेद में इन्द्रायण के फल का चूर्ण विरेचन कराने के लिए दिया जाता है । इसकी मात्रा प्रायः दो से लेकर आठ ग्रेन तक मानी गई है । इसके अधिक मात्रा में खाया गया तो क्षोभक विष के समान क्रिया करता है ।

लक्षण—इन्द्रायण का विष उत्पन्न होने पर रोगी को वमन होने लगती है । इसके अनन्तर दस्त भी आने लगते हैं जिनमें आम तथा रक्त दोनों ही मिले रहते हैं । रोगी दुर्बल हो जाता है । उसके अंग भी शीतल हो जाते हैं । नाड़ी मन्द पड़ जाती है । हृदय दुर्बल हो जाता है और हृदयावसाद से रोगी की मृत्यु भी हो जाती है इसकी घातक मात्रा डेढ़ से लेकर दो ड्राम तक है और घातक काल चालीस घंटे का माना है ।

चिकित्सा—आमाशय का प्रक्षालन करना चाहिए । वमनकारक द्रव्यों का प्रयोग किया जाना आवश्यक है । अण्डे की सफेदी, जौ का पानी, जल ने गेहूँ का आटा अथवा अखरोट मिलाकर रोगी को दें । शरीर की उष्णता को रखने के लिए प्रयत्नशील रहें और रोगी को उत्तेजक वस्तुएँ दें ।

गुञ्जा विष—इसको घुघँची अथवा रत्ती भी कहते हैं । सुनार लोग इससे सोना तौलने का काम लेते हैं । यह विषैली होती है । परन्तु पानी में उबालने पर इसका विष नष्ट हो जाता है । इसके चूर्ण को दुग्ध के साथ उबालकर औषधि की भाँति प्रयुक्त करते हैं; परन्तु बिना उबाले अथवा बिना भूने हुए खाने से शरीर में विष फैल जाता है । प्रायः हत्या के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है ।

लक्षण—इसका विशेष प्रभाव नाड़ीमण्डल पर पड़ता है । शोथ उत्पन्न होकर बाद में चारों ओर फैल जाता है । पेशियों में संकोच होता है । मुख के खोलने और बन्द करने में कष्ट होता है । कभी-कभी ज्वर भी हो जाता है । मूर्च्छा होकर अन्त में मृत्यु भी हो जाती है । इसकी घातक मात्रा डेढ़ ग्रेन से दो ग्रेन तक अथवा एक रत्ती भी और घातक काल तीन से लेकर पाँच दिन तक माना गया है ।

चिकित्सा—रत्ती में एब्रिन नामक विष रहता है। अतः उसको नष्ट करने के लिए यदि तैयार एण्टी-एब्रिन मिल जाय तो उसका इंजेक्शन लगाना चाहिए। शेष सम्पूर्ण चिकित्सा क्रम सर्प विष के ही समान किया जाना चाहिए।

चित्रक विष—चित्रक ही केवल जड़ ही काम में लाई जाती है। यह गर्भ गिराने में प्रयुक्त होता है। इसकी जड़ का कल्क बनाकर उसको किसी लकड़ी आदि के टुकड़े से योनि अथवा गर्भाशय में धकेल देते हैं। इस प्रक्रिया से प्रायः स्त्रियाँ मर जाती हैं। चमड़ी के ऊपर चित्रक लगाने से लाल चिन्ह पड़ जाते हैं।

लक्षण—यह एक क्षोभक विष है। नाड़ीमण्डल पर इसका विशेष प्रभाव भी पड़ता है इसलिए जिन स्थानों पर इसको लगाया जाता है, वहाँ पर यह सर्वप्रथम शोथ उत्पन्न करता है और फिर वहाँ पर पीड़ा भी होने लगती है। थोड़ी देर के बाद और तीव्र हो जाता है। प्रायः रक्त भी बहने लगता है। यदि गर्भस्राव हो गया हो तो उसके बाद नाड़ी की स्तब्धता भी उत्पन्न हो जाती है। यह रक्त स्राव बन्द नहीं होता। यदि चित्रक को किसी कपड़े में लगाकर गर्भाशय तक भेजा गया हो वहाँ पर संक्रामक तत्व भी पहुँच जाता है अतः रोगी की विचारशक्ति में विकार उत्पन्न हो जाता है। शनै-शनैः मूर्च्छा भी होने लगती है। श्वास में विकृति आ जाती है। इस प्रकार अन्त में रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। विषयक्षण के समान वमन, विरेचन आदि क्षोभक विषों के लक्षण इसमें भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसकी घातक मात्रा तथा मारक काल निश्चित नहीं है।

चिकित्सा—यदि मुख मार्ग से यह विष खाया गया है तो विष की चिकित्सा के सर्वसाधारण नियमानुसार उसके आमाशय का प्रक्षालन, वमनकारी तथा उत्तेजक औषधियों इत्यादि के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। यदि विष का स्थानिक प्रयोग किया गया हो तो सर्वप्रथम उस स्थान पर विष युक्त वस्त्रों को निकालकर शुद्ध बोरिक विलयन से धोकर, वहाँ पर शामक औषधि द्रव्यों का उपयोग किया जाना चाहिए। अन्य लक्षणों की चिकित्सा तदनुसार ही करनी चाहिए।

अहिफेन विष—अफीम कई प्रकार की मिलती है। जैसे—

(१) टर्की की अफीम, (२) योरोपीयन अफीम, (३) फारसी अफीम, (४) भारतीय अफीम।

ताजी बनाई गई अफीम कुछ कम होती है और उसमें लगभग नौ अथवा दस प्रतिशत मार्फीन होती है। यह प्रायः चपटे ढेले के रूप में मिलती है। इसमें एक विशेष प्रकार की गन्ध भी होती है। सूखने पर अफीम में कुछ कठोरता आ जाती है। इसका स्वाद तिक्त अर्थात् कड़वा होता है। यह काले और भूरे रंग की होती है।

अफीम के लक्षण—अफीम खाने के आधा से लेकर एक घण्टे तक पें अपना प्रभाव प्रकट करती हैं। इसकी तीन अवस्थाएँ पाई जाती हैं—

(क) उत्तेजक अवस्था, (ख) तन्द्रावस्था, (ग) निद्रावस्था।

(क) यह प्रथम अवस्था होती है। इसमें मानसिक उत्तेजना के कारण रोगी विकल रहता है। मुख-मण्डल रक्त वर्ण हो जाता है। हृदय की गति भी तीव्र हो जाती है। यदाकदा प्रलाप अथवा मनभ्रम भी हो जाया करता है। बालकों में आक्षेपक भी हो सकता है।

(ख) यह द्वितीय अवस्था होती है। इसमें मस्तिष्क केन्द्र शिथिल होने लगते हैं। सबसे पहले शिर शूल, चक्कर आना और अत्यन्त थकावट होकर रोगी को तन्द्रा उत्पन्न हो जाती है। इस दशा में बाह्य उत्तेजना से उसको थोड़ा-सा चैतन्य भी हो जाता है। सम्पूर्ण शरीर की त्वचा में खुजली होने लगती है, ओष्ठ और मुख पर कुछ नीलिमा रहती है। नेत्रों के तारे सिकुड़े रहते हैं। श्वास-प्रश्वास की गति तथा नाड़ी पर विशेष प्रभाव नहीं होता।

(ग) यह तीसरी अवस्था होती है। इसमें रोगी पूर्णरूप से मूर्च्छित रहता है। अतः बाहर को ओर से की गई कोई भी उत्तेजना उसे जाग्रत नहीं कर सकती। पेशियों में शिथिलता आ जाती है। मुख तेजहीन तथा होंठों पर नीला रहता है। जबड़ा नीचे की ओर लटक जाने से मुख खुला ही रहता है। शारीरिक परिवर्तन नष्ट रहते हैं। नेत्रों की कनीनिका प्रकाश को सह सकने में अक्षम तथा अत्यन्त संकुचित रहते हैं। शरीर के सभी उद्रेचन सूख जाते हैं। किन्तु त्वचा में शीतल श्वेत रहता है। नाड़ी दुर्बल और मन्द गति की चलती रहती है। श्वास की कृच्छ्रता तथा श्वास-प्रश्वास की गति में भी न्यूनता आ जाती है। इस अवस्था तक भी चिकित्सा होने पर दशा में सुधार की पर्याप्त आशा रहती है। किन्तु ऐसा नहीं होने पर दशा क्रमशः बिगड़ी हुई और बिगड़ती जाती है। नाड़ी की गति अनियमित तथा अत्यन्त दुर्बल हो जाती है। श्वास-प्रश्वास भी रुक-रुक कर चलने लगते हैं और अन्त में श्वासा-

वरोध होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। कभी-कभी पेशियों में आक्षेपक हो जाता है तथा नेत्रों की कनीनिका और अधिक फैल जाती है। ऊपर निर्दिष्ट सभी दशाओं में सर्वरूपेण श्वास-प्रश्वास में अफीम की गन्ध पाई जाती है। कभी-कभी तीव्र विरेचन और वमन भी होते देखे गए हैं। बालकों में प्रायः पेशियों में आक्षेपक हो जाते हैं। उनका तापक्रम भी बढ़ा हुआ पाया गया है। कभी-कभी तन्द्रा की अवस्था में विष का शोषण कम होने से योग्य चिकित्सा करने पर रोगी की दशा एक बार सुधर जाती है। परन्तु दशा सुधरने के कारण ही विष का शोषण फिर से बढ़ता है और रोगी की दशा फिर से बिगड़ने लगती है।

सापेक्षिक निश्चित—(क) मस्तिष्कगत रक्त की अधिकता, (ख) मस्तिष्क पर दबाव, (ग) विषमयी अवस्था, (घ) कार्बोलिकाम्ल विष, (ङ) मदात्यय इन सब अवस्थाओं में से सापेक्षिक निश्चित करनी होती है। इसकी घातक मात्रा यदि पूर्ण रूप में प्रयोग की जाए तो दो रत्ती तक है। यदि टिंचर ओपिआई है तो साठ बूँदों से लेकर एक सौ बीस बूँद तक और यदि ऐक्सट्रक्ट ओपियाई है तो एक रत्ती तक और यदि मार्फीन हाइड्रोक्लोराइड है तो आधा रत्ती से एक रत्ती तक है इसकी मृत्युकारक समय की स्थिति नौ घण्टे से बारह घण्टे तक है। अधिक से अधिक तीन दिन।

चिकित्सा—सबसे पहले शीघ्र ही साधारण गर्म जल से आमाशय प्रक्षालन करना आवश्यक है। बाद में भी बीस औंस जल में दस से पन्द्रह ग्रेन पोटैशियम परमैंगनेट मिलाकर अथवा हलके गुलाबी रंग का द्रव बनाकर उस द्रव से निरन्तर अनेक बार आमाशय का प्रक्षालन करते जाना चाहिए। जब तक बाहर आने वाले द्रव का रंग वैसा ही न हो जैसा कि डाला गया था तथा उस द्रव में अफीम की गन्ध न हो। पोटैशियम परमैंगनेट अफीम का रासायनिक प्रतिविष माना जाता है अतः अफीम के सभी घटक निष्क्रिय हो जाते हैं और किसी भी रासायनिक परीक्षा द्वारा अफीम का निश्चित करना परम कठिन होता है। इसलिए प्रथम गरम जल से आमाशय को धो डालना ही उचित उपचार है। अच्छी प्रकार से प्रक्षालन करने के अनन्तर अथवा हो जाने पर दस औंस के लगभग द्रव को आमाशय में ही छोड़ देना चाहिए। इसमें थोड़ा द्रव मिश्रित गन्धकाम्ल मिलाने से पोटैशियम परमैंगनेट की क्रिया अधिक होती है। यदि समय पर तत्काल पोटैशियम मैंगनेट न मिले तो चाय के क्वाथ से टैनिक एसिड के द्रव से अथवा जान्तव कोयले के चूर्ण के द्रव से आमाशय का प्रक्षालन

करना चाहिए। त्वचा के नीचे मार्फीन का इंजेक्शन देने से यदि विषैले चिह्न पाए जाएँ तो उस समय भी आमाशय का प्रक्षालन किया जाना चाहिए। क्योंकि रक्त में मिलने के बाद विष आमाशय में उतर पड़ता है, तदनन्तर आमाशय से फिर शोषित होकर विषमय प्रभाव दिखलाता है : विष के उत्सर्ग को बढ़ाने के लिए आमाशय प्रक्षालन के बाद आधा औंस मैग्नीशियम सल्फेट पिला देना चाहिए तथा मूत्रालय को कैथेटट से खाली कर देना चाहिए। इस प्रकार ऊपर कहे तीनों प्रकार के उपचार करने के साथ-साथ एट्रोपिनसल्फेट एक बटा चालीस ग्रेन तक की मात्रा में त्वचा के नीचे इंजेक्शन को दोबारा भी दिया जा सकता है। किन्तु एट्रोपिन के स्वयं विषैले चिह्न न हो जाएँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

लाक्षणिक चिकित्सा क्रम—तन्द्रा में—यदि रोगी आरम्भ की दो अवस्थाओं में से हो तो पानी उसके चेहरे पर मारकर अथवा घुमा-फिराकर सोने न दिया जाय, किन्तु यह विधि तब तक कोई लाभ नहीं पहुँचाती, जबकि रोगी की पेशियाँ शिथिल हो गई हों।

शीतल स्वेद—त्वचा को पोंछकर, शरीर को गर्म रखने का पूरा ध्यान रखना चाहिए।

हृदय को ठीक रखने के लिए—क्यँफीन अथवा स्ट्रिकनीन सल्फेट का इंजेक्शन देना चाहिए। गर्म चाय, कॉफी आदि को मुख से अथवा गुदा मार्ग से देना चाहिए।

श्वास केन्द्र तथा हृदय की उत्तेजना के लिए पाँच से पन्द्रह सी० सी० की मात्रा में कोरामिन शिरा द्वारा अथवा पेशी में इंजेक्शन के द्वारा देना चाहिए। लोबेलीन का इंजेक्शन भी लाभ करता है। पाँच से अधिक तक प्रति- कृत्रिम श्वास क्रिया भी की जानी चाहिए। -तो रोगी अत्यधिक मूर्च्छा अथवा तन्द्रा में हो तो विद्युत प्रवाह से उत्तेजना देनी चाहिए। तीव्र मूर्च्छा नीलिमा श्वास की कृच्छ्रता आदि अन्तिम दशाओं के लक्षण उत्पन्न हो गये हों तो शिरा-वेध द्वारा रक्त मोक्षण किया जाना चाहिए और उतनी ही मा[illegible] मे पच्चीस प्रतिशत ग्लूकोज का द्रव अथवा सामान्य लवण विलयन शिरा [illegible]ा देना चाहिए। ब्लड प्रेशर को ठीक रखने के लिए एड्रिनलिन क्लोराइ प्रयोग करना चाहिए।

मद्य विष—मद्य (Alcohol) को अति मात्रा में, विधिहीनता से प्रयोग किया जाय तो वही विष के समान क्रिया करती है।

लक्षण—चेहरा लाल तमतमाया-सा हो जाता है। मनोविभ्रम हो जाता है और अबद्ध भाषण पर बातचीत करना पाया जाता है। नेत्र के तारे विस्फारित हो जाते हैं। रोगी प्रलाप करता है। शरीर की माँसपेशियाँ शिथिल तथा नियन्त्रण से बाहर हो जाती हैं। गमनागमन क्रिया में उसके पैर उखड़ने लगते हैं। परावर्तन पर हो जाता हो तो पूर्ण संज्ञाहीनता उत्पन्न हो जाती है। श्वास-प्रश्वास में मद्य की तीव्र गन्ध आने लगती है। शरीर का तापमान साधारण से भी कम हो जाता है। त्वचा स्वेदरक्त और शीतल हो जाती है। श्वास का अवरोध होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। कभी-कभी प्रारम्भिक लक्षणों के अनन्तर हृल्लास तथा वमन होकर रोगी की दशा में सुधार हो जाता है। अवस्था के सुधार में ये ही लक्षण माने गये हैं। मृत्यु से पूर्व कभी-कभी आक्षेपक भी होने लगते हैं। न्यूमोनिया अथवा फुफ्फुस में शोथ के उपद्रव होकर भी मृत्यु होने की सम्भावना पाई जाती है। इसकी घातक मात्रा यदि शुद्ध अलकोहल है तो एक छटांक से लेकर ढाई छटांक है और मारक काल बारह घण्टे से लेकर चौबीस घण्टे तक है।

चिकित्सा—रोगी के मुखमण्डल पर उष्ण अथवा शीतल जल का सिंचन करके उसे जाग्रत रखना चाहिए। यथा समय शीघ्र ही वमन कराकर अथवा आमाशय का प्रक्षालन करके अवशोषित विष को निकाल देना चाहिए। नाड़ी दौर्बल्य, अवसाद श्वासावरोध आदि की सामान्य लाक्षणिक चिकित्सा की जानी चाहिए।

क्लोरोफार्म—यह एक वर्ण रहित उड़नशील तरल पदार्थ होता है। इसका स्वाद कुछ मधुर तथा यह दाहकारक होता है। इसमें से एक विशेष प्रकार की गन्ध आती है : यह मद्य, ईथर और उड़नशील तेलों मे मिल जाता है। और जल के दो सौ घन से० मी० के संग में घुल-मिल जाता है।

लक्षण—क्लोरोफार्म के विषैले प्रभाव को दो रूपों में विभक्त किया गया है। (क) क्लोरोफार्म के सूँघने से, (ख) इसके पी लेने से।

(क) वाष्प के सूँघने से उत्पन्न होने वाले लक्षण—अभ्यास की सुविधा के लिए, तीन अवस्था मे विभक्त किए गये हैं।

(अ) उत्तेजना की अवस्था, (ब) संज्ञा नाश की अवस्था, (स) मस्तिष्क के कार्यनाश की अवस्था।

उत्तेजना की अवस्था—थोड़ा-सा क्लोरोफार्म सूँघते ही रोगी को गले में क्षोभ-सा प्रतीत होता है। नेत्रों में तथा शरीर में धीरे-धीरे उष्णता-सी प्रतीत होने लगती है। त्वचा में कुछ चींटी के समान अथवा रेंगने की क्रिया

प्रतीत होने लगती है दम घुटने लगता है तथा मानसिक विभ्रम होने लगता है। इस दशा में रोगी हँसता-रोता, चिल्लाता अथवा गालियाँ देने लगता है। साथ ही अपने हाथ पैरो को भी झाड़ता रहता है। इसलिए उस रोगी को बाँध कर रखना पड़ता है। नाड़ी तथा श्वास-प्रश्वास की गति में वृद्धि हो जाती है नेत्रों की कनीनिकाएँ पहले फैली हुई होती हैं। परन्तु अन्त में अपनी प्राकृतिक अवस्था में भी दिखाई देने लगती हैं। इस अवस्था की पूर्ति होने में प्रायः चार मिनट का समय लग जाता है।

(ब) संज्ञानाश की अवस्था—इस दशा में शल्य-कर्म किया जाता है। शरीर की पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं। सभी परावर्तन नष्ट हो जाते हैं। श्वास-प्रश्वास और हृदय की गति स्वाभाविक अथवा उससे कुछ कम हो जाती है। इस दशा में वाष्पों का सुँघाना बन्द किया जाने पर भी यह दशा बीस से लेकर चालीस मिनट तक अथवा इससे अधिक समय तक बनी रहती है। प्रायः रोगी पुनः होश में नहीं आता और वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

(स) मस्तिष्क कार्यनाश की अवस्था—वाष्पों को सुँघाकर दूसरी अवस्था के आगे चलते रहने से यह अवस्था उत्पन्न हो जाती है। शरीर की पेशियाँ पूर्णतया शिथिल हो जाती हैं। मल तथा मूत्र का अनैच्छिक विसर्जन होता रहता है। शरीर तथा ओष्ठों पर नीलिमा हो जाती है। त्वचा पर अधिक शीतल स्वेद भी आने लगता है। श्वास-प्रश्वास मन्द और अनियमित तथा नाड़ी भी दुर्बल तथा वह भी अनियमित चलने लगती है। नेत्रों की कनीनिका विस्फारित रहती है। हृदय की क्रिया अथवा श्वास-प्रश्वास रुकने से प्रायः मृत्यु हो जाती है। इन्हीं कारणों से मृत्यु उपयुक्त तीनों में से किसी भी अवस्था में हो सकती है।

(द) क्लोरोफार्म पीने से होने वाले लक्षण—मुख, गला और आमाशय में क्षोभ उत्पन्न होकर तीव्र दाह होने लगता है। इसके अनन्तर वमन और दस्त भी होने लगते हैं वमन में क्लोरोफार्म की गन्ध रहती है और रक्त भी हो सकता है। यह सब होते-होते प्रायः दस मिनट के भीतर रोगी संज्ञाहीय तथा मूर्च्छित-सा प्रतीत होता है नेत्रों के नीचे विस्फारित, श्वास मन्द, नाड़ी दुर्बल, द्रुतगति तथा अनियमित और नाक मे शीतल स्वेद होता है। हृदन की गति तथा श्वास बन्द होने से मृत्यु होती है। फुफ्फुस शोथ अथवा आमाशयन्तर कला शोथ क परिणामस्वरूप भी हो जाती है। रोगी के बचने पर यकृत दाल्युदर रोग साथ-साथ कामकला भी हो जाता है।

चिकित्सा—वाष्पों के सूँघने से विषैले लक्षण होने पर सुँघाना तत्काल बन्द करना तथा जिह्वा को सन्दंश (चीमटी) अथवा नीचे के जबड़े को आगे बढ़ाकर खींच लेना चाहिए। श्वास मार्ग को साफ रखना चाहिए और कृत्रिम श्वास क्रिया भी चलती रहती चाहिए। श्वास केन्द्र की उत्तेजना के लिए विद्युत का प्रयोग करना तथा ऑक्सीजन सुँघाना आवश्यक है। हृदय की उत्तेजना के लिए स्ट्रिकनीन अथवा कैफोन का प्रयोग किया जाना चाहिए। रैगड्रिनैलिन का सीधे हृत्पेशी में इंजेक्शन देना अथवा अन्त में हृत्पेशी का संकोच प्रारम्भ करने के लिए महाप्राचीरा का भेदन करके उसके द्वारा हाथ से हृत्पेशी का पीड़न करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त विष-चिकित्सा के सामान्य सूत्रों के अनुसार चिकित्सा की जानी चाहिए।

पेट्रोल और मिट्टी तेल विष—कोई व्यक्ति यदि मिट्टी का तेल अथवा पेट्रोल पी ले तो उसमें ये लक्षण पाये जाते हैं—मुख, गला और आमाशय में दाह युक्त पीड़ा होती है। प्रश्वास में तेल की गन्ध भी आती है। प्यास वहुत लगती है। शिरोभ्रम होता है। शिरो गौरव भी उत्पन्न हो जाता है। मुँह का वर्ण पीला अथवा नीला पड़ जाता है। वमन होती है। उसमें से तेल की गंध भी आती है। तन्द्रा प्रतीत होती है। मूर्च्छा उत्पन्न हो जाती है। हृदय का अवसाद होकर मृत्यु हो जाती है। मिट्टी का तेल पीने से विष रक्त होने की दुर्घटनाएँ विशेषतया बालकों में अधिक पाई जाती हैं। पानी के अनन्तर आमाशय से अथवा आन्त्र से शोषित विष का प्रभाव विशेषतया नाड़ी संस्थान पर विशेष होता है। परन्तु पीते समय, वमन करते समय अथवा चिकित्सा में, आमाशय का प्रक्षालन करते समय मिट्टी के तेल का कुछ भाग श्वास मार्ग में तथा आगे श्वास-नलिकाओं के अन्तिम भागों से जाकर सभी भागों में क्षोभ तथा शोथ भी उत्पन्न हो जाता है। श्वास-नलिकाओं के अंतिम भागों की दीवार फटकर तेल का प्रभाव फुफ्फुसों पर भी हो जाता है और बालकों में तो उपद्रव के स्वरूप ब्रांको-न्यूमोनिया फुपफुसावरण शोथ, हृदयावरण शोथ, हृदयावरण के नीचे वायु का भर जाना, फुफ्फुसावरण में वायु अथवा फुफ्फुसों के बाहर अथवा वक्षगुहा में वायु का भरना आदि उपद्रव पाए जाते हैं। नवयुवक व्यक्ति में तेल के वाष्प को सूँघने से, शिरःशूल, चक्कर आना, हृल्लास, पित्त विभ्रम, अत्यन्त थकावट, तन्द्रा तथा मूर्च्छा आदि उपद्रव होते हैं। हृदय क्रिया का अवरोध अथवा श्वासावरोध मृत्यु होने से

पूर्व शरीर में नीलिमा तथा आलेप भी होते हैं। इसकी घातक मात्रा आधी छटाँक है। कारक काल सात घण्टे का माना गया है।

चिकित्सा—यदि विष पिया हो तो दमनकारी द्रव्यों के द्वारा वमन कराना चाहिए। गरम जल से आमाशय का प्रक्षालन किया जाना चाहिए। उत्तेजक औषधियाँ देनी चाहिए। आवश्यकता के अनुसार कृत्रिम श्वास प्रक्रिया भी करनी चाहिए। श्वास मार्ग में तेल के पहुँचने पर जो उपद्रव विशेषकर बालकों में हुआ करते हैं, उनको देखकर आमाशय-प्रक्षालन, बालकों के लिए जहाँ तक सम्भव हो, नहीं करना चाहिए। करने की आवश्यकता आ ही पड़े तो अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए ताकि श्वास मार्ग में तेल न पहुँच सके। पेट्रोल की वाष्प को सूँघने से उत्पन्न विष में व्यक्ति को खुली वायु में रखकर कृत्रिम श्वास क्रिया करनी चाहिए ऑक्सीजन सुँघाकर अथवा अन्य लाक्षणिक चिकित्सा करें। पेट्रोल के पीने से उत्पन्न विष में प्रारम्भ में आमाशय का प्रक्षालन करना हो तो पानी में थोड़ा सोड़ा बाई कार्ब डालकर प्रक्षालन करना ठीक होता है। अनन्तर कुछ मात्रा में जैतून का तेल आमाशय में डालना चाहिए। श्वास मार्ग के उपद्रवों की चिकित्सा के लिए अथवा प्रतिषेधक रूप में भी पेन्सिलिन इंजेक्शन तथा ऑक्सीजन का प्रयोग करना हितकारक माना गया है।

धतूरा—धतूरे के बीज तथा पत्ते बहुत विषैले होते हैं। चोरी, डाका बलात्कार, व्यभिचार आदि कुकृत्य करने की इच्छा वाले दुराचारी लोग इसका प्रयोग दूसरों पर किया करते हैं। यह धतूरा दो प्रकार का पाया जाता है—(क) श्वेत धतूरा (ख) कृष्ण धत्तूरा।

धतूरे के सम्पूर्ण अंग में तथा विशेषकर फल तथा बीजों में जो विषैला घटक होता है। उसको धतूरिन कहते हैं। यह रासायनिक क्रिया की दृष्टि से एट्रोपीन अथवा हायोसायमिन (Hyoscyamine) के समान होता है।

लक्षण—फल या बीजों को कल्क अथवा शर्बत के रूप में लेने से लगभग आधा घण्टे में ही मुख, गला तथा आमाशय में तीव्र शोथ तथा दाह होता है। तीव्र तृष्णा लगती है। वमन होता है। आमाशय में पीड़ा होती है। रोगी बोलने में असमर्थ हो जाता है। रोगी का चेहरा और नेत्र लाल हो जाते हैं। त्वचा शुष्क होकर शरीर का तापक्रम बढ़ता है। चक्कर आते हैं। पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं। चलने की सामर्थ्य नहीं रहती। नेत्रों की कनीनिकाएँ विस्फारित हो जाती हैं। रोगी एक वस्तु के स्थान पर दो-दो वस्तुएँ देखने लगता

है। कभी कभी शरीर का तापक्रम अत्यधिक बढ़ जाता है। नाड़ी प्रारम्भ में अच्छी रहती है। किन्तु आगे चलकर दुर्बल और अनियमित हो जाती है। रोगी प्रलाप करने लगता है। कभी-कभी धीरे-धीरे ऊटपटाँग बातें करने लगता है तथा कभी-कभी चीखने, चिल्लाने और भागने की क्रियाएँ करने लगता है। बिस्तर अथवा शरीर के कपड़े नोंचना प्रारम्भ कर देता है रूप अथवा शब्द के अभाव में कोई पदार्थ देखता अथवा सुनता है। योग्य चिकित्सा न होने पर तन्द्रा, प्रलाप आदि की अवस्था पूर्ण मूर्च्छा में बदल जाती है और आक्षेपक होकर मृत्यु हो जाती है। हृदय के कार्य का अवरोध अथवा श्वास का अवरोध होकर मृत्यु हो जाती है। इसकी घातक मात्रा बीज के चूर्णक रूप में पाँच रत्ती से लेकर साढ़े सात रत्ती तक है। इसका मारक काल बारह घण्टे से लेकर चौबीस घण्टे तक होता है।

चिकित्सा—वामक औषधियों का प्रयोग करके पहले वमन करा लेना चाहिए। पोटेशियम परमैंगनेट से अथवा टैनिक एसिड द्रव में आमाशय को धो लेना चाहिए। प्रतिविष के रूप में पायलोकारपीन नाइट्रेट का इजेक्शन ग्रेन $\frac{1}{10}$ से $\frac{1}{3}$ की मात्रा मे लगाना चाहिए। यदि पीड़ा अधिक हो तो मार्फिया का इंजेक्शन लगाना चाहिए। उत्तेजना के लिए कार्डियाजोल का प्रयोग किया जा सकता है। शरीर के तापमान की रक्षा के लिए गरम जल से भरी हुई बोतल से सेंक करना चाहिए। श्वासावरोध की अवस्था में कृत्रिम श्वास प्रक्रिया भी की जा सकती है। प्रलाप और बेचैनी को दूर करने के लिए क्लोरोफार्म भी सुंघाया जा सकता है। मुख पर शीतल जल को मारने से शान्ति मिलती है। गरम पानी से आस्थापन बस्ति का प्रयोग करने से विष के निर्हरण में सहायता मिलती है तथा रोगी को कुछ उत्तेजना भी प्राप्त होती है।

भांग विष भांग का प्रयोग कई प्रकार से किया जाता है। औषधि के रूप में इसकी पत्तियाँ होती हैं। शेष अंग भी किसी-किसी रूप में, थोड़े-बहुत प्रयुक्त होते हैं। भांग के नाम प्रसिद्ध और व्यवहार में आने वाली वस्तु केवल पत्ते ही होते हैं। इसके पौधे के फूलों को तोड़कर सुखाकर जो वस्तु बनकर तैयार होती है. उसका नाम गांजा है। इसको प्रायः तम्बाकू में मिलाकर साधु लोग पीते हैं। इसके पत्तों और शाखाओं से जो गोंद जैसा पदार्थ निकाला जाता है, उसे सुलफा अथवा चरस कहते हैं। यह तम्बाकू में मिलाकर पीने के काम आता है। इसी प्रकार भांग की पत्तियों को सुखाकर चूर्ण करके, उसमें

चीनी, दूध, घी, मात्रा आदि मिलाकर एक प्रकार का अवलेह जैसा बना लिया जाता है। इसको माजूम कहते हैं। इसको सुखाकर कई लोग बर्फी की भाँति प्रयोग करते हैं। भांग में एक प्रकार का गोंद—केनाबिनोन, उड़नशील तेल, वसा, मोम ये घटक पाए जाते हैं। इसका मुख्य विष अलकलाइड केनाबिन है। भांग के विष की दो दशाएँ भी हैं। (क) उत्तेजना की अवस्था, (ख) निद्रावस्था।

(क) उत्तेजना की दशा में—रोगी के मन में कई प्रकार की विचार-धाराएँ उत्पन्न होती रहती हैं। व्यक्ति प्रायः हँसता ही रहता है। विषय भोग अथवा मैथुन की बहुत इच्छा होती है। अधिक समय तक रोना, गाना, हँसना चिल्लाना, बकवास करना आदि होते रहते हैं। कभी-कभी रोगी केवल प्रलाप ही करता रहता है।

(ख) निन्द्रावस्था—इसमें आँखों की कनीनिकाएँ विस्फारित हो जाती है। शरीर के सम्पूर्ण भाग में अथवा किसी एक भाग में भारीपन तथा संज्ञाहीनता उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी सम्पूर्ण अंगों में अवसाद की अवस्था भी उत्पन्न हो जाती है। रोगी को निन्द्रा आ जाती है। जाग्रत होने पर रोगी स्वस्थ हो जाता है। कदाचित् श्वासावरोध होकर मृत्यु हो जाती है। इसकी मारक मात्रा—ऐक्सट्रेक्ट्र—ढाई रत्ती से लेकर साढ़े तीन रत्ती तक है। तरल विष द्रव्य के रूप में साढ़े सात बूँदें मारक होती हैं। इसका मारक काल बारह घण्टे से लेकर चौबीस घण्टे तक है। इसकी चिकित्सा में अमाशय का प्रक्षालन किया जाता है अथवा वामक औषधियों के द्वारा वमन करा देना चाहिए। विरेचक द्रव्यों का प्रयोग करके विरेचन भी करना चाहिए। उत्तेजक औषधियाँ देनी चाहिए तला अन्य लाक्षणिक चिकित्सा भी करनी चाहिए।

कुचला विष—इसका वृक्ष होता है। इसके पत्र, फल, बीज, छाल आदि सभी अंग विषैले होते हैं। किन्तु औषधि के लिए प्रायः इसके बीज ही ग्रहण किए जाते हैं। इन बीजों में कोई गन्ध नहीं होती। इसका स्वाद बहुत ही कड़वा होता है। इसका प्रयोग होने पर मुख का स्वाद बहुत ही कड़वा हो जाता है गले में संकोच का-सा अनुभव होता है। माँसपेशियों में सिकुड़न हो जाती है। शरीर धनुष की भाँति वक्र हो जाता है। केवल सिर के पीछे का भाग तथा एड़ी भूमि पर रहते हैं। इस विष की प्रक्रिया सुषुम्ना पर होती है, अतः शरीर की सभी पेशियों में एक साथ आक्षेपण प्रारम्भ हो जाते हैं। संकोच के मध्य में प्रारम्भ में, पेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं। किन्तु बाद

में पेशियों में कुछ संकोच बन जाता है । शरीर कमान की तरह मुड़ जाता है संकोच के समय शरीर कभी-कभी उदर की ओर अथवा पार्श्व में कमा की भाँति मुड़ जाता है । आँखें बाहर की ओर निकल आती हैं । नेत्रों क कनीनिकाएँ विस्फारित हो जाती हैं । ऊर्ध्व हनु और अधोहनु दोनों ही इत दृढ़ होकर आपस में जुड़ जाते हैं कि घटना कठिन होता है । कभी-कभी मु से झाग भी निकलते देखे गए हैं । कभी-कभी रक्त भी निकलता है । संको के समय मुख पर कालापन आ जाता है । श्वास-प्रश्वास की पेशियों औ महाप्रचीरा में संकोच होने से आमाशय के पूर्व भाग में तीव्र पीड़ा होती तथा श्वासकृच्छता भी हो जाती है मुँह की पेशियों के संकोच के कार तथा दोनों ही हनुओं के जुड़ जाने के कारण मुखमण्डल एक विशेष प्रकार संकुचित और चिन्तातुर दिखलाई पड़ता है । कुछ स्पर्श तीव्र प्रकाश, तीव्र श से भी पेशियों में अचानक संकोच पाये जाते हैं । आक्षेप काल आधा मिनट लेकर तीस मिनट तक होता है आक्षेप तव तक होते रहते हैं जब तक रोगी की मृत्यु अथवा पूर्ण रूप से नीरोग न हो जाए । श्वास का अवरो होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है । इसकी मारक मात्रा चूर्ण रूप में पन्द्र रत्ती तक है इसका मारक काल पाँच मिनट से लेकर चार घण्टे तक है ।

कुचला और धनुर्वात का विश्लेषण

कुचला	धनुर्वात
(क) विष सेवन के बाद ही लक्षण स्पष्ट होने लगते हैं ।	(क) प्रायः शरीर पर आघात हो का विवरण पहले मिलता है लक्षण बाद में स्पष्ट होते हैं
(ख) लक्षण अचानक प्रारम्भ होते हैं ।	(ख) लक्षण शनैः-शनैः आरम्भ होते हैं
(ग) मुँह तथा गर्दन की मांसपेशियों पर अन्त से प्रभाव होता है । इस लिए जबड़े अन्त मे जकड़ते हैं और मुँह नहीं खुलता । शरीर की सभी पेशियों में एक साथ संकोच प्रारम्भ होते हैं और अन्त में कभी-कभी हनुस्तम्भ होता है ।	(ग) मुँह और गर्दन की पेशिय पहले प्रभावित होती हैं । इस लिए प्रारम्भ में ही जबड़े जक जाते हैं और मुख बन्द हो जात है । शरीर की अन्य पेशियों म क्रमशः आक्षेप होने लगते हैं ।

कुचला	धनुर्वात
(घ) आक्षेपों के बीच के समय में पेशियाँ पूर्णरूप से शिथिल हो जाती हैं।	(घ) आक्षेपों के बीच के समय में पेशियाँ पूर्ण रूप से शिथिल नहीं होतीं और थोड़ी-बहुत संकुचित अवस्था में रहती है।
(ङ) लक्षणों की उत्तरोत्तर वृद्धि बहुत तीव्रता के साथ होती है और रोगी की मृत्यु शीघ्र हो जाती है अथवा रोगी फिर स्वस्थ हो जाता है।	(ङ) रोग का क्रम मन्द होता है। रोगी की मृत्यु चौबीस घण्टों में भी कभी नहीं होती। अच्छा होने में अथवा मृत्यु होने में कुछ दिन अवश्य लगते हैं।
(च) वमन तथा दस्त किए हुए पदार्थों का रासायनिक परीक्षण करने पर स्ट्रिकनीन अथवा कुचला विष मालूम किया जा सकता है।	(च) व्रण के स्राव का सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा परीक्षण करने पर अथवा उसकी 'जीवाणु सम्वर्धन क्रिया' करने पर धनुर्वात के जीवाणु पाए जाते हैं। चिकित्सा करने के लिए दोनों का अन्तर जान लेना परम आवश्यक है।

चिकित्सा—सर्वप्रथम वमनकारक द्रव्यों के द्वारा वमन करा लेना चाहिए। इसके लिए एपोमार्फीन हाइड्रोक्लोर का इन्जेक्शन लगाया जा सकता है। $\frac{१}{१०}$ से लेकर $\frac{१}{५}$ ग्रेन तक एपोमार्फीन हाइड्रोक्लोर से वमन कराने से अनेक वार उस रोगी से आगे संकोच की दशा उत्पन्न नहीं होती तथा रोगी को शान्ति मिलती है। टेनिकाम्ल के आमाशय को धो डालना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो क्लोरोफार्म सुँघाकर प्रक्षालन किया जाना चाहिए। कुचले के विष को निष्क्रिय करने के लिए टेनिकाम्ल का प्रयोग करना चाहिए। आक्षेप को रोकने के लिए क्लोरोफार्म का प्रयोग करना चाहिए। फिनोबार्विटल सोडियम अथवा तत्सदृश अन्य बार्विटोन औषधि का शिरा द्वारा प्रयोग करने से आक्षेपक को रोकने में सहायता मिलती है। आक्षेप को रोकने के लिए निद्रांलु औषधि, शांतता तथा अँधेरा कमरा आदि का प्रबन्ध आवश्यक है। निद्रा लाने के लिए पोटेशियम ब्रोमाइड और क्लोरल हाइड्रेट का प्रयोग

करना चाहिए। क्लोरल हाइड्रेट तीस ग्रेन की मात्रा में गुदा द्वारा अथवा पाँच ग्रेन की मात्रा में त्वचा के नीचे इजेक्शन देना चाहिए। आवश्यकतानुसार ऑक्सीजन अवस्था तथा कृत्रिम श्वास क्रिया का प्रयोग भी किया जा सकता है।

तम्बाकू विष—इसके दो फुट तक के क्षुप होते हैं इसको मिलाकर पीने के के काम में लिया जाता है। इस तम्बाकू के विष को खा लेने पर जी मिचलाता है। वमन हो जाती है। प्रायः कभी-कभी अतिसार भी हो जाता है। त्वचा स्वेदयुक्त तथा शीतल होती है। नाड़ी दुर्बल, मन्द तथा क्रियाहीन हो जाती है। आँखों की कनीनिकाएँ प्रारम्भ में सिकुड़ जाती हैं परन्तु बाद में विस्फारित हो जाती हैं। चक्कर आने लगते हैं। मांसपेशियों में दुर्बलता बढ़ जाती है अन्त में मूर्च्छा उत्पन्न हो जाती है। मृत्यु से पहले प्रायः प्रतशम तथा आक्षेपक होने लगते हैं। हृदय का अवसाद होकर रोगी की मृत्यु होती है। इसकी घातक मात्रा चूर्ण के रूप में तीस रत्ती से लेकर साठ रत्ती तक है और मारक काल एक घण्टा से लेकर कुछ ही समय तक है। इसका निकोटीन तीन मिनट से लेकर पाँच मिनट तक मार देता है।

चिकित्सा—सर्वप्रथम वमन-द्रवों का प्रयोग करके वमन करा देना चाहिए। टेनीकाम्ल से अथवा पोटेशियम साइनाइड के साथ आयोडीन का पानी में घोल बनाकर आमाशय को धो डालना चाहिए। उत्तेजना के लिए स्ट्रिकनीन आदि के इंजेक्शन लगाना चाहिए। आवश्यकता के अनुसार कृत्रिम श्वास प्रक्रिया तथा ऑक्सीजन की व्यवस्था भी कर लेनी चाहिए।

कनेर विष—यह पीला, श्वेत, लाल कई प्रकार का होता है, इसको आयुर्वेद में अश्व मार कहते हैं। आयुर्वेद में इसको औषधि के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यदि किसी व्यक्ति ने कनेर खा लिया हो अथवा निगल लिया हो तो उसके बोलने की शक्ति क्षीण अथवा नष्ट हो जाती है। उदर में शूल और मुख से झागदार बहुत अधिक लार का स्राव होता रहता है। वमन भी होती रहती है। अतिसार भी हो जाता है। नाड़ी क्षीण हो जाती है। श्वास की क्रिया जल्दी-जल्दी होने लगती है। नेत्रों के तारे फैल जाते हैं। मांसपेशियों से आक्षेपण होने लगता है। तन्द्रा होती रहती है। और अन्त में मूर्च्छा होकर मृत्यु हो जाती है। पीले कनेर का विष अधिक तीव्र होता है। इससे मुख में दाह होती है। जीभ में झनझनाहट प्रतीत होती है। वमन होती है। नेत्रों की कनीनिकाएँ फैल जाती हैं। नाड़ी की गति मन्द तथा दुर्बल

हो जाती है। शेष लक्षण पूर्ववत् ही होते हैं। इसकी घातक मात्रा यदि श्वेत कनेर है तो सवा तोला और यदि पीत कनेर है तो भी मात्रा सवा तोले ही मानी गई है। श्वेत कनेर के बीजों की मात्रा केवल तीन बीज की मारक मात्रा आठ से लेकर दस तक मानी गई है। दोनों प्रकार के कनेरों की मात्रा के मारक काल का कोई निश्चय नहीं है।

चिकित्सा—जो विष शुष्क नहीं है, उसके उत्सर्ग के लिए वमन कराना उचित है और पोटैशियम परमैंगनेट के घोल से अमाशय की धुलाई होनी चाहिए तथा अन्य विष चिकित्साएँ की जानी चाहिए।

वत्सनाभ विष—वत्सनाभ विष की जड़ें सुखाकर काम में लाई जाती हैं। इसकी जड़ें चार सेण्टीमीटर से लेकर दस सेण्टीमीटर तक लम्बी होती हैं। एक भाग अथवा सिरा इसका मोटा होता है और उसकी चौडाई एक सेण्टीमीटर से लेकर तीन सेण्टीमीटर तक होती है। यह गहरा भूरे रग का होता है। इसके भीतर से एक लसदार द्रव्य निकलता रहता है। इस वत्सनाभ में एक विशेष प्रकार की कुछ-कुछ गन्ध भी आती रहती है। इसमें कुछ स्वाद भी होता है। यह जीभ में झनझनाहट-सी उत्पन्न करती है तथा अवयव सुन्नता का भी उपद्रव कर देती है। इसके खाने पर मुँह, होठ, जीभ, कंठ इत्यादि सम्पर्क में लाने वाले सभी भागों में झनझनाहट, जलन और शून्यता उत्पन्न हो जाती है। लाला स्राव बहुत अधिक होता है। जी मिचलाता है। वमन भी होने लगती है। उदरशूल उत्पन्न हो जाता है। प्रायः दस्त कभी भी साफ नहीं होते हैं। त्वचा स्वेदयुक्त तथा शीतल हो जाती है। सम्पूर्ण शरीर में झनझनाहट होती रहती है, उससे रोगी को बहुत बेचैनी होती है। नाड़ी क्रमहीन, मन्द और दुर्बल हो जाती है। नेत्रों की कनीनिकाएँ सिकुड़ जाती हैं। कभी-कभी विस्फारित भी हो जाती हैं। श्वास-प्रश्वास की क्रिया बहुत कठिनाई से होती है। श्वास और प्रश्वास की गति दुर्बल हो जाती है। त्वचा में कपकँपी झनझनाहट तथा अवसुन्नता पाई जाती है रोगी को अधिक बेचैनी होती रहती है। हर समय उसका चेहरा उतरा हुआ रहता है। कभी-कभी आक्षेपण भी होते रहते हैं। रोगी की मानसिक स्थिति मृत्यु के आने तक सही रहती है। कुछ-कुछ चेतनता उसमें अवश्य बनी रहती है। अन्त में श्वास अवरोध होकर अथवा कभी-कभी हृदय का अवसाद होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। उसकी घातक मात्रा जड़ के चूर्ण के रूप में

चार माशा तक है और इसका मारक काल आधा घण्टा से लेकर चार घण्टा तक का है।

चिकित्सा—इस विष के रोगी का आमाशय तत्काल ही धो डालना चाहिए। इस कार्य के लिए टेनिकाम्ल का एक प्रतिशत घोल अथवा एनीमल चारकोल का जलीय विलयन प्रयोग में लाना होता है। पोटेशियम आयोडाइड के साथ-साथ आयोडीन का पानी में घोल बनाकर उससे भी आमाशय प्रक्षालन किया जाना चाहिए। शारीरिक ऊष्मा को रक्षा के लिए तैलाभ्यङ्ग अथवा सेंक किया जाना चाहिए। आवश्यकतानुसार कृत्रिम श्वास प्रक्रिया और ऑक्सीजन की व्यवस्था कर लेनी चाहिए। एट्रापीन का इंजेक्शन $\frac{1}{20}$ रत्ती की मात्रा में प्रयुक्त किया जाना चाहिए और आवश्यकता आ पड़े तो कुछ समय के बाद फिर इंजेक्शन लगा देना चाहिए। उत्तेजक औषधियां जैसे कि मद्य-डिजीटेलिस, स्ट्रिकनीन आदि का प्रयोग किया जाना चाहिए।

प्रश्न—विष की ओज से विपरीतता सिद्ध कीजिए और विष के उपक्रम लिखिए। विष के वर्षा ऋतु में प्रकोप और शरद में शमन के क्या कारण हैं?

ओजस वैपरीत्य—सभी प्रकार के विषों को ओजस से विपरीत गुण व धर्म वाला माना जाता है। ओजस के द्वारा ही सम्पूर्ण प्राणी सन्तर्पित होकर क्रियाशील तथा जीवित भी रहते हैं। ओजस के विना प्राणी का जीवन कदापि सम्भव नहीं हो सकता। यह ओजस ही प्रारम्भ में गर्भ द्वार बनता है और इसके द्वारा ही शुक्र तथा शोणित का मिश्रण होकर प्राणी का प्रादुर्भाव होता है। यह गर्भ के रस, रूप प्रथम धातु का भी सार अथवा प्रसाद भूत पदार्थ माना जाता है तथा निर्मित होकर सर्वप्रथम यही हृदय में प्रविष्ट होता है। इसके अनन्तर यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है। इसके विनिष्ट हो जाने से प्राणी की मृत्यु अवश्य ही हो जाती है यह हृदय में रहता हुआ शरीर को धारण पालन करता है। यह रस धातु का स्नेह भाग है। इसी में प्राणों की प्रतिष्ठा होती है। विषों की भाँति ही विपरीत धर्म वाले ओजस के भी गुण हैं। जैसे गुरु, शीत, मृदु, श्लक्ष्ण, सान्द्र, मधुर, स्थिर, प्रसाद, पिच्छिल तथा स्निग्ध। इन विपरीत गुणों के कारण ही ओजस प्राणियों के जीवन का मौलिक आधार होता है तथा विष मृत्यु को देने वाला है। यद्यपि मद्य को अन्न के समान माना गया है, किन्तु वह भी एक विष है क्योंकि मद्यों में जो गुण हैं वे ही तो विषों में भी हैं।

अतः यहाँ पर ओजस-मद्य-विष के गुणों की तुलना लिखी जा रही है।

ओजस	मद्य	विष
गुरु	लघु	लघु
स्निग्ध	रुक्ष	रुक्ष
शीत	उष्ण	उष्ण
मृदु	तीक्ष्ण	तीक्ष्ण
सान्द्र	सूक्ष्म	सूक्ष्म
प्रसाद	आशुगामी	आशुकारी
स्थिर	व्यवायी	व्यवायी
मधुर	अम्ल	अव्यक्त रस
श्लक्ष्ण	विकासी	विकासी
पिच्छिल	विशद	विशद

विष के चौबीस उपक्रम—भगवान चरक ने साधारण, विष चिकित्सा के साधनीभूत चौबीस उपक्रम बतलाए हैं; जैसे—मन्त्र, अरिष्टा, उत्कर्तन, निष्पीड़न, आचूषण, दहन, परिषेक, अवगाहन, रक्तमोक्षण, वमन, विरेचन, उपधान, हृदयावरण, अञ्जन, अनस्य, धूप, अवलेह, शमन, प्रतिसारण, प्रतिविष, संज्ञास्थापन और प्रलेप। इन उपायों में विष मृत व्यक्ति को निश्चय ही सजीवन प्रदान किया जा सकता है। यह तथ्यपूर्ण बात है।

विष का वर्षा ऋतु में विशेष प्रकोप तथा शरद ऋतु में उपशम का कारण—शास्त्रकारों ने विष की उत्पत्ति जल से बतलाई है अतः विष को जलयेरिन कहा गया है। अतएव वर्षा ऋतु में विष क्लिन्न होकर प्रसारित होता है और अधिक उत्क्रुष्ट शक्ति वाला बन जाता है। इसी कारण से दूषी विष.र्त रोगी वर्षा काल में प्रायः अधिक मात्रा में समाप्त पाए जाते हैं। इसकी तुलना पिण्डी भूत गुड़ से दी गई है। जिस प्रकार से पिण्डित गुड़ वर्षा काल में गीला हो जाता है और फिर धीरे-धीरे फैल जाता है उसी प्रकार से विष भी प्रसरित होता है और शक्तिमान हो जाता है। जब वर्षा काल की समाप्ति हो जाती है और आकाश में मेघों का अभाव हो जाता है, तब शरद् ऋतु का आरम्भ माना जाता है। उस समय विष का वीर्य मन्द पड़ जाता है। विद्वानों का मत है कि इसका कारण—अगस्त्य नक्षत्र का उदय होना है।

उसके प्रभाव से विषों में हीनवीर्यता आ जाती है। यह शरद् काल में ही होता है।

प्रश्न—स्थावर विष के वेगों का वर्णन कीजिए और चिकित्सा लिखिए।

स्थावर विष वेगों का वर्णन—

प्रथम विष वेग में—जीभ काली और अकड़ी हुई होती है। इसके साथ ही मूर्च्छा तथा श्वास खिचने लगता है।

द्वितीय वेग में—कम्पन, थकावट, जलन, गले में दर्द आदि लक्षण पाये जाते हैं। आमाशय में पहुँचकर विष हृदय को पीड़ित करने लगता है।

तृतीय विष वेग में—आमाशय में बहुत अधिक पीड़ा तया तालु का सूखना, नेत्रों का कुत्सित वर्ण वाला हो जाना, हरित वर्ण शोथयुक्त होना पाया जाता है।

चतुर्थ स्थावर विष वेग में—विष पक्वाशय में पहुँचकर, पक्वाशय तथा आमाशय में व्यथा को उत्पन्न कर देता है। कास, हिचकी, पेट में गुड़गुड़ाहट का शब्द प्रारम्भ हो जाता है। सिर बहुत ही भारी हो जाता है।

पञ्चम विष वेग मे—कफ का स्राव होना, विवर्णता, सन्धियों का फूटना, वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों का कुपित हो जाना तथा पक्वाशय में व्यथा का होना, ये लक्षण हुआ करते हैं।

षष्ठ विष वेग में—रोगी की सज्ञा का नाश हो जाता है और अतिसार भी चालू हो जाता है।

सप्तम विष वेग में—पीठ, स्कन्ध तथा कटि भाग का टूटना, श्वासोच्छ्वास का भली-भाँति अवरोध होकर मृत्यु हो जाती हैं। चरक के मतानुसार आठवां विष वेग भी माना गया है, उसमें भी रोगी की मृत्यु हो जाती है। और कुछ नहीं।

वेगानुसार चिकित्सा

प्रथम विष वेग में—शीतल जल के छींटे मुख पर मारने चाहिए। इसके बाद वामक द्रव्यों के द्वारा वमन करा के मधु के साथ विषहर अगद को पिला दें।

द्वितीय विष वेग में—सर्वप्रथम वमन, फिर विरेचन की क्रिय. ;क मे उपचरित करके मधु के साथ अगद पिलाना चाहिए।

तृतीय विष वेग में—पूर्ववत् पृथक् वामक द्रव्यों के द्वारा वमन, फिर विरेचन द्रव्यों के द्वारा कर्म, तदनन्तर नस्य और अञ्जन विषनाशक और संज्ञा प्रदायक दोनों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए।

चतुर्थ विष वेग में—प्रारम्भ की भाँति वमन, विरेचन, नस्य, अञ्जन, स्नेह सम्मिश्रित गौ का घृत मिलाकर अगद पिलाना चाहिए।

पञ्चम विष वेग में—वमन, विरेचन, नस्य, अञ्जन क्रिया करके मधुपिष्ट के क्वाथ तथा मधु में संयुक्त करके अगद पिलाना चाहिए।

षष्ठ विष वेग में—रोगी की अतिसार की अधिकता रहती हैं। अतएव वमन, विरेचन नस्य आदि प्रक्रियाओं के साथ ही अतिसार नाशक चिकित्सा भी करनी चाहिए।

सप्तम विष वेग में—रोगी की चेतना पूर्ण रूप से नष्टप्राय रहती है। अतएव रोगी को चैतन्य में लाने के लिए बहुत तीक्ष्य नस्यों का अथवा अवपीड़न का प्रयोग किया जाना चाहिए। रोगी की यह अवस्था प्रायः असाध्य ही होती हैं। इसलिए इसे प्रत्याख्यान कर देना चाहिए और फिर चिकित्सा करनी चाहिए। रोगी के सिर पर अस्तुरे काकपद, कौवे के पैर के समान चीरा दे देना चाहिए। इस प्रक्रिया से शनैः-शनैः शरीरगत विष का आचूषण अथवा शोषण होता रहता है तथा रोगी भी चेतना-अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इन सभी विष वेगों में पीछे लिखा अजेय घृत अगद है।

प्रश्न—अजेय घृत क्या है ? गर विष नाशक अवलेह लिखिए। गर विष एवं दूषी विष में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

गर विष नाशक अवलेह—हरी ब्राह्मी, हरी शंखपुष्पी, शिरीष की छाल, जँवासा, निर्गुण्डी इन पाँचों द्रव्यों को बीस सेर जल में उबाल कर ढाई सेर रहने पर उतार कर छान लेना चाहिए। फिर इसमें पाँच सेर मिश्री अथवा चीनी का प्रक्षेप करके अवलेह के योग्य चाशनी बना लेनी चाहिए और फिर उसमें निम्नलिखित औषधियों का प्रक्षेप डालना चाहिए। कूठ मीठा, मीठी वच, शतावरी, वंशलोचन, इन चारों को दस-दस तोला लेना चाहिए तथा एक पात्र में इसको सम्भाल कर रख लेना चाहिए। इसकी सेवन विधि—एक तोला इस अवलेह में २ से लेकर ६ रत्ती तक स्वर्ण मिलाकर प्रातःकाल खाना चाहिए। ऊपर से गाय का धारोष्ण दूध एक पाव पीना चाहिए सेवन काल

में लाल मिर्च, खटाई, भारी भोजन, दिन में सोना, मैथुन, आहव, क्षय आदि का परित्याग कर देना चाहिए।

गर विष तथा दूषी विष में अन्तर—स्थावर और जंगम विष के साथ गर विष को भी अवस्था भेद से दूषी विष कहा जाता है। यद्यपि गरविष भी प्रायः मन्द विष ही होता है। अतः दूषी विष जैसा ही कार्य करता है, तो भी संयोग की तीक्ष्णता के अनुसार गरविष उग्र प्रभाव वाला भी हो सकता है। किन्तु दूषी सर्वदा ही मन्द अथवा चिरकालीन स्वरूप का होता है। कुछ विद्वानों ने अज्ञानतावश दोनों को एक ही माना है। क्योंकि दोनों में लक्षणों की समानता है। गरविश कालान्तर में विषाक्त होने के कारण शीघ्रता से प्राणहारक नहीं होता तथा दूषी विष वीर्य में होने के कारण सद्यः प्राणघातक नहीं होता और कफावृत्त होने के कारण वर्षों तक कष्टदेह रहता है। कुछ विद्वानों का मत है कि हीन वीर्य स्थावर विष, दूषी और हीनवीर्य मृत सर्प कीट आदि को जंगम विषों के संयोग से बने चूर्ण, प्रलेप आदि विष ही गर विष हैं। क्योंकि आचार्य सुश्रुत ने स्थावर विष विजातीय अध्याय में दूषी विषों का वर्णन किया है। कीट कल्प अध्याय में गर विष का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त दोनों के गुण व धर्म भी समान ही माने गए हैं। अतएव केवल नाम का ही अन्तर है अन्यथा तो दोनों एक ही हैं। परन्तु ये दोनों ही मत भ्रान्त प्रतीत होते हैं। जैसा कि उपरिनिर्दिष्ट सुश्रुत के कथन से स्पष्ट है। कुछ विद्वान् भ्रमवश दूषीविष में पारद, गन्धक, वत्सनाभ आदि स्थावर विष का तथा सर्प आदि के विष के साथ सम्बन्ध होने पर उसको दूषी विष मानते हैं और रसौषधियों की निन्दा करते हैं तथा कहते हैं कि इनसे निर्मित कोई भी प्रयोग सेवन नहीं किया जाना चाहिए—क्योंकि वह दूषी विषवत् विष का कार्यकारी होता है। किन्तु यह मत सर्वथा भ्रामक है।

प्रश्न—सर्पभय नाशक उपाय बताइए। सर्प विष के वेगों का वर्णन कर विष वेग की चिकित्सा लिखिए।

सर्पभयनाशक उपाय—रात्रि के समय सर्वदा ही छाता लगाकर चलना चाहिए। जर्जर फटा बाँस हाथ में लेकर बजाते हुए चलना हितकारी होता है। छतरी की छाया से और फटे बाँस की आवाज से भयभीत होकर साँप भाग जाते हैं। दिन में और रात में डण्डा भी रखना चाहिए। किसी प्रकार का प्रकाश यन्त्र हाथ में लेकर चलने से लाभ रहता है। प्रकाश के भय से सर्प आदि नहीं आते।

सर्प बिष वेगों के लक्षण पृथक्-पृथक् सातों वेगों के

दर्वीकर फणी	मण्डली सर्प विष वेग	राजिमन्त विष वेग
प्रथम वेग में—रक्त विकार, कालापन, शरीर पर चीटियों के रेंगने का-सा अनुभव।	प्रथम वेग में—रक्त विकृत होता है, पाण्डु और ज्वर होता है।	प्रथम वेग में— रक्त विकृत हो जाता है। पीतवर्ण और रोमांच होता है।
द्वितीय में—विष का मास में प्रवेश, अधिक कालापन, शोथ, गाँठों का निकलना।	द्वितीय में—मांस में प्रवेश करने के कारण अत्यधिक पीलापन, दाह और दंशित संस्थान पर शोथ होना है।	द्वितीय में—मांस में शिथिलता, सिर में शोथ, शरीर में जकड़ाहट का अनुभव होना।
तृतीय में—मेदा धातु से विष प्रवेश, दंशमान से स्राव होना, सिर भारी होना, स्वेद निकलना, आँखों का झपकना।	तृतीय में—विष का मेदा में प्रवेश, आँखों का झिलमिलाना, तृष्णा, दश स्थान से स्राव का बहना, पसीना आना।	तृतीय में—मेदा धातु में विष का प्रवेश. आँखों का झपकना, दाँतों की जड़ों से स्राव बहना, पसीना आना, नाक तथा आँखो से भी स्राव बहना।
चतुर्थ में—कोष्ठ में प्रवेश, कफ-प्रधान दोषों की वृद्धि, आलस्य और सन्धियों का विश्लेषण।	चतुर्थ विष वेग में—विष का कोष्ठ में प्रवेश होता है और रोगी में ज्वर की तीव्रता रहती है।	चतुर्थ विष वेग में—विष कोष्ठ में प्रवेश हो जाता है और रोगी का सिर भारी हो जाता है तथा मन्या नाड़ियों का स्तम्भन भी हो जाता है।

पंचम वेग में—अस्थि में प्रवेश प्राण, अग्नि की दृष्टि, हिक्का, दाह तथा पर्वभेद होता है।	पंचम विष वेग में—रोगी के शरीर में ज्वाला-सी जलने लगती है।	पंचम वेग में—बोलने की शक्ति सर्वथा बन्द तथा शीत ज्वर की प्रधानता रहती है।
षष्ठ वेग में—मज्जा, ग्रहणी में विष का प्रवेश, ग्रहणी दोष, मूर्च्छा, और शरीर का भारीपन तथा अतिसार और हृदय में शूल होने लगता है।	षष्ठ विष वेग में—मज्जा, ग्रहणी की विकृति, मूर्च्छा, ग्रहणी में दोष, शरीर में भारीपन और दस्तों का लगना एवं हृदय का शूल होता है।	षष्ठ विष वेग में—मूर्छा-ग्रहणी, ग्रहणी विकृत व राग ग्रहणी में विष का प्रवेश, शरीर का भारीपन, अतिसार तथा हृदय में शूल होता है।
सप्तम वेग में—शुक्र में विष का प्रवेश हो जाता है। व्यानवायु का प्रकोप, सूक्ष्म शिराओं से स्राव, कटि भंग, चेष्टाओं का नाश, लाला स्राव, पसीना आना, प्राणों का अवरोधन हो जाता है।	सप्तम वेग में—विष का प्रवेश वीर्य में हो जाने से व्यानवायु का प्रकोप होकर सूक्ष्म शिराओं में से स्राव होने लगता है। कमर टूट जाती है। चेष्टाओं की हीनता, लार बहना, स्वेद की अधिकता तथा प्राणी की समाप्ति होती है।	सप्तम विष वेग में—रोगी के चरम धातु में विष पहुँच जाता है। व्यानवायु का प्रकोप, सूक्ष्म शिराओं में से स्राव बहना, कटिभंग, चेष्टा का अभाव, लाला स्राव, स्वेद की अत्यधिकता और प्राणों का अवरोध होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

विष वेग चिकित्सा—आरम्भ के पाँचों विषवेगों में, चाहे वे फणियों, मण्डलियों अथवा राजिमन्त सर्पों में से किसी प्रकार के सर्प के हों, साधारण नियमानुसार सर्प विष की भाँति ही उपचार करना चाहिए; किन्तु षष्ठ और सप्तम विषवेगों में संज्ञाहीन प्रबोधन और हृदय के लिए हितकारी औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। अञ्जन, नस्य, अवपीड़न, तीक्ष्ण शस्त्र के सिर पर काकपद बनाकर, ताजा मांस खण्ड रखना चाहिए। इस अवस्था में आधुनिक काल में ग्लूकोज, कोरामीन, ऑक्साइड देकर रोगी को जीवित रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न—स्थावर विष-विषयक आवश्यक ज्ञातव्य दीजिये।

उत्तर—सुश्रुत संहिता कल्पस्थान अध्याय दो में इस विषय में विस्तार से लिखा है—उसका वर्णन हम नीचे कर रहे हैं।

स्थावर और जंगम भेद से विष दो प्रकार का है। इसमें स्थावर विष के दस आश्रय स्थान हैं और जंगम के अधिष्ठान सोलह हैं।

मूल, पत्र, फल, पुष्प, छाल, दूध, सार, गोंद, धातु और कन्द—ये दस स्थावर विष के अधिष्ठान है।

इनमें क्लीतक, कनेर, गुंजा, सुगन्ध, गर्गरक, करघाट, विच्छिखा, विजया ये आठ मूल विष हैं। विष-पत्रिका, लम्बा, वरदारू, करम्भ और महा करम्भ—ये पाँच पत्रविष हैं। कुमुद्वती, वेणुका, करम्भ, महाकरम्भ, कर्कोटक, रेणुक, खद्योतक, चर्मरी, इभगन्धा, सर्पघाती, नन्दन, सारपाक—ये बारह फलविष हैं। कुमुदघ्नी, स्नुही, जालक्षीरी—ये तीन विष हैं। फेनाश्म (भस्म) और हरताल—ये दो धातु विष हैं। कालकूट, वत्सनाभ, सर्षण, पालक, कर्दमक, वैराटक मुस्ताक, श्रृङ्गीविष, प्रपुण्डरीक, मूलक, हालाहल, महाविष, कर्कटक—ये तेरह कन्दविष हैं। इस प्रकार से पचपन स्थावर विष हैं। (फेनाश्म से कोई संखिया मानते हैं।)

अवान्तर भेद—वत्सनाभ के चार, मुस्तक के दो, सर्षप के छः अवान्तर भेद हैं और सब एक-एक हैं।

मूल विष से ऐंठन, प्रलाप और मूर्च्छा होती है। पत्र विष से जम्भाई, अंगों में ऐंठन, श्वास होता है। फल विष मे मुष्क में शोफ, दाह और अन्त में द्वेष रहता है। पुष्प विष से वमन, आध्मान और मोह (मूर्च्छा) होती है।

त्वक् सार निर्यास इन विषों के सेवन से मुख से दुर्गन्ध, कठोरता, सिर दर्द, कफ का स्राव होता है। दूध विष से झाग आना, अतिसार और जिह्वा में भारीपन होता है। धातु विष मे हृदय में पीड़ा, मूर्च्छा, तालु में दाह होता है। प्राय: ये विष दिन, पन्द्रह दिन, मास आदि समय में मारते हैं।

यथा—कालकूट से स्पर्श का अज्ञान, कम्पन और जड़ता होती है। वत्सनाभ से ग्रीवा स्तम्भ, मल-मूत्र और आँख में पीलापन, सर्प विष से वायु की विपरीतता, अनाह और गाँठों की उत्पत्ति होती है। पालक से ग्रीवा की दुर्बलता, वाणी का अवरोध होता है। कर्दम से—मुख से पानी आना, अतिसार, आँखों में पीलापन होता है। वैराटक से अंगों का दुःखना और शिरोरोग होता है। मुस्तक से शरीर में स्तम्भ, कम्पन, शृंगीविष से अंगों में शिथिलता, दाह, उदर में वृद्धि। पुण्डरीक से आँखों में सुर्खी, उदर में वृद्धि। मूलक से विवर्णता, वमन, हिक्का, शोफ, मूढ़त्व, हालाहल से देर में श्वास आता है, मनुष्य का रंग काला पड़ जाता है। महाविष से हृदय में ग्रन्थि और महान् शूल होता है। कर्कटक विष में मनुष्य ऊपर को कूदता है, हँसता हुआ दाँतों को काटता है।

विष के दस गुण—विष रुक्ष, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, आशु, व्यवायी, विकासी, विशद, लघु और अपाकी है। रुक्ष होने से विष वायु को, उष्ण होने से रक्त के साथ पित्त को कुपित करता है। तीक्ष्ण होने से बुद्धि को मोहित करता है एवं मर्म बन्धनों को काट देता है। सूक्ष्म होने से शरीरावयवों में प्रवेश करके विकार उत्पन्न करता है। आशु होने से शीघ्र मारता है, व्यवायी होने से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। विकासी होने से दोष धातु और मलों को नष्ट करता है। विशद होने से कहीं पर भी चिपकता (रुकता) नहीं। लघु दावानल होने से दुश्चिकित्स्य है। अविपाकी होने से कठिनाई से निकाला जाता है, इसलिए देर तक मनुष्य को दुख होता है।

स्थावर, जंगम या कृत्रिम जो भी विष तुरन्त आदमी को मार देता है, उसको दस गुणों वाला जानना चाहिए। स्थावर, जंगम या कृत्रिम जो कि शरीर से सम्पूर्ण रूप से बाहर नहीं निकलता, अपितु पचकर या विघ्न औषधियों से नष्ट होकर अथवा दावानल, वायु, धूप से सूख जाने के कारण, या अपने स्वभाव से ही गुणों में कुछ कम गुण का हो जाता है। उस विष

की दूषी विष संज्ञा हो जाती है। यह दूषी विष वीर्य शक्ति को कम होने से मनुष्य को जान से नहीं मारता, अपितु कफ से आवृत्त होकर बहुत वर्षों तक बना रहता है (इस तरह के विष को Slow poison कहते हैं)।

दूषी विष से पीड़ित व्यक्ति को अतिसार रहता है, रंग बदल जाता है, मुख में दुर्गन्ध एवं विरसता, प्यास रहती है। मूर्च्छा होती है, वमन होता है, आवाज अस्पष्ट हो जाती है, उदास रहता है, दूष्योदर के लक्षणों से पीड़ित रहता है। दूषी विष आमाशय में हो तो कफवात के लक्षण रहते हैं, पक्वाशय में होने से वायु-पित्त के लक्षण होते हैं। रोगी के सिर के बाल, शरीर के रोम झड़ जाते हैं, वह कटे हुए पक्षी की भाँति गंजा दीखता है। रसादि धातुओं में स्थित दूषित दूषी विष धातुजन्य रोगों को पैदा करता है, शीत वायु और बादल के आने पर यह कुपित होता है।

दूषी विष के पूर्व रूप—निद्रा आना, भारीपन, जम्भाई, संधियों का ढीलापन, रोमांचकता, अंगों का टूटना होता है।

इसके आगे अन्न के कारण मद (हर्ष क्षय या फेन जाना), अविपाक, आरोचक चकत्ते और कोठों की उत्पत्ति धातुक्षय, हाथ, पैर, मुख में शोथ, उदर में जलवृद्धि, वमन, अतिसार, विवर्णता, मूर्च्छा, विषम ज्वर, बढ़ी हुई प्रबल प्यास उत्पन्न करता है। कोई विष उन्माद, कोई अनाह, कोई शुक्रनाश, कोई विष भर्राई हुई आवाज, कोई कुष्ठ—इस प्रकार विष बहुत-से नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं।

यह विष देश (आनूप), काल (शीतल बादली आना), अन्न (सुरा, तिल आदि), दिन में सोने से बार-बार धातुओं को दूषित करता है, इसलिए इस विष को दूषी विष कहते हैं। (व्यायाम, मैथुन, क्रोध आदि भी इसको बढ़ाते हैं, उनका अन्न में प्रयोग करना चाहिए।)

स्थावर विष के खाने पर इसके प्रथम वेग में मनुष्यों की जीभ श्यामवर्ण जड़ हो जाती है, रोगी को मूर्च्छा और श्वास होता है। दूसरे वेग में कम्पन, शिथिलता, दाह, गले में दर्द होता है। आमाशय में पहुँचने पर विष हृदय में वेदना करता है। तीसरे वेग में तालु शोथ, आमाशय में तीव्र शूल एवं आँखें बुरे वर्ण की हरी, सूजी हो जाती हैं। चौथे वेग में पक्वाशय और सिर में भारीपन होता है। पाँचवें वेग में कफ का स्राव विवर्णता, पर्वों का टूटना

सब दोषों का प्रकोप और पक्वाशय वेदना होती है। छठे वेग में बुद्धि और प्राणों का नाश और अतिशय अतिसार होता है, सातवें वेग में स्कन्ध, पीठ और कटि टूट जाते हैं और श्वास रुक जाती है अर्थात् रोगी मर जाता है।

चिकित्सा—विष के प्रथम वेग में रोगी का वमन कराके शीतल जल से परिषेक करायें। मधु और घी से भली प्रकार मिलाकर अगद पिलाएँ। विष के दूसरे वेग में पूर्व की भाँति वमन करके तीव्र विरेचन दें। तीसरे वेग में अगद पिलाना, नस्य और व्यंजन दें। चौथे वेग में वैद्य स्नेह से मिला अगद पिलाएँ पाँचवें वेग में मुलहठी से क्वाथ में मिला अगद दें। छठे में अतिसार की भाँति चिकित्सा करें और अवपीड़न नस्य दें। सातवें वेग में सिर पर काकपद के आकार का नच्छ लगा रक्त मिश्रण माँस रख दें। अवपीड़न भी दें। प्रथम वेग से लेकर अगले वेगों में किये जाने वाले कर्मों में शीतल उपचार, विषनाशक घी और मधुमिश्रित निम्न यवागु रोगी को दें। यवागु—कदुई, तुरई, चित्रक, पाठा, सूर्यवल्ली, गिलोय, हरड़, शिरीष, चिरचिटा, लसूढ़ा, कोयलहल्दी, दारु हल्दी, पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, हरेषु, त्रिकत्रु सारिवा, काली सारिवा और वल्ग इनके क्वाथ में बनाई यवागु स्थावर जंगम दोनों विषों को नष्ट करती है।

अजेय घृत—मुलहठी, तगर, कुठ, देवदारु, हरेणु, नागकेसर, इलायची, एलवालुक, लाल नागकेसर, कमल, सिता (श्वेष वच या शर्कर), वाय विडंग, चन्दन, तेज पत्र, प्रियंगु, कतृण, हल्दी, दारु हल्दी, कटेरी, बड़ी कटेरी, सारिवा काली सारिवा, शालपर्णी, मुद्गपर्णी इनके कल्क से सिद्ध किया घृत अजेय (कभी भी जीता नहीं गया) नाम से प्रसिद्ध है। यह घृत सब विषों को शीघ्र नष्ट करता है, कहीं भी विष द्वारा जीता नहीं गया।

दूषी विष के रोगों को भली प्रकार स्वेदन देकर वमन विरेचन के शोधन दें। उसे नित्य दूषी विष नाशक निम्न अगद को पिलाएँ। दूषीविषारि अगद—पिप्पली, कतृण, जटामाँसी, शावर, लोध्र, केवड़ी, मोथा, सुवर्चिका (हुलहुल), छोटी इलायची, स्वर्ण गैरिक इनको मिलाकर मधु में दें। दूषीविषारि नाम का यह अगद दूषी विष को नष्ट करता है और अन्य विषों में भी वरता जा सकता है।

उपद्रव चिकित्सा—ज्वर, दाह, हिक्का, अनाह, शुक्रक्षय, शोफ, अतिसार, मूर्च्छा, हृदय रोग, उन्माद, कम्पन और जो दूसरे उपद्रव हों उनमें अतिसार चिकित्सा विषघ्न औषधियों से बरतें।

संयमी पुरुष में तुरन्त विष साध्य है। एक वर्ष का पुराना विष याप्य है। क्षीण हुए एवं अहित सेवी पुरुष में दूषीविष असाध्य होता है।

प्रश्न—जांगम विष के विषय में शास्त्रीय वर्णन कीजिए।

उत्तर—सुश्रुत संहिता में जांगम विष का वर्णन निम्नवत् किया है—

जांगम विष विज्ञान—जंगम विष के सोलह स्थान जो संक्षेप में कहे थे, उनको अब विस्तार से कहेंगे। उनमें दृष्टि, नि:श्वास, दंष्ट्रा, नख, मूत्र, पुरीष, शुक्र, लाला, आर्त्तव, मुख, सन्दर्श, यिशर्धित, तुण्ड, अस्थि, पित्त, शव—ये सोलह स्थान हैं। (विशर्धित गुदा से किया कुत्सित शब्द)।

इनमें दृष्टि, नि:श्वास में विष वाले दिव्य सर्प हैं। भूमि के सांप दंष्ट्रा-विष वाले हैं। विल्ली, कुत्ता, बन्दर, मकर, मण्डुक, पाक, मत्स्य, गीह, शम्बूक, प्रचालक, ग्रहगोधिका (छिपकली) पशु, कीड़े तथा दूसरे दंष्ट्रा एवं नखविष वाले हैं। चिपट, पिच्चिटक, कषाय वासिक सर्षपक, तीटक, वच, कीट, कौण्डिन्यक ये इनके मलमूत्र में हैं। चूहों के शुक्र में विष है। लूता (मकड़ी) के जाला, मूत्र मल, मुख, संदेश, नख, शुक्र और आर्त्तव में विष है। विच्छू विश्वम्भर वरटी राजीव मत्स्य अच्चिर्टिग (विषकपरा), समुद्र वृश्चिक, इनके ओर (पूँछ में स्थित काँटा) में विष है। चित्र शिर, सराव, कुर्दशित, दारुकारि, मेढ़क, सारिमुखा इनके मुख सन्देश, विशर्धित, मूत्र और मल में विष हैं। विष से मरे की अस्थि, साँप का कण्टक, (दांत) वरही, मछली की अस्थि ये अस्थि विष हैं। शकूली मत्स्य, रक्तराजी, वरटी, मत्स्य ये पित्त विष वाले हैं। सूक्ष्म तुण्ड, उच्चिटिंग, वरटी, शतपदी (कनखजूरा) शूरू बलभीका, श्रंगी, भ्रमर इनके शूक और तूण्ड में विष है। कीड़े और साँप इनके मृत शव विष है। शेष जो नहीं कहे उनको शुद्ध संदेश विष में गिनना चाहिए।

शत्रु देश में प्रविष्ट राजा के तृण (पशुओं के घास-भूसा आदि), जल, रास्ते, अन्न, वायु को शत्रु विष सदूषित कर देते हैं। शत्रुओं से अति दूषित किये इनको निम्न लक्षणों में जानकर शोधन करें।

विष से दूषित जल—पिच्छिल, तेल गन्ध वाला, झागदार और रेखाओं से युक्त होता है। मेढ़क, मछली मर जाते हैं। पक्षी और कछुए आदि किनारों पर रहने वाले पागल हो जाते हैं। इस जल में मनुष्य, घोड़े, हाथी जो भी स्नान करते हैं, उनको वमन, मोह, दाह और शोफ होता है। इनके दोषों को दूर करके, दूषित जल को शुद्ध करने का यत्न करें। इसके लिए—धावड़ी

अश्व कर्ण असन (विजयसार) पारिभद्र (फरहद) पाटल, (सिद्धक, निगुंण्डी या सिम्बल), मोक्षक (मोखा) अमलतास, सोमवल्क (विट खदिर की छाल) इनको जलाकर इनकी ठण्डी भस्म को जल में छिड़क दें। इस राख की अंजली घड़े में डालकर इच्छित पीने के पानी का शोधन करें।

विष से दूषित भूमि प्रदेश का, खिलापृष्ठ का तीर्थ (घाट आदि) को ईरिण (ऊसर भूमि मैदान) को गाय-बैल, घोड़े, हाथी, ऊँट, गधे और मनुष्य के शरीर के जिस-जिस अंग से छूते हैं, वह अंग सूज जाता है, वहाँ पर जलन होती है, रोग और नख गिर जाते हैं। इसके लिए अनन्ता (सारिव) को गण के साथ सुरा से पीसकर दुग्ध एवं काली मिट्टी या वाल्मीकि मृतिका मिलाकर इससे छिड़काव करें। अथवा बायविडंग, पाठा, कटभी (अपराजिता) इनके कषाय से परिषेक करें।

घास-भूंषा आदि एवं भोजन-गेहूँ आदि के विष से दूषित हो जाने पर जो इनका उपयोग करते हैं वे शिथिल हो जाते हैं, मूर्च्छित होते हैं, कइयों को वमन होती है, किसी को अतिसार होता है और कोई मर भी जाता है। उनमें निम्न चिकित्सा करें। विषनाशक या अन्य अगदों से नाना प्रकार के वाद्यों का लेप करके इनको वचायें। चाँदी, पारा सुवर्ण, सारिवा, इन सबके बराबर, कुरुविन्द (रत्न या शाण का पत्थर डल्हण के मध से मुस्ता भी), इनको कपिल वर्ण की गाय के पित्त के साथ पिलाकर बीजों पर लेप करना उत्तम है। क्योंकि वाद्य के शब्द से चोर विष भी नष्ट हो जाते हैं।

धूम या वायु के विष से युक्त होने पर पक्षी श्रम से थककर भूमि पर गिर जाते हैं। कास, श्वास, प्रतिश्याय, शिरोरोग और आँख के रोग हो जाते हैं। इसमें लाख, हल्दी, अतीस, हरड़, मोथा, हरेणु, इलाइची, तमाल पत्र, नगकूठ, प्रियंगु इनको अग्नि में डालकर इनसे धूप और वायु का शोधन करें। स्वयम्भू ब्रह्मा द्वारा इस सृष्टि को अपनाते समय कैटज नाम के राक्षस ने अभिमान में आकर विघ्न उपस्थित किया। उस समय तेजपुंज ब्रह्मा के क्रुद्ध होने से उनके मुख से क्रोध शरीर-रूप धारण करके अति दारुण रूप में गिरा। इस क्रोध रूपी पुरुष ने उस यम के समान महाबलवान् एवं गरजते हुए राक्षस को मार डाला। उस राक्षस को मारकर यह तेज विचित्र रूप में बढ़ने लगा। उनको देखकर देवताओं को बहुत विषाद (दुःख) हुआ। उत्पन्न करने के कारण इसको विष

कहते हैं। फिर शेष प्रजाओं को बनाकर ब्रह्मा ने उस क्रोध को स्थावर और जंगम भूतों में रख दिया।

जिस प्रकार अव्यक्त रस वाला जल आकाश से बरसकर भूमि पर गिरकर उन-उन प्रदेशों के रसों को लेता है, इसी प्रकार विष भी जिस द्रव्य का आश्रय लेता है प्रकृति से वह उसी द्रव्य के रस वाला बन जाता है। (वैसे विष अव्यक्त रस है।)

चूँकि विष में प्रायः सब गुण तीक्ष्ण रूप में रहते हैं, इसीलिए विष को सब दोषों का प्रकोषक जानना चाहिए। ये वातादि दोष प्रकुपित होकर विष से पीड़ित होने के कारण अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं। इसलिए विष का पाचन नहीं होता और प्राणों का घातक बन जाता है। कफ से मार्ग के आवृत्त होने के कारण इसका उच्छ्वास रुक जाता है। इसलिए जीते हुए भी मनुष्य संज्ञारहित बना रहता है।

सब साँपों में विष शुक्र की भाँति सारे शरीर में फैला रहता है। जिस प्रकार विषय की इच्छा से अंगों के मथने से शुक्र बाहर आता है। इसी प्रकार क्रुद्ध होने पर विष सम्पूर्ण अंगों से बाहर आता है। यह आया हुआ विष उनकी बडिश (मछली पकड़ने का काँटा) के समान दंस्ट्रा में (थैली में) रुक जाता है। इसलिए बिना चाह के साँप विष को नहीं छोड़ते (इच्छा करने पर ही साँप जहर निकालता है।)

चूँकि विष अतिशय उष्ण और तीक्ष्ण कहा है, इसलिए सब विषों में शीतल परिषेक करना चाहिए। कीटों के विष में स्वेद निषिद्ध नहीं है, उग्र विष वाले कीटों से दंश की चिकित्सा सर्पों की भाँति करें। स्वभाव से ही विष दंश किये स्थान पर रहता है। विषैले शस्त्र से मारे और साँप के काटने से विष अंग समेत सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। मरे हुए प्राणी का विषयुक्त माँस लोभ के कारण जो खाता है वह प्राणी विष के अनुसार रोग से पीड़ित होता है या मर जाता है। इसलिए विषैले बाण से मरे या साँप के काटने से मरे हुए प्राणी का माँस नहीं खाना चाहिए। यदि खाना ही हो तो प्रहार और दंश के स्थान को छोड़कर तुरन्त एक मुहूर्त के अन्दर ही ले लेना चाहिए। वायु के साथ घर के धुआँ के समान रंग का काला मल जिसे आता हो, आध्मान हो, आँसुओं का जल बहुत गरम हो, विवर्ण हो, शिथिलता आ गई हो, वमन आती हो, झाग आती हो, उस रोगी को विषपान किया समझे। इस रोगी के विष से युक्त हृदय

को आग में न जलायें। क्योंकि हृदय चेतना का स्थान है, विष स्वभाव से ही उसमें व्याप्त करके रहता है।

पीपल, मन्दिर, श्मशान, बाल्मीकि, सन्ध्याकाल, चौराहा, भरणी नक्षत्र में, मघा नक्षत्र में और मर्म स्थानों पर कटे हुए मनुष्यों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए—ये असाध्य हैं।

दर्वीकर साँपों का विष शीघ्र मारक होता है। सभी विष उष्ण काल में दुगुने बढ़ते हैं। अजीर्ण रोगी, पित्त रोगी, धूप से पीड़ित, बालक, प्रमेह रोगी, गर्भवती, वृद्ध, रोगी, क्षीण, भूखे, रुक्ष प्रकृति और भीरुओं में एवं बादलों के आने पर सब विषों का जोर बढ़ता है।

असाध्य—शस्त्र के काटने से जिसका रक्त नहीं निकलता, लता (वेंत) आदि मारने पर जिसके शरीर पर रेखाएँ नहीं उठतीं, शीतल जल से जिसको रोमांच नहीं होता विष से पीड़ित उस मनुष्य को छोड़ देना चाहिए। जिसकी जीभ श्वेत हो गई हो, बाल झड़ने लगे, नासा बैठ गई, आवाज रुक गई हो, रक्त काला हो, डंश में लाल शोथ हो, जवाड़ी स्थिर हो गई हो (बन्द रहे, खुले नहीं) वह भी असाध्य है। मुख से जमा हुआ घट्ट कफ निकले, मुख, नाक-गुदा, मूत्र-मार्ग से रक्त जाता हो, दंश स्थान पर सब दाँतों का पूरा-पूरा निशान हो, उसे वैद्य छोड़ दे। जब रोगी पागल हो, अति उपद्रवों से पीड़ित हो, स्वर कमजोर हो गया हो अथवा रोगी के शरीर का रंग बदल गया हो, मृत्यु के लक्षण निश्चित रूप से आ गये हों, जिसमें लहर न आये, वह रोगी मरेगा ही, उसकी चिकित्सा न करें।

मनुष्य के शरीर में मरने पर जो परिवर्तन होते हैं—यथा, राई गर मोर-टिस शिराओं का संकोच, रक्त संचार का बन्द होना उसके कारण ही वेंत आदि से मारने पर रेखाएँ नहीं उठतीं, जलने पर छाला नहीं होता, छाले में पानी नहीं होता, ये पहिचानें—निश्चित मृत्यु है।



हिन्दी विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अन्य विशारद परीक्षा—सन् १९९२ (संवत् २०४९)

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्नपत्र १

समय : तीन घण्टा) (रोग-विज्ञान एवं चिकित्सा) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं **पाँच** प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. अर्श के भेद का वर्णन करते हुए वातज अर्श की चिकित्सा का उल्लेख कीजिए।

२. कामला रोग का निदान बतलाते हुए उसकी चिकित्सा का क्रम लिखिए।

३. उन्माद रोगों की संख्या का वर्णन करके अपस्मार रोग की चिकित्सा का उल्लेख कीजिए।

४. मूत्र कृच्छ का निदान बतलाते हुए अशारी रोग की चिकित्सा पर प्रकाश डालिए।

५. स्त्रियों के आर्तव दोष का वर्णन करते हुए उसकी चिकित्सा पद्धति बतलाइये।

६. गंडमाला का लक्षण बतलाते हुए उनकी चिकित्सा के प्रकार लिखिए।

७. अतिसार के भेद बताकर ज्वरातिसार की चिकित्सा का वर्णन कीजिए।

८. किन्हीं **चार** पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

श्लीपद, शोथ, स्वरभेद, मुख रोग, शूल रोग, प्रसूति रोग, मदात्यय, अंड-वृद्धि।

९. किन्हीं **चार** पर टिप्पणी लिखिए—

अर्बुद-मधुमेह, शूल रोग, व्रण रोग, अरुचि-मुख रोग।

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्नपत्र २

समय : तीन घण्टा) (ऊर्ध्वांग चिकित्सा) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं **पाँच** प्रश्नों का उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. कर्ण रोग भेदों को लिखते हुए कर्ण स्राव तथा पूति कर्ण के चिकित्सा पर प्रकाश डालिए।

२. दन्तशूल तथा स्वर भंग होने के कारण बताते हुए उनकी चिकित्सा पद्धति लिखिए।

३. सूर्यावर्त तथा शिर काय के कारण लिखते हुए उनकी चिकित्सा पद्धति लिखिए।

४. प्रतिश्याय का निदान तथा भेद लिखकर पीनस रोग की चिकित्सा बताइये।

५. नेत्र रोगों का विवरण लिखते हुए उनकी साध्यासाध्यता पर प्रकाश डालिए।

६. नासार्श का कारण एवं उनकी चिकित्सा लिखिए।

७. टिप्पणी लिखिए—

(क) पायरिया, (ख) उन्माद, (ग) शिरोत्पात, (घ) अनन्त वात।

-वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्नपत्र ३

समय : तीन घण्टा) (प्रसूतितन्त्र कौमार भृत्य) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. सद्योगृहीत गर्भा के लक्षण का वर्णन कर पुंसवन विधि का वर्णन कीजिए।

२. कौमार्यभत्य की परिभाषा, कौमार ग्रह कितने प्रकार के हैं तथा उनकी क्या चिकित्सा है ?

३. योषापस्मार के कारण, लक्षण व चिकित्सा का वर्णन कीजिए।

४. मूढ़गर्भ की परिभाषा, भेद व चिकित्सा लिखिए।

५. सूतिका रोग क्या है ? कारण लक्षण व चिकित्सा लिखिए।

६. प्रदर रोग के भेद व चिकित्सा का वर्णन कीजिए।

७. गुल्म किसे कहते हैं, यह स्पष्ट करते हुए रक्तज गुल्म के भेद, लक्षण व चिकित्सा का वर्णन कीजिए।

८. किन्हीं चार पर टिप्पणी लिखिए—

(क) शय्यामूत्र, (ख) गर्भस्राव, (ग) बाल यकृत, (घ) स्तन्य सम्पत, (ङ) पूतनाग्रह, (च) प्रकाश निरुद्ध, (छ) रजोदोष।

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्नपत्र ४

समय : तीन घण्टा) (शल्य तन्त्र एवं अगद तन्त्र) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. -वल्मीकमिव संजातं कंटकैरुपचीयते।
अब्दात्मकं महत्तच्च वर्जनीयं विशेषतः॥

उपरोक्त श्लोक का वर्णन करते हुए आधुनिक एवं प्राच्य मतों द्वारा तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।

२. शल्यापहरण विधि का वर्णन करते हुए उसके पूर्व पश्चात् कर्मों की वैज्ञानिकता पर प्रकाश डालिए।

३. सविष मत्स्य एवं जलौका के काटने से उत्पन्न विषाक्त लक्षणों का वर्णन करते हुए उनकी चिकित्सा भी लिखिए।

४. अवनत भग्न, चूर्णित भग्न एवं पिच्चित भग्न किसे कहते हैं ? वर्णन करते हुए इनकी सामान्य चिकित्सोपक्रम का भी वर्णन कीजिए।

५. कनेर, सक्तुक एवं हारिद्रक विष खाने से उत्पन्न विषैले लक्षणों का वर्णन करते हुए उनका सामान्य चिकित्सोपक्रम भी लिखिए।

६. विषों के सामान्य शोधन एवं चिकित्सा का उल्लेख करते हुए विषमयता का वर्णन कीजिए।

७. निम्न में से किन्हीं चार पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।

(१) प्राकृतिक अलकोहल, (२) भग्न ज्वर, (३) सौत्रिकार्बुद, (४) निर्विष पुरुष के लक्षण, (५) उष्ट्रग्रीव भगन्दर, (६) आरोग्य काल।

अन्य विशारद परीक्षा—सन् १९९३ (संवत् २०५०)

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्न-पत्र १

समय : तीन घण्टा) (रोग विज्ञान एवं चिकित्सा) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं **पाँच** प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्न समानांक हैं।

१. ज्वर के भेद वताते हुए श्वसनक ज्वर के लक्षण, सम्प्राप्ति एवं चिकित्सा लिखिए।

२. निदानपंचक किसे कहते हैं ? रोग परीक्षा के उपायों का सविस्तार वर्णन करिये।

३. राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति, पूर्वरूप, रूप लिखकर चिकित्सा का वर्णन करिये।

४. कफ के भेद वताते हुए कफज प्रकृति के लक्षण व अवस्थाओं का विवरण दीजिए।

५. टिप्पणी दीजिए—
(क) अम्लपित्त, (ख) उदावर्त, (ग) उरूस्तम्भ, (घ) अपची, (ङ) फिरंग।

६. वस्ति के भेद वताते हुए निरूहण वस्ति की विधि तथा उपयोगिता वताइये।

७. कुष्ठ के भेद, सम्प्राप्ति व लक्षण वताकर विसर्प का वर्णन कीजिए।

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्न-पत्र २

समय : तीन घण्टा) (ऊर्ध्वाङ्ग चिकित्सा) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—केवल **पाँच** प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. अन्तःकर्ण की रचना वताते हुए कर्णफूल के कारण, लक्षण तथा चिकित्सा वताइये।

२. प्रतिश्याय के कारण, भेद, लक्षण, साध्यसाध्यता तथा चिकित्सा का सविस्तार वर्णन कीजिए।

३. तुण्डीकेरी तथा कण्ठरोहिणी के कारण, भेद, लक्षण तथा चिकित्सा वताइये।

४. सूर्यावर्त, अर्धावभेदक तथा अन्यतोवात के लक्षण तथा चिकित्सा का विस्तार से वर्णन करिये।

५. पोथकी, अंजननामिका, पूयालस तथा अजकाजात का कारण, लक्षण तथा चिकित्सा वताइये।

६. दन्तमूल, कर्णवाधिर्य, पीनस तथा दन्त पुप्पुट का वर्णन करिये।

७. लिंगभेद की सूश्रुत मतानुसार तथा आधुनिक मत से शल्य चिकित्सा का सचित्र वर्णन कीजिए।

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्न-पत्र ३

समय : तीन घण्टा) (प्रसूति तन्त्र एवं कौमार भृत्य) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं **पाँच** प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. मृत एवं जीवित गर्भ में अन्तर बताते हुए मृत गर्भ की चिकित्सा बताइये।

२. कौमार-ग्रह कितने प्रकार के हैं तथा उनकी क्या चिकित्सा है ?

३. गर्भावस्था में गर्भिणी को कौन-कौन-से रोग उत्पन्न हो सकते हैं ? इसका कारण सहित वर्णन कीजिए।

४. सूतिका रोग क्या है ? इसका कारण व चिकित्सा लिखिए।

५. गर्भिणी चर्या से आप क्या समझते हैं ? इसका विस्तृत वर्णन कीजिए।

६. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये—

(क) पुंसवन विधि, (ख) स्तन्य दोष, (ग) प्रदर, (घ) रजोदोष।

७. रक्तगुल्म के लक्षण व भेद लिखकर रक्तगुल्म की चिकित्सा लिखिये।

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्न-पत्र ४

समय : तीन घण्टा) (शल्यतन्त्र एवं अगदतन्त्र) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं **पाँच** प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. यन्त्र एवं शस्त्र में क्या अन्तर है ? इनके प्रकार एवं उपयोग के महत्त्व पर प्रकाश डालिये।

२. अष्टविध शस्त्र कर्म का विस्तार से वर्णन कीजिए।

३. भगन्दर किसे कहते हैं ? इसके भेद एवं चिकित्सा बताकर क्षारकर्म की उपयोगिता लिखिए।

४. रक्त मोक्षण से आप क्या समझते हैं ? इसका उपयोग किन-किन व्याधियों में कराया जाता है तथा निषेध रोगियों का वर्णन करके विसर्प की आयुर्वेदीय चिकित्सा बताइये।

५. विष की परिभाषा लिखकर, दूषी विष के लक्षण एवं चिकित्सा लिखिए।

६. स्थावर एवं जांगम विष में क्या अन्तर है ? लूता विष के लक्षण एवं चिकित्सा लिखिये।

७. किन्हीं चार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—

(क) अलर्क विष, (ख) सद्योव्रण, (ग) जलौकाविचरण, (घ) अपची, (ङ) श्लीपद।

अन्य परीक्षा—सन् १९९४ (संवत् २०५१)

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्नपत्र १

(रोग-विज्ञान एवं चिकित्सा)

समय : तीन घण्टा) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं **पाँच** प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. वात, पित्त, कफ की प्रकृति एवं अवस्थाओं का विवरण करते हुए उनके दुष्य पर प्रकाश डालिए।

२. अतिसार नामक रोग के लक्षण, निदान एवं उपाय बताते हुए संग्रहणी का सविस्तार वर्णन कीजिए।

३. कुष्ठ रोग के भेद लक्षण एवं सम्प्राप्ति का वर्णन कीजिए।

४. लंघन एवं बृहण विधि क्या है ? सविस्तार वर्णन कीजिए।

५. टिप्पणी दीजिए—

(१) नस्य, (२) अजीर्ण, (३) उत्तरवस्ति, (४) गण्डमाला।

६. रक्तपित्त रोग की उत्पत्ति, लक्षण निदान एवं चिकित्सा का वर्णन कीजिए।

७. ज्वर के भेद बताते हुए जीर्णज्वर के लक्षण एवं सम्प्राप्ति का वर्णन कीजिए।

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्नपत्र २

(ऊर्ध्वांग चिकित्सा)

समय : तीन घण्टा) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं **पाँच** प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. कर्ण पाक तथा कर्णशोथ का निदान लिखते हुए, इसकी चिकित्सा पद्धति लिखिए।

२. मस्तिष्क तथा मस्तिकावरण तथा शिरः पाक का निदान तथा चिकित्सा लिखिए।

३. मुख रोग से क्या तात्पर्य है ? संख्या लिखकर किसी एक मुख रोग की चिकित्सा व पथ्यापथ्य लिखिए।

४. अपने देश में अन्धपन के प्रमुख कारण क्या-क्या हैं ? उनसे बचने का उपाय लिखिए।

५. सर्वगत रोगों की संख्या लिखकर शिरोत्पात का पूर्ण वर्णन लिखिए।

६. किन्हीं **चार** पर टिप्पणी लिखिए—

(क) नेत्र पाक, (ख) प्रतिश्याय, (ग) रोहिणी, (घ) कर्णस्त्राव (ङ) नासाशोथ ।

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्नपत्र ३

(प्रसूति तन्त्र कौमार भृत्य)

समय : तीन घण्टा) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं **पाँच** प्रश्नों के उत्तर दीजिए । सभी प्रश्नों के अंक समान हैं ।

१. मूढ़ गर्भ की परिभाषा व लक्षण लिखकर उसकी चिकित्सा लिखिए ।

२. सूतिका ज्वर का निदान व चिकित्सा उपाय लिखिए ।

३. स्तन्य परीक्षा विधि लिखकर शुद्ध स्तन्य के लक्षण व अशुद्ध स्तन्य को शुद्ध करने के उपाय लिखिए ।

४. योषापस्मार का निदान व चिकित्सा लिखिए ।

५. वाल अस्थि क्षय का निदान व चिकित्सा लिखिए ।

६. वालशोथ का निदान व चिकित्सा लिखिए ।

७. टिप्पणी लिखिए—

(क) रजोदोष, (ख) पसली चलना, (ग) वाल यकृति वृद्धि, (घ) गर्भपात।

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्नपत्र ४

(शल्यतंत्र एवं अगदतंत्र)

समय : तीन घण्टा) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं **पाँच** प्रश्नों के उत्तर लिखिए । सभी प्रश्नों के अंक समान हैं ।

१. अग्निकर्म के साधन, प्रकार वताते हुए अग्निदग्ध के भेद व चिकित्सा का वर्णन कीजिए ।

२. भग्न कितने प्रकार का होता है ? काण्डभग्न के प्रकार व लक्षण व उल्लेख कीजिए ।

३. गलगण्ड की संप्राप्ति, लक्षण, भेद चिकित्सा का वर्णन कीजिए ।

४. संखिया विष के लक्षण, मारक मात्रा, पहचान एवं चिकित्सा एवं

५. कार्वोलिक एसिड के विषैले लक्षण एवं उपचार लिखिए

६. सर्प के प्रकार वताते हुए सर्पदंश के लक्षण व चिकित्सा लि

७. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए— पची,

(१) विशिखा, (२) उपयन्त्र, (३) दूषी विष, (४) यकृदाल्युद

हिन्दी विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अन्य विशारद परीक्षा—सन् १९९५ (संवत् २०५२)

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्नपत्र १

(रोग-विज्ञान एवं चिकित्सा)

समय : तीन घण्टा) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—केवल पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. क्रियाकाल से क्या समझते हैं ? दोषों के क्रियाकाल की प्रत्येक अवस्थाओं का भेद सहित वर्णन कीजिए ।

२. रोगी-परीक्षा में जिह्वा-परीक्षा के महत्त्व को समझाते हुए जिह्वा-परीक्षण से दोषों के वृद्धि का परिज्ञान कैसे होता है ? प्रमाण सहित विवेचना कीजिए।

३. निदानपञ्चक से क्या तात्पर्य है ? रूप-निदान से चिकित्सा-कार्य में मिलने वाली उपयोगिता की विवेचना कीजिए ।

४. आन्त्रिक ज्वर का विशिष्ट निदान क्या है, कैसे होता है ? लिखते हुए भेद, लक्षण और चिकित्सा को उभय विधि से लिखिए ।

५. मसूरिका (Small pox) और रोमान्तिका (Measels) में अन्तर स्पष्ट करते हुए इसके लक्षण, उपद्रव और उससे बचने के उपाय तथा चिकित्सा का वर्णन कीजिए ।

६. शूल (Colies) के भेदों का विवेचन करते हुए वृक्क शूल के कारण तथा चिकित्सा को उभय विधि से लिखिए ।

७. छर्दि के प्रकार, लक्षण सहित चिकित्सा का सम्यक् वर्णन कीजिए ।

८. किन्हीं चार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) ग्रन्थिक ज्वर (Plague)	(च) पाण्डु
(ख) वातरक्त (Gout)	(छ) विश्वाची
(ग) शोथ (Oedema)	(ज) रसायन
(घ) विद्रधि	(झ) नाड़ीव्रण

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्नपत्र २

(ऊर्ध्वाङ्ग चिकित्सा)

समय : तीन घण्टा) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. कर्ण पूय के निदान सम्प्राप्ति, लक्षण, उपशय एवं चिकित्सा बताते हुए इसकी साध्यासाध्यता पर प्रकाश डालिए।

२. नासार्श के निदान सम्प्राप्ति, लक्षण व चिकित्सा लिखते हुए नासा संधान विधि को समझाइए।

३. रोहिणी एवं स्वर भंग के निदान सम्प्राप्ति व लक्षण बताते हुए इसकी चिकित्सा-व्यवस्था लिखिए।

४. शिरोरोगों के भेद बताते हुए अर्धावभेदक के लक्षण, चिकित्सा एवं पथ्या-पथ्य पर प्रकाश डालिए।

५. सव्रण शुक्र एवं अव्रण शुक्र के निदान लक्षण, सम्प्राप्ति एवं चिकित्सा लिखिए।

६. पक्षाघात की साध्यासाध्यता एवं चिकित्सा बताते हुए अपस्मार के निदान एवं सम्प्राप्ति पर प्रकाश डालिए।

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्नपत्र ३

(प्रसूतितंत्र एवं कौमार भृत्य)

समय : तीन घण्टा) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लिखिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

क्षीरालसक का वर्णन कर उसकी चिकित्सा लिखिए।

२. अपरापतन न होने से उत्पन्न उपद्रवों का वर्णन कर उसकी चिकित्सा लिखिए।

३. प्रसूति ज्वर का निदान, उपद्रव व चिकित्सा लिखिए।

४. गर्भोपघातकर भाव कौन-कौन से हैं? इसका वर्णन कर उसकी चिकित्सा लिखिए।

५. अस्थि क्षय के कारण बताकर इसकी चिकित्सा लिखिए।

६. सूतिका गृहोपयोगी औषधियों का वर्णन कर प्रसव की अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

७. स्तन्य दुष्टि के कारण, लक्षण व भेद बताते हुए चिकित्सा लिखिए।

८. निम्नलिखित पर टिप्पणी दीजिए—

(क) फक्क रोग

(ख) स्तन्य क्षय

(ग) रजोदोष

(घ) बाल शोष

वैद्य विशारद : द्वितीय खण्ड—प्रश्नपत्र ४

(शल्यतंत्र एवं अगदतंत्र)

समय : तीन घण्टा) (पूर्णाङ्क : १००

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लिखिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. आयुर्वेद में वर्णित यन्त्रों के प्रकार लिखते हुए अष्ट शल्य विधियों का नामोल्लेख कीजिए।

२. व्रण के उपक्रमों का वर्णन करते हुए शिराव्यध विधि एवं उपयोगिता लिखिए।

३. विसर्प रोग की चिकित्सा का वर्णन करते हुए श्लीपद रोग का निदान एवं चिकित्सा लिखिए।

४. दूषी विष की परिभाषा बताते हुए कुचला एवं धतूरा विष के लक्षणों एवं उपचार का वर्णन कीजिए।

५. स्थावर विषों की सामान्य पहचान, शोधन एवं चिकित्सा का वर्णन कीजिए।

६. एल्कोहल के विषाक्त लक्षणों का उल्लेख करते हुए इसके निराकरण का उपाय बतलाइए।

७. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—

१. अर्श।

२. शल्पाहरण विधि।

३. जल संत्रास (हाइड्रोफोबिया)।

४. गर विष।